रात्रि भोजन ?

लेखक .

इन्द्रलाल शास्त्री विद्यालंकार
जयपुर

प्रकाशक

इन्द्र एण्ड कम्पनी
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर
(राजस्थान)

मूल्य ५० नये पैसे

प्रकाशक —
जम्बूकुमार जैन
इन्द्र एण्ड कम्पनी
त्रिपोलिया बाजार,
जयपुर

मूल्य ५० नये पैसे

रात्रि भोजन

इन्द्रलाल शास्त्री विद्यालंकार
जयपुर

प्रकाशक
इन्द्र एण्ड कम्पनी
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर
(राजस्थान)

'जैन दर्शन पत्र' के ग्राहक बनिये

जैन सिद्धान्त के मार्मिक तथा समर्थक लेखों तथा कविताओं से सुसज्जित 'जैन दर्शन पाक्षिक पत्र जैन सिद्धान्त के उद्‌भव विद्वान् श्री पं० लाल बहादुरजी शास्त्री एम ए न्याय काव्यतीर्थ के सपादकत्व में इन्दौर से निकलता है। इस पत्र के ग्राहक बनकर जैन सिद्धान्त का ठोस ज्ञान प्राप्त कीजिए और विश्व कल्याणकारी जैन धर्म का प्रसार कीजिए।

पत्र मंगाने का पता—

इन्द्र भवन तुकोगंज इन्दौर

वार्षिक मूल्य ४) रुपया

निवेदक

निरंजनलाल जैन

प्रधान मंत्री

श्री भारतवर्षीय शांतिवीर दि जैन सिद्धान्त रक्षिणी सभा

१११ कालबा देवी रोड बम्बई २

आमुख :—

यदि अहिंसा, जीवदया और धार्मिक दृष्टि से भी न देखा जाय तो भी स्वास्थ्य की दृष्टि से अनालोकित पान भोजन अथवा रात्रि भोजन सर्वथा त्याज्य ही है। यो तो अनालोकित पान भोजन सम्बन्धी ऐसे काड रात दिन होते ही रहते हैं परन्तु अभी जो अनेक काड हुये हैं, उन्होने लोगो की आखें खोलदी हैं तथापि जनता आलोकित पान भोजन की तरफ उदासीन ही है।

सोडा वाटर की बोतल मे छिपकली, वर्फ की शिला में चूहे, डेयरी की बन्द दूध की बोतल मे मक्खी, मदिरा की बोतल मे कीडे का दीखना और रायपुर (म. प्र) के सरकारी छात्रावास में दाल में छिपकली का वघार लग जाना और उस दाल के खाने से ५० लड़को को उलटिया होना आदि काड अनालोकित पान भोजन के दोष को स्पष्ट घोषित करते हैं। किसी भी नियम मे स्थिरता दृढता और कमठ्ता लाने वाला उसमे धार्मिक सपुट ही है। कोई भी अच्छो वात जो लबे समय तक अथवा शाश्वत स्थिर रहती है वह धार्मिक–सपुट अथवा उसे अटल रूढि के रूप मे मानते पालते रहने से ही रह सकती है। अन्य दृष्टिकोण से नही।

आलोक का सम्राट् सूर्य ही है। सूर्य अन्य सब आलोको को आक्रान्त कर देता है। सूय के आलोक के आगे सभी आलोक हतप्रभ और हततेज हो जाते हैं। इसीलिए भोजन पान जिसके ऊपर समस्त भौतिक आध्यात्मिक स्थिति अथवा जीवन लीला आधारित है। सूर्य के आलोक मे ही भोजन पानबनाना तथा उदरस्थ करना उचित है।

यदि सोडा वाटर आदि की तैयारी का काम दिन मे सावधानता पूर्वक और इस सिद्धान्त मे प्रेरित होकर कि इनके निर्माण मे किसी जन्तु के प्राण न चले जावें तो छिपकली आदि का प्रवेश उन बोतलो आदि मे कभी नही होता। यदि भोजन पान में जीव रक्षा की भावना होतो तो मदिरा का निर्माण ही नहीं होता।

रात्रि भोजन सभी धर्मों में इसीलिये निषिद्ध है कि सभी धर्मों का सिद्धान्त अहिंसा है। अहिंसा बोलने लिखने अथवा उसका गुणगान मात्र करने से नहीं हो जाती वास्तव में अहिंसा जीवनचर्या में उतारने की वस्तु है। यह जीवनचर्या में यथार्थ तभी हो सकती है जब उसके विपरीत कार्यों को अपनी जीवन साधना में स्थान न दिया जाय। अहिंसा विपरीत मांसभक्षण मधु भक्षण मदिरापान और रात्रिभोजनादि हैं। इनसे शाश्वत विरक्ति के बिना जीवनचर्या में कभी अहिंसा की कल्पना भी नहीं हो सकती परन्तु आज का मानव अहिंसा के गीत गाता है परन्तु उसकी प्रवृत्तियां हिंसा की ओर बढ़ रही हैं।

खेद इस बात का अत्यधिक है कि जिन जातियों कुलों और धर्मानुयायियों में रात्रि भोजन निषिद्ध था उनमें भी चालू होता जा रहा है। रात्रि भोजियों के संसर्ग का यह फल हो रहा है कि उन्हें अरात्रिभोजी बनाने के स्थान में वह स्वयं रात्रिभोजी हो रहा है और आज का जैन धर्मानुयायी कहलाने वाला भी अमर्यादित भक्ष्य अपेय पान की तरफ झुक गया है।

इस पुस्तक का यह तीसरा संस्करण सम्पन्न हुआ है। आशा ही नहीं विश्वास भी है कि इसके पठन पाठन एवं जीवन चर्या में उतारने से लोग लाभ उठायेंगे। इस पुस्तक की १ प्रतियां रायसाहब सेठ चांदमलजी पांड्या छाबड़ी गोहाटी (आसाम) ने लोकोपकारार्थ दी हैं जिसके लिए उन्हें साभार धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जा सकता।

ज्येष्ठ शु ५ वि सं २ २१

इन्द्रलाल शास्त्री
प्रधान संपादक-अहिंसा
जयपुर

ॐ श्री परमात्मने नमः ॐ

रात्रि भोजन !

रागद्वेषादिकं त्यक्तं येन ज्ञातं जगत्त्रयम् ।
तं वन्दे वृषभं वीरं ब्रह्माणं वा हरं हरिम् ॥
अस्तं गते रवौ त्याज्यं भोजनं तत्त्वदर्शिभिः ।
भोजनग्रहणं रात्रौ मता नैशाचरी कृतिः ॥

जैन अनुश्रुति के ही नही, वैदिक अनुश्रुति के अनुसार भी पहले भोगभूमि थी। भोगभूमि का काल समाप्त हो जाने के बाद कर्म भूमि का समय आया। भोग भूमि का अर्थ है—कल्पवृक्षो द्वारा, बिना परिश्रम और कर्म किये ही सब प्रकार के भोग साधनो की उपलब्धि हो जाना और कर्मभूमि का अर्थ है परिश्रम और कर्म के द्वारा समस्त प्रकार के जीवनोपयोगी पदार्थों की उपलब्धि होना। कर्मभूमि को कृतयुग भी कहा जाता है। कृत का अर्थ है—कार्य (कर्म) करके जीविका चलाना युग का अर्थ समय है। कर्मभूमि और कृतयुग दोनो एकार्थक है।

जब परम पुण्योदय से प्राप्त और चिंतन मात्र से ही सब प्रकार की सामग्री उपलब्धि करा देने वाले कल्पवृक्षो का अभाव होने लगा तब *जनता को जीवन का मार्ग बतलाने के लिए १४ कुलकर हुए जिनमे* अन्तिम कुलकर नाभि राजा थे। नाभि राजा के पुत्र भगवान् ऋषभदेव हुए जिनको वैदिक धर्म मे २८ अवतारो मे आठवा अवतार माना जाता है। इन्ही ऋषभदेव भगवान् ने प्रजा मे गुणकर्मानुसार आजीविका भेद से वर्णव्यवस्था स्थापित की। जनता को असि मसि कृषि वाणिज्यादि कर्मों का उपदेश देकर उसे जीवनोपयोगी वस्तुओ की प्राप्ति करने आदि का उपाय बतलाया।

भगवान् ऋषभदेव के भरत नामक पुत्र हुये जिनके नाम से ही इस देश का नाम भारत पड़ा है। भगवान ऋषभदेव ने जनता को

इस प्रकार शिक्षा देकर और अपने पुत्र को राज्य शासन के लिए पूर्ण योग्य बनाते हुऐ उन्हीं को राज्य शासन का भार सौंप कर दिगंबर साधु दीक्षा ग्रहण करली। उनके साथ हजारों अधीनस्थ छोटे मोटे राजा भी केवल स्वामिभक्ति से ही (विवेक पूर्ण वैराग्य भाव से नहीं) वन को चल गये और सन्यासी बन गये। भगवान ऋषभदेव तो जन्म से ही अवधि ज्ञानी थे अत सब कुछ जानते थे। वे आत्मा परमात्मा का स्वरूप बंध मोक्ष स्वरूप और साधन आदि सभी कुछ जानते थे परन्तु वे हजारों राजा तो इस सबंध मे कुछ भी न जानते थे। व तो केवल स्वामिभक्ति से ही वन को गये थे और बहिरंग से साधु सन्यासी बने थे अत भगवान् ऋषभदेव का हृदय से अनुकरण न कर सके। व पुन अपने २ राज्यो को लौटने की स्थिति में भी इसलिए न थे कि एक तो साधु सन्यासी स पुनः घर पर आना उनको लज्जास्पद अपमान जनक प्रतीत हुआ दूसरे महाराजाधिराज भरत चक्री का भी भय था। भगवान् ऋषभदेव को छोड़कर वापस जावेंगे तो ऋषभदेव का पुत्र भरत हमे दण्ड देगा पीड़ा देगा और अपना राज्य न करने देगा। फलतः व वहीं वनों में यथेष्ट साधु के वेष में रहने लगे और अपनी २ सुविधा के अनुसार धर्म और साधु का रूप बतलाते हुए अनेक धर्मों के नेता बन गये। फलस्वरूप जो आज सैकड़ों धर्म दीख रहे हैं वे सब उसी समय से प्रचलित हैं।

भगवान् ऋषभदेव यदि उन हजारों राजाओं की शिथिलता और निर्बलता का विचार कर स्वयं भी शिथिल हो जाते तो परम विशुद्ध साधुता और परम वीतरागता रूप धर्म कहीं दीखता भी नहीं। निर्बल मानव के आश्रित निर्बलताओं को देखकर धर्म का स्वरूप बदलना सत्य धर्म को सवथा नष्ट करना है। जो लोग आपद्धर्म और युगानुसारी धर्म का आविष्कार कर लोक प्रियता की धुन में स्वयमपि च्युत होते हुए दूसरों का भी मार्गच्युत होने में सहायक बनते है। जो लोग मानव के मुख्याति मुख्य मूल गुणों के पालन में भी आपद्धर्म और युगानुसारी धर्म का आविष्कार करके उस मूलगुण पालन में भी शिथिलता लाते लाते उसको नष्ट करने का ही प्रयास करते है। वे ही वास्तव में देश

में बढ़ते हुए अनाचारो, भ्रष्टाचारो आदि के लिए उत्तरदायी हैं और वास्तविक देशद्रोही हैं।

जिस वैदिक धर्म को आज हिन्दू धर्म कहा जाता है आज वह आपद्धर्म और युगानुसारी धर्म की व्यवस्था से ही क्षीण हुआ है। आज के हिन्दू का कोई व्याख्या नही है। चाहे कोई कैसा ही काम या आचरण करे, हिन्दू के घर मे यदि जन्म ले लिया है तो वही हिन्दू कहलाता है। चाहे वह हिन्दूकुली कहा जा सके परन्तु हिन्दू धर्मी नही हो सकता। वैदिक धर्मियो के किसी भी ग्रथ मे हिन्दू की परिभाषा भी वर्णित नही है। यह कहीं नही बतलाया कि ऐसा आचरण और मान्यता वाला हिन्दू हो सकता है और उनमे कम से कम इतने गुण तो होने ही चाहिये। इस परिभाषा के बिना आज सभी हिन्दू हैं और सभी हिन्दू नहीं है। कोई भी धर्म या जाति या समाज या व्यक्ति अपना अस्तित्व कर्मठना (कट्टरपन) के बिना नही रख सकता।

वैदिक धर्म मे न गृहस्थ की परिभापा है और न साधु की ही। जैसे कैसे भी मान्यता व आचरण करने पाला परन्तु परंपरागत वैदिक कुल मे जन्म ले लेने वाला वैदिक (हिन्दू) कहलाता है वैसे ही कैसे भी आचरण वाला और कैसी भी मान्यता रखने वाला परन्तु गृहस्थ के वेष से भिन्न वेष रखने वाला साधु कहला जाता है। वैदिक एक धर्म है उसके साधारण रूप से पालन करने वाले गृहस्थ और विशिष्ट रूप से पालन करने वाले साधु होने चाहिये। दोनो ही वर्गों की मूल गुण रूप परिभाषा (लक्षण) होनी चाहिये परन्तु वह देखने में नही आती जिसका यह परिणाम है कि आज भारत मे वैदिक (हिन्दू) धर्मानुयायी कहलाने वालो की सर्वाधिक सख्या होते हुये भी उनकी अवहेलना ही होती है। अवहेलना करने वाले भी हिन्दू ही हैं। इस बात में दोप हिन्दू कहलाने व्यक्तियों का ही नही है किन्तु उन शास्त्रो का भी है जिनमें परस्पर विरुद्ध विधान वर्णित हैं। जैसे वेद मे गौ को अघ्न्या बतलाया गया है परन्तु अन्य वेदानुयायी ग्रथो मे एक एक लाख गायों का वध करके उनके मास को ब्राह्मणो के लिए भोजन में देने का

भी विधान पाया जाता है। वैदिकों में एक वर्ग ऐसा है जो यह यज्ञादि में पशुओं को बलि देने का समर्थन करता है तो एक वर्ग यह कहता है कि पशुबलि करना सर्वथा निषिद्ध है। जिस ग्रन्थ में अहिंसा को परम धर्म बतलाया है उसी में हिंसा को भी धर्म मानकर उसकी पुष्टि की गई है।

वस्तु स्वभाव का नाम ही धर्म है। जैसे घट का स्वभाव जल धारणादि है वैसे मानव का स्वभाव परस्परोपग्रह है। यदि घट (घड़ा) जल धारणादि कार्य न कर सके अर्थात् वह टूट फूट जावे तो घट ना कहलाकर छोटे छोटे ठीकरों का पुञ्ज कहलावेगा। इसी प्रकार यदि मानव से मानवता (परस्परोपग्रह) निकल जावे तो वह मानव न कहलाकर दानव से भी अधमतम हो जायगा। परस्परोपग्रह का अर्थ सब प्राणियों के साथ प्रेम भाव से रहना। किसी भी प्राणी को कष्ट पहुंचाना न पीड़ा देना। मुख्य रूप से प्राणी दो प्रकार के होते हैं एक स्थावर और दूसरे त्रस। स्थावर जीव वे होते हैं जिनके केवल स्पर्शनेंद्रिय आदि चार प्राण ही होते हैं। ऐसे प्राणी समस्त विश्व ठसाठस भरे रहते हैं इसलिए ऐसे प्राणियों की रक्षा होना अति कठिन और असंभव भी है परन्तु द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों की रक्षा तो भली भांति की जा सकती है।

जिस प्राणी की हिंसा प्रमाद या अप्रमाद से की जाती है उस उस मरने वाले या पीड़ित होने वाले प्राणी का अहित तो पीछे होता है परन्तु उससे पहले मारने वाले व्यक्ति का अहित हो जाता है। वास्तव में मुख्य पदार्थ आत्मा और जड़ ये दो ही है। इन दोनों के संयोग का नाम ही संसार और इन दोनों के शाश्वत नित्य वियोग का नाम ही मोक्ष है। जितना २ आत्मा पर जड़ पदार्थों का प्रभाव या उससे सम्बन्ध है उतना उतना ही संसार है। संसार में दुःख ही दुःख है जो जड़ के आश्रय या सम्बन्ध से है आत्मा का स्वभाव चित् और आनन्द स्वरूप है। चित् का अर्थ ज्ञान है और आनन्द का अर्थ सुख है। राग द्वेषादि सुख के बाधक हैं। जितने जितने अंशों में आत्मा के साथ राग द्वेषादि

सम्बन्ध है उतने उतने अंशो मे ही सुख का अभाव अथवा दुःख है।

(अन्य प्राणियो की हिंसा अपने प्रति राग के बिना नही होती। अपने प्रति राग, दूसरे के प्रति द्वेष के बिना नही हो सकता। हम किसी को मारते, सताते या पीडा पहुचाने की चेष्टा अपने लाभ के लिए ही करते हैं। अपना लाभ ही अपने प्रति तीव्र राग है इसीलिए पर हिंसा करने वाला पहले अपनी हिंसा करता है इसीलिए स्व हिंसा से बचने के लिए पर हिंसा से बचना परमावश्यक है। मानव यदि अहिंसा और हिंसा का वास्तविक स्वरूप समझले, उस पर विश्वास कर दूसरो को भी समझा दे और विश्वास करादे तो ससार के सारे प्राणी सुखानुभव कर सकते हैं।)

अहिंसा दो प्रकार की होती है —एक महाव्रत रूप और दूसरी अणुव्रत रूप। हिंसा, असत्य, अचौर्य, अब्रह्म और परिग्रह ये मानव के लिए अकर्तव्य और पाप है। इनसे विरति का नाम ही व्रत है। यह व्रत अणुव्रत महाव्रत नाम से दो प्रकार का है। इन पाचो पापो के एक देश अर्थात् स्थूल रूप से त्याग को अणुव्रत और सर्वदेश अर्थात् सूक्ष्म रूप से त्याग को महाव्रत कहते हैं।

ससार मे जीवन यापन करने के लिए तीन मार्ग हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य। अणुव्रत पालन करते हुए जीवन यापन करना मध्यम मार्ग है। उत्तम मार्गी मानव वे है जो महाव्रतो का पालन करते हुए जीवन यापन करते हैं और दर्शन ज्ञानस्वरूप आत्मा के आनन्दानुभव मे पूर्ण लीन रहते हैं एव परलोक मे भी सुखानुभव की साधना करते हैं। ऐसे पुरुषोत्तम महामानव अतिस्वल्प हैं वे पवित्रात्मा होते हैं परन्तु वैसा बनना अत्यन्त कठिन है इसलिए मध्यम मार्ग पर चलने का और अधम मार्ग से बचने का अनुरोध है।

अधम मार्ग वह मार्ग है जिसमे समस्त ससार के विवेक शून्य, आत्मा के लक्षण दर्शन और सच्चिदानन्दता के स्वरूप से सर्वथा अन-

भिन्न प्राणी हैं जो मानव और पशु प्राणि की पर्याय में ही दीखते हैं परन्तु वे वास्तव में मानवता से शून्य हैं जिनका ध्येय केवल अपने लिए जीना है व वास्तव में मानव नहीं। वास्तविक मानव वे ही हैं जो स्व और पर के लिए भी जीते हैं।

फिलासफी को संस्कृत भाषा में दर्शन कहते हैं। यह दर्शन दो प्रकार का होता है। एक भारतीय दर्शन और दूसरा अभारतीय दर्शन। अभारतीय (पाश्चात्य) दर्शन केवल भौतिक विज्ञान पर आधारित है। जो बात प्रत्यक्ष या विज्ञान से सिद्ध होती है उसे ही पाश्चात्य दर्शन स्वीकार करता है। भौतिक विज्ञान के चमत्कार में भारतीय दर्शनों ने अधिक बल नहीं दिया केवल स्थूल रूप से ही इसलिए कहकर रह गए कि उससे शाश्वत नित्य आनन्द नहीं मिलता जिसके लिए मानव जन्म अपेक्षित है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भौतिक पदार्थों की शक्तियों का अन्वेषण खूब ही किया और ऐसे २ चमत्कार भी प्रकट किये जिनका ज्ञान कठिन भी कहा जा सकता है परन्तु वे आत्मा की खोज नहीं कर सके। वे मृत्यु तक ही आत्मा का अस्तित्व मानते हैं। वे पुनर्जन्म नहीं मानते और न पुनर्जन्म में वे खोज ही करने को तयार हैं क्योंकि पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार हो जाने पर भौतिक आनन्द फीका और निःसार लगने लग जाता है।

भारतीय दार्शनिकों ने पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार की है। पुनर्जन्म की मान्यता और पुनर्जन्म में भी सुख की उपलब्धि की इच्छा ही भारतीय संस्कृति है। पुनर्जन्म में भी सुख की उपलब्धि तभी हो सकती है जब प्राणी ऐन्द्रियिक सुखों से विरति प्राप्त करे। ऐन्द्रियक सुखों से विरति तभी हो सकती है जब व्यक्ति बहिर्मुखता से विरक्त होकर अन्तर्मुख बने। अन्तर्मुखता के लिए आध्यात्मिक शक्ति को जगाना होगा। आध्यात्मिक शक्ति के उज्जीवन के लिए राग इत्यादि से निवृत्त होने के साधन जुटाने पड़ेंगे। आध्यात्मिक शक्ति तभी जागृत होगी

जब जीवन यापन का उत्तम मार्ग या कम मध्यम मार्ग अपनाया जायगा ।

मध्यम मार्ग क्या है ?

मध्यम मार्ग के अनेक भेद हैं परन्तु सर्व प्रथम आवश्यक मार्ग इस प्रकार —

मासभक्षण, मदिरापान और मधु (शहद) के भक्षण का त्याग अंजीर आदि पाच क्षीरीफलो (जिन फलो पत्तो और उनके वृक्षों स दूध निकलता हैं) का त्याग रात्रि भोजन का त्याग आत्मावलोकन के लिए अवलोकितात्माओ (आप्तो) को प्रणाम, मानना, समस्त प्राणिमात्र के साथ दया भाव या मित्रता और पानी छानकर पीना । ये आठ प्रकार अहिंसा को जीवन चर्या मे उतारने और आध्यात्मिक शक्ति को जागरित करने के लिए साधन है । इनको शाश्वतिक जीवनचर्या मे उतारे विना आत्मावलोकन असभव है ।

आत्मावलोकन की आवश्यकता क्यों ?

चाहे पश्चात्य दर्शन पुनर्जन्म और मरण के बाद आत्मा का अस्तित्व भी न मानते हो परन्तु पुनर्जन्म की सत्ता अवश्य है और मरण के बाद भी आत्मा का अस्तित्व और अमरत्व सुसिद्ध है । पुनर्जन्म और पूर्वभव स्मृति के अनेक उदाहरण आज सामने मौजूद हैं जिनमे पुनर्जन्म न मानने वाले नास्तकतावादी भी प्रभावित हो रहे हैं और पुनर्जन्म की सत्ता और मरणोत्तर आत्मा के अमरत्व के प्रति सश्रद्ध और आकृष्ट होते जा रहे हैं भारतीय दार्शनिको मे तो चार्वाक दर्शन को छोडकर सभी दार्शनिको ने पुनर्जन्म और मरणोत्तर आत्मा के अमरत्व को नि सदेहता के साथ स्वीकार किया है ।

भारतीय दार्शनिको के दो भेद हैं—एक वैदिक दर्शन और दूसरा अवैदिक दर्शन । वैदिक दर्शन के न्याय मीमासा वैशेपिक दर्शनादि छह भेद हैं और अवैदिक दर्शन के जैन बौद्धादि तीन भेद हैं ।

सभी वैदिक दर्शनों में आध्यात्मिक शक्ति को जागरित करने के लिये उक्त मध्यम मार्ग की प्रणाली स्वीकार की गई है। रात्रि के समय भोजन करना वैदिक अवैदिक दोनों ही दर्शनों में वर्जित है।

वैदिक दर्शन के अपीश्वर भारत नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में लिखा है कि:—

> मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम्।
> ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः॥
> वृथा एकादशी प्रोक्ता वृथा जागरणं हरेः।
> वृथा च पौष्करी यात्रा कृत्स्नं चान्द्रायणं तथा॥
> चातुर्मास्ये तु संप्राप्ते रात्रि भोज्यं करोति यः।
> तस्य शुद्धिर्न विद्येत चान्द्रायणशतैरपि॥

(अर्थ—जो मद्य पीते और मांस भक्षण करते हैं रात्रि के समय भोजन करते हैं कन्द भक्षण करते हैं (कन्द उसे कहते हैं जो फल जमीन के भीतर रहते हैं जैसे मूली गाजर आलू अरबी आदि) उनके तीर्थ यात्रा करना जप तप करना एकादशी व्रत करना जागरण करके विष्णु भगवान का कीर्तन करना पुष्कर स्नान करना चान्द्रायण व्रत करना ये सब व्यर्थ है।

आगे जाकर थोड़ी सी शिथिलता का उपदेश भी दे देते हैं कि चातुर्मास (वर्षा काल के चार महिने) में तो रात्रि भोजन कभी नहीं करना चाहिये। जो चातुर्मास में भी रात्रि के समय भोजन करता है उसकी सैकड़ों चान्द्रायण व्रत करने पर भी शुद्धि नहीं होती।)

यद्यपि वैदिक दार्शनिक और शास्त्र कारों ने भी आध्यात्मिक शक्ति के लिए आवश्यक सत्य-प्रकार को प्रकाश किया है परन्तु जन मानस की निर्बलता अथवा अपनी मनोक प्रियता के भय से उस सत्य प्रकार में शिथिलता को भी स्थान दे दिया है। जैसे पहले

तो सदा के लिए रात्रि भोजन का निषेध कर दिया और लगे हाथ ही आठ महीने रात्रि भोजन करने को सकेत भी कर दिया। इस शिथिलता लाने का परिणाम यह हुआ कि लोग चातुर्मास मे भी रात्रि को भोजन करने लगे। मास मदिरा कन्दादि का उपयोग भी करने लग गये। परन्तु जो चीज बुरी है वह बुरी ही रहेगी। उक्त वाक्यो से स्पष्ट है कि मद्यमासाशन कन्दभक्षणादि की कोटि मे ही रात्रि के समय का भोजन भी है और त्याज्य है।

वैदिक दर्शन मे ऐसी मान्यता है कि स्वर्गीय पितृजनो के पास श्राद्ध मे दिया हुआ अन्न पहुँच जाता है और उसे वे लेने के लिए आते है। गरुड पुराण के निम्नाकिन पद्यो से यह स्पष्ट है कि वे दिन मे ही सूर्यास्त होने के पहले २ ही आते हैं और यदि सूर्य अस्त होने के पहले पितृजनो का तर्पण नही किया जाता तो वे रुष्ट हो जाते हैं और अपने वशजो की निंदा करते और उन पर कुपित भी हो जाते हैं —

अमावस्या दिने प्राप्ते गृहद्वारे समाश्रिता ।
वायुभूता प्रवाञ्छति श्राद्ध पितृगणा नृणाम् ।।
यावदस्त गते भानौ क्षुत्पिपासासमाकुला ।
ततश्चास्त गते सूर्ये निराशा दु खसयुता ।।
नि श्वसन्तश्चिर याति गर्हयन्त स्ववशजम् ।
तस्मात् श्राद्ध प्रयत्नेन ह्यमाया कर्तुमर्हते ।।

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि पितृजन जो परलोक मे चले गये हैं वे भी सूर्यास्त के पहले पहले ही श्राद्ध भोजन चाहते हैं। रात्रि मे श्राद्ध भोजन करना वे भी अनुचित समझते हैं वे सूर्यास्त समय तक यह प्रतीक्षा करते हैं कि कब भोजन दे परन्तु जब सूर्यास्त के पहले पहले उनका तर्पण नही होता है तो अपने वशजो को गालिया देते हुए वापस लौट जाते हैं और रात को खाना पसद नही करते।

निशाचर का अर्थ सस्कृत भाषा मे राक्षस होता है और निशाचर शब्दार्थ होता है—रात के समय खाने वाला। वस्तुत रात्रि के समय

भोजन करना निशाचरों का काम है। देवों और मानवों का नहीं।

शतपथ ब्राह्मण में देवों मानवों और परलोकवासी पितृजनों का भोजन काल इस प्रकार लिखा है :—

पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यं दिनो मनुष्याणां अपराह्णः पितृणां अर्थात्—देवों का भोजनकाल पूर्वाह्ण (प्रातःकाल) मनुष्यों का भोजन काल दोपहर तक और पितृजनों का तीसरे पहर तक काल है। मनुष्य को वास्तव में एक बार ही भोजन करना उचित है। यदि शारीरिक मानसिक कमजोरी से दूसरी बार भी करना हो तो सूर्यास्त के पश्चात् तो करना ही नहीं चाहिये क्योंकि सूर्यास्त के बाद भोजन करना निशाचर बनना है जो किसी को भी अपेक्षित नहीं और न होना ही चाहिए तो भी लोग रात्रि के समय भोजन करते हैं, यह आश्चर्य है। मानव होकर निशाचरीय कृति करना सर्वथा अनुचित और मानवता से परे है।

यजुर्वेद आह्निक वदिक ग्रन्थ में लिखा है कि—

पूर्वाह्णे भुञ्जते देवैर्मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा ।
अपराह्णे च पितृभिः सायाह्ने दैत्य दानवैः ॥१२४॥

अर्थ—स्वर्गवासी देवों का भोजन समय प्रातः काल है। ऋषि जन मध्याह्न काल में भोजन करते हैं। पितृजन अपराह्न काल (दिन के तीसरे पहर भोजन करते हैं और राक्षस और दैत्य जन रात के समय भोजन किया करते हैं।

यजुर्वेद आह्निक में कहा गया है कि दिन के समय अर्थात् सूर्य के प्रकाश में चाहे जब भोजन कर लिया जाय परन्तु रात्रि का समय भोजन का समय ही नहीं। वह तो अभोजन का समय है क्योंकि रात्रि के समय जब कभी भोजन किया है तो दैत्य दानवों ने ही किया देवों और मानवों ने नहीं।

सध्याया यक्ष रक्षोभि, सदा भुक्त कुलोद्वह ? ।
सर्व वेला मतिक्रम्म रात्रौ भुक्तमभोजनम् ।।१८।।

महा भारत के शाति पर्व मे लिखा है कि—

श्वभ्रद्वाराणि चत्वारि प्रथम रात्रिभोजनम् ।
परस्त्री गमन चैव सधानानतकायकम् ।।
ये रात्रौ सर्वदा ऽऽहार वर्जयति सुमेधस ।
तेषा पक्षोपवासस्य फल मासेन जायते ।।१६।।

अर्थ—नरक मे जाने को मनुष्य के चार दरवाजे या रास्ते हैं जिनमे सबसे पहला रात्रि के समय भोजन करना है। दूसरा रास्ता पर स्त्री गमन है, तीसरा आचार मुरब्बे आदि का खाना और चौथा अनत कार्य अर्थात् जमीन कन्द (आलू, मूली, गाजर, प्याज, अर्वी, आदि) खाना है। जो श्रेष्ठ बुद्धि अर्थात् विवेकी मनुष्य सदैव रात्रि के समय आहार (भोजन) नही करते उनके एक महीने में १५ दिन के उपवास का फल हो जाता है।

विदित हो कि पर स्त्री गमन, आचार मुरब्बे खाना और मूली गाजर आदि का खाना भी महान् पाप है। इन कार्यों मे महान् पाप और अपराध भी होता है परन्तु कुछ वैदिक स्मृति कारो ने स्त्री को सदैव पवित्र बताकर एक तरफ नरक का द्वार बन्द करने को कहा दूसरी तरफ खोल भी दिया जैसे—

स्त्रिय पवित्रमतुल नैता दुष्यन्ति कर्हिचित् ।
मासि मासि रजो यासा दुरितान्यपकर्षति ।।
बौधायन स्मृति २-२-६३

अर्थात्—अर्थात् स्त्रिया अनुपम पवित्र है—ये कभी दूषित नही होती क्यो कि प्रत्येक मास जो उनके रज स्त्राव होता है वह सब पाप क[illegible] ही तो क्षय होता है। अर्थात् प्रत्येक मास मे वे रज स्त्राव द्वारा शुद्ध हो जाती हैं। रज के रूप मे हो पा[illegible] या अ[illegible]राध का क्षरण होता है।

भोजन करना निशाचरों का काम है। देवों और मानवों का नहीं।

— शतपथ ब्राह्मण में देवों मानवों और परलोकवासी पितृजनों का भोजन काल इस प्रकार लिखा है —

पूर्वान्हो वै देवानां मध्य दिना मनुष्याणां अपराह्नः पितृणां अर्थात्—देवों का भोजनकाल पूर्वान्ह (प्रातः काल) मनुष्यों का भोजन काल दोपहर तक और पितृजनों का तीसरे पहर तक काल है। मनुष्य को वास्तव में एक बार ही भोजन करना उचित है। यदि शारीरिक मानसिक कमजोरी से दूसरी बार भी करना हो तो सूर्यास्त के पश्चात् तो करना ही नहीं चाहिये क्योंकि सूर्यास्त के बाद भोजन करना निशाचर बनना है जो किसी को भी अपेक्षित नहीं और न होना ही चाहिये तो भी लोग रात्रि के समय भोजन करते हैं यह आश्चर्य है। मानव होकर निशाचरीय कृति करना सर्वथा अनुचित और मानवता से परे है।,

— यजुर्वेद आह्निक' वदिक ग्रन्थ में लिखा है कि—

पूर्वान्हे भुज्यते देवैर्मध्यान्हे ऋषिभिस्तथा।
अपराह्णे च पितृभिः सायान्हे दैत्य दानवैः ७।२४।

अर्थ—स्वर्गवासी देवों का भोजन समय प्रातः काल है। ऋषि जन मध्यान्ह काल मे भोजन करते है। पितृजन अपराह्न काल (दिन के तीसरे पहर भोजन करते हैं और राक्षस और दैत्य जन रात्रि के समय भोजन किया करते है।

यजुर्वेद आह्निक में कहा गया है कि दिन के समय अर्थात् सूर्य के प्रकाश मे चाहे जब भोजन कर लिया जाय परन्तु रात्रि का समय भोजन का समय ही नहीं। वह तो अभोजन का समय है क्योंकि रात्रि के समय जब कभी भोजन किया है तो दैत्य दानवों ने ही किया देवों और मानवों ने नहीं।

इसी मार्कण्डेय पुराण मे तेईसवे अध्याय के २९ वे श्लोक द्वारा कहा है कि—

मृते स्वजन मात्रेपि सूतक जायते किल ।
अस्त गते दिवानाथे भोजन क्रियते कथम् ॥

अर्थात्—जब अपना कोई कुटुबी या पडोसी भी मर जाता है तो सूतक लग जाता है और उस समय भोजन नही किया जाता तो तब सूर्य अस्त हो जावे तो जब तक वह अस्त रहे तब तक भोजन कैसे किया जाय ?

मार्कण्डेय ऋषि ने युधिष्ठिर से कहा है कि—युधिष्ठिर रात्रि के समय तो जल भी तपस्वियो, साधुओ को तो क्या गृहस्थो को भी नही पीना चाहिये ।

पातव्य नोदकमपि रात्रावत्र युधिष्ठिर ।
तपस्विना विशेषेण गृहिणा च विवेकिनाम् ॥
मार्कण्डेय पुराण अ ३० श्लोक ३२

स्कद पुराण के अ ७ श्लोक ११ द्वारा दिन मे ही भोजन कर लेने के महत्व को बतलाते हुये लिखा है कि—

एकभक्ताशनान्नित्यमग्निहोमफल भवेत् ।
अनस्तभोजिनो नित्य तीर्थयात्रा फल भजेत् ॥

अर्थात्—जो दिन मे एक बार ही भोजन करता है उसे अग्नि होत्र के फल के समान फल हो जाता है और सदैव सूर्यास्त के बाद भोजन न करने वाला तीर्थ यात्राओ से होने वाले फल को घर मे ही पा लेता है ।

(महा भारत के ज्ञान पर्व अ० ७० श्लोक २०३ द्वारा श्री वेदव्यास जी ने रात्रि भोजन का फल बतलाया है कि—

रजसा शुध्यते नारी नदी वेगेन शुध्यति ।
भस्मना शुध्यते कांस्यं ताम्रमम्लेन शुध्यति ॥

वशिष्ठ स्मृति ३—५८

अर्थ—रज स्राव से महिला शुद्ध हो जाती है नदी वेग से शुद्ध हो जाती है कांसे का बर्तन भस्म से मांजने से शुद्ध हो जाता है और तांबे का पात्र खटाई से शुद्ध हो जाता है।

जहां तक अनुमान किया जाता है—यह है कि किसी विधर्मी या आततायी द्वारा जबर्दस्ती किसी महिला के साथ बलात्कार करने पर उसी स्त्री का परित्याग किये जाने से उत्पन्न परिस्थिति पर बौधायन वशिष्ठादि स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था दी होगी परन्तु आज उसमें अनुचित लाभ ही उठाया जाता है और विधवा विवाह के पक्षपातियों को बड़ा बल मिल जाता है। वैदिक स्मृति कारों ने ऐसे वाक्यों को शास्त्रों में निबद्ध करके भविष्य के लिए अदूरदर्शिता पूर्ण कार्य ही किया। यदि शास्त्रों में निबद्ध कर तत्कालीन तात्विक व्यवस्था ही दे देते तो पर स्त्रीगमन को इतना बल नहीं मिलता। रात्रि भोजन के सम्बन्ध में भी जरा सी छूट दे देने और उस छूट का शास्त्रों में निबद्ध करने का यह परिणाम निकला कि भारत का बहुमत भाग रात्रि भोजी बन गया और उस बहुमत भाग के संसर्ग और सम्पर्क से जिनका यह आचरण नहीं था उनमें भी रात्रि भोजन का प्रसार होने लग गया।

मार्कण्डेय पुराण वैदिक ग्रन्थ में लिखा है कि—

अस्तं गते दिवानाथे आपो रुधिर मुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेयमहर्षिणा ॥

अ० ३३ श्लोक ५३

अर्थात्—मार्कण्डेय महर्षि ने बतलाया है कि दिवानाथ (सूर्य) के अस्त हो जाने पर पानी रुधिर पीने के समान और अन्न खाना मांस खाने के समान है। अतः सूर्यास्त के बाद अन्न जल ग्रहण करना मनुष्यों के लिए वर्जित है।

भारत मे वैदिक धर्मावलवियो का बहु भाग होते हु उनका सघठन नही है उसका सबसे बडा कारण क्रियात्मक एकता का अभाव है। जब तक एक कहे जाने वाले समाज मे मुख्य मुख्य बातो मे क्रियात्मक एकता न आवे तब तक सघठन सुदृढ नही हो सकता।

भावात्मकता पदार्थ के आश्रित है। पदार्थ (वस्तु) को छोडकर खाली भावात्मकता नाम मात्र की वस्तु है और भावात्मकता केवल कल्पना जाल है। आज लोग एकता के गीत गाते है और काम करते जाते हैं अनेकता का। जैन समाज मे एकता बनी रखने का साधन क्रियात्मक एकता है जैसे यह जैन समाज की क्रियात्मक एकता है कि जैन लोग रात्रि को भोजन नही किया करते। सामूहिक भोजो मे जहा सेकडो हजारो भोजनार्थ एकत्रित होते हैं सब सूर्यास्त के पहले एकत्रित हो जाते हैं तब सब आपस मे मिल लेते हैं। सजातीयो और सधर्मिओ का परस्पर मिलना जुलना स्नेह सम्मेलन होना एकता का साधन है। परन्तु आज वह एकता का साधन भी उठता जाता है और हम एकता के नारे लगाते है। यदि समस्त भारतीयो की क्रियात्मक एकता हो जावे ो देश का कितना हित हो परन्तु खेद है कि एक छोटे समाज की कता भी क्रियात्मकता के विना नष्ट होती जा रही है। आजकल तो सिद्ध रात्रि भोजन त्यागी जैनो मे भी रात्रि भोजन की प्रथा चालू हो रही है और विवाह शादियो आदि मे सामूहिक रात्रि भोजन तक होने लगे हैं। जो धर्म, एकता, स्वास्थ्य आदि के लिए शोचनीय है।

मनुस्मृति मे भी रात्रि को श्राद्ध करने का पूरा निषेध है। गृहस्थ श्राद्ध करके ही भोजन कर सकता है। इस लिए श्राद्ध दिन मे, तो भोजन भी दिन मे ही करना चाहिए —

> रात्रौ श्राद्ध न कुर्वीत्त राक्षसी कीर्त्तिता हिसा।
> सध्ययोरुभयोश्चेव सूर्ये चैवाभिरोचिते॥
>
> मनुस्मृति अ ३ श्लोक २८०

उलूककाकमार्जारगृध्रशम्बरशूकराः ।
अहिवृश्चिकगोधाश्च जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥

अर्थात्—रात के समय याने सूर्यास्त के बाद और सूर्योदय के पहले भोजन करने वाले मनुष्य को मर कर उस पाप के फल से उल्लू, कौवा बिलाव गीध शबर सूअर सांप बिच्छू गोध आदि निकृष्ट पशुपक्षियोनियों में जन्म लेना पड़ता है।

योगवासिष्ठ पूर्वार्ध श्लोक १०८ द्वारा बतलाया है कि—

नक्तं न भोजयेद्यस्तु चातुर्मास्ये विशेषतः ।
सर्वकामानवाप्नोति इहलोके परत्र च ॥

अर्थात्—जो रात्रि के समय भोजन नहीं करता खास कर चौमासे में नहीं करता उसकी सब इच्छाएं इस लोक और परलोक में भी पूर्ण हो जाती है।

यहां भी चातुर्मास के अतिरिक्त आठ महीने में जो रात्रि को भोजन करने की छूट देकर रात्रि भोजन त्याग के महत्व को अवश्य कम किया है तो भी सिद्धान्ततः रात्रि भोजन को निषिद्ध ही माना गया है। जो चार चौमासे में वर्जित हो वह बाकी के आठ महीने में उपादेय नहीं हो सकता परन्तु मनुष्य की विवशता को ध्यान में रखकर ऐसा निर्देश कर दिया गया है परन्तु यह योगवासिष्ठकार की दृष्टि में भी अपवाद मार्ग ही है वास्तविक नहीं।

वैदिक धर्म के अन्य शास्त्रों को देखा जाय तो अनेक जगह रात्रि भोजनादि वर्जित ही मिलेगा चाहे इन शास्त्रों में कहीं कहीं इस संबंध में शिथिलता का भी प्रवेश कर दिया गया हो तो भी सभी शास्त्रकारों का यह मत है कि रात्रि भोजन वर्जित है। बहुत से वैदिक सनातनी या अन्य भी रात्रि भोजन को बुरा मानते हैं परन्तु पुराने संस्कारों और परम्परागत पारिवारिक वातावरण से विवश हो छोड़ते नहीं जिस मानसिक निर्बलता ही कहा जा सकता है।

वास्तव मे हृदय नही है। न ऐसे कुहृदय का स्वामी मानव कहलाने का अधिकारी ही हो मकता है। वास्तव मे रात्रि भोजन मे हृदय की साक्षी के प्रतिकूल ही व्यवहार है। यह बात अनेक रात्रिभोजी सज्जनो के मुख सुनने को मिली है कि रात के समय भोजन करना मन तो नही चाहता परन्तु विवशता से करना पडता है। दिन मे ही भोजन कर लेने के गुणो की अनेक रात्रि भोजी सज्जन स्वयं प्रशमा किया करते है और रात्रि भोजन की निन्दा भी, परन्तु मानसिक निर्बलता से उस अवगुण मे भी वे लिप्त ही रहते हैं। इसी से कहा जाता है कि रात के समय भोजन करना मन से शुद्ध कार्य कदापि नही है।

और भी देखिये—

मृते स्वजनमात्रेऽपि सूतक जायते किल।
अस्तगते दिवानाथे भोजन क्रियते कथम् ॥
रक्ता भवति तोयानि अन्नानि पिशितानि च।
रात्रिभोजनसक्तस्य ग्रासेन मासभक्षणम् ॥
नैवाहुतिर्न च स्नान न श्राद्ध देवतार्चनम्।
दान न विहित रात्रौ भोजन नु विशेषत. ॥
उदम्वर भवेन्मास माम तोयमवस्त्रकम्।
चर्मवारि भवेन्मास मास च निशि भोजनम् ॥
उलूककाकमार्जारगृध्रशबरशूकरा ।
अहिवृश्चिकगोधाद्या जायते निशि भोजनात् ॥

(अरण्यपुराण—वैदिक सनातनी ग्रथे)

अर्थ—रात्रि के समय श्राद्ध न करे क्योंकि रात्रि राक्षसी होती है। अर्थात राक्षसी कृत्य रात को होते हैं दैवी मानवी कृत्य नहीं। दोनों सध्याओं मे भी श्राद्ध नहीं करना चाहिए और सूर्य उदय हुए अल्प जरासा समय हुआ हो तब भी नहीं करना चाहिए।

इस श्लोक द्वारा रात को राक्षसी बतलाया गया है। भोजन जिसके ऊपर जीवन आधारित है राक्षसी कृत्य नहीं अत रात को भूलकर भी भोजन नहीं करना चाहिए।

मनुस्मृति में जल भी छान कर ही पीना लिखा है परन्तु जिस प्रकार राक्षसी स्वरूप रात के समय भोजन करने लगे हैं। उसी प्रकार वस्त्र से छाने बिना जल भी लोग पीने लग हैं—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मन पूतं समाचरेत् ॥ मनुस्मृति

अर्थात्—जमीन पर पाँव देख भाल करके ही रखना चाहिये वस्त्र से पूत करके (छान करके) जल पीना चाहिये सत्य से पवित्र वचन बोलना चाहिए और मन से पवित्र करके कार्य करना चाहिए।

हिंसा झूठ चोरी व्यभिचारादि पाप चाहे कोई करे परन्तु करते हुए डरता अवश्य है इसलिए ये कार्य लुक छिप कर किये जाते है। कोई भी व्यक्ति इन कामों को करता है वह विवशता मे करता है इस इन से मन में ग्लानि अवश्य होती है अत ऐसे काम मन से पवित्र कदापि नही होते जो कार्य मन से, वचन से और तन से भिन्नता को लिए नहीं होते है व ही पवित्र होते हैं अत जो भी कार्य किया जाय वह वचन और शरीर को साक्षी से ही नहीं हृदय की साक्षी होने पर भी करना उचित है। हृदय अपराधों और पापों के करने म कभी किसी को साक्षी नही देता। जो हृदय इन कामों को करने की साक्षी देता है वह

इसे छठे व्रत के रूप मे श्वेताम्बर जैन धर्म मे स्वीकार किया गया है यथा —

चतुर्विधास्याऽऽहारस्य सर्वथा परिवर्जनम् ।
षष्ठ व्रतमिहेतानि जिनैर्मूलगुणा स्मृता ॥

अर्थ—रात्रि के समय चार प्रकार के आहार (खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय) का त्याग करना छठा व्रत है। जिनेन्द्र भगवान ने ये मूल गुण बतलाये है । मूल गुण का अर्थ अनिवार्य कर्तव्य है।

श्वेताम्बर जैन संघ के सुप्रसिद्ध और पूज्यपाद आचार्य श्री हेमचन्द्र महाराज ने अपने 'योग शास्त्र' नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि—

वासरे च रजन्या च य खादन्नेवे तिष्ठति ।
शृगपुच्छ परिभ्रष्ट स स्पष्ट' पशुरेव हि ॥

अर्थ—जो दिन मे तथा रात में भी सदा खाता ही रहता है अर्थात् रात मे भी खाने मे परहेज नही करता वह विना सीग पूंछ वाला स्पष्टत पशु के समान ही है।

वास्तव में रात का समय भोजन करने के लिए है ही नही ।

श्री हेमचन्द्राचार्य महाराज रात्रि भोजन मे स्वास्थ्य आदि के लिए हानिकारक दोष भी वतलाते हैं—

मेधा पिपीलिका हन्ति यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्ति कुष्ठरोग च कोलिक' ॥

अर्थ—यदि भोजन में कीडी कीडा (चीटीं चीटा) खाने मे आ जाय तो बुद्धि नष्ट हो जाती है, जू आ खाने में आ जाय तो महान् भयकर जलोदर रोग हो जाता है, मक्खी खाने मे आ जाय तो वह खाया पीया सब निकाल देती है अर्थात् वमन करा देती है और यदि

अर्थ—अपने किसी मनुष्य के मरने पर भी सूतक हो जाता है। सूतक के समय भोजन करना वर्जित है ऐसी स्थिति में सूर्य के अस्त हो जाने पर भोजन कैसे किया जावे रात्रि के समय पानी रुधिर हो जाता है। अन्न मांस हो जाता है। रात्रि भोजन करने वाला प्रत्येक ग्रास में मांसभक्षण ही करता है। रात्रि के समय न जप होमादि में आहुति दी जाती न श्राद्ध किया जाता, न देव पूजा ही की जाती। रात्रि के समय दान भी उचित नहीं है। खास तौर से भोजन करना तो बिलकुल ही वर्जित है। गूलर, बड़फल पीपलफल आदि उदम्बर फल भी मांस ही है। वस्त्र से न छना हुआ पानी भी मांस ही है। चमड़े में भरा हुआ पानी भी मांस ही है और रात्रि मे भोजन करना भी मांस भक्षण करना ही है। रात्रि के समय भोजन करने से उल्लू कौवा बिलाव गीध सबर शूकर, सांप बिच्छू, गोध आदि योनियों में जन्म लेना पड़ता है।

श्री मार्कण्ड पुराण के जो कि वैदिक सनातनी शास्त्र है उल्लेख से भी यह स्पष्ट है रात्रि भोजन चमड़े की मशक आदि में भरा पानी अनछना जल उदबर फल (गूलर आदि) सभी मांस भक्षण है और रात्रि भोजन करने से उल्लू, कौआ आदि योनियों में भटकना पड़ता है। इस लिए रात्रि भोजनादि कभी नहीं करना चाहिये।

पांच पापों के त्याग को पांच व्रत (अहिंसादि) कहा जाता है। यद्यपि अहिंसा व्रत में रात्रि भोजन त्याग अनिवार्य है तो भी रात्रि भोजन के त्याग को विशेष महत्त्व देने के लिए

दिगम्बर जैन आगम के आलोक में—

वास्तव मे आचरण का नाम ही धर्म है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। मानव आचरण के बिना कभी नही रहता, किसी न किसी क्रिया मे वह रहता ही है। क्रिया का नाम ही आचरण है। अच्छी क्रिया (आचरण) धर्म और बुरी क्रिया (आचरण) अधर्म या कुधर्म है। उत्तम क्रिया मानव का स्वभाव और दूषित क्रिया विभाव है। विभाव ही अधर्म या स्वभाव ही धर्म है। हिंसादि पाच पापो से युक्त क्रिया विभाव और इनसे रहित क्रिया स्वभाव है। मद्यमासादि का भक्षण, रात्रि भोजन आदि सब दूषित क्रियाएँ है।

वसुनदिश्रावकाचार मे मध्यम मार्गी गृहस्थ की अनिवार्य क्रियाओ का वर्णन करते हुये आचार्य श्री वसुनदि सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं कि—

एयादसेसु पढम वि जदो णिसि भोयण कुणतस्स।
ठाण ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तो परिहरे णियमा ॥३१४॥
चम्मट्ठि कीड उ दरु भुयग वे साइ असणमज्झम्मि।
पडिय ण किं विपस्सइ भु जइ सव्व पि णिसि समए ॥३१५॥
एव बहुप्पयार दोस णिसि भोयणम्मि णाऊण।
तिविहेण रायभुत्ती परिहरियव्वा हवे तम्हा ॥३१६॥
एकादशसु प्रथममपि यत निशाया भोजन कुर्वत।
स्थान न तिष्ठ ति तस्मात् निशा भुक्ति परिहरेन् नयमेन॥
चर्मास्थिकीटोदरुभुजगकेशादय अशन्मध्ये।
पतन्ति न किमपि दृश्यते भुज्जते सर्वमपि निशासमये॥
एव वहु प्रकार दोष रात्रि भोजने ज्ञात्वा।
त्रिविधेन रात्रिभुक्ति परिहर्तव्या भवेत् तस्मात्॥

कौसिक नामक जन्तु पेट में चला जाय तो खाने वाले के महान भयकर रोग जो कोढ़ है उसे पैदा कर देता है। विदित हो कि रात में ये सब पदार्थ दीखते नहीं। भोजन में भी गिर सकते हैं और खाये भी जा सकते हैं।)

श्री हेमचन्द्राचार्य रात्रि भोजन के और भी दोष बतलाते हुये कहते हैं कि—

> विलग्नस्तु गले बालः स्वरभंगाय जायते।
> इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां रात्रि भोजने ॥

अर्थ—यदि खाने में बाल (केश) चला जावे तो उससे स्वरभग हो जाता है अर्थात् गले में दर्द हो जाता है और आवाज बिगड़ जाती है बोला नहीं जाता। ऐसे अनेकों दोष रात्रि के समय भोजन करने में देखे जाते हैं इसलिए रात्रि भोजन सर्वथा नहीं करना चाहिये।

भोजन का समय बतलाते हुए लिखते हैं कि—

> अह्नो मुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन्।
> निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥

अर्थ—सूर्योदय से दो घड़ी के बाद तथा सूर्यास्त से दो घड़ी पहले भोजन का समय है। सूर्योदय से दो घड़ी तक का समय तथा सूर्यास्त से पहले दो घड़ी का समय भी रात्रि काल में ही सम्मिलित है। अतः रात्रि के समय के अतिरिक्त इन दो दो घड़ियों में भी जो भोजन न करके रात्रि भोजन के दोषों का ज्ञाता बाकी के समय में ही भोजन करता है वह पुण्य का पात्र होता है।

श्वेताम्बर जैन धर्म के सभी आचारशास्त्र रात्रि भोजन का प्रबलता से निषेध करते हैं। रात्रि भोजन में हिंसा के दोष के अतिरिक्त स्वास्थ्य के लिए भी अत्यंत हानिकारक प्रकृति विरुद्धता आदि अनेक दोष हैं।

ं मे छह महीने रात्रि भोजन मबधो आरभ के भी छूट जाने से वह
ने समय का वैसा आरभ त्यागी भी हो जाता है।

एक वर्ष के बारह मास होते है। रात्रि के समय भोजन न करने
छह मास भोजन छूट जाने से छह मास ही भोजन करने से छह
ास अपने आप उपवास बन जाता है।

अहिंसाव्रतरक्षार्थ मूलव्रतविशुद्धये ।
नक्त भुक्ति चतुर्धापि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥

(सागार धर्मामृत अ ४–२४)

अर्थ—अहिंसा व्रत की रक्षा और मूलव्रत की विशुद्धि के लिए
ैर्य धारक गृहस्थ का कर्तव्य है कि रात्रि के समय खाद्य, स्वाद्य, लेह्य
ौर पेय इस प्रकार चारो प्रकार के भोजन का त्याग करदे।

मनुष्य मात्र का धर्म अहिंसा है। 'अहिंसा परमो धर्म ।' यह वाक्य
जैनो का ही नही, अपितु सभी का है। वास्तव मे हिंसा रहित भावना
और प्रवृत्ति का नाम ही धर्म है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह
ये अहिंसा के ही अ ग हैं। मानव मे मानवता अहिंसा मे ही है। मानव
मे हिंसा की भावना और प्रवृत्ति राक्षसी वृत्ति है। रात्रि में भोजन
करने से द्वीन्द्रियादि त्रस जीवो का घात होता है। त्रस जीवो के कलेवर
का नाम ही मास है। रात्रि को भोजन तैयार करते तथा खाने मे त्रस
जीव मरते तथा खाने मे भी आ जाते हैं। भोजन–सामग्री मे त्रस
जीवो के कलेवर पड जाते है, वही भोजन जब खाया जाय तो रात्रि
भोजी को मास भक्षण का पाप स्वयमेव लग जाता है और रात्रि
मानव मानवता से विहीन हो जाता है। यदि मानव को परन्तु
मानवता की सुरक्षा रखनी है तो मद्य मासादि के त्याग वातो का
न का त्याग भी कट्टरता के साथ ही करना च चार्यों ने अपने

भावार्थ—मध्यम मार्गी गृहस्थ के आचरण के ग्यारह दर्जे हैं परन्तु रात्रि के समय भोजन करने वाला किसी श्रेणी में नहीं रह सकता अर्थात्–रात्रि भोजन त्याग गृहस्थ की पहली श्रेणी से भी नीचे का कर्तव्य है अर्थात् उस प्रथम श्रेणी में भी तभी प्रवेश पा सकता है जब रात्रि भोजन का मन वचन काय से त्यागी हो।

(रात्रि के समय भोजन तैयार करने तथा खाने में दीपक गैसबत्ती मौमबत्ती एवं बिजली के प्रकाश में भी मच्छर हुड़ो कीड़ा कोड़ो चूहा सांप केश (बाल) आदि गिर जाते हैं और दीखने में नहीं आते और खाने में आ जाते हैं।)

इस प्रकार रात के समय भोजन करने में बहुत प्रकार के दोषों को जानकर रात्रि भोजन मन वचन काय से सर्वथा छोड़ने योग्य है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज श्री पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में लिखते हैं कि—

> रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।
> हिंसा विरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२९॥

अर्थ—जो रात्रि के समय भोजन करते हैं वे अवश्यमेव हिंसा करते हैं। रात्रि भोजन में हिंसा अनिवार्य है अतः अहिंसा धर्म के प्रेमी के लिए रात्रि भोजन सर्वथा त्याज्य है।

श्री स्वामिकार्तिकेय महाराज श्री स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं कि—

> जो णिसिभुत्तिं वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मासं ।
> संवच्छरस्स मज्झे आरंभं मुयदि रयणीये ॥३८३॥

अर्थ—जो रात्रि के समय भोजन करना छोड़ देता है वह एक वर्ष में ६ (छह) मास का उपवास करता है। रात्रि भोजन त्याग से एक

सूर्य रश्मिया पर्याप्त पहुँचती हैं। चिकित्सा शास्त्र मे छिलके सहित फल खाना बहुत लाभकारी इसीलिए बतलाया गया है परन्तु आजकल छिलका उतार कर फल खाने का रिवाज चल पडा जो हानिकारक नही तो लाभकारक भी नही है।

सूर्य प्रकाश पाचन शक्ति दाता है। जिनकी पाचन शक्ति निर्बल है उनको चिकित्सक लोग सायकालीन भोजन बन्द कर देने की सलाह देते हैं। उनकी यही सलाह होती है कि सूर्य प्रकाश मे एक बार ही हलका भोजन किया जाना चाहिये। स्वयं रात्रि भोजन करने वाले चिकित्सक भी रोगी को एक बार के भोजन मे रात्रि भोजन का ही निषेध करते हैं, दिवा भोजन का नही।

रात्रि के समय हृदय और नाभि कमल सकुचित हो जाने से भुक्त पदार्थ का पाचन भी गडबड मे पड जाता है, भोजन करके सो जाने पर तो वह कमल और भी सकुचित हो जाता है। भोजन करके निद्रा लेने से पाचन शक्ति घट जाती है और रात को सोना अनिवार्य है, अत रात को भोजन करना स्वास्थ्य के लिए बडा घातक है।

भोजन करने के बाद तीन घटे तक सोना स्वास्थ्य-शास्त्र के विरुद्ध है। २४ घटे मे सात आठ घन्टे नीद लेना भी आवश्यक है। स्वास्थ्य की रक्षा के लिए प्रात काल ब्राह्म मुहूर्त मे उठना आवश्यक है। रात की चौथी प्रहर का नाम ब्राह्म मुहूर्त है। गर्मी की ऋतु मे प्रात काल चार बजे बिस्तर से उठ जाने वाला और नौ बजे सो जाने वाला सदैव स्वस्थ रहता है उनकी बुद्धि भी ठीक रहती है। नौ बजे सोने वाले को दिन मे सायकाल के ६ बजे पहले २ भोजन कर लेना चाहिये। इसी प्रकार शीत ऋतु मे भी भोजन करना चाहिये।

आजकल लोग विज्ञान के चमत्कारो से बडे प्रभावित हैं। परन्तु जिन बातो को आजकल विज्ञान से सिद्ध किया जाता है उन बातो का ध्यय हजारो लाखो करोडो वर्ष पहले ऋषि मुनियो आचार्यों ने अपने

आलोकित पान भोजन—

गृहस्थ तथा साधु को भोजन तथा पान पूर्ण रीति से आलोकित करके ही करना चाहिये। अहिंसा व्रत की स्थिरता और रक्षा आलोकित पान भोजन बिना कभी नहीं हो सकती। यदि कोई यह प्रश्न करे कि दीपक या बिजली के प्रकाश में भोजन बनाया और खाया जाय तो क्या आपत्ति है? दीपक और बिजली के प्रकाश में भोजन पान अन्य पदार्थों की तरह अच्छी तरह आलोकित हो सकता है परन्तु यह प्रश्न वस्तु स्थिति की अनभिज्ञता के कारण है।

दीपक और बिजली के प्रकाश में चाहे वह कितना ही तेज क्यों न हो पदार्थ अच्छी तरह नहीं दीखते प्रत्युत उक्त प्रकाश में सम्मूर्छिम जीव अधिक मात्रा में तथा रस आदि के पैदा हो जाते हैं जो देखने में नहीं आते। सूर्य का प्रकाश जीवन शक्ति का दाता और उन्मादक है। चन्द्रमा दीपक और बिजली आदि के प्रकाश में उक्त गुण का अभाव है।

सूर्य के प्रकाश के समान कोई दूसरा प्रकाश नहीं है। सूर्य के उदित होते ही जीवन में ज्योति स्फुरायमान हो जाती है। बीमार भी प्रातःकाल के समय अपने को अपेक्षाकृत कम रोगी मानता है। सूर्य का प्रकाश होते ही कीड़े मकोड़े तक इधर उधर हो जाते हैं। रात्रि के समय कीड़े मकोड़े पर्याप्त संख्या में प्रकट हो जाते हैं।

भूमि के अन्दर रहने वाले साग जैसे गाजर मूली प्याज आदि अभीम कंद इसीलिए सक्षणीय नहीं हैं कि वे सदैव अंधकार में ही रहते हैं उनको सूर्य का प्रकाश जितना मिलना चाहिये नहीं मिलता ... फलों पर सूर्य का प्रकाश खूब पड़ता है वे पर्याप्त स्वास्थ्य ... पुष्प वर्धक भी होते हैं। फलों के भीतर के भाग की ... गुणकारी और लाभप्रद इसीलिए होता है कि उसके

जीवन शक्ति प्रदायक प्राणतत्व का वे सर्जन करते है। वैज्ञानिक बताते हैं कि इनके अतिरिक्त सूर्य प्रकाश मे infra-red और ultra-violet रग की किरणे भी होती हैं। (अल्ट्रावायलेट किरणो मे एक्स-रे की तरह पुद्गल के भीतर तक घुसकर कीटाणुओ को नष्ट करने की शक्ति होती है। उनके कारण ही दिन मे कीटाणु प्रकट नही होते। आधुनिक विज्ञानवेत्ता ऐसी नकली किरणे बनाकर रोगादि के कीटाणुओ को नष्ट करने मे समर्थ हुए है। यह किरणे रात मे नही मिलता। इसी कारण रात मे कीडे मकोडे आदि अधिक सख्या मे निकलते हैं।) इस प्रकार विज्ञान से भी यह सिद्ध है कि दिवा भोजन करना स्वास्थ्य वर्द्धक है और इसमे हिंसा भी कम है। इसके विपरीत रात्रि भोजन स्वास्थ्य का घातक है और उसमे हिंसा भी अधिक होती है। इसीलिए प्राचीन भारत मे और खास कर जैनो मे दिवाभोजन करने की ही परम्परा रही है।)

इसी सम्बन्ध में कुछ उदाहरण—

धर्म कर्म का तिरस्कार और अवहेलना करने का फल इस जन्म मे नही भी मिलता इसीलिए केवल प्रत्यक्ष बात को ही मानने वाले धर्म कर्म मे विश्वास नही करते। धर्म कर्म में वे ही विश्वास करते हैं जो ऐहिक जगत के अतिरिक्त पारलौकिक जगत् भी मानते हैं परन्तु केवल ऐहिक मत को मानने वाले भी धर्म कर्म की उपेक्षा तथा अवहेलना कर सकते है परन्तु स्वास्थ्य की तो वे भी अवहेलना और तिरस्कार नही करते। रात्रि भोजन रात्रि मे सूर्य प्रकाश के विना सुचारुरूपेण अनालोकित होने से स्वास्थ्य का घातक ही नही, मौत का भी कारण बन जाता है, जिसी के सबध मे कुछ सत्य घटनाओ का उल्लेख किया जाता है —

मेवाड के भाटिया गाव मे एक कर्मचारी के यहा एक पाडेजी रोटी बनाते थे। उनका नाम था टीकाराम। महाराज ने एक रोज, रात के भोजन मे भिडी की शाक बनाई। भिडिया मसाला भर

अलौकिक आत्म ज्ञान से प्रकट कर दिया था। आयुर्वेद उसी का सूचक एक उदाहरण है।

आयुर्वेदज्ञ ऋषियों ने सब पदार्थों का जो गुण दोष विवेचन निघंटु आदि वस्तुगुण सूचक आयुर्वेद शास्त्रों में किया उन सबकी परीक्षा करके नहीं किया। करोड़ों असंख्यों पदार्थों का अपने अल्पकालिक जीवन में प्रयोग भी कैसे किया जाय? वास्तव में वे आध्यात्मिक-शक्ति से अलौकिक ज्ञानी थे अतः उन्होंने उस ज्ञान के द्वारा जो प्रतिपादन किया वह सर्वथा उचित और असंदिग्ध है। उस समय जो उन्होंने कहा वह आज भी उसी प्रकार सिद्ध है।

आयुर्वेद शास्त्र रात्रि भोजन का निषेध ही करता है। आयुर्वेद (शरीर) शास्त्र की दृष्टि से रात्रि को भोजन करना निषिद्ध है। चाहे सूर्य की महिमा शास्त्रों में वर्णित है उसी के बारे में आज का विज्ञान भी अन्वेषण करने के बाद सहमत है। विज्ञान बतलाता है कि—

((सूर्य के प्रकाश में नीलाकाश के रंग के सूक्ष्म कीटाणु स्वतः नष्ट हो जाते हैं उनका प्रसार रात को होता तथा बढ़ता है। चाहे जितना तेज से तेज उजाला हो उसमें भी वे दृष्टिगोचर नहीं होते जो भोजन में गिर जाते हैं। भोजन में गिरने से उनकी हिंसा का पाप तो लगता ही है साथ में उनके भोजन के साथ पेट में जाने से अनेक असाध्य रोग तक हो जाते हैं। /

सूर्य-प्रकाश और आधुनिक विज्ञान—

जब सूर्य-प्रकाश की किरण किसी शीशा से गुजरती है तो उसमें सात रंग दिखाई पड़ते हैं जो बायलट नीला बैंगनी हरा पीला नारंगी और लाल होते हैं। यह रंग सूर्य प्रकाश के आन्तरिक अवयव (Component Parts) हैं और स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद हैं

जीवन शक्ति प्रदायक प्राणतत्व का वे सर्जन करते है। वैज्ञानिक बताते हैं कि इनके अतिरिक्त सूर्य प्रकाश मे infra-red और ultra-violet रग की किरणे भी होती हैं। (अल्ट्रावायलेट किरणो मे एक्स-रे की तरह पुद्गल के भीतर तक घुसकर कीटाणुओ को नष्ट करने की शक्ति होती है। उनके कारण ही दिन मे कीटाणु प्रकट नही होते। आधुनिक विज्ञानवेत्ता ऐसी नकली किरणे बनाकर रोगादि के कीटाणुओ को नष्ट करने मे समर्थ हुए है। यह किरणे रात मे नही मिलता। इसी कारण रात मे कीडे मकोडे आदि अधिक सख्या मे निकलते हैं। इस प्रकार विज्ञान से भी यह सिद्ध है कि दिवा भोजन करना स्वास्थ्य वर्द्धक है और इसमे हिंसा भी कम है। इसके विपरीत रात्रि भोजन स्वास्थ्य का घातक है और उसमे हिंसा भी अधिक होती है। इसीलिए प्राचीन भारत मे और खास कर जैनो मे दिवाभोजन करने की ही परम्परा रही है।)

इसी सम्बन्ध में कुछ उदाहरण—

धर्म कर्म का तिरस्कार और अवहेलना करने का फल इस जन्म मे नही भी मिलता इसीलिए केवल प्रत्यक्ष बात को ही मानने वाले धर्म कर्म मे विश्वास नही करते। धर्म कर्म में वे ही विश्वास करते हैं जो ऐहिक जगत के अतिरिक्त पारलौकिक जगत् भी मानते हैं परन्तु केवल ऐहिक मत को मानने वाले भी धर्म कर्म की उपेक्षा तथा अवहेलना कर सकते हैं परन्तु स्वास्थ्य की तो वे भी अवहेलना और तिरस्कार नही करते॥ रात्रि भोजन रात्रि मे सूर्य प्रकाश के बिना सुचारुरूपेण अनालोकित होने से स्वास्थ्य का घातक ही नही, मौत का भी कारण बन जाता है, जिसी के सबध मे कुछ सत्य घटनाओ का उल्लेख किया जाता है—

मेवाड के भाटिया गाव मे एक कर्मचारी के यहा एक ।उडेजो रोटी बनाते थे। उनका नाम था टीकाराम। महाराज ने एक रन्दन, रात के भोजन मे भिंडी की शाक बनाई। भिंडिया ममाला भर

के समूचो बघारी गई थी। अचानक छत से एक छिपकली भी तवे पर आ गिरी। तवा गरम तो था ही उस पर पड़ते ही छिपकली के प्राण भी हो हो गये। जरा ही देर में वह भी भून कर भुरता बन गई। साक को हिलाते समय भिंडियों का मसाला भी उसमें काफी रूप से मिल गया। समय पर थाली परोसी गई। पहली बार भिंडियों के साथ वह भुनी हुई छिपकली भी थाली में आ गई। पहले ही कौर में उसकी पूंछ हाथों में आ गई। राज कर्मचारी आपे से बाहर हो गये। ब्राह्मण देवता पर गालियों की बौछार सी होने लगी "से देख भिण्डी का डठल तक तुम से नहीं तोड़ा गया!! कहा गया। दूसरे कौर मे छिपकली के पैरों पर हाथ पड़ा। अब तो खाने वाले महाशय बड़े ही तमतमाये। ब्राह्मण से दीपक लाने को कहा। प्रकाश में देखते ही छिपकली नजर आई। उसी दिन से उनकी आंखें खुली। रात्रि भोजन को पाप और पाप मूलक उन्होंने समझा और सदा के लिए उन्होंने उस छोड़ भी दिया।

× × × ×

एक बात झालावाड़ की छावनी की है। एक भाई के घर में बैंगन का आचार डाला गया था। किसी दिन वह कहीं खुला रह गया होगा। एक चूहेरामजी उसमें गिर पड़े और अपना भी आचार उन्होंने बना डाला। कुछ ही दिनों के बाद एक रात में आचार के बरतन औरतों ने उसी चूहे को उस भाई की थाली में ला परोसा। पूंछ पर हाथ पड़ा। उसे तोड़ने की कोशिश की गई। पर चमड़ा तो था। टूटता कैसे? भाई औरतों पर झल्लाने लगे। क्या आंखें फूट गई थीं जो डंठल तक न तोड़े गये! क्या हाथ टूट गये थे जो इतना भी काम न हो पाया! इत्यादि ताने मारे गये। अब तो पैर भी उस भाई के हाथ आ गये। तब दीपक को लाने की पुकार मची। दीपक के लाने पर चूहा नजर आया। हाय तोबा मच गई। थू-थू होने लगी। अरे राम!

आज तो चूहा ही खा जाता ? यदि दीपक लेकर न देखा होता, तो क्या गजब हो गया होता।(सचमुच मे रात्रि भोजन महान् अधर्म और अनुचित है। आज से अब रात्रि-भोजन भूल कर भी न करना चाहिये ।)

× × ×

मेलसा गाव के भाई खेमचन्द बघेरवाल के यहाँ, रात के समय, एक दिन पूरी और लपसी बनी। लपसी मे कही से एक छिपकली आकर गिर पडी और थोडी ही देर मे घुल मिल गई। भोजन करते समय लपसी के साथ छिपकली की पूछ और पैर जवान पर लगते ही, 'हाय थू ! कर के कौर को जमीन पर पटक दिया गया। देखने पर छिपकली मिली। भविष्य के लिए भाई खेमचन्द ने रात्रि-भोजन को त्याग कर सदा के लिए अपनी क्षेम-कुशल मनाई। और तब से वह जैन धर्म सिद्धान्तो को करणी मे उतारने लगा।

× × ×

एक दिन मेलसा के एक भाई तिलोकचन्द जी अपने लेन-देन के कारण, नर्वदा गाव मे आये। और, रात अपने आसामी, एक किसान के घर पर रहे। उस किसान ने अपते बोहरा जो की मिजवानी भोजन से की। उस समय घर मे पानी नही था। किसान अन्धेरे मे जल्दी से जाकर, पास ही के एक कुए से, पानी, का एक मोटा सा मटका भर लाया। भाग्य से, उसी मटके मे, एक छोटा साप भी आ गया। किसान की पत्नी ने, बिना ही छाने, कुछ पानी, हाडी मे उडेल दिया और उसे चूल्हे पर चढा दिया। साप भी तब हाडी मे आ गया था। ऊपर से चावल उसमे डाल दिये गये। कुछ ही देर के बाद भोजन परोसा गया। भाई तिलोकचन्दजी भोजन करने को बैठे। पहले ही कौर मे, वह लम्बा सा साप, उनके हाथ मे जा पडा। वे चिल्लाये, "अरे यह क्या ? देखा, तो साप ! भाई तिलोकचन्द जो के हाथ पैर ढीले पढ गये। कलेजा उनका सिहर उठा। तबसे रात्रि-भोजन कभी उन्होने नही किया।

उस दिन रात्रि भोजन करने की शपथ ले ली सामये। और समझने लगे कि जैनियों के साधु लोग जो रात्रि में भोजन करने का निषेध करते हैं वह बिलकुल सच है ज्ञान-गर्भित है, और धर्म-मय।

× × ×

सागर (सी० पी०) शहर की बात है। वहाँ एक हकीम जी थे। उनका नाम था रामदयाल। एक दिन सोते हुये उठ कर, उनकी स्त्री ने रात के समय पलग के नीचे रक्खे हुये लौटे को उठा कर जल पी लिया। लौटे के ढक्कन को चूहा आदि ने गिरा दिया था। भाग्य से उसमें उस दिन एक मकड़ी पड़ गई थी। पानी के साथ मकड़ी भी उसके पेट में जा पहुंची। परिणाम यह हुआ कि थोड़ी ही देर में शरीर फूल कर ढोल सा हो गया। अनेकों औषधियां की गईं। सब बेकार हुईं। आखिर छः मास तक घोर कष्ट सह कर, उनकी मृत्यु हो गई। बेचारे रामदयाल जी पश्चात्ताप कर बैठ रहे। आगे के लिये रात्रि में भोजन न करने तथा पानी भी न पीने का ध्रुव निश्चय किया।

× × ×

एक दिन सागर निवासी भीमा नामक सोनी वृन्दावन को गया। वहाँ रात में उसने एक भुजियो की कढ़ी बनाई। समय वर्षा का था। एक मेंढक उछल कर उसमें आ गिरा। और भुजियों के साथ वह भी उसमें घुल गया। खाते समय भुजिया समझ कर, ज्योंही उसने उसको मसका तो चारो पैर उसके हाथ पड़े। उसे अचरज हुआ। दीपक लकर देखने पर मेंढक मिला। उसका खाना सारा हराम हो गया। तबसे उसने भी रात्रि भोजन को महान् पाप और स्वास्थ्य नाशक समझ कर सदा के लिये त्याग दिया। उसके कुटुम्बियों ने भी उसका साथ दिया।

❀ ❀ ❀

समाचार पत्रों में यह समाचार एक बार पढ़ा गया कि एक छप्पर फूस का मकान था। रात के समय जब आग चूल्हे पर चढ़ा हुआ

था। उसमे उस छप्पर मे से एक छोटा सा साप गिर गया। बर्तन मे साग के साथ वह भी पक गया। जिम जिम ने उम साग को खाया उन सब का प्राणान्त हो गया।

× × ×

एक महिला दही के लिए दूध रात के समय जमा रही थी। उस दूध के बर्तन में एक साप का बच्चा गिर गया। जब वह दूसरे दिन उम दही को बिलौने बैठो तो उसमे उसे मरा हुआ साप मिला। यदि वह दही खा लिया जाता तो खाने वाले सब मर जाते।

× × ×

सन् १९५५ की बाल भारती पुस्तिका के २२ वे पृष्ठ पर छपा है कि —"एक बार एक लडकी उस दूध को पी गई जिममे मक्खी गिर ई थी। उस लडकी ने विना देखे दूध को पी लिया। मरी मक्खी पेट चली गई जिससे उस लडकी का बुरा हाल हुआ, वह मर गई। ाक्टरो ने उसकी बीमारी समझने का प्रयत्न किया किन्तु पता चल न ाया। जव उसके शव की परीक्षा की गई तब पता चला कि मक्खी ाहरीली थी। उसके साथ जहरीले कीटाणुओ ने शरोर मे प्रवेश कया था।"

× × ×

"हिन्दी जगत् के सुपरिचित विद्वान् पडित रामनरेश त्रिपाठी ा बम्बई से प्रकाशित 'नवनीत' पत्र नवबर १९५८ मे एक लेख छपाया ा "पडित रुचि राम की मक्का यात्रा" जिसमें उन्होने लिखा है कि— प्रदन मे दो मास रहने के बाद पडित रुचिरामजी जुवार मुकाम मे ाहुँचे। वहा उन्होने दो दिन का पानी भर लिया। बन्धुओ ने उनकी केटली मे ऊटनी का दूध भर दिया और कुछ खजूर भी भर दिये। चलते चलते वे रास्ता भूल गये और शाम को एक जगल मे जा निकले उन्होने लकडिया जला कर आग जलाई खाना पकाया। चाय पी और हो सो गये। आधा दूध सोते समय पीलिया और आधा जब रात्रि मे ास लगी तब पोलिया। सवेरे उनको जाडे का बुखार चढ आया। ट्ली मे देखा तो सारी केटली चीटियो से भरी थी। बुखार का

कारण समझ में आ गया। आधी रात में चींटियां भी थी जिन्हें वे पी गये थे।

× × ×

अलीगञ्ज (एटा) में एक हलवाई के दूध में छिपकली गिर गई जिसे उसने निकाल कर फेंक दिया और उस विषैले दूध की रबड़ी बना कर बेची जिस जिस ने रबड़ी खाई सभी जिंदगी से हाथ धो बैठे।

× × ×

एक हमारे पड़ौसी मित्र को भोजन मे अच्छी अच्छी चीज मिलने पर भी वे एक खास हलवाई के यहां से आम का आचार दोनों समय अवश्य मंगाकर या लाकर खाते थे। एक दिन जब वे आचार लेने गये तो मैं भी चला गया। उस हलवाई के यहां मनों आचार तैयार रहता था और बड़े २ पात्रों मे भरा रहता था। जब उसके दुकानदारी वाले छोटे पात्र मे आचार नहीं रहा तो अन्दर से लेने गया। अपनी हंडिया म आचार भर लाया और दूसरे हाथ में उस आचार पात्र में डूबे हुए चूहे को लेकर आया और बाहर फेंक दिया। हम दोनों को बड़ी घृणा हुई और आचार के लिए दिए हुये पैसे भी वापस न लेकर लौट गये और उसी दिन से बाजारू मिठाई आचार आदि खाना छोड़ दिया। आचार मुरब्बे सयानक रात्रि भोजन ये सब हिंसा की दृष्टि से ही त्याज्य नही है किन्तु स्वास्थ्य के लिये भी अत्यन्त घातक हैं। बाजारू दुकानदार भोज्य वस्तुओं के बनाने में रात दिन का विचार नहीं रखते और न उनमे अच्छी स्वास्थ्यप्रद वस्तुओं का ही उपयोग करते हैं, उनका ध्येय केवल धनोपार्जन रहता है। वे किसी चीज के विकृत बिगड़ हो जाने पर न फेंककर प्रकारान्तर से उसे ही काम में लेकर उससे धनार्जन करते हैं।

मित्रों! यू एक दो और दस नहीं बरन् सैंकड़ों उदाहरण आपको दिये जा सकते है। परन्तु यहां न तो इतना समय ही अवकाश का है और न इतना अधिक स्थान ही। अतः केवल एक धुंधला सा चित्र मात्र हमने आपके सामने खड़ा कीया है कि रात्रि-भोजन में अचानक आ जाने वाले जीवों की तो हिंसा होती ही है पर उसके

खाने वालो की कैसी दर्दशा होती है, कौन–कौन सी भयकर बीमारियो के शिकार वे बन जाते हैं। आइये, जरा इस बात की छान-बीन भी अपन करे। देखिये,—

कुण्डलिया —जु ए खा गये तो हुआ, रोग जलोदर भार।
जाती मुख मे मक्षिका, होता वमन अपार॥
होती वमन अपार, ढीठ मन छोड ढिठाई।
बाल करे स्वर-भग, लूतिका कुष्ट बढाई॥
बिच्छू के भक्षण किये, मड सड मरते लोग।
'रतन' रात्रि भोजन तजो, होते जिससे रोग॥१॥
कौआ, कीर, कुरग तक, खाते निशि मे नाहि।
मानव तो नर–देह है, कैसे निशि मे खाहि॥
कैसे निशि मे खाहि, रात्रि–भोजो मरते हैं।
भक्षण कीट, पतग, और भुनगे करते हैं॥
योही पिस्सू और जु ए, खटमल खा जाते।
धिक् मानुष की देह, 'रतन' इस भाति सुनाते॥२॥

अर्थात् जू ए यदि भोजन के साथ कभी खाने मे आ जाय, तो जलोदर की प्राण–घातक बीमारी हो जाती है। मक्खी यदि मुह मे चली जाय, तो तत्काल वमन हो जाता है। भूल से बाल (केस) यदि खाने मे आ जाय तो, स्वर भग हो जाता है। इसी प्रकार, यदि मकडी, शरीर मे, भोजन के साथ चली जाय, तो शरीर में कोढ फूट निकलता है। बिच्छू के खाने मे चले जाने से कपाल ही सड जाता है। यो रात्रि-भोजन ही विशेष करके, अनेक रोगो का उत्पादक है। अतएव बुद्धिमान लोग सदा–सर्वदा उसका निषेध करते रहते हैं। फिर, लाभ-दायक तो वह किसी भी प्रकार नही होता। मित्रो! रात को तो पक्षी तक अपना चारा–पानी छोड देते हैं, तब क्या मनुष्य चरिन्दो और परिन्दो से भी गया बीता प्राणी है, जो वह रात मे भोजन करता है? इसी पर कवि ने कहा है,—

चिड़ी कमेड़ी कागला रात चुगो नहिं जाम।
तम नर-देही मानवी रात पड़े किमि खाय।।
रात पड़े किमि खाय खाय मार्‌या बहु प्राणी।
कीड़ पतंग्या कुन्था पड़े भाखर से पाणी।।
महु पधारे सुरमणी ईषी गण समेत।
रात' कहे किम मानवी रात खाय करि हेत।।

मित्रों ! जब ये छोटे-मोटे जीव-जन्तु तक रात्रि में अपना खान पानी छोड़ देते हैं तब क्या मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो ए ओर तो संसार में अपनी सभ्यता तथा श्रेष्ठता की डींग हांकता है और दूसरी ओर वही ऐसे काम करता है जो कीड़े-मकोड़ों तक गये बीते होते है।

सूर्य ग्रहण और भोजन त्याग—

वैदिक सनातनी समाज में यह सभी जगह प्रचलित रीति है कि सूर्य ग्रहण लगने से बहुत पहले ही खाना पीना छोड़ दिया जाता है सूर्य ग्रहण का अर्थ है—सूर्य के आगे केतु ग्रह का विमान आकर सू के प्रकाश और प्रभाव को नष्ट कर देना। सूय के आगे केतु के आ जा को सूतक माना जाता है। चाहे वह सूर्य ग्रहण मण्डलाकार हो खण्डा हो या खग्रास हो। कैसा ही सूर्य ग्रहण हो उसमें से पहले ही भो खाना पीना छोड़ देते हैं। सनातनी वैदिक समाज में ही ऐसा होता है सो नहीं—सभी विवेकी लोग सूर्य चन्द्र ग्रहण के समय भोजन पानादि नहीं करते।

सूय ग्रहण के समय तो सूर्य पर थोड़ा सा ही आवरण आता है जब उस समय भी खाना पीना छोड़ दिया जाता है तब जिस समय सूय सर्वथा अस्त हो उस समय भोजन पान करना कितना निषिद्ध और सोचनीय है।

अनेक लोग सूर्य की उपासना करते हैं और उसे अपना आराध्य देव भी मानते हैं। सूर्य को उदित होते ही अर्घ्य प्रदान करते हैं फिर ऐसा मानकर उपासना करने वाले अपने आराध्य देव के अस्तगत हो जाने पर भोजन जब उसके समर्पित नही किया जा सकता तो वह भोजन सूर्यास्त की दशा मे खाने योग्य भी नही-रहता और आस्तिक व्यक्ति कभी अदेवार्पित भोजन नही कर सकता। इस दृष्टि से भी रात्रि भोजन सर्वथा त्याज्य ही है।

अंग्रेजी भाषा मे एक कहावत है कि —

"Deeds of Darkness are committed in the dark"

अर्थात्—संसार मे जितने भी अन्याय और अत्याचार के कार्य होते हैं वे प्राय अन्धकार मे ही किये जाते हैं। भोजन के ऊपर ही सारा जीवन आधारित है। आत्मा और शरीर दोनो का आधार भोजन ही है। भोजन के लिए चार प्रकार की शुद्धि अपेक्षित है। द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि।

जो भी खाया पिया जाय वह द्रव्य (वस्तु) शुद्ध होना परमावश्यक है। द्रव्य मे शुद्धि अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अव्यभिचार से आती है जो भोजन हिंसादि कार्यों से निष्पन्न होगा वह कभी शुद्ध नही हो सकता। हिंसक साधनो, चोरी, व्यभिचार आदि से कमाये हुए धन से बना हुआ भोजन जिस प्रकार शुद्ध नही है उसी प्रकार अकाल मे किया भोजन भी काल शुद्ध नही। भोजन का काल दिन ही है, रात नही। भोजन के लिए क्षेत्र शुद्धि भी आवश्यक है। जिस जगह भोजन बने या भोजन किया जाय यदि वह स्थान हिंसक कार्यों का क्षेत्र है अथवा मल मूत्रादि की जगह है तो वह क्षेत्र शुद्ध नही है और उस जगह किया हुआ भोजन आत्माको अवश्य विकृत ही बनायेगा इसी प्रकार भोजन करते समय भाव शुद्धि की भी आवश्यकता है।

भोजन जिस पर सारा जीवन आधारित है रात के समय आत्मा के भावों में अन्धकार ही लाता है प्रकाश नहीं। अन्धकार (अन्धेरे) के समय अच्छे कार्य निषिद्ध कहे गये हैं। भोजन एक बड़ा भारी महत्वपूर्ण और जीवनोपयोगी कार्य है। इसी पर धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ आश्रित हैं जिसे द्रव्य क्षेत्र काल भावात्मक चतुर्विध शुद्धि के साथ करने में ही मानवता है।

स्वास्थ्य शास्त्र के आलोक में—

(स्वामी शिवानन्दजी एक बहुत अच्छे विचारक परोपकारी सन्त हो गये हैं। आपने अंग्रेजी में एक Health and Diat हैल्थ एण्ड डाइट अर्थात् स्वास्थ्य और भोजन नामक पुस्तक लिखी है। उसके पृष्ठ नं २६० पर आप लिखते हैं कि—)

The evening meal should de light anb eaten very early If possible take milk and fruits only before 7 p m No solid or liquid should be taken after sunset.

अर्थात्—(सायंकाल का भोजन हल्का और जल्दी ही कर लेना चाहिये। आवश्यकता ही हो तो सायंकाल सात बजने के पहले पहले केवल फल और दूध लिए जा सकते हैं। सूर्यास्त हो जाने के बाद ठोस या तरल पदार्थ कभी नहीं लेना चाहिये)

एक वैदिक धर्म के विचारक विद्वान ने भी सूर्यास्त के पश्चात ठोस और तरल पदार्थ खाने का निषेध किया है।

दिन में बनाया हुआ भोजन भी रात में नहीं खाना चाहिए—

बहुत से लोग यह कहा करते हैं कि दिन में बनाया हुआ भोजन रात के समय खालने मे आपत्ति नहीं है परन्तु यह उनका कहना सर्वथा अनुचित है। न दिन में बनाया हुआ रात के समय खाना चाहिये और

न रात के समय बनाया हुआ दिन मे भी खाना चाहिये। भोजन सूर्य के आलोक मे ही बनना चाहिये और सूर्य के आलोक मे ही खाना चाहिये।

/ सनातन वैदिक धर्म के मान्य और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ श्रीभागवद् गीता मे तीन प्रकार का आहार बतलाया गया है। सात्विक, राजस और तामस। ये तीनो आहार सत्व, रज और तम स्वभाव के अनुसार होते हैं। तामस शब्द तमस (अन्धकार) से बना है। रात्रि के समय चाहे चन्द्रमा का उदय हो, बिजली की चमचमाहटपूर्ण रोशनी हो, परन्तु रात्रि अन्धकारमय ही होती है, क्योकि चन्द्रमा और दीपक आदि का प्रकाश सीमित क्षेत्र मे ही होता है, व्यापक नही होता, परन्तु सूर्य का प्रकाश व्यापक होता है, इसलिए सूर्य को प्रकाशी, तेजस्वी और प्रतापी कहा जाता है और चन्द्रमा और दीपकादि को प्रकाशी ही कहा जाता है और इनका प्रकाश नियमित और सीमित क्षेत्र में ही होता है।

'रात्रि' शब्द सस्कृत भाषा का है। शब्द कोष मे रात्रि के पर्यायवाची शब्द अनेक हैं जिनमे एक तामसी भी है। रात्रि शब्द 'रा' धातु से पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'राशदिभ्यो त्रिन्' (उ ४–६७) सूत्र द्वारा 'त्रि' प्रत्यय लगाने से बनता है। 'रा' धातु दानार्थक है जिससे रात्रि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है कि 'सुख राति इस रात्रि' अर्थात् जो सुख को देह वह रात्रि होती है। चार पुरुषार्थों मे सासारिक सुखदाता काम पुरुषार्थ है, गृहस्थो के लिए रात्रि का समय काम पुरुषार्थ के उपार्जन मे लेना चाहिये। धनार्जन, भोजन बनाने, भोजन करने आदि मे नही। सुख भोजन बनाने तथा करने मे नही है। ये साध्य नही है। भोजन से आनन्द साध्य है। साध्य आनन्द का भोजन एक साधन अथवा व्यापार है जिसे रात्रि काल मे नही करना चाहिये। निशा' शब्द भी सस्कृत भाषा का है जिसका अर्थ है—व्यापार व्यवसाय न करना। 'नितरा श्यति तन् करोति व्यापारान् सा निशा'—अर्थात् जो अन्य व्यापारो को कृश कर देती है वह निशा है।

भोजन जिस पर सारा जीवन आधारित है रात के समय आत्मा के भावों में अन्धकार हो जाता है प्रकाश नहीं। अन्धकार (अन्धेरे) के समय अच्छे कार्य निषिद्ध कहे गये है। भोजन एक बड़ा भारी महत्वपूर्ण और जीवनोपयोगी कार्य है। इसी पर धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ आश्रित है जिसे द्रव्य क्षेत्र काल भावात्मक चतुर्विध शुद्धि के साथ करने में ही मानवता है।

स्वास्थ्य शास्त्र क आलोक में—

(स्वामी शिवानन्दजी एक बहुत अच्छे विचारक परोपकारी सन्त हो गये है। आपने अ ग्रजी में एक Health and Diet हेल्थ एण्ड डाइट अर्थात् स्वास्थ्य और भोजन नामक पुस्तक लिखी है। उसके पृष्ठ न २९० पर आप लिखते हैं कि—)

The evening meal should de light anb eaten very early If possible take milk and fruits only before 7 p m. No solid or liquid should be taken after sunset.

अर्थात्—(सायकाल का भोजन हल्का और जल्दी ही कर लेना चाहिये। आवश्यकता हो हो तो सायकाल सात बजने के पहले पहले केवल फल और दूध लिए जा सकते है। सूर्यास्त हो जाने के बाद ठोस या तरल पदार्थ कभी नहीं लेना चाहिये।)

एक वैदिक धर्म क विचारक विद्वान ने भी सूर्यास्त के पश्चात ठोस और तरल पदार्थ खाने का निषेध किया है।

दिन में बनाया हुआ भोजन भी रात मे नहीं खाना चाहिए—

बहुत से लोग यह कहा करते है कि दिन में बनाया हुआ भोजन रात के समय खालेने में आपत्ति नही है परन्तु यह उनका कहना सर्वथा अनुचित है। न दिन में बनाया हुआ रात के समय खाना चाहिये और

आपकी भक्ति से हो जाती है तो ऐसा कौनसा सताप का कारण है जो उस भक्ति मे मिटाया न जा सके।

यहा भगवान् सूर्य बतला कर उनकी भक्ति की महिमा का गुणगान किया है। जो भगवान तक की उपमा का पात्र हो, उस सूर्य का बडा भारी महत्व है और उसमे जीवनदायिनी शक्ति है। तभी तो केवल भगवान की भक्ति से वादिराज स्वामी का कुष्ठरोग सर्वथा नष्ट होकर सौन्दर्यारोग्य युक्त शरीर बन गया था, अतएवं सूर्य के प्रकाश मे निर्मित भोजन सूर्य के प्रकाश मे ही खाना चाहिये।

आजकल के शिक्षित लोगो का कहना है कि (बिजली की चमचमाती रोशनी मे भोजन कर लेने मे कोई हानि नही है और वे ऐसा करने भी लगे हैं। परन्तु वे प्रकाश मे समानता मानकर ऐसा कहते और करते भी हैं। समान की तरह आभासित होने वाली वास्तव मे समान नही होती और अनेक दृष्टिकोण से देखने पर उनमे पर्याप्त विषमता पाई जाती है। यही बात प्रकाश के सबध मे है, सूर्य और बिजली के प्रकाश मे महान अन्तर है। बिजली का प्रकाश कृत्रिम है और सूर्य का स्वाभाविक। रात्रि के समय चाहे जितनी चमचमाती रोशनी हो, परन्तु वह वैज्ञानिक और कृत्रिम ही रहेगी, जिसे विज्ञान ने अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है।)

(आधुनिक विज्ञान ने यह सुचारुरूपेण सिद्ध कर दिया है कि आक्सीजन Oxygen स्वास्थ्य को लाभकारी और कार्बोनिक Corbonic हानिकारक है। वृक्ष दिन मे कार्बोनिक को चूस लेते है और रात मे चाहे बिजली की कितनी ही चमचमाती रोशनी हो छोडते है। एव दिन मे आक्सीजन को छोडते और कार्बोनिक को चूसते हैं। इसी कारण दिन मे वायु मडल शुद्ध और रात को अ[illegible] रहता है। शुद्ध वायुमडल मे किये भोजन से [illegible] लाभ के [illegible] आक्सीजन प्राप्त होता रहता है। रात [illegible] किये हुए

शब्द संस्कृत-प्राकृत में रात के बोधक हैं। इन सब शब्दों की व्युत्पत्ति के अनुसार विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि रात्रि किसी भी व्यापार के लिए न होकर केवल सुषुप्ति या काम पुरुषार्थ के लिए है। यदि अन्यान्य व्यापार न भी छोड़े जा सकें तो भोज्य पदार्थों के निर्माण और भोजन रूप व्यापार को तो अवश्यमेव छोड़ना ही चाहिए क्योंकि भोजन पान पर ही सारे जीवनो चर्या और जीवनशोभा भी आधारित है।

सूर्य रश्मियों का बड़ा भारी उपयोग और महत्त्व है। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में सूर्य की उपासना का बड़ा महत्त्व है। बहुत से लोग रविवार का व्रत भी रखते हैं। बहुत से लोग सूर्य की उपासना भी करते हैं। सूर्य को अर्घ्य प्रदान करते हैं। यह सब इसीलिए कि (सूर्य में रोगहारक शक्ति है। उसके तेज के आगे दूसरा रोग सताप ठहर नहीं सकता।)

महामुनिराज वादिराजसूरि महाराज को कुष्ठरोग था। उस कुष्ठरोग को शांति के लिए अथवा अपनी निःकांक्ष आत्म-साधना करने के लिए एकीभाव स्तोत्र के रूप में भगवान् की स्तुति की जिसके प्रथम श्लोक में ही भगवान को सूर्य बतलाया और कहा कि हे जिनवर! जिनेन्द्र रूपी सूर्य! आपकी भक्ति से अर्सख्य भवों के पाप भी जब नष्ट हो जाते हैं तो क्षुद्र उपद्रव क्यों न नष्ट हो जावें। वह सारा श्लोक इस प्रकार है:—

> एकीभावं गतं इव मया यः स्वयं कर्मबंधो।
> घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति॥
> तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे! भक्तिरुन्मुक्तये चेत्।
> जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतु:॥

भावार्थ—हे जिन सूर्य! मुझ द्वारा भव भव में एकत्रित किया हुआ दुर्निवार कर्मबंध घोर दुःख पैदा करता है जब उसकी भी उन्मुक्ति

इन तीन प्रकार के आहारो में पहले प्रकार का अर्थात् सात्विक आहार ही ग्राह्य है। राजस और तामस नही है। सात्विक आहार सूर्य के प्रकाश मे ही हो सकता है क्योकि वह आहार आयु सुख सत्व बलादि का दाता सूर्य प्रकाश के कारण ही हो सकता है। सूर्य की किरणो में ही ये गुण होते हैं। अरोग्यदाता भी सूर्य ही है। सूर्य के प्रकाश मे ही अर्थात् दिन मे ही धर्म, अर्थ और मोक्ष पुरुपार्थ की साक्षात् अथवा परम्परया प्राप्ति होती है। धर्म, अर्थ और मोक्ष पुरुपार्थ का दाता दिन और काम पुरुपार्थ की दाता रात्रि होती है।

रात्रि को त्रियामा भी कहते है। त्रियामा के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि जिसमे तीन याम (प्रहर) हो। यो रात्रि के चार याम (प्रहर) होते हैं परन्तु चार पहर मे आदि और अन्त के आधे आधे याम से मानव की चेष्टाओ का समय है। बाकी तीन याम अचेष्टाकाल (सुषुप्ति काल) हो जाने मे वह त्रियामा कहलाती है। दूसरा त्रियामा का यह अर्थ भी है कि "त्रीन् धर्मा दीन् यापयति निरवकाशी करोतीति कामप्रधानत्वात् इति त्रियामा" अर्थात् जिस समय धर्म अर्थ और मोक्ष को अवकाश न दिया जाकर काम पुरुषार्थ को अवकाश दिया जावे, वह त्रियामा (रात्रि) है। जिससे स्पष्ठ है कि सागार मानवो के लिए रात का समय सुषुप्ति अथवा काम पुरुष की सिद्धि का है, खाने पीने आदि का नही। और न भोजन बनाने का ही यह समय है।

सस्कृत भाषा एक ऐसी भाषा है जिसके अन्तरग गूढ ज्ञान विना उस भाषा के शब्दो का वास्तविक अर्थ ही समझ मे नही आता। अर्थ शब्द के मूल अर्थ को छोडकर कभी नही होता। प्रत्येक शब्द में गहन तत्व भरा पडा है। निशा, त्रियामा, तामसी आदि ये शब्द रात्रि के वाचक हैं।

शर्वरी, निशा, निशीथिनी, त्रियामा, क्षणदा, क्षपा, विभावरी, तमस्विनी, रजनी, यामिनी, तमी, तमिस्रा, तामसी और रात्रि ये सारे

रात्रि तम पूर्ण होने से तामसी होती है। तम समय में बनाया हुआ भोजन भी तामस ही होता है। अतएव तामस अथवा तामसिक भोजन सात्विक कहलाने वाले मानव के लिए सर्वथा त्याज्य है। इसलिए रात के समय बनाया हुआ भोजन दिन में खाना तथा दिन में बनाया हुआ रात के समय खाना सर्वथा तामसिक होने से वर्जित है।

> आयुः सत्व बलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः ।
> रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विक प्रियाः ॥८॥
> कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्ष विदाहिनः ।
> आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥
> यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
> उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

(भगवद्गीता अध्याय १७)

अर्थ—सात्विक वृत्ति वाले मानवों को स्थिर, चिकनाई पूर्ण हृद्य रसयुक्त आहार प्रिय होता है। ऐसा आहार आयु, सत्व, बल आरोग्य सुख और प्रीति का बढ़ाने वाला होता है।

कड़वे खट्टे नमकीन अत्यन्त गर्म तीखे रूखे और विदाही पदार्थ आहार में रजः स्वभाव वालों को प्रिय होते हैं जिनसे दुःख शोक और रोग प्राप्त होता है।

एक पहर से ज्यादा का बना हुआ रसहीन चलितरस दुर्गन्ध युक्त सड़ा गला पर्युषित (बासी) झूठा और अपवित्र आहार तामसिक स्वभाव वालों को प्रिय होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि तम काल में बना हुआ या तामसिक भोजन जो होता है वह तामसिक लोगों को ही प्रिय होता है देव मानवों को प्रिय नहीं होता। वह निशाचरों को ही प्रिय होता है।

इन तीन प्रकार के आहारो मे पहले प्रकार का अर्थात् सात्विक आहार ही ग्राह्य है। राजस और तामस नही है। सात्विक आहार सूर्य के प्रकाश मे ही हो सकता है क्योकि वह आहार आयु सुख सत्व बलादि का दाता सूर्य प्रकाश के कारण ही हो सकता है। सूर्य की किरणो मे ही ये गुण होते हैं। अरोग्यदाता भी सूर्य ही है। सूर्य के प्रकाश मे ही अर्थात् दिन मे ही धर्म, अर्थ और मोक्ष पुरुपार्थ को साक्षात् अथवा परम्परया प्राप्ति होती है। धर्म, अर्थ और मोक्ष पुरुपार्थ का दाता दिन और काम पुरुपार्थ की दाता रात्रि होती है।

रात्रि को त्रियामा भी कहते है। त्रियामा के दो अर्थं होते है। एक तो यह कि जिसमे तीन याम (प्रहर) हो। यो रात्रि के चार याम (प्रहर) होते हैं परन्तु चार पहर मे आदि और अन्त के आधे आधे याम से मानव की चेष्टाओ का समय है। बाकी तीन याम अचेष्टाकाल (सुषुप्ति काल) हो जाने मे वह त्रियामा कहलाती है। दूसरा त्रियामा का यह अर्थ भी है कि "त्रीन् धर्मा दीन् यापयति निरवकाशी करोतीति कामप्रधानत्वात् इति त्रियामा" अर्थात् जिस समय धर्म अर्थ और मोक्ष को अवकाश न दिया जाकर काम पुरुषार्थ को अवकाश दिया जावे, वह त्रियामा (रात्रि) है। जिससे स्पष्ठ है कि सागार मानवो के लिए रात का समय सुषुप्ति अथवा काम पुरुष की सिद्धि का है, खाने पीने आदि का नही। और न भोजन बनाने का ही यह समय है।

सस्कृत भाषा एक ऐसी भाषा है जिसके अन्तरग गूढ ज्ञान विना उस भाषा के शब्दो का वास्तविक अर्थ ही समझ मे नही आता। अर्थ शब्द के मूल अर्थ को छोडकर कभी नही होता। प्रत्येक शब्द में गहन तत्व भरा पडा है। निशा, त्रियामा, तामसी आदि ये शब्द रात्रि के वाचक हैं।

शर्वरी, निशा, निशीथिनी, त्रियामा, क्षणदा, क्षपा, विभावरी, तमस्विनी, रजनी, यामिनी, तमी, तमिस्रा, तामसी और रात्रि ये सारे

शब्द संस्कृत-प्राकृत में रात के बोधक हैं। इन सब शब्दों की व्युत्पत्ति के अनुसार विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि रात्रि किसी भी व्यापार के लिए न होकर केवल सुषुप्ति या काम पुरुषार्थ के लिए है। यदि अन्यान्य व्यापार न भी छोड़े जा सकें तो भोज्य पदार्थों के निर्माण और भोजन रूप व्यापार को तो अवश्यमेव छोड़ना ही चाहिये क्योंकि भोजन पान पर ही सारी जानमो चर्या और जीवनलीला भी आधारित है।

सूर्य रश्मियों का बड़ा भारी उपयोग और महत्व है। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में सूर्य की उपासना का बड़ा महत्व है। बहुत से लोग रविवार का व्रत भी रखते हैं। बहुत से लोग सूर्य की उपासना भी करते हैं। सूर्य को अर्घ्य प्रदान करते हैं। यह सब इसीलिए कि (सूर्य में रोगहारक शक्ति है। उसके तेज के आगे दूसरा रोग सताप ठहर नहीं सकता।)

महामुनिराज वादिराजसूरि महाराज को कुष्ठरोग था। उस कुष्ठरोग की शांति के लिए अथवा अपनी निःकांक्ष आत्म-साधना करने के लिए एकीभाव स्तोत्र के रूप में भगवान् की स्तुति की जिसके प्रथम् श्लोक में हो भगवान को सूर्य बतलाया और कहा कि हे जिनवर! जिनेन्द्र रूपी सूर्य! आपकी भक्ति से असंख्य भवों के पाप भी जब नष्ट हो जाते हैं तो क्षुद्र उपद्रव क्यों न नष्ट हो जावें। वह सारा श्लोक इस प्रकार है—

> एकीभावं गतं इव मया यः स्वयं कर्मबंधो।
> घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति॥
> तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे! भक्तिरुन्मुक्तये चेत्।
> जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः॥

भावार्थ—हे जिन सूर्य! मुझ द्वारा भव भव में एकत्रित किया हुआ दुर्निवार कर्मबंध घोर दुःख पैदा करता है जब उसकी भी उन्मुक्ति

आपकी भक्ति से हो जाती है तो ऐसा कौनसा सताप का कारण है जो उस भक्ति मे मिटाया न जा सके।

यहा भगवान् सूर्य बतला कर उनकी भक्ति की महिमा का गुणगान किया है। जो भगवान तक की उपमा का पात्र हो, उस सूर्य का बडा भारी महत्व है और उसमे जीवनदायिनी शक्ति है। तभी तो केवल भगवान की भक्ति से वादिराज स्वामी का कुष्ठरोग सर्वथा नष्ट होकर सौन्दर्यारोग्य युक्त शरीर वन गया था, अतएव सूर्य के प्रकाश मे निर्मित भोजन सूर्य के प्रकाश मे ही खाना चाहिये।

आजकल के शिक्षित लोगो का कहना है कि (बिजली की चमचमाती रोशनी मे भोजन कर लेने मे कोई हानि नही है और वे ऐसा करने भी लगे है। परन्तु वे प्रकाश मे समानता मानकर ऐसा कहते और करते भी हैं। समान की तरह आभासित होने वाली वास्तव मे समान नही होती और अनेक दृष्टिकोण से देखने पर उनमे पर्याप्त विषमता पाई जाती है। यही बात प्रकाश के सबध मे है, सूर्य और बिजली के प्रकाश मे महान अन्तर है। बिजली का प्रकाश कृत्रिम है और सूर्य का स्वाभाविक। रात्रि के समय चाहे जितनी चमचमाती रोशनी हो, परन्तु वह वैज्ञानिक और कृत्रिम ही रहेगी, जिसे विज्ञान ने अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है।)

(आधुनिक विज्ञान ने यह सुचारुरूपेण सिद्ध कर दिया है कि आक्सीजन Oxygen स्वास्थ्य को लाभकारी और कार्बोनिक Corbonic हानिकारक है। वृक्ष दिन मे कार्बोनिक को चूस लेते हैं और रात मे चाहे बिजली की कितनी ही चमचमाती रोशनी हो छोडते हैं। एव दिन मे आक्सीजन को छोडते और कार्बोनिक को चूसते हैं। इसी कारण दिन मे वायु मडल शुद्ध और रात को अशुद्ध रहता है। शुद्ध वायुमडल म किये भोजन से स्वास्थ्य लाभ के साथ पूरा आक्सीजन प्राप्त होता रहता है। रात के समय दूषित वातावरण मे किये हुए

भोजन से कार्बोनिक ही मिलता है जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।)

(सूर्य के प्रकाश में सूक्ष्मजीव प्रकट नहीं होते और जो यत्र तत्र होते हैं वे नष्ट ही जाते या छिप जाते हैं। दीपक गैस की बत्तीयां बिजली की रोशनी का स्वभाव सूक्ष्म समुचित जीवों को पैदा करना तथा अपनी तरफ आकृष्ट करने का है। इसलिए बनावटी प्रकाश में भोजन करना रोगों की उत्पत्ति का कारण बन जाता है। इसी बात को एक अंग्रेजी के वैज्ञानिक विद्वान् ने नीचे लिखे शब्दों में बतलाया है—

We can ward *off diseases* by judicious choice of food light. From our own laboratories experience, we observe that corbohyrates oxidized by air ouly in presence of light in a tropical country like. India the quality of food taken by an average individual is poor but the abundance of sunlight undoubtedly compensates for this dietary deficiency

Prof. N R. Dhar B. Sc J H. M
(Nov 1928) P 28 31

इसका सार ऊपर लिखा जा चुका है। यह तो हुई वैज्ञानिक दृष्टि। अब भारतीय आयुर्वेदिक दृष्टि से भी देखिए—

सुश्रुत संहिता आयुर्वेदीय चिकित्सा शास्त्र का सर्वोच्च ग्रंथ है। महर्षि सुश्रुत बहुत ऊंचे आयुर्वेदिक विद्वान् हुये हैं। उन्होंने अपने सुश्रुत संहिता ग्रंथ में लिखा है कि—

प्रातः सायं मनुष्याणामशनं श्रुतिबोधितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्र समाविधि ॥

अर्थात्—सुबह और सायं मनुष्यों को भोजन करना वेदानुसार है। इसके बीच में भोजन नहीं करना चाहिये। सुबह शाम ही भोजन करना अग्निहोत्र के समान विधि का फलदायक है।

यहा साय शब्द है जिसका अर्थ कुछ लोग 'रात्रि' कहते हैं परन्तु सायकाल का अर्थ दिन का चौथा प्रहर होता है। साय शब्द रात्रि का वाचक नही है। संस्कृत भाषा के शब्द कोशो में जहा रात्रिवाचक शब्द आये हैं उनमे 'साय' शब्द नही है। साय शब्द का अर्थ सूर्यास्त मे पहले पहले का है। अमर कोश मे रात्रिवाचक इतने ही शब्द हैं— शर्वरी, निशा, निशीथिनी, त्रियामा, क्षणदा, क्षमा, विभावरी, नमस्विनी, रजनी, यामिनी, तमी, तमिस्त्रा, तामसी और रात्रि। इनमे साय शब्द नही आया है। रात्रि और रात्रिवाचक शब्दो का समावेश अमर कोश मे काल वर्ग मे किया गया है। और प्रात साय शब्द लिंगादि सग्रह वर्ग मे है जिससे भी रात्रिवाचक शब्दो और साय शब्द की भिन्नार्थकता सुस्पष्ट है।

'बौद्ध धर्म मे भी रात्रि भोजन का निषेध 'मुज्झिमनिकाय' और लकुटिकोपमसुत' आदि ग्र थो मे किया गया है परन्तु आजकल बौद्ध कहलाने वाले तो रात्रि मे भोजन ही क्या, मास भक्षण तक करने लगे हैं। वर्तमान वातावरण भौतिकता से प्रेरित है अत सभी धर्म वाले अपने २ मूल सिद्धान्तो से हटते जा रहे है जो चिंतनीय विषय है।

एक घटना—

जयपुर के भूतपूर्व स्व० महाराजाधिराज श्री रामसिह जी के दरबार मे उनके कृपापात्र दरबारी राव कृपारामजी जैन थे। महाराजा साहिब सूर्योपासक थे। उनसे किसी ने राव कृपाराम जी जैन की शिकायत की कि ये सूर्योपासक न होते हुये भी आपके सर्वाधिक कृपापात्र दरबारी कैसे हैं? महाराजा ने धर्म निरपेक्ष होते हुए भी उनसे सूर्योपासना के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होने उत्तर दिया कि जितने सूर्योपासक मे और जैनी हैं उतने कोई नही। महाराज ने पूछा यह कैसे? राव ने उत्तर दिया कि जितने अन्य लोग सूर्योपासक होने का दावा करते हैं उनकी कथनी और करनी मे अन्तर है जो सूर्यास्त बाद भी खाते हैं। मैं और जैन तो सूर्यास्त के बाद और सूर्योदय के पहले जगमा

भी नहीं खाते वास्तव में सच्ची सूर्य के प्रति भक्ति जैनों में ही है। महाराजा साहिब राव का उत्तर सुनकर मुग्ध हो गये कि वास्तविकता यही है। हम सूर्योपासक तो वास्तव में सूर्योपासना का केवल ढोंग रचते हैं।

जैन शास्त्रों में आख्यान —

रात्रि भोजन त्याग के महत्व के प्रतिपादक जैन शास्त्रों में अनेक आख्यान हैं उनमें से केवल एक यहां संक्षिप्त रूप में दिया जाता है —

भारत क्षेत्र कोंकन देश के कनकपुर नगर में पद्मदत्त नामक अत्यन्त धनाढ्य सेठ रहता था जिसके कमल श्री नामक पुत्री थी। इस घर की कुल परम्परा में हो रात्रि भोजन नहीं होता था तो भी उस कमल श्री ने रात्रि भोजन त्याग को कर्मठता से पालने के लिए रात्रि भोजन (खाद्य स्वाद्य लह्य और पेय) के त्याग का व्रत लिया। कमल श्री का विवाह उज्जैन में एक अत्यन्त धनाढ्य सेठ वृषभदत्त के पुत्र हेमचन्द्र के साथ हुआ। इस कुल में रात्रि भोजन किया जाता था। कमल श्री के लिए ऐसे घर में आने से व्रत की रक्षा के लिए विपत्ति का समय आया। कमल श्री को सास रात को भोजन कराने का हठ करती थी। कमल श्री रात में खाती नहीं थी। विसवाद चला। सेठ वृषभदत्त तक मामला पहुँचा। सेठ ने सेठानी से कहा कि यह रात के समय नहीं खाती है तो दिन में खिलाओ। यह जैसे खाना चाहे वैसे ही इसके लिए व्यवस्था करो। परन्तु कमल श्री की सास अड़ गई और कहने लगी कि इस घर में पिता का धर्म नहीं चलेगा रात में खाना ही पड़ेगा। उधर कमल श्री ने कहा कि मुझे प्राण त्यागना स्वीकार है। परन्तु रात में कभी खाना पीना नहीं करूंगी यह मेरा अटल निश्चय है।

इस प्रकार कमल श्री का तीन दिन का उपवास हो गया। कमल श्री के पति हेमचन्द्र कहीं बाहर गये थे। तीन दिन बाद आये। उनकी माता (कमल श्री की सास) ने हेमचन्द्र को भी बहकाया।

हेमचन्द्र ने अपनी माता से कहा कि यह तीन दिन की उपोपित है सो इसे आज तो दिन मे ही भोजन देने की व्यवस्था कर दीजिए बाकी मैं इसका दिमाग ठीक कर दूंगा और देखूंगा कि इसका यह व्रत क्या स्थिति रखना है। यहा इसका यह व्रत-धर्म कभी नही चलेगा मै इसके साथ ऐसा माया जाल रचूंगा सो उसके जाल मे फसे बिना कभी न रहेगी।

कमल श्री के पति हेमचन्द्र ने अपनी धर्म पत्नी के प्राण हरण का निश्चय कर लिया और उसने उसके प्राणान्त के लिए एक जाल तैयार किया। हेमचन्द्र ने साप पकडने वाले एक कालबेलिया जोगी को बुलाकर एक भयंयर काला साप लाकर कलश मे रख कर देने को कहा और इस काम के लिए पाच स्वर्ण मुद्रा (मुहर) देने को कहा। उस जोगी ने वैसा ही किया और एक कलश (घडे) मे रखकर उसका मुंह बद कर सौप दिया और पारितोपिक या परिश्रमिक फल के रूप मे ५ मुहर ले गया।

श्री हेमचन्द्र ने वह साप वाला कलश अपने महल मे एक तरफ रखवा दिया और जब रात के समय कमल श्री अपने पति के पास सहवास के लिए गई तो हेमचन्द्र ने उससे कहा कि मैने तुम्हारे लिए एक महान् सुन्दर और बहुमूल्य रत्नहार मगवाया है जो इस कलश में रक्खा है तुम उसे निकाल कर पहन लो।

हेमचन्द्र की यह प्राण घातक घटना स्वर्ग मे देव देख रहे थे उन देवो ने समझा कि रात्रि भोजन त्याग मे कठोरता से दृढ कमल श्री के यदि प्राण चले गये तो बडा अनर्थ हो जायगा और त्याग का महत्व नष्ट हो जायगा। उन देवो ने अपने देव बल से उस कलश मे स्थित काले साप को बहुमूल्य रत्नजडित महा-मनोहर हार बना दिया। जब कमल श्री ने उस कलश का ढक्कना उठाकर उसमे से हार निकालने को हाथ डाला तो उसके हाथ मे वह साप से परिवर्तित रत्नहार आया और उसने अपने पति की आज्ञा के अनुसार पहन लिया और पति को

दिखलाया। पति आश्चर्य से चकित हो गया और मन में विचार करने लगा कि क्या से क्या ? यह कैसे हो गया ? परन्तु यह सब घटना अपनी पत्नी से उसके प्राण हरणार्थ छिपा रक्खी थी। पति हेमचन्द्र ने कमल श्री से कहा कि यह हार तो बड़ा ही सुन्दर है और तुम इसे पहन कर स्वर्ग की अप्सरा से भी बहुत अधिक सुन्दर लगती हो इस हार को उतार मुझे निरखने दो। ज्यों ही कमल श्री ने अपने गले से हार निकाल कर अपने पतिदेव के हाथों में रक्खा वह हार वहां प्राणान्तक काला सांप बन गया और हेमचन्द्र को डस लिया और हेमचन्द्र मृत कल्प मूर्छित हो गया।

कमल श्री अपने पति की यह दशा देख कर घबरा गई और व्याकुल होकर रोने लगी। यह समाचार बिजली की भांति सारे नगर में फैल गया और कमल श्री के सम्बन्ध में लोग अनेक तरह की बातें करने लगे। कोई कहने लगा ऐसी नारी को फांसी लगानी चाहिये। कोई कहने लगा उसके अंगों को ... को ... देना चाहिये। कोई कहने लगा जीवित को जला देनी चाहिये कोई कहने लगा प्रतिदिन सौ सौ जूते लगाने का दण्ड मिलना चाहिये। नगर का प्रत्येक व्यक्ति एवं जिसने भी यह घटना सुनी कमल श्री के विरुद्ध हो गया।

बेचारी कमल श्री किंकर्तव्यविमूढ़ थी। यदि वह सच्ची घटना भी किसी को बतलावे तो उसे सुनकर कौन उस पर विश्वास करे। फलतोगत्वा यह खबर नगर के राजा तक पहुंची और मामला न्याय के लिए राजा के दरबार में ले जाया गया। मुश्किल मरणासन्न हेमचन्द्र को भी राज्य दरबार में ले जाकर हाजिर किया गया। समस्त मन्त्रियों ने कमल श्री को बिना सोचे समझे दोषी ठहरा कर दण्ड देने की सम्मति दी परन्तु राजा ने अपने मन में विचारा कि यह एक करोड़ों मरबों के पति सेठ का पुत्र है। ऐसे ही महान धनिक की पुत्री यह इसकी पत्नी कमल श्री है। इसके रहने के लिए कोई टूटी फूटी झोपड़ियां नहीं हैं जिनमें ऐसा भयंकर सर्प रह सके। यह काला प्राणांतक सर्प ऐसे सुसज्जित अति सुन्दर ... वैभव सम्पन्न महल में आया कैसे ?

राजा के नगर के समस्त कालबेलिया साप पकडने वाले जोगियो को बुलवाने को सब तरफ कर्मचारी भेज दिये गये और थोडी देर मे पचासो जोगी आ गये जिनमे एक वह जोगी भी था जो पाच मुहर लेकर साप पकड कर लाया था और हेमचन्द्र को कलश मे रखकर मुंह बन्द कर के दिया था। उस जोगी ने राजा से कह दिया कि सेठ के पुत्र हेमचन्द्र ने यह साप मुझसे मगवाया और बदले मे पाच मुहरे दी थी।

राजा को यह तो सत्य रूप से विदित हो गया कि साप हेमचन्द्र ने ही मगवा कर महल मे रखवाया था। इस निश्चय के बाद कमल श्री को राजा ने बुलाया और समक्ष मे आने पर कहा कि सच्चा हाल कहो कि क्या बात है ? कमल श्री ने कहा कि राजन्। मैं सत्य ही कहू गी परन्तु उसे सत्य मानेगा कौन ? यहा तो सभी के विचार मेरे अत्यन्त विरुद्ध हैं। राजा के अनुरोध पर कमल श्री ने सारी बीती हुई घटना सुनाई और कहा कि जब मैंने इस हार को पहना तो वह चौदह लडो का था और जब पतिदेव ने मुझ से लेकर अपने गले मे डाला तो वह सर्प था जिसने मेरे पतिदेव को डस लिया और ये सभवत मर गये या मूर्च्छित हैं। वह फूट फूट कर रोने लगी और अपने पतिदेव के चरणो मे वह सती पतिव्रता कमल श्री पड गई।

राजा ने कहा कि अपने पति को जीवित करने मे भी तू ही समर्थ हो सकनी है। कमल श्री ने कहा कि मेरे हाथ मे क्या है भगवान् की स्तुति और नमोकार मत्र मेरे पास है मैं उसका प्रयोग कर सकती हू, बहुत सभव है कि सफलता मिल जावे। मुझे अपने धर्म और व्रत पर आतरिक निष्ठा है कि उसके प्रभाव से सब कुछ सफलता मिल सकती है।

कलम श्री ने भगवान की स्तुति की और भक्तामर स्तोत्र का पाठ किया और निम्नलिखित श्लोक कई बार पढकर उसके मन्त्रित जल के छींटे पतिदेव के दिये तब वे सामान्य दशा मे आकर खडे हो गए और

दिखलाया। पति आश्चर्य से चकित हो गया और मन में विचार करने लगा कि क्या से क्या? यह कैसे हो गया? परन्तु यह सब घटना अपनी पत्नी से उसने उसके प्राण हरणार्थ छिपा रक्खी थी। पति हेमचन्द्र ने कमल श्री से कहा कि यह हार तो बड़ा ही सुन्दर है और तुम इसे पहन कर स्वर्ग की अप्सरा से भी बहुत अधिक सुन्दर लगती हो इस हार को उतार मुझे निरखने दो। ज्यों ही कमल श्री ने अपने गले से हार निकाल कर अपने पतिदेव के हाथों में रक्खा वह हार वही प्राणान्तक काला सांप बन गया और हेमचन्द्र को डस लिया और हेमचन्द्र मृत कल्प मूर्छित हो गया।

कमल श्री अपने पति की यह दशा देख कर घबरा गई और व्याकुल होकर रोने लगी। यह समाचार बिजली की भांति सारे नगर में फैल गया और कमल श्री के सम्बन्ध में लोग अनेक तरह की बातें करने लगे। कोई कहने लगा ऐसी नारी को फांसी लगानी चाहिये। कोई कहने लगा उसके अलकों अ गों को छेद देना चाहिये। कोई कहने लगा जावित को जला देनी चाहिये कोई कहने लगा प्रतिदिन सौ सौ जूते लगाने का दड मिलना चाहिये। नगर का प्रत्येक व्यक्ति एवं जिसने भी यह घटना सुनी कमल श्री के विरुद्ध हो गया।

बेचारी कमल श्री किंकर्तव्यविमूढ़ थी। यदि यह सच्ची घटना भी किसी को बतलावे तो उसे सुनकर कौन उस पर विश्वास करे। प्रसङ्गवशात् यह खबर नगर के राजा तक पहुंची और मामला न्याय के लिए राजा के दरबार में ले जाया गया। मूर्छित मरणासन्न हेमचन्द्र को भी राज्य दरबार म ले जाकर डाल दिया गया। समस्त मन्त्रियों ने कमल श्री को बिना सोचे समझे दोषी ठहरा कर दण्ड देने की सम्मति दी परन्तु राजा ने अपने मन में विचारा कि यह एक करोड़ों अरबों के पति सेठ का पुत्र है। ऐसे ही महान धनिक की पुत्री यह इसकी पत्नी कमल श्री है। इसके रहने के लिए कोई टूटे फूटी झोंपड़ियां नहीं हैं जिनमें ऐसा भयङ्कर सर्प रह सके। यह काला प्राणान्तक सर्प ऐसे सुसज्जित अति सुन्दर कलापूर्ण वैभव सम्पन्न महल में आया कैसे?

राजा के नगर के समस्त कालबेलिया साप पकडने वाले जोगियो को बुलवाने को सब तरफ कर्मचारी भेज दिये गये और थोडी देर मे पचासो जोगी आ गये जिनमे एक वह जोगी भी था जो पाच मुहर लेकर साप पकड कर लाया था और हेमचन्द्र को कलश मे रखकर मुंह बन्द कर के दिया था। उस जोगी ने राजा से कह दिया कि सेठ के पुत्र हेमचन्द्र ने यह साप मुझसे मगवाया और बदले मे पाच मुहरे दी थी।

राजा को यह तो सत्य रूप से विदित हो गया कि साप हेमचन्द्र ने ही मगवा कर महल में रखवाया था। इस निश्चय के बाद कमल श्री को राजा ने बुलाया और समक्ष मे आने पर कहा कि सच्चा हाल कहो कि क्या बात है ? कमल श्री ने कहा कि राजन्। मैं सत्य ही कहूगी परन्तु उसे सत्य मानेगा कौन ? यहा तो सभी के विचार मेरे अत्यन्त विरुद्ध है। राजा के अनुरोध पर कमल श्री ने सारी बीती हुई घटना सुनाई और कहा कि जब मैंने इस हार को पहना तो वह चौदह लडो का था और जब पतिदेव ने मुझ से लेकर अपने गले मे डाला तो वह सर्प था जिसने मेरे पतिदेव को डस लिया और ये सभवत मर गये या मूर्च्छित हैं। वह फूट फूट कर रोने लगी और अपने पतिदेव के चरणो मे वह सती पतिव्रता कमल श्री पड गई।

राजा ने कहा कि अपने पति को जीवित करने मे भी तू ही समर्थ हो सकनी है। कमल श्री ने कहा कि मेरे हाथ मे क्या है भगवान् की स्तुति और नमोकार मत्र मेरे पास है मैं उसका प्रयोग कर सकती हू, बहुत सभव है कि सफलता मिल जावे। मुझे अपने धर्म और व्रत पर आतरिक निष्ठा है कि उसके प्रभाव से सब कुछ सफलता मिल सकती है।

कलम श्री ने भगवान की स्तुति की और भक्तामर स्तोत्र का पाठ किया और निम्नलिखित श्लोक कई बार पढकर उसके मन्त्रित जल के छीटे पतिदेव के दिये तब वे सामान्य दशा मे आकर खडे हो गए और

चारों तरफ प्रभु भक्ति और पतिनिष्ठा का चमत्कार प्रकट हुआ और हेमचन्द्र की दुष्टता का और पतिव्रता धर्मात्मा पत्नी का प्राणघातक नीति का सबको पता चल गया। वह श्लोक यह है —

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलम् ।
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम् ॥
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशंक ।
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंस ॥

अर्थ—हे भगवन् लाल लाल भयकर नेत्र वाला मदसहित नील कण्ठ वाली कोयल के समान श्याम क्रोध से उद्धत फण को ऊपर उठाय गये भयंकर आपण सर्प को भी आपके नाम रूपी नागदमनी जिसके हृदय में है वह अपने पावों से लाँघ जाता है।

जब राजा को हेमचन्द्र की दुष्टता और कमल श्री की सत्यता और शिष्टता का पता लगा तो सर्वत्र कमल श्री का जय जय कार हो गया और सारे नगर एवं राज्य के निवासी पवित्र धारम धर्म पर श्रद्धान् और रात्रि भोजन के त्यागी हो गये एवं कमल श्री परम सत्कार्य पर भी घोर प्रायश्चित अपने घोर अनुचित कार्य के प्रति भी पश्चात्ताप सांसारिक जीवों की दशा आदि देखकर घर बार छोड़ कर उत्कृष्ट जैन साध्वी (आर्यिका) हो गई।

कर्मठता या कट्टरपन —

कर्मठता या कट्टरपन को प्रायः भौतिकता प्रेमी एक बड़ा भारी दोष मानते हैं। ऐसे सज्जन अन्य क्षेत्रों में तो कर्मठता या कट्टरपन का स्वागत करते हैं परन्तु आध्यात्मिकता के क्षेत्र में उसे दोष मानते हुये उसे छोड़ने का आग्रह करते हैं और युगानुसारी धर्म ! आपद्धर्म आदि विविध रूपों में आध्यात्मिक चेतना को शान्त और शान्त करने के लिये

योजना उपस्थित करते हैं। इनके आपद्धर्म की यही व्याख्या है कि आपत्तिकाल आने पर धर्म व्रत आदि छोड देना चाहिये परन्तु धर्म और व्रत की परीक्षा आपत्तिकाल मे ही होती है। इसके अतिरिक्त आपत्तिकाल की परिभाषा भी क्या ?

धर्म और व्रत तभी सुरक्षित रहकर उभयलोक मे फलदायी होता है जब उस पर आपत्तिकाल मे भी निष्ठा बनी रहे। प्राण जाने की पूर्ण आशका हो जाने पर भी जो अपने धर्म और पालित व्रत को न छोडे। प्राणो की अपेक्षा धर्म और व्रत को ही प्राथमिकता दे तभी वह सुरक्षित और चमत्कारक हो सकता है।

आपत्तिया तो क्षण-क्षण मे आती है परन्तु उनसे शिथिलाचारी, अविवेकी और दोषी व्यक्ति ही घबराते हैं, दृढाचारी विवेकी और निर्दोषी नही घबराते, न उनकी पर्वाह ही करते हैं। वे उन आपत्तियो से डटकर मुकाबिला करते हैं, उससे दबते नही किन्तु उनको दबा देते हैं। नीतिकारो ने कहा है कि —

शोकस्थान सहस्त्राणि भयस्थानि शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढ माविशन्ति न पण्डितम् ॥

अर्थात्—प्रतिदिन शोक चिता की हजारो बाते और भय की सैकडो बाते आती हैं जिनसे मूढ जन घबरा जाते हैं, विवेकी नही घबराते।

आपद्धर्म से क्या प्रयोजन ? यदि मास का त्यागी है और शाकाहार सुलभ न हो तो क्या मासाहार करले ? न्याय से धन न मिलता हो तो अन्याय से उपार्जित करले ? कहा है कि—

वर दारिद्रयमन्यायप्रभावाद्धि धनादिह।
कृशताऽभिमता लोके पीनता न तु शोथत ॥

अर्थ—अन्याय से उपार्जित धन से धनिक होने की अपेक्षा दरिद्र रहना ही श्रेष्ठ है। सूजन से मोटा हो जाने की अपेक्षा दुबलता भी लोक में प्रिय है।

आज धनार्जन को इतना महत्व दिया जा रहा है कि उसके लिए बड़े से बड़े भ्रष्टाचार बड़े बड़े लोग भी करते हैं। वास्तव में धर्म हानि ही बड़ा भारी देशद्रोह है। आपद्धर्म का आविष्कार करने वाले सत्य निष्ठा के प्रबल शत्रु और धर्म व्रत एव त्याग के कट्टर विरोधी एवं देशद्रोही भी हैं।

इसी प्रकार युगानुसारी धर्म का आविष्कार करने वाले यही चाहते हैं कि जिस काम को अधिक प्राणी करते हों उसे अस्य भी करने लग जावें अर्थात् आज अधिकांश मानव पशुत्व की तरफ झुके हुये हैं तो अस्यांश भी पशुत्व की ओर चले जावें।

वास्तव में जिसे दोष समझा जाता है वह कर्मठता (कट्टरपन) गुण भी है। इसके सबंध में 'कल्याण' मासिक गोरखपुर के १५वें वर्ष के ८वें अंक में एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसे उपयोगी जानकर यहां प्रकाशित किया जाता है। ध्यान देने की आवश्यकता है—

'मानव समाज मे कर्मठता को एक दोष समझने की प्रवृत्ति पायी जाती है। उसे एक ढोंगीपन का प्रकार समझा जाता है और भोली जनता को लूटने का एक साधन। सन्त तुकाराम ने भी कर्मठता का यह स्वरूप बतलाया है—'स्नान-सध्या-तिलक-माला। चित्त में दुष्टादि की ज्वाला। कर्मठ मनुष्य के विषय मे प्रायः यह सिखा जाता है कि वह व्रताचरण के बाह्य व्यापारों मे उलझा रहता है कभी-कभी मूलतत्व को भी अवहेलना कर बैठता है और किसी भी परिवर्तन का कट्टरता से विरोध करता है। लोग उसे अक्सर लकीर का फकीर या लकीर पीटने वाला कहते हैं। वह किसी भी परिवर्तन के लिए तैयार

नही रहता । आज तक जितने भी सुधार हुये है, उन सबका विरोध ऐसे ही कर्मठो द्वारा हुआ है । नयी परिस्थिति मे लचीलापन स्वीकार करके सुलह कर लेना उसके स्वभाव मे नही होता। इस प्रकार बहुत से आरोप इन कर्मठो पर खुले आम लगाये गये है। आज तो इसका अत्यधिक विस्तार है ।

उपर्युक्त आरोपो का परीक्षण करके हमे यह देखना है कि उनमे कहा तक सचाई है और कर्मठता का वास्तविक स्वरूप क्या है एव उसकी व्याप्ति कहा तक है ? कोई भी वाह्याचरण किसी एक अमूर्त उद्देश्य से किया जाता है, अत उद्देश्य महत्व का है और आचरण गौण। प्राय वाह्याचरण के आधार पर उसका औचित्यानौचित्य नही बताया जा सकता.—

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता ।'

सर्वथा सत्य कथन है। एक ही प्रकार का आचरण एक परिस्थिति मे धर्म्य होता है और दूसरी मे अधर्म्य। पर इस कारण वाह्याचरण की व्यर्थता सिद्ध नही होती। तत्व भले ही महत्वपूर्ण हो, परन्तु उसके आचरण के अभाव मे वह अस्तित्वहीन माना जायगा। इसीलिये आचरण का भी उतना ही महत्व है जितना कि सत्य का। यह सत्य है कि तत्व को समझ बूझकर–आचरण मे लाना चाहिये। जड और चेतन में आत्म तत्व ही महत्व का है। चेतनाहीन शरीर तो अग्नि-देवता को ही अर्पण करने योग्य होता है। परन्तु शरीर के अभाव मे आत्म तत्व भी कहा व्यक्त होता है। इसीलिये 'शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम्' कहा गया है अर्थात् आत्म कल्याण के लिये शरीर सवर्धन नितान्त आवश्यक है।

इसी कारण जीवन के अन्यान्य सभी क्षेत्रो मे तदनुकूल आचरण-तन्त्र निर्मित किये गये हैं और उनके यथावत् पालन पर विशेष बल दिया गया है। धार्मिक क्षेत्र को छोडकर अन्य सभी क्षेत्रो मे यही तन्त्र

माधुनिक शब्दावली में 'अनुशासन' कहलाता है। सिपाहियों सैनिकों एन सी सी एवं स्कूल के लड़कों के विशिष्ट प्रकार के गणवेशों एवं उनके धारण की विशिष्ट पद्धति पर उनकी विशिष्ट प्रकार की हलचलों एवं अपने अपने ढंग की स्वच्छता आदि कई बातों पर कितना ध्यान दिया जाता है। ये सब बातें अनुशासन के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इसीलिये सभी लोग अपने अपने क्षेत्र के आचरण तन्त्र के अनुकूल अपना अपना आचरण रखते हैं। सेना का सिपाही या अधिकारी कभी उत्तरी के कपड़े पहिनता है बड़ी शान से रहता है और सुव्यवस्थित भी दीख पड़ता है परन्तु वह इन सब आचरणों के फलस्वरूप रणशूर या निर्भीक होता ही है यह समझना बहुत बड़ी भूल है। लोकाधिकारियों, दरबारियों आदि के भी पोशाक और आचरण की अपनी-अपनी विशेषता होती है। सलाम या मुजरा करने का ढंग नजराना पद्धति शिष्टाचार आदि सब बाह्य तन्त्र के अङ्ग हैं। इनका यदि पालन यथोचित पद्धति से किसी ने नहीं किया जाय तो ये ही कर्मठता-विरोधी सभ्य लोग उसे असभ्य अशिष्ट कहकर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हैं। सेना के निर्बन्धों का पालन न करने वाला तन्त्र-स्खलन सैनिक तो सभी की दृष्टियों से दण्डनीय होता ही है और अन्य क्षेत्रों में भी यदि दण्डनीय नहीं तो कम-से-कम धिक्कार का पात्र अवश्य ही होता है। कोई भी सभा सोसाइटी लीजिये। उसकी भी अपनी नियमावली होती है। उन नियमों के अनुकूल आचरण करना उस उस सोसायटी के सदस्यों के लिये अनिवार्य होता है अन्यथा उन पर अनुशासन भङ्ग की कार्यवाही की जाती है। विधान सभाओं के सदस्यों की शपथ-ग्रहण विधि भी एक आचरण-तन्त्र ही है। न्यायालय में तो हरएक बयान देने वाले को सच बोलने की शपथ खानी पड़ती है। तथापि अधिकांश लोग प्रतिज्ञापूर्वक झूठ ही बोलते हैं। सारांश यह है कि ऐसा एक भी क्षेत्र नहीं दिखायी देगा जहाँ आचरण का कोई तन्त्र न हो कृति को कर्म कहा कि उसके आचरण के तन्त्र का आग्रह को कर्मठता नाम देना ही पड़ता है। इतने पर भी यह कैसे आश्चर्य की बात है कि धर्मक्षेत्र

की कर्मठता को जो लोग अनावश्यक बतलाते और बुरी निगाह से देखते है, वे ही अन्यान्य क्षेत्रो की कर्मठता को आवश्यक मानते और अच्छी निगाह से देखते हैं। यह पक्षपात क्यो ?

देशभक्ति के क्षेत्रो मे आइये। वहा पर भी कर्मठता के दर्शन आपको होगे। खादी के खास ढग को ही कपडे पहिनना, सर्वोदयवादियो का विशिष्ट दिन को शुभ मानकर कोई एक ग्रामोद्योग करना विधान सभाओ मे चुनकर आने के लिये बैल जोडी जैसे विशिष्ट चिन्ह का ही उपयोग करना, उसके अपनाने पर अत्याग्रह प्रकट करना, राष्ट्रिय गान के समय खडे होना आदि सब कर्मठता की ही लीला है और है भी वह अपरिहार्य।

सामाजिक क्षेत्र मे भी कर्मठता पाईजाती है। अग्रेजी डिनर-पार्टिया विशिष्ट ढग से ही सम्पन्न होती है। उसके लिये अमुक रग की ही पोशाक धारण करनी पडती है, काटे-चम्मच विशिष्ट स्थान पर विशिष्ट ढग से ही रखने पडते हैं, मद्यपात्र विशिष्ट मन्त्रोच्चारण के साथ ही ओठो से लगाना पडता है। भारतीयो के भी पक्ति-भोज के अपने नियम हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि जिन्हे अग्रेजी पार्टी के नियम भाते है, उन्ही भारतीयो को पक्ति-भोज के नियम भद्दे लगते है। पार्टी के सूट-बूट अच्छे। और हमारे सदा शुचि रेशमी वस्त्र भद्दे।। इसकी कैसी क्या तात्विक मीमासा करेगे ? स्कूल-कालेजो के सम्मेलन, साहित्य-सम्मेलन, काग्रेस आदि राजनैतिक सस्थाओ के वार्षिक अधिवेशन या गिरजाघरो मे प्रति रविवार को दिये जाने वाले धार्मिक प्रवचन आदि सभी मे कर्मठता किसी न किसी रूप मे पायी जाती ही है। अधिक क्या कहे ? बाजार की दुकानो की सजावट मे और विधि-प्रदर्शनो मे भी एक प्रकार की कर्मठता को अपनाये बिना काम नही चलता।

वैयक्तिक आचरणो के तथा रहन-सहन एव पोशाक के भी नियम उस-उस समाज मे पाये जाते हैं। समय-समय पर उनमे अलक्षित

रूप से परिवर्तन होता रहता है यद्यपि उनके संकेत प्रायः उस-उस समय के लिए एक से ही होते हैं। रस की संगति सौन्दर्य की कल्पना कलात्मकता शरीर-स्वच्छता सम्बन्धी या धारण आदि को लेकर फैशन बस पड़ता है और उस-उस काल में उसका सर्वत्र अनुकरण होता रहता है। इस 'फैशन' को भी आधुनिक कर्मठता का एक प्रकार ही समझिये। परन्तु यह कैसे आश्चर्य की बात है कि हम नियमपूर्वक किये जाने वाले भजन-पूजन को तुच्छता से कर्मठता कहते हैं परन्तु प्रतिदिन सुबह उठते ही दाढ़ी घोटने बैठने को कर्मठता समझकर निन्दनीय नहीं कहते। इस तरह एक को निन्द्य और दूसरे को अनिन्द्य कहना हमारी बुद्धि भ्रष्टता का ही परिचय देना है। इसी सिवा बुद्धि भ्रष्टता के कार्य के अतिरिक्त क्या कह सकते हैं?

देव-दर्शन को जाने वाले प्राचीन पुरन्ध्री के हाथ का रजत-पात्र और बहुत-करमी को लिये निकली हुई 'आधुनिका' की कर-कमल का शोभावर्धक 'पर्स' दोनों कर्मठता के ही नमूने हैं। तारतम्य ही देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि उस रजत-पात्र की उस विशिष्ट कार्य में आवश्यकता 'पर्स' की अपेक्षा अधिक है। पुराने समय का बगलबन्द और आज का 'वास्कट' इन दोनों में विद्यमान आग्रह कर्मठता का ही प्रकार है। सन्ध्या पूजन के लिये प्रयुक्त पञ्चपात्रादि सामग्री और चाय पान के लिये काम आने वाली चम्मच-कप-तश्तरी दोनों में किसकी अधिक उपादेयता है कहना कठिन है। श्रीगणेशाय नमः लिखकर प्राचीन काल में ग्रन्थारम्भ करने की पद्धति की तरह आधुनिक ग्रन्थों के उपोद्घात अर्पणपत्रिका सर्वाधिकार सौभाग्यवती———कोसमर्पण करने की घोषणा आदि कर्मठता के ही काल-परिवर्तित उदाहरण हैं। प्राचीन संस्कृत पण्डितों का क्षाम और आज के प्रथमी विद्वानों का पदवी-दान-समारोह के समय का काला गाउन दोनों को एकसा ही शोभास्पद या दोषास्पद मानना चाहिये। एक का भस्म धारण और दूसरे का मुंह पर लगा सुगन्धित चूर्ण (फेस पाउडर) दोनों की सरसता-

नीरसता किस आधार पर निश्चित करेंगे ? आज का हाफपैंट पुराना परिचित ही नही है क्या ? विदेश से दिल्ली आये हुए किसी भी अतिथि का सदलबल राजघाट पहुच कर बापू की समाधि पर एक खास ढग से समारोहपूर्वक पुष्प वलय अर्पण करना क्या कर्मठता नही है ? परम्परागत रूढियो का, और परकीय प्रथाओ का अधानुकरण दोनो ही भयावह एव त्याज्य हैं। तथापि इन दोनो में सर्वप्रथम परकीय प्रथाओ के अन्धानुकरण का त्याग करने की आवश्यकता है, क्योंकि इस अन्धानुकरण मे भयानक हानि के अतिरिक्त स्वाभिमान-शून्यता, हीनता की कल्पना एव स्वात्मघातकता आदि अनेक दोष भरे पडे हैं। आज की हमारी फैशनमूलक कर्मठता विदेशियो के अन्धानुकरण से ही उत्पन्न हुई है। तथापि हम उसे 'सुधार' के नाम पर सानन्द स्वीकार कर रहे हैं और प्राचीन कर्मठता को अन्धश्रद्धा के नाम पर त्याग रहे हैं ॥

साराश यह है कि कर्मठता सभी कालो मे, सभी देशो मे जीवन-व्यापिनी होते हुए भी एकमात्र धार्मिक कर्मठता पर दूषित दृष्टिपात करना और उसे ढोग कहकर उसका अधिक्षेप करना कदापि न्यायसगत नही है। कही भी हो, गर्हणीय ही है फिर वह चाहे धर्म के साहित्य के या शरीर प्रसाधन के क्षेत्र मे हो। परन्तु केवल धर्मक्षेत्र के ढोग को एकमात्र दोष-दृष्टि से चुनकर निकालना कि बहुना, जहा-जहा बाह्य धर्माचार पाये जाते है वहा वहा यह खास ढोग ही है, ऐसा आनुमानिक सिद्धान्त प्रस्थापित करना-आत्मप्रवञ्चना का ही बहुत भयानक रोग है।

कर्म और कर्मठता की सीमा-रेखा सूक्ष्म है। कर्मठता गले आ पडती है, अत कर्म से ही पिण्ड छुडा लेने मे एक तरह से अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। इससे तो कर्मठता का अगीकार अच्छा है, जो समाज को विघटन से बचाता है, क्योकि कर्मठता के अपमान से थोडे बहुत कर्म तो नियमित होते रहेगे। अत कर्मठता कर्महीनता एव उच्छृङ्खलता की अपेक्षा सर्वतोपरि स्वीकार्य है। कम से कम जिस कर्म मे शारीरिक एव मानसिक शुद्धता का अनुभव होता है, जिसमे सात्विकता

के सस्कार की सम्भावना रहती है उसके सबध की कर्मठता का कलङ्क स्वीकार करके भी उसका आचरण करना पूर्णत हितावह है। सौन्दर्य-प्रसाधन के बाद दर्पण म रूप दर्शन करने की अपेक्षा वास्तविक स्वरूप-दर्शन के मार्ग पर—स्वरूपमात्र क्यों न सही से चलने वाली यह 'अघमर्षण' विधिवाली कर्मठता क्या श्रेयस्कर नहीं है ? कर्म की महत्ता की अनुभूति के लिये पहले कर्मठता को ही स्वीकार करना पड़ता है। अभी नदी आदर्शों के रहते हुये भी पवित्र स्थानों पर गन्दगी करने या फैलाने में किसी को भी संकोच मालूम पड़ता है। यदि कोई धर्म का बाह्य चिन्ह शरीर पर धारण करता है और 'स्नान-सन्ध्या-तिलक माला' से सुशोभित होने का ढाग ही करता है तो भी उससे धर्मभाव के अनुसरण की न्यूनाधिक सभावना अवश्य रहती है। बाह्य परिस्थिति का आचरण पर प्रभाव पड़ता ही है। कम स कम चार आदमियों के सामने असदाचरण करने म लज्जा प्रतीत होती ही है क्योंकि स्वांग के अनु-रूप आचरण करना पड़ता है न। सारांश यह है कि अन्य किसी भी क्षेत्र की कर्मठता की चार आदमियो की अपेक्षा धर्मक्षेत्र की कर्मठता निरापद ही नहीं सामदायक भी है।

धर्म के आग्रहपूर्ण आचरण को कर्मठता कहकर उसके प्रति जो एक तिरस्कार भाव व्यक्त किया है उसका एक कारण यह है कि मानव समाज धार्मिक मनुष्य से अहिंसा सत्य अस्तेय शौच इन्द्रिय-निग्रहादि की जैसी अपेक्षा रखता है वैसी अन्यान्य क्षेत्रों के सार्मों से नहीं। अत अपेक्षित मनुष्य यदि हमारी आशा के विपरीत आचरण दिखाता है तो उससे मन को एक जबरदस्त धक्का लगता है और हम उसकी कर्तव्य-भ्रष्टता पर उसे बुरी तरह फटकारते हैं। यदि कोई अध्यापक लिखने म ह्रस्व दीर्घ अनुस्वार की कोई गलती करता है पतिव्रता समझी जाने वाली कोई स्त्री यदि स्वराचरण का सबूत देने लगती है या एन्टी करप्शन विभाग के अधिकारी ही यदि रिश्वत लेने लगते है तो ऐसे उदाहरणों की बाहुलता के कारण अब लोगों को ऐसी बातों पर भी आश्चर्य नहीं मालूम पड़ता। यह अधोगति है या उन्नति

समझने की बात है) जनता कितने आश्चर्य मे पड जाती है। स्वच्छ-श्वेत वस्त्र पर स्वल्प सा काला धब्बा दर्शक के मन को स्वभावत एकदम आकृष्ट कर लेता है। इसी तरह जिनसे जिस कर्तव्य को आशा की जाती है वे यदि उस कर्तव्य मे चूकते हैं तो जनता का ध्यान तुरन्त उन पर जाता है और जनता की आखो मे वे खटकने लगते है। धर्म-क्षेत्र की कर्मठता के प्रति निन्दनीय भाव के प्रचार का यह रहस्य है, इसो इस धर्मक्षेत्र की कर्मठता को अधिक ख्याति प्राप्त हुई है। यहां तक कि कर्मठता अन्य क्षेत्रो मे भी हो सकती है, इस बात को ही लोग भूल गये। पर्याय से यह धार्मिकता की प्रशस्ति ही है। परन्तु धार्मिक मनुष्य कर्मठता को कारण ढोगी होता है, यह कहना सर्वथा असत्य है। वास्तविक सत्य तो यह है कि स्वभाव को पाखण्डी मनुष्य ही जिस तरह अन्यत्र ढोग से काम लेते है, उसी तरह धर्माचरण मे भी ढोगी जीवन बिताते हैं।

समाज को स्वच्छन्दजीवी बनने से रोकने के लिए कर्मठता का आग्रह अनेक बार अत्यावश्यक सिद्ध हुआ है। मन के न चाहने पर भी बल प्रयोग पूर्वक शरीर से काम करवा लेना अच्छे कामो मे असदिग्ध रूप से लाभप्रद सिद्ध हुआ है। इस सबन्ध मे 'ताड़ने बहवो गुण' को चिरतन सत्य कह सकते हैं। अच्छे कामो मे बल-प्रयोग प्राय घातक सिद्ध नही होता। यम-नियमो मे से यम की साधना जब भी कोई कर सकता है, उत्तम है, परन्तु सा्र्ण साधक को नियम की ही साधना करने का उपदेश देने की प्रथा पायी जाती है, क्योकि नियम-पालन से ही साधक मे यमाचरण की क्षमता उत्पन्न हो सकती है और यदि उत्पन्न नही होती तो भी नियमाचरणजन्य जा लाभ पल्ले पडता है वह किसी भी प्रकार नगण्य नही है। यह सत्य है कि धार्मिक कट्टरता कर्मठता का ही एक प्रकार है और यह सत्य है कि ऐसे ही कट्टर धार्मिक की ओर से किसी भी सुधार के लिए सदैव घोर विरोध भी होता रहा है तथापि यह स्वीकार करना पडेगा कि सुधारको की स्वच्छन्दता या उच्छृङ्खलता पर अकुश लगाकर सामाजिक संतुलन बनाये रखने का

के संस्कार की सम्भावना रहती है उसके संबंध की कर्मठता का स्वरूप स्वीकार करके भी उसका आचरण करना पूर्णतः हितावह है। सौन्दर्य-प्रसाधन के बाद दर्पण में रूप दर्शन करने की अपेक्षा वास्तविक स्वरूप-दर्शन के मार्ग पर—स्वल्पमात्र क्यों न सही से चलने वाली यह 'अघमर्षण' विधिवाली कर्मठता क्या श्रेयस्कर नहीं है? कर्म की महत्ता की अनुभूति के लिये पहले कर्मठता को ही स्वीकार करना पड़ता है। अभी गन्दी आदतों के रहते हुए भी पवित्र स्थानों पर गन्दगी करने या फैलाने में किसी को भी संकोच मालूम पड़ता है। यदि कोई धर्म का बाह्य चिन्ह शरीर पर धारण करता है और 'स्नान-सन्ध्या-तिलक माला' से सुसज्जित होने का ढोंग ही करता है तो भी उससे धर्मभाव के संचरण की न्यूनाधिक सम्भावना अवश्य रहती है। बाह्य परिस्थिति का आचरण पर प्रभाव पड़ता ही है। कम से कम चार आदमियों के सामने असदाचरण करने में लज्जा प्रतीत होती ही है क्योंकि स्वांग के अनुरूप आचरण करना पड़ता है न। आशय यह है कि अन्य किसी भी क्षेत्र की कर्मठता की चार आदमियों की अपेक्षा धर्मक्षेत्र की कर्मठता निरापद ही नहीं लाभदायक भी है।

धर्म के आग्रहपूर्ण आचरण को कर्मठता कहकर उसके प्रति जो एक तिरस्कार भाव व्यक्त किया है उसका एक कारण यह है कि मानव समाज धार्मिक मनुष्य से अहिंसा सत्य अस्तेय शौच इन्द्रिय-निग्रहादि की जैसी अपेक्षा रखता है वैसी अन्यान्य क्षेत्रों के लोगों से नहीं। अतः अपेक्षित मनुष्य यदि हमारी आशा के विपरीत आचरण दिखाता है तो उससे मन को एक जबरदस्त धक्का लगता है और हम उसकी कर्तव्य-भ्रष्टता पर उसे बुरी तरह फटकारते हैं। यदि कोई अध्यापक लिखने में ह्रस्व दीर्घ अनुस्वार की कोई गलती करता है, पतिव्रता समझी जाने वाली कोई स्त्री यदि स्वैराचरण का सबूत देने लगती है या एण्टी करप्शन विभाग के अधिकारी ही यदि रिश्वत लेने लगते हैं तो ऐसे उदाहरणों की बहुलता के कारण अब लोगों को ऐसी बातों पर भी आश्चर्य नहीं मालूम पड़ता। यह अधोगति है या उन्नति,

मूर्ति भञ्जन तथा धर्मान्तर के लिये किये गये मुसलमानो के अत्याचार कर्मठता नही, धर्मान्धता है। भारतवर्ष मे कभी ऐसी धर्मान्धता नही पाई गई। कर्मठता अवश्य दृष्टिगोचर होती रही और इसी कारण भारत अपना स्वत्व भी कायम रख सका था। आज उसी पर स्वतन्त्र होकर भी घातक आक्रमण हो रहा है। कर्मठता का लक्षण है 'स्वशरीर-निग्रह' और धर्मान्धता का अर्थ है 'पर-पीड़न।' (कर्मठता तप है, धर्मान्धता अनर्गल हिंसा) एक आत्मान्वेषी, तो दूसरा पर-मर्मान्वेषी होता है। कर्मठता मे सहिष्णुता है तो धर्मान्धता है असहिष्णुता मे। अन्धता पद से ही तद्गत भाव व्यञ्जित हो जाता है। इसी प्रकार कर्मठता और भोलापन भी एक नही है, कर्मठ मनुष्य व्यवहार-चतुर हो सकता है, पर भोला आदमी सभी क्षेत्रो मे भोला ही रहता है।

विशिष्ट प्रकार की कर्मठता का मण्डन करना इस लेख का उद्देश्य नही है। पुरानी कर्मठता जिन्हें पसन्द नही है उनका यह कर्तव्य है कि वे धार्मिक एव नैतिक क्षेत्र मे चित्तशुद्धि के लिये एवं शरीर निग्रह के लिये कोई नई प्रकार की उपकार कर्मठता का आविश्कार करें। उस नूतनाविष्कृत कर्मठता का हम अवश्य सानन्द स्वागत करेगे, परन्तु बन्धन रहित उच्छृङ्खलता, आचार-शून्य, अधार्मिक अवस्था कदापि नहीं। हमारा अटूट विश्वास है—

बन्धन से खिलता कली करते अलि रस पान।
बन्धच्युत देगी न सुख खो देगी निज प्राण॥ १॥
चूल्हे में नित सोहती अन्न पकाती आग।
रचती चित्र विनाश का कर सीमा का त्याग॥ २॥
बध-बृद्ध सत्ता-सरित करे जगत् कल्याण।
वही तटाकुंश-हीन हो ले कितनो के प्राण॥

साराश यह है कि कर्मठता का क्षेत्र और व्याप्ति बहुत अधिक है। उसे न चाहने पर भी उससे हम निर्मुक्त नही हो सकते। अतः कालोचित कट्टरता की प्रस्थापना करना हमारा आद्य कर्तव्य है।

कार्य इन कट्टर कर्मठों ने जितना अधिक किया है उतना कदाचित् ही किसी ने किया होगा। सुधार का अर्थ है—दुःखदायी बन्धनों से छुट्टी पाकर सुखदायी बन्धनों को गले लगाना। पूर्णतः बन्धनमुक्ति को तो कोई भी विद्वान् न सुधार कहता है और न समझता ही है। अतः नये बन्धनों से अच्छी तरह अभ्यस्त होने तक पुराने बन्धनों को धीरे-धीरे छोड़ते चलना ही सामाजिक दृष्टि से हितकारक है। सामान्य जनता के लिए तो यह बन्धनान्तर असक्षित ही रहना चाहिए, अन्यथा वह ऐसे अवसर पर अच्छे अच्छे बन्धनों को भी तोड़कर ऐसी प्रवाह-पतित हो जाती है कि फिर उसे थामे रखने वाले की अपेक्षा खींचकर पकड़ रखने वाले की ही अधिक आवश्यकता अनुभव होती है। सभी सामाजिक और धार्मिक सुधारों का इतिहास इसका साक्षी है।

तथापि ऐसी भी विचारधारा के लोग समाज में पाये जाते हैं जो कर्मठता के दोष से बचने के लिए किसी भी नियम को नहीं चाहते और मन को स्वच्छ रखकर अवसरोचित काम करते हुए जीवन बिताना चाहते हैं। परन्तु ऐसे लोग सामान्य कोटि के नहीं होते। अतः सबके लिए यदि कर्म-बन्धन अनावश्यक कर दिया जाता है तो आत्मप्रवञ्चना को ही पनपने का सुअवसर प्राप्त होगा। तुकाराम जैसे सन्त ने भी निर्मल हृदय एवं मधुर वाणी के प्राणी के लिए माला धारण न करने के प्रति आग्रह नहीं दिखलाया अर्थात् माला धारण करने का विरोध नहीं किया। परन्तु माला धारण न करने का अधिकारी कौन, इसका निर्णय करना कठिन है।

कूपमण्डूकता कट्टरता दुराग्रह हठीलापन आदि अनेक दुर्गुण कर्मठता से जन्म पाते हैं परन्तु अच्छी बातों में ये दुर्गुण ही सद्गुण बन जाते हैं। मनुष्य कट्टर स्वेच्छाचारणी रहने की अपेक्षा यदि धार्मिकता में कट्टर रहता है तो समाज के लिए निस्संशय वह कम उपद्रवकारी रहेगा। एक बात ध्यान में रखें—कर्मठता का अर्थ धर्मान्धता नहीं है। ईसाइयों द्वारा परस्पर जीवित जलाने के रूपमें किये गए अत्याचार और

कोई भी सत्कार्य धार्मिक पुट के साथ कर्मठता से किये बिना नही टिक सकते। इसलिये भारतीय प्राचीन ऋषि महर्षियो ने सभी सत्कार्यों मे धार्मिक पुट के साथ कर्मठता रखने का निर्देश किया है जिसी से अनेक आघातो के आने पर भी किसी अंश मे सत्यकाय बचे हुये भी हैं। यदि इनमें धार्मिकता न मानी जाकर कर्मठता भी नरखी जावे तो कोई भी सत्कार्य नही रह सकता।

मानव जीवन को मानवता की ओर बनाये रखने और दानवता बचाये रखने के लिए मास मदिरा अडे मछली मधु आदि का ाजीवन कर्मठता से त्याग, जिन शाक फलो के खाने मे त्रस प्राणियों ो हिंसा होती है ऐसे शाक फलो का भी आजीवन कर्मठता से त्याग ात्रि भोजन का कर्मठता से त्याग रखना परमावश्यक हैं। प्रत्येक व्यक्ति को जल भी छानकर ही पीना चाहिये और परलोक और परोक्ष मे श्रद्धा की स्थिरता के लिए भगवान में भक्ति बनी रखना अत्यावश्यक है।

शरीर के अतिरिक्त आत्मा भी है। ऐसा विश्वास प्रत्येक को रखकर वहिर्मुखी प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और भावना की तरफ भी यथा सभव जागरूक रहना चाहिये। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की तरफ जागरूकता के लिए मास मदिरा रात्रि भोजनादि का त्याग परमावश्यक है और मानव को मानवता की तरफ बनाये रखने वाला है।

रात्रि भोजन न करना जैनो का धर्म समझना ही नितान्त भूल तथा धर्मान्धता है। यदि एक अच्छी बात को किसी ने दृढता के साथ अपनाली तो उसे उसका ही केवल धर्म या कर्तव्य मानना वस्तुतत्व की अनभिज्ञता है। सत्गुण एक की ही बपौती नही, सभी के है। इसके अतिरिक्त अन्य धर्मों की अपेक्षा से भी जैसा कि इस निबध मे कहा गया है, रात्रि भोजन विरुद्ध है अत रात्रि भोजन सभी के लिए सर्वथा निषिद्ध और अकृत्य है। जैन धर्म एक पारिभाषिक नाम होने से

जब तक स्नान-सन्ध्यादि के पश्चात् शुद्ध वस्त्र पहन कर आसन पर बैठकर भोजन करने की पद्धति थी तब तक अपवित्र, रोगदूषित अन्न तथा उच्छिष्ट भोजन से अपने आप रक्षा होती थी। अब उसको ढोंग कहकर छोड़ दिया तो सब प्रकार का अपवित्र स्वास्थ्यनाशक रोगवर्धक उच्छिष्ट भोजन चलने लगा। निरामिषभोजी मांसाहारियों के साथ मांस पके बर्तनों में बना भोजन खाने लगे। यों भोजन में अशुद्धि आने से मन अशुद्ध हो गये।

वर्णाश्रम के नियम शिथिल होने से धर्मानुमोदित संयम-नियम पूर्ण आचार-विचार में कमी हो गयी— फलतः समाज के स्वास्थ्य में सर्वत्र सभी क्षेत्रों में भयानक शिथिलता आ गई। वर्णाश्रम के कड़े नियमों ने जिस जाति को अब तक बचा रक्खा था मुसलमानी अत्याचार युग में भी जो अपने स्वरूप को अक्षुण्ण रख सकी थी वही आज प्रगति के नाम पर अपने आचार को ढोंग बताकर तथा अन्धाधुन्ध परानुकरण करके अपने ही हाथों अपना विनाश करने पर तुल गई है। यह कितने बड़े दुःख की बात है।

अन्ध परानुकरणपरायणता का परिणाम यह हुआ कि आज हम भारतीय कहलाते हुए ही विदेशी हो गये। हमारे भोजन वस्त्र रहन सहन आचार विचार सभी में उच्छृङ्खलता आ गई। अच्छी बातों का अनुकरण तो कठिन होने से नहीं हो सका परन्तु बुरा अनुकरण 'ढोंग-त्याग' तथा उच्चस्तर के जीवन निर्माण' के नाम पर सर्वत्र होने लगा। परिणाम सामने है-सदाचार, सत्य ईमानदारी अहिंसा त्याग प्रेम आदि केवल नाम के लिये ही रह गये। एक ही धर्म के लोग भाषा प्रान्त मत और पार्टी के नाम पर परस्पर किस प्रकार द्वेष हिंसा में लगे हैं वह प्रत्यक्ष है। यह सब समाज के धार्मिक नियमों के परित्याग का ही विषमय परिणाम है।

यह पतनोन्मुखी गति नहीं रुकी तो पता नहीं, हमारे पतन का अन्त कहां होगा।

कोई भी सत्कार्य धार्मिक पुट के साथ कर्मठता से किये विना नही टिक सकते। इसलिये भारतीय प्राचीन ऋषि महर्षियो ने सभी सत्कार्यों मे धार्मिक पुट के साथ कर्मठता रखने का निर्देश किया है जिसी से अनेक आघातो के आने पर भी किसी अंश मे सत्यकाय वचे हुये भी हैं। यदि इनमे धार्मिकता न मानी जाकर कर्मठता भी नरखी जावे तो कोई भी सत्कार्य नही रह सकता।

मानव जीवन को मानवता की ओर बनाये रखने और दानवता के बचाये रखने के लिए मास मदिरा अंडे मछली मधु आदि का आजीवन कर्मठता से त्याग, जिन शाक फलो के खाने मे त्रस प्राणियो की हिंसा होती है ऐसे शाक फलो का भी आजीवन कर्मठता से त्याग रात्रि भोजन का कर्मठता से त्याग रखना परमावश्यक हैं। प्रत्येक व्यक्ति को जल भी छानकर ही पीना चाहिये और परलोक और परोक्ष में श्रद्धा की स्थिरता के लिए भगवान मे भक्ति बनी रखना अत्यावश्यक है।

शरीर के अतिरिक्त आत्मा भी है। ऐसा विश्वास प्रत्येक को रखकर बहिर्मुखी प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और भावना की तरफ भी यथा सभव जागरूक रहना चाहिये। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की तरफ जागरूकता के लिए मास मदिरा रात्रि भोजनादि का त्याग परमावश्यक है और मानव को मानवता की तरफ बनाये रखने वाला है।

रात्रि भोजन न करना जैनो का धर्म समझना ही नितान्त भूल तथा धर्मान्धता है। यदि एक अच्छी बात को किसी ने दृढता के साथ अपनाली तो उसे उसका ही केवल धर्म या कर्तव्य मानना वस्तुतत्व की अनभिज्ञता है । सत्गुण एक की ही बपौती नही, सभी के हैं। इसके अतिरिक्त अन्य धर्मों की अपेक्षा से भी जैसा कि इस निबध मे कहा गया है, रात्रि भोजन विरुद्ध है अत रात्रि भोजन सभी के लिए सर्वथा निषिद्ध और अकृत्य है। जैन धर्म एक पारिभाषिक नाम होने से

विविधता, कथावस्तु की मौलिकता, चरित्रों की मनोवैज्ञानिकता पर बहुत बल दिया जाने लगा।

रस की दृष्टि से इस युग में वीर शृंगार, करुण बीभत्स, रौद्र आदि सभी रसों के रास विरचित हुए। काव्यरचना के प्रसंग में हम इनकी विशेष चर्चा करेंगे।

फागु का विकास

फागु का साहित्यप्रकार

पद, आख्यान, रास, कहानी आदि की भाँति फागु भी प्राचीन साहित्य का एक प्रमुख प्रकार है। मूलतः वसतश्री से संपन्न होने के कारण मानवीय भावों एवं प्राकृतिक छटाओं का मनोरम चित्रण इसकी एक विशेषता रही है। दीर्घ परपरा के कारण इस साहित्यप्रकार में वैविध्य आना स्वाभाविक है। 'वस्तुनिरूपण, छदरचना आदि को दृष्टि में रखकर फागु साहित्य के विकास का सक्षिप्त परिचय देने के लिये उपलब्ध कृतियों की यहाँ आलोचना की जायगी।

अद्यापि सुरक्षित फागों में अधिकाश जैनकृत है। जैन साहित्य जैन ग्रंथभडारों में सचित रहने से सुरक्षित रहा किंतु अधिकाश जैनेतर साहित्य इस सुविधा के अभाव में प्रायः लुप्त हो गया। इस स्थिति में भी ६ ऐसे फागु प्राप्त हुए हैं जिनका जैनधर्म से कोई सबध नहीं है। उन फागुओं के नाम हैं—

(१) अज्ञात कविकृत 'वसत विलास फागु', (२) 'नारायण फागु', (३) चतुर्भुजकृत 'भ्रमरगीत', (४) सोनीरामकृत 'वसत विलास', (५) अज्ञात कविकृत 'हरिविलास फाग', (६) कामीजन विश्रामतरग गीत, (७) चुपइ फाग, (८) फागु और (६) 'विरह देशाउरी फाग'।

इनमें भी 'वसतविलास' के अतिरिक्त शेष सभी हस्तलिखित प्रतियाँ जैन साहित्य भडारों से प्राप्त हुई हैं। फागु की जितनी भी शैलियाँ प्राप्य हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वसतवर्णन का एक ही मूल प्रकार जैनेतर साहित्य में कुछ विभिन्नता के साथ विकसित हुआ है।

वसतवर्णन एव वसतक्रीड़ा फागु के मूल विषय हैं। वसतश्री के अतिरिक्त शृगार के दोनों पक्ष, विप्रलभ और सभोग, का इसमें निरूपण मिलता है। ऐसा साहित्य प्राचीनतर अपभ्रशों में हमें नहीं मिलता। यद्यपि यह रासान्वयी काव्य है और रास प्राचीन अपभ्रश साहित्य में विद्यमान है किंतु फागु साहित्य पूर्ववर्ती अपभ्रश भाषा में अब तक नहीं मिला। अतः फागु के

विविधता, कथावस्तु की मौलिकता, चरित्रों की मनोवैज्ञानिकता पर बहुत बल दिया जाने लगा।

रस की दृष्टि से इस युग में वीर शृंगार, करुण वीभत्स, रौद्र आदि सभी रसों के छंद विरचित हुए। काव्यशोधन के प्रसंग में हम इनकी विशेष चर्चा करेंगे।

अर्थात् वसतोत्सव के समय गाए जानेवाले रास 'फाग' कहलाने लगे। इस फाग काव्य में वसत के सौंदर्य, प्रेमीजन और उनके नृत्य के वर्णन के द्वारा मानव मन के स्वाभाविक आनदातिरेक की अभिव्यक्ति होती थी।

आचार्य लक्ष्मण ने फल्गुन नाम से देशी ताल की व्याख्या करते हुए लिखा है—'फल्गुने लपद्रागःस्यात्' अर्थात् फागु गीत का लक्षण है— ।ऽ०ऽ

सभवत. इसी देशी ताल में गेय होने के कारण वसतोत्सव के गीतों को फल्गुन>फग्गु अथवा फाग कहा गया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि वसतोत्सव के समय नर्तन किए जानेवाले एक विशेष प्रकार के नृत्यरास को शारदोत्सव के रास से पृथक् करने के लिये इसको फागु सज्ञा दी गई। जैन मुनियों ने जैन रास के सदृश फागु काव्य की भी परिसमाप्ति शात रस में करनी प्रारंभ की। अतः फागु काव्य भी ऋतुराज वसत की पृष्ठभूमि में धर्मोपदेश के साधन बने और जैनाचार्यों ने उपदेशप्रचार के लिये इस काव्यप्रकार से पूरा पूरा लाभ उठाया। उन्होंने अपनी वाणी को प्रभावशालिनी बनाकर हृदयगम कराने के लिये फागु काव्य में स्थान स्थान पर वसतश्री की स्पृहणीयता एव भोगसामग्री की रमणीयता को समाविष्ट तो किया, किंतु साथ ही उसका पर्यवसान नायकनायिका के जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण करने के उपरात ही करना उचित समझा।

श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य कृत 'गुजराती साहित्य नी रूपरेखा' में फाग काव्यप्रकार की व्याख्या चार प्रकार के ऋतुकाव्यों में की गई है। श्री वैद्य का कहना है कि—"आ प्रकारना ('फाग' सज्ञावाला) काव्यो छंदवैविध्य झड़झमक अने अलकारयुक्त भाषा थी भरपूर होइछे। रग्मा जमूस्वामी के नेमिनाथ जेवा पौराणिक पात्रों ने अनुलक्षी ने उद्दीपक शृ गाररस नू वर्णन करेनूं होइछे, परतु तेनो अत हमेशा शील अने सात्विकता ना विजय मा अने विषयोपभोगना त्याग मा ज आवे छे।"

इस प्रकार यह रासान्वयी काव्य फागु छदवैविध्य, अनुप्रास आदि शब्दालकार एव अर्थालकार से परिपूर्ण सरस भाषा में विरचित होता है। जमूस्वामी के 'नेमिनाथ फाग' में पौराणिक पात्रों को लक्ष्य करके उद्दीपक

साहित्यप्रकार को समझने के लिये हमें संस्कृत साहित्य के ऋतुवर्णन-पूर्ण काव्यों की ओर ही दृष्टि दौड़ानी पड़ती है।

"फागु" शब्द की व्युत्पत्ति सं० फल्गु (वसंत) > प्रा० फागु और > फाग (हिं०) से सिद्ध होती है। आचार्य हेमचंद्र ने 'देशीनाममाला" (६—८२) के 'फग्गू महुच्छणे फलही वमणी फसुलफंसुला मुक्के' में "फग्गु" शब्द को वसंतोत्सव के अर्थ में ग्रहण किया है। [सं०] फाल्गुन > प्रा० > फग्गुण से इसकी व्युत्पत्ति मानने का प्रयत्न भाषाशास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। हिंदी और मारवाड़ी में होली के अशिष्ट गीतों के लिये "फाग" शब्द का प्रयोग होता है। हेमचंद्र ने "फग्गू" देशी शब्द इसी फागु (वसंतोत्सव) के अर्थ में स्वीकार किया होगा। कालांतर में इसी फागु को शिष्ट साहित्य में स्थान प्राप्त करने का सौभाग्य मिला होगा।

एक अन्य विद्वान् का मत है कि ब्रजभाषा में फाग को फगुआ कहते हैं। अपशब्द अश्लील विनोद अशिष्ट परिहास गालीगलौज का जब उपयोग किया जाता है तब उसे बेफाग कहते हैं। उनके मतानुसार बेफाग अथवा फगुआ के विरोध में वसंत ऋतु के समय शिष्ट समुदाय में गाने के योग्य नवीन काव्यकृति फागु के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस नवीन शैली के फागु की भाषा अनुप्रासमय एवं आलंकारिक होने लगी और इसमें गेय छंदों का वैविध्य दिखाई पड़ने लगा। यह नवीन कृति फागुन और चैत में गाई जाने लगी। "रंगसागर नेमि फागु" के संपादक मुनि धर्मविजय का कथन है—"ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में से असभ्य वाणी (बेफाग) दूर करने के लिये कच्छ, काठियावाड़ मारवाड़ और मेवाड़ आदि स्थानों में जैन मुनियों ने परिमार्जित परिष्कृत एवं रसिक 'नेमि फागु' की रचना की।' और इसके उपरांत फागु में धार्मिक कथानकों का कथावस्तु के रूप में प्रयोग होने लगा।

शिष्ट फागु के उद्भव के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने पृथक् पृथक् मत दिया है। किंतु सब मतों की एकसूत्रता के० एम० मुंशी के मत में है—

The rasa sung in the spring festival or phaga was itself called phaga. The phaga poems describe the glories of the spring the lovers and their dances, and give a glimpse of the free and joyous life'

—Gujrat and its Literature, p 137

अर्थात् वसतोत्सव के समय गाए जानेवाले रास 'फाग' कहलाने लगे। इस फाग काव्य में वसत के सौंदर्य, प्रेमीजन और उनके नृत्य के वर्णन के द्वारा मानव मन के स्वाभाविक आनदातिरेक की अभिव्यक्ति होती थी।

आचार्य लक्ष्मण ने फल्गुन नाम से देशी ताल की व्याख्या करते हुए लिखा है—'फल्गुने लपदागःस्यात्' अर्थात् फागु गीत का लक्षण है— ।ऽ०ऽ

सभवत. इसी देशी ताल में गेय होने के कारण वसतोत्सव के गीतों को फल्गुन>फग्गु अथवा फाग कहा गया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि वसतोत्सव के समय नर्तन किए जानेवाले एक विशेष प्रकार के नृत्यरास को शारदोत्सव के रास से पृथक् करने के लिये इसको फागु सज्ञा दी गई। जैन मुनियों ने जैन रास के सदृश फागु काव्य की भी परिसमाप्ति शात रस में करनी प्रारभ की। अतः फागु काव्य भी ऋतुराज वसत की पृष्ठभूमि में धर्मोपदेश के साधन बने और जैनाचार्यों ने उपदेशप्रचार के लिये इस काव्यप्रकार से पूरा पूरा लाभ उठाया। उन्होंने अपनी वाणी को प्रभावशालिनी बनाकर हृदयगम कराने के लिये फागु काव्य में स्थान स्थान पर वसतश्री की स्पृहणीयता एवं भोगसामग्री की रमणीयता को समाविष्ट तो किया, किंतु साथ ही उसका पर्यवसान नायकनायिका के जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण करने के उपरात ही करना उचित समझा।

श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य कृत 'गुजराती साहित्य नी रूपरेखा' में फाग काव्यप्रकार की व्याख्या चार प्रकार के ऋतुकाव्यों में की गई है। श्री वैद्य का कहना है कि—"आ प्रकारना ('फाग' सज्ञावाला) काव्यो छदवैविध्य झड़झमक अने अलकारयुक्त भाषा थी भरपूर होइछे। रग्मा जमूस्वामी के नेमिनाथ जेवा पौराणिक पात्रों ने अनुलक्षी ने उद्दीपक शृगाररस नू वर्णन करेंनू होइछे, परतु तेनो अत हमेशा शील अने सात्विकता ना विजय मा अने विषयोपभोगना त्याग मा ज आवे छे।"

इस प्रकार यह रासान्वयी काव्य फागु छदवैविध्य, अनुप्रास आदि शब्दालकार एव अर्थालकार से परिपूर्ण सरस भाषा में विरचित होता है। जमूस्वामी के 'नेमिनाथ फाग' में पौराणिक पात्रों को लक्ष्य करके उद्दीपक

शृंगार रस का वर्णन किया गया है किंतु उसके अंत में शील एवं सात्विक विचारों की विजय और विषयोपभोग का त्याग प्रदर्शित है।

"मूळे वसंतऋतुना शृंगारात्मक फागु मां जैन मुनियो ये एमने ते ऋतु ने स्वीकारी उपशम ना बोधपरत्वे विनियोग करेला जोवा मां आवे छे" ।[1]

स्थूलिभद्र फागु की अंतिम पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि फागु काव्य चैत्र में गाया जाता था। इससे सिद्ध होता है कि फाग मूलतः वसंत ऋतु की शोभा के बयान के लिये विरचित होते थे और उनमें मानव मन का सहज उल्लास अभिव्यक्त होता था। किंतु स्थूलिभद्र फागु ऐसा है जिसमें वसंत ऋतु के स्थान पर वर्षा ऋतु का बयान बड़ा ही आकर्षक प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये देखिए—

> झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा वरिसंति,
> खलहल खलहल खलहल ए वाहला वहंति,
> झबझब झबझब झबझब ए बीजुलिय झबकइ,
> थरहर थरहर थरहर ए विरहिणिमणु कंपइ,
> महुरगंभीरसरेण मेह जिम जिम गाजंति,
> पंचबाण निय कुसुमबाण तिम तिम साजंति
> जिम जिम केतकि महमहंत परिमल विहसावइ,
> तिम तिम कामिय चरण लागि निगरमणि मनावइ।

फागुओं में केवल एक इसी स्थल पर वर्षावर्णन मिलता है, अन्यत्र नहीं। अतः फागु काव्यों में इसे अपवाद ही समझना चाहिए, नियम नहीं क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र वसंतश्री का ही बयान प्राप्त होता है।

फागु रचना का उद्देश्य

साधारण जनता को आकर्षक प्रतीत होनेवाला यह शृंगारवर्णन जिसमें शब्दालंकार का चमत्कार कोमलकांत पदावली का लालित्य आदि साहित्यरस का आस्वादन कराने की प्रवृत्ति हो और जिसमें "शमसिरि" की प्राप्ति द्वारा जीवन के सुंदरतम पक्ष का चित्रण अभीष्ट हो फागु साहित्य की आत्मा है। फागु साहित्य में चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी की सामान्य जनता के मुक्त उल्लासपूर्ण जीवन का सुंदर प्रतिबिंब है। रासो और

१—के० ह० ध्रुव—हाजीमुहम्मद स्मारक ग्रंथ, पृ० १९८।

फागु में धर्मकथा के पुरुष मुख्य रूप से नायक होते हैं। किंतु फागु में नायक नायिकाओं को केंद्र में रखकर वसंत के आमोद प्रमोद का आयोजन किया जाता है।

फागु मूलतः लोकसाहित्य होते हुए भी गीतप्रधान शिष्ट साहित्य माना जाता है। फागुओं में नृत्य के साथ संभवतः गीतों को भी संमिलित कर लिया गया होगा और इस प्रकार फागु क्रमशः विकसित होते गए होंगे। इसका प्रमाण अधोलिखित पंक्ति से लगाया जा सकता है—

'फागु रमिज्जइ, खेला नाचि'

नृत्य द्वारा अभिनीत होनेवाले फागु शताब्दियों तक विरचित होते रहे। किंतु काव्य का कोई भी प्रकार सदा एक रूप में स्थिर नहीं रहता। इस सिद्धांत के आधार पर रास और फागु का भी रूप बदलता रहा। एक समय ऐसा आया कि फागु की अभिनेयता गौण हो गई और वे केवल पाठ्य रह गए।

सडेसरा[1] जी का कथन है कि "फागु का साहित्यप्रकार उत्तरोत्तर परिवर्तित एवं परिवर्धित होता गया है। कालांतर में उसमें इतनी नीरसता आ गई कि कतिपय फागु नाममात्र के लिये फागु कहे जा सकते हैं। मालदेव का 'स्थूलिभद्र फाग' एक ही देशी की १०७ कड़ियों में रचित है। कल्याणकृत 'वासुपूज्य मनोरम फाग' में फागु के लक्षण विरले स्थानों पर ही दृष्टिगत होते हैं और 'मंगलकलश फाग' को कर्ता ने नाममात्र को ही फागु कहा है। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी से प्रारम्भ कर तीन शताब्दियों तक मानव भावों के साथ प्रकृति का गाना गाती, शृंगार के साथ त्याग और वैराग्य की तरंग उछालती हुई कविता इस साहित्यप्रकार के रूप में प्रकट हुई। आख्यान या रासा से इसका स्वरूप छोटा है, परंतु कुछ इतिवृत्त आने से होरी के धमार एवं वसंतखेल के छोटे पदों के समान इसमें वैविध्य के लिये विशेष अवकाश रहा है।"

फागु का वर्ण्य विषय

नेमिराजुल तथा स्थूलभद्र कोश्या को लेकर फागु काव्यों की अधिकांश रचना हुई है और ऐसे काव्य प्रायः जैनों में लोकप्रिय रहे हैं।

---

१ सडेसरा—प्राचीन फागु-संग्रह, पृष्ठ ७०–७१

फागु में वसंतऋतु का ही वर्णन होने से नायक नायिका का शृंगार वर्णन स्वतः आ जाता है। यौवन के उन्माद और उल्लास की समग्र रस-सामग्री इसमें पूर्णरूप से उंडेल दी जाती है। काव्य के नायक नायिका को ऐसे ही मादक वातावरण में रखकर उनके शील, संयम और चरित्र का परीक्षण करना कवि को अभीष्ट होता है। ऐसे उद्दीप्त वातावरण में भी संयमश्री को प्राप्त करनेवाले नेमिनाथ और राजमती या स्थूलिभद्र और कोश्या अथवा इतिहास पुराण-प्रसिद्ध व्यक्तियों का महिमागान होता था। इस प्रकार का शृंगारवर्णन त्यागभावना की उपलब्धि के निमित्त वांछनीय माना जाता था। इसलिये कवि को ऐसे शृंगारवर्णन में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। यही कारण है कि जिनपद्मसूरि का 'सिरिथूलिभद्र फागु' जैनेतर अज्ञात कवि विरचित 'वसंतविलास' या नारायण फागु से पृथक् हो जाता है। हम पहले कह आए हैं कि जैन फागु में उद्दीपक शृंगार का वर्णन संयमश्री और सात्विकता की विजय की भावना से किया गया है। प्रमाण के लिये 'स्थूलिभद्र फागु' देखिए। इसमें नायक साधु बनते हैं। इससे पूर्व उनके शीलपरीक्षण के लिये शृंगार रस का वर्णन किया गया है। साधुओं को चातुर्मास एक ही स्थल पर व्यतीत करने पड़ते हैं। इसी काल में उनकी परीक्षा होती है। इस लघुकाव्य में शकटाल मंत्री के पुत्र स्थूलिभद्र की वैराग्योपलब्धि का वर्णन किया गया है। युवक साधु स्थूलि गुरु की आज्ञा से कोश्या नामक वेश्या के यहाँ चातुर्मास व्यतीत करते हैं और वह वेश्या इस तेजस्वी साधु को काममोहित करने के लिये विविध हावभाव, भ्रूभंगिमा एवं कटाक्ष का प्रयोग करती है, परंतु स्थूलिभद्र के निश्चल मन पर वेश्या के सभी प्रयास विफल रहते हैं। ऐसे समय एक अद्भुत चमत्कार हुआ। स्थूलिभद्र के तपोबल ने कोश्या में परिवर्तन उपस्थित किया। उसकी भोगवृत्तियाँ निर्बल होते होते मृतप्राय हो गईं। उसने साधु से उपदेश ग्रहण किया। उस समय आकाश से पुष्पवृष्टि हुई।

'स्थूलिभद्र फागु' की यही शैली नेमिनाथ', 'जंबूस्वामी' आदि फागों में विद्यमान है। विलास के ऊपर संयम की काम के ऊपर वैराग्य की विजय सिद्ध करने के लिये विलासवती वेश्याओं और तपस्वी मुनियों की जीवन-गाथा प्रदर्शित की जाती है। रम्यरूपधारी युवा मुनियों को कामिनियों की भ्रूभंगिमा की लपेट में लेकर कटाक्ष के बाणों से बेधते हुए काम अपनी संपूर्ण शक्ति का प्रयोग करता दिखाई पड़ता है। काम का चिरतत्पर अस्त्र-

राज अपने समग्र वैभव के साथ मित्र का सहायक बनता है। मनसिज की दासियाँ—भोगवृत्तियाँ—अपने मोहक रूप में नग्न नर्तन करती दिखाई पड़ती हैं। शृंगारी वासनाएँ युवा मुनिकुमार के समक्ष प्रणयगीत गाती दिखाई देती हैं। अप्सराओं को भी सौंदर्य में पराजित करनेवाली वारांगनाएँ माणिक्य की प्याली में भर भरकर मोहक मदिरा का पान कराने को व्यग्र हो उठती हैं, पर संपूर्ण कामकलाओं में दक्ष रमणियाँ मुनि की संयमश्री एवं शांत मुद्रा से पराभूत रह जाती हैं। चमत्कार के ये ही क्षण फागुओं के प्राण हैं। इसी समय कथावस्तु में एक नया मोड़ उपस्थित होता है जहाँ शृंगार निर्वेद की ओर सरकता दिखाई पड़ता है। इस स्थल से आगे वासना का उद्दाम वेग तप की मरुभूमि में विलीन हो जाता है और अध्यात्म के गंगोत्री पर्वत से आविर्भूत पवित्रता की प्रतिमा पतितपावनी भागीरथी अधम वार-वनिताओं के कालुष्य को सद्यःप्रक्षालित करती हुई शांतिसागर की ओर प्रवाहित होने लगती हैं।

फागु का रचनाबंध—फागु साहित्य के अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि विशेष प्रकार की छंदरचना के कारण ही इस प्रकार की रचनाओं को 'फागु' या 'फाग' नाम दिया गया । साहित्य के अन्य प्रकारों की तरह फागु का भी बाह्य स्वरूप कुछ निश्चित है। जिनपद्म सूरि कृत 'स्थूलिभद्र फागु' और राजशेखर सूरि कृत 'नेमिनाथ फागु' जैसे प्राचीनतम फागु काव्यों में दोहा के उपरांत रोला के अनेक चरण रखने से 'भास' बनता है । एक फागु में कई भास होते हैं। जयसिंह सूरि का प्रथम 'नेमिनाथ फागु' (संवत् १४२२ के लगभग) प्रसन्नचंद्र सूरि कृत 'रावणि पार्श्वनाथ फागु (संवत् १४२२ के लगभग), जयशेखर सूरि कृत द्वितीय 'नेमिनाथ फागु' (संवत् १४६० के लगभग) 'पुरुषोत्तम पाँच पांडव फाग', 'भरतेश्वर चक्रवर्ती फाग', 'कीर्तिरत्न सूरि फाग' आदि प्राचीन फागुओं का पद्यबंध इसी प्रकार का है। रोला जैसे सस्वर पठनीय छंद फागु जैसे गेय रूपक के सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार 'गरबा' के अंतर्गत बीच बीच में साखी का प्रयोग होने से एक प्रकार का विराम उपस्थित हो जाता है और काव्य की सरसता बढ़ जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक भास के प्रारंभ में एक दूहा रख देने से फागु का रचनाबंध सप्राण हो उठता है और उसकी एकस्वरता परिवर्तित हो जाती है।

'वसंतविलास' नामक प्रसिद्ध फागु के रचनाबंध का परीक्षण करने से

सामान्यतः यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि आंतर अनुप्रास एवं आंतर यमक से रमणीय दूहा फागु काव्यबंध का विशिष्ट लक्षण माना जाना चाहिए।

सांडेसरा का कथन है कि "उपलब्ध फागुओं में जयसिंह सूरि का द्वितीय 'नेमिनाथ फागु' (सं १४२२ के लगभग) आंतर यमकयुक्त दूहे में विरचित फागु का प्राचीनतम उदाहरण है। जयसिंह सूरि की इस रचना और पूर्वकथित जिनपद्म और राजशेखर के प्राचीन फागुओं के रचनाकाल में इतना कम अंतर है कि भासवाले और आंतर यमकयुक्त दूहा वाले फागु एक ही युग में साथ साथ प्रचलित रहे हों, ऐसा अनुमान करने में कोई दोष नहीं। संभवतः इसी कारण जयसिंह सूरि ने एक ही कथावस्तु पर दोनों शैलियों में फागु की रचना की। जयसिंह सूरि के पश्चात कवि कृत 'जंबुस्वामी फाग' (संवत् १४१) मेरुनंदन कृत 'जीरापल्ली पार्श्वनाथ फागु' (संवत् १४१२) और जयशेखर सूरि कृत प्रथम 'नेमिनाथ फागु' इसी पद्यबंध शैली में रचे हुए मिलते हैं। 'वसंतविलास' 'नारीनिरास फाग' और 'हरिविलास' में छंदबंध तो वही है परंतु बीच बीच में संस्कृत श्लोकों का समावेश भी किया गया है। 'वसंतविलास' में तो संस्कृत श्लोकों की संख्या संपूर्ण श्लोकों की आधी होगी। 'इस प्रकार एक ही छंद में रचे हुए काव्य में प्रसंगोपात्त श्लोकों को भरना एक नया तत्व गिना जाता है।'

फागु में संस्कृत श्लोकों का समावेश १४ वीं शताब्दी के अंत तक प्रायः नहीं दिखाई पड़ता। इस काल में विरचित फागुओं का विवेचन कर देने से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायगा।

१५वीं शताब्दी के फागों में संस्कृत श्लोकों का प्रचलन फागु के काव्यबंध का विकासक्रम सूचित करता है। इससे पूर्व विरचित फागु दूहाबद्ध हैं और उनमें आंतर यमक की उतनी छटा भी नहीं दिखाई पड़ती। किंतु परवर्ती फागों में शब्दगत चमत्कार उत्पन्न करने के उद्देश से आंतर यमक का बहुल प्रयोग होने लगा। उदाहरण के लिये सं १४११ में विरचित जिनचंद्र सूरि फागु पद्म विरचित 'नेमिनाथ फागु' गुणचंद्र गणि कृत 'वसंत फागु' एवं अज्ञात कवि कृत 'मोहनी फागु' सामान्य दूहाबद्ध हैं। इनमें संस्कृत श्लोकों की छटा कहीं नहीं दिखाई पड़ती। संस्कृत श्लोकों को फागु में संमिलित करने का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। हम आगे चलकर इसपर विचार करेंगे।

इन सामान्य फागुओं की तो बात ही क्या, केशवदास कृत 'श्रीकृष्ण-लीला काव्य' में कृष्णगोपी के वसतविहार में भी संस्कृत श्लोकों का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। इस काव्य के उपक्रम एव उपसहार की शैली से कृष्ण-गोपी-वसत विहार एक स्वतत्र भाग प्रतीत होता है। फागु की शैली पर दोहों में विरचित यह रचना आतर यमक से सर्वथा असपृक्त प्रतीत होती है। यह रचना १६वीं शताब्दी के प्रारभ की है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि १५वीं शताब्दी और उसके अनतर भी आतर यमक से पूर्ण तथा आतर यमक रहित दोनों शैलियों में फागुरचना होती रही। सस्कृत श्लोकों से फागुओं को समन्वित करने में कवि स्वतत्र था। यदि प्रसगानुसार सस्कृत श्लोक उपयुक्त प्रतीत होते थे तो उनको समाविष्ट किया जाता था अथवा अनुकूल प्रसग के अभाव में सस्कृत श्लोकों को बहिष्कृत कर दिया जाता था।

प्रश्न यह उठता है कि फागु रचना में रोला और दूहा को प्रायः स्थान क्यों दिया गया है। इसका उत्तर देते हुए 'प्राचीन गुजराती छंदो' में रामनारायण विश्वनाथ पाठक लिखते हैं—'काव्य अथवा रोला माँ एक प्रकार ना अलकार नी शक्यता छे, जेनो पण फागुकाव्यो अत्यत विकसित दाखलो छे। "घत्ता माँ आतर प्रास आवे छे। बत्रीसा सवैया नी पक्ति घणी लाबी छे एटले एमाँ आवा आतर प्रास ने अवकाश छे। रोला नी पक्ति एटली लाँबी न थी, छतां रोलामा पण वच्चे क्याक यति मूकी शकाय एटली ए लाबी छे अने तेथी ए यति ने स्थाने कवि शब्दालकार योजे छे।"[1]

तात्पर्य यह है कि काव्य और रोला नामक छुदों में एक प्रकार के अलकरण की सामर्थ्य है जिसको हम फागु काव्यों में विकसित रूप में देखते हैं। घत्ता में आतरप्रास (का बाहुल्य) है। सवैया की पक्ति अत्यत लबी होने से आतरप्रास का अवकाश रखती है। किंतु रोला की पक्ति इतनी लबी नहीं होती अतः कवि उसमें यति के स्थान पर शब्दालकार की योजना करके उसे गेय बनाने का प्रयास करता है।

कतिपय फागुओं में दूहा रोला के आरभ में ऐसे शब्दों तथा शब्दांशों का प्रयोग दिखाई पड़ता है जिनका कोई अर्थ नहीं और जो केवल गायन की सुविधा के लिये आबद्ध प्रतीत होते हैं। राजशेखर, जयशेखर सुमधुर एव समर

१ रामनारायण विश्वनाथ पाठक—प्राचीन गुजराती छदो, पृ० १५८

के 'नेमिनाथ फागु' पुरुषोत्तम के 'पांचपांडव फागु' गुणचंद सूरि कृत 'वसंत फागु' के अतिरिक्त हेमरत्न सूरि फागु' की छंदरचना में भी अरे, 'अरे' या अरे' शब्द गाने के लटके के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

इस स्थल पर कतिपय प्राचीनतर फागुओं का रचनाबंध देख लेना आवश्यक है। सं १४९८ वि में विरचित 'नेमीश्वरचरित फाग' में ८८ कड़ियाँ हैं जो १५ खंडों में विभक्त हैं। प्रत्येक खंड के प्रारंभ में एक या इससे अधिक संस्कृत के श्लोक हैं। तदुपरांत रास की कड़ियाँ अढैयुं एवं फागु छंद आते हैं। किसी किसी खंड में फागु का और किसी में अढैयों का अभाव है। तेरहवें खंड में केवल संस्कृत श्लोक और रास हैं। इसी प्रकार पृथक् पृथक् खंडों में भिन्न भिन्न छंदों की योजना मिलती है। इतना ही नहीं, 'रास' शीर्षकवाली कड़ी एक ही निश्चित देशी में नहीं अपितु विविध देशियों में दिखाई पड़ती है।

१५वीं शताब्दी के अंत में विरचित 'रंगसागर नेमि फाग' तीन खंडों में विभक्त है। प्रत्येक खंड के प्रारंभ में संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश के छंदों में रचना दिखाई पड़ती है तदुपरांत रासक, आंदोला फाग आदि छंद उपलब्ध हैं। कहीं कहीं शार्दूलविक्रीड़ित (वृहत) भी प्रयुक्त है।

इसी काल में 'देवरत्नसूरि फाग भी विरचित हुआ। ६५ कड़ियों में आबद्ध इस लघुरास में संस्कृत श्लोक, रास (देशी), अढैयुं और फागु पाए जाते हैं। १६वीं शताब्दी का हेमविमल सूरि फागु' तीन खंडों में विभक्त है और प्रत्येक खंड फाग आर छंदाला में आबद्ध है।

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रत्नमंडन गणि कृत 'नारीनिरास फाग' ऐसा है जिसमें प्रत्येक संस्कृत श्लोक के उपरांत प्रायः उसी भाव को अभिव्यक्त करनेवाला भाषा छंद दिया हुआ है। इस फागु की भाषा परिमार्जित एवं रसानुकूल है। इस शैली के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृतज्ञ विद्वानों के मनोरंजनार्थ भी फागु की रचना होने लगी थी। फागु शैली की यह महत्ता है कि संस्कृत के दिग्गज विद्वान् भी इसका प्रयोग करने को उत्सुक रहते थे। इस फाग में उपलब्ध सरस संस्कृत श्लोकों की छटा दर्शनीय है। दो उदाहरण यहाँ परीक्षण के लिये रखना उचित प्रतीत होता है—

अबल पारधि पन आकदि सा कदि सखिहिं धीव।
इम कि कहइ तुमरी वस जीव सवे हुई धीव॥

कामदेव रूप अहेरी ने लकुटी द्वारा नारी की कमर को क्षीण बना दिया। इस प्रकार वह कामदेव कह रहा है कि जो भी युवती के वश में होगा वह क्षीणकाय बन जायगा। इसी तात्पर्य को संस्कृत श्लोक के द्वारा स्पष्ट किया गया है—

युवमृगमृगयोरुनगयष्टेस्तरुण्या–
स्तनुदलनकलकप्रापकश्रेणिलक.।
पिशुनयति किमेव कामिनीं यो मनुष्यः
श्रयति स भवतीत्थं ततुशकाशकाय.॥

इसी प्रकार कामिनी के अंगप्रत्यंग के वर्णन द्वारा शांत रस का आस्वादन करानेवाला यह फागु इस प्रकार के साहित्य में अप्रतिम माना जायगा।

बंध की दृष्टि से जयवंत सूरि कृत 'स्थूलिभद्र-कोशा-प्रेम-विलास फाग' में अन्य फागों से कतिपय विलक्षणता पाई जाती है। इस फाग के प्रारंभ में 'फाग की ढाल' नामक छंद का प्रयोग किया गया है। इस छंद में सरस्वती की वंदना, स्थूलिभद्र और कोशा के गीत, गायन का संकल्प तथा वसंत ऋतु में तरुणी विरहिणी के संताप की चर्चा पाई जाती है। इस प्रकार मंगलाचरण में ही कथावस्तु का बीज विद्यमान है। अंतर्यमक की छटा भी देखने योग्य है। कवि कहता है[1]—

"ऋतु वसंत नवयौवनि यौवनि तरुणी वेश,
पापी विरह संतापइ तापइ पिउ परदेश।"

इस फागु का बंध निराला है। इसमें काव्य, चालि, दूहा और ढाल नामक छंदों का प्रयोग हुआ है। कई हस्तलिखित प्रतियों में चालि नामक छंद के स्थान पर फाग और काव्य के स्थान पर दूहा नाम दिया हुआ है। काव्य छंद विरहवेदना की अभिव्यक्ति के कितना उपयुक्त है उसका एक उदाहरण देखिए। वियोगिनी विरह के कारण पीली पड़ गई है। वैद्य कहता है कि इसे पांडु रोग हो गया है[2]—

देह पडुर भइ वियोगिइँ, वईद कहइ एहनइँ पिंडरोग।
तुम्ह वियोगि जे वेदन मइँ सही, सजनीया ते कुण सकइ कही॥

---

१ जसवंत सूरि—स्थूलिभद्र–कोशा प्रेमविलास फाग—कड़ी २
२ वही, कड़ी ३३

के 'नेमिनाथ फागु' पुरुषोत्तम के 'पांचपांडव फागु' गुणचंद सूरि कृत 'वसंत फागु' के अतिरिक्त हेमरत्न सूरि फागु' की छंदरचना में भी 'अरे', 'अहे' या अरे' शब्द गाने के लटके के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

इस स्थल पर कतिपय प्राचीनतर फागुओं का रचनाबंध देख लेना आवश्यक है। सं १४७८ वि में विरचित नेमीश्वरचरित फाग' में ८८ कड़ियाँ हैं जो १५ खंडों में विभक्त हैं। प्रत्येक खंड के प्रारंभ में एक या इससे अधिक संस्कृत के श्लोक हैं। तदुपरांत रास की कड़ियाँ अढ़ैयुं एवं फागु छंद आते हैं। *किसी किसी खंड में फागु का और किसी में अढ़ैयों का* अभाव है। तेरहवें खंड में केवल संस्कृत श्लोक और रास हैं। इसी प्रकार पृथक् पृथक् खंडों में भिन्न भिन्न छंदों की योजना मिलती है। इतना ही नहीं, रास' शीर्षकवाली कड़ी एक ही निश्चित देशी में नहीं अपितु विविध देशियों में दिखाई पड़ती है।

१६वीं शताब्दी के अंत में विरचित 'रंगसागर नेमि फाग' तीन खंडों में विभक्त है। प्रत्येक खंड के प्रारंभ में संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश के छंदों में रचना दिखाई पड़ती है तदुपरांत रासक, आंदोला फाग आदि छंद उपलब्ध हैं। कहीं कहीं शार्दूलविक्रीडित (छप्पय) भी प्रयुक्त है।

इसी काल में 'देवरत्नसूरि फाग भी विरचित हुआ। ६५ कड़ियों में आबद्ध इस लघुरास में संस्कृत श्लोक, रास (देशी), अढ़ैयुं और फागु पाए जाते हैं। १६वीं शताब्दी का हेमविमल सूरि फागु' तीन खंडों में विभक्त है और प्रत्येक खंड फाग आर अंदोला में आबद्ध है।

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रत्नमंडन गणि कृत 'नारीनिरास फाग' ऐसा है जिसमें प्रत्येक संस्कृत श्लोक के उपरांत प्रायः उसी भाव को अभिव्यक्त करनेवाला भाषा छंद दिया हुआ है। इस फागु की भाषा परिमार्जित एवं रसानुकूल है। इस शैली के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृतज्ञ विद्वानों के मनोरंजनार्थ भी फागु की रचना होने लगी थी। फागु शैली की यह महत्ता है कि संस्कृत के दिग्गज विद्वान् भी इसका प्रयोग करने को उत्सुक रहते थे। इस फाग में उपलब्ध सरस संस्कृत श्लोकों की छटा दर्शनीय है। दो उदाहरण यहाँ परीक्षण के लिये रखना उचित प्रतीत होता है—

अथवा पारधि कर वाकडि सा करि कंकिरि मीय।
इम कि अवइ हवती चस जीव सवे हुई पीव॥

(५) मेरी वंदन वारवार, मनमोहन मोरे जगपती हो।
(६) करइ क्रीडा हो रडाडइ गलाल।
(७) रँगीले प्राणीआ।
(८) लालचित्त हसा रे।

इस फाग का अभिनय संभवत दो रात्रियों में हुआ होगा। इसी कारण इसे दो उल्लासों में विभक्त किया गया है। इसके प्रयोग का काल इस प्रकार दिया हुआ है—

सोल छनूँ माघ मासे, सुदि अष्टमी सोमवार,
× × ×
गण लघु महावीर प्रसादि, थिर पुर कीड उच्छाहइ,
कटुक गछ सदा दीपयो, चद सूर जिहाँ जगमाहइ।

अर्थात् १६९६ की माघ सुदी अष्टमी, सोमवार को महावीरप्रसाद के प्रयास से थिरपुर नामक स्थान में इसका उत्सव हुआ।[१]

इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि बृहत्काय फागु[१] भी कुछ काल तक अभिनेयता को दृष्टि में रखकर लिखे जाते थे। कालांतर में साहित्यिक गुणों को ही सर्वस्व मानकर पाठ्य फागुओं की रचना होने लगी होगी।

हम पहले विवेचन कर चुके हैं कि अनेक फागुओं में भास तथा दूहा जैसे सरल छंदों को गेय बनाने के लिये उनमें प्रारंभ अथवा अंत में 'अहे'
'अहँ' या 'अरे' आदि शब्दों को समिलित कर
फागु में प्रयुक्त छद लिया जाता था। ज्यों ज्यों फागु लोकप्रिय होने
के कारण शिष्ट समाज तक पहुँचता गया त्यों त्यों
इसकी शैली उत्तरोत्तर परिष्कृत होती गई। शिष्ट समाज के संस्कृत प्रेमियों में देवभाषा के प्रति ममत्व देखकर विदग्ध कवियों ने फागु में संस्कृत श्लोकों को अधिक से अधिक स्थान देने का प्रयास किया। इसके कई परिणाम निकले—
(१) संस्कृत के कारण फागुओं की भाषा सार्वदेशिक प्रतीत होने लगी—
(२) शिष्ट समुदाय ने इस लोकसाहित्य को समादृत किया, (३) विदग्ध

---

१ श्री सांडेसरा का मत है कि "यह फागु नाम मात्र को ही फागु है" क्योंकि इसकी रचनापद्धति फागुओं से भिन्न प्रतीत होती है। इस काव्य को यदि 'फागु' के स्थान पर 'रास' संज्ञा दी जाय तो अधिक उपयुक्त हो।

एक स्थान पर विरहिणी पश्चात्ताप कर रही है कि यदि मैं पक्षी होती तो भ्रमण करती हुई प्रियतम के पास जा पहुँचती, चंदन होती तो उनके शरीर पर लिपट जाती, पुष्प होती तो उनके शरीर का आलिंगन करती पान होती तो उनके मुख को रंजित कर सुशोभित करती पर हाय विधाता ! तूने मुझे नारी बनाकर मेरा जीवन दुःखमय कर दिया[1]—

(फागि)

हुं सिं न सरजी पंखिणी (पंखिणी) जे भमती प्रीउ पासि
हउँ न सि सरजी चंदन करती पिउ तन वास।
हुं सिं न सरजी फूलडाँ लेती आलिंगन जाय
मुखि सुरंग न सोभतीं, हुं सिहं न सरजी पान।

सत्रहवीं शताब्दी में फागु की दो धारायें हो जाती हैं। एक धारा अभिनय को दृष्टि में रखकर पूर्वपरिचित पथ पर प्रवाहित होती रही, किंतु दूसरी धारा विस्तृत और बृहदाकार होकर फैल गई। जहाँ लघु फागों में ५—६ कड़ियाँ होती थीं वहाँ १ से अधिक कड़ियोंवाले बृहद् फाग

१७वीं शती के फाग

विरचित होने लगे। ऐसे फागों में कल्याणकृत 'वासुपूज्य मनोरम फाग' कई विशेषताओं के कारण उल्लेखनीय है। यह फाग रास काव्यप्रकार के सदृश ढालों में आबद्ध है। ढालों की संख्या २१ है। प्रत्येक ढाल के राग और ताल भी उल्लिखित हैं। २१ ढालों को दो उल्लासों में विभक्त किया गया है। गेय बनाने के उद्देश्य से प्रायः सभी ढालों में ध्रुवक का विवरण मिलता है। ध्रुवक के अनेक प्रकार यहाँ दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिये देखिए—

(१) पुच्छा करयी समाचार सुख विलसि संसारि रे।[2]
(२) रे माली रलिमोवन वारि, मारे रूपण प विरवार॥[3]
(३) सँभलि भविक जन।
(४) मेरउ साजनमवी रे साजनमवी

---

१ वही कडी ११-१२
२ कल्याणकृत वासुपूज्य मनोरम फाग ढाल ६
३ वही ढाल ७

(५) मेरी वंदन वारबार, मनमोहन मोरे जगपती हो ।
(६) करइ क्रीडा हो डहाडह् गलाल ।
(७) रँगीले प्राणीश्रा ।
(८) लालचित्त हसा रे ।

इस फाग का अभिनय सभवत दो रात्रियों में हुआ होगा । इसी कारण इसे दो उल्लासों में विभक्त किया गया है । इसके प्रयोग का काल इस प्रकार दिया हुआ है—

सोल छनूँ माघ मासे, सूदि अष्टमी सोमवार,
× × ×
गण लघु महावीर प्रसादि, थिर पुर कीड उच्छाइइ,
कटुक गछ सदा दीपयो, चद सूर जिहाँ जगमाहइ ।

अर्थात् १६६६ की माघ सुदी अष्टमी, सोमवार को महावीरप्रसाद के प्रयास से थिरपुर नामक स्थान में इसका उत्सव हुआ ।

इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि बृहत्काय फागु[1] भी कुछ काल तक अभिनेयता को दृष्टि में रखकर लिखे जाते थे। कालातर में साहित्यिक गुणों को ही सर्वस्व मानकर पाठ्य फागुओं की रचना होने लगी होगी ।

फागु में प्रयुक्त छंद

हम पहले विवेचन कर चुके हैं कि अनेक फागुओं में भास तथा दूहा जैसे सरल छदों को गेय बनाने के लिये उनमें प्रारभ अथवा अत में 'अहे' 'अहँ' या 'अरे' आदि शब्दों को समिलित कर लिया जाता था । ज्यों ज्यों फागु लोकप्रिय होने के कारण शिष्ट समाज तक पहुँचता गया त्यों त्यों इसकी शैली उत्तरोत्तर परिष्कृत होती गई । शिष्ट समाज के सस्कृत प्रेमियों में देवभाषा के प्रति ममत्व देखकर विदग्ध कवियों ने फागु में सस्कृत श्लोकों को अधिक से अधिक स्थान देने का प्रयास किया । इसके कई परिणाम निकले— (१) सस्कृत के कारण फागुओं की भाषा सार्वदेशिक प्रतीत होने लगी— (२) शिष्ट समुदाय ने इस लोकसाहित्य को समादृत किया, (३) विदग्ध

१ श्री सटेसरा का मत है कि "यह फागु नाम मात्र को ही फागु है" क्योंकि इसकी रचनापद्धति फागुओं से भिन्न प्रतीत होती है। इस काव्य को यदि 'फागु' के स्थान पर 'रास' सज्ञा दी जाय तो अधिक उपयुक्त हो ।

सावकों के समाराधन से इस काव्यप्रकार में नवीन छंदों, गीतों एवं अभिनय के नवीन प्रयोगों को विकास का अवसर मिला।

अभिनेय होने के कारण एक ओर गीतों में सरसता और संगीतमयता लाने का प्रयास होता रहा और इस उद्देश्य से नवीन गेय छंदों की योजना होती रही, दूसरी ओर साहित्यिकता का प्रभाव बढ़ने से लघुकाय गेय फागुओं के स्थान पर पाठ्य एवं दीर्घकाय फागुओं की रचना होने लगी। ये दोनों धाराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित होती गई। पहली अभिनयप्रधान होने से लोकप्रिय होती गई और दूसरी शिष्ट समुदाय में पाठ्य होने से साहित्यिक गुणों से अलंकृत होती रही।

विविध फागों में प्रयुक्त छंदरचना का परीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि फागु छंदों की तीन पद्धतियाँ हैं—(१) गीत और अभिनय के अनुकूल छंद (२) संस्कृत श्लोकों के साथ गेय पदों के अनुरूप मिश्र छंदयोजना, (३) अपेक्षाकृत बृहद् एवं पाठ्य फागों में गेयता एवं अभिनेयता की सर्वथा उपेक्षा करते हुए साहित्यिकता की ओर उन्मुख छंदयोजना।

मिश्र छंदरचना

मिश्र छंदयोजनावाले फागों में धनदेव गणि कृत 'सुरंगाभिध नेमि फाग' (सं १५. २ वि) प्रसिद्ध रचना है। इसी शैली में आगम माणिक्य कृत 'जिनहंस गुरु नवरंग फाग' अज्ञात कवि कृत 'राणपुर मंडन चतुर्मुख आदिनाथ फाग' तथा कमलशेखर कृत 'पमर्मूर्ति गुरु फाग' आदि विरचित हुए हैं। मिश्र छंदयोजना में संस्कृत श्लोक, रासक आंदोला फाग आदि के अतिरिक्त शार्दूलविक्रीडित नामक वर्णवृत्त अधिक प्रचलित माना गया।

छंदवैविध्य फागु काव्यों की विशेषता है। संस्कृत के श्लोक भी विविध वृत्तों में उपलब्ध होते हैं। 'रास' शीर्षकवाली कड़ियाँ भी एक ही निश्चित देशी में नहीं अपितु विविध 'देशियों' में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सारी छंदयोजना के मूल में संगीतात्मकता एवं अभिनेयता की प्रेरणा रही है। प्रसंगानुकूल राग एवं संगीत के संनिवेश के लिये तदनुरूप छंदों का उपयोग करना आवश्यक समझा गया।

जब काव्य की फागु शैली अभिनेयता के कारण जनप्रिय बनने लगी तो इसके अवांतर भेद भी दिखाई पड़ने लगे। फागु का एक विकसित रूप 'गीता' नाम से प्रचलित हुआ। इस नाम से उपलब्ध फागु की 'गीता' शैली प्राचीनतम काव्य भ्रमरगीता[1] उपलब्ध हुआ है जिसकी कथावस्तु श्रीमद्भागवत के उद्धवसंदेश के आधार पर निर्मित है। कवि चतुर्भुज कृत इस रचना का समय सं० १५७६ वि० माना जाता है। इस शैली पर विरचित द्वितीय रचना 'नेमिनाथ भ्रमरगीता' है जिसमें जैन समुदाय में चिरप्रचलित नेमिकुमार की जीवनगाथा वर्णित है। तीसरी प्रसिद्ध कृति उपाध्याय यशोविजय कृत 'जंबूस्वामी ब्रह्मगीता' है। जंबूस्वामी के इतिवृत्त के आधार पर इस फागु की रचना हुई है। इस रचना के काव्यबंध में झूलना छंद का उत्तरार्ध 'फाग' अथवा 'फाग की देशी' और तदुपरांत दूहा रखकर रचना की जाती है।

'गीता' शीर्षक से फागुओं की एक ऐसी पद्धति भी दिखाई पड़ती है जिसमें कोई इतिवृत्त नहीं होता। इस कोटि में परिगणित होनेवाली प्रमुख रचनाएँ हैं—(१) वृद्धविजय कृत 'ज्ञानगीता' तथा (२) उदयविजय कृत 'पार्श्वनाथ राजगीता।''

इन रचनाओं का छंदबंध फागु शैली का है, पर इनमें इतिवृत्त के स्थान पर 'दश वैकालिक सूत्र' के आधार पर पार्श्वनाथ का स्तवन किया गया है जिससे प्राणी मोह की प्रबल शक्ति से मुक्ति प्राप्त कर सके। 'ज्ञानगीता' और 'पार्श्वनाथ राजगीता' एक ही प्रकार के फागुकाव्य हैं जिनमें कोई इतिवृत्त कथावस्तु के रूप में ग्रहण नहीं किया जाता।

इस प्रकार विवेचन के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'गीता' शीर्षक से 'फागु' की दो नई पद्धतियाँ विकसित हुईं। इन दोनों की छंदबंध पद्धति में साम्य है किंतु इतिवृत्त की दृष्टि से इनकी पद्धतियों में भेद पाया जाता है। एक का उद्देश्य कथा की सरसता के माध्यम से जीवन का उदात्तीकरण है किंतु द्वितीय पद्धति का लक्ष्य है एकमात्र संगीत का आश्रय लेकर उपदेशकथन।

---

१ भ्रमरगीता की पुष्पिका में इस प्रकार का उद्धरण मिलता है—'श्रीकृष्ण-गोपी-विरह मेलापक फाग'। इससे सिद्ध होता है कि इस रचना के समय कवि की दृष्टि 'फागु' नामक काव्यप्रकार की ओर रही होगी।

हम यहाँ पर चतुर्भुजकृत 'भ्रमरगीता' का संक्षिप्त परिचय देकर इस पद्धति का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझते हैं। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है—जब श्रीकृष्ण और बलदेव गोकुल त्यागकर अक्रूर के साथ मथुरा चले गए तो नंद यशोदा तथा गोपांगनाएँ विरहाकुल होकर रोदन करने लगीं। श्रीकृष्ण ने उद्धव को संदेश देकर गोकुल भेजा। उद्धव के दर्शन से गोपांगनाओं को प्रथम तो बड़ा आश्वासन मिला किंतु उनका प्रवचन सुनकर वे व्याकुल हो गईं और उन्होंने अपनी विरहव्यथा की मार्मिक कथा सुनाकर उद्धव को अत्यंत प्रभावित कर दिया। इस उच्च कोटि की रचना में करुण रस का प्रवाह उमड़ा पड़ता है। नंद यशोदा के रुदन का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन सशक्त भाषा में किया गया है।

भ्रमरगीता की शैली पर विनयविजय कृत 'नेमिनाथ भ्रमरगीता' भी विरचित हुई। जिस प्रकार चतुर्भुज ने 'भ्रमरगीता' में कृष्णविरह में गोपी गीत की कथा सुनाई है, उसी प्रकार विनयविजय ने नेमिनाथ भ्रमरगीता में नेमिनाथ के वियोग में संतप्त राजुलि की व्यथा का वर्णन है। कवि ने नवयुवती राजुलि के शारीरिक सौंदर्य एवं विरहव्यथा का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। राजुलि का रूपमधुरिमा का चित्र देखिए—

(फाग)

ससिवयणी मृगनयणी, नवयणि सजि सिणगार
नवयौवन जोबनवन, भजि अपछर अवतार।

(फाग)

अंजन अंजित लोयणी भमर भमाडा भंग
हसित ललित लीला गति मयभरी अंग अनंग।
रणझणित कंचुक कस कंचित कुच सोह सार
पुफावलि मुगतावलि हेमावलि पहिरि हार।

ऐसी सुंदरी नवयौवना राजुलि नेमिनाथ के वियोग में तड़पती हुई रोदन कर रही है—

सोहिला दिन गया सुख पाखइ, ए ते जोइसि दैव दाखइ,
माल हूँ तुम्ह पार पामी अवल नेहालि मिल्यड स्वामी।
रमणी न भावी नींदड़ी, बइस न भावइ चाल,
सुणी सखि ए वेदडी केमि हुं काढुं काल।

इसी प्रकार नाना भाँति विलाप करती हुई राजुलि अपने आभूषणों को तोड़ फोड़कर फेंक देती है। चण चण प्रियतम नेमिनाथ की बाट जोहती हुई विलाप करती है—

कंत विना स्यां मन्दिर, कत विना सी सेज,
कंत विना स्या भोजन, कत विना स्या हेज।
× × ×
नींद न आवि विरहणा, देपुं सुंहणे नाह,
वापीयडो पीउ पीउ करि, दूणु दि वली दाह।

राजुलि इसी प्रकार विलाप कर रही थी कि उसकी सत्यनिष्ठा से प्रसन्न होकर नेमिनाथ जी उसके समुख विराजमान हो गए।

कवि कहता है—

(छद)

नेमि जी राजुलि प्रीति पाली, विरहनी वेदना सर्व टाली,
सुष घणा मुगति वेगि दीधा, नेमि थी विनय'ना काज सीधा।

इस प्रकार इस फागु में विप्रलभ एव सभोग शृगार की छटा कितनी मनोहारी प्रतीत होती है। यहाँ कवि ने 'नेमि भ्रमरगीता' नाम देकर भ्रमर-गीता की विरह-वर्णन-प्रणाली का पूर्णतया निर्वाह किया है। इसमें प्रयुक्त छद है—दूहा, फाग, छद। इन्हीं छदों के माध्यम से राजुलि (राजमती) की यौवनस्थिति, विरहस्थिति एव मिलन स्थिति का मनोरम वर्णन मिलता है। इस काव्य से यह स्पष्ट झलकता है कि कवि कृष्ण गोपी की विरहानुभूति का श्रीमद्भागवत के आधार पर अनुशीलन कर चुका था और यह फागु लिखते समय गोपी-गीत-शैली उसके ध्यान में विद्यमान थी। अत उसने जैन कथानक को भी ग्रहण करके अपने काव्य को 'नेमिनाथ भ्रमरगीता' नाम से अभिहित करना उपयुक्त समझा।

फागु साहित्य में समाज की रसवृत्ति

फागु साहित्य में मध्यकालीन समाज की रसवृत्ति के यथार्थ दर्शन होते हैं। वसतविलास में युवक नायक और युवती नायिका परस्पर आश्रय आलबन हैं। ऋतुराज वसत से स्थायी रतिभाव उद्दीप्त हो उठता है। इसका बड़ा ही मादक वर्णन मिलता है। तत्कालीन समाज की रसवृत्ति का यह परिचायक है। जिस भोगसामग्री का वर्णन इसमें पाया जाता है उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि तत्कालीन रसिक जन

हम यहाँ पर चतुर्भुजकृत 'भ्रमरगीता' का संक्षिप्त परिचय देकर इस पद्धति का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझते हैं। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है—जब श्रीकृष्ण और बलदेव गोकुल त्यागकर अक्रूर के साथ मथुरा चले गए तो नंद, यशोदा तथा गोपांगनाएँ विरहाकुल होकर रोदन करने लगीं। श्रीकृष्ण ने उद्धव का संदेश देकर गोकुल भेजा। उद्धव के दर्शन से गोपांगनाओं को प्रथम तो बड़ा आश्वासन मिला किन्तु उनका प्रवचन सुनकर वे व्याकुल हो गई और उन्होंने अपनी विरहव्यथा की मार्मिक कथा सुनाकर उद्धव को अत्यंत प्रभावित कर दिया। इस उच्च कोटि की रचना में करुण रस का प्रवाह उमड़ा पड़ता है। नंद यशोदा के रुदन का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन सशक्त भाषा में किया गया है।

भ्रमरगीता की शैली पर विनयविजय कृत नेमिनाथ भ्रमरगीता' भी विरचित हुई। जिस प्रकार चतुर्भुज ने भ्रमरगीता' में कृष्णविरह में गोपी गीत की कथा सुनाई है उसी प्रकार विनयविजय ने नेमिनाथ भ्रमरगीता में नेमिनाथ के वियोग में संतप्त राजुलि की व्यथा का वर्णन है। कवि ने नवयुवती राजुलि के शारीरिक सौंदर्य एवं विरहव्यथा का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। राजुलि की रूपमधुरिमा का चित्र देखिए—

(फाग)

ससिवयणी मृगनयणी, गयगति सखि सिणगार
नवयौवन सोभावन, मखि अपछर अवतार।

(फाग)

अंजन अंजित अंखड़ी, अधर प्रवाला रंग,
हसित ललित लीला गति मदभरी अंग अनंग।
रत्नखचित कंचुक कस कंचित कुच दोइ सार
एकावलि मुक्तावलि रत्नावलि गलि हार।

ऐसी सुंदरी नवयौवना राजुलि नेमिनाथ के वियोग में तड़पती हुई रोदन कर रही है—

दोहिला दिन पखा तुम्ह पाखइ एते ते योवनि देव दाखइ
अब हूँ तुम्ह पाय पामी नवल नेमाजवि त्रिभुवन स्वामी।
रयणी न आवी नींदड़ी, उदक न भावइ अन्न
मुझ भमि न देहड़ी नेमि हुं लाउं मन।

जिम कमल मांहि भमर रमइ, गंध केतकी छांडे किमइ;
जे नर स्त्रीआलुवधा हुसे, तेहना मन इणि अये बसे।
जिहां लगे रविशशी गगने तपे, जिहा लगे मेरु महिमध्य जपे;
तिहां लगे कथा रहिस्ये पुराण, कवि नरबुद कहे कथा बखाण।

फागु का कवि प्रेक्षकों एव पाठको को साहित्यिक रस में निमग्न करने को लालायित रहता है। वस्तु योजना में कल्पना से काम लेते हुए घटना-क्रम के उन महत्वमय क्षणों के अन्वेषण में वह सदा सलग्न रहता है जो पाठकों और प्रेक्षकों को रसानुभूति कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। फागु-कवि मनोविज्ञान की सहायता से ऐसे उपयुक्त अवसरों का अनुसधान किया करता है।

भाषा के प्रति वह सदा जागरूक रहता है। भाषा को अलकारमयी, प्रसादगुण सपन्न एव सरस बनाने के लिये वह विविध काव्यकलाओं का प्रयोग करता है। 'वसतविलास' फागु का कवि तो भाषा को रमणीय बनाने का सकल्प करके कहता है—

पहिलउँ सरसति अरचिस रचिसु वसंतविलास।
फागु पयडपयबंधिहिं, सधि यमक भल भास।

फागु काव्यों की भाषा सस्कृत एव प्राकृत मिश्रित भाषा है वसतविलास में तो सस्कृत के श्लोकों का अर्थ लेकर हिंदी में रचना हुई अतः भाषा की दृष्टि से भी ये काव्य मिश्र-भाषा-समन्वित हैं।

इन फागुओं में यत्र तत्र तत्कालीन जन प्रवृत्ति एव घर घर रास के अभिनय का विवरण मिलता है। संभवतः रास और फाग क्रीड़ा के लिये मध्यकाल में पाटण नगर सबसे अधिक प्रसिद्ध था। एक स्थान पर 'विरह देसाउरी फाग' में उल्लेख मिलता है—

"धनि धिन पाटण नगर रे, धिन धिन फागुण मास,
हैयड रस गोरी घणा, घरि घरि रमीइ रास।"

अर्थात् पाटण नगर और फागुन मास धन्य है। जहाँ घर घर गौर वर्ण वाली स्त्रियाँ हृदय में प्रेमरस भरकर रास रचाती हैं।

इस प्रकार के अनेक उद्धरण फागु साहित्य में विद्यमान हैं जो तत्कालीन

अपना जीवन कितने वैभव और ठाटबाट से व्यतीत करते होंगे। पलाश के पुष्पों को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि ये फूल मानो कामदेव के अंकुश हैं जिनसे वह विरहिणियों के कलेजे काढ़ता है—

"केसू कली अति वाँकुडी, आँकुडी मयण की जाणि।
विरहिणिना इणि कालिज, कालिज काढइ ताणि ॥"

कई प्रेमकथाओं में तो मंगलाचरण भी मकरध्वज रतिपति कामदेव की स्तुति से किया गया है और उसके बाद सरस्वती तथा गुरु की प्रार्थना कवि ने की है।

कुँवर कमला रतिरमण मयण महाभड नाम।
पंचबाण पुष्प धनुष, प्रथमजी करउ प्रणाम ॥

बिल्हणपंचाशिका का मंगलाचरण इससे भी बढ़कर रसात्मक है। यहाँ भी कवि सरस्वती से कामदेव को अधिक महत्व देकर प्रथम प्रणाम करता है—

मकरध्वज महीपति वर्णवुं, जेहनुं रूप अनमि अभिनवुं
कुसुमबाण करि कुं धरि चढ़इ, जास प्रताप्रि जरा थरहरइ।
कोदंड कामिनी तणुं टंकार आपणि अति मंमर झंकारि,
पालखि कोइलि कलरव करई, निर्मल छत्र श्वेत सिर धरई।
त्रिभुवन मांहि पतावो ताप: 'कई को सुरनर मांडइ वाद ?'
अबला सैनि सबल परवरिउ दीसइ मयमय मच्छरि भरिउ,
माधव मास सोहई सामंत जास बसइ वनभिधि-सुवसिंत।
सूरपतुं सकवाभित धरइ सुरनर पन्नग पाय आचरई।
तातवणा पय हूं अवसरी सरसति सामिणी हइयइ धरी,
पहिलुं कंदर्प करी प्रणाम, गाइव मंथ रचिसि अभिराम।

इस प्रकार जो कविगण मंगलाचरण में ही प्रेम के अधिष्ठाता कामदेव का आह्वान करते हैं और ग्रंथरचना में सहायता की सूचना करते हैं, उनकी रचनाएँ रस से क्यों न परिप्लुत होंगी। नर्बुदाचार्य नामक एक जैन कवि ने संवत् १६५६ में वरहानपुर में कोकशास्त्र चतुष्पदी लिखी है। फागु रचना में कोकशास्त्र के ज्ञान को आवश्यक समझकर वे कहते हैं—

जिम कमल मांहि भमर रमइ, गध केतकी छांडे किमइ ;
जे नर स्त्रीआलुवधा हसै, तेहना मन इणि ग्रंथे बसै ।
जिहा लगे रविशशी गगने तपै, जिहां लगे मेरु महिमध्य जपे;
तिहा लगे कथा रहिस्यै पुराण, कवि नरबुद कहे कथा वखाण ।

फागु का कवि प्रेक्षकों एव पाठको को साहित्यिक रस में निमग्न करने को लालायित रहता है। वस्तु योजना में कल्पना से काम लेते हुए घटना-क्रम के उन महत्वमय क्षणों के अन्वेषण में वह सदा सलग्न रहता है जो पाठकों और प्रेक्षकों को रसानुभूति कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। फागु-कवि मनोविज्ञान की सहायता से ऐसे उपयुक्त अवसरों का अनुसधान किया करता है।

भाषा के प्रति वह सदा जागरूक रहता है। भाषा को अलकारमयी, प्रसादगुण सपन्न एव सरस बनाने के लिये वह विविध काव्यकलाओं का प्रयोग करता है। 'वसतविलास' फागु का कवि तो भाषा को रमणीय बनाने का सकल्प करके कहता है—

पहिलउँ सरसति अरचिस रचिसु वसंतविलास ।
फागु पयडपयबंधिहिं, सधि यमक भल भास ।

फागु काव्यों की भाषा संस्कृत एव प्राकृत मिश्रित भाषा है वसतविलास में तो सस्कृत के श्लोकों का अर्थ लेकर हिंदी में रचना हुई अतः भाषा की दृष्टि से भी ये काव्य मिश्र-भाषा-समन्वित हैं।

इन फागुओं में यत्र तत्र तत्कालीन जन प्रवृत्ति एवं घर घर रास के अभिनय का विवरण मिलता है। सभवतः रास और फाग क्रीडा के लिये मध्यकाल में पाटण नगर सबसे अधिक प्रसिद्ध था। एक स्थान पर 'विरह देसाउरी फाग' में उल्लेख मिलता है—

"धनि धिन पाटण नगर रे, धिन धिन फागुण मास,
हैयड रस गोरी घणा, घरि घरि रमीइ रास।"

अर्थात् पाटण नगर और फागुन मास धन्य है। जहाँ घर घर गौर वर्ण वाली स्त्रियाँ हृदय में प्रेमरस भरकर रास रचाती हैं।

इस प्रकार के अनेक उद्धरण फागु साहित्य में विद्यमान हैं जो तत्कालीन

६

जनरुचि एवं रास-फागु के अभिनय की प्रवृत्ति को प्रगट करते हैं। फाल्गुन एवं चैत्र के रमणीय काल में प्रेमरस से छलकता हृदय प्रेमगाथाओं के अभिनय के लिये लालायित हो उठता था। कविगण नवीन एवं प्राचीन कथानकों के आधार पर जन-मन रंजक एवं कल्याणप्रद रास एवं फागों का सृजन करते, धनीमानी व्यक्ति उनके अभिनय की व्यवस्था करते, साधु महात्मा उसमें भाग लेते और सामान्य जनता प्रेक्षक के रूप में रसमग्न होकर वाह वाह कर उठती। कालिदास के युग की वसंतोत्सव पद्धति इस प्रकार संस्कृत एवं हिंदी भाषा के सहयोग से फाग और रास के रूप में कलेवर बदलती रही।

अब हम यहाँ शिष्ट साहित्य में परिगणित होनेवाले प्रमुख फागुओं का संक्षिप्त परिचय देंगे—

(१) सिरिथूलिभद्द फागु—फागु काव्यप्रकार की यह प्राचीनतम कृति है। इसके रचयिता हैं जैनाचार्य जिनपद्म सूरि। संवत् ११६ में आचार्य हुए। संवत् १४ में निर्वाण। यह चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण की रचना प्रतीत होती है। स्थूलिभद्र मगध के राजा नंद के मंत्री शकटार का पुत्र था। पाटलीपुत्र में कोश्या नामक एक विख्यात गणिका रहती थी। स्थूलिभद्र उसके प्रेम में पड़ गए और बारह साल तक वहीं रहे। पितृमृत्यु के बाद वे अपने घर आए। पितृवियोग के कारण विराग की उत्पत्ति हुई। गुरुदीक्षा लेकर चातुर्मास बिताने के लिये और अपने संयम की कसौटी करने के लिए उसी वेश्या के यहाँ चातुर्मास रहे। वह बड़ी प्रसन्न हुई, परंतु स्थूलिभद्र अविचल रहे। अंत में कोश्या को भी ज्ञान हुआ और वह तर गई। कवि ने इसमें वर्षाऋतु का वर्णन किया है, वसंत का नहीं। परंतु विषय शृंगारिक होने से यह फागु काव्य है। अंतिम पंक्तियों से भी यह स्पष्ट हो जाता है—

> खरतरगच्छि जिणपदमसूरि किय फागु रमेवउ।
> खेला नाचई चैत्रमासि रंगिहिं गावेवउ।—२७

काव्यशास्त्र की दृष्टि से इस फागु में कुछ आलंकारिक कविता के उदाहरण मिलते हैं। २७ कड़ियों के इस काव्य के सात विभाग किए गए हैं। प्रत्येक विभाग में एक दूहा और उसके बाद रोला छंद की चार चरणों वाली एक कड़ी आती है जो गेय है। शब्दमाधुर्य उत्पन्न करने में कवि सफल हुआ है। गुरु की आज्ञा से स्थूलिभद्र कोश्या के यहाँ भिक्षा के लिये आते

है। कवि उस समय कोश्या के मुख से वर्षा का वर्णन कराता है—जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

लौटकर आए हुए स्थूलिभद्र को रिझाने के लिये कोश्या का शृंगारवर्णन भी कवि उद्दीपन के रूप में ही सामने रखता है। शृंगार की ऐसी उद्दीपक सामग्री स्थूलिभद्र के सयम और तप के गौरव को बढाने के लिये ही आई है। कोश्या के हावभाव सफल नहीं होते क्योंकि स्थूलिभद्र ने सयम धारण कर लिया है। अब उन्होंने मोहराय का हनन किया है और अपने ज्ञान की तलवार से सुभट मदन को समरागण में पछाड़ा है—

आई वलवतु सुमोहराऊ, जिणि नाणि निधाडिऊ।
आण खडगिण मयण-सुभढ समरगणि पाडिऊ॥

श्री नेमिनाथ फागु—इसके रचयिता राजशेखर सूरि हैं। रचनाकाल स० १४०५ है। इसमें नेमिराजुल के विवाह का वर्णन है। जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में नेमिनाथ बाईसवें है। ये यदुवशी और कृष्ण के चचेरे भ्राता थे। पाणिग्रहण राजुल के साथ सपन्न होना था। वरयात्रा के समय नेमिनाथ की दृष्टि वध्य भेड़ों और बकरियों पर पड़ी। विदित हुआ कि बारात के स्वागतार्थ पशुवध का आयोजन है। नेमिनाथ को इस पशुहिंसा से निर्वेद हुआ। उनके पूर्वसस्कार जाग्रत हुए और वे वन में भाग निकले। जब राजुल को यह समाचार ज्ञात हुआ तो उसने भी तप प्रारभ किया। इस फागु में भी वसतविहार का वर्णन है। कवि ने नेमि-गुण-कथन करने की प्रतिज्ञा की है। सत्ताइस कड़ियों के इस काव्य के भी सात खड हैं। प्रत्येक खड की प्रथम कड़ी दूहे में और दूसरी रोला में है। शैली प्राचीन आलकारिक है। वरयात्रा, वर और वधू का वर्णन प्रसादगुणयुक्त कविता का सुदर उदाहरण है—

मोहणवल्लि नवल्लिय, सोहइ सा जगि बाल,
रूपि कलागुणि पूरिय, दूरिय दूषण जाल।
विहु दिसि मडप बांधिय, साधिय धयवडमाल,
द्वारवती घण उच्छव, सुंदर बदुरवाल।
अह वरि जादरु पहिरिउ, सुभरिउ केतक पुपु,
मस्तकि मुकुटु रोपिउ, ओपिउ निरुपम रूपु।
श्रवणिहि ससिरविमडल कु डल, कंठिहिं हारु,
भुजयुगि रंगद अगद, अंगुलि मुद्दियभारु।

प्रवृत्ति एवं रास-फागु के अभिनय की प्रवृत्ति को प्रगट करते हैं। फाल्गुन एवं चैत्र के रमणीय काल में प्रेमरस से छलकता हृदय प्रेमगाथाओं के अभिनय के लिये लालायित हो उठता था। कविगण नवीन एवं प्राचीन कथानकों के आधार पर जन-मन रंजक एवं कल्याणप्रद रास एवं फागों का सृजन करते, धर्माभिमानी व्यक्ति उनके अभिनय की व्यवस्था करते, साधु महात्मा उसमें भाग लेते और सामान्य जनता प्रेक्षक के रूप में रसमग्न होकर वाह वाह कर उठती। कालिदास के युग की वसंतोत्सव पद्धति इस प्रकार संस्कृत एवं हिंदी भाषा के प्रयोग से फाग और रास के रूप में कलेवर बदलती रही।

अब हम यहाँ सिद्ध साहित्य में परिगणित होनेवाले प्रमुख फागुओं का संक्षिप्त परिचय देंगे—

(१) सिरिथूलिभद्र फागु—फागु काव्यप्रकार की यह प्राचीनतम कृति है। इसके रचयिता हैं जैनाचार्य जिनपद्म सूरि। संवत् १३९० में आचार्य हुए। संवत् १४ में निर्वाण। यह चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण की रचना प्रतीत होती है। स्थूलिभद्र मगध के राजा नंद के मंत्री शकटार का पुत्र था। पाटलीपुत्र में कोश्या नामक एक विख्यात गणिका रहती थी। स्थूलिभद्र उसके प्रेम में पड़ गए और बारह साल तक वहीं रहे। पितृमृत्यु के बाद वे अपने घर आए। पितृवियोग के कारण विराग की उत्पत्ति हुई। गुरुदीक्षा लेकर चातुर्मास बिताने के लिये और अपने संयम की कसौटी करने के लिये उसी वेश्या के यहाँ चातुर्मास रहे। वह बड़ी प्रसन्न हुई, परंतु स्थूलिभद्र अविग रहे। अंत में कोश्या का भी ज्ञान हुआ और वह तर गई। कवि ने इसमें वर्षाऋतु का वर्णन किया है वसंत का नहीं। परंतु विषय शृंगारिक होने से यह फागु काव्य है। अंतिम पंक्तियों से भी यह स्पष्ट हो जाता है—

> खरतरगच्छि जिणपदमसूरि किय फागु रमेवउ।
> खेला नाचई चैत्रमासि रंगिहि गावेवउ।—२७

काव्यशास्त्र की दृष्टि से इस फागु में कुछ आलंकारिक कविता के उदाहरण मिलते हैं। २७ कड़ियों के इस काव्य के सात विभाग किए गए हैं। प्रत्येक विभाग में एक दूहा और उसके बाद रोला छंद की चार चरणों वाली एक कड़ी आती है जो गेय है। वस्तुमापुष्ट वर्णन करने में कवि सफल हुआ है। गुरु की आज्ञा से स्थूलिभद्र कोश्या के यहाँ भिक्षा के लिए आते

इस काव्य की एक एक पंक्ति रस से सराबोर है। काव्यरस मानो छलकता हुआ फूट पड़ने को उमड़ता दिखाई पड़ता है। इसका एक एक श्लोक मुक्तक की भाँति स्वयं पूर्ण है। अतर्यमक की शोभा अद्वितीय है। इसकी परिसमाप्ति वैराग्य में नहीं होती, इसीलिये यह जैनेतर कृति मानी जाती है। इस फागु में जीवन को उल्लास और विलास से ओतप्रोत देखा गया है। काव्य का मंगलाचरण सरस्वतीवंदना से हुआ है। तत्पश्चात् चार श्लोकों में वसंत का मादक चित्र चित्रित किया गया है। इसी मादक वातावरण में प्रियतमा के मिलन हेतु अधीर नायक का चित्र अंकित है। छः से लेकर पंद्रह दोहों में नवयुगल की वनकेलि का सामान्य वर्णन है। १६ से ३५ तक के दूहों में वनवर्णन है, जिसकी तुलना नगर से की गई है। यहाँ मदन और वसंत का शासन है। उनके शासन से विरहिणी कामिनियाँ अत्यंत पीड़ित हैं। एक विरहिणी की वेदना का हृदयविदारक वर्णन है किंतु उपसंहार होते होते प्रिय के शुभागमन की सुंदर छटा छिटकती है। अंतिम दोहे में अधीर पथिक घर पहुँच जाता है। ५१ से ७१ तक प्रिय-मिलन और वनकेलि का सुंदर वर्णन है। अब विरहिणी प्रियतम के साथ मिलनसुख में एकाकार हो जाती है। विविध प्रेमी प्रेमिकाओं के मिलन का पृथक् पृथक् सुखस्वाद है। किसी की प्रियतमा कोमल और अल्पवयस्का है तो कोई प्रियतम 'प्रथम प्रेयसी' की स्मृति के कारण नवीना के साथ अभिन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अनेक प्रकार के प्रेममाधुर्य से काव्य रसमय बन जाता है। प्रेम के विविध प्रसंगों को कवि ने अन्योक्तियों द्वारा इंगित किया है। इस फागु का जनता में बहुत प्रचार है। इस फागु में वसंतागमन विरहवेदना, वनविहार संयोग का सुंदर, संक्षिप्त, सुश्लिष्ट, तर्कसंगत एवं प्रभावोत्पादक वर्णन है। इसमें एक नहीं, अनेक युगल जोड़ियों की मिलनकथा अलग अलग रूप में मिलती है। अर्थात् इस फागु में अनेक नायक और अनेक नायिकाएँ हैं।

नेमिनाथ फागु—इसके रचयिता जयशेखर सूरि हैं। रचनाकाल १४६० के लगभग है। इसमें ११४ दोहे हैं। वसंत के मादक वातावरण का प्रभाव नेमिकुमार पर कुछ नहीं पड़ता। परंतु विरहिणी इसी वातावरण में अस्वस्थ है। यह बहुत ही रसपूर्ण कृति है। नेमिनाथ की वरयात्रा का भी सुंदर वर्णन है।

रंगसागर नेमि फागु—रचयिता सोमसुंदर सूरि हैं। रचनाकाल

सहजिहि रूपि न दूषणु भूषण भासुर अंगु,
चंद्रु कि गोविंदु इंदु कि चंदु कि मदन अनंगु।

राजमती के विवाहकाल के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

घरे कोइलि सादु सोहामणउ, मोरि मधुर बासंति,
घरे भमरा रणझण्य करइ, किरि किन्नरि गायंति।
घरे हरि हरिसिउ मनि आपणइ बासुकली बार्जति,
घरे सिंगा सबर्हाइ गोपिय लोय सहस नाचंति।
घरे कम्मइ भवइ नेमि जिए राइमोपाकि मिलि जाई,
घरे सिवमीय लखमर ठोरियइ धसिय रमलि कराइ।

जंबूस्वामी फागु—इसके रचयिता कोई अज्ञात कवि हैं। इसका रचना काल सं १४३ वि है। समस्त काव्य में यमकवाले दोहे सब दिखाई पड़ जाते हैं। फागु रचनाबंध का यह प्रतिनिधि ग्रंथ है। जंबूस्वामी राजगृह नामक नगर के ऋषभदत्त नामक धनिक सेठ के एकमात्र पुत्र थे। इनका वैवाहिक संबंध एक ही साथ आठ कुमारियों से निश्चित हुआ। इसी समय सुधर्मा स्वामी गणधर के उपदेश से इनमें वैराग्य उत्पन्न हुआ। जंबूस्वामी ने घोषणा कर दी कि विवाहोपरांत मैं दीक्षा ले लूँगा। फिर भी उन आठों कुमारियों के साथ लग्न हुआ। किंतु जंबूस्वामी ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन किया। उसी रात को प्रभव नामक एक डाकू दस्युदल के साथ चोरी करने के लिये आया। उस डाकू पर कुमार के ब्रह्मचर्यमय तेज का इतना प्रभाव पड़ा कि वह शिष्य बन गया। जंबूकुमार ने अपनी आठों पत्नियों को भी प्रबुद्ध किया। इसी प्रकार अपने माता पिता, सास श्वसुर एवं दस्युदल सहित ५२९ शिष्यों ने सुधर्मा स्वामी से दीक्षा ली। जंबूस्वामी की आयु उस समय १६ वर्ष की थी। उनका निर्वाण ८० वर्ष की आयु में हुआ।

इस फागु में नायक और नायिका का प्रबल शैली में वर्णन किया गया है। इस फागु का वसंतवर्णन भी मनोरम और मनोहर है। रचनाबंध और काव्य की दृष्टि से यह एक सुंदर कृति है।

वसंत विलास-फागु—इसका रचनाकाल सं १४०० से १४२५ के बीच है। वसंतविलासफागु केवल प्राकृत पद नहीं, अपितु इसमें दूहों के साथ संस्कृत और प्राकृत के श्लोक भी हैं। संस्कृत शब्दावली का इसमें बाहुल्य पाया जाता है।

रुदन, दोनों प्रसग बहुत प्रभावोत्पादक हैं। कृष्ण का मथुरा जाना, गोपिकाओं का विरह, कसवध, ऊधो का गोपियों को प्रबोधन आदि प्रसग सुदर बन बडे हैं।

वसंतविलास फागु (२)—इसके रचयिता केशवदास हैं। रचनाकाल सं० १५२६ है। २६ दूहों में रचित है। यह एक स्वतंत्र कृति है। मगला-चरण नवीन रीति का है। उपसहार में भी नवीनता है। भाषा १६ वीं सदी के उत्तरार्ध की है। यह रचना पूर्णरूपेण फागु नाम को सार्थक करती है।

फागु के विविध उद्धरणों से इस काव्यप्रकार की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। सबसे अधिक आकर्षक तथ्य यह दिखाई पड़ता है कि फागु साहित्य अभिनय के उद्देश्य से विरचित होता था और इसके अभिनय में नृत्यगीत मुख्यरूप से सहायक होते थे। चैत्र[१] मास में इसके अभिनय का उपयुक्त अवसर समझा जाता था। मधुमास में भी सबसे अधिक रमणीक समय चैत्र पूर्णिमा का माना जाता था :

फागु की विशेषताएँ

फाग गाइ सब गोरडी जब आवइ मधुमास ॥

चैत्र के अतिरिक्त फाल्गुन[२] में भी कृष्णफागु खेलने का उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर कवि कहता है—

फागु ते फागुण मासि, लोक ते रमइ उहलासि,
रामति नवनवी ए, किम जाइ वर्णवी ए।

आगे चलकर एक स्थल पर फाल्गुन के रास में प्रयुक्त उपकरणों, वाद्य-यंत्रों का भी उल्लेख पाया जाता है। प्रेमानद ने एक स्थान पर तांबूल से अनुरंजित मुखवाली श्रेष्ठ सखियों के फागु गायन का वर्णन झाँझ और पखावज के साथ इस प्रकार किया है—

---

१ ए फागु उछरग रमइ जे मास वसते,
तिणि मणिनाण पहाण कीत्ति महियल पसरते।
कीर्तिरत्नसूरि फाग, १५वीं शताब्दी, कडी ३६

२ फागुणि पवन हिलोहलइ, फागु चवइ वर नारी हे,
सदेसडउ न परठ्यिउ, वृन्दावनह मझाहि हे।
कान्हडबारमास, कडी ९

१५वें शतक का उत्तरार्ध है। इसमें गेयता कम किंतु वर्णनात्मकता अधिक है। नेमिनाथ के संपूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत करनेवाली यह रचना महाकाव्य की कोटि में परिगणित की जा सकती है। फागु का आरंभ शिवा देवी के गर्भ में नेमिनाथ के आगमन के समय उसके स्वप्नदर्शन से होता है। इस फाग के तीन खंड हैं जिनमें क्रमशः बैंतीस, बैंतालीस और बैंतीस कड़ियाँ हैं। कुल मिलाकर संस्कृत के १ श्लोक हैं। रचनाबंध की दृष्टि से भी यह सुंदर है।

नारायण फागु—रचनाकाल संवत् १४६५ के आसपास है। इस फागु के बहुत से अवतरणों पर वसंतविलास का प्रभाव लक्षित होता है। उसके रचयिता के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं। काव्य के आरंभ में सौराष्ट्र और द्वारिका का वर्णन है। तदुपरांत कृष्ण के पराक्रम और वैभव का यशोगान है। पटरानियों सहित कृष्ण के वनविहार का इसमें शृंगार रसपूर्ण वर्णन है। कृष्ण का वेणुवादन गोपांगनाओं का तालपूर्वक नर्तन बड़ा ही सरस बन पड़ा है। प्रत्येक गोपी के साथ अलग अलग कृष्ण की वनक्रीड़ा का वर्णन आकर्षक है। यह फागु ६७ कड़ियों का है और अंतिम तीन कड़ियाँ संस्कृत श्लोक के रूप में हैं। इसका आरंभ दूहे से और पर्यवसान संस्कृत श्लोक से होता है।

सुरंगाभिमान नेमि फाग—इस फाग की रचना संस्कृत और गुजराती दोनों भाषाओं में हुई है। इसके रचयिता धनदेव गणि हैं। मंगलाचरण शार्दूलविक्रीडित में संस्कृत और भाषा दोनों के माध्यम से है। उपसंहार भी शार्दूलविक्रीडित से ही किया गया है।

नेमीश्वरचरित फाग—यह फाग ६१ कड़ियों का है। १७ संस्कृत की कड़ियाँ हैं और ७४ भाषा की। रचयिता माणिक्यचंद्र सूरि हैं। इसमें चार प्रकार के छंद हैं—रासु, रासक, फागु, अढ़ैउ है।

भीश्वररत्न सूरि फाग—यह फाग ६५ कड़ियों का है।

हेमविमल सूरि फाग—रचनाकाल सं० १५५४ है। रचयिता हंसधीर हैं। इसमें गुरुमहिमा का गान ६७ कड़ियों में मिलता है। इसमें फाल्गुन का वर्णन नहीं है। केवल रचना फागु के अनुरूप है।

वसंतविलास फागु (१)—इसमें २९ कड़ियाँ हैं। इसकी रचना बड़ी ही सुंदर और रसपूर्ण है। मानिनी का विरह और नंद यशोदा का

रुदन, दोनों प्रसंग बहुत प्रभावोत्पादक हैं। कृष्ण का मथुरा जाना, गोपिकाओं का विरह, कंसवध, ऊधो का गोपियों को प्रबोधन आदि प्रसंग सुंदर बन पड़े हैं।

वसंतविलास फागु (२)—इसके रचयिता केशवदास हैं। रचनाकाल सं० १५२६ है। २६ दूहों में रचित है। यह एक स्वतंत्र कृति है। मंगलाचरण नवीन रीति का है। उपसंहार में भी नवीनता है। भाषा १६ वीं सदी के उत्तरार्ध की है। यह रचना पूर्णरूपेण फागु नाम को सार्थक करती है।

फागु के विविध उद्धरणों से इस काव्यप्रकार की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। सबसे अधिक आकर्षक तथ्य यह दिखाई पड़ता है कि फागु साहित्य अभिनय के उद्देश्य से विरचित होता था और इसके अभिनय में नृत्यगीत मुख्यरूप से सहायक होते थे। चैत्र[1] मास में इसके अभिनय का उपयुक्त अवसर समझा जाता था। मधुमास में भी सबसे अधिक रमणीक समय चैत्र पूर्णिमा का माना जाता था :

फागु की विशेषताएँ

फाग गाइ सब गोरडी जब आवइ मधुमास ॥

चैत्र के अतिरिक्त फाल्गुन[2] में भी कृष्णफागु खेलने का उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर कवि कहता है—

फागु ते फागुण मासि, लोक ते रमइ उहलासि,
रामति नवनवी ए, किम जांइ वर्णवी ए।

आगे चलकर एक स्थल पर फाल्गुन के रास में प्रयुक्त उपकरणों, वाद्ययंत्रों का भी उल्लेख पाया जाता है। प्रेमानंद ने एक स्थान पर तांबूल से अनुरंजित मुखवाली श्रेष्ठ सखियों के फागु गायन का वर्णन झाँझ और पखावज के साथ इस प्रकार किया है—

---

१ ए फागु उछरंग रमइ जे मास वसंते,
तिणि मणिनाण पहाण कीत्ति महियल पसरंते।
कीर्तिरत्नसूरि फाग, १५वीं शताब्दी, कड़ी ३६

२ फागुणि पवन हिलोहलइ, फागु चवइ वर नारी हे,
संदेसडउ न परठ्यउ, वृन्दावनइ मझारि हे।
कान्हडवारमास, कड़ी ६

फागुण मासे फूली रातो केसुडो रातो चोल
सहियर रंगे रातो रे, रातो मुख तंबोल।

× × ×

वाजे मांस पखावज ने साहेली रमे फाग
गावो देह वासन्ती माथ नवला रे राग।

गोपियों[1] के फागु खेलने का वर्णन कई स्थानों पर जैन फागों में भी विद्यमान है। ये उद्धरण इस तथ्य के प्रमाण हैं कि जैनाचार्यों ने रास एवं फागु की यह परंपरा वैष्णव रासों से उस समय ग्रहण की होगी जब जनता में इनका आकर्षमान रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन फागुओं का माहात्म्य १५ वीं शताब्दी तक इतने उत्कर्ष को प्राप्त हो गया था कि कृष्णरास के समान इनके अभिनेता एवं प्रेक्षक भी पूर्वरीति से अर्हंतपद के अधिकारी समझे जाते थे। जयशेखर सूरि प्रथम नेमिनाथ फागु' में एक स्थान पर लिखते हैं—

कवितु विनोदिहि सिरि जय सिरिजय सेहर सूरि
जे खेलइ ते अर्हंपद संपद पामइ पूरि।

फागों के पठन पाठन, चिंतन मनन का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। देवगण[2] भी इस साहित्य के सानुराग अनुशीलन एवं अभिनय के द्वारा नवनिधियों के अधिकारी बनने लगे। फागुगान करनेवाले के घर मंगल चार निश्चय माना गया।

'घर घरण के णदुदिहिं, देह चारि मंगलच्चार[3]।'

कवि बार बार फाग में प्रयुक्त वेणु मृदंग आदि वाद्यंत्रों का वर्णन करता है और मृगनयनियों के गान का उल्लेख करते हुए इस वसंतक्रीड़ा का माहात्म्य वर्णन करता है—

---

१ नाच विनोदिय गोपिय रीपिय हरि अनुराग।
रसभरि खिलतहु रेलन केसर खेलत फागु।
—कृष्णवर्णीय जयसिंह सूरि कृत बीजो नेमिनाथ फागु कड़ी १२

२ देव तणउ य फाग, पामर सुभर अनुराग।
नवनिधि ते लहइ य, जे पढ़ि सांभला य।

३ अज्ञात कविकृत 'भारतनु फागु' कड़ी १९

वेणा यत्र करइ आलि विणि, करइ गानि ते सवि सुररमणी,
मृदंग सरमंडल वाजत, भरइ भाव करी रमइ वसंत[1]।

ऐसे मंगलमय गान का जब अभाव पाया जाता हो तब देश में किसी बड़े संकट का अनुमान लगाया जाता है। जब सुललित बालिकाएँ रास न करती हों, पंडित और व्यास रास का पाठ न करते हों, मधुर कंठ से जब कोई रास का गायन न करता हो, जब रास और फाग का अभिनय न होता हो तब समझना चाहिए कि कोई बड़ी अघटित घटना घटी है। नल जैसे पुण्यात्मा राजा ने अपनी पतिव्रता नारी दमयंती को अरण्यप्रदेश में असहाय त्याग दिया। यह एक विलक्षण घटना थी। इसके परिणामस्वरूप देश में ऐसी ही स्थिति आई—

सुललित बालिका न दीइ रास, क्षण नवि वाचइ पंडित व्यास,
रूडइ कंठि कोइन करइ राग, रास भास नवि खेलइ फाग[2]।

फाग खेलने की पद्धतियों का भी कहीं कहीं संकेत मिलता है। कहीं तो अनेक रमणियाँ एक साथ फाग खेलती दिखाई पड़ती हैं और कहीं दो दो की जोड़ी प्रियतम के रस में भरकर खेल रही है। इस प्रकार के खेल से वे निश्चय ही प्रेम के क्षेत्र में विजय-श्री-संपन्न बनती हैं। कवि कहता है—

फागु वसंति जि खेलइ, वेलइ सुगुण निधान,
विजयवंत ते छाजइ, राजइ तिलक समान।[3]

इस उद्धरण 'वेलइ खेलइ' से प्रमाणित होता है कि सखियों का युग्म नाना प्रकार के हावभावों से भरकर वसंत में फागु खेल रहा है। इस खेल में अधिक प्रिय राग श्रीराग[4] माना जाता है। इसी राग में अभिनव फागों का गायन प्राय सुना जाता है। इसके अतिरिक्त राग सारिंग मल्हार, राग रामेरी, राग आसाउरी, राग गुडी, राग केदार टोड़ी, राग धन्यासी, आदि का भी उल्लेख मिलता है।[5]

---

१ अज्ञात कविकृत 'चुपइ फागु', कड़ी ३६
२ महीराज कृत 'नलदवदंती रास', कड़ी ३८६
३ अज्ञात कविकृत 'जंबुस्वामी फाग', कड़ी ५६
४ नारायण फागु, कड़ी ४३
५ वासुपूज्य मनोरम फागु

रूपवती रमणियों के द्वारा खेले जानेवाले वसंतोत्सव फागु के कौतुक का बयान दूसरा कवि इस प्रकार करता है—

रूपिहिं रूअडिग करति च पवति सरंम तणवागु,
बसंत मतुराय आवइ, गोरिहिं गावी फागु ।[१]

कवि रूपवती नारियों के रूप एवं वय की ओर भी कहीं कहीं संकेत करता चलता है। रूप में ये नारियाँ अप्सरा के समान और वय में नवयुवती है। क्योंकि उनके पयोधर वय के कारण पीन हो गए हैं। ऐसी रमणियाँ नेमि-जिनेश्वर का फाग खेलती हुई शोभायमान हो रही हैं। कवि कहता है—

पीन पयोहर अपच्छर गूजर धरतीय नारि
फागु खेलइ ते फिरि फिरि नेमि जिणेसर बारि ।[२]

फागु खेलनेवाली रमणियाँ हंसगमनी मृगनयनी हैं और वे मन को मुग्ध करनेवाला फागु खेल रही हैं। कवि कहता है—

फागु खेलइ मनरंगिहिं हंस गमणि मृगनयणि ।

इस प्रकार अनेक उद्धरणों के द्वारा फागु का अभिनय करनेवाली रमणियों एवं उनकी क्रीडाओं का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से वैष्णव एवं जैन फागों की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। इनके अतिरिक्त शुद्ध लौकिक प्रेम संबंधी फागों की छटा भी निराली है। बिरह देसाउरी फाग में नायक नायिका लौकिक पुरुष स्त्री हैं और इसमें विप्रलंभ शृंगार के उपरांत संभोग शृंगार का निरूपण मिलता है।

मुनि श्री पुण्यविजय जी के संग्रहालय में एक 'मूर्ख फाग' मिला है जिसमें एक रूपवती एवं गुणवती नारी का दुर्भाग्य से मूर्ख पति के साथ पाणिग्रहण हो गया। ११ दोहों में विरचित यह काव्य अभागिनी नारी की व्यथा की कथा बड़े हृदयहारी शब्दों में वर्णन करता है।

कवि कहता है कि यह विवाह क्या है (मानो) चंदन को चूल्हे पर छिड़का गया है सिंह को सियार के साथ बांध दिया गया है काग को कपूर चुगने को दिया गया है कपि के हाथ में आरसी दे दी गई है—

---

१ नेमिरंग वसंत फागु कड़ी १०
२ पद्म 'नेमिनाथ फागु' कड़ी ६

चदन घालू से चूलडि, सघ सीयाला ने साथि,
काग कपूर सु जाणे रे, अध अरिसानी भाति।

काव्य के अत में स्त्री-धर्म-पालन की ओर इगित करते हुए कवि कहता है कि अरी पापिष्ठे, पति की उपेक्षा करना भौंडी टेव है। पति कोढी भी हो तो भी देवतुल्य पूज्य है—

पापण पीठ वगोइयो, ए तुम्ह भूडी टेव,
कोढीठ कावडी घालीने, सही ते जानवो देव।
करिनि भगति पतिव्रता, साडलानी परि साधि,
रूप कुरूप करइ नही, जानि तू ईश्वर आराधि।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्रकार के फागु में जीवन के उदात्तीकरण का प्रयास मुख्य लक्ष्य रहा है। प्रेक्षकों को साहित्यिक रस में शराबोर करके उनके चित्त को कर्त्तव्यपालन की ओर उन्मुख करना फागुकर्त्ता कवि अपना धर्म समझता रहा है। काव्य की इन विशेषताओं का प्रभाव परवर्ती लोककवियों पर पड़ा और परिणामतः स्वाग, रास आदि की शैली इस पथ पर शताब्दियों से चलती आ रही है।

फागु साहित्य में ऐसी भी रचना मिली है जिसमें रूपकत्व का पूर्ण निर्वाह दिखाई पड़ता है। खरतरगच्छ के मुनि लक्ष्मीवल्लभ अपने युग के प्रसिद्ध आचार्य थे। उन्होंने 'रतनहास चौपाई', 'विक्रमादित्य पचदड रास', 'रात्रिभोजन चौपाई' 'अमरकुमारचरित्र रास' की रचना की। उन्होंने स० १७२५ वि० के सन्निकट 'अध्यात्म फाग' की रचना की जिसमें रूपकत्व की छटा इस प्रकार दिखाई देती है—

शरीर रूपी वृदावन-कुज में ज्ञानरूपी वसत प्रकट हुआ। उसमें मति-रूपी गोपी के साथ पाँच गोपों (इद्रिय) का मिलन हुआ। सुमति रूपी राधा जी के साथ आत्मा रूपी हरि होली खेलने गए।

वसत की शोभा का वर्णन भी रूपकत्व से परिपूर्ण है। सुखरूपी कल्पवृक्ष की मजरी लेकर मन रूपी श्याम होली खेल रहे हैं। उनकी शशि-कला से मोहतुषार फट गया है। सत्य रूपी समीर बह रहा है। समत्व सूर्य की शोभा बढ गई है और ममत्व की रात्रि घट गई है। शील का पीतांबर शोभायमान हो रहा है और हृदय में सवेग का वनमाल लहलहा रहा है। इडा, पिंगला एव सुषुम्ना की त्रिवेणी बह रही है। उज्वल मुनिमन रूपी

हंस रमण कर रहा है। सुरत की बाँसुरी बज रही है और अनाहत की ध्वनि उठ रही है। प्रेम की साखी में भक्तिगुलाल भरकर होली खेली जा रही है। पुण्य रूपी अबीर सुरभि फैला रही है और पाप पददलित हो रहा है। कुमति रूपी कुबरी कुपित हो रही है और वह क्रोध रूपी पिता के घर चली गई है। सुमति प्रसन्न होकर पतिशरीर से आलिंगन कर रही है। त्रिकुटी की त्रिवेणी के तट पर गुप्त ब्रह्मरंध्र का कुंज है, जहाँ नवदंपति होली खेल रहे हैं। राधा के ऐसे वशीभूत कृष्ण हो गए हैं कि उन्होंने अन्य रसरीति त्याग दी है। वे अनंत भगवान् अहर्निश यही खेल खेल रहे हैं। मंदमति प्राणी इस खेल को नहीं समझते, केवल संत समझ सकते हैं। जो इस अध्यात्म फाग को उत्तम राग से गाएगा उसे जिन राजपद की प्राप्ति होगी।

जैन मुनि द्वारा राधाकृष्ण फाग के इस रूपकत्व से यह प्रमाणित होता है कि वैष्णव रास एवं फाग का प्रभाव इतर संप्रदायवालों पर भी पड़ रहा था। १६वीं शताब्दी के उपरांत हम वैष्णव रास एवं फागु का प्रसार समस्त उत्तर भारत में पाते हैं। कामरूप से सौराष्ट्र तक वैष्णव महात्माओं की रसभरी रास फाग वाणी से सारा भारत रसमग्न हो उठा। वैष्णव रास के प्रसंग में हम इसकी चर्चा कर आए हैं।

संस्कृति और इतिहास का परिचय

भारतीय इतिहास के अनेक साधनों में साहित्य का स्थान अनोखा है किसी किसी युग के इतिवृत्त के लिये साहित्य ही एकमात्र साधन है; किंतु भारत का कोई ऐसा युग नहीं है जिसमें साहित्य उसके इतिहास के लिये महत्व न रखता हो। देश का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास साहित्य के अध्ययन के बिना अधूरा है। साहित्य समाज का यथार्थ चित्र है। हम उसमें समाज के आदर्श, उसकी मान्यताओं और त्रुटियों, यहाँ तक कि उसके भविष्य को भी प्रतिबिंबित देख सकते हैं। किसी समय का जो सम्यक् ज्ञान हमें साहित्य से मिलता है, वह तथाकथित तवारीखों से न कभी मिला है और न मिल सकेगा। साहित्य किसी युगविशेष का सजीव चित्र उपस्थित करता है किंतु तथाकथित इतिहास अधिक से अधिक उस युग की भावना को केवल मृतक रूप में इजिप्शियन मम्मी के सदृश दिखाने में समर्थ होता है।

इस ग्रंथ में जिस युग के रास एवं रासान्वयी काव्यों का संकलन प्रस्तुत किया जा रहा है उस युग में विरचित संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश कृतियों का यदि इनके साथ अनुशीलन किया जाय को तत्कालीन समाज और संस्कृति के किसी अंग से पाठक अनभिज्ञ न रहे। यद्यपि रास एवं रासान्वयी काव्य उस चित्र की रूप रेखा का ही दिग्दर्शन मात्र करा पाएँगे, किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन रेखाओं में उपयुक्त रंग भरकर कोई कुशल कलाकार एक देश के वास्तविक रूप का आकर्षक चित्र निर्मित कर सकता है।

संग्रह के बहुत से रासों का लक्ष्य जैनधर्म का उपदेश है। इन रासों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास और उससे पूर्व भी अनेक कुरीतियाँ जैनधर्म में प्रवेश कर चुकीं थीं। जिस प्रकार बौद्धधर्म संपत्ति, वैभव और मठाधिपत्य के कारण पतनोन्मुख हुआ था, उसी प्रकार जैनधर्म भी अधोगति की ओर अग्रसर हो रहा था। चैत्यवासी मठाधिपति बन चुके थे। वे कई राजाओं के गुरु थे; कई के यहाँ उनका अच्छा सम्मान था। जैन मंदिरों के अधिकार में संपत्ति

धार्मिक और नैतिक स्थिति

छोड़ी चली आ रही थी। चैत्यवासी इस देवद्रव्य का अपने लिये प्रयोग करने लगे थे। ताम्बूलभक्षण, कोमल शय्यासेवनादियथा मर्दन के द्वारा श्रावक वर्ग आमोद प्रमोद में तल्लीन रहता। कतिपय मठाधिपति इतने मूर्ख थे कि वे धर्म विषयक प्रश्न करने पर श्रावकों को यह कहकर बहकाने का प्रयत्न करते कि यह तो रहस्य है, इसे समझना तुम्हारे लिये अनावश्यक है। गुरु की आज्ञा का पालन ही तुम्हारा परम कर्तव्य है।

श्री हरिभद्र सूरि ने इस अधोगामिनी प्रवृत्ति पर चोट की थी। खरतरगच्छ ने इसके समुन्मूलन का प्रयत्न किया। जैन साधुओं को अपने विहार और चतुर्मासादि में कहीं न कहीं ठहरने की आवश्यकता पड़ती। चैत्यवासियों के कथनानुसार चैत्य या चैत्यपरिधि ही इसके लिये उपयुक्त थी। साधुओं का गृहस्थों के स्थान में ठहरना ठीक न था। बात कुछ युक्तियुक्त प्रतीत होती थी और इसी एक सामान्य सी युक्ति के आधार पर चैत्यवासी मठाधिपतियों ने लाखों की संपत्ति बना डाली। वे उसका उपयोग करते, उसके प्रबंध में अपना समय व्यतीत करते। वे प्रायः यह भूल चुके थे कि अपरिग्रह जैनधर्म का मूल सिद्धांत है। कोई भी प्रवृत्ति जो इसके प्रतिकूल हो वह जैनधर्म के विरुद्ध है। श्री महावीर स्वामी इसीलिये अपने धर्म विहार के समय अनेक बार गृहस्थों की बस्तियों (वसति) में ठहरे थे। इसी तीर्थंकरीय पद्धति को अपनाना खरतरगच्छ को अभीष्ट था। इसी कारण वे वसतिवासी के नाम से भी प्रसिद्ध हुए।

चैत्यवासियों की तरह वसतिवासी भी मंदिरों में पूजन करते। किंतु उन्होंने मंदिरों से पुरानी कुरीतियों को दूर करने का बीड़ा उठाया था। ईसाई धर्म के प्यूरिटन (Puritan) संप्रदाय से हम इनकी किसी हद तक तुलना कर सकते हैं। वे हर एक ऐसी रीति के विरुद्ध थे जो जैन सिद्धांत अनुमोदित न हो और विशेषकर उन रीतियों के जिनसे श्रावकों के नैतिक पतन की आशंका थी। मंदिर प्रार्थना के स्थान थे। उनमें घरबार की बातें करना, ढोल बजाना या वेश्याओं को नचाना वास्तव में पाप था। नवयौवना स्त्रियों का नृत्य श्रावकों को प्रिय था किंतु उससे श्रावकों के पुत्रों का नैतिक पतन होता और कालांतर में वे धर्मभ्रष्ट होते[1]।" इसलिये विधिचैत्य में यह वर्जित किया गया। विरुद्ध राग विरुद्ध वाद्य और रात्रिरास के कुछ प्रकारों

---

१ अपेरासायन पृष्ठ ११

के विरुद्ध भी इसी कारण आवाज उठानी पड़ी। रात्रि के समय विधिचैत्यों में तालियाँ बजाकर रास न होता और दिन में भी स्त्रियाँ और पुरुष मिलकर डाडिया रास न देते[1]। चर्चरी में तो इसके सर्वथा वर्जन का भी उल्लेख है। धार्मिक नाटकों का अवश्य यहाँ प्रदर्शन हो सकता था, इनके मुख्य पात्र अंततः संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण करते दिखाए जाते।

विधिचैत्यों में रात्रि के समय न नांदी होती, न तूर्यरव। रात्रि के समय रथभ्रमण निषिद्ध था। देवताओं को न झूले में झुलाया जाता, न उनकी जलक्रीड़ा होती[2]। माघमाला भी प्रायः निषिद्ध थी[3]। विधिचैत्यों में श्रावक जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा न करते, रात्रि के समय युवतियों का प्रवेश निषिद्ध था। वहाँ श्रावक न तांबूल लेते और न खाते, न अनुचित भोजन था और न अनुचित शयन। वहाँ न संक्रांति मनाई जाती, न ग्रहण और न माघमंडल। मूल प्रतिमा का श्रावक स्पर्श न करते, जिनमूर्तियों का पुष्पों से पूजन होता, पूजक निर्मल वस्त्र धारण करते। रजस्वला स्त्रियाँ मंदिर में प्रवेश न करतीं। संक्षेप में यही कहना उचित होगा कि श्री जिनवल्लभसूरि जिनदत्त सूरि, अभयदेवसूरि आदि खरतरगच्छ के अनेक आचार्यों ने अपने समय में उत्सूत्रविधियों को बंद करने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। यही विधिचैत्य आंदोलन क्रमशः अन्य गच्छों को प्रभावित करता गया और किसी अंश तक यह इसी आंदोलन का प्रताप है कि उत्तर भारत में राजाश्रय प्राप्त होने पर भी जैनधर्म अवनत न हुआ और उसके साधुओं का जीवन अब भी तपोमय है[4]।

जैन तीर्थों और प्रतिष्ठाओं के रासों में अनेकशः वर्णन हैं। तीर्थ दर्शन और पर्यटन की उत्कट भावना उस समय के धार्मिक जीवन का एक विशेष अंग थी। मनुष्य सोचते कि यह देह असार है। इसका साफल्य इसी में है कि तीर्थपर्यटन किया जाय। इसी विचार से थोड़ा सा सामान ले, यात्री सार्थ में सम्मिलित हो जाते और मार्ग में अनेक कष्ट सहकर तीर्थों के दर्शन करते[5]। तीर्थोद्धार एक महान कार्य था, रासादि द्वारा कवि और

१ वही, ३८

२ चच्चरी, १९

३ उपदेशरसायन, ३९ चर्चरी, १९

४ विशेष विवरण के लिये हमारे 'प्राचीन चौहान राजवंश' में विधिचैत्य आंदोलन का वर्णन पढ़ें।

५ देखिए—'चर्चरिका', पृष्ठ २०२-५

आचार्य तीर्थोद्धारक व्यक्ति की कीर्ति को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करते। रेवंतगिरि रास नेमिनाथ रास आबू रास, कच्छूली रास, समरा रास आदि की रचना इसी भावना से अनुप्राणित है। जीवदया रास में ये तीर्थ मुख्य रूप से गर्वित हैं—(१) भड़ापद में ऋषभ (२) शत्रुंजय पर आदिजिन (३) उज्जयंत पर नेमिकुमार (४) सत्यपुर में महावीर (५) मोढेरा (६) चंद्रावती (७) वाराणसी (८) मथुरा (९) स्तंभनक (१) शंखेश्वर (११) नागद्रह (१२) फलवर्धिका (१३) जालोर में 'कुमार विहार'।

अन्य धर्मों के विषय में इन रासों में अधिक सामग्री नहीं है। सरस्वती का अनेकधा वंदन है, किंतु यह तो जैन अजैन सभी भारतीय संप्रदायों की आराध्य देवी रही है। संदेशरासक में एक स्थान पर (पृष्ठ ११ ८६) कापालिक और कापालिकाओं का सामान्य वर्णन है। उनके बाँए हाथ में कपाल होता है, वे खट्वांग धारण करते समाधि लगाते और शय्या पर न सोते। उस समय के शिलालेखों से भी हमें राजस्थान में उनकी सत्ता के विषय में कुछ ज्ञात होता है[1]। आसिग के जीवदया रास में चामुंडा का नाम आता है (पृ ९७, १७)। आबू रास में आबू की प्रसिद्ध देवी श्रीमाता और अचलेश्वर के नाम वर्तमान हैं (पृ १२२-६)। शकुन और अपशकुन में लोगों को विश्वास था। शालिभद्र सूरि ने अनेक अपशकुन गिनाए हैं। जब भरत का दूत बाहुबलि के पास चला काली बिल्ली रास्ता काट गई और गधा दाहिनी ओर आया। उल्लू दाहिनी ओर धूत्कार करने लगा। गीदड़ बोले। काले साँप के दर्शन हुए। बुझे अंगारे सामने आए (भरतेश्वर बाहुबलिरास, पृष्ठ ११)। इसी तरह शुभ शकुन भी अनेक थे (देखें पृष्ठ ११८, ४६, ४७)।

इस्लाम का प्रवेश रासकाल के मध्य में रखा जा सकता है। संदेश रासक एक मुसलमान कवि की रचना है। ज्यामलदेव के समय मुसलमान उत्तर भारत को जीत चुके थे। समरा रासो उस समय की कृति है जब खिलजी साम्राज्य रामेश्वर तक पहुँच चुका था। तत्कालीन मुसलमानी इतिहासों से केवल धार्मिक विद्वेष की गंध आती है। किंतु रासग्रंथों से प्रतीत होता है कि अत्याचार के साथ साथ सहिष्णुता भी उस समय वर्तमान थी। यह विषय अधिक विस्तार से गवेषणीय है।

---

१ 'प्राचीन चौहान राजवंश' में 'राजस्थान के धर्म और संप्रदाय' नाम का अध्याय देखें।

रासकाल की धर्मविषयक कुछ बातें अत्यंत अच्छी थीं। भारत की अमुस्लिम जनता, चाहे वह जैन हो या अजैन, अपने को हिंदू मानती। जब शत्रुंजयतीर्थ के मंदिरों को खिल्जियों ने तोड़ डाला तो अलप खाँ से निवेदन किया गया कि हिंदू[1] लोग निराश होकर भागे जा रहे हैं (पृ० २३३-३), और फरमान लेकर जैन संघ शत्रुंजय ही नहीं, सोमनाथ भी पहुँचा। संघ ने शिवमंदिर पर महाध्वज चढ़ाया और अपूर्व उत्सव किया। रास्ते में इसी प्रकार जैनसंघ ने ही नहीं, महेश्वरभक्त महीपाल और माण्डलिक जैसे क्षत्रिय राजाओं ने भी उसका स्वागत किया। यह सद्‌भाव की प्रवृत्ति उस समय की महान् देन है[2]।

ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् सर्वतंत्रस्वतंत्र कहे जा सकते हैं। उनका अध्ययन गंभीर और व्यापक होता था। जिनवल्लभ 'षड्-दर्शनों को अपने नाम के समान जानते' (पृ० १७-२)। चित्तौड़ में उनके विद्यार्थीवर्ग में जैन और अजैन समान रूप से संमिलित थे और वैदिक धर्मा-नुयायी राजा नरवर्मा के दरबार में उन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी[3]। जैन और अजैन विद्वान् आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक जिन विषयों और पुस्तकों का अध्ययन करते थे उनका श्रीमद्‌विजयराजेन्द्र सूरि ग्रंथ के पृष्ठ ६४१–८६६ में प्रकाशित हमारे लेख से सामान्यतः ज्ञान हो सकता है। राससंग्रह में इसकी सामग्री कम है।

काल और क्षेत्र के अनुसार हमारे आदर्श बदला करते हैं। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हम किन बातों को ठीक या बेठीक समझते थे इसके विषय में हम शालिभद्र सूरि रचित 'बुद्धिरास' (पृष्ठ ८५–९०) से कुछ जानकारी कर सकते हैं। उसके कई बोल 'लोकप्रसिद्ध' थे और कई गुरु उपदेश से लिए गए थे। चोरी और हिंसा अधर्म थे। अनजाने घर में वास, दूसरे के घर में गोठ, अकेली स्त्री के घर जाना, ऐसे वचन कहना जो निभ

---

१ नाभिनन्दनोद्धार ग्रंथ में भी इस प्रसंग में 'हिंदुक' शब्द का प्रयोग है।

२ राजस्थान में इस प्रवृत्ति के ऐतिहासिक प्रमाणों के लिये 'प्राचीन चौहान राजवंश' नामक ग्रंथ पढ़ें।

३ इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, सन् १९५०, पृ० २२३ पर खरतरगच्छपट्टावली पर हमारा लेख पढ़ें।

न सकें बड़ों को उत्तर देना—ये बातें ठीक न थीं। चुगली और दूसरों का रहस्योद्घाटन बुरी बातें थीं। किसी से सूद पर ऋण लेकर दूसरे को ब्याज पर देना भ्रमवश समझा जाता। झूठी साक्षी देना पाप, और कन्या को धन के लिये बेचना बुरा था। मनुष्य का कर्तव्य था कि वह अतिथि का सत्कार करे और यथाशक्ति दान दे। धर्मवृद्धि के लिये ये बातें आवश्यक थीं—

(१) मनुष्य ऐसे नगर में रहे जहाँ देवालय और पाठशाला हों।
(२) दिन में तीन बार पूजन और दो बार प्रतिक्रमण करें।
(३) ऐसे वचन न बोले जिनसे कर्मबंधन न हो।
(४) मापने में कुछ अधिक दे, कम नहीं।
(५) राजा के आगे और जिनवर के पीछे न बसे।
(६) स्वयं हाथ से आग न दे।
(७) घरबार में मूरत न कराए।
(८) न्याययुक्त व्यवहार करे।

ऐसे अन्य कई और उपदेश बुद्धिरास में हैं। जीवदयारास में विशेष रूप से दया पर जोर दिया गया है। दया परमधर्म है और धर्म से ही संसार की सब इष्ट वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। मनुष्य इन तीर्थों का पर्यटन कर इस धर्म का पालन करे।

सामाजिक स्थिति

(१) वर्णव्यवस्था इस युग में पूर्णतया वर्तमान थी। परंतु रास काव्य में इसका विशेष वर्णन नहीं है। भरतेश्वर बाहुबलि रास में चक्री शब्द का चक्रवर्ती और कुम्हार के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। हरिश्चंद्र के डोम के घर में काम का भी एक जगह वर्णन है (६१ १४) गंधर्व, भाट, चारण और भाट अकबर के समय धनी वर्ग का स्तुति आदि से रंजित कर अपना आजीविकार्जन करते। चौदहवीं शताब्दी के रणमल्ल छंद में हमें राजपूती दृश्य के दर्शन होते हैं।[1]

जीवन में सुख और दुःख का सदा सम्मिश्रण रहा है। राससंसार में हमें सुखांश का कुछ अधिक दर्शन होता है और दुःख का कम। 'फागु'

---

[1] राज० में १२ वीं शती के लोकजीवन के लिये प्राचीन चौहान राजवंश का 'समाज संबंधी अध्याय' देखें।

वसतोत्सव का सुदर चित्र प्रस्तुत करते हैं। वसत से प्रभावित होकर स्त्रियाँ नये शृंगार करती[१]। वे शिर पर मुकुट, कानों में कुंडल, कठ में नौसर हार, वाहों पर चूड़ा और पैरों में झनकार करनेवाले नूपुर धारण करतीं। (१३१. ५) उनके कठ मोतियों की माला से शोभित होते, माग सिंदूर और मोतियों से भरी जाती, छाती पर सुदर कचुक और कटि पर किंकिणी-युक्त मेखला होती (पृष्ठ १९८-२००)। उनके पुष्पयुक्त धम्मिल्ल और कवरी विन्यास की शोभा भी देखते ही बनती थी। मार्ग उनके नृत्य से शब्दाय-मान होता। कदलीस्तभों से तोरणयुक्त मडपों की रचना होती। वावड़ियों में कस्तूरी और कपूर से सुवासित जल भरा जाता। केसर का जल चारो ओर छिड़का जाता और चपकवृक्ष में झूले डाले जाते (१९५. ८-१०)। शरद् ऋतु में स्त्रियाँ मस्तक पर तिलक लगातीं और शरीर को चदन और कुकुम से चर्चित कर भ्रमण करतीं। उनके हाथ में क्रीड़ापत्र होते और वे दिव्य एव मनोहर गीत गातीं। अश्वशालाओ और गोशालाओं में वे भक्ति-पूर्वक गौओं और घोड़ो का पूजन करतीं। स्री पुरुप तालावों के किनारे भ्रमण करते, घरों में आनद होता। पटह बजते, गीत गाए जाते, लड़के गोल बाँधकर वाजारों में घूमते। इसी महीने में दीवाली मनाई जाती। उन्हीं दीपों से कज्जल भी तैयार होता। वे शरीर पर केसर लगातीं, सिर को पुष्पों से सजातीं, मुख पर कर्पूररज होता। सरदी में चदन का स्थान कस्तूरी को मिलता। अगर की धूप दी जाता। शिशिर में स्त्रियाँ कुदचतुर्थी का त्योहार मनातीं। माघ शुक्ल पंचमी के दिन वे अनेक दान देतीं। विवाहोत्सव में तोरण, बदनवार और मगलकलश की शोभा होती, वर को कुडल, मुकुट, हारादि से भूपित किया जाता। सिर पर छत्र होता, मृग-नयनी स्त्रियाँ छत्र डुलातीं, वर की वहनें लवण उतारतीं और भाट जय-जयकार करते। वधू का शृंगार तो इससे भी अधिक होता। शरीर चदन लेप से और अधिक धवल हो जाता, चमेली के पुष्पों से खुप भरा जाता। नवरग कुंकुम तिलक और रत्नतिलक होता। आँखों में काजल की रेखा, मुँह में पान, गले में रत्नयुक्त हार और खिले फूलों की माला, मरकतयुक्त कचुक, हाथों में खनकनेवाला मणिवलय आलक्तक होता (१८०—१८१) दावत के लिये भी पूरी तैयारी की जाती।

---

१ विरह के समय धम्मिलादि केश विन्यास वर्जित थे (देखें, संदेश रासक २५)

न सकें बड़ों को उत्तर देना—ये बातें ठीक न थीं। चुगली और दूसरों का रहस्योद्घाटन बुरी बातें थीं। किसी से सूद पर ऋण लेकर दूसरे को ब्याज पर देना अधमकर समझा जाता। झूठी साक्षी देना पाप, और कन्या को धन के लिये बेचना बुरा था। मनुष्य का कर्तव्य था कि वह अतिथि का सत्कार करे और यथाशक्ति दान दे। धर्मवृद्धि के लिये ये बातें आवश्यक थीं—

(१) मनुष्य ऐसे नगर में रहे जहाँ देवालय और पाठशाला हो।
(२) दिन में तीन बार पूजन और दो बार प्रतिक्रमण करें।
(३) ऐसे वचन न बोले जिनसे कर्मबंधन न हो।
(४) नापने में कुछ अधिक दे, कम नहीं।
(५) राजा के आगे और जिनवर के पीछे न बसे।
(६) स्वयं हाथ से आग न दे।
(७) घरबार में नृत्य न कराए।
(८) न्याययुक्त व्यवहार करे।

ऐसे अन्य कई और उपदेश बुद्धिरास में हैं। जीवदयारास में विशेष रूप से दया पर जोर दिया गया है। दया परमधर्म है और धर्म से ही संसार की सब इष्ट वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। मनुष्य इन तीर्थों का पर्यटन कर इस धर्म का आचरण करे।

सामाजिक स्थिति

(१) वर्णव्यवस्था इस युग में पूर्णतया वर्तमान थी। परन्तु रास काव्य में इसका विशेष वर्णन नहीं है। भरतेश्वर बाहुबलि रास में चक्री शब्द को चक्रवर्ती और कुम्हार के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। हरिश्चंद्र के डोम के घर में काम का भी एक जगह वर्णन है (६६ १४) गंधर्व, भाट, चारण और भाट अकबर के समय धनी वर्ग को स्तुति आदि से रंजित कर अपना जीविकार्जन करते। चौदहवीं शताब्दी के रणमल्ल छंद में हमें राजपूती युद्ध के दर्शन होते हैं।[1]

जीवन में सुख और दुःख का सदा संमिश्रण रहा है। रासंसार में हमें सुखांश का कुछ अधिक दर्शन होता है और दुःख का कम। 'फागु'

---

[1] छन्द से ११ तक के लोकजीवन के लिये 'प्राचीन चौहान राजवंश' का 'समाज' शीर्षक अध्याय पढ़ें।

तीन बार उल्लेख है (१६६.१५; १६६.५४, २००.७०)। दीव में समरा द्वारा नवरंग 'जलवट नाटक' और 'रास लउडरास' देखने का उल्लेख है (पृ० २४०. ४)। समरारास भी तत्कालीन अन्य रासकाव्यों की तरह पाठ्य, मननीय और नर्त्य था[1]।

रास की रचना इसके बाद भी होती रही। अभिनय परपरा भी चलती रही (३०५. ७४)। किंतु जैन समाज में उसकी उपदेशमयी वृत्ति के कारण रास ने क्रमशः अन्य प्रबंधों का रूप धारण किया। इस सग्रह का पचपाडव रास इसी श्रेणी का है। उसका रचयिता इसके नर्तन का उपदेश नहीं करता है। वह केवल लिखता है—

पडव तणउ चरी तु जो पठए जो गुणइ सभलए।
पाप तणउ विणासु तसु रहइ ए हेला होइसि ए॥

इसका दूसरा रूप उन वीररसप्रधान काव्यों का है जिसका कुछ सग्रह इस ग्रंथ में है। किंतु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस अभिनेयता को जनता ने नहीं भुलाया। गुजरात ने उसे नरसी जैसे भक्तों के पदों में रखा। जनता उन्हें गाती और नर्तन करती। और सब अभिनय भूलने पर भी कृष्ण और गोपी भाव को नर्तक और गायक नहीं भुला सके।

व्रज में भी कृष्णचरित अभिनयन, गान और नर्तन का मुख्य विषय बना। यह प्रवृत्ति गुजरात की देन हो सकती है। किंतु यह भी बहुत संभव है कि व्रज का रास गीतगोविंद से प्रभावित हुआ हो। गीतगोविंद का प्रभाव अत्यत व्यापक था। इसपर तीस टीकाएँ मिल चुकी हैं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सभी दिशाओं में उसका प्रभाव था। व्रज में रास अब तक अपने प्राचीन रूप में वर्तमान है। सभी प्रवृत्तियों को देखते हुए कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि रास अब अपने मूलभूत त्रितत्वों में विलीन हो गया है—गुजरात में वह गरबा नृत्य में, व्रज में रासलीला के रूप में और राजस्थान एव हरियाना में वह स्वाँग आदि के रूप में ही रह गया है।

गृहस्थ जीवन प्रायः सुखी था किंतु सपत्नीद्वेष से शून्य नहीं। प्रवास सामान्य सी बात नहीं थी। पति को वापस आने में कभी कभी बहुत समय

---

१ एहु रासु जो पढइ, गुणइ, नाचिउ, जिणहरि देइ।
श्रवणि सुणइ सो बयठउ ए तीरथ ए तीरय जात्र फलु लेई॥ (पृ० २४२ १०)

रास नृत्य प्रायः सब उत्सवों में होता। रास की जनप्रियता इसी से सिद्ध है कि उत्सूत्र विधियों के परम विरोधी आचार्यों तक ने इसे उपदेश का साधन बनाया। श्रीजिनदत्त सूरि ने रास लिखा और चर्चरी भी। इसकी तुलना उन उपदेशों से की जा सकती है जिन्हें कई वर्तमान सुधारक होली और वसंत के रागों द्वारा जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। श्री जिनदत्त सूरि ने केवल आमोद प्रमोद के लिये रचित नाटकों का अभिनय विधिचैत्यों में बंद किया। चैत्यों में ताल और लकुट रास का भी निषेध किया गया। किंतु इनका यह निषेध ही इस बात का प्रमाण है कि मंदिरों में रास और नाटक हुआ करते थे। खरतरगच्छ के विधिचैत्यों में ये प्रथाएँ शायद किसी हद तक बंद हो गईं। किंतु आचार्यों का किसी नगर में जब प्रवेशोत्सव होता तो स्त्रियाँ गातीं और ताल एवं लकुट रास होते[1]। नगर की स्त्रियाँ भरत के भाव और छंदों के अनुसार नर्तन करतीं, गाँव की स्त्रियाँ ताल के सहारे (२८-२९)। नागरिक संगीतवाद्य का आनंद लेते। सामान्य लोकनृत्यों में मर्दल् और करटी वाद्य बजते। सामोर नगर में चतुर्वेदी जहाँ वेदार्थ का प्रकाश करते, वहीं बहुरूपियों द्वारा निबद्ध रास भी सुनाई पड़ते (११ ४१)। अनेक नाटक भी होते। जिनके पति घर पर होते वे स्त्रियाँ शरद ऋतु में विविध भूषा से सुसज्जित होकर रास रमण करतीं (४७ १६६ १६९)। वसंत में वे ताल देकर चर्चरी का नर्तन करतीं (६४ ११२)। जीवदया रास में नट प्रेक्षणक का नाम आया है (६४ ११)। प्रेक्षणक भी एक उपरूपकविशेष था जिसके विषय में हम अन्यत्र लिख रहे हैं[2]। रेवंतगिरि रास में विजयसेन सूरि का कथन है कि जो कोई उसे रंगमंच पर खेलते हैं उनसे नेमिजिन प्रसन्न होते हैं और अंबिका उनके मन की सब इच्छाओं को पूर्ण करती है (१४१)। गयसुकुमार रास के रचयिता की यह भावना थी कि जो उस रास को देखता या पढ़ता है उसे शिवसुख की प्राप्ति होती है (१२ १८)। कच्छूलीरास वि सं १३६३ में निर्मित हुआ। उसके अंतिम पद से स्पष्ट है कि ये धार्मिक रास जैनमंदिरों में गाए जाते और अभिनीत होते थे (पृ ११७)। थूलिभद्र फाग में खेल और नाचकर फाग के रमण का उल्लेख और अन्यत्र स्पष्ट है (पृ १८१)। वसंतविलास में रास का

---

१ इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली में हमारा आर्टिकिल ४० है।
२ मरुभारती वर्ष ५, अंक ३

तीन बार उल्लेख है (१६६.१५, १६६.५४, २००.७०)। दीव में समरा द्वारा नवरंग 'जलवट नाटक' और 'रास लउडरास' देखने का उल्लेख है (पृ० २४०. ४)। समरारास भी तत्कालीन अन्य रासकाव्यों की तरह पाठ्य, मननीय और नर्त्य था[१]।

रास की रचना इसके बाद भी होती रही। अभिनय परपरा भी चलती रही (३०५. ७४)। किंतु जैन समाज में उसकी उपदेशमयी वृत्ति के कारण रास ने क्रमशः अन्य प्रबधो का रूप धारण किया। इस सग्रह का पचपाडव रास इसी श्रेणी का है। उसका रचयिता इसके नर्तन का उपदेश नहीं करता है। वह केवल लिखता है—

पडव तणउ चरी तु जो पठए जो गुणइ सभलए।
पाप तणउ विणासु तसु रहइ ए हेला होइसि ए॥

इसका दूसरा रूप उन वीररसप्रधान काव्यों का है जिसका कुछ संग्रह इस ग्रथ में है। किंतु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस अभिनेयता को जनता ने नहीं भुलाया। गुजरात ने उसे नरसी जैसे भक्तों के पदों में रखा। जनता उन्हें गाती और नर्तन करती। और सब अभिनय भूलने पर भी कृष्ण और गोपी भाव को नर्तक और गायक नहीं भुला सके।

व्रज में भी कृष्णचरित अभिनयन, गान और नर्तन का मुख्य विषय बना। यह प्रवृत्ति गुजरात की देन हो सकती है। किंतु यह भी बहुत सभव है कि व्रज का रास गीतगोविंद से प्रभावित हुआ हो। गीतगोविंद का प्रभाव अत्यत व्यापक था। इसपर तीस टीकाएँ मिल चुकी हैं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सभी दिशाओं में उसका प्रभाव था। व्रज में रास अब तक अपने प्राचीन रूप में वर्तमान है। सभी प्रवृत्तियों को देखते हुए कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि रास अब अपने मूलभूत त्रितत्वों में विलीन हो गया है— गुजरात में वह गरबा नृत्य में, व्रज में रासलीला के रूप में और राजस्थान एव हरियाना में वह स्वाँग आदि के रूप में ही रह गया है।

गृहस्थ जीवन प्रायः सुखी था किंतु सपत्नीद्वेष से शून्य नहीं। प्रवास सामान्य सी बात नहीं थी। पति को वापस आने में कभी कभी बहुत समय

---

१ एहु रासु जो पढइ, गुणइ, नाचिउ, जिणहरि देइ।
श्रवणि सुणइ सो बयठऊ ए तीरथ ए तीरथ जात्र फलु लेई॥ (पृ० २४२ १०)

लग जाता। इस तरह नृपति-पत्नी का हमारे साहित्य में अनेक स्थलों पर वर्णन है।

रास साहित्य से तत्कालीन आर्थिक अवस्था पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। देश दरिद्र नहीं प्रतीत होता; कम से कम धार्मिक भावना से प्रेरित होकर अर्थव्यय करने की उसमें पर्याप्त शक्ति थी।

आर्थिक स्थिति

रेल और मोटर के न होने पर भी लोगों ने दूर दूर जाकर धनार्जन किया था। समरा रास के नायक समरा के पूर्वज पाल्हणपुर के निवासी थे। समरा ने गुजरात में अलप खाँ की नौकरी की। इसके बाद दक्षिण में वह गयासुद्दीन और उसके पुत्र का विश्वासपात्र रहा[1]। समरा का बड़ा भाई सहजपाल देवगिरि में वाणिज्य करता था। उसने वहाँ श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की थी। दूसरा भाई साहणपाल खंभात नगर में सामुद्रिक व्यापार करता। इससे स्पष्ट है कि 'तातस्य कूपोऽयम्' कहकर खारजल पीने की वृत्ति इस वर्ग में न थी। उपदेशरसायन की बहुत सी उपमाएँ सामुद्रिक जीवन से ली गई हैं (पृष्ठ ९-१) और तत्कालीन ग्रंथों में समुद्रयात्रा का बहुत अच्छा वर्णन है[2]।

देश में अनेक नगर थे। अणहिलपाटन, सांभोर, जालोर, पाल्हणपुर और जावली आदि का इन रासों में अच्छा वर्णन है। प्रायः सब बड़े नगरों के चारों ओर प्राकार और वप्र होते, खाई भी रहती। कई दुर्गों में एक के बाद दूसरी दीवारें रहतीं ऐसे दुर्ग शायद विग्रह कहलाते (पृ. ७० ९९)। गली, बाजार, मंदिर, कूप, जलाशय, बाग और चहरे तो सब में होते ही थे[3]। नगरों के साथ ही गाँव भी रहते। ये स्वभावतः कृषिप्रधान रहे होंगे। किंतु हमें इनका कुछ विशेष वर्णन नहीं मिलता।

यात्राओं के वर्णन से हम वाणिज्य के स्थलमार्गों का अनुमान लगा सकते हैं। अणहिलपाटण से शत्रुंजय जाते समय संघ सेरीसा, धोलका, पिपलाली और पालिताना पहुँचा। उसके आगे का रास्ता अमरेली, जूना, तेजलपुर और उज्जयंत होता हुआ सोमेश्वर देवपत्तन जाता। वहाँ से

---

१ देखें न्यू लाइट आन अलाउद्दीन खिलजीज ऐडमिनिस्ट्रेटिव पॉलिसीज ऑफ दी इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस १९५४ पृ. २४

२ देखें 'प्राचीन चौहान राजवंश' में आर्थिक जीवन संबंधी अध्याय।

३ देखें 'राजस्थान के नगर और ग्राम' राजस्थान भारती भाग १ अंक १

लोग द्वीव और अजाहरि जाते। मुगलकाल में गुजरात से लाहौर का मार्ग मेहसाणा, सिंदूपुर, शिवपुरी, पाल्हणपुर, सिरोही, जालोर, विक्रमपुर, रोहिठ, लाविया, सोजत, बिलाड़ा, जैतारण, मेड़ता, फलोघी, नागोर, पड़िहारा, राजलदेसर, रीणी, महिम, पाटणसर, कसूर और हापाणा होता हुआ गुजरता।

देश भोजनसामग्री से परिपूर्ण था। आनद के साधनों की भी उसमें कमी न थी।

सग्रह के अनेक रासों से उस समय के राजनीतिक जीवन और राज्य-सगठन का भी हमें परिचय मिलता है। कैमासवध में चौहान राज्य की अवनति का एक कारण हमारे सामने आता है।

राजनीतिक स्थिति

पृथ्वीराज के दो व्यसन थे, एक आखेट और दूसरा शृगारिक जीवन। दोनों से राज्य को हानि पहुँची। कैमास या कदबवास जाति का दाहिमा राजपूत पृथ्वीराज का अत्यत विश्वस्त मंत्री था। पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की मृत्यु के बाद राज्य को बहुत कुछ उसी ने सँभाला था। पृथ्वीराज अपनी आखेटप्रियता के कारण राज्य की देखभाल न कर सका, तो कैमास ही सर्वेसर्वा बना। राजभक्त होने पर भी वह सभवत. अन्य वासनाओं से शून्य न था उसके वध की कथा (जिसका सामान्यतः प्रसग के परिचय में निर्देश है) मूल अपभ्रश 'प्रिथीराज रासउ' का अग रही होगी। अनेक वर्ष पूर्व 'राजस्थान भारती' में हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि 'पुरातन प्रबध सग्रह' में उद्धृत पद्य साकाव्य हैं। उन्हें फुटकर छद मानना ठीक नहीं है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त भी अब इसी निर्णय पर पहुँचे हैं।

जयचद्र विषयक पद्य कवि जल्ह की कृति है। किंतु उनकी रचना भी प्राय उसी समय हुई होगी। पृथ्वीराजरासो से उद्धृत यज्ञविध्वस का विचार हम इन छप्पयों के साथ कर सकते हैं। इसमें सदेह नहीं है कि जयचद्र अपने समय का अत्यत प्रतापी राजा था। उसकी सेना की अपरिमेयता के कारण उसे 'लगदल पगुल' कहते थे और इसी अपरिमेयता का वर्णन जल्ह कवि ने जोरदार शब्दों में किया है। पृथ्वीराज और जयचंद्र साम्राज्यपद के लिये प्रतिद्वद्वी थे। दोनों ने अनेक विजय भी प्राप्त की थीं। रासो के कथनानुसार जयचद्र ने राजसूययज्ञ द्वारा अपने को भारत क

सम्राट् घोषित करने का प्रयत्न किया। 'पृथ्वीराजविजय' से हमें ज्ञात है कि वह अपने को भारतेश्वर मानता था। इसलिये इसमें आश्चर्य ही क्या कि उसने जयचंद्र के राजसूययज्ञ का विरोध किया। उद्धृत अंश में चौहानों के इस विरोध का अच्छा वर्णन है। कन्नौज और दिल्ली का यह विरोध भारत के लिये कितना घातक सिद्ध हुआ यह प्रायः सभी जानते हैं। पृथ्वीराज के अन्य दो विरोधी भी थे, महोबे के परमर्दी या परमाल और गुजरात के राजा भीम। इन दोनों से संघर्ष की अल्पमात्रांकित कथा अब भी 'पृथ्वीराज रासो' में प्राप्त है।

संयोगिता स्वयंवर और संयोगिता को कुछ विद्वानों ने कल्पित माना है। किंतु जिन प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है वे स्वयं आधारशून्य हैं, यह हम अन्यत्र (राजस्थान भारती) प्रतिपादित कर चुके हैं। रासो की ऐतिहासिकता का संयोगिता की सत्ता से बहुत अधिक संबंध है। इसलिये हम उस लेख को यहाँ अविकल रूप से उद्धृत करते हैं (देखें राजस्थान भारती के पहले वर्ष का दूसरा अंक पृ १४ १५)।

इस संग्रह के अनेक रास इसी संघर्षयुग के हैं। उनमें ओज है और स्फूर्ति भी। संदेशरासक भी प्रायः इसी समय की कृति है। इसका कर्ता अब्दुररहमान नवागंतुक मुसलमान नहीं है। वह उतना ही भारतीय है जितने उस देश के अन्य निवासी। रास के आरंभ में उसने अपना नाम न दिया होता तो हमें यह ज्ञात ही न होता कि वह हिंदू नहीं है। इन बातों को और इसके अपभ्रंश के रूप को ध्यान में रखते हुए शायद यही मानना संगत होगा कि वह पश्चिमी भारत के किसी पुराने मुसलमान नागरिक की कृति है। बीसलदेवरास बुद्धिरासादि उस समाज की कृति हैं जिसमें कवित्व की स्फूर्ति अपेक्षिक दृष्टि से कम थी।

संवत् १२४९ में पृथ्वीराज चौहान की पराजय के बाद भारत का स्वातंत्र्यसूर्य अस्त होने लगा। इस संधिकाल का कोई ऐतिहासिक रास इस संग्रह में नहीं है। जनता को अपने पराजय के गीत गाने में आनंद भी क्या आता? अलाउद्दीन खिल्जी के समय जब प्रायः समस्त उत्तरी भारत मुसलमानों के हाथों में चला गया और मुसलमानी सेनाएँ दक्षिण में रामेश्वर और कन्याकुमारी तक पहुँच गई तब समराराज की रचना हुई। हिंदू पराजित होकर अपने मुसलमान शासकों से मानो हीनसंधि करने के लिये

उद्यत थे। धर्म और संस्कृति की रक्षा का साधन अब शास्त्र नहीं था। कवि को इसीलिये लिखना पड़ा—

> भरह सगर हुइ भूप चक्रवति त हुअ अतुलबल।
> पढव पुहवि प्रचंड तीरथु उधरह अति सबल॥ ४॥
> जावड तणउ संजोग हूअउं सु दूसम तव उदए।
> समइ भलेरइ सोइ मन्त्रि बाहडदेव उपनए॥ ५॥
> हिव पुण नवीयज बात जिणि दीहाडइ दोहलिए।
> खत्तिय खग्गुन लिंति साहसियह साहसु गलए॥ ६॥
> तिणि दिणि दिनु दिरका उ समरसीह जिणधम्मवणि।
> तसु गुण करउं उद्योउ जिम अंधारउ फटिकमणि॥ ७॥

सीधे शब्दों में इसका यही मतलब है कि दृढ शक्तिहीन हिंदुओं को सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त अपनी रक्षा का और ही उपाय सोचना था। अलाउद्दीन चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने गुजरात में हिंदू मंदिरों को नष्ट कर इस्लाम की विजय का डंका बजाया किंतु साथ ही उसने ऐसे प्रांतीय शासक की नियुक्ति की जो हिंदुओं को प्रसन्न रख सके। इसलिये कवि ने अलपखान के लिये लिखा है—

> पातसाहि सुरताण भीवु तहिं राजु करेई।
> अलपखानु हींदूअह लोय घणु मानु जु देई॥ पृ० २३२ ९
> साहु रायदेसलह पूतु तसु सेवइ पाय।
> कलाकरी रंजविड खान बहु देइ पसाय॥ पृ० २३२.१०

इसी अलपखाँ से फरमान प्राप्त कर समर ने शत्रुंजयादि के तीर्थों का उद्धार किया। अलाउद्दीन ने दिल्ली तक में हिंदुओं को अच्छे स्थान दिए थे। उसकी टकशाला का निरीक्षक जैनमतावलंबी ठक्कुर फेरु था जिसके अनेक ग्रंथों पर इतिहासकारों का ध्यान अब तक पूरी तरह नहीं पहुँचा है। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद प्रथम दो तुगलक सुलतानों ने भी इस नीति का अनुसरण किया।

तुगलक राज्य के अंतिम दिनों में अवस्था बदलने लगी। इधर उधर की अराजकता से लाभ उठाकर हिंदू राजा फिर स्वतन्त्रता का स्वप्न देखने लगे। ईडर कोई बहुत बड़ा राज्य न था। किंतु उसके शूरवीर राजा रणमल्ल

सम्राट् घोषित करने का प्रयत्न किया। 'पृथ्वीराजविजय' से हमें ज्ञात है कि वह अपने को भारतेश्वर मानता था। इसलिये इसमें आश्चर्य ही क्या कि उसने जयचंद्र के राजसूययज्ञ का विरोध किया। उद्धृत अंश में चौहानों के इस विरोध का अच्छा वर्णन है। कन्नौज और दिल्ली का यह विरोध भारत के लिये कितना घातक सिद्ध हुआ यह प्रायः सभी जानते हैं। पृथ्वीराज के अन्य दो विरोधी भी थे महोबा के परमर्दी या परमाल और गुजरात के राजा भीम। इन दोनों से संघर्ष की कल्पनारंजित कथा अब भी 'पृथ्वीराज रासो' में प्राप्त है।

संयोगिता स्वयंवर और संयोगिता को कुछ विद्वानों ने कल्पित माना है। किंतु जिन प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है वे स्वयं आधाररहित हैं, यह हम अन्यत्र (राजस्थान भारती) प्रतिपादित कर चुके हैं। रासो की ऐतिहासिकता का संयोगिता की सत्ता से बहुत अधिक संबंध है। इसलिये हम उस लेख को यहाँ अविकल रूप से उद्धृत करते हैं (देखें राजस्थान भारती के पहले वर्ष का दूसरा अंक, पृ २४ २५)।

इस संग्रह के अनेक रास इसी संघर्षयुग के हैं। उनमें ओज है और स्फूर्ति भी। संदेशरासक भी प्रायः इसी समय की कृति है। इसका कर्ता अब्दुररहमान नवागंतुक मुसलमान नहीं है। वह उतना ही भारतीय है जितने उस देश के अन्य निवासी। रास के आरंभ में उसने अपना नाम न दिया होता तो हमें यह ज्ञात ही न होता कि वह हिंदू नहीं है। इन बातों को और इसके अपभ्रंश के रूप को ध्यान में रखते हुए शायद यही मानना संगत होगा कि वह पश्चिमी भारत के किसी पुराने मुसलमान नागरिक की कृति है। बीसलदेवरास बुद्धिरासादि उस समाज की कृति हैं जिसमें कवित्व की स्फूर्ति अपेक्षित दृष्टि से कम थी।

संवत् १२४९ में पृथ्वीराज चौहान की पराजय के बाद भारत का स्वातंत्र्यसूर्य अस्त होने लगा। इस संधिकाल का कोई ऐतिहासिक रास इस संग्रह में नहीं है। जनता को अपने पराजय के गीत गाने में आनंद भी क्या आता? अलाउद्दीन खिलजी के समय जब प्रायः समस्त उत्तरी भारत मुसलमानों के हाथों में चला गया और मुसलमानी सेनाएँ दक्षिण में रामेश्वर और कन्याकुमारी तक पहुँच गईं तब समरारास की रचना हुई। हिंदू पराजित होकर अपने मुसलमान शासकों से मानो हीनसंधि करने के लिये

उद्यत थे। धर्म और संस्कृति की रक्षा का साधन अब शास्त्र नहीं था। कवि को इसीलिये लिखना पड़ा—

> भरह सगर हुइ भूप चक्रवति त हूअ अतुलबल।
> पडव पुहवि प्रचड तीरथु उधरइ अति सबल॥ ४॥
> जावउ तणउ संजोग हूअउ सु दूसम तव उदए।
> समइ भलेरइ सोइ मन्त्रि बाहडदेव उपनए॥ ५॥
> हिव पुण नवीयज बात जिणि दीहाडइ दोहलिए।
> खत्तिय खग्गुन लिंति साहसियह साहसु गलए॥ ६॥
> तिणि दिणि दिनु दिरका उ समरसीह जिणधम्मवणि।
> तसु गुण करउं उद्योद जिम अधारउ फटिकमणि॥ ७॥

सीधे शब्दों में इसका यही मतलब है कि दड शक्तिहीन हिंदुओं को सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त अपनी रक्षा का और ही उपाय सोचना था। अलाउद्दीन चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने गुजरात में हिंदू मंदिरों को नष्ट कर इस्लाम की विजय का डका बजाया किंतु साथ ही उसने ऐसे प्रातीय शासक की नियुक्ति की जो हिंदुओं को प्रसन्न रख सके। इसलिये कवि ने अलपखान के लिये लिखा है—

> पातसाहि सुरताण भीवु तहिं राजु करेई।
> अलपखानु हींदूअह लोय घणु मानु जु देई॥ पृ० २३२.९
> साहु रायदेसलह पूतु तसु सेवइ पाय।
> कलाकरी रजविउ खान बहु देइ पसाय॥ पृ० २३२.१०

इसी अलपखाँ से फरमान प्राप्त कर समर ने शत्रुंजयादि के तीर्थों का उद्धार किया। अलाउद्दीन ने दिल्ली तक में हिंदुओं को अच्छे स्थान दिए थे। उसकी टकशाला का निरीक्षक जैनमतावलबी ठक्कुर फेरु था जिसके अनेक ग्रंथों पर इतिहासकारों का ध्यान अब तक पूरी तरह नहीं पहुँचा है। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद प्रथम दो तुलक सुलतानों ने भी इस नीति का अनुसरण किया।

तुगलक राज्य के अतिम दिनों में अवस्था बदलने लगी। इधर उधर की अराजकता से लाभ उठाकर हिंदू राजा फिर स्वतत्रता का स्वप्न देखने लगे। ईडर कोई बहुत बड़ा राज्य न था। किंतु उसके शूरवीर राजा रणमल्ल

मे मुसलमानों के दाँत खट्टे कर दिए। रणमल्ल छंद के रचयिता श्रीधर को अपने काव्यनायक के शौर्य पर गर्व था। वह न होता तो मुसलमान गुजराती राजाओं को बाजार में बेच डालते—

'यदि न भवति रणमल्लः प्रतिमल्ल पातशाहकटकानाम्।
विक्रीयन्ते बार्जारबाजारे गुर्जरभूपाः'' ॥ ७ ॥

किंतु रणमल्ल भी न रहा। कान्हडदे और हम्मीर जैसे वीर जिनके यशोगान में कान्हडदे प्रबंध और हम्मीर महाकाव्य आदि ग्रंथ लिखे गए इससे पूर्व ही अस्त हो चुके थे।

हिंदुओं ने अपना स्वातंत्र्ययुद्ध चालू रखा। किंतु इस बीच के संघर्ष का ज्ञान हमें संस्कृत शिलालेखों द्वारा अधिक होता है और रासों से कम। मेवाड़वाले अच्छे लड़े, किंतु उनके शौर्य का वर्णन करने के लिये श्रीधर जैसा भाषाकवि उत्पन्न न हुआ।

सन् १५२६ में बाबर ने मुगल साम्राज्य की स्थापना की। उसके पुत्र हुमायूँ के सन् १५३१ में सिंहासनारूढ़ होने पर मुगल केंद्रीय सत्ता कुछ ढीली पड़ गई। उसके भाइयों ने इतस्ततः अपनी शक्ति बढ़ाने और स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। कामरान पंजाब और काबुल का स्वामी बन बैठा। उसने राजस्थान पर आक्रमण कर बीकानेर आदि राजस्थान के भूभागों का स्वामी बनने का प्रयत्न किया किया। बीकानेर के सं० १५९१ (सन् १५३४ ई०) के शिलालेख से सिद्ध है कि उसने बीकानेर तक पहुँचकर वहाँ के प्रसिद्ध श्री चिंतामणि जी के मंदिर की मूर्ति को भग्न किया था। किंतु पुनः बीकानेर राज्य के संस्थापक बीका जी के पौत्र जैतसी के हाथ में ही रहा। रात के समय जब मुगल सेना अपनी विजय से मस्त होकर आराम कर रही थी, राव जैतसी और उसके सरदारों ने मुगल शिविर पर आक्रमण किया। मुगल पराजित हुए। उनकी बहुत सी युद्धसामग्री और छत्रादि चिह्न राजपूतों के हाथ आए। इस विजय से बीकानेर ही नहीं समस्त राजस्थान भी कुछ समय के लिये मुगलों के अधिकार से बच गया।

इस शानदार विजय का बीकानेर के कवियों ने अनेक काव्यों और कविताओं में गान किया। सूजा नगर जात का छंद राउ जइतसी रउ' डॉ० टेसीटरी द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुका है। उसी समय

का एक और काव्य श्री अनूप सस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, में है। इस सग्रह में प्रकाशित रास को प्रकाश में लाने का श्रेय श्री अगरचंद्र नाहटा को है। रास सूजा नगरकोत की रचना से शायद यह रासो कुछ परवर्ती हो।[1]

रासो के जैतसी के अश्वारोहियों की सख्या तीन हजार बतलाई है, जो ठीक प्रतीत होती है (पृ० २६२)। युद्धस्थल 'राणीबाव' के पास था (२६४)। मुगल कामिनी ने मान किया था, मरुधर नरेश (जैतसी) उसे प्रसन्न करने के लिये पहुँचा (२६६)। मल्ल जैतसी ने मुगल सैन्य को भग्न कर दिया (२६८)।

हुमायूँ को पराजित कर शेरशाह दिल्ली की गद्दी पर बैठा। शेरशाह के राठोड़ों से सबध की कुछ गद्य रचनाएँ प्राप्त हैं। सूरवश की समाप्ति सन् १५५५ ई० में हुई। सन् १५५६ में अकबर सिंहासन पर बैठा। उसकी राजनीतिज्ञता ने राजपूतों और अन्य सब हिंदुओं को भी उसके हितैषियों में परिवर्तित कर दिया। जैनों से उसके सबध बहुत अच्छे थे। तपागच्छ के श्री हीरविजय सूरि ने और खरतरगच्छ के श्री जिनचद्र सूरि ने अकबर के दरबार में बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

सवत् १६४८ (वसुयुगरसशशि) में इस रास की रचना हुई। अनेक कारणों से बीकानेर के मत्री कर्मचद बछावत को बीकानेर छोड़ना पड़ा। उसने लाहौर जाकर अकबर की सेवा की। जैन धर्म के विषय में प्रश्न करने पर कर्मचद ने सामान्य रूप से उसके सिद्धात बताए और विशेष जिज्ञासा के लिये अपने गुरु खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनचद्र सूरि का नाम लिया। अकबर ने सूरि जी को बुला भेजा। चौमासा निकट आने पर श्री जिनचद्र खगपुर से रवाना हुए और अहमदाबाद पहुँचे। यहाँ फिर दूसरा फरमान मिला, और गुरु सिद्धपुर, पाल्हणपुर, शिवपुरी आदि होते जालोर पहुँचे। यहाँ चौमासा पूरा किया। फिर रोहीठ, पाली, लबिया, बिलाड़ा, जैतारण, के मार्ग से ये मेड़ते पहुँचे। यहाँ फिर बादशाही फरमान मिला। फलौदी, नागोर, पड़िहारा, राजलदेसर, रीणी, महिम, पाटनसर, कसूर और हापाणा आदि नगर और ग्राम पारकर श्री जिनचद्र सूरि अकबर के पास पहुँचे। उन्होंने अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया। उसने गुरु जी को १०१ मुहर नजर की किंतु गुरु जी ने उन्हें लेने से इनकार कर दिया। अक-

---

१ इस विषय में हम अन्यत्र लिख रहे हैं।

कर काश्मीर गया और साथ में मुनि मानसिंह को भी ले गया। लाहौर वापस आकर उसने सूरि जी को युगप्रधान की पदवी दी। यहीं अकबर के कहने पर उन्होंने मानसिंह को आचार्य पदवी देकर संवत् १६४८, फाल्गुन शुक्ला द्वितीया के दिन जिनसिंह नाम दिया। उत्सव हुआ। मित्रों ने उल्लास में भरकर गाते हुए रास दिया (पृ २८५)।

इससे भी अधिक लाभ हिंदूधर्म को अकबर की अमारी घोषणा से हुआ। उसने *स्तंभतीर्थ के जलजंतुओं की एक-साल तक हिंसा बंद कर* दी। इसी प्रकार आषाढ़ादि में समयविशेष के लिये अमारी की घोषणा हुई।

तपागच्छीय श्री हरिविजय सूरि इस समय के दूसरे प्रभावक जैन आचार्य थे। शिलालेखों, काव्यों और रासों में प्राप्त उनके चरित का श्री जिनचंद्र सूरि के चरित के साथ उपयोग किया जाय तो हमें अकबरी नीति पर जैन प्रभाव का अच्छा चित्र मिल सकता है। नागोर के श्री पद्मसुंदर के अकबरशाहि शृंगार दर्पण में इस विषय की कुछ सामग्री है। गोहत्यादि बंद करवाने में मुख्यतः जैन संप्रदाय का हाथ था। सूर्यपूजा भी अकबर ने संभवतः कुछ जैन गुरुओं से ग्रहण की थी। इस संग्रह के रासों से इनमें से कुछ तथ्यों की सामान्यतः सूचना मिल सकती है[1]।

युगप्रधान निर्वाण रास में मुगल नीति में परिवर्तन के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। कुछ साधुओं के अनाचार से क्रुद्ध होकर जहाँगीर ने सभी साधुओं पर अत्याचार करना शुरू कर दिया था। श्री जिनचंद्र सूरि ने निर्भय होकर हिंदुओं की विज्ञप्ति जहाँगीर के सामने रखी और साधुओं को शाही कारागार से मुक्त करवाया। इस अत्याचार का विशेष विवरण *भानुचंद्रगणि* चरित और तुजुक जहाँगीरी से पाठक प्राप्त कर सकते हैं। श्री जिनचंद्र उस समय विशेष स्वस्थ न रहे होंगे। उन्होंने बिलाड़े में चौमासा किया। वहीं संवत् १६७० के आश्विन मास में आपने इस नश्वर शरीर का त्याग किया।

---

१ द्रष्टव्य सामग्री—

(१) श्री अगरचंद्र नाहटा एवं भँवरलाल नाहटा युगप्रधान श्री जिनचंद्रसूरि
(२) श्री [illegible] स्मिथ अकबर दी ग्रेट मुगल; (३) भानुचंद्र चरित्र में भी हीरविजय सूरि पर पर्याप्त सामग्री प्रकाशित है।

विजयतिलक सूरि रास अपना निजी महत्त्व रखता है। श्री हीरविजय सूरि के बाद तपागच्छ में कुछ फूट के लक्षण प्रकट हुए। परंपरा में श्री हीरविजय के बाद श्री विजयसेन, विजयदेव और विजयसिंह अभिषिक्त हुए। ये सभी आचार्य अत्यंत प्रभावक थे किंतु श्री हीरविजय के गुरु श्री विजयदान के समय और फिर श्री विजयसूरि के समय उनके सहाध्यायी धर्मसागर उपाध्याय ने कुछ ऐसे मतों की स्थापना की थी जिनसे अन्य तपागच्छीय विद्वान् सहमत नहीं थे। श्री विजयदेव सूरि ने किसी अंश में श्रीधर्मसागर के मत का समर्थन किया। इसलिये गच्छ के अनेक व्यक्तियों ने इनका विरोध किया। मुगल दरबार में प्रतिष्ठित श्री भानुचंद्र इस दल में अग्रणी थे। संवत् १६७२ में श्री विजयसेन के स्वर्गस्थ होने पर इन्होंने श्रीरामविजय को विजयतिलक नाम देकर पटाभिषिक्त किया। संग्रह में उद्धृत विजयतिलक सूरिरास इस कलह के इतिहास का एक प्रकार से उपोद्‌घात है।

गुजरात में बीसलनगर नाम का एक नगर था। उसके साह देव जी के दो पुत्रों को श्री विजयसेन सूरि ने दीक्षित किया और उनके नाम रतनविजय और रामविजय रखे। दोनों अच्छी तरह पढे। दोनों को गुरु ने पंडित पद दिया। श्री विजयसेन सूरि के गुरु श्री हीरविजय के सहाध्यायी और विजयदान के शिष्य उपाध्याय धर्मसागर और राजविमल वाचक भी अच्छे पंडित थे। धर्मसागर ने परमलकुद्दाल नाम का ग्रंथ बनाया (पृ० ३११ १५६) जिसमें दूसरों के धर्मों पर अनेक आक्षेप थे। श्री विजयदान सूरि ने उस ग्रंथ को जलसात् करवा दिया। किंतु श्री धर्मसागर राजनगर जाकर अपने मत का प्रतिपादन करते रहे और अनेक व्यक्तियों ने उनका साथ दिया। श्री विजयदान सूरि ने इसके विरोध में पत्र लिखकर राजनगर भेजा। किंतु धर्मसागर के अनुयायी संदेशवाहक को मारने पीटने के लिये तैयार हुए और वह कठिनता से गुरु के पास वापस पहुँच सका। श्रीविजयदान ने अपराध के दंड में अन्य आचार्यों का सहयोग प्राप्त कर श्री धर्मसागर को बहिष्कृत कर दिया श्री धर्मसागर को लिखित क्षमा माँगनी पड़ी। संवत् १६१६ में धर्मसागर को यह भी स्वीकार करना पड़ा कि वह परंपरागत समाचारी को मान्यता देंगे। संवत् १६२२ में श्री विजयदान स्वर्गस्थ हुए। इसके बाद हीरविजय सूरि का पट्टाभिषेक हुआ और उन्होंने जयविमल को आचार्य पद दिया।

इसके आगे की कथा उद्धृत अंश में नहीं है। किंतु इसके बाद भी श्री

धर्मसागर से विरोध चलता रहा और इसी के फलस्वरूप भी विजयसेन सूरि के स्वर्गस्थ होने पर उनके दो पट्टधर हुए। एक तो विजयतिलक और दूसरे विजयदेव जो श्री विजयसेन के समय ही, आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो चुके थे। इनके इतिहास के लिये गुणविजयकृत विजयसिंहसूरि विजय प्रकाश रास पढ़ना आवश्यक है।

इनके बाद में भी अनेक ऐतिहासिक रासों की रचना हुई है। किंतु इस संग्रह में प्रायः सत्रहवीं शताब्दी तक के रासों का स्थान दिया गया है। रासो में अनेक ऐतिहासिक सामग्री हैं। इन सबको एकत्रित करके प्रस्तुत किया जाय तो उस समय के जीवन का पूरा चित्र नहीं तो कुछ झाँकी अवश्य हमारे सामने आ सकती है। भारत का इतिहास अब तक बहुत अंधकारपूर्ण है। उसके लिये हर एक तथ्यस्फुलिंग का प्रकाश भी उपयोगी है और इनका एकत्रित प्रकाश सर्चलाइट का न सही, दिये का तो अवश्य काम देता है।

जनभाषा का स्वरूप और रास में उसका परिचय

जनभाषा या जनबोली का क्या लक्षण है ? साहित्यिक भाषा और जन-भाषा में मूलतः क्या अंतर है ? स्कीट[1] नामक भाषाशास्त्री ने इस अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'केवल पुस्तकगत भाषा का अभ्यासी व्यक्ति जब ऐसी लोकप्रचलित भाषा सुनता है जिसकी शब्दावली एवं अभिव्यक्ति शैली से वह अपरिचित होता है और जिसकी उच्चारणध्वनि को वह समझ नहीं पाता तो वह ऐसी भाषा को जनपद की बोली नाम से पुकारता है। वह बोली यदि स्वरों एव संयुक्त शब्दों की स्थानीय उच्चारणगत विशेषताओं को पृथक् करके लेखबद्ध बना दी जाय तो शिक्षित व्यक्ति को समझने में उनती असुविधा नहीं प्रतीत होगी।'

जनभाषा की यह विशेषता है कि वह नवीन विचारों को प्रकट करने की सामर्थ्य बढाने के लिये नवागत शब्दों को तो आत्मसात् कर लेती है किंतु अपनी मूल अभिव्यक्त शैली में आमूल परिवर्तन नहीं होने देती। जनकवि शब्द की अभिधा शक्ति की अपेक्षा लक्षणा एवं व्जनाय से अधिक काम लेता है। इस दृष्टि से हमारे जनकाव्यों में लाक्षणिकता का बहुल प्रयोग प्रायः देखने में आता है।

इस रासग्रह में जिन काव्यों को सग्रहीत किया गया है उनमें अधिकाश काव्यसौष्ठव से सपन्न हैं। इस विषय पर अलग अध्याय में प्रकाश डाला जा

1—When we talk of speakers of dialect, we imply that they employ a provincial method of speech to which the man who has been educated to use the language of books is unaccustomed Such a man finds that the dialect speaker frequently uses words or modes of expression which he does not understand or which are at any rate strange to him, and he is sure to notice that such words as seem to be familiar to him are, for the most part strangely pronounced Such differenecs are especially noticable in the use of vowels and diphthongs and in the mode of intonation

(Skeat English Dialects, pp 1,2)

रहा है। इस स्थान पर रास की भाषा का भाषाविज्ञान की दृष्टि से विवेचन अभीष्ट है। देखना यह है कि बारहवीं शताब्दी आते आते उत्तर भारत के विभिन्न भागों में जनभाषा किस प्रकार इन काव्यों की भाषा बन गई ? इस भाषा का मूल क्या है ? किस प्रकार आर्यों की मूल भाषा में परिवर्तन होते गए ? अपभ्रंश भाषा के इन काव्यों पर किन किन भाषाओं का प्रभाव पड़ा ? ब्रजबुलि का स्वरूप क्या है ? वैष्णव रासों की रचना ब्रजबुलि में क्यों हुई ? इन काव्यों की भाषा का परवर्ती कवियों पर क्या प्रभाव पड़ा ? ये प्रश्न विचारणीय हैं। सर्वप्रथम हम आर्य जनभाषा के विकासक्रम को समझने का प्रयास करेंगे। इस क्रमिक विकास का बीज वैदिक काल की जनभाषा में विद्यमान रहा होगा। अतः सर्वप्रथम उसी भाषा का निरूपण करना उचित प्रतीत होता है।

आर्य जाति किसी समय भारत के केवल एक भाग में रही होगी। ज्यों ज्यों यह फैली इसकी भाषाओं में विभिन्नताएँ उत्पन्न हुईं। इसका संपर्क द्रविड़ और निषाद जातियों से हुआ और आसुरविरोधिनी आर्य जाति को भी धीरे धीरे इन जातियों के अनेक शब्द ग्रहण करने पड़े। स्वयं ऋग्वेद से हमें ज्ञात है कि आर्यों ने अन्य जातियों से केवल कुछ वस्तुओं के नाम ही नहीं कुछ विचार भी ग्रहण किए ? जिन शब्दों से मंत्रद्रष्टा ऋषि भी प्रभावित हुए उनसे सामान्य जनता तो कहीं अधिक प्रभावित हुई होगी। इस तरह वैदिक काल में ही दो भाषाएँ अवश्य उत्पन्न हो गई होंगी। (१) वैदिक जिसमें द्रविड़ शब्दों और विचारों का प्रवेश सीमित था, (२) जन भाषा जिसने आवश्यकतानुसार खुले दिल से नए शब्दों की भर्ती की थी। इसी प्रकार की दूसरी भाषा को हम अपनी प्राचीनतम प्राकृत मान सकते हैं।

बोलचाल की भाषा सदा बदलती रहती है। उसमें कुछ न कुछ नया विकार आए बिना नहीं रहता। इसी कारण से ऋग्वेद के अंत तक पहुँचते पहुँचते वैदिक भाषा बहुत कुछ बदल जाती है। ऋग्वेद के दशम मंडल की भाषा दूसरे मंडलों की भाषा से कहीं अधिक जनभाषा के निकट है।

आर्यों के विस्तार का क्रम हम ब्राह्मण ग्रंथों से प्राप्त कर सकते हैं। वे सप्तसिंधु से उत्तर प्रदेश में और उत्तर प्रदेश से होते हुए सरयूपारीय प्रांतों में पहुँचे। इस तरह धीरे धीरे भारत की सीमा अफगानिस्तान से बंगाल तक पहुँच गई। इतने बड़े भूभाग पर आर्यभाषा का एक ही रूप संभव नहीं

था। ब्राह्मण ग्रंथों का अनुशीलन करने से, आर्यभाषा के तीन मुख्य भेदों की ओर निर्देश मिलता है—(१) उदीच्य या पश्चिमोत्तरीय, (२) मध्य-देशीय, (३) प्राच्य। उदीच्य प्रदेश की बोली अनार्य बोलियों से पृथक् रहने के कारण अपेक्षाकृत शुद्ध रूप में विद्यमान थी। कौषीतकि ब्राह्मण में इसके संबंध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

'उदीच्य प्रदेश में भाषा बड़ी विज्ञता से बोली जाती है, भाषा सीखने के लिये लोग उदीच्य जनों के पास जाते हैं, जो भी वहाँ से लौटता है, उसे सुनने की लोग इच्छा करते हैं।'[1]

ब्राह्मण काल के मध्य देश की भाषा पर कोई टीका टिप्पणी नहीं है। किंतु प्राच्य भाषा के विषय में कटु आलोचना है। प्राच्य भाषाभाषियो को आसुर्य, राक्षस, बर्बर, कलहप्रिय संबोधित किया गया है। पंचविंश ब्राह्मण में व्रात्य कहकर उनकी इस प्रकार निंदा की गई है—'व्रात्य लोग उच्चारण में सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं और यद्यपि वे (वैदिक धर्म) में दीक्षित नहीं हैं, फिर भी दीक्षा पाए हुओं की भाषा बोलते हैं।'[2]

इन उद्धरणों से यह अनुमान लगाया गया है कि 'प्राच्य में संयुक्त व्यंजन समीकृत हो गए हों, ऐसी प्राकृत प्रवृत्तियाँ हो चुकी थीं।'[3]

मध्यदेशीय भाषा की यह विशेषता रही है कि वह नवीन युग के अनुरूप अपना रूप बदलती चलती है। उदीच्य के सदृश न तो सर्वथा रूढिबद्ध रहती है और न प्राच्यों के सदृश शुद्ध रूप से सर्वथा हटती ही जाती है। वह दोनो के बीच का मार्ग पकड़ती चलती है। प्राच्य बोली में क्रमश. परिवर्तन होते गए और ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी आते आते शुद्ध वैदिक बोली से प्राच्य भाषा इतनी भिन्न हो गई कि महर्षि पतञ्जलि को स्पष्ट कहना पड़ा—'असुर लोग संस्कृत शब्द 'अरय.' का 'अलयो' या 'अलवो' उच्चारण करते थे।'

१—तस्माद् उदीच्याम् प्रज्ञातनरा वाग उद्यते, उदञ्च उ एव यन्ति वाचम् शिक्षितम्, यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति। (कौषीतकि ब्राह्मण, ७-६।)

२—अदुरुक्तवाक्यम् दुरुक्तम् आहु, अदीक्षिता दीक्षितवाचम् वदन्ति—
(ताण्ड्य या पंचविंश ब्राह्मण, १७-४।)

३—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ० ६७।

रहा है। इस स्थान पर रासो की भाषा का भाषाविज्ञान की दृष्टि से विवेचन अभीष्ट है। देखना यह है कि बारहवीं शताब्दी आते आते उत्तर भारत के विभिन्न भागों में जनभाषा किस प्रकार इन काव्यों की भाषा बन गई? इस भाषा का मूल क्या है? किस प्रकार आर्यों की मूल भाषा में परिवर्तन होते गए? अपभ्रंश भाषा के इन काव्यों पर किन किन भाषाओं का प्रभाव पड़ा? प्रकृति का स्वरूप क्या है? वेष्णव रासों की रचना प्रकृति में क्यों हुई? इन काव्यों की भाषा का परवर्ती कवियों पर क्या प्रभाव पड़ा? ये प्रश्न विचारणीय हैं। सर्वप्रथम हम आर्य जनभाषा के विकासक्रम को समझने का प्रयास करेंगे। इस क्रमिक विकास का बीज वैदिक काल की जनभाषा में विद्यमान रहा होगा। अतः सर्वप्रथम उसी भाषा का निरूपण करना उचित प्रतीत होता है।

आर्य जाति किसी समय भारत के केवल एक भाग में रही होगी। ज्यों ज्यों यह फैली इसकी भाषाओं में विभिन्नताएँ उत्पन्न हुईं। इसका संपर्क द्रविड़ और निषाद जातियों से हुआ और आसुरविरोधिनी आर्य जाति को भी धीरे धीरे इन जातियों के अनेक शब्द ग्रहण करने पड़े। स्वयं ऋग्वेद से हमें ज्ञात है कि आर्यों ने अन्य जातियों से केवल कुछ वस्तुओं के नाम ही नहीं कुछ विचार भी ग्रहण किए? जिन शब्दों से मंत्रद्रष्टा ऋषि भी प्रभावित हुए उनसे सामान्य जनता तो कहीं अधिक प्रभावित हुई होगी। इस तरह वैदिक काल में ही दो बोलियाँ अवश्य उत्पन्न हो गई होंगी। (१) वैदिक जिसमें द्रविड़ शब्दों और विचारों का प्रवेश सीमित था, (२) जन भाषा जिसने आवश्यकतानुसार खुले दिल से नए शब्दों की भर्ती की थी। इसी प्रकार की दूसरी भाषा को हम अपनी प्राचीनतम प्राकृत मान सकते हैं।

कालचाल की भाषा सदा बदलती रहती है। उसमें कुछ न कुछ नया विकार आए बिना नहीं रहता। इसी कारण से ऋग्वेद के अंत तक पहुँचते पहुँचते वैदिक भाषा बहुत कुछ बदल जाती है। ऋग्वेद के दशम मंडल की भाषा दूसरे मंडलों की भाषा से कहीं अधिक जनभाषा के निकट है।

आर्यों के विस्तार का क्रम हम ब्राह्मण ग्रंथों से प्राप्त कर सकते हैं। वे सप्तसिंधु से उत्तर प्रदेश में और उत्तर प्रदेश से होते हुए तराईय भागों में पहुँचे। इस तरह धीरे धीरे भारत की सीमा अफगानिस्तान से बंगाल तक पहुँच गई। इतने बड़े भूभाग पर भाषा का एक ही रूप संभव नहीं

था। ब्राह्मण ग्रंथों का अनुशीलन करने से, आर्यभाषा के तीन मुख्य भेदों की ओर निर्देश मिलता है—(१) उदीच्य या पश्चिमोत्तरीय, (२) मध्य-देशीय, (३) प्राच्य। उदीच्य प्रदेश की बोली अनार्य बोलियों से पृथक् रहने के कारण अपेक्षाकृत शुद्ध रूप में विद्यमान थी। कौषीतकि ब्राह्मण में इसके संबंध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

'उदीच्य प्रदेश में भाषा बड़ी विज्ञता से बोली जाती है, भाषा सीखने के लिये लोग उदीच्य जनों के पास जाते हैं, जो भी वहाँ से लौटता है, उसे सुनने की लोग इच्छा करते हैं।'[1]

ब्राह्मण काल के मध्य देश की भाषा पर कोई टीका टिप्पणी नहीं है। किंतु प्राच्य भाषा के विषय में कटु आलोचना है। प्राच्य भाषाभाषियों को आसुर्य, राक्षस, बर्बर, कलहप्रिय संबोधित किया गया है। पंचविंश ब्राह्मण में व्रात्य कहकर उनकी इस प्रकार निंदा की गई है—'व्रात्य लोग उच्चारण में सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं और यद्यपि वे (वैदिक धर्म) में दीक्षित नहीं हैं, फिर भी दीक्षा पाए हुओं की भाषा बोलते हैं।'[2]

इन उद्धरणों से यह अनुमान लगाया गया है कि 'प्राच्य में संयुक्त व्यंजन समीकृत हो गए हो, ऐसी प्राकृत प्रवृत्तियाँ हो चुकी थीं।'[3]

मध्यदेशीय भाषा की यह विशेषता रही है कि वह नवीन युग के अनुरूप अपना रूप बदलती चलती है। उदीच्य के सदृश न तो सर्वथा रूढिबद्ध रहती है और न प्राच्यो के सदृश शुद्ध रूप से सर्वथा हटती ही जाती है। वह दोनों के बीच का मार्ग पकड़ती चलती है। प्राच्य बोली में क्रमश. परिवर्तन होते गए और ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी आते आते शुद्ध वैदिक बोली से प्राच्य भाषा इतनी भिन्न हो गई कि महर्षि पतञ्जलि को स्पष्ट कहना पड़ा—'असुर लोग संस्कृत शब्द 'अरय.' का 'अलयो' या 'अलवो' उच्चारण करते थे।'

१—तस्माद् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग उद्यते, उदञ्च उ एव यन्ति वाचम् शिक्षितम्, यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति। (कौषीतकि ब्राह्मण, ७-६।)

२—अदुरुक्तवाक्यम् दुरुक्तम् आहु, अदीक्षिता दीक्षितवाचम् वदन्ति—
(ताण्ड्य या पंचविंश ब्राह्मण, १७-४।)

३—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ० ६२।

[भारतीय आर्य भाषा के विकास की द्वितीय अवस्था]

इस अवस्था में दंत्य के मूर्द्धन्यीकरण की प्रक्रिया परिपक्व हो चुकी थी। 'र' तथा 'ऋ' के पश्चात् दंत्य वर्ण मूर्द्धन्य हो जाता था। संस्कृत 'कृत' का 'कट', 'अथ' का 'अट्ठ' और 'अर्थ' का 'अट्ठ' इसका प्रमाण है। किंतु वे ही शब्द मध्य देश में 'कत' (किंत), 'अत्थ' और 'अट्ठ' बन गए। 'र' का 'ल' तो प्रायः दिखाई पड़ता है। 'राजा' का 'लाजा', 'क्षीर' का 'खील', 'मृत' का 'मुत', 'भर्ता' का 'भत्ता' रूप इस तथ्य का साक्षी है। डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत है कि 'विकृति' का 'विकट', 'किम्-कृत' का 'कीकट', 'नि कृत' का 'निकट', 'अन्त' का 'अणड' रूप इस बात को स्पष्ट करता है कि वैदिक काल में ही विकार की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी। किंतु परिवतन का जितना स्पष्ट रूप इस काल में दिखाई पड़ता है उतना वैदिक काल में नहीं।

डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[1] का मत है कि इस प्रकार भारतीय आर्य भाषा के विकास की द्वितीय अवस्था व्यंजनों के समीभवन आदि परिवर्तनों के साथ सर्वप्रथम पूर्व में आई। इस काल में भाषा के प्रादेशिक रूप त्वरित गति से फैलते जा रहे थे। प्रारंभ में विजित अनार्यों के बीच बसे हुए आर्यों की भाषा के मुख्य मुख्य स्थानों पर द्वीपों के समान केंद्र थे, परंतु जिस प्रकार अग्नि किसी वस्तु का ग्रास करती हुई बढ़ती जाती है, उसी प्रकार आर्यभाषा पंजाब से बड़े वेग से अग्रसर हो रही थी, और ज्यों ज्यों अधिकाधिक अनार्य भाषी उसके अनुगामी बनते जा रहे थे त्यों त्यों उसकी गति भी क्षिप्रतर होती जाती थी। धीरे धीरे अनार्य भाषाओं के केवल गंगातटवर्ती भारत में कुछ ऐसे केंद्र रह गए जिनके चारों ओर आर्यभाषा का साम्राज्य छाया हुआ था।

[ईसा पूर्व ६ठी शताब्दी से २०० वर्ष पूर्व]

यदि अनार्य आर्यों के संपर्क में न आए होते तो भी वैदिक भाषा में परिवतन अवश्य होता। किंतु अनार्यों का सहवास होने पर भी आर्यभाषा अपरिवर्तनीय बनी रहे, यह संभव था ही नहीं। अनार्यों के उच्चारण की दूषित प्रणाली, उनके नित्यव्यवहृत शब्दों का प्रयोग, देश की जलवायु का प्रभाव दूरस्थ स्थानों पर आर्यों के निवास ऐसे कारण थे कि वैदिक भाषा में परिवतन द्रुत गति से होना स्वाभाविक हो गया। हाँ, इतना अवश्य था कि भाषापरिवर्तन का यह वेग पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में द्रुत गति से बढ़ने लगा।

१—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—भारतीय आर्यभाषा और हिंदी पृ ६४

ईसा से पूर्व ६ठी शताब्दी में शाक्य वंश में एक प्रतिभासंपन्न व्यक्ति उत्पन्न हुआ। उसने जनभाषा में एक क्रांति उत्पन्न की। संस्कृत की अपेक्षा जनभाषा का सम्मान बढ़ा। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों का वाहन संस्कृत को त्यागकर जनभाषा को ग्रहण किया। जनभाषा का इतना सम्मान और इतने बड़े भूभाग पर उसके प्रचार का प्रयास संभवतः बुद्ध से पूर्व आर्य देश में कभी नहीं हुआ था।

बुद्धजन्म से पूर्व उत्तर भारत के चार वंशों—मगध, कोशल, वत्स एवं अवंती—में सर्वाधिक शक्तिसंपन्न राज्य कोशल था। यह हमारे देश की परंपरा रही है कि शक्तिशाली जनपद की भाषा को अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक गौरव प्रदान करके उसे एक प्रकार की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया जाता रहा है। अतः स्वाभाविक रीति से कोशल की जनभाषा को नित्य प्रति के कार्य-व्यवहार में प्रयुक्त किया गया होगा। इसका प्रभाव संपूर्ण उत्तर भारत की बोलियों पर पड़ना स्वाभाविक था।

ब्राह्मण और व्रात्य

प्रश्न उठता है कि बुद्ध से पूर्व कोशल एवं मगध की भाषा का क्या स्वरूप रहा होगा? ऐसा प्रमाण मिलता है कि वैदिक आर्य पूर्व के अवैदिक आर्यों को व्रात्य कहकर पुकारते और उनकी भाषा को अशुद्ध समझते थे। मगध तो ब्राह्मण काल में आर्य देश से प्रायः बाहर समझा जाता था[1]। किंतु बुद्धजन्म के कुछ पूर्व मगध एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। यह निश्चित है कि उस समय तक आर्य मगध में जम चुके होंगे और उनकी भाषा व्रात्यों से प्रभावित हो रही होगी। यद्यपि पश्चिमी आर्य व्रात्यों के विचारों का सम्मान नहीं करते थे परंतु उनकी भाषा को आर्य परिवार के अंतर्गत मानते थे। यहाँ तक कि ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में मागधी का प्रभाव ताड्य ब्राह्मण में स्पष्ट झलकने लगा। डा० सुनीतिकुमार का मत है कि 'Real Prakrit stage was first attained by I A in the east in कोशल and in मगध[2]।' सर्वप्रथम वास्तविक प्राकृत कोशल और मगध में बनी।

१—ऋग्वेद (३, ५३, १४) में मगध का नाम केवल एक बार आता है। अथर्ववेद में मागधों को विलक्षण मनुष्य कहा गया है।

२—S K Chatterjee—O D B L, page 48

इस काल में मगध में बौद्ध और जैन धर्म का प्रसार हुआ। धर्मप्रचार के लिये पूर्वी जनभाषा का प्रयोग हुआ। संस्कृत से अनभिज्ञ जनता ने इस आंदोलन का स्वागत किया। प्रश्न है कि इस जनभाषा का स्वरूप क्या रहा होगा[1]। महात्मा बुद्ध की मातृभूमि मगध होने से उन्हें जन्मभूमि की भाषा का ज्ञान स्वभावतः हो गया होगा। राजकुमार सिद्धार्थ ने पंडितों से संस्कृत का अध्ययन किया होगा। घरबार छोड़ने पर उस युवक ने दूर दूर तक भ्रमण करके जनभाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा। इस प्रकार कोशल, काशी एवं मगध की बोलियों से तो उन्हें अवश्य परिचय हो गया होगा। तात्पर्य यह है कि मध्यदेश और पूर्व की जनबोलियों का बुद्ध को पूरा अनुभव रहा होगा। बुद्ध ने उन सब के योग से अपने प्रवचन की भाषा निर्मित की होगी?

ईसा पूर्व ५ के उपरांत

[बुद्ध के प्रवचन की भाषा अनिश्चित है किंतु वह कालांतर में लेखबद्ध होने पर पाली भाषा मानी गई।]

बुद्धकाल में बुद्धिवादी ब्राह्मणों का एक ऐसा वर्ग था जो अपने साहित्य को उच्च शिक्षाप्राप्त विद्वानों तक ही सीमित रखना चाहता था। वे लोग उदीच्य भाषा तक तो अपनी मातृभाषा को ले जाने को प्रस्तुत थे परन्तु प्राच्य बोली को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। बुद्ध के जीवनकाल में भाषा के क्षेत्र में यह भेदभाव स्पष्ट हो गया था। प्राच्य जनबोली में बुद्ध के उपदेश संस्कृत भाषा से इतने दूर चले गए थे कि बुद्ध के दो ब्राह्मण शिष्यों को तथागत से उनकी वाणी का संस्कृत में अनुवाद करने के लिये अनुरोध करना पड़ा। बुद्ध भगवान् को यह अभीष्ट न जान पड़ा और उन्होंने यही निश्चय

---

1 B t Buddhism and Jainism two religions which had their origin in the East at first employ d la guages based on eastern vernaculars or on a Koine that grew up on the basis of the Prakritic dialects of th midland, and was used in the ea ly M I A Period (B. C. 500 downwards) as a language of intercourse among the ma ses who did not care fo the Sanskrit of Brahman and the Rajanya.

S K Chatte jee—O D B L.
Pag 53

किया कि 'समस्त जन उनके उपदेश को अपनी मातृभाषा में ही ग्रहण करें'। "अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचन परियापुणितु" [भिक्खुओ अपनी अपनी भाषा मे बुद्धवचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ।]

इसका परिणाम यह हुआ कि देश्य भाषाओ का प्रभाव बढने लगा और इसमें प्रचुर साहित्य निर्मित होने लगा। जिस भाषा में सिंहल देश में जाकर बुद्धसाहित्य लेखबद्ध हुआ उसे पालि कहते हैं।

सभवत. हमारे देश में लौकिक भाषा को सस्कृत के होड़ में खड़ा करने का यह प्रथम प्रयास था। इस प्रयास के मूल मे एक जनक्राति थी जो वैदिक सस्कृत से अपरिचित होने एव वैदिक कर्मकाड के आडबर से असतुष्ट होने के कारण उत्पन्न हुई थी। उपनिषदों का चिंतक द्विजाति वर्ग जनसामान्य की उपेक्षा करके स्वकल्याणसहित ब्रह्मचिंतन में सलग्न हो गया था, किंतु बौद्ध भिक्षु और जैनाचार्य जनसामान्य को अपने नवीन धर्म का सदेश जनभाषा के माध्यम से घर घर पहुँचा रहे थे।

बुद्ध की विचारधारा को प्रकट करनेवाली भाषा का प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में प्राप्त है। किसी एक जनभाषा को आधार मानकर उसमें प्रदेशानुरूप परिवर्तन के साथ सपूर्ण देश मे व्यवहार के उपयुक्त एक भाषा प्रस्तुत की गई। यह भाषा पालि तो नहीं, किंतु उसके पर्याप्त निकट अवश्य है।

शताब्दियों तक देश विदेश को प्रभावित करनेवाली पालिभाषा के उद्भव पर सक्षेप मे विचार कर लेना आवश्यक है। इस प्रश्न पर भाषाशास्त्रियों के विभिन्न मत हैं—प० विधुशेखर भट्टाचार्य पालि का निर्वचन पङ्क्ति > पति > पत्ति > पट्ठि > पल्लि से बताते हैं। मैक्सवालेसर पाटलिपुत्र से पालि की उत्पत्ति मानते हैं। ग्रीक में 'पाटलि' के स्थान पर 'पालि' शब्द "किसी भारतीय-जनपदीय-भाषा के आधार पर ही लिखा गया होगा।" भिक्षु जगदीश काश्यप पालि की व्युत्पत्ति स० पर्याय > परियाय > पलियाय > पालियाय से बताते हैं। डा० उदयनारायण तिवारी ध्वनिपरिवतन के नियमो के आधार पर उक्त सभी मतो का खडन करते हुए कहते हैं कि "पालि शब्द की सीधी सादी व्युत्पत्ति 'पा' धातु में 'णिच' प्रत्यय 'लि' के योग से सपन्न होती है।" अत 'पालि' का अर्थ हुआ—अर्थों की रक्षा करनेवाली। बुद्ध भगवान् के उपदेशप्रद अर्थों की रक्षा जिस भाषा में हुई वह पालि भाषा कहलाई।

पालि का नामकरण

कतिपय विद्वान् पालिभाषा को मगध की जनभाषा मानते हैं किंतु डा० ओल्डनबर्ग इसे कलिंग की जनभाषा बताते हैं। उनका मत है कि कलिंग में अशोक काल में मथुरा से धर्मोपदेशकों एवं विक्रेताओं का अनवरत आगमन होता रहा, अतः उत्तरी कलिंग को ईसा की प्रथम सहस्राब्दि के पश्चात् दक्षिणी पश्चिम बंगाल तथा महाकोशल अथवा छत्तीसगढ़ से आर्यभाषा प्राप्त हुई। यही भाषा पालि नाम से प्रसिद्ध हुई।

पालि का जन्मस्थान

वेस्टरगार्ड पालिभाषा को उज्जैन की जनपदीय बोली कहते हैं और स्टेनकोनो ने उसे विंध्य प्रदेश की जनभाषा माना है। ग्रियर्सन ने इसे मगध की जनभाषा और श्री रीज डेविड्स ने कोशल की बोली स्वीकार किया है। डा० चैटर्जी का मत रीज डेविड्स से मिलता है। विंडिश और गायगर ने इसे वह साहित्यिक भाषा माना है जो विभिन्न जनपदों के स्थानीय उच्चारणों को आत्मसात् करने के कारण सभी जनपदों में समझी जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कोशल जनपद की बोली की भित्ति पर पालिभाषा का भवन निर्मित हुआ होगा और सबको बोधगम्य बनाने के लिए इसमें एक एक शब्द के कई रूप दिए गए होंगे।

एक ओर तो पालिभाषा उच्चारणगत एवं व्याकरण संबंधी विशेषताओं के कारण आर्यप्राकृत के समीप आ पहुँचती है किंतु दूसरी ओर उसमें वैदिक भाषा की भी कई विशेषताएँ विद्यमान हैं। वैदिक भाषा के समान इसमें भी एक ही शब्द के अनेक रूप मिलते हैं। वैदिक भाषा के सदृश ही देव शब्द के कर्ताकारक बहुवचन में ये रूप मिलते हैं—देवा, देवासे (वैदिक देवासः), करण कारक बहुवचन में देवेहि (वै० देवेभिः) रूप मिलते हैं। 'गो' का रूप संबंध कारक बहुवचन में गोनं या गुन्नं (वैदिक गोनाम्—सं० गवाम्) की तरह रूप बनता है। (२) वैदिक भाषा में लिंग एवं कारकों का व्यत्यय दिखाई पड़ता है। पालि में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं। (३) प्राचीन आर्यभाषा के लुप् प्रत्यय पालि भाषा में विद्यमान हैं। (४) पालि में सभी गणों के धातु रूप प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के सदृश विविध रूपों में विराजमान हैं। उदाहरण के लिये 'भू' धातु के होमि एवं 'भवामि' दो रूप मिलते हैं। (५) सर्वत मर्वत, विशेषत, नामधातु रूपों का प्रयोग पालि में भी संस्कृत के समान होता है। (६) संस्कृत के समान पालि में भी कृदंत

पालि और वैदिक भाषा

के रूप दिखाई पड़ते हैं। (७) तुमुन्नत (Infinite) रूप बनाने के लिये पालि में संस्कृत के समान 'तुम-तवे-तये एव तुये' का योग पाया जाता है।

हम आगे चलकर पालि भाषा और विभिन्न प्राकृतों का संबंध स्पष्ट करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में अश्वघोष विरचित नाटकों में गणिका अथवा विदूषक की बोली प्राचीन शौरसेनी के सदृश तो है ही, वह पालि से भी सादृश्य रखती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उस काल की जनबोली पाली अथवा शौरसेनी मानी जानी चाहिए। तात्पर्य यह है कि मध्यप्रदेश की बोली के रूप में प्रचलित भाषा प्राचीन शौरसेनी अथवा पाली दोनों मानी जा सकती है। दोनों एक दूसरे से इतनी अभिन्न हैं कि एक को देखते ही दूसरे का अनुमान लगाया जा सकता है।

पालि और मागधी

सिंहल निवासियों की यह धारणा रही है कि पालि मगध की भाषा थी क्योंकि बुद्ध भगवान् के मुख से उनकी मातृभाषा मागधी में ही उपदेश निकले होंगे। किंतु भाषाविज्ञान के सिद्धांतों द्वारा परीक्षण करने पर यह विचार भ्रामक सिद्ध होता है। सबसे स्पष्ट अंतर तो यह है कि मागधी में जहाँ तीनों ऊष्म व्यंजन श, स, ष के स्थान पर केवल 'श' का प्रयोग होता है वहाँ पालि में दंत्य 'स' ही मिलता है। मागधी में 'र', 'ल' के स्थान पर केवल 'ल' मिलता है किंतु पालि में 'र', 'ल' दोनों विद्यमान हैं। पुल्लिंग एवं नपुंसक लिंग अकारांत शब्दों के कर्ताकारक एकवचन में मागधी में 'ए' परंतु पालि में 'ओ' प्रत्यय लगता है। किंतु इसके विरुद्ध मध्य भारतीय आर्यभाषा के प्रारंभकाल की सभी प्रवृत्तियाँ पालि में पूर्णतया विद्यमान हैं। 'ऐ' 'औ' स्वर 'ए' 'ओ' में परिणत हो गए हैं। पालि में संयुक्त व्यंजन से पूर्व ह्रस्व स्वर ही आ सकता था। अतः संयुक्त व्यंजन से पूर्व 'ए', 'ओ' का उच्चारण भी ह्रस्व हो गया, यथा—मैत्री > मेत्ती, ओष्ठ > ओट्ठ।

पालिभाषा की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता यह भी है कि इसमें अनेक शब्दों के वे वैदिक रूप भी मिलते हैं जिनको संस्कृत में हम देख नहीं पाते। वैदिक देवासः का पालि में देवासे और देवेभिः का देवेहि, गोनाम् का गोन, पतिना का पतिना रूप यहाँ विद्यमान है। अतः मागधी प्राकृत पालिभाषा के स्वरूप से साम्य नहीं रखती। पालि पर मागधी की अपेक्षा मध्यदेशीय भाषा शौरसेनी का अधिक प्रभाव है। इस प्रकार हमें इस तथ्य का प्रमाण मिल

जाता है कि मध्यदेश की भाषा शौरसेनी का प्रमुख समकालीन प्राकृतों से अधिक महत्त्वपूर्ण था। इसका परिणाम आधुनिक भारतीय भाषाओं पर क्या पड़ा, इस पर आगे चलकर विचार करेंगे।

पालि और प्राकृत कालांतर में पालि के अधिकार भाषायें भी लुप्त होने लगीं और उनका स्थान अनेक ऐसी भाषाओं ने ग्रहण किया जिनके लिये हम अब 'प्राकृत' शब्द प्रयुक्त करते हैं।

प्राकृत भाषा के नामकरण के कारणों पर आचार्यों के विभिन्न मत मिलते हैं। सन् १६६६ ई० के आसपास नमिसाधु काव्यालंकार की टीका करते हुए लिखते हैं—सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः। तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। प्राक्पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादि सुबोधं सकलभाषा निबन्धनभूतं वचनमुच्यते।

जो सहजभाषा व्याकरणादि नियमों से विनिर्मुक्त अनायास वाणी से निकल पड़ती है वह प्राकृत कहलाती है। प्राकृत को संस्कृत का विकृत रूप समझना बुद्धिमानी नहीं। एक ही काल में विद्वान् संस्कृत भाषा का उच्चारण करते हैं। उसी काल में व्याकरणादि के नियमों से अपरिचित व्यक्ति सहज भाव से जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह प्राकृत कहलाती है। भाषाशास्त्री दोनों की तुलना करते हुए संस्कृत के शब्दों में नियम बनाकर प्राकृत भाषा की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि अपठित समाज संस्कृत शब्दों का यथावत् रूप में उच्चारण नहीं कर पाता और ध्वनिपरिवर्तन के साथ उन संस्कृत शब्दों को बोलता रहता है। इस प्रकार संस्कृत भाषा में जहाँ एक ओर पठित समाज के प्रयोग के कारण कुछ कुछ विकास होता रहता है वहाँ प्राकृत भाषा भी अपठित अथवा अर्द्धशिक्षित समाज में विकसित होती रहती है। प्रतिभाशाली व्यक्ति शिक्षित, अर्द्धशिक्षित एवं अशिक्षित सभी समाजों में उत्पन्न होते हैं। जब अशिक्षित एवं अर्द्धशिक्षित समाज में कबीर दादू जैसे महात्मा उत्पन्न होकर अपनी स्वाभाविक प्रतिभा से ऐसी जनभाषा में काव्यरचना करने लगते हैं तो प्राकृत भाषा श्रीसंपन्न हो जाती है और उसके शब्दपरिवर्तन के लिये नियम बनाते हुए संस्कृत शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन के सिद्धांत निर्धारित होते हैं।

आचार्य हेमचंद्र तथा अन्य प्राकृत वैयाकरण प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ और लिखते हैं—

"प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्रभवम्, तत आगतं वा प्राकृतम्।"[१]

अर्थात्—'प्रकृति' शब्द का अर्थ 'संस्कृत' है और प्राकृत का अर्थ हुआ 'संस्कृत से आया हुआ'। इसके दो अर्थ निकाले जा सकते हैं—

(१) संस्कृत शब्दों का उच्चारण शुद्ध रीति से न होने के कारण जो विकृत रूप दिखाई पड़ता है वह प्राकृत है। इस प्रकार प्राकृत भाषा का मूल स्रोत संस्कृत भाषा है।

(२) "संस्कृत उत्पत्तिकारण नहीं अपितु प्राकृत भाषा को सीखने के लिये संस्कृत शब्दों को मूलभूत रखकर उनके साथ उच्चारणभेद के कारण प्राकृत शब्दों का जो साम्य वैषम्य है उसको दिखाते हुए प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने प्राकृत व्याकरण की रचना की। अर्थात् संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत सिखलाने का उन लोगों का यत्न है। इसीलिये और इसी आशय से उन लोगों ने प्राकृत की योनि—उत्पत्तिक्षेत्र कहा है[२]।"

नाटकों में सबसे प्राचीन प्राकृत भाषा का दर्शन अश्वघोष के नाटकों में होता है। अश्वघोष ने तीन प्रकार की प्राकृत (१) दुष्ट पात्र द्वारा (२) गणिका एवं विदूषक द्वारा (३) गोभम् द्वारा प्रयुक्त कराया है। इनमें प्रथम प्रकार की प्राकृत का रूप प्राचीन मागधी से, दूसरे प्रकार की प्राकृत का रूप प्राचीन शौरसेनी एवं तीसरी प्राकृत का रूप प्राचीन अर्धमागधी से मिलता-जुलता है।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

इसी युग के आसपास भाषा में एक नवीन प्रवृत्ति दिखाई पड़ी जिसने देशी भाषा का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया। इस काल में स्वर मध्यम अघोष स्पर्श व्यंजन सघोष होने लगे। इस प्रवृत्ति के कतिपय उदाहरण देखिए—

हित > हिद > हिद > हिअ, कथा > कधा > कधा > कहा, शुक > सुग > सुग > सुअ, मुख > मुघ > मुघ > मुह।

भाषापरिवर्तन की इस प्रवृत्ति ने भाषा के रूप में आमूल परिवर्तन कर दिया। ईसा के उपरांत प्राकृत भाषाओं का भेदभाव क्रमशः अधिक स्पष्ट होने लगा।

---

१ हेमचन्द्र—प्राकृत व्याकरण, ८-१-१।

२ अध्यापक बेचारदास जोशी—जिनागम कथा संग्रह, पृ० ४

ईसा के २ वर्ष पूर्व से २ ई० तक प्राचीन भारतीय भाषाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। (१) सभी शब्दों के रूप प्रायः अकारांत शब्द के समान दिखाई पड़ने लगे। (२) संप्रदान और संबंध कारक के रूप समान हो गए। (३) कर्ता और कर्म कारक के बहुवचन का एक ही रूप हो गया। (४) आत्मनेपद का प्रयोग प्रायः लुप्त सा हो गया। (५) लट्, लिट्, विविध प्रकार के लुङ् समाप्त हो गए। (६) कृदंत रूपों का व्यवहार प्रचलित हो गया।

भाषा की नई प्रवृत्तियाँ

इसी काल में कार्यक>केरक>केर का उद्भव होने लगा जो वैष्णव भक्तों की भाषा में खूब प्रचलित हुआ। इस काल में रामस्य गृहम् के स्थान पर "रामस्स केरक (कार्यक) घरम्" रूप हो गया।

शौरसेनी प्राकृत

शूरसेन (मथुरा) प्रदेश का वर्णन वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। यह स्थान मध्यदेश में आर्य संस्कृति का केंद्र माना जाता था। आर्यभाषा संस्कृत इस प्रदेश की भाषा को सदैव अपने अनुरूप रखने का प्रयास करती आ रही है। स्वर के मध्यस्थित 'द्' 'ध्' यहाँ तद्वत् रूप में विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिये देखिए—

कथयतु>कधेदु, इव>विअ-व्व, आगत>आगदो। इसमें क्ष का क्ख हो जाता है, जैसे—कुक्षि>कुक्खि, इक्षु>इक्खु। इस प्राकृत में संयुक्त व्यंजनों में से एक के लुप्त होने पर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने का नियम नहीं पाया जाता।

शकुंतला नाटक के शौरसेनी प्राकृत के एक उदाहरण से इसकी विशेषताएँ स्पष्ट हो जाएँगी—

इमं अवत्थंतरं गदे तादिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण। अत्ता दाणिं मे सोअणीओत्ति ववसिदं एदं।

संस्कृत रूपांतर—इदमवस्थांतरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन। आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत्।

[शकुंतला, अंक ५]

शौरसेनी की अपेक्षा मागधी[1] प्राकृत में वर्णविकार कहीं अधिक दिखाई पड़ते हैं। इसमें सर्वत्र 'र' का 'ल' और 'स', 'ष्', 'श' के स्थान पर 'श', 'ज' के स्थान पर 'य', 'ज्झ' के स्थान पर य्ह्, य्य, द्य् के स्थान पर ज्, र्य के स्थान पर य्य, ण्य् के स्थान पर न्य्, ज्ञ् के स्थान पर ञ्ञ् हो जाता है। जैसे, राजा> लाजा, पुरुषः> पुलिशे, समर>शमल, जानाति>याणादि, जायते> यायदे, झटिति> य्हति, अद्य> अय्य, आर्य> अय्य, अर्जुन> अय्युण, कार्य> कय्य, पुण्य> पुञ्ञ, अन्य> अञ्ञ, राज्ञः> लञ्ञो, अञ्जलि> अञ्ञलि, शुष्क> शुश्क, हस्त> हश्त, पक्ष> पश्क

अर्ध मागधी

कोशल और काशी प्रदेश की जनभाषा अर्धमागधी कहलाती थी। मगध और शूरसेन के मध्य स्थित होने के कारण दोनों की कुछ कुछ प्रवृत्तियाँ इसमें विद्यमान थीं। कर्ताकारक एकवचन का रूप मागधी के समान 'एकारात', और शौरसेनी के समान 'ओकारात' हो जाता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि स्वरमध्यग स्पर्श व्यजन का लोप होने पर उसके स्थान पर 'य्' हो जाता है, जैसे—सागर> सायर, स्थित> ठिय, कृत> कय।

अर्धमागधी में अन्य प्राकृतों की अपेक्षा दंत्य वर्णों को मूर्धन्य बनाने की प्रवृत्ति सबसे अधिक पाई जाती है। तीसरी प्रवृत्ति है पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय 'त्वा' एव 'त्य' को 'त्ता' एव 'च्च' में बदल देने की। 'तुमुनन्त' शब्दों का प्रयोग पूर्वकालिक क्रिया के समान होता है, जैसे—'कृत्वा' के लिये 'काउँ' का प्रयोग देखा जाता है। यह काउँ> कर्तुम् से बना है।

अर्धमागधी का एक उद्धरण देकर उक्त प्रवृत्तियाँ स्पष्ट की जाती हैं—

तेण कालेण तेण समएण सिंधुसोवीरेसु जणवएसु वीयभए नाम नयरे होत्था, उदायणे नाम राया, पभावई देवी।

१—मागधी प्राकृत का उदाहरण—

अले कुम्भीलआ, कहेहि कहि तुए एशे मणिबधणुक्किण्णणामहेए लाअकीलए अगुलीअए शमाशादिए ?

सस्कृत रूपातर

अरे कुभीरक, कथय, कुत्र त्वयैतन्मणिनधनोत्कीर्ण नामधेय राजकीयमगुलीयक समासादितन्।

संस्कृत रूपांतर—

तस्मिन् काले तस्मिन् समये सिंधुसौवीरेषु जनपदेषु वीतभयं नाम नगरं आसीत्। उदायनो नाम राजा प्रभावती देवी।

भाषाशास्त्रियों का मत है कि महाराष्ट्री-शौरसेनी एक प्राकृत के दो भेद हैं। वास्तव में शौरसेनी प्राकृत का दक्षिणी रूप महाराष्ट्री है। इस प्रकार

महाराष्ट्री प्राकृत

शौरसेनी से महाराष्ट्री में यत्र तत्र अंतर दिखाई पड़ता है। इस प्राकृत के प्रमुख काव्य हैं—'गउड वहो', 'सेतुबंध', 'गाथासप्तशती'। इस प्राकृत की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

स्वरमध्यग अल्पप्राण व्यंजन समाप्त हो गए हैं और महाप्राण में केवल 'ह्' ध्वनि बच गई है, जैसे—प्राकृत > पाउअ, प्राभृत > पाहुड, कपपति > कहेइ, पाषाण > पाहाण

महाराष्ट्री में कारकों के प्रत्यय अन्य प्राकृतों से भिन्न हैं। अपादान कारक एकवचन में आहि प्रत्यय प्राय मिलता है जैसे—'दूरात्' का 'दूराहि' रूप मिलता है। अधिकरण के एकवचन में म्मि अथवा ए प्रत्यय दिखाई पड़ता है, जैसे 'लोकस्मिन्' का 'लोअम्मि' रूप।

'आत्मन्' का रूप शौरसेनी एवं मागधी में 'अत्त' होता है किंतु महाराष्ट्री में 'अप्प' रूप मिलता है। कर्मवाच्य में य प्रत्यय का रूप इज्ज हो जाता है जैसे—पृच्छ्यते > पुच्छिज्जइ गम्यते > गमिज्जइ।

महाराष्ट्री प्राकृत का उदाहरण

ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमार केसर सिहाइं।
ओअंसयन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं।

संस्कृत रूपांतर—

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।

प्राकृत के इन विभिन्न भेदों के होते हुए भी इनमें ऐसी समानता थी कि एक का जाननेवाला औरों को समझ लेता था। सामान्य शिक्षित व्यक्ति भी प्रत्येक प्राकृत को सरलता से बोधगम्य बना लेता था। आरंभ में तो इन प्राकृतों में और भी कम अंतर था। भाषा प्रायः एक थी जिसमें उच्चारणभेद

के कारण अंतर होता जाता था। डा० वुलनर इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"In the older stage the difference was still less marked. Still further back we should find only the difference between 'correct' and 'incorrect' pronunciation, grammatical speech and ungrammatical, standard speech and dialectical the differences between the speech of educated and uneducated people speaking substantially the same language.

—Dr A C Woolner, Introduction to Prakrit, Page 9

संस्कृत नाटकों में प्राप्य शौरसेनी प्राकृत के संबंध मे हम पहले कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। ईसा की दूसरी शती से इस प्राकृत का प्रयोग होने लगा था और इसका क्रम शताब्दियों तक चलता रहा।

अपभ्रंश का उद्भव प्रारंभ में शौरसेनी प्राकृत जनभाषा पर पूर्णतया निर्भर रही किंतु कालांतर मे वह शिष्ट साहित्य के अनुसार बोलचाल की भाषा से असंपृक्त होकर व्याकरणसंमत भाषा पर सर्वथा अवलंबित रहने लगी। संभवतः चौथी शताब्दी तक तो जनभाषा और नाटक की प्राकृत में तादात्म्य सा बना रहा किंतु चौथी शताब्दी के उपरांत जनभाषा का स्वाभाविक रूप साहित्यिक रूप से बहुत दूर जा पड़ा। इस मध्य भारतीय आर्यभाषा के विकास ने शौरसेनी का एक नवीन रूप प्रस्तुत कर दिया जिसमें जनसामान्य का लोकसाहित्य विरचित होने लगा। भाषा का यह नवीन प्राकृत रूप विकसित होकर अपभ्रंश के नाम से प्रख्यात हुआ।

अपभ्रंश के उद्भव काल के संबंध में विविध मत हैं। वररुचि ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश भाषा का कहीं उल्लेख नहीं किया। संभवतः उस काल तक इस भाषा का अस्तित्व नहीं बन पाया था।

उद्भव काल जैकोबी महोदय ने शिलालेखों एवं भामह, दंडी की रचनाओं के आधार पर यह मत स्थापित किया है कि छठी शताब्दी में अपभ्रंश नामक भाषा का उपयोग साहित्यिक रूप में होने लगा था।

जैकोबी ने द्वितीय तृतीय शताब्दी के मध्य विरचित 'पउमचरिउ' में अपभ्रंश भाषा का अंश ढूँढ निकाला है। किन्तु प्रायः सभी भाषाशास्त्रियों ने इस मत का खंडन किया है। 'मृच्छकटिक नाटक' के द्वितीय अंक में कुछ कुछ अपभ्रंश भाषा के समान प्राकृत का रूप दिखाई पड़ता है। 'विक्रमोर्वशी नाटक के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश भाषा की छंदयोजना और शैली प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चौथी पाँचवीं शताब्दी में अपभ्रंश का स्वरूप बन चुका था।

डा चैटर्जी[1] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पाँचवीं शताब्दी में गांधार टक्क आदि उत्तरी पंजाब के भूभागों एवं सिंध राजस्थान मध्यदेश स्थित आभीरों में अपभ्रंश भाषा का विधिवत् प्रचलन हो चला था। यह जनभाषा शौरसेनी प्राकृत से दूर हटकर अपभ्रंश का रूप धारण कर चुकी थी।

अपभ्रंश के नामकरण का इतिहास

ईसा पूर्व दूसरी शती में सर्वप्रथम पतंजलि[2] ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने गो' शब्द का गावी गोणी, गोता आदि रूप अपभ्रंश माना है। भर्तृहरि[3] ने भी व्याडि नामक आचार्य का मत देते हुए अपभ्रंश शब्द का उल्लेख किया है।

शब्द संस्कार हीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छंति ,विशिष्टार्थ निवेशिनम् ॥

भरत मुनि ने अपभ्रंश भाषा का उल्लेख तो नहीं किया है किंतु एक स्थान पर उन्होंने उकारबहुला भाषा का उल्लेख इस प्रकार किया है।

हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥

नाट्य० ११, ६२

---

१ Dr S. K. Chatterjee—O D B. L. Page 88

२ एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद् यथा गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।

३ वार्तिक—शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद्विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रूढितामापद्यमाना स्वातंत्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादादिभिर्वा गाव्यादयस्तत्प्रकृतयोऽपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते।

उकारबहुला भाषा का नाम कालातर में अपभ्रश हो गया। अतः भरत मुनि के समय एक ऐसी भाषा निर्मित हो रही थी जो आगे चलकर अपभ्रश के नाम से विख्यात हो गई। भरत मुनि ने सस्कृत और प्राकृत को तो भाषा कहा किंतु शक, आभीरादि बोलियो को विभाषा नाम से अभिहित किया। अतः हम अपभ्रंश को उस काल की विभाषा की सज्ञा दे सकते हैं।

भामह[१] ने छठी शताब्दी में अपभ्रश की गणना काव्योपयोगी भाषा के रूप में किया। इसके उपरात दडी (७वीं शताब्दी) उद्योतन सूरि (वि० स० ८३५), रुद्रट (नवीं शताब्दी), पुष्पदत (१०वीं शताब्दी) आदि अनेक आचार्यों ने इस भाषा का उल्लेख किया है। राजशेखर ने तो काव्य-पुरुष के अवयवो का वर्णन करते हुए लिखा है—

शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुख प्राकृतं बाहुः,
जघनमपभ्रशः, पैशाच पादौ, उरो मिश्रम्।

अ० ३, पृ० ६

इसके उपरात मम्मट (११वीं शताब्दी), वाग्भट (११४० वि०) रामचद्र गुणचद्र (१२वीं शताब्दी) अमरचद्र (१२५० ई०) ने अपभ्रश को सस्कृत और प्राकृत के समकक्ष साहित्यिक भाषा स्वीकार किया।

उक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि पतजलि[२] काल में जिस अपभ्रश शब्द का प्रयोग भ्रष्ट बोली के लिये होता था वही छठी शताब्दी मे काव्यभाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि पाली, शौरसेनी तथा अन्य मध्य आर्यभाषाओं की स्थापना के उपरात पश्चिमी एव उत्तर पश्चिमी भारत के अशिक्षित व्यक्तियों के मुख से अपभ्रष्ट उच्चारण होने के कारण अपभ्रश शब्द का आविर्भाव हुआ था। जब अपभ्रष्ट शब्दों की सूची इतनी विस्तृत हो गई कि भाषा का एक नया रूप निखरने लगा तो

---

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्य गद्य पद्य च तद्द्विधा।
सस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्रश इति त्रिधा॥

काव्यालकार १ १६ -८

२ No one would suggest that the word Apabhramsa, as used by Patanjali, means anything but dialectal, ungrammatical or vulgar speech, or that it can mean anything like the tertiary development of M I A

S K Chatterjee—O D B L, Page 89

इस नवीन भाषा को प्राकृत से भिन्न सिद्ध करने के लिये अपभ्रंश नाम से पुकारा गया। नाटकों की प्राकृत एवं आधुनिक भाषाओं के मध्य शृंखला जोड़ने के कारण भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस भाषा का बड़ा महत्व माना गया है। इस भाषा का उत्तरोत्तर विकास होता गया और चौदहवीं शताब्दी में शौरसेनी अपभ्रंश ने अवहट्ट का रूप धारण कर लिया। इस भाषा में कीर्तिलता, प्राकृतपैंगलम् आदि ग्रंथों की रचना हुई जिनका प्रभाव परवर्ती कवियों पर स्पष्ट झलकता है।

बाण भट्ट ने अपने मित्र भाषाकवि ईशान का उल्लेख किया है। साथ ही प्राकृत कवि वायुविकार के उल्लेख से स्पष्ट है कि ईशान अपभ्रंश भाषा का कवि रहा होगा। महाकवि पुष्पदंत ने अपने अपभ्रंश महापुराण की भूमिका में ईशान का बाण के साथ उल्लेख किया है।

प्राकृत और अपभ्रंश का अन्तर

जहाँ प्राकृत के अधिकांश शब्द दीर्घस्वरांत होते हैं, अपभ्रंश के अधिकांश शब्द ह्रस्वस्वरांत देखे जाते हैं। जैकोबी[1] और अल्सडार्फ[2] ने इस अंतर पर बड़ा बल दिया है। यद्यपि इस नियम में कहीं कहीं अपवाद भी मिलता है किंतु इसके दो ही कारण होते हैं—(१) या तो साहित्यिक प्राकृत के प्रभाव से अपभ्रंश के शब्द दीर्घस्वरांत बन जाते हैं, (२) अथवा जब ह्रस्व स्वर अंत में आ जाते हैं तो उन्हें दीर्घ करना आवश्यक हो जाता है।

अपभ्रंश में भाषा के सरलीकरण की प्रक्रिया प्राकृत से आगे बढ़ी। इस प्रकार प्राकृत की विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ यहाँ आकर भली प्रकार विकसित हो उठीं। क्रियापदों के निर्माण कृदंत विकृत रूपों एवं कारक संबंध की अभिव्यक्ति में अपभ्रंश ने प्राकृत से सर्वथा स्वतंत्र पथ अपनाया। इस प्रकार अपभ्रंश में प्राकृत से कई मूल अंतर धातुरूपों शब्दरूपों, परसर्गों के प्रयोग आदि में दिखाई पड़ता है।

(१) अपभ्रंश में कृदंतज रूपों का व्यवहार बढ़ने से विकृत रूपों का प्रयोग अत्यंत सीमित हो गया। हम आगे चलकर इसपर अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

---

[1] जैकोबी—सनत्कुमार चरितम् पृ० १।

[2] अल्सडार्फ—कुमारपाल प्रतिबोध पृ० ६-७

(२) लिंगभेद को प्राय. मिटाकर अपभ्रश ने शब्दरूपों को सरल बना दिया। स्त्रीलिंग शब्दों की सख्या नगण्य करके नपुंसक लिंग को सर्वथा बहिष्कृत कर दिया गया। अतः पुल्लिग रूपो की प्रधानता हो गई।

(३) आठ कारकों के स्थान पर तीन कारकसमूह—(क) कर्ता-कर्म-सबोधन, (ख) करण अधिकरण, (ग) सप्रदान, अपादान एव सबध रह गए।

(४) अपभ्रश की सबसे बड़ी विशेषता परसर्गों का प्रयोग है। लुप्त-विभक्तिक पदों के कारण वाक्य में आनेवाली अस्पष्टता का निवारण करने के लिये परसर्गों का प्रयोग अनिवार्य हो गया।

(५) देशज शब्दों एव धातुओं को अपनाने से तथा तद्भव शब्दो के प्रचलित रूपों को ग्रहण करने से प्राकृत से भिन्न एक नई भाषा का स्वरूप निखरना।

(६) डा० टेस्सिटोरी ने एक अतर बहुत ही स्पष्ट किया है। प्राकृत के अतिम अक्षर पर विद्यमान अनुस्वार को उसके पूर्ववर्ती स्वर को ह्रस्व करके अपभ्रश में अनुनासिक कर दिया जाता है।

(७) व्यजनद्वित्व के स्थान पर एक व्यजन लाने के लिये क्षतिपूर्त्ति के हेतु आद्य अक्षर का दीर्घीकरण।

(८) अत्य स्वरों का ह्रास एव समीपवर्ती स्वरों का सकोच—जैसे, प्रिया > पिय।

(९) उपात्य स्वरों की मात्रा को रक्षित रखना। गोरोचण > गोरोअण।

(१०) पुरुषवाचक सर्वनामों के रूप में कमी।

(११) शब्द के आदि अक्षर के स्वर को सुरक्षित रखना, जैसे—ग्राम > गाम, ध्यान > झाण। पर कहीं कहीं लोप भी पाया जाता है, जैसे—अरण्ण > रण्ण।

(१२) 'य', 'व' श्रुति का सन्निवेश पाया जाता है, जैसे,—सहकार > सहयार।

(१३) आदि व्यजन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। आदि व्यजन का महाप्राणकरण भी पाया जाता है, जैसे—स्तब्ध > ढड्ढ, भगिनी > बहिणि।

परवर्ती अपभ्रंश

प्राकृत एवं आधुनिक आर्य भाषाओं के मध्य संबंध जोड़नेवाली शृंखला के विषय में विद्वानों के दो वर्ग बन गए हैं। पिशेल, ग्रियर्सन, भंडारकर, चैटर्जी तथा वुलनर का मत है कि प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के मध्य अपभ्रंश नामक जनभाषा थी जिसकी विभिन्न बोलियों में कुछेक विकसित होकर देशभाषा का रूप धारण कर सकीं। दूसरा वर्ग जैकोबी, कीथ और आक्सफोर्ड का है जो इस मत से सहमत नहीं। उनका मत है कि अपभ्रंश किसी जनभाषा का साहित्यिक रूप नहीं अपितु प्राकृत का ही रूपांतर है जो सरलीकरण के आधार पर बन पाया था। इसकी शब्दावली तो प्राकृत की है केवल देशी भाषा के आधार पर संज्ञा एवं क्रियारूपों की छटा इसमें दिखाई पड़ती है। कभी कभी तो इस भाषा में प्राकृत जैसी ही रूपरचना देखने में आती है।

उक्त दोनों प्रकार के विचारक अपने अपने मत के समर्थन में युक्ति एवं प्रमाण उपस्थित करते हैं। संभवतः सर्वप्रथम सन् १८४१ ई० में विक्रमोर्वशी नाटक का संपादन करते हुए बोल्लेनसेन (Bollensen) ने चतुर्थ अंक की अपभ्रंश को बोलचाल की भाषा (Volksdialekt, Volksthu mliche Skrache) घोषित किया। उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश के सुबंत, तिङन्त, समास और तद्धित की विशेषताएँ दिखाकर यह सिद्ध किया कि अपभ्रंश उस काल की बोलचाल की भाषा थी। इस भाषा की विशेषताओं को आगे चलकर ब्रजभाषा ने आत्मसात् कर लिया।

दूसरे भाषाशास्त्री हार्नली (Hornle) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि जिस समय शौरसेनी प्राकृत नितांत साहित्यिक भाषा बन गई थी उस समय उसकी अपेक्षा अधिक विकृत होकर अपभ्रंश सामान्य जनता के व्यवहार का वाहन बन रही थी। आपका निश्चित मत है कि आर्यभाषाओं के विकासक्रम में प्राकृत कभी जनसामान्य की बोलचाल की भाषा नहीं रही, किंतु इसके विपरीत मागधी एवं शौरसेनी अपभ्रंश ऐसी बोलचाल की भाषाएँ रही हैं जिन्होंने आगे चलकर आधुनिक आर्यभाषाओं को जन्म दिया।

पिशेल का मत इससे भिन्न है। उनका कथन है कि शुद्ध संस्कृत से भ्रष्ट होनेवाली भाषा अपभ्रंश है। उन्होंने पतंजलि[1] और दंडी[2] के मतों में

---

१ एकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः

२ शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्।

समन्वय स्थापित करते हुए अपना मत स्थिर किया है। उनका मत है कि अपभ्रश भारत की जनबोली रही है और इसे एक प्रकार की देशभाषा समझना चाहिए। पिशेल ने प्राकृत के टीकाकार रविकर[1] और वाग्भट[2] के मतो को समन्वित करते हुए अपना यह मत बनाया है। उन्होंने यह घोषित किया कि कालक्रम से प्राकृत एव आधुनिक भाषाओं के मध्य शृंखला जोड़ने-वाली भाषा अपभ्रश है। आगे चलकर ग्रियर्सन, भाडारकर एव चैटर्जी ने इसका समर्थन किया।

जैकोबी ने पिशेल के उक्त मत का बलपूर्वक खडन किया। उन्होने कहा कि अपभ्रश कभी देशभाषा हो नहीं सकती। उनका कथन है कि यद्यपि प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रश में देशी शब्दों की कहीं अधिक सख्या है किंतु देशी शब्दों से ही अपभ्रश भाषा नहीं बनी है। यह ठीक है कि देशी और अपभ्रश शब्दों में बहुत अतर नहीं होता और हेमचद्र ने अनेक ऐसे शब्दों को अपभ्रश माना है जो देशीनाममाला में भी पाए जाते हैं। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि अपभ्रश एव ग्रामीण शब्दों में बहुत ही सामीप्य रहा है। किंतु दोनों को एक समझना भी बुद्धिमानी नहीं होगी। उन्होंने दडी के इस मत का समर्थन किया कि "आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रश इति स्मृतः" अर्थात् आभीरादि की बोलियाँ काव्य में प्रयुक्त हों तो वे अपभ्रंश कहलाती हैं।

जैकोबी का समर्थन और ग्रियर्सन का खडन करते हुए डा० कीथ ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अपभ्रश एकमात्र साहित्यिक भाषा थी जिसका उद्भव सिंधु देश के प्राकृत काव्य में आभीरों की पदावली के समिलन से हुआ। आभीरों ने तत्कालीन (३०० ई० से ६०० ई० तक) पजाब की प्राकृत में अपनी जनबोली का मिश्रण कर अपनी सभ्यता के प्रचारार्थ पजाब से बिहार तक अपभ्रश साहित्य को विकसित किया। कीथ के इस सिद्धात के अनुसार अपभ्रश वास्तव में जनभाषा नहीं अपितु साहित्यिक प्राकृत में पश्चिमी बोली की चाशनी देकर बनी काव्यभाषा है। उनके मतानुसार अपभ्रश कभी देशभाषा नहीं रही। अत. प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के मध्य वह शृंखला कभी नहीं बन सकती।

---

१ अपभ्रश दो प्रकार की हैं। प्रथम तो प्राकृत से विकसित हुई और सुबन्त और तिङन्त में उससे बहुत दूर नहीं हटी। दूसरी देशभाषा के रूप में थी।

२ किसी भी प्रांत की शुद्ध बोलचाल की भाषा है और साहित्यिक रूप धारण करने पर सस्कृत, प्राकृत और पैशाची के सदृश बन जाती है।

आल्सफोर्ड ने भी पैकोबी के मत का समर्थन करते हुए कहा कि अपभ्रंश एकमात्र काव्यभाषा थी क्योंकि गद्य में उसकी कोई रचना उपलब्ध नहीं। उन्होंने अपभ्रंश को (Weiler fortgesohrittenen volkssprache) प्राकृत एवं जनभाषा का मिश्रण माना। उनका कथन है कि जब प्राकृत साहित्य जनभाषा से बहुत दूर हटने के कारण निष्प्राण होने लगा तो उसे जनभाषा का शीतल छींटा डालकर पुनरुज्जीवित किया गया। अतः अपभ्रंश को जनभाषा कहना धृष्टता होगी क्योंकि प्राकृत की शब्दावली एवं भाषाशैली तद्वत् बनी रही उसमें केवल जनभाषा के सुबंत तिङन्त का ही समावेश हो पाया।

ग्रियर्सन ने अपभ्रंश के उद्भव का मूल सिद्धांत पिशेल से ग्रहण करके उसे भली प्रकार विकसित किया। उन्होंने प्रमाणित किया कि अपभ्रंश वास्तविक जनभाषा ही थी जो क्रमशः विकसित होती हुई बोलचाल की प्राकृत एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के मध्य शृंखला स्थापित करनेवाली बनी। ग्रियर्सन का कथन है कि जब द्वितीय प्राकृत (मागधी शौरसेनी आदि) साहित्यिक भाषा बनकर व्याकरण के नियमों एवं विविध विधि विधानों से जकड़ने के कारण इतनी रूढ़ हो गई कि प्रचलित बोलचाल की भाषा से इसने सर्वथा संबंध विच्छेद कर लिया, उस समय समानान्तर जनभाषाएँ निरंतर विकसित होती गईं और कालांतर में उन जनभाषाओं से अधिक संपन्न होती गईं जिनके आधार पर प्राकृत भाषाएँ निर्मित हुई थीं। इन्हीं समानान्तर जनभाषाओं का साहित्यिक स्वरूप अपभ्रंश विकसित होकर आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप में परिणत हो गया। इस प्रकार अपभ्रंश भाषाएँ एक ओर तो प्राकृत के समीप पहुँचती हैं और दूसरी ओर आधुनिक आर्यभाषाओं का स्पर्श करती हैं।

ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'लैंग्वेजेज आफ इंडिया' में अपभ्रंश का बड़ा व्यापक लक्षण किया है। इसके अंतर्गत उन्होंने उस जनभाषा को भी संनिविष्ट कर लिया है जो प्राकृत भाषाओं का आधार थी। इस प्रकार उन्होंने प्रारंभिक अपभ्रंश और साहित्यिक अपभ्रंश कहकर अपभ्रंश के दो भेद किए हैं। जन भाषाएँ स्थानभेद के कारण भिन्न भिन्न अपभ्रंश रूपों में विकसित होती गईं। किंतु उनका नाम देशभाषा रखा गया। ग्रियर्सन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि देशभाषाएँ अनेक थीं किंतु उनमें नागर जनभाषा ही सबसे अधिक विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण कर सकी। मार्कंडेय एवं राम तर्कवागीश

ने जिन २७ प्रकार के अपभ्रंशों का उल्लेख किया है वे वास्तव मे केवल नागर अपभ्रश के विविध रूप हैं जिन्होंने दूरी के कारण अल्प परिवर्तित रूप धारण कर लिया। यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि नागर के अतिरिक्त अन्य देशभाषाओं ने भी वर्णनात्मक कविता का साहित्य सृजन किया तथापि नागर अपभ्रश की उत्कृष्टता के समुख वे साहित्य सचय के योग्य नहीं प्रतीत हुए। अतः उनका उल्लेख अनावश्यक प्रतीत हुआ।

भडारकर, चैटर्जी और बुलनर ने ग्रियर्सन के इस मत का समर्थन किया। इन भाषाशास्त्रियों ने प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषाओं के मध्य अपभ्रश को शृखला की एक कड़ी माना। भडारकर ने स्पष्ट किया कि आधुनिक आर्यभाषाओं के शब्द एव उनकी व्याकरण सबधी रूपरचना या तो अपभ्रश से साम्य रखती है अथवा उससे उद्भूत है। अपभ्रश में व्याकरण के जिन प्रारभिक रूपों का दर्शन होता है वे ही आधुनिक आर्यभाषाओ में विकसित दिखाई पड़ते हैं।

चैटर्जी ने ग्रियर्सन के अपभ्रश सबधी मत का पूर्णतया विवेचन करके यह सिद्ध किया कि शौरसेनी अपभ्रश भाषा इतनी अधिक शक्तिशाली बन गई कि अन्य सभी अपभ्रशों ने उसकी प्रभुता स्वीकार करके उसके समुख माथा टेक दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्यिक एव सास्कृतिक भाषा के रूप में शौरसेनी अपभ्रश का समस्त उत्तर भारत में एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया। मध्य देश में स्थित राजपूती केंद्रों की राजसभाओं में समादृत होने के कारण शौरसेनी अपभ्रश की वैभववृद्धि हुई ही, पश्चिमी भारत में भी जैन मुनियों के प्रभूत साहित्य के कारण इसकी पावनता निखर उठी।

लकोट[1] (Lacote) ने भी यह स्वीकार किया है कि अपभ्रश प्रारभ मे बोलचाल की जनभाषा थी किंतु कालातर में वही साहित्यिक भाषा मे परिणत हो गई। लकोट का मत है कि प्राकृत कभी बोलचाल की स्वाभाविक भाषा नहीं थी, वह केवल कृत्रिम साहित्यिक भाषा थी जिसका निर्माण रूढिबद्ध नियमों के आधार पर होता रहा। उनका कथन है कि प्राकृत भाषा का मूलाधार अपभ्रश थी जो जनभाषा रही पर भारतीय भाषाओं के क्रमिक विकास में प्राकृत भाषा का उतना महत्व नहीं जितना अपभ्रश का क्योंकि अपभ्रश स्वाभाविक बोलचाल की भाषा थी पर प्राकृत कृत्रिम।

---

१ Lacote—Essay on Gunadhya and the Brihat Katha

प्रो० सुकुमार सेन[1] भी इस विषय में लकोट के मत से सहमत हैं। वे प्राकृत के उपरांत अपभ्रंश का उद्भव नहीं मानते। उनका कथन है कि प्राकृत के मूल में विभिन्न अपभ्रंश भाषाएँ थीं जो बोलचाल के रूप में व्यवहृत होती थीं।

विभिन्न भाषाशास्त्रियों के उपर्युक्त मतों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपभ्रंश किसी न किसी समय में देशभाषा अर्थात् प्रचलित बोलचाल की भाषा थी जिसका विकसित रूप आधुनिक आर्यभाषाओं में दिखाई पड़ता है। इसके विकासक्रम के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत का समन्वय करते हुए संक्षेप में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है—

(१) भरतमुनि के समय में अपभ्रंश जनबोली थी।

(२) इस भाषा के आधार पर संस्कृत नाटकों के उपयुक्त कृत्रिम प्राकृत भाषाएँ निर्मित होती गईं।

(३) जब प्राकृत भाषा ने जनसंपर्क त्याग कर एकमात्र साहित्यिक रूप धारण कर लिया और जनसामान्य के लिये वह नितांत दुर्बोध होती गई तो (प्राकृत काल में) जनभाषा में निर्मित होनेवाली स्वाभाविक काव्यधारा फूट पड़ी और ६ठी शताब्दी में वह काव्य के रूप में प्रकट हो गई। ६ठी शताब्दी के उपरांत कृत्रिम प्राकृत काव्यधारा एवं अपभ्रंश की स्वाभाविक काव्यधारा साथ साथ चलती रहीं। अपभ्रंश काव्य ने जनसंपर्क रखने का प्रयास किया किंतु साहित्यशास्त्र के विधि विधानों से बँध जाने के कारण वह भी क्रमशः जटिलता की ओर मुड़ने लगा। बारहवीं शताब्दी तक आते आते वह भी राजसभा की विद्वन्मंडली तक परिसीमित हो चला और सामान्य जनसमुदाय के लिये सरल एवं सुबोध नहीं रह पाया।

(४) ६ठी शताब्दी पूर्व से जनभाषा अपभ्रंश अपने स्वाभाविक पथ पर शताब्दियों तक चलती रही। जनकवियों ने साहित्यिक कवियों का मार्ग

---

[1] The Prakrits do not come into the d rect line of development of the Indo-Ary spe ch a here we e the artificial generali ti n of the sec nd pla e of he N I A which is repres nted by e rly Ap bhram Thus the spoken speech s t the ba is of the Pkts he l us Aps—J. A. S. Vol XXLL, p. 31

त्याग कर सरल पद्धति में अपनी रचना जारी रखी थी। बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक आते आते अपभ्रश साहित्य की दुर्बोधता के कारण जनता ने इन सहज कवियों को प्रोत्साहन दिया जो जनभाषा के विकसित रूप में गेय पदों की प्रभूत रचना कर रहे थे। इन गेय पदों का जनता ने इतना समान किया कि उमापति एव विद्यापति जैसे सस्कृत के धुरधर पडितो को भी अपने नाटकों में गीतो के लिये स्थान देना पड़ा।

(५) बारहवीं शताब्दी के मध्य से ही हमें अपभ्रश के ऐसे कवि मिलने लगते हैं जो अपभ्रश के उस परवर्ती रूप को जिसमें शब्द-रूप-रचना की सरलता एक पग आगे बढी हुई दिखाई पड़ती है, स्वीकार किया। यही से आधुनिक भाषाओ का बीजारोपण प्रारभ हो गया और अवहट्ट भाषा का रूप निखरने लगा।

साराश यह है कि जनबोलियाँ अपने स्वाभाविक रूप में चलती गईं, यद्यपि उन्हीं के आधार पर निर्मित काव्य की कृत्रिम भाषाएँ अपना नवीन रूप ग्रहण करती रहीं। इस प्रकार वैदिक काल की जनभाषा, पाली-प्राकृत एवं अपभ्रशकाल की काव्यभाषाओं को जन्म देती हुई स्वत. स्वाभाविक गति से अवहट्ट में विद्यमान दिखाई पड़ती है। यद्यपि इसमें दहमुहु, भुवणभयकरु, तोसिय, सकरु, णिग्गउ, णिग्गअ, चडिउ, चउमुह, लाइवि, सायर, तल, रयण, अग्गिअ, जग, वाअ, पिअ, अज्ज, कज्ज आदि अनेक शब्द प्राकृत एव अपभ्रश दोनों में विद्यमान हैं तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि अपभ्रश ने इन शब्दों को प्राकृत से उधार लिया है। तथ्य तो यह है कि ये शब्द सरलता की ओर इतने आगे बढ चुके थे कि इनमें अधिक सरलीकरण की प्रक्रिया सभव थी ही नहीं।

अपभ्रश के प्रमुख भेद

भाषावैज्ञानिकों ने पश्चिमी अपभ्रश (शौरसेनी) और पूर्वी अपभ्रश के साम्य एव वैषम्य पर विचार करके इनकी तुलना की है। ग्रियर्सन, चैटर्जी आदि का मत है कि उक्त दोनों प्रकार के अपभ्रशों में कोई तात्विक भेद नहीं। अब यह प्रश्न उठता है कि यदि पूर्वी अपभ्रश मागधी प्राकृत से उद्भूत है और पश्चिमी अपभ्रश शौरसेनी से तो दोनों में अतर कैसे न होगा? हम पहले देख चुके हैं कि शौरसेनी प्राकृत की प्रकृति मागधी प्राकृत से बहुत ही भिन्न

पश्चिमी और पूर्वी

है। ऐसी स्थिति में दो परिवार की भाषाओं में अंतर होना स्वाभाविक है। फिर इन दोनों मतों का सामंजस्य कैसे किया जाय ?

ग्रियर्सन ने इस प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि पश्चिमी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप केवल शौरसेन देश तक सीमित नहीं था। यह तो संपूर्ण भारत की सांस्कृतिक भाषा मान ली गई थी। अतः प्रांतिक संकीर्णता को पारकर यह सार्वदेशिक भाषा बन चुकी थी। यद्यपि दूरी के कारण उसपर स्थानीय भाषाओं का प्रभाव कहीं कहीं परिलक्षित होता है, पर वह प्रभाव इतना क्षीण है कि पश्चिमी अपभ्रंश के महासागर में स्थानीय भाषाओं की सरिताएँ विलीन होती दिखाई पड़ती हैं और वे एक महती भाषा की उपभाषाएँ प्रतीत होती हैं।

डा चैटर्जी ने पश्चिमी अपभ्रंश के महत्त्वशाली बनने के कारणों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि पूर्वी भारत में पश्चिमी अपभ्रंश के प्रचार का कारण था ९वीं से १२वीं शताब्दी के मध्य उत्तर भारत में राजपूतों का राजनैतिक प्रभाव। उन राजपूतों के घरों में शौरसेनी अपभ्रंश से साम्य रखनेवाली जनभाषा बोली जाती थी और राजदरबारों में राजकवि साहित्यिक अपभ्रंश की काव्यरचना सुनाते थे। राजपूतों के प्रभाव एवं राजकवियों के साहित्यसौष्ठव से मुग्ध पूर्वी भारत भी इसी अपभ्रंश में काव्यसृजन करने लगा। अतः पंजाब से बंगाल तक इस भाषा का प्रचार फैल गया। पूर्वी भारत के कवियों ने प्राकृत और संस्कृत के साथ साथ शौरसेनी अपभ्रंश के साहित्यिक रूप का अध्ययन किया। इस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश पूर्वी भारत में भी सर्वत्र साहित्यिक भाषा मान ली गई[1]।

---

1 During the 9th 12th centuries through the prestige of North Indian Rajput princely houses, in whose court dialects akin to this last form of Sauraseni were spoken and whose bards cultivated it the Western or Sauraseni Apabhramsa became current all over Aryan India from Gujrat and Western Punjab to Bengal probably as a Lingua Franca, and certainly as a polite language, as a bardic speech which alone was regarded suitable for poetry of all sorts

—Chatterjee 'The Origin and Development of the Bengali Language' Page 113

जैकोबी ने भी पूर्वी भारत में शौरसेनी अपभ्रंश का महत्व स्वीकार किया है। उन्होंने यही निर्णय किया है कि गौड़देश की साहित्यिक रचना पर मागधी प्राकृत का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। डा० घोपाल ने जैकोबी से भिन्न प्रतीत होनेवाले मतों का सामजस्य करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'पूर्वी अपभ्रंश वास्तव में पश्चिमी भारत से पूर्व देश मे आई। इस अपभ्रंश का मूल भी अन्य अपभ्रंशों की भाँति प्राकृत में विद्यमान था और वह प्राकृत शौरसेनी थी जो पश्चिमी भारत की मान्य साहित्यिक भाषा थी। यद्यपि गौड़ देश मे मागधी प्राकृत विद्यमान थी किंतु पूर्वी अपभ्रंश पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार मागधी प्राकृत से उत्पन्न मागधी अप्रभ्रंश पूर्वी अपभ्रंश से सर्वथा भिन्न रही[1]।'

अवहट्ट का स्वरूप

हम पहले सकेत कर चुके हैं कि गुजरात और पश्चिमी पजाव से लेकर बगाल तक पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश किस प्रकार राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन थी। जनसामान्य के कार्यव्यवहार से लेकर राजसभा की मत्रणा तक यही भाषा—स्थानीय विशेषताओं को आत्मसात् करती हुई—सर्वत्र प्रयोग में आती थी। पद्रहवीं शताब्दी आते आते इस भाषा के एकच्छत्र अधिकार पर विवाद उठने लगा और मैथिली, राजस्थानी, बगाली, गुजराती, महाराष्ट्रीय आदि आधुनिक भाषाओं को क्रमश. शौरसेनी अपभ्रंश का एकाधिकार असह्य होने लगा। अत. पश्चिमी अपभ्रंश में अधिकाधिक आञ्चलिक भाषाओं को समिश्रित कर एक नई भाषा निर्मित हुई जो 'अवहट्ट' नाम से अभिहित हुई। डा० चैटर्जी कहते हैं—

---

1 "Eastern Ap was a literary speech imported from Western India and was, in fact, foreign to the eastern region The basis of this Ap, as of all other kinds, was Pkt which was current as a literary dialect in the West In the kingdom of Gauda there was another Pkt which was called Magadhi But this Mag had nothing to do with the Eastern or Buddhist Ap As such, the Mag Ap or the actual descendant of the Mag Pkt. was absolutely different from this Eastern Ap and had no ostensible contribution to the formation of the latter"

J A S, Vol XXII, Page 19

A younger form of this Sauraseni Apabhramsa, intermediate in forms and in general spirit to the genuine Apabhramsa of times before 1000 A C. and to the Braj Bhakha of the Middle Hindi period say, of the 15th century, is sometimes known as Avahattha'

स्थूलिभद्र फाग, चर्चरिका, उपदेशरासक, कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, प्राकृतपैंगलम्, मूल पृथ्वीराजरासो, आदि में इसी भाषा का दर्शन होता है। रासों की यही भाषा थी क्योंकि हिन्दू राजदरबारों में भाटगण इसी भाषा का मूलतः प्रयोग करते थे। हमारे अधिकांश रासों की यही भाषा रही है।

इस अवहट्ठ भाषा का प्रयोग काशी मिथिला, बंगाल एवं आसाम के कवि भी किया करते थे। बंगला भाषा के गर्भकाल में बंगाल के सभी कवि, जिनकी यह मातृभाषा नहीं थी, प्रसन्नतापूर्वक इस भाषा का उपयोग करते। परिणामतः बंगाल में विरचित सहजिया (बौद्ध) साहित्य इसी अवहट्ठ में विरचित हुआ। मातृभाषा अवहट्ठ न होने से बंगाल के कवियों ने स्वभावतः प्रादेशिक शब्दों का खुल्लमखुल्ला प्रयोग किया है जिससे भाषा और भी रसमयी बन गई है।

मिथिला में इस अवहट्ठ का प्रयोग विद्यापति के समय तक तो निश्चित् पाया जाता है। विद्यापति ने अवहट्ठ में ब्रजभाषा एवं मैथिली का स्वेच्छापूर्वक प्रयोग किया। इस महाकवि का प्रभाव परवर्ती वैष्णव कवियों पर भली प्रकार परिलक्षित होता है। अतः वैष्णव रास की भाषा समझने के लिए मिथिला की अवहट्ठ का रूप स्पष्ट हो जाना चाहिए। बिहार के अन्य कवियों में सरहपाद ने दोहाकोश में इसी भाषा को अपनाया है। इस भाषा की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए राहुलजी कहते हैं—(१) "इस भाषा में भूतकाल के लिए 'इल' का प्रयोग मिलता है। पुल्लिंग, गेलिग्रहुँ मंगायिल और इल प्रत्ययांत शब्द मौजूद हैं जिनका इस्तेमाल आज भी भोजपुरी मगही मैथिली बंगला में प्रायः ऐसा ही होता है। (२) निम्नवर्गी प्राकृत पाण्डित्य की परम विरोधिनी [illegible] की परंपरा का दोहे [illegible] रूप की ओर सीधा दिखाई देता है।"

इन दोनो प्रवृत्तियों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढता गया। हम परवर्ती अपभ्रंश के प्रसग में इन विशेषताओं का उल्लेख कर आए हैं। इनका प्रभाव वैष्णव रासों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

रासो की भाषा में ध्वनिपरिवर्तन के नियम प्राकृत से कहीं कहीं भिन्न दिखाई पड़ते हैं। यहां संदेशरासक के निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

१. ह्रस्व को कई प्रकार से दीर्घ बना देना—प्रवास > पावास

प्रसाधन > पासाहरण
क्वणति > कुणाइ
हृत > हीय
संभय > सम्भय
परवश > परवस > परव्वस
तुषार > तुसार > तुस्सार

दीर्घ को ह्रस्व बनाना— ज्वाला > झल
शीतल > सियल
भूत > हुय
निर्भ्रांत > निभंति
संमुख > समुह

२ स्वर में परिवर्तन— शशधर > ससिहर
अक्षोट > ईखोड

अ का उ होना— अंजलि > अंजुलि
पद दंडक > पउदंडउ

इ का अ होना— विरहिणि > विरहणि
धरित्री > धरत्ति

उ का अ होना— कुसुम > कुसम

३. इ का य और य का इ होना— रति > रय
रति > रय
आयन्नहिं > आइन्निहिं

४ उ का व होना— नूपुर > णेउर > णेवर
गोपुर > गोउर > गोवर

५ ए का इ होना— पेक्खइ > पिक्खइ
ऐम > इम

A younger form of this Sauraseni Apabhramsa, intermediate in forms and in general spirit to the genuine Apabhramsa of times before 1000 A C. and to the Braj Bhakha of the Middle Hindi period say, of the 15th century is sometimes known as 'Avahattha'

थूलिभद्र फाग, चर्चरिका, संदेशरासक, कीर्तिलता वर्णरत्नाकर उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, प्राकृतपैंगलम्, मूल पृथ्वीराजरासो, आदि में इसी भाषा का दर्शन होता है। रासों की यही भाषा थी क्योंकि हिंदू राजदरबारों में भाटगण इसी भाषा का मूलतः प्रयोग करते थे। हमारे अधिकांश रासों की यही भाषा रही है।

इस अवहट्ट भाषा का प्रयोग कभी मिथिला, बंगाल एवं आसाम के कवि भी किया करते थे। बंगला भाषा के गर्भकाल में बंगाल के सभी कवि, जिनकी यह मातृभाषा नहीं थी, प्रसन्नतापूर्वक इस भाषा का उपयोग करते। परिणामतः बंगाल में विरचित सहजिया (बौद्ध) धार्मिक साहित्य इसी अवहट्ट में विरचित हुआ। मातृभाषा अवहट्ट न होने से बंगाल के कवियों ने स्वभावतः आंचलिक शब्दों का खुल्लमखुल्ला प्रयोग किया है जिससे भाषा और भी रसमयी बन गई है।

मिथिला में इस अवहट्ट का प्रयोग विद्यापति के समय तक तो निश्चित् पाया जाता है। विद्यापति ने अवहट्ट में व्रजभाषा एवं मैथिली का स्वेच्छा पूर्वक प्रयोग किया। इस महाकवि का प्रभाव परवर्ती वैष्णव कवियों पर भली प्रकार परिलक्षित होता है। अतः वैष्णव रास की भाषा समझने के लिए मिथिला की अवहट्ट का रूप स्पष्ट हो जाना चाहिए। बिहार के अन्य कवियों में सरहपाद ने दोहाकोश में इसी भाषा को अपनाया है। इस भाषा की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए राहुलजी कहते हैं—(१) 'इस भाषा में भूतकाल के लिये 'इल' का प्रयोग मिलता है। फुल्लिल्ल गलिअहुं, अंधारिल्ल जैसे इल प्रत्ययांत शब्द मौजूद हैं, जिनका इस्तेमाल आज भी भोजपुरी मगही मैथिली बंगला में प्रायः वैसा ही होता है। (२) जिनमें भी प्राकृत अपभ्रंश की चरम विशेषतावाली 'व्यंजन त्यागे स्वर' की परंपरा को छोड़ तत्सम रूप की ओर लौटते दिखाई देते हैं।'

अधिकरण—णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पखुडिय
[नूपुर चरणाभ्या विलग्य निर्बलत्वात् पतिता]

निर्विभक्तिक कारक रूपों में भ्रम से बचने के लिये तणि[1], रेसि, लग्गि तहु[2] का होंतओ, तणेण, करेअ, केर, मज्झि आदि परसर्गों का प्रयोग मिलता है।

पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिये इति, अवि, एवि, एविण, अप्पि, इय, इ प्रत्यय लगाए जाते हैं। उदाहरण के लिये सदेशरासक के उदाहरण देखिए—छुट्टिवि, भमवि, मन्नाएवि लेविणु, दहेविकरि इत्यादि।

तव्यार्थ क्रिया बनाने के लिये—इव्वउ,[3] इय, इज्ज प्रत्यय लगाते हैं। कर्मवाच्य बनाने के लिये 'आण'[4] का प्रयोग करते हैं—

पुरुषवाचक सर्वनाम

सर्वनाम का रूप

		उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष
एकवचन	कर्ता	हउ (हउँ)	तुहु, तूँ
	कर्म	मइ	
	करण	मइ	—तइ
	सबध	मइ	—पइ
	अधिकरण	मह, महु	तुअ (तुय), तुह, तुज्झ,
बहुवचन	करण	अम्हिहि	तुम्हेहिं, तुम्हि
	अधिकरण	अम्ह	

---

१ सवध वाचक के अर्थ में—तसु लइ मइ तणि णिद णहु। (सं० रा०, ९४)
२ अपादान के अर्थ में—तिह हुतउ हउँ इक्कण लेहट पेसियउ। (स० रा०, ६५)
३ तिह पुरउ पढिव्वउ णहु वि ए उ। (स० रा०, २०)
४ वे वि समाणा हत्था (सं० रा० ८०)

६ श्रो का उ होना— मौक्तिक > माक्तिक > मुत्तिय

१० प्रारंभिक स्वर का लोप— अरण्य > अरएण > रम

अरविंद > रविंद

व्यंजन में परिवर्तन

१ न् का ण् और क् का ग् होना— अनेक > अणेग

२ म् का ए् होना— रमणीय > रवणिम

मन्मथ > वम्मह

३ स् का ह् होना— संदेश > संदेस > संभेह

दिवस > दियह

४ ह् का लोप होना— दुहुँ < दैं

दुह > दुम

५ थ् का ह् होना— पथिक > पहिय

संयुक्ताक्षर में परिवर्तन— आश्चर्य > अचरिय

षट्मुक > चउक्कम

शष्कुलिका > सक्कुलिय

> सकुलिम

निद्रा > निद

मुग्धा > मुंभ

एकत्र > एकत्रि

एकस्य > इक्कु

उच्छ्वास > ऊसास

रास की भाषा में लुप्तविभक्तिक पदों का बहुल प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए संदेशरासक के उदाहरण देखिए—

कारकरचना

कर्ता कारक—जहि छिद्दु विसमिउ विरह भार—यौवो विरहा छिद्रं समित्वा।

कर्मकारक—सुरारवि तिहुयणु बहिरमंति—तूर्ये रवेण त्रिभुवनं बधिरयंति।

करण कारक—पिमपरधिम सुमरंत विरह वससेम कम—निज प्रियं [:]

स्मरंता विरहेण

कदीकृता।

संबंध कारक—भमर रुअव घरमुम हसंतिम भहरमधु—भ्रमरस्या घरमुग्धाया

हसंत्या भ्रमर दर्श

अधिकरण—णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पखुडिय

[नूपुर चरणाभ्या विलग्य निर्बलत्वात् पतिता]

निर्विभक्तिक कारक रूपों में भ्रम से बचने के लिये तणि[1], रेसि, लग्गि तहु[2] का होंतओ, तणेण, करेअ, केर, भज्झि आदि परसर्गों का प्रयोग मिलता है।

पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिये इति, अवि, एवि, एविण, अप्पि, इय, इ प्रत्यय लगाए जाते हैं। उदाहरण के लिये सदेशरासक के उदाहरण देखिए—छुट्टिवि, भंमवि, मन्नाएवि लेविणु, दहेविकरि इत्यादि।

तव्यार्थ क्रिया बनाने के लिये—इव्वउ,[3] इय, इज्ज प्रत्यय लगाते हैं। कर्मवाच्य बनाने के लिये 'आण'[4] का प्रयोग करते हैं—

पुरुषवाचक सर्वनाम

सर्वनाम का रूप

		उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष
एकवचन	कर्ता	हउ (हउँ)	तुहु, तूँ
	कर्म	मइ	
	करण	मइ	—तइ
	सबध	मह	—पइ
	अधिकरण	मह, महु	तुअ (तुय), तुह, तुज्झ,
बहुवचन	करण	अम्हिहि	तुम्हेहिं, तुम्हि
	अधिकरण	अम्ह	

———

१ संबध वाचक के अर्थ में—तसु लइ मइ तणि णिंद णट्ठु। (स० रा०, ६४)

२ अपादान के अर्थ में—तिह हुंतउ हउँ इक्कण लेहउ पेसियउ। (स० रा०, ६५)

३ तिह पुरउ पढिव्वउ णट्ठु वि प उ। (स० रा०, २०)

४ वे वि समाणा हत्था (सं० रा० ८०)

वैष्णव रास की भाषा

बारहवीं शताब्दी में जयदेव नामक एक ऐसा मेधावी वैष्णव कवि आविर्भूत हुआ जिसने जनभाषा के साहित्य में क्रांति उत्पन्न कर दी। बंगाल के इस कवि की दो कविताएँ सोलहवीं शताब्दी में 'गुरुग्रंथ' में संकलित मिलती हैं। भाषाशास्त्रियों ने उनकी भाषा का परीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि ये संभवतः पश्चिमी अपभ्रंश में विरचित हुई होंगी क्योंकि अधिकांश शब्दों का प्रयमांत उकारबहुल है जो पश्चिमी अपभ्रंश की विशेषता रही है। दूसरा प्रमाण यह है कि 'गीतगोविंद' की शैली एवं भाषारूप संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक समीप है। पिशेल का तो मत है कि गीतगोविंद के गीत मूलतः उस पश्चिमी अपभ्रंश में लिखे गए जिनका पूर्वी भारत में प्रचलन था। तीसरा प्रमाण यह है कि प्राकृतपैंगलम्[1] में गीतगोविंद की पदशैली एवं भावविधान में विरचित कई ऐसे पद हैं जो अवहट्ट भाषा के माने जाते हैं। अतः भाषाशास्त्रियों[2] ने यही अनुमान लगाया है कि जयदेव ने इन गीतों की रचना परवर्ती अपभ्रंश में की होगी। जगन्नाथ पुरी देवालय के एक शिलालेख (१४६६ ई०) से यह ज्ञात होता है कि गीतगोविंद के गीतों का गायन जगन्नाथ की प्रतिमा के संमुख बड़े धूमधाम से होता था। संभव है, रथयात्रा के समय इनका अभिनय भी होता रहा हो क्योंकि चैतन्य महाप्रभु ने उसी परंपरा में आगे चलकर रासलीला का अभिनय अपनी साधुमंडली के साथ किया था।

गीतगोविंद की भाषा को यदि अपभ्रंश स्वीकार कर लें तो इसके संस्कृत रूपांतर एवं अपभ्रंश में अनुपलब्ध वैष्णव रास के कारणों का अनुमान लगाना दुष्कर नहीं रह जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव विद्वान् रास का रहस्य अत्यंत गुह्य समझकर राधा कृष्ण की घोर श्रृंगारी लीला को सामान्य जनता के संमुख रखने के पक्ष में नहीं थे। अतः उन्होंने रास को अपभ्रंश में विरचित नहीं होने दिया और जयदेव जैसे कवि ने प्रयास भी किया तो उनकी रचना का पंडितों ने संस्कृत में रूपांतर कर दिया।

---

१ प्राकृत पैंगलम्—पृ० ११४ ५० १७५ २ १ १७५

2 Dr S. K. Chatterjee, O D B. L. Page 126

हमें वैष्णव रास के प्राचीन उद्धरण नरसिंहमेहता, सूरदास, नंददास तथा बगाली कवियो के प्राप्त हुए हैं। हम उन्हीं के आधार पर वैष्णव रास की भापा का विवेचन करेंगे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि वैष्णव कवियों को धर्मोपदेश के लिये सतसिद्धो की भापा पैतृक सपत्ति के रूप में मिली थी। संपूर्ण उत्तर भारत म सिद्ध-सत-महात्माओ ने किस प्रकार एक जनभापा का निर्माण किया इसका मनोरजक इतिहास सक्षेप मे देना उचित होगा।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना यथेष्ट होगा कि ब्रजबुलि में उपलब्ध रास-साहित्य पर हिंदी, बँगला, गुजराती आदि देशी भापाओं का उसी प्रकार समान अधिकार है जिस प्रकार सिद्ध सतो के साहित्य पर। सोलहवीं शताब्दी में पजाब में सकलित मराठी, गुजराती, हिंदी, बगाली सत महात्माओं की वाणियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि उस काल तक आधुनिक भापाएँ एक दूसरे से इतनी दूर नहीं चली गई थीं जितनी आज दिखाई पड़ती हैं। इसी तथ्य को प्रकट करते हुए राहुल जी कहते हैं—"हम जब इन पुराने कवियों की भापा को हिंदी कहते हैं तो इसपर मराठी, उड़िया, बॅगला, आसामी, गोरखा, पजाबी, गुजराती भापाभापियो को आपत्ति हो सकती है। लेकिन हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है, कि यह पुरानी भाषा मराठी आदि की अपनी साहित्यिक भापा नहीं। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है, जितना हिंदी भापाभापियों को। वस्तुतः ये सारी आधुनिक भापाएँ बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दिखाई पड़ती हैं। जिस समय (आठवीं सदी में) अपभ्रश का साहित्य पहले पहल तैयार होने लगा था, उस वक्त बॅगला आदि उससे अलग अस्तित्व नहीं रखती थीं। यह भाषा वस्तुत. सिद्ध सामतयुगीन कवियों की उपर्युक्त सारी भाषाओं की समिलित निधि है।'

आधुनिक[1] भारतीय भापाओं के जन्मकाल की तिथि निकालना सहज नहीं। किंतु प्रमाणों द्वारा इनका वह शैशवकाल ढूँढा जा सकता है जब इन्होंने एक दूसरे से पृथक् होकर अपनी सत्ता सिद्ध करने का प्रयास किया हो। प्राय. प्रत्येक प्रमुख भारतीय भाषा का भापाविज्ञान के आधार पर

---

१ डा० सुनीतिकुमार आधुनिक देशीभापाओं का उद्भवकाल १४वीं शताब्दी के लगभग मानते हैं।

परीक्षण करके एक दूसरे के साथ संबंध निश्चित किया जा चुका है। उन्हीं नवीन शोधों के आधार पर हम आसामी, बँगला, हिंदी गुजराती एवं महाराष्ट्री के उद्गम पर प्रकाश डालकर सबकी संमिलित पैतृक संपत्ति का निर्णय करना चाहेंगे।

एक सिद्धांत सभी भाषावैज्ञानिकों को मान्य है कि अपभ्रंश भाषा के परवर्ती युग में तीन प्रकार के साहित्य का अनुसंधान किया जा सकता है। जिस प्रकार हेमचंद्र के युग में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश तीनों भाषाओं में काव्यरचना होती रही, एक ही व्यक्ति तीनों भाषाओं में साहित्य सृजन करता रहा उसी प्रकार परवर्ती कवियों में साहित्यिक अपभ्रंश अवहट्ट (मध्यभाषा) एवं जनभाषा के माध्यम से रचना करने की प्रवृत्ति बनी रही। यही कारण है कि विद्यापति जहाँ गोरक्षविजय नाटक संस्कृत में लिखते हैं वहीं कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका अवहट्ट में और पदावली जनभाषा में। इसी प्रकार तत्कालीन बंगाल, उड़ीसा आदि भागों के कवियों की भी प्रवृत्ति रही होगी।

नवीं से तेरहवीं शताब्दी तक भाषा एवं विचारों में एक क्रांति और दिखाई पड़ती है। इस क्रांति का कारण है नवीन राजनैतिक व्यवस्था। बौद्धधर्म के ह्रासोन्मुख होने पर शैवधर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ और वज्रयानी सिद्धों को आत्मसात करता हुआ नाथ संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। इस संप्रदाय में मत्स्येंद्रनाथ तथा गुरु गोरखनाथ जैसे महात्मा उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने तप एवं त्याग, सिद्धि एवं योगबल से निराश जनता के हृदयों में आशा की झलक दिखाई। मुसलमानों के प्रबल शस्त्र से पराजित, बौद्ध साधुओं के भ्रष्टत्याग से हताश जनता इन त्यागी सिद्ध पुरुषों के चमत्कार पूर्ण कृत्यों से आश्वस्त हुई। शताब्दियों से स्वतंत्र आर्य जाति को बर्बर विदेशियों की क्रूरता से हतप्रभ होकर घुटने टेकने को बाध्य होने पर नाथपंथी सिद्ध महात्माओं के योगबल पर उसी प्रकार सहसा विश्वास हुआ जिस प्रकार किसी हँसते खेलते बालक के सर्पदंशन से मूर्छित होने पर अभिभावकों को मंत्रबल का ही भरोसा होने लगता है।

बौद्ध भिक्षुओं के देशद्रोह का दुष्परिणाम भारतवासी देख चुके थे। पश्चिमी भारत में हिंदू शासकों को पराजित करने के लिए बौद्धों ने विदेशियों को आमंत्रित किया था। सिंध के बौद्धों ने आक्रमणकारी यवनों की खुल्लम-खुल्ला सहायता की थी। फलतः जनता में बौद्धों के प्रति भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उसका परिमार्जन करने एवं अपने संप्रदाय की त्रुटियों से लज्जित

होने के कारण वज्रयानी सिद्धो ने तुर्कों का विरोध किया। कहा जाता है कि विरूपा के चमत्कारो से दो बार म्लेच्छो को पराजित होना पड़ा।

सम्राट् रामपाल के समय वनवादल नामक हाथी को विरूपा का चरणामृत पिलाया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके साहस के बल पर म्लेच्छों को पराजित कर दिया गया। इसी प्रकार सिद्ध शातिगुप्त ने पश्चिम भारत में तुरुष्क, मुहम्मदी एवं ताजिको को अपनी सिद्धि के बल से पराजित किया। एक बार पठान बादशाह ने इन सिद्धों को सूली पर लटकाने का प्रयास किया, पर मत्रो से अभिषिक्त सरसो का प्रयोग करने से जल्लाद उन्हें फाँसी पर लटकाने में असमर्थ होकर पागल हो गए[1]।

इन लोकवार्ताओ से राजनैतिक तथ्य का उद्घाटन तो नहीं होता किंतु लोकप्रचलित धारणा का आभास अवश्य मिलता है। इस लोकधारणा से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि सिद्ध महात्माओ एव नाथपथी योगियो के प्रति जनता की श्रद्धाभावना बढी। आमुष्मिकता की दृष्टि से ही नहीं अपितु निराशामय राजनैतिक परिस्थिति में सात्वना की दृष्टि से भी इन महात्माओ ने जनता का कल्याण किया। लोकहित की कामना से प्रेरित इन महात्माओ के कठ से जो वाणी उद्भूत हुई वह काव्य का शृगार बन गई। जिस भाषा में इनके उपदेश लेखबद्ध हुए वह भाषा देश की मान्य भाषा बन गई। जिस शैली में उन्होने उपदेश दिया वह शैली भविष्य की पथ-प्रदर्शिका सिद्ध हुई।

हम पहले कह आए हैं कि बुद्ध के शिष्यों ने जिस प्रकार पाली भाषा को व्यापक रूप देकर उसे जनभाषा उद्घोषित किया, उसी प्रकार इन सिद्धों और योगियो ने ६वीं से १३वीं शताब्दी तक एक जनभाषा को निर्मित करने में बड़ा योगदान दिया। इन लोगों ने अपने प्रवचन के लिये मध्यदेशीय अपभ्रंश को स्वीकार किया। हमारे देश की सदा यह परपरा रही है कि मध्य देश की भाषा को महत्व देने में बहुमत को कभी सकोच नहीं हुआ। इन महात्माओं में अधिकाश का सबध नालदा, विक्रमशील एव उदादपुर के विश्वविद्यालयों से रहा। किंतु इन्होंने अपनी रचनाओं का माध्यम उस काल की आचलिक भाषा को न रखकर मध्यदेश की सार्वदेशिक भाषा को ग्रहण किया। इनका समान इसी देश में नहीं, अपितु तिब्बत, ब्रह्मा, आदि

---

१ मिस्टिक टेल्स, पृ० ६६-७०।

बाहरी देशों में भी होता रहा। इनकी रचनाएँ विदेशी भाषाओं में आज भी लेखबद्ध मिलती हैं जिनके आधार पर तत्कालीन जनभाषा की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

इस काल की जनभाषा का परिचय पाने के हमारे पास मुख्य साधन ये हैं—(१) सिद्धों एवं नाथपंथियों की बानी, (२) उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, (३) वर्णरत्नाकर (४) प्राकृतपैंगलम्। सिद्धों की बानियों को उस काल की जनभाषा केवल इसीलिये नहीं मानते कि उन्होंने निम्न स्तर की जनता के लिये बोधगम्य भाषा में अपने उपदेश दिए, इसका दूसरा कारण यह भी है कि वे सिद्ध योगी किसी एक आंचलिक बोली का ही उपयोग नहीं करते थे, अपितु विभिन्न मार्गों की जनभाषा का समन्वयात्मक अनुशीलन करने पर इनके कंठों से ऐसी साधु भाषा फूट निकलती थी जिसका श्रवण पुण्य और जिसका पठन-पाठन धर्म समझा जाता था। नालन्दा, विक्रमशील, उदन्तपुर आदि विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्रदान करते हुए भी इनकी दृष्टि कल्याण की ओर सतत लगी रहती थी और इसी कारण इनकी भाषा सरल एवं सुबोध बनी रहती। इन योगियों के शिष्यसंप्रदाय ने राजस्थान,[1] बंगाल[2] कर्नाटक,[3] पूना,[4] गिरनार,[5] मद्रास,[6] नासिक,[7] आगरा,[8] बीकानेर,[9] जम्मू,[10] सतारा,[11] जोधपुर,[12] मैसूर,[13] जयपुर,[14] सरमौर,[15] कपिलानी[16] आदि दूरस्थ स्थानों पर मठों की स्थापना की जहाँ इनके उपदेश की पावन सरिता में स्नान करने के लिए दूर दूर से यात्री आते और सिद्ध योगियों का आशीर्वाद एवं आदेश पाकर तृप्त होते।

पश्चिमी भारत में गोरखनाथ का प्रभाव डा० मोहनसिंह दिवाना के निम्न-लिखित उद्धरण से और भी स्पष्ट हो जाता है—

Of places specially associated with Gorakh as seats of his sojourns are Gorakh Hatri in Peshawar

---

१ भगना मठ, और लाड्नाथ जयपुर में २ चंद्रनाथ गीरचवंती योगिस्थान बंगाल में ३ कादिमठ कर्नाटक में ४ गर्भीर मठ पूना में ५ गोरखबीज और मत्स्येन्द्र गिरनार में ६ नसुभविति मठ मद्रास में ७. त्र्यंबक मठ नासिक में ८. नीलकंठ एवं पंचमुखी आगरा में ९ गोरखमठ बीकानेर में १० पीर सीखर जम्मू में ११ बदीश सतारा सतारा में १२. महामंदिर मठ जोधपुर में १३ होंडा करंगनाथ मैसूर में १४ त्रिगुना मठ जयपुर में १५. गरीबनाथ कालिका सारमौर में १६ कपिलानी का आश्रम गंगासागर में।

City, Gorakh Nath Ka Tilla in Jhelum district. Gorakh ki Dhuni in Baluchistan (Las Bela state).

Dr. Mohan Singh—"An Introduction to Punjabi Literature.

डा० मोहनसिंह का कथन है कि गोरखनाथ का प्रभाव भारत के अतिरिक्त सीलोन तक फैला हुआ था। वे भ्रमणशील व्यक्ति थे और सर्वत्र विचरण करते रहते थे।

' He is our greatest Yogin, who probaly personally went and whose influence certainly travelled as far as Afghanistan, Baluchistan, Nepal, Assam, Bengal, Orissa, Central India, Karnatak, Ceylon, Maharashtra and Sind. He rightly earned the title of Guru, Sat Guru and Baba.

इन योगमार्गियों की भाषा में एक ओर तो सांख्य एवं योग दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली मिलती है दूसरी ओर जैन साधना की पदावली भी। एक ओर वज्रयानी सिद्धों की बौद्ध परंपरागत पदावली मिलती है तो दूसरी ओर शैव साधना के दार्शनिक शब्दसमूह। प्रश्न उठता है कि इसका मूल कारण क्या था? इस नए साहित्य में इतनी सामर्थ्य कैसे आ गई?

वज्रयानियों एवं नाथपंथियों के साहित्य का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मत्स्येंद्रनाथ एवं गोरक्षनाथ के पूर्व प्रायः जितनी प्रमुख साधना पद्धतियाँ उत्तर भारत में प्रचलित थीं उनकी विशेषताओं को आत्मसात् करता हुआ सिद्धों का दल देश के एक छोर से दूसरे छोर तक जनता को उपदेश देता हुआ भ्रमण करता। मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, जलधरनाथ प्रभृति सिद्ध महात्माओं ने देखा कि प्रत्येक संप्रदाय का योग में दृढ विश्वास जमा हुआ है। उन्होंने इस ऐक्य सूत्र को पकड़ लिया और इसी के आधार पर सबको संगठित करने का प्रयास किया। प्रमाण के लिये देखिए कि निरीश्वर योग में विश्वास करनेवाले कपिल मुनि के अनुयायी कालांतर में वैष्णव' योगी होकर गोरखनाथ के संप्रदाय में आ मिले।

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथसिद्धों की बानियाँ, भूमिका, पृ० १८।

गोरखनाथ को गुरु रूप में स्वीकार करनेवाले प्रथम सिद्ध संभवतः चौंदनाथ थे जिनमें नागनाथी अनुयायी नेमिनाथ एवं पारसनाथी अनुयायी पारसनाथ नामक संप्रदायों का समन्वित रूप पाया जाता था। ये दोनों महात्मा गोरखनाथ से पूर्व हो चुके थे और योग की आवश्यकता निरूपित कर चुके थे। जैन संप्रदाय में भी योगाभ्यास का माहात्म्य स्वीकार किया गया है अतः जैन पदावली का इसमें प्रवेश होना स्वाभाविक ही था। चौंदनाथ के गोरख संप्रदाय में संमिलित होने से जैन धर्म की पदावली स्वतः आ धमकी।

कहा जाता है कि जालंधरपाद वज्रयानी[1] सिद्ध थे। उनके शिष्य कृष्णपाद कापालिक थे। उनके दोहाकोष की मेखला टीका से उनकी कापालिक साधना का पूरा परिचय मिल जाता है। कान्हपाद (कृष्णपाद) के उपलब्ध साहित्य के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि वे हठयोगी भी थे। इस प्रकार अनेक संप्रदायों का उस काल में गुरु गोरखनाथ को गुरु स्वीकार करना इस तथ्य का परिचायक है कि वे तेजस्वी महात्मा प्रतिभा के बल से सभी संप्रदायों की साधनागत विशेषताओं को जनभाषा के माध्यम से जनता तक पहुँचा सके और वैष्णव कवियों को धर्मप्रचारार्थ एक साथ देशिक भाषा पैतृक संपत्ति के रूप में दे गए।

विभिन्न आचार्यों एवं गुरुओं की एकत्र वंदना इस तथ्य का प्रमाण है कि इन योगियों में समन्वयात्मक शक्ति थी जिससे तत्कालीन विभिन्न संप्रदायों को एक स्थान पर एकत्रित होने का अवसर मिला और सबने सामूहिक रूप से देश को दुर्दिन के वर्षों में आश्वासन प्रदान किया। प्रेमदास ने सभी संप्रदायों के योगियों की इस प्रकार वंदना की है। इस वंदना से उस काल की नवीन साधना पद्धति एवं भाषाशक्ति का परिचय मिलता है—

नमः नमो निरंजनं भरम को विहंडनं। नमो गुरदेवं अगम पंथ भेवं।
नमो आदिनाथं भए हैं सुनाथं। नमो सिद्ध मछिन्द्र यको जोगिन्द्रं॥
नमो गोरख सिधं जोग जुगति विधं। नमो चरपट रायं गुरु ग्यान पाय॥
नमो भरथरी जोगी महारस भोगी। नमो चाल गुंदाइ कीयो क्रम घाइ॥
नमो पृथीनाथं सद्नाथ हाथं। नमो टोडी मवंगं कीयो क्रम भंगं॥

---

१ इसमें तो कोई संदेह नहीं कि जालंधरपाद का पूरा का पूरा संप्रदाय बौद्ध वज्रयान से संबद्ध था हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ० १

नमो ठीकर नाथ सदानाथ साथ। नमो सिध जलंधरी ब्रह्मबुधि संचरी ॥
नमो कान्ही पाय गुरु सबद भायं। नमो गोपीचद रमत्त ब्रह्मनंदं ॥
नमो श्रौघडदेवं गोरख सबद लेवं। नमो बालनाथ निराकार साथ॥
नमो अजैपाल जीत्यौ जमकालं। नमो हनूनामं निरजन पिछानं ॥

इस काल की जनभाषा का परिचय करानेवाले दूसरे साधन उक्त-व्यक्ति-प्रकरण प्राकृतपैंगलम एव वर्णरत्नाकर से अवहट्ट भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अवहट्ट की कतिपय विशेषताएँ उक्त ग्रथों के अनुशीलन से सामने आती हैं।

वैष्णव परिव्राजकों के लिये मुसलिम युग में मथुरा वृदावन सबसे बडा तीर्थ बन गया था। इसके कारण थे—महमूद गजनवी के समय से ही देव-विग्रह-विद्रोही एव धनलोलुप विदेशी आक्रमणकारियों की क्रूर दृष्टि हिंदू देवालयों पर रहा करती थी। काशी, अयोध्या, मथुरा आदि तीर्थ उनकी आँखों मे खटकते थे। ये ही तीर्थ हिंदू सस्कृति के केंद्र और धर्मप्रचारकों के गढ माने जाते थे। इनके विध्वस का अर्थ था इसलाम की विजय। इन तीर्थों में मथुरा, वृदावन, ऐसे स्थान हैं जो इद्रप्रस्थ एव आगरा के समीप होने से सबसे अधिक सकट में रहे। यह स्वाभाविक है कि सबसे सकटापन्न तीर्थ की रक्षा के लिये सबसे अधिक प्रयास किया गया होगा। इतिहास यही कहता है कि उत्तर भारत ही नहीं, दक्षिण भारत से भी रामानुज, वल्लभ, रामानद प्रभृति दिग्गज आचार्य वृदावन में आकर बस गए और शकर, चैतन्य सदृश महात्माओं ने यहाँ वर्षों निवास करके धर्मप्रचार किया और जाते समय अपने शिष्यों को इस पावन कार्य के लिये नियुक्त किया। इसी उद्देश्य से साधु महात्माओ ने मथुरा वृदावन में विशाल मदिरों की स्थापना की और यहाँ की पावन रज के साथ यहाँ की भाषा को भी समानित किया। वैष्णव महात्माओं ने सारे देश के परिभ्रमण के समय शौरसेनी अपभ्रश मिश्रित व्रजबोली के माध्यम से इस धर्म के सिद्धातों को समझाने का प्रयास किया और शताब्दियों तक यह प्रयास चलता रहा। गुजरात, राजस्थान तो शौरसेनी अपभ्रश एव व्रज की बोली से परिचित थे ही, आसाम और बगाल मे भी शौरसेनी अपभ्रश का साहित्य सरहपा आदि सतों से प्रचार पा चुका था। इस प्रकार सुदूरपूर्व में भी वैष्णव पदावली की भाषा के लिये व्रजबोली को स्थान मिला। तात्पर्य यह कि मध्यकाल में कृष्ण की जन्मभूमि, उस भूमि की भाषा और उस भूमि में होनेवाली कृष्णलीला के आधार पर वैष्णव धर्म

गोरखनाथ को गुरु रूप में स्वीकार करनेवाले प्रथम सिद्ध संभवतः चौंदनाथ थे जिनमें नागनाथी अनुयायी नेमिनाथ एवं पारसनाथी अनुयायी पारसनाथ नामक संप्रदायों का समन्वित रूप पाया जाता था। ये दोनों महात्मा गोरखनाथ से पूर्व हो चुके थे और योग की आवश्यकता निरूपित कर चुके थे। जैन संप्रदाय में भी योगाभ्यास का माहात्म्य स्वीकार किया गया है अतः जैन पदावली का इसमें प्रवेश होना स्वाभाविक ही था। चौंदनाथ के गोरख संप्रदाय में संमिलित होने से जैन धर्म की पदावली स्वतः आ धमकी।

कहा जाता है कि जालंधरपाद वज्रयानी[1] सिद्ध थे। उनके शिष्य कृष्णपाद कापालिक थे। उनके दोहाकोष की मेखला टीका से उनकी कापालिक साधना का पूरा परिचय मिल जाता है। कान्हपाद (कृष्णपाद) के उपलब्ध साहित्य के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि वे हठयोगी भी थे। इस प्रकार अनेक संप्रदायों का उस काल में गुरु गोरखनाथ को गुरु स्वीकार करना इस तथ्य का परिचायक है कि वे तेजस्वी महात्मा प्रतिभा के बल से सभी संप्रदायों की साधनागत विशेषताओं को जनभाषा के माध्यम से जनता तक पहुँचा सके और वैष्णव कवियों को धर्मप्रचारार्थ एक सार्वदेशिक भाषा पैतृक संपत्ति के रूप में दे गए।

विभिन्न आचार्यों एवं गुरुओं की एकत्र वंदना इस तथ्य का प्रमाण है कि इन योगियों में समन्वयात्मक शक्ति थी जिससे तत्कालीन विभिन्न संप्रदायों को एक स्थान पर एकत्रित होने का अवसर मिला और सबने सामूहिक रूप से देश को दुर्दिन के क्षणों में आश्वासन प्रदान किया। प्रेमदास ने सभी संप्रदायों के योगियों की इस प्रकार वंदना की है। इस वंदना से उस काल की नवीन साधना पद्धति एवं भाषाशक्ति का परिचय मिलता है—

नमः नमो निरंजनं भरम को बिहंडनं। नमो गुरुदेवं अगम पंथ भेवं।
नमो आदिनाथं भए हैं सुनाथं। नमो सिद्ध मछिन्द्र बड़ो जोगिन्द्रं ॥
नमो गोरख सिधं जोग जुगति बिधं। नमो चरपट रायं गुरु ग्यान पाया।
नमो भरथरी जोगी ब्रह्मरस भोगी। नमो बाल गुंदाई कीयो क्रम पाई ॥
नमो पृथीनाथं सदानाथ हाथं। नमो हांडी भड़ंग कीयो क्रम पंगं ॥

---

[1] हमने ही कोई भरित नहीं कि जालंधरपाद का पूरा का पूरा संप्रदाय बौद्ध वज्रयान से संबद्ध था।" हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ० १८

नमो ठीकर नाथ सदानाथ साथ। नमो सिध जलंधरी ब्रह्मबुधि संचरी ॥
नमो कान्ही पाय गुरु सबद भायं। नमो गोपीचंद रमत्त ब्रह्मनंदं ॥
नमो श्रौघड़देवं गोरख सबद लेवं। नमो बालनाथ निराकार साथ ॥
नमो अजैपालं जीत्यो जमकालं। नमो हनूनामं निरजनं पिछानं ॥

इस काल की जनभापा का परिचय करानेवाले दूसरे साधन उक्त-व्यक्ति-प्रकरण प्राकृतपैंगलम एव वर्णरत्नाकर से अवहट्ट भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अवहट्ट की कतिपय विशेपताएँ उक्त ग्रथों के अनुशीलन से सामने आती हैं।

वैष्णव परिव्राजकों के लिये मुसलिम युग में मथुरा वृंदावन सबसे बड़ा तीर्थ बन गया था। इसके कारण थे—महमूद गजनवी के समय से ही देव-विग्रह-विद्रोही एव धनलोलुप विदेशी आक्रमणकारियों की क्रूर दृष्टि हिंदू देवालयों पर रहा करती थी। काशी, अयोध्या, मथुरा आदि तीर्थ उनकी आँखों में खटकते थे। ये ही तीर्थ हिंदू सस्कृति के केंद्र और धर्मप्रचारकों के गढ माने जाते थे। इनके विध्वस का अर्थ था इसलाम की विजय। इन तीर्थों में मथुरा, वृंदावन, ऐसे स्थान हैं जो इंद्रप्रस्थ एव आगरा के समीप होने से सबसे अधिक सकट में रहे। यह स्वाभाविक है कि सबसे सकटापन्न तीर्थ की रक्षा के लिये सबसे अधिक प्रयास किया गया होगा। इतिहास यही कहता है कि उत्तर भारत ही नहीं, दक्षिण भारत से भी रामानुज, वल्लभ, रामानद प्रभृति दिग्गज आचार्य वृंदावन में आकर बस गए और शकर, चैतन्य सदृश महात्माओं ने यहाँ वर्षों निवास करके धर्मप्रचार किया और जाते समय अपने शिष्यों को इस पावन कार्य के लिये नियुक्त किया। इसी उद्देश्य से साधु महात्माओं ने मथुरा वृंदावन में विशाल मदिरों की स्थापना की और यहाँ की पावन रज के साथ यहाँ की भापा को भी समानित किया। वैष्णव महात्माओं ने सारे देश के परिभ्रमण के समय शौरसेनी अपभ्रश मिश्रित व्रजबोली के माध्यम से इस धर्म के सिद्धांतों को समझाने का प्रयास किया और शताब्दियों तक यह प्रयास चलता रहा। गुजरात, राजस्थान तो शौरसेनी अपभ्रश एव व्रज की बोली से परिचित थे ही, आसाम और बगाल में भी शौरसेनी अपभ्रश का साहित्य सरहपा आदि सतों से प्रचार पा चुका था। इस प्रकार सुदूरपूर्व में भी वैष्णव पदावली की भापा के लिये ब्रजबोली को स्थान मिला। तात्पर्य यह कि मध्यकाल में कृष्ण की जन्मभूमि, उस भूमि की भापा और उस भूमि में होनेवाली कृष्णलीला के आधार पर वैष्णव धर्म

एवं संस्कृति का निर्माण होने लगा। तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में मिथिला के हिंदू राजा भारतीय संस्कृति के परिपोषक रहे। महाराज शिवसिंह ने वैष्णव धर्म की रक्षा की। उनके राज्य में शौरसेनी अपभ्रंश के साथ साथ मैथिल एवं भोजपुरी बोली को आश्रय मिला। मिथिला के संस्कृत के दिग्गज विद्वानों ने संस्कृत के साथ साथ जनपदीय बोली में अपभ्रंश की शैली पर पदावली की रचना की। विद्यापति के कोकिलकंठ से सबसे अधिक मधुर स्वर फूट पड़ा। उसे सुनने को अनेक विद्वान्, आचार्य, संत महात्मा मिथिला में एकत्रित हुए।

जब विदेशी विजेताओं की कोपाग्नि में समस्त उत्तर भारत की राज्य शक्ति होमी जा रही थी उस समय भी मिथिला और उसकी भौगोलिक स्थिति के कारण सुरक्षित रहकर भारतीय धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिये प्रयत्नशील थे और वहाँ की विद्वन्मंडली के आकर्षण से कामरूप से कन्नौज तक के ज्ञानपिपासु आकर्षित हो रहे थे। ज्योतीश्वर और विद्यापति की कृतियाँ उत्तर भारत में सर्वत्र संमानित हो रही थीं। जयदेव के गीतगोविंद की ख्याति जगन्नाथपुरी के दर्शनार्थियों के द्वारा सारे देश में फैल रही थी और सभी देवालयों में कीर्तन का प्रधान साधन बन रही थी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गीतगोविंद की शैली पर प्रत्येक जनपदीय बोली में कीर्तन पदावली निर्मित हुई जिसके गान से वैष्णव धर्म के प्रसार में आशातीत सहायता मिली।

ब्रजबुलि का उद्भव

मध्ययुग की विषम परिस्थितियों ने जब संत हृदयों का मंथन किया तो आवश्यकताओं के अनुरूप नवीन दर्शन नवनीत के रूप में प्रस्फुटित हो उठे। उन नवीन विचारों के प्रचार की भावना ने संत महात्माओं का एक ऐसा समाज तैयार कर दिया जो समस्त देश का परिभ्रमण करते हुए अधिकाधिक जनसंपर्क में आते गए। इन महात्माओं ने लघु लघु अनाश्रित जनता की मूक वाणी को सुनकर चिंतन किया और राजनैतिक एवं धार्मिक आपदाओं के निवारणार्थ प्रभु का आश्रय लेकर जनता को वैष्णव धर्म का संदेश सुनाना प्रारंभ किया। इस नवसंदेश को सर्वत्र प्रसारित करते हुए अनायास एक नवभाषा का निर्माण होने लगा जिसके प्रादुर्भाव में ब्रज एवं मैथिली मूल रूप से किंतु अन्य उपभाषाएँ गौण रूप से योग दे रही थीं। यही भाषा आगे चलकर 'ब्रजबुली' के नाम से प्रख्यात हुई। इसके निर्माण में विद्यापति के

गीतों का विशेप योगदान मिलता है। 'व्रजवुली'[1] की निर्माणपद्धति पर विचार करते हुए डा० चैटर्जी कहते हैं कि "विद्यापति के राधाकृष्ण प्रेम सबंधी गीतो ने बगाल में नवजागरण उत्पन्न किया। बगाल के कविवृंद ने मैथिली के अध्ययन के बिना ही मैथिली, बगाली और व्रजभापा के मेल से एक मिश्रित भापा का प्रयोग किया जो आगे चलकर 'व्रजवुली' के नाम से प्रख्यात हुई। इसी भापा का उपयोग करके गोविंददास, ज्ञानदास आदि वैष्णव कवि अमर साहित्य की सृष्टि कर गए।"

हम पहले कह आए हैं कि सिद्धो एव नाथपथियो ने योग के आधार पर एक नवीन जीवनदर्शन की स्थापना करके उसके प्रसार के लिये नवीन साहित्यिक भापा का निर्माण किया था, जिसको सभी प्रचलित दार्शनिक पद्धतियों की पदावली तथा सपूर्ण उत्तरी भारत की जनभापा का सहयोग प्राप्त हुआ था। न्यूनाधिक दो तीन शताब्दियो तक इन सिद्धो एव नाथ-योगियो ने जनसाहित्य को समृद्ध किया। किंतु तुर्कों का आधिपत्य स्थापित होने पर जनता शुष्क ज्ञान से सतुष्ट न रह सकी। सिद्धों एव नाथपथियो का जीवनदर्शन तत्कालीन स्थिति मे अनुपयोगी प्रतीत होने लगा। इधर वैष्णव महात्माओं ने सतप्त हिंदू जनता को भक्तिधारा मे अवगाहन कराना प्रारभ कर दिया और जनभापा भी दो तीन शताब्दियों में सिद्धो की साहित्यिक भापा से वहुत आगे वढ चुकी थी। परिस्थिति की विवशता के कारण व्रज को ही हिंदू सस्कृति का केंद्र बनाना उचित समझा गया था। अतः वैष्णव आचार्यों ने यहाँ निवास करके यहाँ की भापा में कृष्णलीलाओं का कीर्तन प्रारभ किया।

आचार्यों ने कृष्ण की व्रजलीला का प्रसार व्रज तक ही सीमित नहीं रखा। देश के कोने कोने में घूम घूमकर उस लीलामृत का पान कराना वैष्णव भक्तों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस प्रकार व्रजाधिपति की लीलाओं को व्रजभापा के साथ अन्य भापाओं के मिश्रण से काव्यरस में आप्लुत करने का स्थान स्थान पर प्रयत्न होने लगा। पश्चिमी एव उत्तरी पश्चिमी भारत की धर्मपिपासा की शाति का केंद्र तो व्रज को बनाया गया किंतु पूर्व भारत-स्थित मिथिला, वगाल, आसाम तथा उत्कल में अनेक महात्माओ एव कवियों ने स्वतत्र रूप से प्रयास किया। इस प्रयास के मूल में एक मुख्य धारणा यह कार्य कर रही थी कि भाषा सार्वदेशिक एव सार्वजनीन हो। आचलिक

1 Dr S K Chatterji, O D B L, Page 103

बोलियों का प्रयोग ब्रज एवं मैथिल भाषा में ऐसे कौशल के साथ किया जाय कि संकीर्णता की झलक न आने पावे। उस काल में ब्रजाधिपति की लीला को उन्हीं की बोली में सुनना पुण्य समझा जाता था।

हम यह भी देख चुके हैं कि सिद्धों एवं नाथपंथियों ने परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश को अपनी काव्यभाषा स्वीकार कर लिया था। अतः यह भाषा जनता में समादृत हो चुकी थी। पूर्वी भारत में परवर्ती अपभ्रंश का परिचय होने से वैष्णवों की नई भाषा ब्रजबुलि का समादर स्वाभाविक था।

इन वैष्णव कवियों में सबसे अधिक मधुर स्वर विद्यापति का सुनाई पड़ा था। पूर्व में मिथिला उस समय प्राचीन संस्कृति की रक्षा का केंद्र बन गया था। आसाम का सीधा संपर्क होने से मैथिली मिश्रित ब्रजभाषा शंकरदेव प्रभृति महात्माओं की काव्यभाषा बनी। बंगाल और उत्कल में भी वैष्णव महात्माओं के प्रयास से कृष्णकीर्तन के अनुरूप भाषा अनायास ही बनती गई। इस कृत्रिम भाषा में विरचित साहित्य इतना समृद्ध हो गया कि कालांतर में उसे एक नई भाषा का साहित्य स्वीकार करना पड़ा और ब्रजभाषा से पृथक् करने के लिये इसका नाम ब्रजबुलि रख गया।

बंगाल में ब्रजबुलि के निर्माण का कारण बताते हुए सुकुमार सेन लिखते हैं[1]।

Sanskrit students from Bengal, desiring higher education especially in Nyaya and Smriti had to resort to Mithila. When returned home they brought with them along with their Sanskrit learning popular vernacular songs, mostly dealing with love in a conventional way that were current in Mithila. These songs were the composition of Vidyapati and his predecessors, and because of the exquisite lyric charm and the appeal of the music of an exotic dialect soon became immensely popular among the *cultured community*

मिथिला का वैष्णव साहित्य ब्रज से प्रभावित था और बंगाल और

---

1. S. k. mr. Sen A history of Brajbuli Literature

आसाम का मिथिला और व्रज दोनो से। इस प्रकार बगाल और आसाम के व्रजबुलि के साहित्य में एक कृत्रिम भाषा का प्रयोग स्वाभाविक था। इसी कारण सुकुमार सेन कहते हैं—[1] "There is no wonder that a big literature grew up in Brajbuli which is a mixed and artificial language."

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जिस प्रकार पालि, गाथा, प्राकृत एव अवहट्ट भाषाएँ कृत्रिम होते हुए भी विशाल साहित्य की सृष्टि कर सकीं उसी प्रकार व्रजबुलि नामक कृत्रिम भाषा में १५वीं शताब्दी के यशोराज खान से लेकर रामानदराय, नरहरिदास, वासुदेव, गोविंददास, नरोत्तमदास, राधा-मोहनदास, बलरामदास, चडीदास, अनतदास, रामानद वसु, गोविददास, ज्ञानदास, नरोत्तम प्रभृति कवियों की प्रभूत रचनाएँ हुईं। इस राससग्रह मे व्रज के कवियो की रास रचनाएँ सर्वत्र प्रचलित होने के कारण नही समिलित की गई हैं। सूरदास, नददास प्रभृति कवियों की कृतियो से प्रायः सभी पाठक परिचित हैं।

इनके अतिरिक्त शोधकर्ताओं को अनेक रासग्रथ मिले हैं जिनका सक्षिप्त परिचय शोध रिपोर्ट से ज्ञात होता है। ऐसी रचनाओं में निम्नलिखित ग्रथ प्रसिद्ध हैं जिनकी भाषा परिमार्जित व्रजभाषा है—

(१) श्रीरास-उत्साह-वर्द्धन वेलि, रचयिता वृदावनदास
(२) रास के पद (अष्टछाप के कवियों का राससग्रह)
(३) रासपचाध्यायी, रचयिता कृष्णदेव
(४) रासदीपिका जनकराज किशोरीशरण, रचयिता
(५) रास पचाध्यायी, आनद कविकृत।

शोध द्वारा प्राप्त वैष्णव रासग्रथों में रामरास की निजी शैली है।

कतिपय रास दोहा चौपाई में आबद्ध हैं किंतु अधिकाश के छद सवया और कवित्त हैं। एक रामरास का उद्धरण यहाँ भाषापरीक्षण के लिये देना आवश्यक प्रतीत होता है—

छलिकै छबीली नव नायिका को दूतिका लै,
अटा पै चढ़ाय छटा चद्रिका सी लसी है।

---

१ वही।

बोलियों का प्रयोग ब्रज एवं मैथिल भाषा में ऐसे कौशल के साथ किया जाय कि संकीर्णता की झलक न आने पाये। उस काल में ब्रजाधिपति की लीला को उन्हीं की बोली में सुनना पुण्य समझा जाता था।

हम यह भी देख चुके हैं कि सिद्धों एवं नाथपंथियों ने परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश को अपनी काव्यभाषा स्वीकार कर लिया था। अतः यह भाषा जनता में समादृत हो चुकी थी। पूर्वी भारत में परवर्ती अपभ्रंश का परिचय होने से वैष्णवों की नई भाषा ब्रजबुलि का समादर स्वाभाविक था।

इन वैष्णव कवियों में सबसे अधिक मधुर स्वर विद्यापति का सुनाई पड़ा था। पूर्व में मिथिला उस समय प्राचीन संस्कृति की रक्षा का केन्द्र बन गया था। आसाम का सीधा संपर्क होने से मैथिली मिश्रित ब्रजभाषा शंकरदेव प्रभृति महात्माओं की काव्यभाषा बनी। बंगाल और उत्कल में भी वैष्णव महात्माओं के प्रयास से कृष्णकीर्तन के अनुरूप भाषा अनायास ही बनती गई। इस कृत्रिम भाषा में विरचित साहित्य इतना समृद्ध हो गया कि कालांतर में उसे एक नई भाषा का साहित्य स्वीकार करना पड़ा और ब्रजभाषा से पृथक् करने के लिये इसका नाम ब्रजबुलि रख गया।

बंगाल में ब्रजबुलि के निर्माण का कारण बताते हुए सुकुमार सेन लिखते हैं[१]।

Sanskrit students from Bengal, desiring higher education, especially in Nyaya and Smriti had to resort to Mithila. When returned home they brought with them along with their Sanskrit learning, popular vernacular songs, mostly dealing with love *in a conventional way, that were current in Mithila.* These songs were the composition of Vidyapati and his predecessors, and because of the exquisite lyric charm and the appeal of the music of an exotic dialect soon became immensely popular among the *cultured community*

मिथिला का वैष्णव साहित्य ब्रज से प्रभावित था और बंगाल और

S. Kumar Sen. A History of Brajbuli Literature

रास के छंद

रास काव्यों की छदयोजना सस्कृत, पाली एवं प्राकृत से प्रायः भिन्न दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार प्रत्येक भाषा की प्रकृति पृथक् होती है उसी प्रकार उसका छदविधान भी नवीन होता है। छदयोजना काव्यप्रकृति के अनुरूप हुआ करती है। अपभ्रश का राससाहित्य प्रारभ में अभिनय एव गायन के उद्देश्य से विरचित हुआ था अत. इसमें सगीत को प्रधानता दी गई और जो छद सगीत को अपने अतस्तल में बिठला सका उसी को आदर मिला। आगामी पृष्ठों में हम रास में प्रयुक्त छदों का लक्षण एव उदाहरण देख सकेंगे।

हम पहले कह आए हैं कि रास या रासक नामक एक छदविशेष रास ग्रथों में प्रयुक्त हुआ है। 'रास' छद का लक्षण विरहांक के 'वृत्तजातिसमुच्चय'[1] में इस प्रकार मिलता है—

रास स्वरूप का छद

वित्थारिअ आणुमएण कुण। दुवईछन्दोणुमएअ पुण।

इअ रासअ सुअणु मणोहरए। वेआरिअसमत्तक्खरए ॥४-३७॥

अडिलाहिं दुवहएहिंव मत्तारद्धाहिं तहअ ढोसाहिं।

बहुएहिं जो रइज्जई सो भण्णइ रासऊ णाम ॥३८॥

अर्थात् कई द्विपदी अथवा विस्तारित के योग से रासक बनता है और इसके अंत में विचारी होता है।

द्विपदी, विस्तारित और विचारी के लक्षण आगामी पृष्ठो पर पृथक् पृथक् दिए जायँगे।

डा० वेलकर ने भाष्यकार के आधार पर इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"A रासक is made up of several (?) द्विपदी S or विस्तारित S ending in a विचारी or of several अडिला S, द्विपद S, मात्रा S, रड्डा S or ढोसा S।

१—विस्तारितकानुमतेन कुरु। द्विपदीच्छन्दोनुमते वा पुन।
एतत रासक सुतनु मनोहरम्। विदारी समाप्ताक्षरम ॥३७॥
अडिलाभिर्द्विपथकैर्वा मात्रारथ्याभिस्तथा च ढोसाभि।
बहुभिर्या रच्यते स भण्यते रामको नाम ॥३८॥

बदरि कै झपाक दिए चीना के किवार त्यौं
खुली करताल दैके मोद मन हँसी है।
ऐसेइ भीतर के किवारा खोलि राघव जू
देखि के नवोढा नाह चकी चकी ससी है।
धीमी नरि अंक पिया आज साज दूनी लिया,
फबी दुति रसना की मानो पैठ दसी है।

एक पुरुष श्रीराम हैं दुली सब जग जानि।
सिव महादिक को मतो समुझि गहो हित मानि॥
वाद विवाद न कीजिए विरविरोध भजु राम।
सब संसय को मत यही तब पावो विश्राम॥

तात्पर्य यह है कि कृष्णरास के सदृश रामरास का भी प्रचुर साहित्य उपलब्ध है जिसकी भाषा प्रायः ब्रजभाषा है। इस प्रकार ब्रजभाषा और ब्रज बुलि के प्रभूत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन भाषा की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वमय है।

रास के छंद

रास काव्यो की छदयोजना सस्कृत, पाली एव प्राकृत से प्रायः भिन्न दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार प्रत्येक भाषा की प्रकृति पृथक् होती है उसी प्रकार उसका छदविधान भी नवीन होता है। छदयोजना काव्यप्रकृति के अनुरूप हुआ करती है। अपभ्रश का राससाहित्य प्रारभ में अभिनय एव गायन के उद्देश्य से विरचित हुआ था अत. इसमें सगीत को प्रधानता दी गई और जो छद सगीत को अपने अतस्तल में बिठला सका उसी को आदर मिला। आगामी पृष्ठों में हम रास मे प्रयुक्त छदों का लक्षण एव उदाहरण देख सकेंगे।

रास स्वरूप का छद

हम पहले कह आए हैं कि रास या रासक नामक एक छदविशेष रास ग्रथों में प्रयुक्त हुआ है। 'रास' छद का लक्षण विरहाक के 'वृत्तजातिसमुच्चय'[1] में इस प्रकार मिलता है—

वित्थारिअ आणुमएण कुण। दुवईछन्दोणुमएण्व पुण।
इअ रासअ सुअणु मणोहरए। वेआरिअसमत्तक्खरए ॥४-३७॥
अडिलाहिं दुवहएहिंव मत्तारड्ढाहिं तहअ ढोसाहिं।
वहुएहिं जो रइज्जई सो भण्णइ रासऊ णाम ॥३८॥

अर्थात् कई द्विपदी अथवा विस्तारित के योग से रासक बनता है और इसके अत में विचारी होता है।

द्विपदी, विस्तारित और विचारी के लक्षण आगामी पृष्ठों पर पृथक् पृथक् दिए जायँगे।

डा० वेलकर ने भाष्यकार के आधार पर इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"A रासक is made up of several (?) द्विपदी s or विस्तारित s ending in a विचारी or of several अडिला s, द्विपद s, मात्रा s, रड्डा s or ढोसा s।

१—विस्तारितकानुमतेन कुरु। द्विपदीच्छन्दोनुमते वा पुन ।
एतद रासक सुतनु मनोहरम्। विदारी समाप्ताक्षरम ॥३७॥
अडिलाभिर्द्विपथकैर्वा मात्रारथ्याभिस्तथा च ढोसाभि ।
बहुभिर्या रच्यते स भण्यते रासको नाम ॥३८॥

विरहांक ने वृत्तजातिसमुच्चय में ही दूसरे स्थान पर 'रासा' नाम देकर छंद का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

रासा—मात्रावृत्तम्

चतुर्मात्रास्त्रय ग ग

अथवा

पढमगइन्दविइअमएहिं । बीअम्मि तइअ तुरंगमएहिं ।
चरणसु कण्णविरामसएहिं । सुन्दरि रासाअ पाअएहिं[1] ॥८५॥

गयेंद्र=४

तुरंग=४

कर्ण=SS

अर्थात् प्रत्येक पद में ४+४+४+SS=१६ मात्राएँ

डा॰ वेलणकर ने भाष्यकार के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'रासा—Four Padas each having 4+4+4+SS. This is differet from the रासक mentioned at IV-37-38 and also from the रास mentioned by Hemacandra at P 36a, line 7 This metre is very frequently employed in the old Gujrati poems called 'Rasas'

प्राकृतपैंगलं नामक ग्रंथ में अपभ्रंश में प्रयुक्त होनेवाले अडिल्ला, रड्डा, घत्ता आदि छंदों के लक्षण तो विद्यमान हैं किंतु रासा या रासक छंद की कहीं चर्चा भी नहीं है। संभव है प्राकृत भाषा के छंदों की ओर ही मूलतः ध्यान होने और रासक का केवल अपभ्रंश में ही प्रयोग देखकर आचार्य ने इस छंद का लक्षण न दिया हो।

स्वयंभूछंदस् में रासक का लक्षण स्वयंभू ने इस प्रकार दिया है—

घत्ता छड्डणिआहिं पद्धडिआ [हिं] सु-अण्णरूएहिं ।
रासाबंधो कव्वे जण-मण-अहिरामो (अओ ?) होइ ॥

अर्थात् काव्य में घत्ता छड्डणिया पद्धडिया और दूसरे सुंदर छंद बने युक्तिपूर्वक रासाबंध होकर लोगों को सुंदर लगते हैं।

१—प्रथमगजेन्द्र विभोषितो । द्वितीय तृतीय तुरगमैः ।
चरणेषु कर्णं विरामैः । सुन्दरि रासा च पादैः ॥

इसी के उपरांत स्वयंभू ने (१४+७)=२१ मात्रा के छंद की व्याख्या की है जिससे प्रतीत होता है कि रासकबंध में रासा छंद विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे।

हेमचंद्र ने छंदानुशासन में रास की व्याख्या करते हुए लिखा है—

सयलाओ जाईओ पत्थारवसेण एत्थ बज्झंति।

रासाबन्धो नूणं रसायणं बुह गोट्ठीसु॥

रासा का लक्षण इससे भिन्न है। रासा में चार पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में ४+४+४+ — — =१६ मात्राएँ होती है।[१]

रास, रासक

हेमचंद्र ने छंदानुशासन में रासक और आभाणक को एक ही छंद स्वीकार किया है। हेमचंद्र ने रासक का लक्षण देते हुए कहा है—

(१) दामाभ्नौ रासके ढै

टीका—दा इत्यष्टादशमात्रा नगणश्च रासकः। ढैरिति चतुर्दशभिर्मात्राभिर्यतिः।

अर्थात् रासक छंद में १८ मात्रा+ललल=२१ मात्रा होती है और १४ पर यति होती है।

हेमचंद्र के रासक के लक्षण से सर्वथा साम्य रखनेवाला लक्षण छंदःकोष में आभाणक का मिलता है। आभाणक का लक्षण इस प्रकार है—[२]

(२) मत्तहु, वह चउरासी, चउपइ चारि क, ल
तेसठ, जोनि नि, बधी, जाणहु, चहुयद, ल
पच, कलव, ज्जिज्जहु, गणुसु, द्दुवि गण, हु
सोविअ, हाणठ, छदुजि, महियलि बुह मुण, हु

[मत्त होहि चउरासी चहुपय चारिकल
ते सठि जोणि निबद्धी जाणहु चहु अ दल।
पचक्कलु वज्जिज्जहु गणु सुद्धि वि गणहु
सो वि आहाणउ छंदु केवि रासउ मुणहु॥]

१—वृत्तजातिसमुच्चय-(विरहांक)-४।८५

२—प्रत्येक पद में २१ मात्रा होती हैं अतः कुल ८४ मात्राएँ हैं। प्रारंभ में ६ मात्राएँ, तदुपरांत चार चार, अंत में ३ मात्रा। पाँच मात्रा वर्जित हैं। यही रासक छंद का भी लक्षण है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में रासक और आभाणक एक ही प्रकार के छंद थे किंतु कालांतर में इनके विकास के कारण अंतर आ गया। संदेशरासक में इन दोनों में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। प्रमाण यह है—

सो वि आभाणउ, छंदु केवि रासक सुणइ[१]।

अर्थात् कोई आभाणक छंद और कोई रासक छंद गा रहा था।

श्री रामनारायण विश्वनाथ पाठक ने 'प्राचीन गुजराती छंदो' में इसका विवेचन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है—

'अर्थात् रासक अने आभाणक अेक ज छंद नुं नाम छे आ बे नामो मां रासक नाम अमी जाति रचनाओ नुं सामान्य नाम छे, ते उपरांत बीजुं विशेष रचनाओ नुं पण छे, तेथी उपरनी रचनीने आपणे आभाणक कही अे तो सारुं। अे रीते चार्वा भविसयत्त कहानी उपर उतारेली रचना आभाणक गणवी जोई अे।'[२]

आभाणक : दादा दादा दादा दादा दासल ल

(३) रासा से सर्वथा साम्य रखनेवाला एक और छंद रासावलय है। इसमें भी २१ मात्राएँ होती हैं। रासावलय का लक्षण इस प्रकार है—

६+४+६+५=२१ मात्राएँ

रासावलय और आभाणक या रास में अंतर यह है कि आभाणक में पंच कल वर्जित है—

(४) रासक के अन्य लक्षण इस प्रकार हैं—

(१८ मात्रा+ललल) १४ मात्रा पर यति

अथवा

(५) पाँच चतुष्कल के उपरांत लघु गुरु मिलाकर कुल २१ मात्राएँ होती हैं।[३]

अब अपभ्रंश संगृहीत रास काव्यों के रासक, रास या रासा छंद पर विचार कर लेना आवश्यक है—

१—संदेशरासक, ३ह ११

२—प्राचीन गुजराती छंदो—गुजरात विद्या सभा अहमदाबाद पृ

३—वही पृ १७०

सदेशरासक के प्रायः तृतीयाश में रास छद का प्रयोग हुआ है। इस छद का सामान्य रूप इस प्रकार मिलता है—

$\overline{\vee\vee}$ +४+ $\overline{\vee\vee}$ $\underline{\vee\vee}$ +∨/३+ $\overline{\vee\vee}$ $\underline{\vee\vee}$ +∨ ∨ ∨=२१ मात्राएँ

अथवा

$\overline{\vee\vee}$+४+$\overline{\vee\vee}$ $\underline{\vee\vee}$+∨ ∨/$\underline{\vee\vee}$+$\overline{\vee\vee}$ $\underline{\vee\vee}$+∨ ∨ ∨=२१ मात्राएँ

हम पहले देख आए हैं कि रासक में द्विपदी विस्तारितक एव विचारी का प्रयोग होता है। इन छदों का विवेचन कर लेना आवश्यक है।

द्विपदी—

द्विपदी (दुवई) नाम से यही प्रतीत होता है कि इस छंद मे २ पद अथवा चरण होंगे किंतु अपभ्रंश काव्यों का अनुशीलन करने पर ५७ प्रकार की चार पादवाली द्विप्रदी प्राप्त होती है। परीक्षण करने पर डा० भयाणी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब अपभ्रश महाकाव्य की सधि के प्रारभ में द्विपदी का प्रयोग होता है तो उसमें दो ही पाद होते हैं। किंतु गीतों में प्रयुक्त द्विपदी के चार पाद होते हैं। छदानुशासन के अनुसार द्विपदी इस प्रकार है।

६+∨ $\underline{\vee\vee}$ ∨+४+४+४+∨ $\underline{\vee\vee}$ ∨+—=२८ मात्राएँ

वृत्तजातिसमुच्चय में द्विपदी छद का उल्लेख नहीं मिलता। किंतु इस राससग्रह में सदेशरासक में इसका प्रयोग मिलता है।

इस छद का प्रयोग अधिकाश रासग्रथों में हुआ है।[१] वृत्तिजातकसमुच्चय अढिल (अढिल्ला) में इसका लक्षण इस प्रकार है—

श्रुति सुखानि पर्यालोच्य इह प्रस्तार सागरे
सुतनु विविध वृत्तानि सुसचित गुण मनोहरे।
अढिला भवति आभीर्या नताङ्गि भापया
सयमकैः पादैः समार्धसमै. कुरु सदा॥
स्यन्दनो रथाङ्ग सजानीत। हार सजानीत।
यमक विशुद्धैः संजानीत। अढिला लक्षणे सजानीत॥

कोई भी वह सुदर छद अडिल्ल माना जाता है जिसकी भापा (अपभ्रश)

१—केवल सदेशरासक के १०४, १८२, १५७-१७०, १७४ से १८१ तक।

आभीरी हो और यमक का प्रयोग हो इसी के उपरांत दूसरा लक्षण विरहांक इस प्रकार लिखते हैं—

६ + V — V + — — + V V + यमक। प्रत्येक पंक्ति में ये ही लक्षण होते हैं।

भयाणी जी का मत है कि प्रारंभ में अडिल्ल किसी छंद विशेष का नाम नहीं प्रस्तुत टेकनिकल शब्द था और कोई भी सामान्य छंद अपभ्रंश में विरचित होकर यमक के साथ संयुक्त होने से अडिल्ल बन जाता था। कालांतर में १६ मात्राओं का छंद (६+४+४+V V) अडिल्ल के नाम से अभिहित हुआ। यमक का प्रतिबंध भी निकाल दिया गया। अंत में प्रथम और द्वितीय का तथा तृतीय और चतुर्थ का तुकांत आवश्यक बन गया।

संदेशरासक के कतिपय छंदों में यमक का पूर्ण निर्वाह मिलता है। शरद्‌वर्णन के प्रारंभ में (पाइउ, पाइउ) (रमणीयव, रमणीयव) यमक पाया जाता है। कहीं केवल तीसरे एवं चौथे चरण में यमक है।

कहीं कहीं ६ चरणों में यमक का प्रयोग पाया जाता है। ऋषभदास कृत कुमारपालरास में ६ पंक्तियों में 'सल्लइ' यमक का प्रयोग पाया जाता है।

संदेशरासक की टिप्पणी में पद्धडिया छंद का लक्षण इस प्रकार मिलता है—

> सोळ समत्तउ जहिं पउ दीसइ
> अक्खर गंतु न किं पि सरीसइ।
> पायइ पायइ जमक विसुद्धउ
> पद्धडि यह हु छंदु मडिल्ला पसिद्धउ॥

अडिल्ल एवं मडिल्ला में बहुत ही सूक्ष्म अंतर है। ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचंद्र ने इन्हें एक ही छंद के दो प्रकार मान लिए हैं।

संदेशरासक के टीकाकार ने १११ वाँ छंद मडिल्ल नाम से घोषित किया है और उसका लक्षण इस प्रकार है—[३]

जमकु होइ जहि बिहु पय जुयलह। मडिल छंदु तं वज्जुदि बुयलह॥

दो पादों के अंत में यमक हो तो अडिल्ल एवं चारो पादों में यमक हो तो मडिल्ल होगा। अडिल्ला छंद का प्रयोग आगे चलकर लुप्तप्राय हो गया।

---

१ संदेश रासक छंद १२७
२ वही छंद १६
३ वही छंद १११

रामनारायण विश्वनाथ पाठक का मत है कि 'अने आपणा विषय ने अंगे ओ कशा महत्व नो प्रश्न न थी। आपणी प्रस्तुत बात ओछे के आ अलिल्लह के अडयल मात्र अेक कौतुक नो छद रह्यो हतो अने ते आपणा जातिवद्ध प्रवधो माथी लुप्त थाय थे।'[1]

अपभ्रश महाकाव्य का मुख्य छद होने के कारण प्रायः सभी आचार्यों ने इस छद पर विचार किया है। इस छदकी महत्ता इतनी है कि अकेले सदेश रासक के ६४ पादो में इसका प्रयोग किया गया है।

पद्धडिका (पज्झटिका)

इस छद में चतुर्मात्र गण (४+४+४+४) १६ मात्राएँ होती हैं। कतिपय छदशास्त्रियों का मत है कि चतुर्मात्रा का क्रम (∨∨—) होना चाहिए। सदेशरासक के २०, २१, ५६–६३१, २००–२०३, १०५–२०७, २१४–२२० आदि छदों में पद्धडिया छद दिखाई पड़ता है। पद्धडिया छद का लक्षण सदेशरासक की अवचूरिका में इस प्रकार मिलता है—

सोलसमत्तउ जहि पउ दीसइ, अक्खरु मतु न किं पि सालीसइ।
पायउ पायउ जमक विसुद्धउ, पद्धडीअइ इइ छद विसुद्धउ॥
चत्वारोऽपि पदाः षोडश मात्रिकाः। आद्यार्धे उत्तरार्धे च यमकम्।

रामनारायण विश्वनाथ पाठक का मत है कि 'आमा घणी पक्तिओ मा अते लगाल (∨ — ∨) आवे छे, जे पद्धडी नु खास लक्षण छे। बाकी मात्रा सख्या अने सधि नु स्वरूप जोता आकृति मूल थी पण पद्धडी गणाय अेवी न थी।'[2]

रड्डा

रड्डा अपभ्रश साहित्य के प्रमुख छदो में है। प्राकृतपैङ्गलम् में इसका लक्षण देते हुए लिखते हैं कि इसके प्रथम चरण में पद्रह, द्वितीय मे बारह, तृतीय में पंद्रह, चतुर्थ में ग्यारह, पचम मे पद्रहमात्राएँ होती हैं। इस प्रकार कुल ६८ मात्राओं का रड्डा छद होता है। इसके अत में एक दोहा होता है।

---

१ प्राचीन गुजराती छदो पृ० १५१

२ प्राचीन गुजराती छदो—रामनारायण विश्वनाथ पाठक पृ० १४६

पठम विरमइ मत्त दह पच, पअ बीअ बारह ठवहु,
तीअ ठाँइ दहपच जाणहु, चारिम एग्गारहहि,
पचमे हि दहपच आणहु।

संदेशरासक की टिप्पनक रूपा व्याख्या में रड्डा का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—जिसके प्रथम पाद में १५ द्वितीय में ११, तृतीय में १५, चतुर्थ में ११, पंचम में १५ मात्राएँ होती हैं और अंत में दोधक छंद होता है उसे रड्डा कहते हैं।

संदेशरासक के १८, १६, २२२, २२३, इन चार छंदों में रड्डा पाया जाता है।

वृत्तजातिसमुच्चय में रड्डा का लक्षण देते हुए विरहांक लिखते हैं—

> पअडु मत्तु अण्तिमअ। अक्खिहि दुवहअ जोहि।
> तो तहु णामें रड्ड फुड। छन्दह कइमत्त ओहि॥

अर्थात् जब 'मात्रा' के विविध भेदों में से किसी एक के अंत में दोहा आता है तो उसे रड्डा कहते हैं।

यह ऐसा छंद है जिसका उपयोग क्रमशः अपभ्रंश भाषा में होता है।

मात्रा — अर्थात् अपभ्रंश का यह विशेष छंद है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

> विषमस्थमन्दसः पादा मात्रायां। द्वौ‌ववस्य सौम्यमूर्ति।
> मलिकपसगाद्यविनिमिताः। सेपो पादावी भव्यमावी।
> विबुधैः समयं निरूपितम्॥

अर्थात् विषम मात्राओं के इस छंद में पाँच पाद होते हैं। प्रथम, तृतीय और पंचम में करही मात्रा में ११, मोदनिका में १४, चारुनेत्री में १५, राहुसेनी में १६ मात्राएँ होती हैं। दूसरे और चौथे पाद में इनमें क्रमशः ११, १२ ११ १४ मात्राएँ होती हैं।

हेमचंद्र ने इसके अनेक भेद किए हैं। इनमें मुख्य मात्रा छंद के पाँचों पादों में क्रमशः १६ १२ १६ १२ १६ मात्राएँ होती हैं।

इस छंद का अपभ्रंश में बड़ा ही महत्व है। मात्रा के किसी भेद के अंत में द्विपदक (दोहा) रख देने से रड्डा बन जाता है।

विस्तारितक

वृत्तजातिसमुच्चय में विस्तारितक का लक्षण देते हुए विरहांक लिखते हैं—

> कइराअहिं पुरअहु जंभी दोहा देहु।
> रामसेण द्वयसिद्ध हम रड्डु भणिज्जइ एहु।
>
> —प्राकृतपैङ्गलम्, पृ २२८

दुवईण जो ण छन्दो सारिच्छ वहइ जं च दुअईण।
महुरं च कइअएहिं विथारिअअति त जाण।

अर्थात् विस्तारितक वह छद है जो कुछ सीमा तक द्विपदी से सादृश्य रखता है और कुछ सीमा तक असादृश्य। रचनापद्धति तो द्विपदी के समान ही होती है किंतु विस्तार में अतर होता है। द्विपदी में चार पद होते हैं किंतु विस्तारितक में एक, दो या तीन।

इस छद का उल्लेख हेमचद्र के छदानुशासन में कहीं नहीं मिलता। हमारे राससग्रह में भी इस छद का प्रयोग नकारात्मक ही है। केवल रासक छद को स्पष्ट करने के लिये इसकी व्याख्या आवश्यक समझी गई।[1]

ठवणी की उत्पत्ति स्थापनिका शब्द से हुई है। यही शब्द प्राकृत में ठवणिआ बन गया। काव्य के शुद्ध वर्णनखड को ठवणी कहते हैं। इसी

ठवणी

कारण यह कड़वक से साम्य रखता है। वस्तु का प्रयोजन है पूर्वस्थित और परस्थित ठवणी को सयोजित करना। इसके द्वारा पूर्व कडवक का साराश तो स्पष्ट हो ही जाता है आगामी कड़वक के स्वरूप का अल्प आभास सा मिलने लगता है।

ठवणी में ऐसे छदप्रयोग की आवश्यकता पड़ती है जो सरलता से गाया जा सके। इनके मूल में चउपई, पद्धड़ी, दुहा, सुरठा इत्यादि

ठवणी और वस्तु की गेयता

छद पाए जाते हैं। वस्तु छद की कतिपय विशेषताएँ हैं। वस्तु शब्द का अर्थ ही है **कथानक की रूपरेखा का गान।**[2] यह एक प्रकार से कड़वक का सक्षिप्त रूप है। इसके प्रथम चरण के प्रथम अर्द्धांश की बारबार पुनरावृत्ति होती है। इसी से यह सिद्ध होता है कि यह ध्रुवपद की भाँति प्रयुक्त होता है। वस्तु के मूल शरीर में दो ही चरण होते हैं, यद्यपि हेमचद्र एव प्राकृतपिगल के अनुसार इसमें चार चरण माने जाते हैं—हेमचद्र ने इसका नाम रड्डा

---

१ वृत्तजातिसमुच्चय, २।८

२ The वस्तु metre as its very name expresses is a song of the outline of the story It is a miniature कड़वक itself the first half of the first line always being repeated to signify that it is a ध्रुवपद "—गुर्जररासावलि, P 7

बताया है किंतु रास काव्यों में इसे सप्तम छंद कहकर घोषित किया गया है। इस छंद की रचना इस प्रकार है। प्रथम पंक्ति में ७ मात्राएँ +७ (जिसकी मात्राएँ प्रथपद की भाँति बार बार पुनरावृत्ति होती हैं)। इसके उपरांत आठ मात्राएँ जिनमें अंतिम मात्रा लघु होती है। इस प्रकार प्रथम चरण में २२ मात्रा, द्वितीय एवं तृतीय में १२+१६ अर्थात् २८ मात्राएँ होती हैं। प्राकृतपिंगल के अनुसार चतुर्थ चरण में (११+१६) मात्राएँ होती हैं और सबसे अंत में २४ मात्रा का दोहा होता है। यही वस्तु चरण ठवणी का प्राय स्वरूप है।

विचारी

वृत्तजातिसमुच्चय २।५

(या वस्तुकाद्यन्यी सा विदारीति संज्ञिता छन्दसि।
द्वा पादा सदपत्र द्विपथकमिति तथा पुस्तकं पुक। ॥)

द्विपदीनां यत्र छन्दसि साधम्य वहति चत्र द्विपदीनाम्।
मधुरं च कुलकैर्विरचारितकमिति तज्ज्ञाभीह ॥
या अवलम्बते चतुर्वस्तुकनामर्थं पुनः पुनर्मीलिता।
विचार्यैवासौ विचचराम्यां भुवकेति विर्दिष्टा ॥

विचारी का एक चरण द्विपदी की पूर्ति करते हुए ध्रुवक कहलाता है इसी प्रसंग में विरहाक ने विस्तारिक का भी लक्षण दे दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि विस्तारिक, द्विपदी एवं विचारी एक ही कोटि के छंद हैं।

द्विपदी (द्विपथक) की व्याख्या की जा चुकी है। इसमें केवल दो पद होते हैं और प्रत्येक पद में ४+४+४+गुरु+४+४+गुरु गुरु मात्राएँ होती हैं। पिंगल के दोहे के समान यह छंद होता है।

रमणीयक

वृत्तजाति समुच्चय ४।२६

(चरिपुष्पशरतोमरचापतुरंगं । विरामे पुरोस्थकवर्णपवाणम्।
तं विचारीहि सुपरिस्थितपरिरमणीयं। छन्दसि शातोदरि रमणीयकम् ॥)

चरण ।–
शर =५
तोमर=५
चाप =४
तुरंग=४

इस प्रकार २१ मात्राओं का रमणीयक (रमणिक) छंद होता है।
संदेशरासक का २ ८वाँ छंद यही है।

मालिनी

वृत्तजातिसमुच्चय ३।४४

(यस्याः पादे पङ्कजवदने दूर श्रवणसुखावहे
सुललितबन्धे सन्नतबाहुके मुग्धे अलिमरत्ने ।
प्रथमद्वितीयौ तृतीयचतुर्थौ पञ्चमः षष्ठश्च सप्तमश्च
भवति पुरोहित इति बिम्बोष्ठि छन्दसि जानीहि मालिनीति ॥)

जिसमें ७ गण हो और पुरोहित प्रत्येक गण में (४–५ मात्राएँ) हों उसे मालिनी छद कहते हैं ।

सदेशरासक के १०० वें पद में मालिनी छद है जिसका लक्षण है—

पञ्चदशाक्षर मालिनीवृत्तम् ।
द्वौ नगणौ तदनु मगणः तदनु द्वौ यगणौ ।

अर्थात् प्रत्येक पाद में १५ अक्षर हों और उनका क्रम हो—दो नगण, मगण, दो यगण । इस प्रकार १५ अक्षरो का मालिनी छद होता है ।

खडहडक

वृत्तजातिसमुच्चय ४ ७३ ॥

(भ्रमरावल्या अन्ते गाथा यदि दीयते प्रयोगेषु ।
तज्जानीत खडहडक पूर्वं कवीभिर्विनिर्दिष्टम् ॥)

भ्रमरावली के अत में यदि गाथा छद प्रयुक्त हो तो प्राचीन कवियों ने उसे खडहडक नाम से निर्दिष्ट किया है ।

गाथा

वृत्तजातिसमुच्चय ४।२

(गाथा प्रस्तारमहोदधेस्त्रिंदक्षराणि समारम्भे ।
जानीहि पञ्चपञ्चाशदक्षराणि तस्य च विरामे ॥)

गाथा वृत्त के प्रस्तार में ३० तीस अक्षरों से लेकर ५५ पचपन अक्षरों तक पर विराम होता है ।

चतुष्पद

वृत्तजातिसमुच्चय ४।६६

(पादिसनाथो द्वौ कर्णा । पदद्-रस-रन-करम् ।
चापविहगाधिपौ । द्वयोश्च चतुष्पदे ॥)

इस छद में चार पद होते हैं । प्रथम चरण में गुरु, लघु, गुरु+गुरु, लघु, गुरु+गुरु, गुरु, दूसरे चरण में लघु, लघु, लघु+लघु, लघु+लघु+लघु, लघु, गुरु, और तीसरे और चौथे चरणों में ५+गुरु, लघु, गुरु होते हैं ।

नंदिनी

वृत्तजातिसमुच्चय ३।२

(सुविदग्ध कवीशां सुखापभिके । ललिताक्षरपङ्क्ति प्रसादनिके ।
इह नन्दिनी मनोहरपादे । रसनूपुरयोर्युगमस्य युगम् ॥)

नन्दिनी छंद के एक पद में रस चार नूपुर के चार युग्म (जोड़े) होते हैं अर्थात् ||-+||S+||S+||- । इस प्रकार चतुर कवियों ने ललित अक्षरों द्वारा नंदिनी के मनोहर पादों की रचना का निर्देश किया है।

भ्रमरावलि

वृत्तजातिसमुच्चय ४।११

(रसनूपुरभावसखीनां युगस्य युगं
नियमेन विधुक्तम्बकयुगं समधिम् ।
भ्रमरावलया सुपुरमनोहरे
ललिताक्षरपंक्ति प्रसादन शोभिते ॥)

रस नूपुर भाव और सखि के युग्मों (जोड़ों) से नियमपूर्वक ललित अक्षरों से बना हुआ छंद भ्रमरावली कहलाता है जिसका क्रम यों है—
||S+|-S+||-+||S+||- ।

स्कंधक

वृत्तजातिसमुच्चय ४।६-१२

पचानां सदा पुरतो द्वयोरथामे चारयत्योर्मिश्रमित ।
यथा दयित पूर्वार्धे तथा पश्चार्धेपि स्कन्धकस्य नरेन्द्र ॥ ९
षड्विंशतिर्यथा यावत् रत्ने कुसे रसे वर्धमाने ।
एकोनत्रिंशत् स्कन्धकस्य नामानि तथा च भिन्ने ॥ १
चपल-रवि-चमर-कुवलर-सुरम्भय-समुद्र-वरुण-शशि शीकाः ।
मधु-माधव-मदन वसन्त-भ्रमर-हंस सारस मायौराः ॥ ११
हरि-हरिण-हस्ति धारणः कूर्मो नय विनय-विक्रमोत्साहाः ।
धर्मार्थकामसहिता एकोनत्रिंशत् स्कन्धका भवन्ति ॥] १२

स्कंधक छंद में ८ चतुर्मात्राएँ होती हैं जिसमें छठी चतुर्मात्रा सदा ।S। होती है। इस प्रकार स्कंधक में ३४ से ६२ तक अक्षर होते हैं। इसके २९ प्रकार होते हैं जिनके नाम वृत्तजातिसमुच्चय में चपल से काम तक गिनाए गए हैं। इस छंद के अनेक नाम इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि इसका बहुल प्रचार रहा होगा। स्कंधक का इसी प्रकार का लक्षण एक स्थान पर और मिलता है—

चउमत्ता अट्ठगणा पुव्वद्धे उत्तरद्ध होइ समरुआ।
सो खंधआ विआणहुँ पिंगल पभणेहि मुद्धि बहु संभेहा॥

अर्थात् चतुर्मात्रा के आठ गण होने से ३२ मात्रावाला खंधआ छंद होता है जिसके बहुत भेद हैं।

खंधहा स्कंधक का अपभ्रंश रूप है। संदेशरासक में कवि ११६ वें पद्य का खंधउ कहता है जो इस प्रकार है—

मह हियय रयणनिही, महिय गुरुमंदरेण त णिच्च।
उम्मूलियं असेस, सुहरयण कड्ढिउय च तुह पिम्मे॥

इस प्रकार (१२ + १८)= ३० मात्राओं द्वारा कुल ६० मात्राओं का भी स्कंधक छंद हो सकता है।

प्लवगम

पेथड रास में इस छंद का उपयोग हुआ है। इस छंद का लक्षण प्राकृत-पैंगलम् में इस प्रकार मिलता है—

अत्थ पढम छअ मत्त पअप्पअ दिज्जए
पंच मत्त चउमत्त गणणहि किज्जए।
सभलि अंत लहू गुरु एक्कक चाहए।
मुद्धि पअगम छंद विअक्खण सोहए॥
—प्रा० पैं० १८६

जहाँ प्रत्येक पद में पहले छकल गण हो, पंचमात्रा अथवा चतुर्मात्रा गण न आवें, अंत में लघुगुरु आवे, ऐसा छंद प्लवगम होता है। कुछ लोगों का मत है कि प्रत्येक पद आदि में गुरु हो और ११ मात्राएँ हों।

इस छंद का उदाहरण रास से इस प्रकार दिया जा सकता है—

जलहर सहरु पहु कोवि आदत्तओ
अविरल धारा सार दिसामुह कन्तओ।
ए मइ पुहवि भमन्तो जइ पिअ पेक्खिमि
तव्वे ज जु करीहिसि तत्तु सहीहिमि॥

काव्य

इस छंद का उपयोग दो प्रकार से होता है—(१) स्वतंत्र रूप से, (२) वस्तु के रूप में उल्लाला के साथ। इस छंद के प्रत्येक पाद मे २४ मात्राएँ होती हैं। प्राकृतपैंगलम् में इसका लक्षण इस प्रकार है—

आइ अंत दुहु छक्कलउ तिण्णि तुरंगम मज्झ।
तीए जगण कि विप्पगणु कव्वह लक्खण बुज्झ॥

अर्थात् प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। आदि अंत में दो षट्कल होते हैं। शेष रचना इस प्रकार होती है—

(६+४+ह्रस्व दीर्घ ह्रस्व+४+६)। द्वितीय और चतुर्थ गण में जगण वर्जित है।

इस छंद का प्रयोग स्वतंत्र रूप से संदेशरासक के १ ७ वें छंद में हुआ है और वस्तुक के रूप में संदेशरासक में १४८, १८१, १६१ १६६ छंद में मिलता है।

वत्थु (वस्तु)

इसे षट्पद भी कहते हैं। इस छंद की रचना काव्य और उल्लाला के योग से प्रायः मानी जाती है। किंतु संदेशरासक के उदाहरणों के आधार पर भयाणी जी ने यह सिद्ध किया है कि वस्तु के तीन प्रकार होते हैं—

(१) काव्य और उल्लाला (२) रासा और उल्लाला (३)—काव्य रासासंकीर्ण और उल्लाला के योग से बना हुआ।

झुम्मिअ

स्यामलछंद नामक काव्य में झुमिला छंद का सुंदर प्रयोग हुआ है। इस छंद का लक्षण प्राकृतपैंगलम् में इस प्रकार मिलता है—

दह वसु चउदह विरइ कइ विसम कआगण देहु।
अंतर विप्प पइक्क गण झुम्मिअ छंद कहेहु॥

—प्रा पै , १६७

इससे सिद्ध होता है कि ३२ मात्रा का यह छंद है। इसमें १ +८+१४ मात्राएँ आती हैं। स्यामलछंद में झुम्मिक दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त छंदों के अतिरिक्त षुप्पइ पंच चामर सारसी हाँडकी सिंह विलोकित आदि विविध छंदों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। इन छंदों का हिंदी पर प्रभाव पड़ा और हिंदी में संस्कृत के अतिरिक्त अपभ्रंश के इन छंदों को भी प्रयुक्त किया। अपभ्रंश के कवियों ने रसानुकूल छंदों की योजना की। शेष पदों के छंदों में पाठ्य से विशेषता दिखाई पड़ती है। अधिक संगीतात्मक होने से अपभ्रंश छंदों का हिंदी में बहुत प्रयोग हुआ।

मीरावल मच्चवि विहु दहदिसि नहि महि मिलिगहरि पक्खिं।
दव्वहि दवक्कम हुं हुं रव रव हुल्लारवि ललमरि चक्खि।
पडहसद्द नहि कलयल करतलि धवि घणहाणवा घू खमरउ।
रंटरावि ववहर वेण नारिह दरिस रामाधिय रणमल्ल करउ।

ऐतिहासिक रास तथा रासान्वयी ग्रंथों की उत्पत्ति और विकास का विवेचन

किसी काव्य के रूपविशेष की उत्पत्ति को ढूँढने की प्रवृत्ति आजकल प्रायः सार्वत्रिक है। किंतु अधिक से अधिक गहराई तक पहुँचने पर भी यह उत्पत्ति हमें प्राय. मिलती नहीं। मानव स्वभाव की कुछ प्रवृत्तियाँ इतनी सनातन हैं और उनकी अभिव्यक्ति भी इतनी प्राचीन है कि यह बताना प्राय. असभव है कि यह अभिव्यक्ति इस समयविशेष में हुई होगी। भारतीय सभ्यता को आर्य-द्रविड़-सस्कृति कहा जाय तो असगत न होगा। द्रविड़ भाषा की प्राचीन से प्राचीन शब्दावली को लिया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस काल के बदीजन (पुळवन) रणवीर द्रविड़ राजाओं का यशोगान किया करते थे। ऋग्वैदिक ऋषि 'इद्रस्य वीर्याणि प्रोवाचम्' कहते हुए जब इद्र के महान् कार्यों का वर्णन करने लगते हैं तो वर्तमान पवाड़ो की स्मृति स्वत. हो आती है। इद्र और वृत्र का युद्ध वीर-काव्य के लिये उपयुक्त विषय था, और इसका समुचित उपयोग केवल वैदिक ऋषियों ने ही नहीं, अनेक परकालीन कवियों ने भी किया है।

प्राचीन कालीन अनेक आर्य राजाओं के कृत्य भी उस समय काव्य के विषय बने। दशराज युद्ध अनेक क्षत्रिय जातियों का ही नही, वसिष्ठ और विश्वामित्र के सघर्ष का भी सूत्रपात करता है। देवता केवल स्तुतियों से ही नहीं, इतिहास, पुराण और नराशसी गाथाओ से भी प्रसन्न होते हैं। नराशसी गाथाओं में हमारे पूर्वपुरुषों के वीर्य और पराक्रम का प्रथम गुणानुवाद है। इन्हीं गाथाओं ने समय पाकर अनेक वीरकाव्यो का रूप धारण किया होगा। ये काव्य प्रायः लुप्त हो चुके हैं। किंतु उनके रूप का कुछ आभास हमे रामायण और महाभारत से मिलता है। रामायण और महाभारत से पूर्व भी सभवत. अनेक छोटे मोटे काव्यो में राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुनादि का गुणगान हो चुका था। अन्य अनेक राजाओं के वीरकृत्यों का भी कवियों ने गुणगान किया होगा। महाभारत में नहुष, नलदमयती, शकुंतला दुष्यंत, और विपुलादि के उपाख्यान इन्हीं वीरकाव्यो के अवशेष हैं।

शनै शनै इन गुणगान करनेवालों की जातियाँ भी बन गईं। सूत

ग्रोर मागध राजाओं का गुणगान करते । वेदों के द्रष्टा ऋषि हैं, किंतु पुराणों के वक्ता सूत ग्रौर मागध । शौनकादि मुनि भी इतिहास के विषय में ग्रादर पूर्वक सूत से प्रश्न करते हैं । रामायण श्रीवाल्मीकि की कृति रही है, किंतु उसके गायक संभवतः कुशीलव थे । इन्हीं जातियों के हाथ प्रारंभिक वीर-काव्यों की श्रीवृद्धि हुई ।

वीरकाव्यों में अनेक संभवतः प्राकृत भाषा में रहे । किंतु जनता की स्मृति मात्र में निहित होने के कारण उनका स्वरूप समय, देश, और परिस्थिति के अनुसार बदलता गया । शिवि आदि की कथा बौद्ध, हिंदू और जैन ग्रंथों में प्रायः एक सी है, किंतु रामकथा विभिन्न रूप धारण करती गई है । यह बताना कठिन है कि वास्तव में किसी कथाविशेष का पूर्वरूप क्या रहा होगा । किंतु ऐसे काव्यों की सत्ता का अनुमान अवश्य हम पौराणिक उपाख्यानों से कर सकते हैं ।

अभिलेखों में वीरकाव्य की प्रवृत्ति किसी अंश में प्रशस्तियों के रूप में प्रकट हुई । सीमाविशेष में सीमित होने के कारण स्वभावतः उनमें कुछ लंबा चौड़ा वर्णन नहीं मिलता किंतु वीरकाव्य के अनेक गुण उनमें मिलते हैं । इन्हें देखते कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है कि संभवतः प्राचीन वीरकाव्यों में गद्य और पद्य दोनों प्रयुक्त होते रहे । राजस्थान के वीरकाव्यों में इसी प्रथा को हम दूर तक देख सकते हैं । समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति चंपू काव्य का आनंद देती है । चंद्र का महरोली स्तंभाभिलेख सुंदर वीरगीत है । यशोधर्म विष्णुवर्धन के लिपिरहित मंदसोर के अभिलेख की रचना उसके गुणगान के लिये ही हुई थी । छंद और शब्द दोनों ही इस प्रशस्ति में उपयुक्त रूप से प्रयुक्त हुए हैं ।

सामान्यतः लोग समझने लगे हैं कि प्राचीन भारतीय प्रायः अध्यात्म विषय के प्रेमी थे । उन्हें सांसारिक और भौतिक समृद्धि से कुछ विशेष प्रेम न था । इसलिये उन्होंने वीरकाव्यों की विशेष रचना नहीं की और यदि की तो उस समय जब वे बहिरागंतुक रीति रस्मों से प्रभावित हो चुके थे । किंतु उपरिनिर्दिष्ट तथ्यों से यह स्पष्ट है कि वीरकाव्य भारत की अनादि काल से संचित संपत्ति है और किसी न किसी रूप में यह लगातार वर्तमान रही है । पुराणों और प्रशस्तियों से होती हुई यह हर्षचरितादि में पहुँचती है और उसके बाद वीर-काव्य-लता को हम अनेक रूपों में प्रस्फुटित और प्रफुल्लित होते पाते हैं । गौडवहो विक्रमांकदेवचरित, राजतरंगिणी

नवसाहसाकचरित, द्व्याश्रय महाकाव्य, पृथ्वीराजविजय महाकाव्य, कीर्तिकौमुदी, वसतविलास, सुकृतसकीर्तन, हम्मीर महाकाव्य आदि इसी काव्यलता के अनेक विविधवर्ण प्रसून है।

कालिदास के शब्दों में भारतीय कह सकते हैं कि यशोधन व्यक्तियो के लिये यश ही सबसे बड़ी वस्तु है। इस यश को स्थायी बनाना ऐतिहासिक काव्यरचना का मुख्य हेतु रहा है। प्रतिहारराज वाउक का मत था कि जब तक उसके पूर्वपुरुषो की कीर्ति वर्तमान रहेगी, तब तक वे स्वर्ग से च्युत नहीं हो सकते। शिक्षण प्रवृत्ति भी हम आरभ से देख पाते हैं। मम्मट ने काव्यरचना के कारणों का विवेचन करते समय इस बात का ध्यान रखा कि मनुष्य काव्यों को पढकर राम का सा आचरण करे, रावण का सा नहीं। धन की प्राप्ति भी समय समय पर ऐतिहासिक काव्यों की रचना का कारण बनती रही है। निस्पृह आदिकवि वाल्मीकि ने राम के चरित का ग्रथन किया, तो राजाओं से समानित और वृत्तिप्राप्त कवि उनके यशोगान में किस प्रकार उदासीन हो सकते थे। वे किसी अश में राजाओं के ऋणी थे, और राजा किसी अश में कवियों के, क्योकि उनके यश'काय का अजरत्व और अमरत्व कवियों पर ही आश्रित था। इसी परस्पराश्रय से अनेक काव्यों की रचना हुई है। किंतु कुछ ऐतिहासिक काव्य अपनी काव्यशक्ति का परिचय देने के लिये भी रचित हैं। तोमर राजा वीरम के सभ्यों के यह कहने पर कि उस समय पूर्व कवियों के समान कोई रचना नहीं कर सकता था, नयचद्र सूरि ने हम्मीर महाकाव्य की रचना की। साथ ही साथ उसने अत में यह प्रार्थना भी की— 'युद्ध में विक्रमरसाविष्ट राजा प्रसन्नता से राज्य करें और उनके विक्रम का वर्णन करने के लिये कवि सदा समुद्यत हों। उनकी रसामृत से सिक्त वाणी सदा समुल्लसित होती रहे और रसास्वाद का आनद लेनेवाले व्यक्ति उसका आस्वादन करते हुए पान किया करें।'

इस दृष्टिकोण से रचित ऐतिहासिक काव्यों में कुछ दोष और गुण अवश्यभावी थे। ये रचनाएँ काव्य हैं, शुद्ध इतिहास नहीं। इनका उद्भव भी क्रौंच क्रौंची की सी हृदयस्पर्शिणी घटना से नहीं हुआ है। अत' इनमें पर्याप्त जोड़ तोड़ हो तो आश्चर्य ही क्या है? कवि को यह भी छूट रहती है कि वह वर्णन को सजीव बनाने के लिये नवीन घटनाओं की कल्पना करे। ऐसी अवस्था में यह मालूम करना कठिन होता है कि काव्य का कौन सा भाग कल्पित है और कौन सा सत्य। वाक्पति ने गौड़राज के वध का वर्णन करने

के लिये अपने काव्य की रचना की किंतु अपने संरक्षक यशोवर्मा को महत्व प्रदान करने के लिये झूठ मूठ की दिग्विजय का वर्णन कर डाला, और कवि महोदय इस काम में इतने व्यस्त हुए कि गौड़राज के विषय में दो शब्द लिखना भी भूल गए। इस दिग्विजय के वर्णन पर कालिदास की दिग्विजय की स्पष्ट छाप है। सभी उसकी नकल है, या कुछ तथ्य भी है, यह गवेषणा का विषय बन चुका है। नवसाहसांकचरित में कवि पद्मगुप्त ने नवसाहसांक सिंधुराज की असली कथा कम और नकली बहुत कुछ दी है। इसमें सिंधुराज की ऐतिहासिक सत्ता का ज्ञान न हो तो हम इस काव्य को अलिफलैला का किस्सा मात्र समझ सकते हैं। विक्रमांकदेवचरित में तथ्य की मात्रा कुछ विशेष है, किंतु यह भी निश्चित है कि उसकी अनेक घटनाएँ सर्वथा कल्पित हैं। हेमचंद्र के द्वयाश्रय महाकाव्य में एक और रोग है। उसका ध्येय केवल चौलुक्य वंश का वर्णन करना ही नहीं, विद्यार्थियों को संस्कृत और प्राकृत व्याकरण भी सिखाना है। फिर यह काव्य नीरसता दोष से किस तरह मुक्त रह सकता है। प्राचीन पद्धति का अनुसरण कर कल्पित स्वयंवर और दिग्विजयादि का वर्णन करना तो सामान्य सी बात है। पृथ्वीराजविजय काव्य अपूर्ण है, किंतु अवशिष्ट भाग से यह अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने उसे काव्य का रूप देने का ही मुख्यतः प्रयत्न किया है। यही बात प्रायः अन्य ऐतिहासिक या अर्ध ऐतिहासिक संस्कृत काव्यों के विषय में कही जा सकती है।

यद्यपि इन काव्यों के विषय में शायद कवि यह सच्चा दावा नहीं कर सकते कि उन्होंने किसी नृपतिविशेष के गुणों से प्रमुदित होकर अपने काव्य की रचना की है तो भी काव्य की दृष्टि से वे अधम नहीं हैं। हम उनपर यह दोषारोप कर सकते हैं कि जलक्रीड़ा वनक्रीड़ा पुष्पचयन आदि का वर्णन कर उन्होंने कथासरित् के प्रवाह को प्रायः बंद कर दिया है; किंतु हम कथा मात्र को ध्येय न मानें तो उनकी कथा का समुचित आस्वादन कर सकते हैं। गौड़वहो में अनेक प्रकाशित दृश्यों का सुंदर वर्णन है। नवसाहसांकचरित के वर्णन भी कवित्वपूर्ण हैं। बिल्हण तो वास्तव में कवि है। विक्रमांकदेवचरित के चतुर्थ सर्ग में आहवमल्ल की मृत्यु का वर्णन संस्कृत साहित्य में अनुपम है। अंतिम सर्ग में कवि के वृत्त की तुलना भी हर्षचरित में बाण के आत्मचरित से की जा सकती है। कवि का स्वाभिमान और स्वदेशप्रेम भी दर्शनीय है। पृथ्वीराजविजय भी काव्यदृष्टि से सुंदर है। कवि में कल्पनाशक्ति

है और सस्कृत शब्दावली पर पूर्ण अधिकार। यही बात कुछ कम या अधिक अश में सस्कृत के अनेक वीरकाव्यकारों के सबध में कही जा सकती है। केवल राजतरगिणी में इतिहास तत्व को हम विशेषाश मे प्राप्त करते हैं।

देश्यभाषा के कवियो को सस्कृत ऐतिहासिक काव्यों की यह पद्धति विरासत में मिली थी। इसके साथ ही देश्यभाषाओं में अपना भी निजी वीरकाव्य साहित्य था। कवि पप ने विक्रमार्जुनविजय में अरिकेसरी द्वितीय के युद्धों का ओजस्वी वर्णन किया है। अपभ्रश के महान् कवि स्वयभू ने हरिवश-पुराण, पउमचरिय आदि धार्मिक ग्रथ लिखे। किंतु इनमें वीररस का भी यथासमय अच्छा निर्वाह हुआ है। कवि पुष्पदत की भी निवृत्तिपरक कृतियाँ ही विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। किंतु उनके राजदरबार, देशविजय, युद्धादि के वर्णनों से यह भी निश्चित है कि उनमें वीरकाव्यग्रथन की पूर्ण क्षमता थी। वास्तव में अपना कविजीवन सभवतः उन्होंने ऐसे वीरकाव्यों द्वारा ही आरभ किया था। निवृत्तिपरक ग्रथों की बारी तो कुछ देर से आई। इस प्रसग में आदिपुराण की निम्नलिखित पक्तियाँ पठनीय हैं—

देवी सुएण कइ भणिउ ताम।
भो पुप्फयत ! ससि लिहिय णाम।
णिय-सिरि-विसेस-णिज्जिय सुरिंदु। गिरि-धीर-वीरु भइरव णरिंदु।
पइ मण्णिउ वण्णिउ वीरराउ। उप्पण्णउ जो मिच्छत्त राउ।
पच्छित्त तासु जइ करहि अज्जु। ता घडइ तुज्झु परलोय कज्जु॥

जिस भैरव नरेंद्र की वीरता का गान पुष्पदत ने किया था, उसके विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं है। किंतु यह गुणानुवाद इस परिमाण में और इतना सरस रहा होगा कि इससे लोगों को मिथ्यात्व में अनुराग उत्पन्न हुआ और इसके प्रायश्चित्त रूप में कवि को निवृत्तिपरक काव्य आदिपुराण की रचना करनी पड़ी। काश हमें कहीं यह काव्य प्राप्त होता ! णायकुमारचरिउ की निम्नलिखित पक्तियाँ भी शायद पृथ्वीराजरासो की याद दिलाएँगी—

चरण-चार चालिय धरायलो। धाइयो भुया-तुलिउ-मयगलो।
ताकयतेहिं तेण दारुण। परियलत-घण-सहिण-सारुण।
मलिय-दलिय-पडिखलिअ-सदण। णिविड गय-घडा-वीढ-मद्दण।
अरिदमणु पधायउ साहिमाणु। 'हणु हणु' भणतु कड्ढिवि किवाणु।

के लिये अपने काव्य की रचना की किंतु अपने संरक्षक यशोवर्मा को महत्व प्रदान करने के लिये झूठ मूठ की दिग्विजय का वर्णन कर डाला, और कवि महोदय इस कार्य में इतने व्यस्त हुए कि गौड़राज के विषय में दो शब्द लिखना भी भूल गए। इस दिग्विजय के वर्णन पर कालिदास की दिग्विजय की स्पष्ट छाप है। अभी उसकी नकल है, या कुछ तथ्य भी है, यह गवेषणा का विषय बन चुका है। नवसाहसांकचरित में कवि पद्मगुप्त ने नवसाहसांक सिंधुराज की असली कथा कम और नकली बहुत कुछ दी है। हमें सिंधुराज की ऐतिहासिक सत्ता का ज्ञान न हो तो हम इस काव्य को अलिफलैला का किस्सा मात्र समझ सकते हैं। विक्रमांकदेवचरित में तथ्य की मात्रा कुछ विशेष है, किंतु यह भी निश्चित है कि उसकी अनेक घटनाएँ सर्वथा कल्पित हैं। हेमचंद्र के द्व्याश्रय महाकाव्य में एक और रोग है। उसका ध्येय केवल चौलुक्य वंश का वर्णन करना ही नहीं, विद्यार्थियों को संस्कृत और प्राकृत व्याकरण भी सिखाना है। फिर यह काव्य नीरसता दोष से किस तरह मुक्त रह सकता है। प्राचीन पद्धति का अनुसरण कर कल्पित स्वयंवर और दिग्विजयादि का वर्णन करना तो सामान्य सी बात है। पृथ्वीराजविजय काव्य अपूर्ण है, किंतु अवशिष्ट भाग से यह अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने उसे काव्य का रूप देने का ही मुख्यतः प्रयत्न किया है। यही बात प्रायः अन्य ऐतिहासिक या अर्ध ऐतिहासिक संस्कृत काव्यों के विषय में कही जा सकती है।

यद्यपि इन काव्यों के विषय में शायद कवि यह सच्चा दावा नहीं कर सकते कि उन्होंने किसी नृपतिविशेष के गुणों से प्रमुदित होकर अपने काव्य की रचना की है तो भी काव्य की दृष्टि से य अधम नहीं हैं। हम उनपर यह दोषारोप कर सकते हैं कि जलक्रीड़ा वनक्रीड़ा पुष्पचयन आदि का वर्णन कर उन्होंने कथावस्तु के प्रवाह को प्रायः रुद्ध कर दिया है, किंतु हम कथा मात्र की प्यास न मानें तो उनकी कथा का समुचित आस्वादन कर सकते हैं। गौड़वहो में अनेक प्रकृतिक दृश्यों का सुंदर वर्णन है। नवसाहसांकचरित के वर्णन भी कवित्वपूर्ण हैं। बिल्हण तो वास्तव में कवि है। विक्रमांकदेवचरित के अठारह सर्ग में आहवमल्ल की मृत्यु का वर्णन संस्कृत साहित्य में अनुपम है। अंतिम सर्ग में कवि के वृत्त की तुलना भी हर्षचरित में बाण के आत्मचरित से की जा सकती है। कवि का स्वाभिमान और स्वदेशप्रेम भी दर्शनीय है। पृथ्वीराजविजय भी काव्यदृष्टि से सुंदर है। कवि में कल्पनाशक्ति

श्रावस्ती का माना है। तिलकमजरी (सस्कृत), पाइलच्छीनाममाला (प्राकृत कोश), ऋषभपचाशिका (प्राकृत) और सत्यपुरीय श्रीमहावीर उत्साह (अपभ्रश) के रचयिता, राजा मुज और भोज की सभा के भूषण धनपाल भी साकाश्य के थे। सवत् १२३० में कवि श्रीधर ने चदवाड़ मे भविष्यदत्तचरित की अपभ्रंश में रचना की। जयचद्र के मत्री के अनेक अपभ्रश पद्य प्राप्त हैं ही। फिर यह कहना किस प्रकार ठीक माना जा सकता है कि गाहडवालों के प्रभाव के कारण कुछ समय तक देश्यभाषा को धक्का लगा था। गाहडवालों ने सस्कृत को सरक्षित अवश्य किया, किंतु यह मानना कि उन्होंने बाहरी जाति का होने के कारण देश्यभाषा की अवज्ञा की, सभवत. ठीक नहीं है। यह कुछ सशयास्पद है कि गाहडवाल बाहर से आए, और यदि कुछ समय के लिये यह मान भी लिया जाय कि गाहडवाल दक्षिणी राष्ट्रकूटों की एक शाखा थे तो भी हम यह समझ नहीं पाते कि उन्होंने अपभ्रश की इस कारण से अवज्ञा की। अपभ्रश काव्य तो दक्षिणी राष्ट्रकूटों के सरक्षण में फला फूला था। जिस वश के राजाओं का सबध स्वयभू और पुष्पदत जैसे अपभ्रश कवियों से रहा हो, उनके वशजो से क्या यह आशा का जा सकती है कि उन्होंने जान बूझकर अपभ्रश की अवज्ञा की होगी। दामोदर भट्ट के उक्तिव्यक्तिप्रकरण के आधार पर भी हमें यह अनुमान करना ठीक प्रतीत नहीं होता कि राजकुमारों को घर पर मध्यदेशीय भाषा से भिन्न कोई अन्य भाषा बोलने की आदत थी। यदि वास्तव में यह स्थिति होती तो उसी भाषा द्वारा राजकुमारों को बनारसी या कन्नौजी भाषा की शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता। किंतु वस्तुस्थिति तो कुछ और ही है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए यही मानना होगा कि काव्यधारा सर्वत्र गतिशील थी। यह भी सभव है कि अनेक वीरकाव्यों की इस समय प्राय. सर्वत्र रचना हुई, यद्यपि उनमें से अधिकाश अब नष्ट हो चुके हैं। उनके साथ ऐसी धार्मिक भावना नहीं जुड़ी थी जो उन्हें सुरक्षित रखे। पुष्पदत विनिर्मित भैरवनरेंद्रचरित कालकवलित हो चुका है। उनके आदिपुराणादि ग्रंथ वर्तमान हैं। देश्यभाषा में रचित वीरकाव्य के बचने के लिये एक ही उपाय था। उसका जीवन न राजाओं के सरक्षण पर निर्भर था और न जनता की धर्मभीरुता या धर्मप्राणता पर। उसकी स्वयभू सप्राणता, सरसता, एव अमर वर की तरह नित्यनवीन रहने की शक्ति ही उसे बचा सकती थी।

धनपाल, कनकामर, श्रामभर श्रादि ने भी शौर्य का श्रच्छा वर्णन किया है, और हेमचंद्र ने ऐसे अनेक पद्य उद्धृत किए हैं जिनसे अपभ्रंश में वीरकाव्य का अनुमान किया जा सकता है। मंत्री विद्याधर के जयचंद विषयक अनेक अपभ्रंश पद्य मिले हैं। शायद वे किसी वीरकाव्य के अंग हों। यरवश रणथंभोर के राजा हम्मीर का प्रसिद्ध सेनापति था। उसके शौर्य का वर्णन करनेवाले पद्य शायद हम्मीर संबंधी किसी काव्य के भाग रहे हैं। ग्वालियर में एक अन्य राजपूत जाति के दरबार में रहते हुए भी नयचंद्र सूरि हम्मीर के जीवन का प्रामाणिक वृत्त उपस्थित कर सके। यह भी इस बात का निर्देश करता है कि हम्मीर महाकाव्य से पूर्व हम्मीर के कुछ प्रामाणिक वृत्तांत लिखे जा चुके थे। प्राचीन काल से उद्भूत वीरकाव्य की धारा अनेक भाषा शाखा से बहती हुई १२वीं शताब्दी तक पहुँच चुकी थी।

हमें यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है कि यह धारा देश के किसी भागविशेष में कुछ समय के लिये सूख गई थी या हमारे देश में यह नवीन काव्यरूप किसी अन्य देश से पहुँचा। वीरों के गुण गाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है यह न भारतीय है और न ईरानी। कालिदास ने रघुवंश के गुणों से मुग्ध होकर उसका अनुकीर्तन किया। हरिषेण समुद्रगुप्त के अमित्य चरित से प्रभावित था। बाण ने हर्ष का चरित लिखना आरंभ किया। बाण की अनैतिहासिकता का आरोप करनेवाले यह भूल जाते हैं कि हर्षचरित अपूर्ण है। उसकी कथा केवल हर्ष के सिंहासनारूढ़ होने तक ही पहुँचती है। वहाँ तक के लिये यह हर्ष के जीवन का ही नहीं हर्षकालीन समाज का भी संपूर्णांग चलचित्र हैं। कथा समाप्ति तक पहुँचती तो हमें हर्षविषयक बातें और मिलतीं। खेद केवल इतना ही है कि परवर्ती कवियों ने बाण की बराबरी तक पहुँचने के प्रयास में इतिहास को बहुत कुछ छुट्टी दे दी है। बाण में यह दोष नहीं है। कथा के ऐतिहासिक भाग तक पहुँचने के बाद हर्षचरित प्रभाकरवर्धन और हर्षवर्धन कालीन युग का सजीव चित्र है।

राजस्थान और गुजरात में इस परंपरा के सजीव रहने के हमें अनेक प्रमाण प्राप्त हैं। मध्यदेश में भी यह परंपरा कुछ विशृंखल सी प्रतीत होती हुई भी बनी रही होगी। इसी प्रदेश में गौडवहो की रचना हुई। मोज की प्रशस्ति भी प्रायः इसी देश की है। प्रबंधचिंतामणि के रचयिता राय शेखर से भी हमें ज्ञात है कि दसवीं शताब्दी के प्रायः मध्य तक मध्यदेशीय कवि सबभाषानिपुण थे। स्वयंभू मध्यदेशीय थे। भाषा को राहुल जी ने

रास के गेयाश के जनप्रिय होने पर उसका अनेक रूप से प्रयुक्त होना स्वाभाविक था। धार्मिक आचार्यों ने रास द्वारा अपना सदेश जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। रास नाचने के बहाने से मोहसक्त पाँच सौ चोरों को प्राकृत चर्चरी द्वारा प्रतिबोधित करने का उल्लेख 'उत्तराध्ययन सूत्र' (कपिलाध्ययन ८) में तथा 'प्राकृत कुवलयमाला' में मिलता है। उसी प्रकार वादी सूरि को सिद्ध सेन दिवाकर के साथ लाट भरुच के बाहर गवालों के समक्ष जो वाद करना पड़ा, उसमें रास की पद्धति से ताल देते हुए उन्होंने ये पद्य गाए थे :—

नवि मारियइ नवि चोरियइ, परदारह गमण निवारियइ।
थोवा थावँ दाइयइ, सग्गि दुगु दुगु जाइयइ॥

अब भी अनेक जैन आचार्य अपभ्रंश में रचना करते हैं, और उन्हें उपयुक्त रागों में गाते भी हैं। तेरह पथ के क्षेत्र में यह पद्धति बहुत जनप्रिय रही है। जनता में वीरत्व, देशभक्ति आदि के भावों को जाग्रत करने के लिए भी रास उपयुक्त था। अत. उस क्षेत्र में रास का प्रयोग भी शायद नवीं दसवीं शताब्दियों तक होने लगा हो।

इस प्रकार के काव्यों के विकास का मार्ग इससे पूर्व ही प्रशस्त हो चुका था। सस्कृति की प्रशस्तियाँ, सस्कृत के ऐतिहासिक काव्य और नाटक, अपभ्रंश की अनेक कृतियाँ जिनमें इतस्ततः छोटे मोटे वीर काव्य समाविष्ट हैं, रासो-वीर-काव्य के मार्ग प्रदर्शक रहे होंगे। उनमें जिन कृतियों को कराल काल कवलित न कर सका है, हम उसका कुछ परिचय यहाँ दे रहे हैं :—

१ **भरतेश्वर बाहुबलि घोरः**—इसकी रचना सवत् १२२५ के लगभग वज्रसेन सूरि ने की। कथा प्रसिद्ध है। भरतेश्वर ने सर्वत्र दिग्विजय की। किंतु उसका छोटा भाई बाहुबली अपने को भरतेश्वर का अधीनस्थ राजा मानने के लिये तैयार न था। इसलिये चक्र दिग्विजय के बाद भी आयुधशाला में न घुसा। भरतेश्वर ने बाहुबलि पर आक्रमण किया, किंतु अततः द्वद्वयुद्ध में उससे हार गया। स्वगोत्री पर चक्र प्रहार नहीं करता, इसलिये चक्र भी बाहुबली का कुछ न बिगाड़ सका। विजय के पश्चात् बाहुबली को ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसने स्वाभिमान का त्याग कर दिया। इस रास में सेना के प्रयाण आदि का वर्णन सामान्यत. ठीक है, किंतु उसमें कुछ विशेष

इस स्वयंभू सप्राणता का सबसे अच्छा उदाहरण पृथ्वीराजरासो है। किंतु पृथ्वीराजरासो रासो काव्यरूप का प्रथम उदाहरण नहीं, यह तो इसका पूर्णतया पल्लवित, पुष्पित, विविध-वर्ण-रंजित रूप है। रास शब्द, जिसका प्रथमांत अपभ्रंश रूप रासउ या रासो है, उस समय तक घिस घिसाकर अनेकार्थों में प्रयुक्त होने लगा था। रास का सबसे प्राचीन प्रयोग एक मंडलाकार नृत्यविशेष के लिये है। अब भी जब हम गुजरात के रास और गर्बा के विषय में बातचीत करते हैं तो यही रूप अधिकतर हमारे सामने रहता है। किंतु बहुधा मानव नृत्य अधिक समय तक सर्वथा मूक नहीं रहता। जैसा हमने रिपुदारण रास को जनता के संमुख उपस्थित करते हुए लिखा था, 'जब आनंदातिरेक से जनसमूह नृत्य करता है तो अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये स्वभावतः यह गान और अभिनय का आश्रय लेता है। उसकी उमंग के लिये सभी द्वार खुले हों तभी उसे संतोष होता है। उसे संपूर्णांग नृत्य चाहिए केवल मूक नृत्य उसकी भावाभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। श्रीमद्भागवत पुराण का रास कुछ इसी तरह का है। उसमें गान, नृत्य और काव्य का मधुर मिश्रण है। पश्चिमी भारत के अनेक रास चिरकाल तक संभवतः इसी शैली के रहे। रिपुदारण रास (रचना संवत् ६६२ वि) में रास को हम अभिनेय रूप में प्राप्त करते हैं। इसी अभिनेयांश ने शनैः शनैः बढ़कर रास को उपरूपक बना दिया। किंतु इसी तरह गेयांश भी जनप्रिय होता जा रहा था। उसमें भी जनता को प्रसन्न और आकृष्ट करने की शक्ति थी। उसमें भी वह सरस्वती शक्ति थी जो कवि को अमरत्व प्रदान करती है।'

रास के साथ गाई जानेवाली कृतियाँ आरंभ में लघुकाय रही होंगी। अंगविक्षा में निर्दिष्ट रासक जाति नाचती और साथ में गाती भी होंगी। छंद भी संभवतः प्रायः वही एक रहा होगा जिसे रास छंद कहते हैं। उसका ताल ही ऐसा है जो नर्तन के लिये सर्वथा उपयुक्त है। शनैः शनैः लोगों ने अडिल्ल दोसा पद्धडिका आदि छंदों को भी प्रयुक्त करना आरंभ कर दिया। किंतु इससे उसकी नृत्यता में कोई बाधा नहीं पड़ी। प्राचीन अपभ्रंश छंदों की रचना ताल और लय पर आश्रित है। इनका समुचित प्रयोग भी वही कर सकता है जिसका कान अच्छी तरह से सधा हो। हेमचंद्र ने तो सभी मात्रिक छंदों तक के लिये रासक शब्द प्रयुक्त करनेवाले विद्वानों का मत भी उद्धृत किया है।

नेसि निवेसि देसि धरि मंदिरि
जलि थलि अगलि गिरि सुह कंदरि ।
दिसि दिसि देसि देसि दीपतरि
लहीउ लाभइ जुगि सचराचरि ॥९४॥

साथ ही दूत से यह भी कहा कि वह भरत से कम वली नहीं है। दूत अयोध्या पहुँचा, भरत की सेना पोयणपुर पहुँची। भयकर युद्ध हुआ दोनों पक्ष के बहुत से योद्धा मारे गये। अंत में सुरेंद्र के कहने पर दोनो भाइयों का द्वंद्व युद्ध हुआ। भरत हारा, किंतु विजयोन्मत्त न होकर बाहुबली ने कहा—

तह जीतऊ मइं हरिउ भाइ।
अम्ह सरणि रिसहेसर पाय ॥ (क० १९१)

और मन में पश्चात्ताप करते हुए—

सिरि वरि ए लोच करउ
का सगि रहेउ घाहु वले।
आसूइ ऐ अखि भरेउ
तस पय पणमए भरह भडो ॥ (१९५)

भाई को कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित देख कर भरत ने बार बार क्षमा माँगी। किंतु बाहुबली को केवल ज्ञान उत्पन्न हो चुका था। भरत अयोध्या आये, और चक्र ने आयुधशाला में प्रवेश किया।

दो सौ पाँच छदों का यह छोटा सा काव्य भारतीय वीर गाथाओं में निजी स्थान रखता है। इसके कथानक के गायन में कहीं शिथिलता नहीं है। युद्ध, सेना - प्रयाण, दूतोक्ति, बाहुबली की मनस्विता आदि के चित्र सजीव हैं। शब्दों का चयन अर्थानुरूप है। उक्ति वैचित्र्य भी द्रष्टव्य है। भरतेश्वर के चक्रवर्तित्व की हँसी उड़ाता हुआ बाहुबली कहता है—

कहिरे भरहेसर कुण कहीइ।
मइ सिउ रणि सुरि असुरि न रहीइ।
चक्र धरइ चक्रवर्ति विचार।
तउ अछ पुरि कुभार अपार ॥ (११२)

भरतेश्वर ही केवल मात्र चक्री न था। बाहुबली के नगर में भी अनेक चक्रवर्ती, यानि, कुम्हार थे। बाहुबली का बल चक्रादि आयुधों पर आश्रित न था—

नवीनता नहीं है। संभवत जैन मदिरों में गान और नर्तन के लिये इसकी रचना हुई हो।

२ भरतेश्वर बाहुबलि-रास (रचनाकाल, सं० १२४१)—इसके रचयिता शालिभद्र सूरि आचार्य श्री हेमचंद के समकालीन रहे होंगे। काव्य के सौष्ठव के देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि तत्कालीन देशी भाषाओं में उस समय उत्कृष्ट काव्य लिखे जा रहे थे। दिग्विजय के लिये प्रस्थान करने से पूर्व भरतेश्वर ऋषभदेव को प्रणाम करने के लिये चला —

> चालीय गयवर चालीय गयवर गुडिर गज्जंत।
> हुंकइ हसमस हयवयइ तरवरंत हय-थइ चालीय
> पायल पयभरि टलटलीय मेरु-सेस-सीस-मणि मउड दुलीय।
> सिरि मरुदेविहिं संचरीय कुंअरि चालीयबलिय
> समोसरणि सुरसरि सहिय वंदिय पढमजिणंद ॥१॥ (छं १९)

चक्र ने पहले पूर्व दिशा में प्रयाण किया। साथ में चतुरंग सेना थी। सर्वत्र भरतेश्वर की विजय हुई। किंतु अयोध्या वापस आने पर चक्र ने आयुधशाला में प्रवेश न किया। इस पर भरत ने एक दूत बाहुबली के पास भेजा। रास्ते में सर्वत्र अपशकुन हुए—

> काजल काल विकाल भ्रमीय भाविइ कलहइए।
> बिसहर वम विकराल, वार वार वार रव करीय ॥१५७ (छं ५७)

> सूकीय बाउल-डालि, देवि चडवि च सुर करइ ए।
> संमी च मलाम डालि चूक पीकारइ दाहिणइ ए ॥१६॥ (छं ५८)

बाहुबली की राजधानी पोयणपुर पहुँच कर दूत ने अनेक तरह समझाते हुए अंत में कहा—

> सरणहु झुंपि मनावित भाई।
> कहि कुणि चूकी कुमति विमाई?
> मूंपि म मूरख! मरि म गमार?
> पच पणमीय करि करि च समार ॥२१॥ (छं ११)

किंतु बाहुबली ने उत्तर में कहा कि मनुष्य को उतना ही प्राप्त होता है जितना भाग्य में लिखा है—

वाले पद्य 'पुरातन प्रबंध संग्रह' की जिस प्रति में मिले हैं, उसका लिपिकाल संवत् १५२८ है। इसलिये जिस पुस्तक से ये पद्य लिये गए हैं वह निश्चित ही वि० १५२८ (सन् १४७१) से पूर्व बनी होगी किंतु इसी संग्रह मे निम्नलिखित ये शब्द भी मिले हैं.—

सिरि वत्थु पाल मंतीसर मयतसिहभणणत्थ ।
नागिंदगच्छमंडण उदयप्पह सूरि सी सेण ॥
जिणभद्देण य विक्कमकालाउ नवइ अहियबारसए ।
नाणा कहाणपहाणा एप पबंधावली रइआ ॥

इससे यह स्पष्ट है कि प्रबंधसंग्रह के अंतर्गत कुछ प्रबंध संवत् १२८६ से पूर्व के भी हैं। क्या पृथ्वीराज प्रबंध उन्हीं प्राचीन प्रबंधो में है ? कहना कुछ कठिन है। प्रबंध में एकाध बात वर्तमान है जो इतिहास की दृष्टि से ठीक नहीं है। पृथ्वीराज ने सात बार सुल्तान को हराकर नहीं छोड़ा, न उसने कभी गजनी से कर उगाहा। किंतु साथ ही कुछ बातें ऐसी भी हैं जिन्हें कोई जानकार ही कह सकता था। हासी से आगे जाकर मुसलमानों से युद्ध करना ऐसी ही एक घटना है। युद्ध के समय पृथ्वीराज का सोना भी वैसी ही तथ्यमयी दूसरी घटना है। पृथ्वीराज का बंदी होकर अंत में मारा जाना भी इसी प्रकार सत्य है। गुर्जर देश में रहनेवाला कोई व्यक्ति सपादलक्षाधिपति पृथ्वीराज के विषय मे यदि इतनी बातें जानता हो तो उसका समय पृथ्वीराज से बहुत अधिक दूर न रहा होगा। पर 'पुरातन प्रबंध संग्रह' के छप्पयों की भाषा के आधार पर भी रासो के काल का कुछ विचार किया जा सकता है। छप्पय निम्नलिखित हैं:—

इक्कु बाणु पहुवीसु जु पइं कइंबासह मुक्कओ
उर भिंतरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ ।
बीअं करि संधीउं भंमइ सूमेरनंदण ?
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खुद्दइ सइंभरि वणु ।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह,
न जाणउ चंदबलद्दिउ किं न वि न छुट्टइ इह फलह ॥ २७५ ॥
अगहु म गहि दाहिमओ रिपुराय खयंकरु
कूडु मंत्रु मम ठवओ एहु ज बूय मिलि जग्गरु ।
सह नामा सिक्खवउं जइ सिक्खिविउ बुज्झइ,
जंपइ चंदबलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ ।

परह पास किवि करवि कीजइ ?
पाइस सईंवर सिवि करीजइ ।
हीर्ल भनइ हाम इत्थीमार
पडवि बीर-वमड परिवार ॥ १॥ २॥

इस रास की भाषा की हम 'रास और रासान्वयी काव्य' में प्रकाशित आबूरास, रेवंतगिरि रास आदि की भाषा से तुलना कर सकते हैं। राजस्थानी और गुजराती भाषा के विद्वानों के लिये यह मानों अपनी निजी भाषा है। प्राचीन हिंदी के जानकारों के लिये भी यह सुज्ञेय है।

पृथ्वीराज रासो

'भरत बाहु बलिरास' के कुछ समय बाद हम पृथ्वीराज रासो को रख सकते हैं। यह निश्चित है कि इसकी रचना सोलहवीं शताब्दी तक हो चुकी थी। अकबर के समय में रचित 'सुर्जन चरित' 'आईने-अकबरी' आदि ग्रंथों से सिद्ध है कि तत्कालीन समाज चंद और उसके काव्य से भली भाँति परिचित था। इसलिये प्रश्न केवल इतना ही रहता है कि सोलहवीं शताब्दी से कितने *समय पूर्व पृथ्वीरासो की रचना हुई होगी।*

रचनाकाल की प्रथम कोटि निश्चित की जा सकती है। संयोगिता स्वयंवर और कइमास वध रासो के प्राचीनतम अंश हैं। स्वयंवर की तिथि अनिश्चित है। किंतु कइमास वध की तिथि निश्चित की जा सकती है। खरतरगच्छ पट्टावली के उल्लेख से सिद्ध है कि संवत् १२३६ तक मंडलेश्वर कइमास पृथ्वीराज के दरबार में अत्यंत प्रभावशाली था। 'पृथ्वीराजविजय' की रचना के समय भी उसका प्रभाव प्रायः वही था। हम अन्यत्र सिद्ध कर चुके हैं कि 'पृथ्वीराजविजय' की रचना सन् ११९१ और ११९२ के बीच में हुई होगी। उसके नाम से ही सिद्ध है कि यह पृथ्वीराज की महान् विजय का काव्य रूप में स्मारक है। यह विजय सन् ११९१ में हुई। एक वर्ष बाद यही विजय पराजय में परिणत हो चुकी। कइमास-वध को हम ऐतिहासिक घटना मानें, तो हमें इसे पृथ्वीराजविजय की रचना के बाद, अर्थात् सन् ११९२ के प्रारंभ में रखना होगा। पृथ्वीराजविजय को यह घटना अज्ञात है; रासो के कथानक का यह प्रमुख भाग है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हम रासो की रचना की प्रथम कोटि को सन् ११९२ में रख सकते हैं।

निश्चित रूप से इससे अधिक कहना कठिन है। रासो के अपभ्रंशरूप

वाले पद्य 'पुरातन प्रबंध संग्रह' की जिस प्रति में मिले हैं, उसका लिपिकाल संवत् १५२८ है। इसलिये जिस पुस्तक से ये पद्य लिये गए हैं वह निश्चित ही वि० १५२८ (सन् १४७१) से पूर्व बनी होगी किंतु इसी संग्रह में निम्नलिखित ये शब्द भी मिले हैं:—

सिरि वत्थु पाल मतीसर जयतसिंहभणणत्थ।
नागिंदगच्छमंडण उदयप्पह सूरि सी सेणं ॥
जिणभद्देण य विक्कमकालाउ नवइ अहियबारसए।
नाणा कहाणपहाणा एप पबंधावली रईआ ॥

इससे यह स्पष्ट है कि प्रबंधसंग्रह के अंतर्गत कुछ प्रबंध संवत् १२८६ से पूर्व के भी हैं। क्या पृथ्वीराज प्रबंध उन्हीं प्राचीन प्रबंधों में है? कहना कुछ कठिन है। प्रबंध में एकाध बात वर्तमान है जो इतिहास की दृष्टि से ठीक नहीं है। पृथ्वीराज ने सात बार सुल्तान को हराकर नहीं छोड़ा, न उसने कभी गजनी से कर उगाहा। किंतु साथ ही कुछ बातें ऐसी भी हैं जिन्हें कोई जानकार ही कह सकता था। हांसी से आगे जाकर मुसलमानों से युद्ध करना ऐसी ही एक घटना है। युद्ध के समय पृथ्वीराज का सोना भी वैसी ही तथ्यमयी दूसरी घटना है। पृथ्वीराज का बंदी होकर अंत में मारा जाना भी इसी प्रकार सत्य है। गुर्जर देश में रहनेवाला कोई व्यक्ति सपादलक्षाधिपति पृथ्वीराज के विषय में यदि इतनी बातें जानता हो तो उसका समय पृथ्वीराज से बहुत अधिक दूर न रहा होगा। पर 'पुरातन प्रबंध संग्रह' के छप्पयों की भाषा के आधार पर भी रासो के काल का कुछ विचार किया जा सकता है। छप्पय निम्नलिखित हैं:—

इक्कु बाणु पहुवीसु जु पइं कइंबासह मुक्कओ
उर भिंतरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउ भंमइ सूमेरनंदण ?
एहु सु गडि दहिमओ खणइ खुद्दइ सइंभरि वणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह,
न जाणउं चंदबलद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह ॥ २७५ ॥
अगहु म गहि दाहिमओ रिपुराय खयंकरु
कूडु मंत्रु मम ठवओ एहु ज बूय मिलि जग्गरु।
सह नामा सिक्खवउं जइ सिक्खिविउं बुज्झइ,
जंपइ चंदबलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ।

पहु पहुविराय सई-भरिसबी सममंभरि सउणाइं संभरिसि,
कईवास विग्रास विसट्ठविणु मच्छिबंधिबद्धओ मरिसि ॥

भाषा साहत्त्य-अपभ्रंश है, किंतु सवथा टकसाली अपभ्रंश नहीं। जिस अपभ्रंश का वर्णन हमें 'हेम व्याकरण' में मिलता है, यह उससे कुछ अधिक विकसित और कुछ अधिक घिसी है। इस बात का ध्यान में रखते हुए डॉ माता प्रसाद ने मूल रासो की रचना को सन् १४ के लगभग रखने का प्रयत्न किया है। किंतु भाषादि के विषय में 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' का संपादन करते समय मुनि जिनविजयजी ने जो शब्द लिखे थे वे पठनीय हैं:— इकार उकार के ह्रस्व दीर्घ का निश्चित नियम अपनी भाषा के पुराने लेखक नहीं रखते। इसके सिवाय शब्दों की वर्ण संयोजना के बारे में भी अपने पुराने लेखक एकरूपता नहीं रखते। जैसे 'हमे' शब्द को 'हिवं' हिवु'। वर्ण संयोजना की इस अवस्था के कारण कोई भी पुरानी देशभाषा के लेखक की रचना में हमें उसकी निजी निश्चित भाषाशैली और लोगों की उच्चारण पद्धति का निश्चित परिचय नहीं मिलता। कोई ऐसी पुरानी कृति परिमाण में विशेष लोकप्रिय बनी हो और उसका पठन पाठन में अधिक प्रचार हुआ हो, तो उसकी भाषा रचना में जुदा जुदा जमानों के अनेक जाति, रूप और पाठभेद उत्पन्न होते हैं, और वह अत्यधिक अनवस्थित रूप धारण करती है। और उसी के साथ किसी भ्रपाठज्ञानभिज्ञ संशोधक विद्वान् के हाथ यदि वह उसके शरीर का कायाकल्प हो जाय तो वह उसी दम नया रूप भी प्राप्त कर लेती है।' यदि इन्हीं शब्दों को हम वि सं १५२८ में लिपि की हुई पुस्तक पर लागू करें तो रासो के उद्धृत छंदों की भाषा हमें रासो को लगभग सन् १४ ० के लगभग रखने के लिए बाध्य नहीं करती। उसकी अपेक्षाकृत परवर्तिता भाषा उपर्युक्त अनेक कारणों से हो सकती है।

मूल अपभ्रंश रासो इस समय उपलब्ध नहीं है। किंतु उसके अनेक परवर्ती रूप अब प्राप्त हैं। प्रारंभ में केवल रासो के लगभग ४ , श्लोक परिमाण वाले बृहद् रूप की ओर लोगों का ध्यान गया। श्यामसुंदरदास और मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या आदि ने १९ ४–१९१२ में नागरीप्रचारिणी सभा से इस रूपांतर को प्रकाशित किया और कई वर्ष तक इसी के आधार पर रासो की ऐतिहासिकता के विषय में विचार और विमर्श चलता रहा। कुछ समय के बाद उसके अन्य रूपांतर भी सामने आए। किंतु विद्वान् उन्हें रासो के संक्षिप्त रूप मानते रहे। सन् १९३८ में मथुराप्रसाद जी दीक्षित ने

असली पृथ्वीराज रासो के नाम से रासो के मध्यम रूपांतर के एक समय को लाहौर से प्रकाशित किया। इस रूपांतर का परिमाण लगभग १०,००० श्लोक है। सन् १९३९ में हमने इसके तीसरे रूपांतर के विषय में 'पृथ्वीराजरासो एक प्राचीन प्रति और प्रामाणिकता नाम का एक लेख नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, में प्रकाशित किया। इस रूपांतर का परिमाण लगभग ४,००० श्लोक है। इस रूपांतर की प्रेस-कॉपी भी हमने तैयारी की थी। किंतु हमारे सहयोगी प्रोफेसर मीनाराम रंगा का अकस्मात् देहावसान हो गया। और उसके बाद उस प्रति का कुछ पता न लग सका। रासो के चौथे रूपांतर का अंशतः संपादन 'राजस्थान भारतीय' में श्रीनरोत्तमदास स्वामी ने किया है। कन्नौज समय का संपादन डॉ० नामवर सिंह ने किया है। इस रूपांतर का परिमाण लगभग १३०० श्लोक है।

पाठों की छानबीन करने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि छोटे रूपांतर बड़े रूपांतरों के संक्षिप्त संस्करण नहीं हैं। डॉ० माताप्रसाद ने सपरिश्रम परीक्षण के बाद बतलाया है कि बृहद् तथा मध्यम रूपांतरों में ४९ स्थानों में से केवल १६ स्थानों पर बलाबल संबंधी समानता है, शेष स्थानों में विषमता है। मध्यम और लघु में ५१ स्थानों में से २४ में विषमता है। यदि छोटे रूपांतर वास्तव में दूसरों के संक्षेप होते तो ऐसी विषमता न होती।

यह विषमता स्पष्टतः परवर्ती कवियों की कृपा है। रासो की जनप्रियता ही उसकी ऐतिहासिकता की सबसे बड़ी शत्रु रही है। समय के प्रवाह के साथ ही अनेक काव्य-स्रोतस्विनी इसमें आ घुसी है, और अब उसमें इतनी घुल मिल गई कि मुख्य स्रोत को ढूँढना कठिन हो रहा है। अपभ्रंश-काल से लघुतम संस्करण तक पहुँचते-पहुँचते इसमें पर्याप्त विकृति आ चुकी थी, किंतु तदनंतर यह विकृति शीघ्र गति से बढ़ी। चारों रूपांतरों में पाए जाने वाले खंड केवल सोलह हैं। मध्यम रूपांतर में २१ समय और अधिक हैं। तेतीस खंड केवल बृहद् रूपांतर में वर्तमान है, और इनमें से भी पाँच इस रूपांतर की प्राचीनतम प्रतियों में नहीं मिलते। लोहाना आजनबाहु, नाहर रायकथा, मेवाती मुगल कथा, हुसेनखाँ चित्ररेखा पात्र, प्रिथा विवाह, देवगिरि युद्ध, सोमवध, मोरा राइ भीमंगवध आदि अनैतिहासिक प्रसंग छोटे रूपांतरों में वर्तमान ही नहीं हैं।

यह स्थूलकायता किस प्रकार आई उसका अनुमान भी कठिन नहीं

है। केवल कनकम समय में लघुतम रूपांतर की अपेक्षा वृहद् रूपांतर में २१ ७ छंद अधिक और उसकी कथा लघुतम से सतगुनी है। इधर उधर की सामान्य वृद्धि के अतिरिक्त कन्नौज यात्रा के वर्णन में निम्नलिखित प्रसंग अधिक हैं:—

१ यमुना किनारे पड़ाव	२ अपशकुनों की लंबी सूची
३ सामंत-वर्णन	४ देवी, शिव, हनुमान आदि का प्रत्यक्ष होकर आशीर्वाद प्रदान
४ नागा साधुओं की फौज	५. शंखध्वनि साधुओं का वर्णन

डॉ० माताप्रसाद ने ठीक ही लिखा है, यह विस्तार स्पष्ट रूप से अनावश्यक और अप्रासंगिक है। अपशकुनों की कल्पना केवल प्रमुख सामंतों की मृत्यु को पुष्ट करने के लिये बाद में की गई और पूर्व सूचना के रूप में जोड़ी गई प्रतीत होती है। अलौकिक और अतिमानवीय घटनाओं के लिये भी ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।' हमने भी इसी प्रकार की वृद्धि को ध्यान में रखते हुए कई वर्ष हुए लघुतम रूपांतरों को ही अधिक प्रामाणिक मानने का विद्वानों से अनुरोध किया था।

रासो का परिवर्धन-क्रम

मूल रासो के ठीक रूप का अनुमान असंभव है। किंतु इसमें तीन कथानक अवश्य रहे होंगे। संयोगिता स्वयंवर की कथा रासो का मुख्य भाग रही है। वही इसकी मुख्य नायिका है। इसी से यह काव्य सप्राण है। अन्यत्र इसमें संयोगिता स्वयंवर की प्रथा के आमेयिक प्राचीनत्व का भी कुछ दिग्दर्शन किया है। कइमास-वध का वर्णन पृथ्वीराज प्रबंध के अपभ्रंश पद्यों में है। अत उसका भी रासो का मूलभाग होना निश्चित है। इसी प्रकार मुहम्मद गोरी से युद्ध और पृथ्वीराज का उसका शब्दतः वध भी मूल रासो के भाग रहे होंगे। इस घटना का उपक्षेप ऊपर उद्धृत 'कइंबास विआस विसट्ठ विणु मच्छिबंधिबद्धओ मरिसि' पंक्ति में स्पष्टतः वर्तमान है।

लघुतम की धारणोज की प्रति संवत् १६६७ की है। लगभग चार सौ वर्ष तक भाटों की जबान पर चढ़े इस काव्य में स्वतः अनेक परिवर्तन हुए होंगे। पुरातन कवियों की रचना में संभवतः अधिक भेद नहीं हुआ है। व्यास शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास आदि प्राचीन कवि हैं। भोजदेवीय प्रवरसेन का

सेतुबंध भी प्राचीन ग्रंथ है। दंडमाली के विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है ? शायद दडी को ही दडमाली सज्ञा दी गई हो। वशावली दीर्घकाय नहीं है। उत्पत्ति की कथा केवल इतना ही कह कर समाप्त कर दी गई है कि माणिक्यराज ब्रह्मा के यज्ञ से उत्पन्न हुआ। इसी के वश में कामाधवीसल हुआ। उसकी मृत्यु के बाद ढुढ दानव की उत्पत्ति का वर्णन है। जिसके अत्याचार से सोमर की प्रजा में हाहाकार मच गया। अनल्ल का जन्म मातृगृह में हुआ। अत में ढुढ को प्रसन्न कर उसने राज्य प्राप्त किया। आनल्ल का पुत्र जयसिंह हुआ। जयसिंह के पुत्र आनदमेव ने राज्य करने के बाद तप किया और राज्य अपने पुत्र सोम को दिया। सोमेश्वर के अनगपाल तवर की पुत्री से पृथ्वीराज ने जन्म लिया।

इसके बाद रासो के मुख्य छद, कवित्त, जाति, साटक, गाथा दोहा आदि का निर्देश कर कवि ने रास का परिमाण 'सहस पच' दिया है जिसका अर्थ '१००५' या '५,०००' हो सकता है। इसके बाद मगलाचरण का पुनः आरभ है। पृथ्वीराज का वर्णन इसके बाद में शुरू होता है। एक कवित्त में सामान्य दिल्ली किल्ली कथा का भी निर्देश है। यह भविष्यवाणी भी इसमें वर्तमान है कि दिल्ली तवरो के हाथ से चौहानो के हाथ में और फिर तुर्कों के अधीन होगी। तवरों का एक बार यहाँ राज्य होगा और अत में यह मेवाड़ के अधीन होगी।

इस रूपातर के अनुसार अनगपाल ने अपने दौहित्र को राज्य दिया और स्वय तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़ा। १११५ वि० स० में पृथ्वीराज ने राज्य की प्राप्ति की। कन्नौज के पगराय (जयचद्र) ने मन्त्रियों की मत्रणा के विरुद्ध राजसूय यज्ञ का आरभ किया। पृथ्वीराज उसमें समिलित न हुआ। जयचद्र ने दिल्ली दूत भेजा। किंतु गोविंद राजा से उसे कोरा करारा जवाब मिला—

तुम जानहु छत्रिय है न कोइ, निरवीर पुहमि कबहू न होइ।
(हम) जंगलिह वास कालिंदि कूल, जानहिं न राज जैचद मूल ॥
जानहिं न देस जोगिनि पुरेसु, सुर इदु वंस प्रिथिवी नरेसु।
तिहं बारि साहि वधियौ जेन भजियो भूप भिढि भीमसेन ॥

जयचद ने पृथ्वीराज की प्रतिमा द्वार पर लगाई और यज्ञ आरभ कर दिया। इसके बाद सयोगिता के सौंदर्य क्रीड़ादि का और पृथ्वीराज द्वारा यज्ञ के

विध्वंस का वर्णन है। संयोगिता ने भी कथा सुनी और वीर पृथ्वीराज को वरण करने का निश्चय किया। राजा ने और ही वर का निश्चय किया था और हुआ कुछ और ही। राजा ने पुत्री के पास दूती भेजी। उसने संयोगिता को बहुत मनाया किंतु संयोगिता अपने निश्चय से न टली। राजा ने उसे गंगा के किनारे एक महल में रखा।

उधर अजमेर में अन्य घटनाएँ घट रही थीं। पृथ्वीराज अजमेर से बाहर शिकार के लिये गया था। दुर्भाग्यवश कैमास इस समय पृथ्वीराज की कर्नाटी के प्रणय-पाश में फँस गया। पृथ्वीराज को भी सूचना मिली, और उसने रात्रि के समय लौट कर उसे बाण का लक्ष्य बनाया। लाश गाड़ दी गई। किंतु सिद्ध सारस्वत चंदबरदाई से यह बात न छिपी रही।

११६१ की चैत्र तृतीया के दिन सौ सामंत लेकर पृथ्वीराज ने कन्नौज के लिए यात्रा की। किंतु वे कहाँ जा रहे हैं यह पृथ्वीराज और जयचंद ही जानते थे। रास्ते में राजा ने गंगा का दृश्य देखा और कन्नौज नगरी को देखते हुए राजद्वार पर पहुँचे। चंद के आने की सूचना प्रतिहार ने जयचंद्र को दी। चंद ने जयचंद्र की प्रशंसा में कुछ पद्य कहे, किन्तु उनमें साथ ही पृथ्वीराज की प्रशंसा की पुट थी। दासी पान देने आई और पृथ्वीराज को देखते ही सिर ढक लिया। जयचंद उसके रहस्य को पूरी तरह न समझ पाया। किंतु प्रातःकाल जब चंद को द्रव्यादि देने के लिये पहुँचा तो पृथ्वीराज को उसकी राजोचित वेशभूषा से पहचान गया। किंतु पृथ्वीराज भयभीत न हुआ। वह नगर देखने गया और गंगा के किनारे पहुँचा। वहीं संयोगिता ने उसे देखा। पृथ्वीराज संयोगिता का वरण करके दिल्ली के लिये रवाना हुआ। महान् युद्ध हुआ। पृथ्वीराज यथा-तथा दिल्ली पहुँचा और विलास में मग्न हो गया।

अंतिम भाग में शिहाबुद्दीन से संघर्ष का वर्णन है। मुसलमानी आक्रमण से स्थिति शनैः शनैः भयानक होती गई। सामंतों ने चामुंडराय को छुड़वाया। अंतिम युद्ध में बाकी सामंत मारे गये। पृथ्वीराज को पकड़ कर शिहाबुद्दीन गजनी ले गया और अंधा कर दिया। चंद यथा-तथा वहाँ पहुँचा। उसने राजा को उत्साहित किया और शिहाबुद्दीन को मारने का उपाय निकाल लिया। शिहाबुद्दीन के आज्ञा देते ही शब्दवेधी पृथ्वीराज ने *उसे मार डाला। चंद ने खंजर से आत्मघात किया।*

लघु रूपांतर में कुछ परिवर्धन हुआ। मंगलाचरण के बाद दशावतार की स्तुति आवश्यक प्रतीत हुई। पुन' दिल्ली राज्याभिषेक कथा के बाद भी यह प्रसग रखा गया। कैमास मत्री द्वारा भीम की पराजय, सामत सलख पंवार द्वारा 'गोरीसाहबदीन' का निगाह, द्रव्यलाभ, सयोगिता उत्पत्ति, द्विजद्विजी सवाद, गंधर्व गधर्वी सवाद, चदविरोध, आदि कुछ नए प्रसग इस रूपातर मे आए हैं। इनसे रासो की ऐतिहासिक सामग्री नहीं बढती। द्विज-द्विजी सवाद, गधर्व गधर्वी सवाद आदि तो स्पष्टत ऊपर की जोड़तोड़ हैं। दो दशावतार स्तुतिओं मे एक के लिये ग्रथ मे वास्तव मे कोई स्थान नहीं है।

मध्यम रूपांतर की कथा लघु रूपातर से द्विगुण या कुछ अधिक है। स्वभावतः उसकी परिवृद्धि भी तदनुरूप है। नाहर राज्य पराजय, मूगल पराजय, इछिनी विवाह, आखेटक सोलकी सारगदेह स्तेन मूगल ग्रहण, भूमि सुपन सुगन कथा, समरसी प्रिथा कुमारी विवाह, ससिव्रता विवाह, राठौर निड्ढर डिल्ली आगमन, पीपजुद्ध विजय हसावती विवाह, वरुण दूत सामत उभयो युद्ध वर्णन, मोराराइ विजय युद्ध वर्णन, मोराराइ भीमग दे वधन, सजोगिता पूर्व जन्म कथा, विजयपाल दिग्विजय, वालुकाराय वधन, पंगसामत युद्ध, राजा पानी पथ मृगया केदार सवाद, पाहार हस्तेन पाति साहिग्रहण, सपली गिधिनी सजोतिको सूर सामत पराक्रम कथन आदि नव्य नव्य प्रसगो के सृजन द्वारा रासो की अनैतिहासिकता इसमें दशगुणित हो चुकी है। किंतु इससे रस के काव्य सौष्ठव में कमी नहीं होती। कुछ नवीन प्रसग तो काव्य दृष्टि से पर्याप्त सुदर है।

वृहद् रूपातर में बहुत अधिक पाठ वृद्धि है। कन्ह अख पट्टी, आखेटक वीर वरदान, खट्टू आखेट, चित्ररेखा पूर्व जन्म, पुडीर दाहिमो विवाह, देवगिरि युद्ध, रेवातटयुद्ध अनगपाल युद्ध, घघ्घर की लड़ाई, करहेड़ा युद्ध, इद्रावती विवाह, जैतराई पातिसाह साहब, कागुरा विनय, पहाड़राइ पातिसाह साहब, पज्जूनक छवाहा, चद द्वारका गमन, कैमास पातिसाहग्रहण, सुकवर्णन, हासी के युद्ध, पज्जून महुवा युद्ध, जगम सोफी कथा, राजा आखेटक चख श्राप, रैनसी युद्ध आदि इसमें नवीन प्रसग हैं। डॉ० नामवरसिंह के विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि सबके बाद की जोड़ तोड़ में लोहाना आजानु बाहु पद्मावती विवाह, होली कथा दीपमाला कथा और प्रथिराज विवाह हैं। सभव है कि इनमें से कुछ स्वतत्र काव्यों के रूप में वर्तमान रहे हों, और अठारहवीं शताब्दी में ही इनकी रासो में अतर्भुक्ति हुई हो।

कुछ ऊहापोह

रूपांतरों के परिवर्धन क्रम के आधार पर रासो के विषय में कुछ ऊहापोह किया जा सकता है। रासो की मुख्य कथा पृथ्वीराज से संबंध रखती है। उसका आदि भाग, चाहे हम उसे आदि पर्व कहें या आदि प्रबंध, वास्तव में रासो की पूर्वपीठिका मात्र है। हम 'मुद्राराक्षस' दशकुमारचरितादि की पूर्वपीठिकाओं से परिचित हैं। इनमें सत्य का अंश अवश्य रहता है किंतु कल्पना सत्य से कहीं अधिक मात्रा में रहती है। यही बात पृथ्वीराजरासो के आदि भाग की है। उसमें सब मौलिक एक है, पृथ्वीराज भी एक वन पुत्र है। ढुंढा दानव की विचित्र कथा भी है, और उसके बाद आनल्ल की। वास्तव में आनल्ल के पिता के समय सपादलक्ष को बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। शायद इसी सत्य की स्मृति ने ढुंढा को जन्म दिया हो। दिल्ली प्राप्ति इस भाग के रचयिता को ज्ञात थी। किंतु उस समय तक लोग किसी अंश तक यह भूल चुके थे कि यह प्राप्ति विग्रह से हुई थी। अनंगपाल ने खुशी खुशी दिल्ली चौहानों को न दी थी। धारणोज की प्रति में यह आदि भाग वर्तमान है। निश्चित रूप से इसलिये यही कहा जा सकता है कि आदि पर्व की रचना वि॰ सं॰ १६६७ में हो चुकी थी। इसकी तिथि तालिका कल्पित है और उसी के आधार पर रासो के अवशिष्टांश में भी तिथियाँ भर दी गई हैं।

सत्यमयी प्रस्तावना के बाद संभवतः रासो का आरंभ पंगवध विध्वंश से होता है। उसके बाद संयोगिता को पृथ्वीराज को वरण करने का निश्चय, *कैमासवध कन्नौज प्रयाण, कन्नौज वर्णन संयोगिता विवाह, पंग से युद्ध* और दिल्ली आगमन आदि के प्रसंग रहे होंगे। इनमें यत्र तत्र परिवर्धन थोड़ परिवर्तन तो संभव ही है। पुरातन-प्रबंध-संग्रह में उद्धृत भविष्यवाणीसे यह भी संभव है कि रासो में पृथ्वीराज के युद्ध और मृत्यु के भी प्रसंग रहे हों। *किंतु उस अंतिम भाग का गठन अवश्य कुछ भिन्न रहा होगा।* पृथ्वीराज का शब्दवेध द्वारा मुहम्मद गौरी को मारना किसी परवर कवि की सूझ है। मूल के शब्द मच्छिकर्विचिंतूपा मरिसि से तो अनुमान होता है कि पृथ्वीराज की मृत्यु कुछ गौरवपूर्ण न रही होगी। उधर पीठिका का बानवेध प्रसंग संभव है मूल रासो में न रहा हो।

इसके बाद भी जो जोड़ तोड़ चलती रही उसका ज्ञान हमें लघु रूपांतरों से चलता है। इस रूपांतर की एक प्रति का परिचय देते हुए हमने लिखा

था कि इसमें अनेक प्रसग अनैतिहासिक हैं। लघु और लघुतर रूपातरो की तुलना से इनमें कुछ अनैतिहासिक प्रसंग आसानी से चुने जा सकते है।

मध्य और बृहत् रूपातरों का सृजन सभवतः मेवाड़ प्रदेश में हुआ। इनमें मेवाड़ विषयक कथानक यत्र तत्र घुस गये हैं, और पृथ्वीराज के समय मेवाड़ को कुछ विशेष स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। समरसिंह पृथ्वीराज का साला नहीं, बहनोई है मध्यरूपातर में समरसिंह जयचद से युद्ध करता है। बृहदरूपातर में वह शिहाबुद्दीन के विरुद्ध भी दिल्ली की सहायता करता है। इस रूपातर में कविकल्पना ने रासो के आकार की खूब वृद्धि की है। इस रूपातर का सृजन न हुआ होता तो सभवतः न रासो को इतनी ख्याति ही प्राप्त होती और न उसकी ऐतिहासिकता परही इतने आक्षेप होते। पडिहार, मुगल, सोलकी, पॅवार, दहिया, यादव, कछवाहादि सभी राजपूत जातियों को इसमें स्थान मिला है। कथा-वार्ताओं की सभी रूढियों का भट्टदेवों ने इसकी कथा को विस्तृत करने में उपयोग किया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जिन कथानक रूढियों का निर्देश किया है, उनमें कुछ ये हैं —

(१) कहानी कहनेवाला सुग्गा
(२) (i) स्वप्न में प्रिय का दर्शन
    (ii) चित्र में देखकर किसी पर मोहित हो जाना
    (iii) भिक्षुओं या बदियों से कीर्ति वर्णन सुनकर प्रेमासक्त होना इत्यादि
(३) मुनि का शाप
(४) रूप परिवर्तन
(५) लिंग परिवर्तन
(६) परकाय प्रवेश
(७) आकाशवाणी
(८) अभिज्ञान या सहिदानी
(९) परिचारिका का राजा से प्रेम और अत में उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप मे अभिज्ञान
(१०) नायक का औदार्य
(११) षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरहवेदना
(१२) हस कपोत आदि से सदेश भेजना

इनमें अनेक रूढ़ियां रासो के बृहद् रूपांतर में सफलतापूर्वक प्रयुक्त हुई हैं। हमारा अनुमान है कि मूल रासो शृंगाररसानुप्राणित वीर काव्य था और उनमें इन रूढ़ियों के लिये विशेष स्थान न था। रासो में रूढ़ियों का आश्रय प्रायः इसी लक्ष्य से लिया गया है कि प्रायः असम्बन्धित रूप से नई कथाओं को प्रक्षिप्त किया जा सके। यही अनुमान लघुतम रूपांतरों के अध्ययन से दृढ़ होता है। लघु और लघु रूपांतर में दिल्ली किल्ली की कथा का उल्लेख मात्र है। राज-स्वप्न की रूढ़ि द्वारा उसे मध्यम रूपांतर में विस्तृत कर दिया गया है। शुक और शुकी के वार्तालाप से इंछिनी और शशिव्रता के विवाह उपस्थित किये गये हैं। संभवतः यह किसी अच्छे कवि की कृति है। किंतु ये रासो में कुछ देर से पहुँची। संयोगिता की कथा राजसूय यज्ञ की तैयारी से हुई होगी। उसमें 'मदनवृद्धसंमनी गृहे' सकलकला पठनार्थ द्विज-द्विजी संवाद गंधर्व-गंधर्वी संवाद, और बृहद्रूपांतर का शुकवर्णन प्रक्षेप मात्र हैं। शुक संदेश वाली पद्मावती की कथा शायद सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व वर्तमान रही हो। किंतु बृहद् रूपांतर की प्राचीन प्रतियों में भी यह कथा नहीं मिलती। इसलिये रासो में इस कथानक का प्रवेश पर्याप्त विलंब से हुआ है।

संयोगिता की कथा का आरंभ होते ही अन्य रस गौण हो जाते हैं। उसके विवाह से पूर्व बृहद् रूपांतर में 'हांसी पर प्रथम युद्ध पातिसाह पराजय' हांसी पुर द्वितीय युद्ध पातिसाह पराजय', 'पज्जून महुबायुद्ध पातिसाह पराजय' पज्जून कछवाहा पातिसाह ग्रहण, कैमास समरसी युद्ध, दुर्ग केदार, धंगम सोफी कथा आदि प्रसंग स्पष्टतः असंगत हैं। इनसे न मुख्य रस की परिपुष्टि होती है और न कोई ऐसा कारण उत्पन्न होता है जिससे पृथ्वीराज कन्नौज जाने की तैयारी करे। इसके विपरीत कैमास वध प्रेरक और षट्ऋतु वर्णन विलंब के रूप में यहाँ संगत कहे जा सकते हैं।

इसी तरह जब बृहद् रूपांतर के ६१ वें शुकविलास पर पहुँचते हैं तो स्वभावतः यह भावना उत्पन्न होती है कि प्रक्षेप की फिर तैयारी की जा रही है। राजा आखेटक चखश्राप प्रथिराज विवाह, समरसी दिल्ली सहाय आदि इस प्रक्षेप के नमूने हैं। जिस प्रकार रासो में एक कल्पना प्रधान पूर्वपीठिका है, उसी तरह उसमें एक उत्तरपीठिका भी वर्तमान है। यह किस समय जुड़ी यह कहना कठिन है। कुछ अंश शीघ्र ही और कुछ पर्याप्त विलंब से इसमें संमि

लित किये गए हैं। रैनसी जुद्ध, जै चद गगासरन आदि प्रसंग इसके मध्य-रूपातर में भी नहीं हैं।

भाषा

पृथ्वीराज प्रबध के अतर्गत रासो पद्यों के मिलने के बाद हमारी यह धारणा रही है कि मूल रासो अपभ्रश में रहा होगा। अब उसका कोई भी रूपातर यदि अपभ्रश का ग्रथ न कहा जा सके तो उसका कारण इतना ही है कि जनप्रिय अलिखित काव्यों की भापा सदा एक सी नहीं रहती। उनमें पुरानेपन की झलक मिल सकती है, यत्र तत्र कुछ अपभ्रश-प्राय स्थल भी मिल सकते हैं। किंतु भाषा बहुत कुछ बदल चुकी है। साहित्यिक अपभ्रश किसी समय मुख्यतः टक्क, भादानकं, मरुस्थलादि की बोलचाल की भाषा थी, इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमने राजस्थान में रचित, राजस्थान-शौर्य-प्रख्यापक इस पृथ्वीराजरासो काव्य के मूलस्वरूप को तेरहवीं शताब्दी में प्रयुक्त राजस्थानी भाषा, अर्थात् अपभ्रश का ग्रथ माना था। इस विकसित राजस्थानी या पश्चिमी राजस्थानी का ग्रंथ मानने की भूल हमने नहीं की है।

पृथ्वीराज प्रबध में उद्धृत रासो के पद्यों में अपभ्रश की उकार बहुलता है, जैसे इक्कु, वाणु, पहुवीस, जु, चदबलद्दिउ। कइबासह, गुलह, पइ, जेपइ आदि भी अपभ्रश की याद दिलाते है। क्तात क्रियाओं के मुक्कओ, खंडहडिउ आदि भी द्रष्टव्य हैं।

लघुतम सस्करण की भाषा अपभ्रश नहीं है। किंतु यह बृहद् और लघु रूपातरों की भाषा से प्राचीन है। इसमें फारसी भाषा के शब्दों का वृहद् रूपातरों से कम प्रयोग है। रेफ का विपर्यय (कर्म > कम्म, धर्म > धम्म) लघुतम रूपातर में अधिक नहीं है। व्यजनों का द्वित्व प्राकृत और अप्रभ्रश की विशेपता है। लघुतम रूप में यह व्यजनद्वित्व प्रायशः रक्षित है। अत्य 'आइ' अभी 'ऐ' मे नरिवर्तित नहीं हुआ है 'ऋ' के लिये प्रायः 'रि' का प्रयोग हैं। कर्ताकारक में अपभ्रश की तरह रूप प्रायः उकारात है। सबधकारक में अपभ्रश के 'ह' का प्रयोग पर्याप्त है। पुरानी व्रज के परसर्ग 'ने' का रासो में प्रायः अभाव है। व्रज का 'कौ' इसमें नहीं मिलता। अन्य भी अनेक प्राचीन व्रज के तत्व इसमें नहीं है। किंतु चौहानों का मूलस्थान मत्स्य प्रदेश था। पूर्वी राजस्थान में पृथ्वीराज के वशज सन् १३०१ तक राज्य करते रहे। अत. इन्हीं प्रदेशों में शायद रासो का आरभ में विशेप प्रचार रहा हो।

रासो के जिन भाषा तत्वों को हम मध्य का पूर्वस्वरूप मानते हैं वे संभवतः पूर्व राजस्थानी के रूप हैं जो हिंदी के पर्याप्त सन्निकट हैं।

लघुरूपांतर की भाषा यत्र-तत्र इससे अधिक विकसित है। इसके दशावतारवर्णन में कंसवध पर्यंत कृष्णचरित संमिलित है। इसके प्रक्षिप्त होने का प्रमाण निम्नलिखित पद्यों की नवीन भाषा है—

> छुटी द्रुम चंपक चंद चकोर, कहीं कहं स्याम छुटी खग मोर।
> छिप्यौ हम माम तज्यो बन संग सज्यो नहीं मर्म रहयौ नहीं रंग॥
> सकल लोक ब्रजवासि कहें, तहें मिलि नंदकुमार।
> दधि तंदुल मंडल सुरहिं, किय बहु विधि ब्यहार॥
>
> किंतु इसके पुराने अंश की भाषा अपभ्रंश के पर्याप्त निकट है।

रासो

> इम संभवई वास कालिन्दि कूल
> जानहि न राज पैसन्त मूल।
> जानहिं तु एक जुग्गिनि नरेस
> सुर इंद बंस पृथ्वी नरेस॥

अपभ्रंश

> संभवइ वासि कालिन्दि-कूल, जाणइ ण रज्ज मइ पंचमूल।
> जाणइ तु इक्क जोरवि-णेरेसु, सुरिंदवंसहिं पुहविणरेसु॥

मध्यम और बृहद् रूपांतरों में भाषा का विकास और स्पष्ट है। फारसी शब्दों का प्राचुर्य द्वित्व युक्त व्यंजनों का सरलीकरण स्वरसंकोचन, 'ण' के स्थान पर 'न' का और 'अइ' के स्थान पर 'ए' का प्रयोग विशेष रूप से दर्शनीय है। भाषाविभेद प्रसंग विभेद, प्रकरण संगति आदि को तुलना कर ही हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि रासो में कोई रूपांतर नहीं है। बृहद् रूपांतर की प्राचीनतम प्रति संवत् १७५ की है। इसके संकलयिता ने इस बात का ध्यान रखा है कि उस समय की सभी प्रसिद्ध जातियाँ उसमें आ जायँ और हर एक के लिये कुछ न कुछ प्रशंसा के शब्द हों।

रासो में ऐतिहासिक तथ्य

रासो की कथाओं के ऐतिहासिक आधार का हमने कई वर्ष पूर्व विवेचन

किया था। बृहद् रूपातर में अनेक अनैतिहासिक कथाओं का समावेश स्पष्ट रूप में वर्तमान है। उसके सवत् अशुद्ध हैं। वशावली कल्पित है। प्रायः सभी वर्णन अतिरजित हैं। सभी रूपातरों के विशेष विचार एव विमर्श के बाद हम तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रासो का मूल भाग सभवतः पग-यज्ञ-विध्वस, सयोगिता नेम-आचरण, कैमास वध, षट्रितु वर्णन, कनवज्जकथा और बड़ी लड़ाई मात्र है। इसमें आदि पर्व, ढिल्ली किल्ली दान और अनंगपाल दिल्ली दान पूर्व पीठिका के रूप में जोड़ दिये गये हैं। इस पीठिका में कुछ ऐतिहासिक तथ्य वर्तमान,हैं, किंतु तीन पृथ्वीराजों के एक पृथ्वीराज और चार बीसलों के एक बीसल होने से पर्याप्त गड़बड़ हो गई है। अनल और बीसल के संबध में भी अशुद्धि है। ढुढा दानव की कल्पना यदि सत्याश्रित मानी जाँय तो उसे मुहम्मद बहलिम मानना उचित होगा। इसके हाथों अनल के पिता के समय सपाद लक्ष देश को काफी कष्ट उठाना पड़ा था। बाणवेध मूल रासो की उत्तर पीठिका है। इसमें भी कल्पना मिश्रित कुछ सत्य है। पृथ्वीराज प्रबध और ताजुल मासीर से स्पष्ट है कि पृथ्वीराज की मृत्यु युद्ध स्थल में नहीं हुई। कोई षड्यत्र ही उसकी मृत्यु का कारण हुआ।

इतिहास की दृष्टि से रासो के बृहद् रूपातर में दी हुई निम्नलिखित कथाएँ सर्वथा असत्य हैं—

१ लोहाना आजानबाहु—बृहत् रूपातर के प्राचीन प्रतियों में यह खंड नहीं मिलता। भाषा देखिये—

तब तबीब तसलीम करि लै धरि आइ लुहान ॥ ४ ॥
हज्जार पच सेना समथ, करि जुहार भर चल्ल्यौ ॥ ७ ॥

तबीब, तसलीम आदि विदेशी शब्द हैं। तंवर वशी आजानु बाहु का कच्छ पर आक्रमण भी असंभव है। पृथ्वीराज के साम्राज्य का कोई भूभाग कच्छ से न लगता था।

२ नाहरराय कथा—पृथ्वीराज अपने पिता की मृत्यु के समय केवल १०–११ साल का था। सोमेश्वर के जीवन काल में मडोर राज नाहरराय को हराना और उसी की कन्या से विवाह करना पृथ्वीराज के लिये असभव था।

३ मेवाती मूगल कथा—सोमेश्वर के जीवन काल में पृथ्वीराज द्वारा मेवाती मूगल की पराजय भी इसी तरह असभव है। कविराज मोहनसिंहजी

१३

मूगल शब्द को मेवाती सरदार का नाम माना है। किंतु उसके सपक्षीय बाजिद खाँ पठान, खुरासान खान मर्गद मरदान आदि के नामों से प्रतीत होता है कि इस प्रसंग के रचयिता ने मूगल को मुसलमान ही माना है। पृथ्वीराज के समय मुसलमानों के मेवात में न होने का ज्ञान उसे न था।

४ हुसेन कथा
५ आखेट चूक
६ पुंडीर दाहिमी विवाह
७ पृथा विवाह
८. शशिव्रता विवाह
९. हंसावती विवाह
१ इंद्रावती विवाह
११ कांगुरा युद्ध

इन सब में अनेक ऐतिहासिक असंगतियों के अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने के योग्य है कि यह सब घटनाएँ सोमेश्वर के जीवन काल में अर्थात् पृथ्वीराज के शैशवकाल में रखी गई हैं। पृथ्वीराज का जन्म सं १२२३ में हुआ और सोमेश्वर की मृत्यु सं १२३४ में। पृथ्वीराज की आयु इतनी कम थी कि राजका कपूर देवी को संभालना पड़ा।

१२ सद्वन मध्ये कैमास-पातिसाह ग्रहण
१३ भीमरा वध

भीम वास्तव में पृथ्वीराज के बाद भी चिरकाल तक जीवित रहा।

(१४) पृथ्वीराज के शिहाबुद्दीन से कुछ युद्ध—

इन युद्धों की संख्या शनैः-शनैः बढ़ती गई है। कुछ इनमें से अवश्य कल्पित हैं।

(१५) समरसी दिल्ली सहाय

(१६) रैनसी युद्ध

समरसी को सामंतसिंह का निकट मानकर ऐतिहासिक आपत्तियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। किंतु सामंतसिंह स्वयं सं १२३६ से पूर्व मेवाड़ का राज्य खो बैठा था। संवत् १२४२ के पूर्व बागड़ का राज्य भी उसके हाथ से निकल गया। इसलिये यह संभव नहीं है कि उसने सं १२४८ के लगभग पृथ्वीराज की कुछ विशेष सहायता की हो। मेरा निजी विचार है कि परिवर्धित संस्करणों की उत्पत्ति मुख्यतः मेवाड़ जनपद में हुई है और इसी कारण उनमें मेवाड़ के माहात्म्य को विशेष रूप से बढ़ाया चढ़ाया गया है,

परिवर्धित भाग सभी शायद अनैतिहासिक न रहा हो। पूर्व पीठिका, और उत्तरपीठिका की अर्ध-ऐतिहासिकता के विषय में हम कुछ कह चुके हैं, भीम चौलुक्य और पृथ्वीराज का वैमनस्य कुछ ऐतिहासिक आधार रखता है। यद्यपि न भीम ने सोमेश्वर को मारा और न स्वयं पृथ्वीराज के हाथों मारा गया। कन्ह, अखपट्टी, पद्मावती विवाह आदि में भी शायद कुछ सत्य का अश हो। वास्तव में यह मानना असगत न होगा कि वर्तमान रासो का वृहद् रूपातर एक कवि की कृति नहीं है। बहुत सभव है कि पृथ्वीराज के विषय में अनेक कवियों की रचनाएँ वर्तमान रही हों। महाभारत-व्यास की तरह किसी रासो-व्यास ने इन्हें एकत्रित करते समय सभी को चदवरदाई की कृतियाँ बना दी हैं। शुक शुकी, द्विज द्विजी आदि की प्रचलित रूढियों द्वारा इन कथाओं को रासो के अतर्गत करना भी विशेष कठिन न रहा होगा। जब रासो ने कुछ विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की, तो इसमें अन्य जातियो के नाम भी जोड़ दिये गए। पज्जून कछवाहा, नाहडराय पडिहार, धीरपुंडीर, सभव है कि ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हों। किंतु उनका पृथ्वीराज से सबध सदिग्ध है।

रासो के मूलभाग में सयोगिता स्वयवर, कैमासवध और पृथ्वीराज शिहाबुद्दीन-सघर्ष-प्रसग हैं। इन तीनो की ऐतिहासिकता सिद्ध की जा सकती है। केवल रभामजरी और हम्मीर महाकाव्य में सयोगिता का नाम न आने से सयोगिता की अनैतिहासिकता सिद्ध नहीं होती। रभामजरी प्रायः सर्वथा ऐतिहासिक तथ्यों से शून्य है। हम्मीर महाकाव्य में भी पृथ्वीराज के नागार्जुन भादानक जाति, चदेलराज परमर्दिन्, चौलुक्य राज भीमदेव द्वितीय एवं परमारराज धारावर्षादि के साथ के युद्धों का वर्णन नहीं है। हम्मीरमहाकाव्य का पृथ्वीराज के जीवन की इन मुख्य घटनाओं के विषय मे मौन यदि इन्हें अनैतिहासिक सिद्ध न कर सके तो सयोगिता के विषय में मौन ही उसे अनैतिहासिक सिद्ध करने की क्या विशेष क्षमता रखता है? पृथ्वीराज प्रबध से जयचद्र और पृथ्वीराज का वैमनस्य सिद्ध है। 'पृथ्वीराज-विजय' में भी गगा के किनारे स्थित किसी राजकुमारी से पृथ्वीराज के प्रणय का निर्देश है। काव्य यहीं त्रुटित न हो जाता तो यह विवाद ही सदा के लिये शात हो जाता। 'सुर्जन चरित' और 'आइने अकबरी' में सयोगिता की कथा अपने पूर्ण रूप में वर्तमान है। सयोगिता के विषय में अनेक वर्षों के बाद भी हम निम्नलिखित शब्द दोहराना अनुचित नहीं समझते—

"जो राजकुमारी 'रासो' की प्रधान नायिका है, जिसके विषय में अबुल-फज्ल को भी पर्याप्त ज्ञान था, जिसकी रसमयी कथा चाहमानवंशाश्रित एवं चाहमान वंश के इतिहासकार चंद्रशेखर के 'सुर्जनचरित' में स्थान प्राप्त कर चुकी है, जिसे सोलहवीं शती में और उससे पूर्व भी पृथ्वीराज के वंशज अपनी पूर्वजा मानते थे जिसका सामान्यतः निर्देश 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य में भी मिलता है जिसके पिता जयचंद्र और जयचंद्र का वैमनस्य इतिहासानुमोदित एवं तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के अनुकूल है, जिसकी अपहरण-कथा अभूतपूर्व एवं असंगत नहीं है, जिसकी सत्ता का निराकरण 'हम्मीर महाकाव्य' और 'रंभामंजरी' के मौन के आधार पर कदापि नहीं किया जा सकता; जिसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध सभी युक्तियाँ हेत्वाभास मात्र हैं, उस कामिनी संयोगिता को हम पृथ्वीराज की परमप्रेयसी रानी मानें तो इसमें दोष ही क्या है ? यह चंद्रमुखी भ्रम-राहु द्वारा अब कितने समय तक और ग्रस्त रहेगी ?"

कैमास की ऐतिहासिकता भी इसी तरह सिद्ध है। पृथ्वीराजविजय में यह पृथ्वीराज के मंत्री के रूप में वर्तमान है। खरतरगच्छपट्टावली में इसे महामंडलेश्वर कहा गया है और राजा की अनुपस्थिति में यह उसका प्रतिनिधित्व करता है। जिनप्रभसूरि के विविध तीर्थ कल्प में भी कैमास का जिन प्राकृत के शब्दों में उल्लेख है। उनका हिंदी अनुवाद निम्नलिखित है:— जब विक्रम संवत्सर १२४७ में चौहानराज श्रीपृथ्वीराज नरेंद्र सुल्तान शिहाबुद्दीन के हाथों मारा गया, तो राज-प्रधान परमश्रावक श्रेष्ठी राम देव ने श्रावक संघ के पास लेख भेजा कि तुरुकराज्य हो गया है। श्री महावीर की प्रतिमा को छिपा कर रखना। तब श्रावकों ने दाहिमाकुल मंडन कयंबास मंडलिक के नाम से अंकित कयंबास स्थल में बहुत सी बालुका ढेर में उसे दबा दिया। रासो में भी कैमास को दाहिमा ही कहा गया है। कवि ने कथा को अतिरंजित भी कर दिया हो तो भी मूलतः यह ठीक प्रतीत होती है।

शिहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के युद्ध के विषय में हमें कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वसंमत ऐतिहासिक घटना है। इसके बाद की उत्तरपीठिका की अब ऐतिहासिकता के विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं।

काव्यसौष्ठव—

काव्यसौष्ठव की दृष्टि से रासो में स्वाभाविक विषमता है। जब सब रासो एक कवि की कृति ही नहीं है, तो उसमें एक सा काव्यसौष्ठव ढूँढना व्यर्थ है। लघुतम रूपातर में जाह्नवी का अच्छा वर्णन है। कन्नौज की सुदरियो का भी यह वर्णन पढ़ें—

भरन्ति नीर सुन्दरी ति पान पत्त अगुरी।
कनंक बक्क जज्जुरो ति लगि कढ़्ढि जे हरि॥
सहज सोभ पडरी जु मीन चित्रहीं भरी।
सकोल लोज जघया ति लीन कच्छ रभया॥
करिब्ब सोभ सेसरी मनो जुवान केसरी।
अनेक छब्बि छत्तिया कहूँ तु चद रत्तिया॥
दुराइ कुम्भ उच्छरे मनो अनग ही भरे।
हरत हार सोहाए विचित्र चित्त मोह ए॥
अधर अद्ध रत्तए सुकील कीर बद्धए।
सोहंत देत आलमी कहंत बीय दालमी॥

जयचद के यज्ञ का वर्णन, पृथ्वीराज के सामतों का जयचद को उत्तर, यज्ञ-विध्वस आदि प्रकरण कवि की प्रतिभा से सजीव हैं। वसत का वर्णन भी पढ़ें—

लुट्टति भमर सुभ गंध वास।
मिलि चद कुंद फुल्ल्यउ अगास॥
वनि वग्ग मग्ग बहु अब मौर।
सिरि धरइ मनु मनमत्थ चौर॥
चलि सीस मंद सुगंध वात।
पावक मनहु विरहिनि निपात॥
कुहु - कुहु करति कलयठि जोटि
दल मिलहिं मनहुँ आनग कोटि
तरु पल्लव फुल्लहिं रत्त नील
इलि चलहि मनहु मनमथ्थ पील

मूलरासो का अंत भी ग्रथ के उपयुक्त रहा होगा। यह काव्य वास्तव में दु:खांत है, उसे सुखांत बनाना या उसके निकट तक पहुँचाना

"जो राजकुमारी 'रासो' की प्रधान नायिका है, जिसके विषय में अबुल-फज़ल को भी पर्याप्त ज्ञान था, जिसकी रसमयी कथा चाहमानवंशाश्रित एवं चाहमान वंश के इतिहासकार चंद्रशेखर के 'सुजनचरित' में स्थान प्राप्त कर चुकी है, जिसे सोलहवीं शती में और उससे पूर्व भी पृथ्वीराज के वंशज अपनी पूर्वजा मानते थे जिसका सामान्यतः निर्देश 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य में भी मिलता है, जिसके पिता जयचंद्र और जयचंद्र का वैमनस्य इतिहासानुमोदित एवं तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के अनुकूल है जिसकी अपहरण-कथा अभूतपूर्व एवं असंगत नहीं है, जिसकी सत्ता का निराकरण 'हम्मीर महाकाव्य' और 'रंभामंजरी' के मौन के आधार पर कदापि नहीं किया जा सकता जिसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध सभी युक्तियाँ हेत्वाभास मात्र हैं, उस कामिनी संयोगिता को हम पृथ्वीराज की परमप्रेयसी रानी मानें तो इसमें दोष ही क्या है ? यह चंद्रमुखी भ्रम-राहु द्वारा अब कितने समय तक और ग्रस्त रहेगी !"

कैमास की ऐतिहासिकता भी इसी तरह सिद्ध है। पृथ्वीराजविजय में यह पृथ्वीराज के मंत्री के रूप में वर्तमान है। खरतरगच्छवृहद्गुर्वावली में इसे महामंडलेश्वर कहा गया है और राजा की अनुपस्थिति में यह उसका प्रतिनिधित्व करता है। जिनप्रभसूरि के विविध तीर्थ कल्प में भी कैमास का जिन प्राकृत के शब्दों में उल्लेख है। उनका हिंदी अनुवाद निम्नलिखित है—'जब विक्रम संवत्सर १२४८ में चौहानराज श्रीपृथ्वीराज नरेंद्र सुल्तान शिहाबुद्दीन के हाथों मारा गया, तो राज-प्रधान परमश्रावक श्रेष्ठी राम देव ने श्रावक संघ के पास लेख भेजा कि तुरुकराज्य हो गया है। श्री महावीर की प्रतिमा को छिपा कर रखना। तब श्रावकों ने दाहिमाकुल मंडन कयंबास मंडलिक के नाम से अंकित कयंबास स्थल में बहुत सी बालुका ढेर में उसे दबा दिया। रासो में भी कैमास को दाहिमा ही कहा गया है। कवि ने कथा को अतिरंजित भी कर दिया हो तो भी मूलतः वह ठीक प्रतीत होती है।

शिहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के युद्ध के विषय में हमें कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वसंमत ऐतिहासिक घटना है। इसके बाद की उत्तरपीठिका की अब ऐतिहासिकता के विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं।

सवत् १३६६ में अलाउद्दीन की सेना ने शत्रुञ्जय के तीर्थनाथ ऋषभदेव की मूर्ति को नष्ट कर दिया था। पाटण के समरासाह ने अलफखाँ से मिलकर फरमान निकलवाया कि मूर्तियों को नष्ट न किया जाय। उसने शत्रुञ्जय में नवीन मूर्ति की स्थापना की और सवत् १३७२ में सघसहित शत्रुञ्जयादि तीर्थों की यात्रा की। इस धर्मवीरता के प्रख्यापन के लिये अम्बदेव सूरि ने स० समरारास की रचना की। रास की भाषा सरस है। यात्रा के बीच में वसंतावतार हुआ—

रितु अवतरियउ तहिजि वसतो, सुरहि कुसुम परिमल पूरतो
समरह वाजिय विजय ढक्क।
सागु सेलु सल्लइ सच्छाया, के सूय कुढय कयब निकाया
सघसेनु गिरिमाहइ वहए।
चालीय पूछइ तरुवरनाम, वाटइ आवइ नव नव गाम
नय नीझरण रमाउलइ॥

जब सघ पाटण वापस पहुँचा, उस समय का दृश्य भी दर्शनीय रहेगा।

मन्त्रिपुत्रह भीरह मिलीय अनु ववहारिय सार।
सघपति सघु वधावियउ कंठिहि एकठिहि घालिय जयमाल।
तुरिय घाट तरवरि य तहिं समरउ करइ प्रवेसु।
अणहिलपुरि वद्धामणउ ए अभिनव ए अभिनवु।
ए अभिनवु पुन्ननिवासो॥

यह रास भाषा, साहित्य और इतिहास इन तीनों दृष्टियों से उपयोगी है। खिल्जीकालीन भारतीय स्थिति का इतना सुदर वर्णन अन्यत्र कम मिलता है।

कुमारपाल, वस्तुपाल, विमल आदि के विषय में अनेक रास ग्रथों की रचना हुई। किंतु इनमें शुद्ध वीर काव्य का आनद नहीं मिलता। न इनके काव्य में कुछ मौलिकता ही है और न रमणीयता।

इनसे भिन्न युद्ध वीर काव्यों की परपरा है। चौदहवीं शताब्दी में किसी कवि ने सभवत. अपभ्रंश भाषा में रणथभोर के राजा हठी हम्मीर का चरित लिखा है। नयचंद के सस्कृत में रचित 'हम्मीर महाकाव्य' को सभवत. इससे कुछ सामग्री मिली हो और 'प्राकृतपैंगलम्' में उद्धृत अपभ्रश पद्य संभवतः इसी देश्यकाव्य से हों। राहुलजी ने इसके रचयिता का नाम जज्जल दिया

संभवतः परवर्ती कवियों की सूझ है। शत्रुओं से घिर जाने पर भी पृथ्वीराज ने स्वाभिमान न छोड़ा।

> रिपु पकड़ु पकड़ु न भग सुभ चाहत सब साथ
> अरि मिटि मिल्यो न कोइ किमु दिखावत पत्र ॥

जिस क्षत्रिय वीर से सब मुसलमान सशंकित थे, जिसकी आज्ञा सर्वत्र शिरोधार्य थी उसी को मुसलमान पकड़कर गजनी ले गए।[1]

रासो के परिवर्धित कुछ अंश काव्य-सौष्ठवयुक्त हैं। किंतु उन्हें चंद के कवित्व के अंतर्गत नहीं, अपितु महारासो के काव्यत्व के अंतर्गत मानना उचित होगा। इच्छिनी और शशिव्रता के विवाहों का वर्णन कवित्वयुक्त है। चंद की परंपरा में भी अनेक अच्छे कवि रहे होंगे। वे चंद न सही, चंद-पुत्र कहाने के अवश्य अधिकारी हैं।

जल्ह

परंपरा से जल्ह चंद के पुत्र हैं। यह बात सत्य हो या असत्य, यह निश्चित है कि उनमें भी काव्यरचना की अच्छी शक्ति थी। 'पुरातन-प्रबंध-संग्रह' में उद्धृत जयचंद विषयक पद्य जल्ह की रचना है। जल्ह और चंद के समय में अधिक अंतर न रहा होगा।

पश्चिमी प्रांतों में ऐतिहासिक काव्यधारा का प्रसार

भारत के पश्चिमी प्रांतों में यह ऐतिहासिक काव्यधारा अनेक रूप से प्रसृत हुई। गुजरातियों और राजस्थानियों ने मनभर कर धर्मवीरों, दानवीरों और युद्धवीरों की स्तुति की। कुमारपालचरित, नवसाहसांकचरित (संस्कृत) कीर्तिकौमुदी (संस्कृत), सुकृतसंकीर्तन (संस्कृत), वसंतविलास (संस्कृत) धर्माभ्युदय काव्य (संस्कृत), रेवंतगिरिरासु (गुजराती), जगडू चरित (संस्कृत) पेथडरास (गुजराती) आदि इसी प्रवृत्ति के फल हैं। जैनियों में धार्मिक कृत्य, जैसे तीर्थोद्धार आदि करनेवालों का विशेष महत्व है। साथ ही ऐसा व्यक्ति राज्य में प्रभावशाली रहा हो तो तद्विषयक रास आदि बनने की अधिक संभावना रहती है।

---

१ इसके बाद में उत्तरपीठिका है और उसका अनुवाद एक प्रसिद्ध साहित्यिक कवि द्वारा हुआ है।

सवत् १३६६ में अलाउद्दीन की सेना ने शत्रुञ्जय के तीर्थनाथ ऋषभदेव की मूर्ति को नष्ट कर दिया था। पाटण के समरासाह ने अलफखाँ से मिलकर फरमान निकलवाया कि मूर्तियों को नष्ट न किया जाय। उसने शत्रुञ्जय में नवीन मूर्ति की स्थापना की और सवत् १३७२ में सघसहित शत्रुञ्जयादि तीर्थों की यात्रा की। इस धर्मवीरता के प्रख्यापन के लिये अम्बदेव सूरि ने स० समरारास की रचना की। रास की भाषा सरस है। यात्रा के बीच में वसंतावतार हुआ—

> रितु अवतरियउ तहिजि वसतो, सुरहि कुसुम परिमल पूरतो
> समरह वाजिय विजय ढक्क।
> सागु सेलु सल्लइ सच्छाया, के सूय कुडय कयब निकाया
> सघसेनु गिरिमाहइ वहए।
> घालीय पूछइ तरुवरनाम, बाटइ आवइ नव नव गाम
> नय नीभरण रमाउलइ॥

जब सघ पाटण वापस पहुँचा, उस समय का दृश्य भी दर्शनीय रहेगा।

> मन्त्रिपुत्रइ भीरह मिलीय अनु ववहारिय सार।
> सघपति सघु वधावियउ कठिहि एकठिहि घालिय जयमाल।
> तुरिय घाट तरवरि य तहिं समरउ करइ प्रवेसु।
> अणहिलपुरि वद्धामणउ ए अभिनव ए अभिनवु।
> ए अभिनवु पुन्ननिवासो॥

यह रास भाषा, साहित्य और इतिहास इन तीनों दृष्टियों से उपयोगी है। खिल्जीकालीन भारतीय स्थिति का इतना सुदर वर्णन अन्यत्र कम मिलता है।

कुमारपाल, वस्तुपाल, विमल आदि के विषय में अनेक रास ग्रथों की रचना हुई। किंतु इनमें शुद्ध वीर काव्य का आनद नहीं मिलता। न इनके काव्य में कुछ मौलिकता ही है और न रमणीयता।

इनसे भिन्न युद्ध वीर काव्यों की परपरा है। चौदहवीं शताब्दी में किसी कवि ने सभवत. अपभ्रश भाषा में रणथभोर के राजा हठी हम्मीर का चरित लिखा है। नयचंद के सस्कृत में रचित 'हम्मीर महाकाव्य' को सभवत. इससे कुछ सामग्री मिली हो और 'प्राकृतपैंगलम्' में उद्धृत अपभ्रश पद्य सभवतः इसी देश्यकाव्य से हों। राहुलजी ने इसके रचयिता का नाम जज्जल दिया

है वो ठीक नहीं है।[1] जयचंद्र के मंत्री विद्याधर के जो पद्य मिले हैं वे भी इसी तरह अपभ्रंश में रचित हैं।[2] वे किसी काव्य के अंश हो सकते हैं, किंतु उन्हें मुक्तक मानना ही शायद ठीक होगा।

हमने अलक्षित रूप में प्राप्त 'रणमल्ल काव्य' को इस संग्रह में स्थान दिया है। इसकी रचना सन् १३९८ के लगभग हुई होगी। श्रीधर ने इसमें ईडर के स्वामी राठौड़ वीर रणमल्ल के यश का गायन किया है। भाषा नयी पुरानी और विषयानुरूप है। प्राचीन देश्य वीरकाव्यों में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। रणमल्ल ने गुजरात के सूबेदार मुफर्रह को कर देने से बिल्कुल इनकार कर दिया :—

जा अम्बर गुडुडहि तावि रमइ, ता कमधज्जदेव न अप्पइ कप्पइ।
जरि पच्छिमगिरि उग्ग उग्गमइ, गुप मेच्छम पास न आए किप्पइ॥१॥
पुण रणरसि पाव धरइ जवी गुप पीथलि अंखि जम्पि जवी।
कमधज्ज कुमार बल करि छु पबू, पय मरियपुरा हम्मीर तपू॥११॥

मीर मुफर्रह और रणमल्ल की सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। रणमल्ल ने खूब म्लेच्छों का संहार किया और अंत में उसकी विजय हुई :—

ढमकिय ढ़ुक भीड मेच्छ मल्ल मोडि मुम्मरि।
चमकिय चक्कि रणमल्ल भाह फेरि संचरि।
धमकिय धार ओडि बाण वाहि भग्गडा।
पडकिय पारि पक्खरंत मारि मीर मच्छरा॥२५॥

सोवानवंत रा कमधज्ज चिरन्धल भक्खपइ धवधव अगज विया।
भडहड करि सवियिरि सहस भडक्कइ कमधज्जसुब महधाप भड़ा।
धारिहणि घर्यकरि धक्कर धूंदिम धार माम धकधक्कन्त हुआ।
रणमल्ल भयंकर वीरविहारव धेखरमकि धीडर धरिपा॥६१॥

जैसा हमने अन्यत्र लिखा है साहित्य की दृष्टि से 'रणमल्ल छंद' उज्ज्वल रत्न है। पृथ्वीराजरासो के युद्ध-वर्णन से आकृष्ट और मुग्ध होनेवाले साहित्यिक उसी कोटि का वर्णन छंद में देख सकते हैं। वही शब्दाडंबर है, किंतु साथ ही वह अर्थानुरूपता भी रासो के युद्ध वर्णनों में है हमें उस अंश में

१—देखें हमारी Early Chauhan Dynasties पृ० ११६

२—JBRS, १९४१ पृ० ११२-१९ पर हमारा लेख देखें।

नहीं मिलती। इस सत्तर पद्यों के काव्य में शिथिलता कही नाममात्र को नहीं दिखाई पड़ती। इसके कथावतार में गगावतार के प्रबल प्रताप का वेश, गुञ्जन और साथ ही अद्‌भुत सौंदर्य है।'

भाषा की दृष्टि से छद में पर्याप्त अध्येय सामग्री है। पृथ्वीराजरासो में फारसी शब्दों से चकित होनेवाले विद्वान् ७० पद्यों के इस छोटे से पुराने काव्य में फारसी शब्दों की प्रचुरता से कुछ कम चकित न होंगे। सामान्यतः इस ग्रथ की भाषा को पश्चिमी राजस्थानी कहा जा सकता है।[1]

पूर्वी प्रदेश में इस वीरकाव्य-धारा के अतर्गत विद्यापति की कीर्तिलता मुख्यरूप से उल्लेख्य है। इसमें कवि ने केवल कीतिसिंह के युद्धादि का ही वर्णन नहीं किया। उस समय का सजीव चित्र भी प्रस्तुत किया है। इसकी भाषा को अनेक विद्वानों ने प्राचीन मैथिली माना है। किंतु उसे परवर्ती अपभ्रश कहना अधिक उपयुक्त होगा। कीर्तिलता पर हम अन्यत्र कुछ विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। पुस्तक का रचनाकाल सन् १४०२ के आसपास रखा जा सकता है।

इससे लगभग पचास वर्ष बाद कवि पद्मनाभ ने 'कान्हडदे प्रबध' की रचना की। पुस्तक का विषय कान्हडदे का अलाउद्दीन से सघर्ष है, वीरव्रती धर्मप्राण कान्हडदे ने किस प्रकार सोमनाथ का उद्धार किया, किस प्रकार सिवाने के गढपति वीर सातलदेव ने खिल्जियों के दाँत खट्टे किए। और किस तरह कान्हडदे ने कई वर्ष तक खिल्जी सेना का सामना किया—इन सब बातों का कान्हडदे प्रबध ने अत्यत ओजस्वी भाषा में वर्णन किया है।[2] इतिहास की दृष्टि से पुस्तक बहुमूल्य है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इसका पर्याप्त महत्व है और इससे भी अधिक महत्व है इसके काव्यत्व का। पुस्तक चार खडों में पूर्ण है। सेना के प्रमाण, नगर, प्रेम इन सबका इस काव्य में वर्णन है। किंतु इनसे कथा की गति कहीं रुद्ध नहीं होती। वीररस प्रधान इस काव्य के प्रणेता पद्मनाभ में वह शक्ति है जो अन्य सब रसों को, अन्य सब वर्णनों को, काव्य के मुख्यरस और विषय के परिपोषक बना सके। मुनि जिनविजय जी ने

---

१ छद के ऐतिहासिक महत्व और सार के लिये सग्रह के अतर्गत भूमिका देखें।

२ शोधपत्रिका, उदयपुर, भाग ३, अङ्क १ में कान्हडदे प्रबंध पर हमारा लेख देखें। कान्हडदे के जीवनवृत्त के लिये Early chauhan Dynasties पृष्ठ २५६-२७० पढ़ें।

बहुत सुंदर शब्दों में इस काव्य के विषय में कहा है—'इस प्रबंध में, कुछ तो राजस्थान-गुजरात के गौरवमय स्वर्णयुग की समाप्ति का वह करुण इतिहास अंकित है जिस पद पर हम खिन्न होते हैं, उद्विग्न होते हैं और रुदन करते हैं पर साथ ही में इसमें कराल कालयुग में देवांशी अवतार लेनेवाले ऐसे धीरोदात्त वीर पुरुषों का आदर्श जीवन चित्रित है जिसे पढ़कर हमें रोमांच होता है, गर्व होता, हर्षाश्रु आते हैं।' कान्हड़दे प्रबंध का बहुत सुंदर संस्करण, राजस्थान पुरातत्व मंदिर में प्रस्तुत किया है।

इन्हीं वीरचरितानुकीर्तनक काव्यों में रासंसंग्रह में प्रकाशित 'राउ जैतसीरो रासो' है। वीर जैतसी बीकानेर के राजा थे। जब हुमायूं बादशाह के भाई कामरान ने बीकानेर पर आक्रमण कर देवमंदिरों को नष्टभ्रष्ट करना शुरू किया था जैतसी ने अपनी सेना एकत्रित की और रात्रि के समय अचानक मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया। कामरान अपना बहुत सा फौजी सामान और छत्र आदि छोड़कर भाग खड़ा हुआ। इस विजय का कीर्तन अनेक ओजस्वी काव्यों में हुआ है। बीठू सूजा के 'छंद राउ जइतसीरो' को डा॰ तैसीतरी ने संपादित और प्रकाशित किया था। इसके मुगल सेना के बयान की तुलना अमीर खुसरो के मुगलों के बयान से की जा सकती है :—

> ओदाल मिवाइ चमदूत चोल काइरा कपीमुखको सकोच।
> कुवारा केकिकाला किरिइ, गयदकी गोल गोंजा गिरिइ॥
> वेसी विचित्र सिम्दूर प्रभ, कुछी कपाल के अग्र कन्न।

इसी विषय पर एक अज्ञात कविकृत एक अन्य काव्य भी अनूप-संस्कृत पुस्तकालय में है। इस संग्रह में प्रकाशित रास भी समसामयिक कृति है। कवि ने जैतसी और कामरान के संग्राम को अवश्यंभावी माना है—

> लोहडिया बांधा मर्द मगरी हुवै पारिस्थ।
> हाथीडां थार सुगलां सहु चूके मारिज्य॥

जैतसी ने कामरान को मरुदेश पर आक्रमण करने की चुनौती दी और कामरान ने दलबल बीकानेर पर कूच किया। ऐसा मालूम हुआ मानों *महारुद्र ने अपनी तीसरी आँख खोल दी है।* यह जानकर कि मुसलमान 'जाघधर' को जीतना चाहते हैं जिसदिनियों ने मंगलगान शुरू किया। जैतसी ने भी अपने तीन हजार योद्धाओं के साथ घोड़ों पर सवारी की। मुगल कामिनी

ने मान किया था, मरुराज उसे प्रसन्न करने के लिये पहुँचा। युद्ध एक चौगान बन गया—

> चढै रिणचग सरीखा सग, छुटै हय तग मचै चौरग।
> खिचै रिण ढाणि पडतजुआण, बिढे निरवाणि वधै वाखाण॥

अतत: युद्धक्षेत्र में जैतसी ने मुगल को पछाड़ दिया—

> अणभग तूग करतग रहरह्या वडो प्रव लौढियो।
> जैतसी जुडे वलि मल्ल ज्यूं मुगलां दल मचकौढियो॥

माडउ व्यास की कृति **'हम्मीरदेव चौपई'** को भी हम वीरकाव्यों में गणना कर सकते हैं। 'चौपई' सवत् १५३८ की रचना है। काव्य की दृष्टि से इसका स्थान सामान्य है।

बीसलदे-रासो को हम ऐतिहासिक रासों में सम्मिलित नहीं कर सके हैं। इसका नाममात्र वीसल से सबद्ध है। कथा अनैतिहासिक है। रचना भी सभवत: सोलहवीं शताब्दी से पूर्व की नही है।[२]

इसी प्रकार **आल्हा** का रचनाकाल अनिश्चित है। किंतु सभव है कि पृथ्वीराजरासो की तरह यह भी किसी समय छोटा सा ग्रथ रहा हो। इसके कर्ता जगनिक का नाम 'पृथ्वीराज विजय' के रचयिता जयानक की याद दिलाता है। जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं, कि चदेलराज परमर्दिन् और चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय का सघर्ष सर्वथा ऐतिहासिक है। किंतु जिस रूप में यह अब प्राप्त है उसमें ऐतिहासिकता बहुत कम है। अपने रूप रूपातरों में आल्हा: ऊदल की कथा अब भी बढ घट रही है। बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा सपादित **'परमाल रासो'** आल्हा का एक अर्वाचीन रूपातर मात्र है।

खुम्माण रासो की रचना स० १७३० से स० १७६० के बीच में शातिविजय के शिष्य दलपत (दलपत विजय) ने की। इसमें बप्पा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक के मेवाड़ के शासकों का वर्णन है। खोम्माण वश के वर्णन की वजह से इस रासो का शायद इसका नाम 'खुम्माण रासो' रख दिया गया है। इसे नवीं शताब्दी की रचना भ्राति मानना है।

१—देखें Earle Chauhan Dynasties, पृ० ३४२।

२—वही, पृ० ६३६।

विजयपाल रासो भी इसी तरह अधिक पुरानी रचना नहीं है। इसका निर्माणकाल पृथ्वीराजरासो के बृहद् रूपांतर की रचना के बाद हम रख सकते हैं। इतिहास की दृष्टि से पुस्तक निरर्थक है, किंतु काव्य की दृष्टि से यह बुरी नहीं है।

इसी प्रणाली से रचित 'कर्मसिंहजी रो छंद', 'राजकुमार अनोप सिंहजी री वेल', महाराज सुजान सिंघ री रासो' आदि के विषय में दयालदास रीख्यात की प्रस्तावना में कुछ शब्द लिखे हैं। शिवदास चारण रचित 'अचलदास खीची री वचनिका' संपादित है किंतु अब तक प्रकाशित नहीं हुई। कवि जान का क्याम खां रासो' नाहटा बंधुओं और हमारे संयुक्त संपादकत्व में राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर, जयपुर से प्रकाशित हुआ है। इसमें फतेहपुर (शेखावाटी) के कायम खानी वंश का वर्णन है। जान अच्छा कवि था। इसी ग्रंथ के परिशिष्ट रूप में अलिफ खां की पैड़ी प्रकाशित है। इतिहास की दृष्टि से भी 'क्याम खां रासो' अच्छा ग्रंथ है। इसकी समाप्ति वि० सं० १७१ (सन् १६६१ ई०) के आस पास हुई होगी। इसके कुछ पद्य देखिये :—

बांके बांकेहि बने देखहु लिखहि विचार।
जो बांकी करवार है तो बांको परचार॥
बांके सौं सूधो मिलो तो चाहिय अरराइ।
ज्यों कमान कवि जान कहि, चाहहिं वेंत चढाइ॥

दिल्ली का बयान भी पठनीय है :—

धर्मंत अल्लाहि मक्कि गइ, नैकु न आई लाज।
पैक मरे दूजे चरे यही दिल्ली को काज॥
जात गोत पूछत नहीं, जोई पकरत पाव।
ताहि सौं हिलि मिलि चलै, पै मक्कि चार विहाव॥

संवत् १७१८ के लगभग प्रणीत जगाजी का रतनरासो' भी उत्कृष्ट वीरकाव्य है। कवि चंद सं० १७१२ में इसी शाहजहाँ के पुत्रों के संघर्ष में मारे गए। किशनगढ़ के महाराजा रूपसिंहजी की वीरता का ओजस्वी भाषा में वर्णन किया है। सं० १८८८ में समाप्त जोधराज का 'हम्मीररासो' नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है। बांकीदास, सूरजमल मिश्रण केसरीसिंह जी आदि होती हुई यह वीरगाथा धारा वर्तमान काल तक पहुँच गई है।

असाधारण वीरत्व से रोमाचित होकर आशुकाव्य द्वारा इस वीरत्व को अमर बनानेवाले कवि अब तक राजस्थान में वर्तमान हैं।

किंतु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, वीरत्व एक प्रकार का ही नहीं अनेक प्रकार का है। इसमें दानवीरत्व और धर्मवीरत्व का ख्यापन जैन कवियों ने बहुत सुदर किया है। मुगल-सम्राट् अकबर ने सब धर्मों को प्रतिष्ठा दी। जैन साधुओं में से उसने विशेष रूप से तपागच्छ के श्रीहरिविजय सूरि और खरतरगच्छ के श्रीजितचद्र सूरि को समान दिया। इन दोनों प्रभावक आचार्यों ने धर्म की उन्नति के लिये जो कार्य किया वह जैन सप्रदाय के लिये गौरव की वस्तु है। 'रास और रासान्वयी काव्य' में सगृहीत 'अकबर-प्रतिबोधरास' में खरतराचार्य श्रीजितचंद्र के अकबर से मिलने और उन्हें प्रतिबुद्ध करने का वर्णन है। रास का रचना काल 'वसु युग रस शशि वत्सर' दिया जिसका मतलब १६२८ या १६४८ हो सकता है। इसमें स० १६४८ ठीक है। उस समय कर्मचद बीकानेर छोड़ चुका था। श्रीजिनचद्र अति लबा मार्ग तय करके अकबर से लाहौर में मिले, और उन्हें धर्म का उपदेश दिया। काव्यत्व की दृष्टिसे रास सामान्य है।

श्रीजिनचद्र के देहावसान के समय लिखित 'युग-प्रबध' में उनके मुख्य कार्यों का वर्णन है। सलीम के जैन साधुओं पर क्रोध करते ही सर्वत्र खलबली मच गई। कई पहाड़ियों में जा घुसे कई जगलों और गुफाओं में। इस कष्ट से श्री जिनचद्र ने उन्हें बचाया। बादशाह ने सबको छोड़ दिया। किंतु आचार्य का वृद्ध शरीर यात्रा कष्ट से क्षीण हो चुका था और स० १६५२ में उनका देहावसान हुआ।

'श्रीविजयतिलक सूरि रास' के विषय हम भूमिका और सामाजिक जीवन में कुछ लिख चुके हैं। जबूद्वीप का वर्णन अच्छा है। जबूद्वीप में सोरठ, सोरठ में गुर्जरदेश और गुर्जरदेश में सुदर वीसलनगर था। उसके भवनों की तुलना देवताओं के विमान भी न कर सकते थे—

सपतभूमि सोहइ आवासि देखत अमरहूआ उदास।
अह्म विमान सोभी अछही भरी जाये तिहाथी आणीहरी।

स्थान स्थान पर लोग नाटक देखते। कोई नाचता, कोई गाता, कोई कथा कह कर चित्त रिझाता। कहीं पञ्च शब्द का घोष था कहीं शहनाई का। कहीं मल्लयुद्ध होता, कहीं मेढों का युद्ध।

फागादि की कृतियों को अनुसरण करते हुए अकबर के राज्य में कवि ने केवल आचार्यों में दंड, चोटी की शिखा पर मार, शूर (बहादुर, सूर्य) का पथ पर ग्रहण, पाप का विरह, बंधन केशों का, दुर्व्यसन को देश निकाला, और दोहती समय गायों का दमन देखा है।

इस बीसलनगर में साहु देव के रूपजी और रामजी नाम के पुत्र हुए। इन्हीं पुत्रों का नाम रत्नविजय और रामविजय हुआ। इसके बाद में उत्सव कलादि का कुछ वर्णन जिसका सामान्यतः निर्देश रास की भूमिका और रासकालीन समाज नामक अनुच्छेदों में कर दिया गया। सम्भवतः रासो के इस अग्रिम भाग कुछ विशेष काव्य-सौष्ठव नहीं है।

धार्मिक रासों की, विशेषकर आचार्यों को दीक्षा, निर्वाण और जीवन से संबंध रखनेवाले रासों की, संख्या बहुत बड़ी है। इनके प्रकाशन से तत्कालीन समाज, भाषा, और इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। किंतु इस संग्रह में हमने प्रायः उन्हीं ऐतिहासिक रास काव्यों को स्थान दिया है जिनमें इतिहास के साथ कुछ काव्य-सौष्ठव भी हो और जो किसी समय विशेष का प्रतिनिधित्व कर सकें।

रास का जीवन दर्शन

[रास के पूर्व वैदिक और अवैदिक उपासना]

वैष्णव और जैन रास ग्रथों का जीवन-दर्शन समझने के लिए प्रथम इस भक्ति-साधना के मूल स्रोत का अनुसधान आवश्यक है। यह साधना-पद्धति किस प्रकार वैदिक एवं अवैदिक साधना परपराओं के विकास क्रम को स्पर्श करती हुई बारहवीं शताब्दी के उपरात सारे देश में प्रचलित होने लगी और हमारी धर्म-साधना पर इसने क्या प्रभाव डाला ? इसका विवेचन करने से मूल-स्रोत का अनुसधान सुगम हो जायगा। हमारे देश में आर्य जाति की वैदिक कर्मकाड की परपरा सबसे प्राचीन मानी जाती है। किसी समय इसका अपार माहात्म्य माना जाता था। किंतु प्रकृति का नियम है कि उत्तम से उत्तम सिद्धात भी काल-चक्र से चूर-चूर हो जाता है और उसी भूमि पर एक नया पौदा लहराने लगता है। ठीक यही दशा यज्ञ और कर्मकाड की हुई।

वैदिक और अवैदिक उपासना

जब वैदिक काल की यज्ञ और कर्मकाड पद्धति में ज्ञान और उपासना के तत्वों का सर्वथा लोप हो जाने पर भारतीय समाज के जीवन में सतुलन बिगड़ने लगा और वैदिक ब्राह्मणों का जीवन स्वार्थपरक होने के कारण सर्वथा भौतिक एवसुखाभिलाषी होने लगा तो मनीषियों ने सतुलन के दो मार्ग निकाले। कतिपय मनीषी उपनिषद्-रचना के द्वारा परमार्थतत्वचिंतन पर बल देने लगे और वैदिक ज्ञानकाड से उसका सबध जोड़ कर वेद की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए यज्ञों का अध्यात्मपरक अर्थ करने लगे। कई ऐसे भी महात्मा हुए जिन्होंने व्रात्यों का विशाल समाज देखकर और उन्हें वैदिक भाषा से सर्वथा अपरिचित पाकर यज्ञमय वैदिक धर्म का खुल्लम खुल्ला विरोध किया। भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध दूसरे वर्ग के मनीषी ऋषि माने जाते हैं।

उपनिषदों में यज्ञ की प्रक्रिया को आध्यात्मिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। ऊषा को अश्वमेध यज्ञ के अश्व का सिर, सूर्य को उसका चक्षु, पवन को श्वास, वैश्वानर को मुख, सवत्सर को आत्मा, स्वर्ग को पीठ, अतरिक्ष को उदर, पृथ्वी को पुट्ठा, दिशाओं को पार्श्व, अवातर दिशाओं को पार्श्व की

अस्थियाँ, ऋतुओं को अंग, मास और पक्ष जोड़, दिवारात्रि पग, नक्षत्रगण अस्थियाँ, आकाश मांस पेशियाँ नदियाँ, स्नायु, पर्वत यकृत और प्लीहा एवं और वनस्पतियाँ लोम के रूप में स्वीकृत हुए। इस प्रकार यज्ञशाला के संकीर्ण स्थान से ध्यान हटाकर विराट विश्व की ओर साधकों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय उपनिषदों को है। वैदिक परंपरा की यह पद्धति गीता वेदांत सूत्र सात्वत मत एवं भागवत मत से पुष्ट होती हुई हमारे आलोच्य काल में श्रीमद्भागवत में परिणत हो गई।

वैदिक मार्गों के विरोध में आत्म-धर्म की स्थापना करने वाली वेदविरोधी दूसरी पद्धति वैदिकेतर धर्मों के उन्नायकों से परिपुष्ट होती हुई आलोच्यकाल में सिद्ध कापालिक, शाक्त आदि मतों में प्रचलित हुई। संक्षेप में इनके क्रमिक विकास का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

"वेदविरोधी इन मनीषियों ने लोकधर्म के प्रचार के लिए लोकभाषा का आश्रय लिया। बौद्ध धर्म दसवीं शताब्दी के पूर्व ब्राह्मण धर्म की प्रगतिशील शक्ति से प्रभावित होकर विविध रूपों में परिवर्तित होता हुआ नैपाल, तिब्बत और दक्षिण भारत में अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ रहा। अकेले नैपाल में जहाँ सात शैवों और चार वैष्णवों के तीर्थ थे वहाँ ६ तीर्थस्थान बौद्धधर्म प्रचारकों के अधिकार में थे। पर बौद्धधर्म का मूलस्वरूप कालगति से इतना परिवर्तित हो चुका था कि बुद्धवाणी के स्थान पर तांत्रिक साधना और काया-योग का महत्व बढ़ रहा था। इसी प्रभाव से प्रभावित 'शैव योगियों का एक संप्रदाय नाथ पंथ बहुत प्रबल हुआ, उसमें तांत्रिक बौद्धधर्म की अनेक साधनाएँ भी अंतर्भुक्त थीं[१]।"

डा० हजारी प्रसाद ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है—जो युक्ति संगत भी जान पड़ता है—कि 'इन योगियों से कबीरदास का सीधा संबंध था। इस प्रकार हमारा भक्ति साहित्य किसी न किसी रूप में बौद्धधर्म से प्रभावित अवश्य दिखाई पड़ता है। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि पूर्वी भारत जहाँ वैष्णव रास का निर्माण और अभिनय १५वीं शताब्दी के उपरांत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है, बौद्धधर्म के प्रच्छन्न रूप निरंजन पूजा को पूर्ण रीति से अपना चुका था। वैदिक विद्वान् रमाई पंडित ने इस पूजा को वैदिक सिद्ध करने के लिए शून्य पुराण की रचना कर डाली।

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना पृ० ५६

शून्य पुराण में एक स्थान पर निरजन की स्तुति करते हुए रमाई पडित कहते हैं—

> शून्यरूपंनिराकारं सहस्रविघ्नविनाशनम् ।
> सर्वपरः परदेवः तस्मात्त्व वरदो भव ॥ निरजनाय नमः ॥

एक और ग्रथ निरजन - स्तोत्र पाया गया है जिसमे एक स्थान पर लिखा है—

> 'ओं न वृक्ष न मूल न बीजं न चाकुर शाखा न पत्र न च स्कन्धपल्लव ।
> न पुष्प न गध न फल न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरजनाय ॥

इस निरजन मत का प्रचार पश्चिमी बगाल, पूर्वी बिहार, उड़ीसा के उत्तरी भाग, छोटा नागपुर आदि भूभागों में उल्लेखनीय रूप में हो गया था। यद्यपि विद्वानों में इस विषय में मतभेद है कि निरजन-पूजा बौद्धधर्म का ही विकृत रूप है। कतिपय विद्वान् निरजन देवता को आदिवासियों का ग्राम-देवता मानते हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि जब बौद्ध-धर्म किन्हीं कारणों से मूलबुद्ध वाणी का अवलब लेकर जीवित न रह सका, तो वह बगाल-बिहार में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने मत के समीपवर्ती आदिवासियों के निरजन धर्म को आत्मसात् करने को बाध्य हुआ और उनके ग्राम देवता को पूज्य मानकर उन पर अपने मतों का उसने आरोप किया। कालातर में जब वैदिक धर्म की शक्ति अत्यत प्रबल होने लगी और वेद-विरोधी धर्म अपने धर्म को वैदिक धर्म कहने में गौरव मानने लगे तो निरजन धर्मावलवी पडितों, अथवा वैदिक धर्म में उन्हें आत्मसात् करने के अभिलाषी वैदिक धर्मानुयायी विद्वानों ने निरजन स्तोत्र, शून्यपुराण आदि की रचना के द्वारा उन पर वैदिक धर्म की मुद्रा लगा दी।

निरजन और जैन मत

अक्षय निरजन की उपासना बौद्ध-धर्म से ही नहीं अपितु नवीं-दशवीं शताब्दीमें जैन धर्म से भी सबद्ध हो गई थी। जैन-साधक जोइदु ने एक स्थान पर अक्षयनिरजन ज्ञानमय शिव के निवास स्थान का संकेत करते हुए लिखा है—

> देउण देउले णवि सिलए
> णवि लिप्पइ ण वि चित्ति ।

अस्थियाँ, ऋतुओं को अग, मास और पक्ष जोड़, दिवारात्रि पग, नक्षत्रगण अस्थियाँ, आकाश मांस पेशियाँ, नदियाँ, स्नायु, पर्वत यकृत और प्लीहा वृक्ष और वनस्पतियाँ लोम के रूप में स्वीकृत हुए। इस प्रकार यज्ञशाला के संकीर्ण स्थान से ध्यान हटाकर विराट विश्व की ओर साधकों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय उपनिषदों को है। वैदिक परंपरा की यह पद्धति गीता वेदांत एवं सात्वत मत एवं भागवत मत से पुष्ट होती हुई हमारे आलोच्य काल में श्रीमद्भागवत में परिणत हो गई।

वैदिक यज्ञों के विरोध में आत्म-धर्म की स्थापना करने वाली वेदविरोधी दूसरी पद्धति वैदिकेतर धर्मों के उन्नायकों से परिपुष्ट होती हुई आलोच्यकाल में सिद्ध कापालिक, शाक्त आदि मतों में प्रचलित हुई। संक्षेप में इनके क्रमिक विकास का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

'वेदविरोधी इन मनीषियों ने लोकधर्म के प्रचार के लिए लोकभाषा का आश्रय लिया। *बौद्ध धर्म दसवीं शताब्दी के पूर्व भारत धर्म की प्रगतिशील* शक्ति से प्रभावित होकर विविध रूपों में परिवर्त्तित होता हुआ नैपाल, तिब्बत और दक्षिण भारत में अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ रहा। अकेले नैपाल में जहाँ सात शैवों और चार वैष्णवों के तीर्थ थे वहाँ ९ तीर्थस्थान बौद्धधर्म प्रचारकों के अधिकार में थे। पर बौद्धधर्म का मूलस्वरूप कालगति से इतना परिवर्त्तित हो चुका था कि बुद्धवाणी के स्थान पर तांत्रिक साधना और काया-योग का महत्व बढ़ रहा था। इसी प्रभाव से प्रभावित 'शैव योगियों का एक संप्रदाय नाथ पंथ बहुत प्रबल हुआ, उसमें तांत्रिक बौद्धधर्म की अनेक साधनाएँ भी संयुक्त थीं[१]।'

डा० हजारी प्रसाद ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है—जो युक्ति संगत भी जान पड़ता है—कि '*इन योगियों से कबीरदास का* सीधा संबंध था। इस प्रकार हमारा भक्ति साहित्य किसी न किसी रूप में बौद्धधर्म से प्रभावित अवश्य दिखाई पड़ता है। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि पूर्वी भारत जहाँ वैष्णव रास का निर्माण और अभिनय १५वीं शताब्दी के उपरांत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है, बौद्धधर्म के प्रच्छन्न रूप निरंजन पूजा का पूर्ण रीति से अपना चुका था। वैदिक विद्वान् रमाई पंडित ने इस पूजा को वैदिक सिद्ध करने के लिए शून्य पुराण की रचना कर डाली।

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना पृ० ८९

शून्य पुराण में एक स्थान पर निरंजन की स्तुति करते हुए रमाई पंडित कहते हैं—

शून्यरूपनिराकारं सहस्रविघ्नविनाशनम् ।
सर्वंपरः परदेवः तस्मात्त्व वरदो भव ॥ निरजनाय नमः ॥

एक और ग्रंथ निरजन - स्तोत्र पाया गया है जिसमे एक स्थान पर लिखा है—

'ओं न वृक्षं न मूल न वीजं न चाकुर शाखा न पत्र न च स्कन्धपल्लव ।
न पुष्पं न गध न फल न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरजनाय ॥

इस निरजन मत का प्रचार पश्चिमी बगाल, पूर्वी विहार, उड़ीसा के उत्तरी भाग, छोटा नागपुर आदि भूभागों में उल्लेखनीय रूप में हो गया था। यद्यपि विद्वानो में इस विषय में मतभेद है कि निरजन-पूजा बौद्धधर्म का ही विकृत रूप है। कतिपय विद्वान् निरजन देवता को आदिवासियों का ग्राम-देवता मानते हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि जब बौद्ध-धर्म किन्हीं कारणों से मूलबुद्ध वाणी का अवलब लेकर जीवित न रह सका, तो वह बगाल-बिहार में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने मत के समीपवर्ती आदिवासियों के निरजन धर्म को आत्मसात् करने को बाध्य हुआ और उनके ग्राम देवता को पूज्य मानकर उन पर अपने मतों का उसने आरोप किया। कालातर में जब वैदिक धर्म की शक्ति अत्यत प्रबल होने लगी और वेद-विरोधी धर्म अपने धर्म को वैदिक धर्म कहने में गौरव मानने लगे तो निरजन धर्मावलबी पडितों, अथवा वैदिक धर्म में उन्हें आत्मसात् करने के अभिलाषी वैदिक धर्मानुयायी विद्वानों ने निरजन स्तोत्र, शून्यपुराण आदि की रचना के द्वारा उन पर वैदिक धर्म की मुद्रा लगा दी।

निरजन और जैन मत

अक्षय निरजन की उपासना बौद्ध-धर्म से ही नहीं अपितु नवीं-दशवीं शताब्दीमें जैन धर्म से भी सबद्ध हो गई थी। जैन-साधक जोइंदु ने एक स्थान पर अक्षयनिरजन ज्ञानमय शिव के निवास स्थान का सकेत करते हुए लिखा है—

देउण देउले णवि सिलए
णवि लिप्पइ ण वि चित्ति ।

अक्खय णिरंजणु णाणमउ
सिउ संठिउ समचित्ति ॥

अर्थात् देवता न तो देवालय में है न शिला में, न लेप्यपदार्थों (चंदनादि) में है और न चित्र में। वह अक्षय निरंजन ज्ञानघनशिव तो समचित्त में स्थित है।

जैन-साधकों के सिद्धांत भी इस युग के प्रचलित बौद्ध, शैव, शाक्त, योगियों एवं तांत्रिकों के सिद्धांतों से प्रायः मिलते जुलते दिखाई पड़ते हैं। इस युग में चित्त शुद्धि पर अधिक बल दिया गया और बाह्याडंबर का विरोध खुल्लमखुल्ला किया गया। जैनियों ने भी समरसता की प्राप्ति के लिए शुद्ध आचार विचार के नियमों का पालन करना और उनके द्वारा पवित्र शरीर को साधना के योग्य बनाना अपना लक्ष्य रखा। इस प्रकार जैनमत योग, तंत्र, बौद्ध, निरंजन आदि मतों के (इस युग में) इतना समीप आ गया था कि यदि डा हजारीप्रसाद के कथनानुसार 'जैन विशेषण हटा दिया जाय तो वे (रचनाएँ) योगियों और तांत्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं प्रतीत होंगी। वे ही शब्द, वे ही भाव, और वे ही प्रयोग घूमफिर कर उस युग के सभी साधकों के अनुभवों में आया करते हैं।

भागवत धर्म ने इसमें आवश्यक परिवर्तन किया। उसमें अच्युत भाव वर्जित अमल निरंजन ज्ञान को अशोभनीय माना गया।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।

शिवशक्ति मिलन

शाक्त और शैव साधना के अनुसार समरसता की प्राप्ति तब तक संभव नहीं जब तक शिव और शक्ति का मिलन नहीं हो जाता। शक्ति तो शिव से भिन्न है ही नहीं। शक्ति और कुछ नहीं वह तो शिव की सिसृक्षा अथवा सृष्टि की इच्छा शक्ति है। यदि इच्छा को अभाव का प्रतीक स्वीकार किया जाय तो शक्ति रहित शिव का अर्थ हुआ विषमी भाव अथवा द्वंद्वात्मक स्थिति। अतः समरसता की स्थिति तभी संभव है जब शिव और शक्ति का एकीकरण हो जाए। शरीर में वह स्थिति जीवात्मा के साथ मन के एकमेक हो जाने में है।

शाक्तों का सिद्धांत है—

ब्रह्माण्डवर्ति यत्किंचित् तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।[१]

अर्थात् ब्रह्मांड में जो कुछ है वह सब इसी शरीर में विद्यमान है। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्मांड में व्याप्त शक्ति इस शरीर में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। शाक्तों का मत है कि शरीर-स्थित कुंडलिनी शक्ति का जब साधक को भान हो जाता है और वह उद्बुद्ध होकर सहस्रार-स्थित शिव से एकाकार कर लेता है तो साधक में समरसता आ जाती है। उसकी सारी इच्छाओं का तिरोभाव हो जाता है क्योंकि शिव में उसकी इच्छा शक्ति विलीन हो जाती है।

गत-स्पृहा की इस स्थिति का विवेचन करते हुए सिद्धसिद्धांत सार कहता है—

समरसकरणं वदाम्यथाहं परमपदाखिलपिण्डयोनिरिदानीम्।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति ॥[२]

अर्थात् इस पिंड योनि में योगनिष्ठा के अनुभव बल से जब साधक गत-स्पृहा हो जाता है तो उसको समरसता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। उस स्थिति में उसके मन का संकल्प-विकल्प, तर्क-वितर्क शांत हो जाता है और मन, बुद्धि और संवित् की क्रिया स्थगित हो जाती है।[३]

शाक्तों का मत है कि यह जीव ही शिव है। अतः मुक्त केवल विविध विकारों से आच्छादित हो जाने के कारण वह अपने को अशिव और बद्ध मानता है।[४]

तंत्र साधना

हम पूर्व कह आए हैं कि तंत्र के दो वर्ग हैं—आगम और निगम। सदाशिव ने देवी को जो उपदेश दिया है उसे आगम कहते हैं और देवी जो

१—सिद्धसिद्धान्त सार ३।२

२—,, ,, ७।५।१

३—यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति सत्ता संवित् पराकला।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम् ॥

४—शरीरकञ्चुकित शिवो जीव निष्कञ्चुक परम शिव।
(परशुराम कल्प १, ५)

कुछ सदाशिव या महेश्वर से कहती है वह निगम कहलाता है। तंत्र-शास्त्र में उपलब्ध षट्चक्रों का भेदन प्रश्नोपनिषद में भी पाया जाता है और तंत्र की कतिपय प्रक्रियाओं का उद्गम अथर्ववेद से माना जाता है। तंत्र का प्रमुख ओंकार वेदों में पाया जाता है।

उक्त धारणा को स्वीकार करते हुए भी तंत्र-साधना को महाभारत से बहुत प्राचीन नहीं माना जाता। इसका उद्भव चाहे जिस काल में हुआ हो पर इतना निश्चित है कि इसका बहुल प्रचार उस काल में हुआ, जब वैदिक आचार्यों की यज्ञ-क्रिया से उदासीन होकर वेदभक्त जनता या तो उपनिषदों की ज्ञान-चर्चा में शांति ढूँढ रही थी अथवा पौराणिकों की भक्ति साधना की ओर आकर्षित हो रही थी। उक्त दोनों साधना-पद्धतियों में वृहद् यज्ञ-क्रियाओं को निम्नस्थान दिया जा रहा था। तंत्र साधना ने ऐसे समय में उन सिद्धांतों का प्रचार किया जिनमें यज्ञ-हवन के साथ उपनिषदों का ब्रह्मवाद, पुराणों की भक्ति, पतंजलि ऋषि का योग, अथर्ववेद वेद का मंत्रबल विद्यमान था। तात्पर्य यह कि उस समय तांत्रिक साधना में योग और भक्ति, मंत्र और हवन, ज्ञान और कर्म के सामंजस्य के कारण जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग दिखाई पड़ा।

तंत्र-सिद्धांत की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक प्रकृति के अनुरूप इसमें सफलता के साधन विद्यमान हैं। इसमें मुक्ति के साथ भुक्ति की सफलता भी पाई जाती है। कुलार्णव तंत्र कहता है—

अत्र भुक्तिश्च मुक्तिश्च लभते नात्र संशयम्।
(कु० तं० ३, ९६)

अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की सिद्धि का पथ होने से तंत्र-साधना स्वभावतः संमान्य बनी। इसके प्रचार का एक और कारण था। जब शंकर के अद्वैत सिद्धांत को देश की अधिकांश जनता बुद्धि से अग्राह्य मान बैठी और जगत् को मिथ्या प्रपंच मानने से संताप न हुआ तो तंत्र-साधना ने एक मध्य मार्ग निकाला।

मथित्वा ज्ञानदण्डेन वेदागममहार्णवम्।
सारज्ञेन मया देवी कुलधर्मः समुद्धृता ॥
(कुलार्णव तंत्र २ १६ २ २१)

अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
मम तत्त्व न जानन्ति द्वैताद्वैत विवर्जितम् ॥
(कुलार्णव, १।११०)

अर्थात् अद्वैत और द्वैत दोनों से विवर्जित एक नए तत्त्व का अनुसधान तंत्र-साधना की विशेपता है। इस साधना-पद्धति में कुडलिनी[1] शक्ति को जाग्रत करके जीव के आच्छादक आवरण को अनावृत कर दिया जाता है। आवरण निवारण में गुरु-कृपा अनिवार्य है। आवरण हटते ही जीव शिव बन जाता है। एक प्रकार से देखा जाय तो उपनिपदों का ब्रह्म ही शिव है।

जीव और शिव के अस्तित्व को तान्त्रिकों ने बडे सरलशब्दों में स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव ही शिव है, शिव ही जीव है। वह जीव केवल शिव है। जीव जब तक कर्म बधन में है तब तक जीव है और जब वह कर्ममुक्त हो जाता है तो सदाशिव बन जाता है।[2]

तत्र-साधना में शिव बनने के लिए वैदिक हवन क्रियाओं, भक्ति-सबधी प्रार्थनाओ, और योग प्रक्रियाओं (प्राणायाम आदि) की सहायता अपेक्षित है। उपनिषद् के एकात चिंतन से ही तान्त्रिक साधना सिद्ध नहीं होती। इसकी एक विशेपता यह है कि उपर्युक्त साधना-पद्धतियों में प्रत्येक का सार भाग ग्रहण कर उसे सरल बना दिया गया है और इस प्रकार एक ऐसा पचामृत बनाने का प्रयास किया गया है जो अधिकाश जनता की रुचि को सतुष्ट करता हुआ भुक्ति और मुक्ति दोनों का दाता हो। इस मार्ग को लघुतम मार्ग कहा गया है। प्रमाण के लिए देखिए—

The Tantric method is really a short cut and an abbreviation It seeks to penetrate into the inner meaning of the rituals prescribed by the Vedas and only retains them in the smallest degree

---

१—सुप्ता गुरु प्रमादेन यदा जागर्ति कुण्डली
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।

२—(क) जीव शिव शिवो जीव स जीव केवल शिव ।
(ख) कर्मबद्ध स्मृतो जीव कर्ममुक्त सदा शिव ।
कुलार्णव ९, ४२-४३

in order that they may serve symbols helping to remind one of the secret mysteries embodied in them,[1]

तंत्र साधना में वैदिक हवन का बड़ा महत्व है, पर हवन का रहस्यात्मक अर्थ संपूर्ण समर्पण ग्रहण किया जाता है। बाह्य प्रक्रिया को प्रतीक मानकर आंतरिक अर्थ का स्पष्ट करने का उद्देश्य होता है।

पुराण की देव उपासना पद्धति का इसमें समावेश है। देवपूजा, मंत्र जाप, कवच का महत्व पौराणिक धर्म एवं तंत्र-साधना दोनों में पाया जाता है। मंत्र-जाप की महत्ता लिखते हुए पिंगला[2] तंत्र कहता है—

मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात्।
यतः करोति संसिद्धं मंत्र इत्युच्यते ततः॥

अर्थात् जो मनन के द्वारा संसार-बंधन से रक्षा करके सिद्धि प्रदान करे वह मंत्र कहलाता है।

मंत्र केवल शब्द या अभिव्यक्ति का साधन ही नहीं है। यह मंत्रद्रष्टा ऋषि की उस शक्ति से समन्वित है जो ऋषिवर ने ब्रह्मसाक्षात्कार के क्षणों में ज्ञानप्रकाश द्वारा प्राप्त किया। मंत्रजाप और चिंतन द्वारा जब साधक विचार के उस स्तर पर पहुँच जाता है जिसमें पूर्वऋषियों ने उसे (मंत्र को) पाया था तो साधक उसी प्रकाश का अनुभव करता है जिसे मंत्रद्रष्टा ऋषि ने देखा था।

मंत्र-जाप का प्रभाव तंत्र-पद्धति के शाक्त, शैव वैष्णव सभी मतों में पाया जाता है। सब में शब्दब्रह्म और परब्रह्म को एक और अनश्वर स्वीकार किया गया है।

सिद्धों की युगनद्ध उपासना

वैष्णवों की माधुर्य उपासना के प्रचार से पूर्व पूर्वी भारत में विशेषरूप से सिद्धों की युगनद्ध उपासना प्रचलित थी। महायान संप्रदाय में प्राप्त बुद्ध के

१—N lini Kant Brahma Philosophy of Hindu Sadhana Page 278

२—शारदा तिलक में उद्धृत पिंगला तंत्र है—

दिव्य स्वरूप की कल्पना का चरम विकास सिद्धों के युगनद्ध रूप में दिखाई पड़ता है। बुद्ध की तीन कायाओं—निर्माण काय (धातुनिर्मित) संभोग-काय (कामधातु निर्मित) धर्मकाय (धर्मधातु निर्मित) का अंतिम विकास सहजकाया (महासुख काया) के रूप में माना गया। इस रूप में बुद्ध मलावरण आदि दोषों से मुक्त अत. नितांत शुद्ध माने जाते हैं। सिद्धों ने साधक को इस महासुख की अनुभूति कराने के लिए विभिन्न रूपकों का आधार लिया है। ये विविध रूपक प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होते हैं।

सिद्ध-साधना में प्रज्ञा का भग प्रतीक है और उपाय का लिंग प्रतीक है।

प्रज्ञोपाय

भगवान वज्रधर हैं और भगवती नैरात्मा। 'ये सब युगनद्ध रूप में हैं। इनका स्वरूप मिथुन-परक है। महाप्रज्ञा और महाउपाय के युगनद्ध का प्रतिपादन करने से इसका नाम महायान पड़ा।'

'प्रज्ञा तथा उपाय को पुरुष और नारी के रूप में परिकल्पित करने की प्रवृत्ति उसी तांत्रिक प्रवृत्ति का बौद्ध रूप था जो तत्कालीन प्रत्येक सम्प्रदाय में परमतत्व और उसकी परम शक्तियों की युग्म कल्पना के रूप में प्रकट हो रही थी।'[1]

कुछ लोगों के मत से उक्त साधना-पद्धति का संबंध अथर्ववेद से जोड़ा जा सकता है। अथर्ववेद में पर्जन्य को पिता और पृथ्वी को माता के रूप में विभिन्न स्थानों पर प्रतिपादित किया गया है। इस आधार पर मिथुन-परक-साधना का मूलस्रोत अथर्ववेद माना जाता है।

वैदिक और अवैदिक परंपराओं का मिलन

यद्यपि वैदिक और अवैदिक परंपराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित होती गईं, पर एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना न रह सकीं। हम आगामी पृष्ठों में देखेंगे कि किस प्रकार श्रीमद्भागवत् ने भगवान् बुद्ध और ऋषभदेव को अवतारों में परिगणित कर लिया। बौद्ध और जैन दोनों धर्मों की विशेषताओं को आत्मसात् करता हुआ वैष्णव धर्म सारे देश में व्याप्त होने लगा। यहाँ

१—डा० धर्मवीर भारती, सिद्धसाहित्य पृ० १८२

हम भगवान् बुद्ध के त्रिकाय सिद्धांत और कृष्ण के तीन स्वरूप का विवेचन करके उक्त मत को प्रमाणित करने का प्रयास करेंगे।

वैष्णव धर्म में भगवान् के मुख्य तीन स्वरूप माने जाते हैं—(१) स्वयं रूप (२) तदेकात्मरूप (३) आवेश रूप। भगवान् का शरीर प्राकृतिक न होकर चिन्मय है, अतः आनंदमय है। उनके शरीर और आत्मा में अन्य व्यक्तियों के समान भेद भाव नहीं। श्रीमद्भागवत् में इस रूप का विवेचन करते हुए कहा गया है गोपियाँ भगवान् के जिस लावण्य-निकेतन-रूप का प्रतिदिन दर्शन किया करती हैं वह रूप—अनन्य[१] सिद्ध (स्वयमुद्भूत रूप) है। यह केवल लावण्यसार ही नहीं, यश, श्री तथा ऐश्वर्य का भी एकमात्र आश्रय है। उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ रूप की कल्पना नितांत असंभव है। योगशास्त्र में इस रूप को निर्माण-काय कहा गया है। भगवान् ने इसी एक शरीर से द्वारका में १६ सहस्र रानियों से एकसाथ विवाह किया था। यह रूप परिच्छिन्नवत् प्रतीत होते हुए भी सर्वव्यापक है। स्वयंरूप में चार गुण ऐसे हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते। वे हैं—(१) समस्त लोक को चमत्कृत करनेवाली लीला (२) अतुलित प्रेम (३) वंशी निनाद (४) रूप माधुरी।

महायान का त्रिकाय सिद्धांत और कृष्ण के स्वरूप

(२) *भगवान् का दूसरा रूप तदेकात्म रूप है।* इस रूप में स्वयं रूप से चरित्र के कारण भेद पाया जाता है। इसके भी दो भेद हैं—विलास और स्वांश। विलास में भगवान् की शक्ति स्वांश से कम होती है। विलास रूप नारायण में ४ गुण और स्वांशभूत ब्रह्म शिव आदि में और भी कम।

भगवान् का तीसरा रूप आवेश कहलाता है। वैकुंठ में नारद शेष, सनत्कुमार आदि आवेश रूप माने जाते हैं।

निर्विवाद रूप से मान्य प्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति (बुद्ध) को अवतार मानकर उसके तीन रूपों का वर्णन महायान संप्रदाय में पाया जाता है। भगवान् बुद्ध के त्रिकाय—रूपकाय और धर्मकाय—की अभिव्यक्ति अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता में हो चुकी थी किंतु त्रिकाय का सिद्धांत महायान में सिद्ध हुआ। रूपकाय और धर्मकाय के साथ संभोग काय को और भी संमिलित कर लिया गया।

---

१ श्रीमद्भागवत ३। २।१४

रूपकाय भगवान् का भौतिक शरीर, धर्मकाय भौतिक के साथ मिश्रित धर्म अर्थात् आध्यात्मिक शरीर है। सभोगकाय तथागत का आनदमय शरीर है। 'इस प्रकार इस काय के द्वारा बुद्ध को प्रायः देवताओं का सा स्वर्गीय शरीर दे दिया गया है। संभोगकाय सबंधी सिद्धात के निर्माण में योगाचारी महायानी आचार्यों का विशेष हाथ था। उन्होंने इसे श्रौत-परपरा के ईश्वर की समानता पर विकसित किया है। निर्गुण निर्विकार तत्त्व धर्मकाय और नाम रूपमय ईश्वर सभोग काय है,"[1]

भगवान् बुद्ध ने अपने धर्मकाय को स्पष्ट करते हुए वक्कलि से कहा था—'वक्कलि ! मेरी इस गदी काया के देखने से तुझे क्या लाभ। वक्कलि, जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है।'[2]

इससे यह प्रमाणित होता है कि कृष्ण के सभोग शरीर की कल्पना महायान सप्रदाय से पूर्व हो चुकी थी जिसके अनुकरण पर महायान संप्रदाय ने बुद्ध के तृतीय शरीर का निर्माण किया। श्रौत धर्म की बौद्ध धर्म पर यह छाप प्रेमाभक्ति के प्रचार में सहायक सिद्ध हुई होगी। बौद्ध धर्म में मारविजय के चित्र एव साहित्य पर कृष्ण के काम विजय का प्रभाव इस रूप में दिखलाया जा सकता है।

मध्ययुग में आगम प्रभाव

हमारे देश में बारहवीं तेरहवीं शताब्दी के उपरात एक ऐसी साधना-पद्धति की प्रबल धारा दिखाई पड़ती है जो पूर्ववर्त्ती सभी धार्मिक आदोलनों की धारा को समेट कर शताब्दियों तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती चली जा रही है। इस नए आदोलन की गति-विधि से चमत्कृत होकर डा० ग्रियर्सन लिखते हैं—"कोई भी मनुष्य जिसे पद्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किए बिना नहीं रह सकता जो पुरानी और नई धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आदोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आदोलनों से कहीं अधिक विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि वह

---

१ डा० भरत सिंह उपाध्याय, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५८४

२ अल वक्कलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति, सो म पस्सति। यो म पस्सति सो धम्म पस्सति (सयुक्त निकाय)

बौद्ध धर्म के आंदोलन से भी अधिक विशाल है। क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेग का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और *ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति* के नहीं बल्कि जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नर्ड आफ क्लेयर वाक्स, थामस ए केम्पिस और सेंट थेरिसा से है।"

निश्चय ही डा० ग्रियर्सन का संकेत उस भक्ति-साधना-पद्धति से है जिस का प्रभाव उत्तर और दक्षिण भारत की प्रायः सभी लोक-भाषाओं के ऊपर दिखाई पड़ता है।

प्रत्येक प्रमुख भारतीय भाषा में भी मद्भागवत् का अनुवाद[1] और उन के आधार पर भक्ति-परक पद रचना का प्राधान्य इस काल की विशेषता है। इस काल में दशावतारों की महत्ता और विशेषतः कृष्ण की लीलाओं का वर्णन प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। श्री मद्भागवत् के नवनीत रूप रास पंचा-ध्यायी ने भारतीय साधना-पद्धति को एक नई दिशा में मोड़ दिया जिसे माधुर्योपासना कहा जाता है और जिसके अंतर्गत द्वैत एवं अद्वैत सभी प्रचलित उपासना पद्धतियों को आत्मसात् करने की क्षमता दिखाई पड़ती है। उसके पूर्व प्रचलित साधना-पद्धतियों का संक्षेप में उल्लेख कर देने से रास के जीवन-दर्शन का माहात्म्य स्पष्ट हो जायगा।

शंकराचार्य का आविर्भाव हमारे देश की चिंतनप्रणाली में क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। अद्वैत सिद्धांत की प्रचण्ड धारा इस आचार्य के तपोबल से प्रस्फुटित हो उठी और उसके प्रवाह से उस काल के सब आगम, बौद्ध, जैन आदि सिद्धांत दो किनारों पर विभक्त हो गए। एक तो वेदविहित अतः ग्राह्य माने गये दूसरे वेदबाह्य अतः अग्राह्य समझे गये। 'सिद्धांत चंद्रोदय' में ६ नास्तिक संप्रदायों की गणना की है—(१) चार्वाक (२) माध्यमिक (३) योगाचार (४) सौत्रांतिक (५) वैभाषिक (६) दिगंबर।

वेदविहित संप्रदायों में शैव, शाक्त पाशुपत, गाणपत्य और आदि प्रमुख हैं।

१—तेलगू महाकवि पोताना (१४ -१४७५) (तेलगू भागवत श्रीमद्भागवत का तेलगू अनुवाद। कन्नड चाटु विट्ठलनाथ (१५३ ई) भागवत का कन्नड अनुवाद। मलयालम तुंचन कवि (१६वीं शताब्दी) भागवत का मलयालम अनुवाद।

इन धर्मों और साम्प्रदायों के मूल आधार ग्रंथ हैं—पुराण, आगम, तंत्र और संहिताएँ। पुराणों के आधार पर पंचदेव (विष्णु, शिव, दुर्गा, गणपति और सूर्य) की उपासना प्रचलित थी। कहीं अठारह पुराणों में केवल दो वैष्णव दो शाक्त, चार ब्राह्म और दस शैव पुराणों का उल्लेख मिलता है। और कहीं चार वैष्णव पुराण (विष्णु, भागवत, नारदीय और गरुड़) का नामोल्लेख है। शैव पुराणों में शिव, भविष्य, मार्कंडेय, लिंग, वाराह, स्कंद, मत्स्य, कूर्म, वामन, और ब्रह्माण्ड प्रसिद्ध हैं। ये तो पुराण हुए। अब आगमों पर विचार कर लेना चाहिए।

उस शास्त्र का नाम आगम है जो भोग और मोक्ष दोनों के उपाय बताए। आगमों के तीन वर्ग हैं—(१) वैष्णव (२) शैव (३) शाक्त।

तंत्र आगम

तंत्र का अर्थ शैव सिद्धांत के अनुसार है—साधकों का त्राणकर्ता। श्री मद्भागवत् में पांचरात्र अथवा सात्वत संहिताएँ सात्वत तंत्र के नाम से अभिहित हैं। शैवों के कई संप्रदाय हैं—माहेश्वर, नकुल, भैरव, काश्मीर शैव इत्यादि। इसी प्रकार शाक्तों के चार संप्रदाय हैं—केरल, कश्मीर, विलास और गौड़।

यद्यपि शाक्त सारे देश में फैले हुए थे किंतु बंगाल और आसाम इनके मुख्य केंद्र थे। किसी समय शाक्तों का प्रधान स्थान काश्मीर था किंतु वहाँ से हट कर बंगाल और आसाम में इनका प्रभुत्व फैल गया।

यद्यपि आगम अनेक हैं जिनके आधार पर विविध संप्रदाय उत्तर एवं दक्षिण भारत में फैल गए पर उन सब में कुछ ऐसी समानताएँ हैं जिनको केंद्र बनाकर मध्यकाल में वैष्णव धर्म सारे देश में व्यापक बन गया। सर जान उडरफ के अनुसार सबसे बड़ी विशेषता इन आगमों में यह थी कि "वे अपने उपास्य देव को परम तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। ईश्वर की इच्छा-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति में विश्वास करते हैं, जगत् को परमतत्त्व का परिणाम मानते हैं, भगवान् की क्रमिक उद्भूति (व्यूह[१] आभास) आदि का समर्थन करते हैं, शुद्ध और शुद्धेतर पर आस्था रखते हैं, माया के कोश-कंचुक की कल्पना करते हैं, प्रकृति से परे परमतत्व को समझते हैं, आगे चलकर सृष्टिक्रम में प्रकृति को स्वीकार करते हैं, सांख्य के सत्व रज और तम गुणों को मानते

१—चतुर्व्यूह-वासुदेव से संकर्षण (जीव) संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (=अहंकार) की उत्पत्ति चतुर्व्यूह कहलाती है।

हैं भक्ति पर ज़ोर देते हैं उपासना में सभी वर्णों और पुरुष तथा स्त्री दोनों का अधिकार मानते हैं, मंत्र, बीज, यंत्र, मुद्रा, न्यास, भूत सिद्धि और कुंडलिनी योग की साधना करते हैं; चर्या (धर्मचर्या) क्रिया (मंदिर निर्माण आदि) का विधान करते[1] हैं।"

पांचरात्रों में लक्ष्मी, शक्ति, व्यूह और संकोच वही हैं जो शाक्तों की भाषा में त्रिपुर सुंदरी, महाकाली, तत्व और कंचुक हैं।[2]

भागवत धर्म

भागवत धर्म पांचरात्र संहिताओं पर आश्रित है। संहिताओं की संख्या १०८ से २१ तक बताई जाती है। इनमें कतिपय संहिताएँ उत्तर भारत में विरचित हुईं और कुछ का निर्माण दक्षिण भारत में। फकुहर ने विविध प्रमाणों के आधार पर अनुमान लगाया है कि प्रायः सभी संहिताओं की रचना आठवीं शताब्दी तक हो चुकी थी। इन संहिताओं में ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या का विवेचन मिलता है।

यद्यपि इन चारों विषयों का प्रतिपादन संहिताओं का लक्ष्य रहा है पर ज्ञान और योग की अपेक्षा क्रिया और चर्या पर ही अधिक बल दिया गया है। उदाहरण के लिए पाद्मतंत्र नामक संहिता में योग के विषय में ११ और ज्ञान के विषय में ४५ पृष्ठ मिलते हैं किंतु क्रिया के लिए २१५ और चर्या के लिए १७८ पृष्ठ व्यय किए गए हैं। देवालय का निर्माण, मूर्ति स्थापन क्रिया कहलाती है और मूर्तियों की पूजा-अर्चा, पर्व-विशेष के उत्सव चर्या के अंतर्गत माने जाते हैं।

वैष्णव धर्म का प्रचार

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि हर्ष और उसके सेनापति भंडि की मृत्यु के उपरांत उत्तर भारत में कान्य-कुब्ज के मौखरी राजाओं की शक्ति क्षीण हो गई। पूर्व बंगाल में पालवंश राज्य करता था और उत्तर पश्चिम भारत में प्रतिहार वंशी क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। सन् ८१५ ई० में कान्यकुब्ज पर प्रतिहार राज नागभट्ट ने आक्रमण किया और वह विजयी होकर वहीं राज्य करने लगा। दक्षिण भारत में चालुक्य राजा

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना पृ० ४

२—सर जान वुडरफ कृत "शक्ति एंड शाक्त" पृ० २४

राज्य करते थे। इन तीनों प्रबल शक्तियों ने एक प्रकार से बौद्ध और जैन धर्मों को निर्बल कर दिया और शैवधर्म का सर्वत्र प्रचार होने लगा।

सन् १०१८ ई० में एक राजनैतिक क्राति हुई। महमूद गजनवी ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया और प्रतिहारों की पराजय हुई। राज्य में अतर्विद्रोह और बाह्य आक्रमण के कारण फैली हुई दुर्व्यवस्था देखकर अनेक विद्वान् ब्राह्मण दक्षिण भारत चले गए। राष्ट्रकूटों ने जब-जब उत्तर भारत पर आक्रमण किया था तब तब दक्षिण भारत से अनेक विद्वान् ब्राह्मण उनके साथ उत्तर भारत आए थे। इस प्रकार विद्वानो के आवागमन से उत्तर और दक्षिण भारत की भक्ति-साधन-परपरा एक दूसरे के समीप आती गई, और मध्यदेश की सस्कृति का प्रचार दक्षिण भारत में योग्य विद्वानों के पाडित्य द्वारा बढता गया।

बगाल के राजा बल्लाल सेन ने १२वीं शताब्दी में कान्यकुब्ज के विद्वान् ब्राह्मणों को अपने देश में बसाया और गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओं ने भी अपने राज्य मे मध्यदेश के योग्य विद्वानों को आमत्रित किया। उत्तर भारत को सर्वथा अरक्षित समझ कर उत्तर भारत के विद्वान् दक्षिण और पूर्व भारत में शरण लेने चले गए। इसका एक शुभ परिणाम यह हुआ कि मुसल्मानी राज्य में—भारत का यातायात सकटापन्न होने पर भी—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम भारत में मध्यदेश की सस्कृति, रामकृष्ण की जन्मभूमि के माहात्म्य के सहारे फैलती गई जो कालातर में भारतीय एकता में बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

तमिल देश में आजकल पाचरात्र सहिता का प्रचार है। कहा जाता है कि रामानुजाचार्य से पूर्व वैखानस सहिताओं का ही प्राधान्य था। तिरुपति के वेंकटेश्वर तथा काजीवरम् के मदिरों में अद्यापि वैखानस संहिता के अनुसार मदिर में पूजा अर्चा होती है। अप्पय दीक्षित तो पाचरात्र सहिता को अवैदिक और वैखानस को वैदिक उद्घोपित करते रहे। वैखानस सहिता के अनुसार शिव और विष्णु दोनों देवताओं का समान आदर होता था किंतु रामानुजाचार्य ने उसके स्थान पर विष्णु पूजा को प्रधानता देकर वैष्णव धर्म का दक्षिण में माहात्म्य बढाया।

दक्षिण भारत में पाचरात्र वैखानस सहिता

है भक्ति पर ज़ोर देते हैं उपासना में सभी वर्णों और पुरुष तथा स्त्री दोनों का अधिकार मानते हैं मंत्र, बीज, मंत्र, मुद्रा, न्यास, मूल सिद्धि और कुंडलिनी योग की साधना करते हैं चर्या (धर्मचर्या) क्रिया (मंदिर निर्माण आदि) का विधान करते[1] हैं।"

पांचरात्रों में लक्ष्मी, शक्ति, व्यूह और संकाच वही हैं जो शाक्तों की भाषा में त्रिपुर सुंदरी, महाकाली, तत्व और कंचुक हैं।[2]

भागवत धर्म

भागवत धर्म पांचरात्र संहिताओं पर आश्रित है। संहिताओं की संख्या २०८ से २१ तक बताई जाती है। इनमें कतिपय संहिताएँ उत्तर भारत में विरचित हुई और कुछ का निर्माण दक्षिण भारत में। फर्कुहर ने विविध प्रमाणों के आधार पर अनुमान लगाया है कि प्रायः सभी संहिताओं की रचना आठवीं शताब्दी तक हो चुकी थी। इन संहिताओं में ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या का विवेचन मिलता है।

यद्यपि इन चारों विषयों का प्रतिपादन संहिताओं का लक्ष्य रहा है पर ज्ञान और योग की अपेक्षा क्रिया और चर्या पर ही अधिक बल दिया गया है। उदाहरण के लिए 'पाद्मतंत्र' नामक संहिता में योग के विषय में ११ और ज्ञान के विषय में ४५ पृष्ठ मिलते हैं किंतु क्रिया के लिए २१५ और चर्या के लिए १७८ पृष्ठ खर्च किए गए हैं। देवालय का निर्माण, मूर्ति स्थापन क्रिया कहलाती है और मूर्तियों की पूजा-अर्चा, पर्व-विशेष के उत्सव चर्या के अंतर्गत माने जाते हैं।

वैष्णव धर्म का प्रचार

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि हर्ष और उसके सेनापति भंडि की मृत्यु के उपरांत उत्तर भारत में कान्य-कुब्ज के मौखरी राजाओं की शक्ति क्षीण हो गई। पूर्व बंगाल में पालवंश राज्य करता था और उत्तर पश्चिम भारत में प्रतिहार वंशी क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। सन् ८१५ ई० में कान्यकुब्ज पर प्रतिहार राज नागभट्ट ने आक्रमण किया और वह विजयी होकर वहीं राज्य करने लगा। दक्षिण भारत में चालुक्य राजा

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना पृ० १

२—सर जान वुडरफ कृत "शक्ति एंड शाक्त" पृ० २४

माधुर्य उपासना में उड़ीसा और चीन का योग

उत्तर भारत में माधुर्य उपासना-पद्धति के प्रचार-केंद्र मथुरा-वृंदावन एवं जगन्नाथपुरी तीर्थ माने जाते हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर पुरी का मंदिर वृंदावन की अपेक्षा प्राचीनतर माना जाता है। मथुरा-वृंदावन के वर्तमान मंदिर पुरी के मंदिरों की अपेक्षा नए प्रतीत होते हैं। मध्यदेश में स्थित होने के कारण मथुरा-वृंदावन पर निरंतर विदेशियों के आक्रमण होते रहे। अतः बारबार इनका विध्वंस होता रहा। इसके विपरीत पुरी तीर्थ हिंदुओं के हाथ में प्रायः बना रहा[1]। अल्पकाल के लिये ही मुसलमानों का अधिकार हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम में हिंदू मंदिरों के ध्वंस होने पर हिंदू राजाओं के अधिकार में स्थित पूर्वी तीर्थों का विस्तार स्वाभाविक रूप से होने लगा। प्रमाण के लिये मूलस्थान (मुल्तान) के सूर्य मंदिर के विध्वस्त होने पर कोणार्क में रथ पर सूर्य-मंदिर का निर्माण हुआ। पर उसमें एक विशेषता यह आई कि पूर्व के तान्त्रिकों और शाक्तों के प्रभाव के कारण सूर्य की विभिन्न निर्माण शक्ति को विभिन्न आसनों के द्वारा दिखाया गया। इस प्रकार मूर्तिकला के माध्यम से युगनद्ध उपासना की जनरुचि को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया।

वैष्णवधर्म विशेषतः रागानुगा भक्ति में आर्य अनार्य, उच्चावच, धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख का भेदभाव सर्वथा विलुप्त रहता है। खानपान में वैष्णवजन अन्यत्र भेदभाव भले ही रखते हों पर जगन्नाथपुरी में इसका सर्वथा तिरोधान पाया जाता है। यह नवीनता कब और कैसे आई, इसका निश्चय कठिन है। पर उड़ीसा में एक कथा इस प्रकार प्रचलित है—

1—Tughral Tughan Khan was no doubt out-generalled by the king of Orissa who had drawn the enemy far away from their frontier A greater disaster had not till then befallen the Muslims in any part of Hindustan "The Muslims", Says Minhaj "sustained an overthrow, and a great number of those holy warriors attained martyrdom"

—Y N Sarcar, The History of Bengal Part II Page 49.

उक्त घटना सन् १२४३ ई० की है। उस समय तक प्राय संपूर्ण उत्तर भारत पर मुसलमानों की विजयपताका फहरा रही थी।

कतिपय विद्वान् शाक्त मार्ग को शैव धर्म की ही एक शाखा मानते हैं, किंतु किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में इसे केवल अनुमान ही कहा जा सकता है। दसवीं शताब्दी में शाक्तमत और शैवमत में विभेद स्पष्ट दिखाई पड़ता है। गुप्त कालीन लिपि में विरचित 'कुब्जिका मत-तंत्र', संवत् ९ १ में निर्मित 'परमेश्वर मत तंत्र' तथा 'महाकुलागना विनिश्चय तंत्र' तथा सायणाचार्य की रचनाओं से शाक्तमत की स्पष्ट अलग सत्ता प्रमाणित होती है। यद्यपि यह सत्य है कि शैव तंत्र के आठवें अध्याय के आधार पर शक्ति और नारायण को एक ही माना जा सकता है और आदि नारायण ही निर्गुण ब्रह्म एवं शिव हैं तथापि शैव और शाक्त मत में एक अंतर यह है कि शाक्त तंत्रों में आद्या ललिता महाशक्ति को ही राम और कृष्ण के विग्रह के रूप में स्वीकार किया गया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा है कि राम और शिव में भेद भाव रखना मूर्खता है। किंतु इन दोनों धर्मों में एक समानता ऐसी है जो एक को दूसरे के समीप ला देती है—वह है अद्वैत की प्रधानता। दोनों जीवात्मा और ब्रह्म की एकता स्वीकार करते हैं।[1]

पूर्वी भारत में शाक्त और शैव

कालांतर में शैव सिद्धांत से नाथ, कापालिक[2], रसेश्वर आदि संप्रदाय निकले जिनका प्रभाव उत्तर और दक्षिण भारत पर सर्वत्र दिखाई पड़ता है। एक ओर तो नाथ संप्रदाय का बोलबाला था दूसरी ओर पाशुपत,[3] पांचरात्र, भैरव, एवं जैन और बौद्धमत चल रहे थे। श्री पर्वत बौद्ध धर्म के अंतिम रूप वज्रयान शैव-शाक्त एवं तांत्रिक साधनाओं का पीठ माना जा रहा था।

१—शिव देव है और उपास्य है उसकी शक्ति। शक्ति का दूसरा नाम कुंडलिनी है। शक्ति रहित शिव शव सदृश है— शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।

२— मालती माधव' नाटक के आधार पर कापालिक साधना को शैव मत साधना कह सकते हैं।

३—जीव नाम पशु है और शिव पशुपति। पशुपति ही समस्त कार्यों के कारण हैं। दुःखों से आत्यंतिक निवृत्ति और पारमेश्वर्य प्राप्ति—इन दो बातों पर इनका विश्वास था।

[मध्यकालीन धर्म साधना पृ ४५]

between the two, along with the lofty spiritualities of the great Indian Reformers, have here found refuge.

\+ + + +

The disciple of every Indian sect can find his beloved rites, and some form of his chosen deity, within the sacred precincts.

\+ + + +

The very origin of Jagannath proclaims him not less the god of the Brahmans than of low caste-aboriginal races.

अर्थात् 'जगन्नाथ जी की पूजा का लक्ष्य भारत की सभी विश्वास परपराओं और पूजा-पद्धतियो को समेट लेने का रहा है। इस मदिर में ऊँचनीच का भेद भाव नहीं। आदिवासियों की हिंसामय पूजा तथा वैदिको की पुष्पपूजा का समिलन यहाँ दिखाई पड़ता है। भारत के प्रमुख सुधारवादी महात्माओं की आध्यात्मिकता का यहाँ समय समय पर अन्य उपासना पद्धतियों से सामजस्य होता रहा है।

\+ + +

सभी मतमतातरों के माननेवाले यहाँ अपने सिद्धात के अनुसार साधना करने के अधिकारी हैं।

\+ + +

जगन्नाथ मदिर का उद्भव ही इस तथ्य का प्रमाण है कि वे ब्राह्मण, शूद्र एव आदिवासी सभी के देवता हैं।'

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस मदिर के समुख राधा-कृष्ण-प्रेम का कीर्तन करते हुए चैतन्य महाप्रभु प्रेमविभोर हो उठते थे और जहाँ से माधुर्यभक्ति की धारा कीर्तनो एव यात्रा-नाटकों के अभिनयों द्वारा उत्तर भारत में प्रचलित हुई वही हिंदूधर्म का केंद्र बन सका। जगन्नाथ-पुरी के मदिरों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि वैष्णव धर्म की मध्ययुगीन धर्मसाधना में तात्रिक, शैव, शाक्त आदि सभी सिद्धातो

मालवा महाराज इंद्रद्युम्न ने अपने राज्य के उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम में विष्णुदेव के अनुसंधान के लिए ब्राह्मणों को भेजा। अन्य दिशाओं से ब्राह्मण लौट आए किंतु पूर्व दिशा का ब्राह्मण उत्कल में वसु नामक अनार्य शबर की कन्या से विवाह करके जगन्नाथदेव के दर्शन में तल्लीन हो गया। जीवन की कुमसताओं से क्षुब्धहृदय जगन्नाथ की करुणामयी शक्ति का परिचय एक कौवे की मुक्ति के रूप में पाकर भक्ति-भावना से उमड़ उठा। उसके श्वसुर जगन्नाथ के बड़े पुजारी थे और जंगल से फल-फूल लाकर नील मणि की प्रस्तर प्रतिमा को अपर्ण किया करते थे। एक दिन ब्राह्मण की भक्तिभावना से प्रसन्न होकर जगन्नाथदेव ने स्वप्न में आदेश दिया कि मालवराज से कहकर समुद्र तक मेरे मंदिर का निर्माण कराओ और वन्य फल फूलों से अब मैं ऊब गया हूँ मेरे पूजन में ५६ प्रकार के भोजन की व्यवस्था कराओ। मेरे मंदिर में जाति भेद का सर्वथा लोप होगा और बौद्ध, तांत्रिक शैव आदि सभी पद्धतियों के समन्वय में वैष्णव धर्म की उपासना होगी। मालवराज ने जगन्नाथ के आदेशानुसार जगन्नाथ-मंदिर का निर्माण किया।

नीलाद्रि महोदय ने उस काल की नवीन पूजा पद्धति का बयान करते हुए लिखा है—

> न मे भक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
> तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथाह्यहम्॥

जगन्नाथ के मंदिर में ब्राह्मण से शूद्र तक आर्य-अनार्य सभी को प्रवेश का अधिकार मिला। आदिवासी जातियों की बलिदान की पद्धति और आर्यों की अहिंसामय पूजा पद्धति दोनों का इसमें समावेश हुआ। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता हंटर ने उस नवीन उपासनापद्धति का स्पष्ट करते हुए लिखा है—

The worship of Jagannath aims at a Catholicism which embraces every form of Indian belief and every Indian conception of the Deity Nothing is too high and nothing is too low to find admission into his temple The fetishism and bloody rites of the aboriginal races the mild flower worship of the Vedas and every compromise

रासक का जीवन दर्शन

वैष्णव एव जैन दोनों प्रकार के रासकों में विश्वविजय की कामना से प्रेरित कामदेव किसी योगी महात्मा पर अभियान की तैयारी करता दिखाई पड़ता है। सृष्टि की सबसे अधिक रूपवती रमणियों को ही इस सेना मे सैनिक बनने का सौभाग्य मिलता है। वे रमणियाँ काम की आयुधशाला से अस्त्र-शस्त्र लेकर स्वत. मन्मथदेव से युद्धकला सीखती हैं। कामदेव इन्हीं की सेना बनाकर कामविजिगीषु तपस्वियों पर आक्रमण करने चलता है। विश्वविजयिनी यह वीरवाहिनी अनेक बार समरांगणों में विजयध्वजा फहराती हुई अपने रणकौशल का परिचय दे चुकी है। वसुधामण्डल में कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ इन्होने अपना राज्य स्थापित न कर लिया हो। इनकी अमोघशक्ति से ऋषि-मुनि तो क्या ब्रह्मा तक काँप उठे थे। शिव को अपने दुर्ग से बाहर आकर इनसे युद्ध करने का साहस न हुआ था, अत. उन्होंने अपने बाह्य नेत्रों को बन्द कर लिया और समाधिस्थ होकर काम के कुसुमशरों को तृतीय नेत्र की ज्वाला में भस्म करने लगे। उन बाणों की शक्ति से वे इतने आतंकित थे कि उनमें से एक का भी शरीरस्पर्श उन्हे असह्य प्रतीत हो रहा था। अत. उन्होंने शरीर-दुर्ग का द्वार बंद कर लिया और व्यूह के अंदर बैठकर प्रहारों का निराकरण करने लगे।

ठीक यही दशा श्री महावीर स्वामी की थी। उन्होंने भी काम के अभियान से भयभीत होकर समाधि लगाई। काम की सेना ने भरपूर शक्ति संकलित कर उन पर आक्रमण किया पर अपने दुर्ग के अंदर सुरक्षित महावीर स्वामी कामशक्ति से विचलित नहीं हुए। दुर्ग के बाहर सेना संगठित कर काम प्राचीर से बाहर उनके निकलने की प्रतीक्षा करता रहा पर उन्होंने ऐसी दीर्घ समाधि लगाई कि कामदेव अधीर हो उठा और अंत में हार मानकर उसे घेरा हटाना पड़ा। उसके पराजित होते ही देवताओं में उल्लास उमड़ उठा। अब भगवान् की अभ्यर्चना के लिए देव-अप्सराओं में आगे बढ़ने के लिए होड़ लग गई। किसी ने पुष्पमाला गूँथी, कोई चामर ढारने लगी। भगवान् के महिमस्तवन का आयोजन होने लगा। इस आयोजन में जिन्हें भाग लेने का अवसर मिला वे धन्य हो गए। नृत्य संगीत की लहरियों पर भक्तों का मन नाच उठा। भगवान् के काम-विजय की रसमय लीला का गान होने लगा और इस प्रकार रास का प्रवर्तन हुआ।

भगवान् की समाधि-वेला समाप्त हुई। उन्होंने भक्तों का समुदाय सामने

का समन्वय करने, सूफियों की भावनामयी शृंगारपरक भक्तिपद्धति को मूलरूप देने के लिए राधाकृष्ण की शृंगारिक चेष्टाओं की भित्ति पर रागानुगा भक्ति का निर्माण हुआ।

कुछ विद्वानों का मत है कि इस साधना के मूल में तिब्बत द्वारा हमारे देश में आई हुई चीनी शृंगार-साधना भी विद्यमान है।

चीनी साहित्य का प्रभाव

यद्यपि सहसा विश्वास नहीं होता कि हमारे देश की माधुर्य उपासना पर चीनी साहित्य का प्रभाव पड़ा होगा, पर भारत और चीन की प्राचीन मैत्री देखकर अविश्वास का कारण भी उचित नहीं प्रतीत होता। कुछ विद्वानों का मत है कि चीन में 'याङ्ग' और 'इन' का युग्म साधना के क्षेत्र में बहुत पूर्व से महत्त्वमय माना जा रहा था। वहाँ इन दोनों का मिलन सृष्टि विधायक और जीवनदायिनीशक्ति का विधायक माना जाता था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि हाग वशी राजाओं के राज्य में (११८ ई से ९ ७ ई तक) 'याङ्ग' और 'इन' देवताओं पर आधृत शृंगारी उपासना तन्त्रागम के माध्यम से भारत में पहुँची। उसने कालान्तर में भारतीय माधुर्य उपासना पद्धति को प्रभावित किया। ज्यों ज्यों हम चीनी साहित्य के सम्पर्क में अधिकाधिक आते जाते हैं, यह मत और दृढ होता जा रहा है। चीन की शृंगारी उपासना पद्धति को तात्रिक टवोइस्टिक कहते हैं। इसके सिद्धांत 'याङ्ग' और 'इन' के यौन संबंध पर आधारित हैं। याङ्ग पुरुष है और इन स्त्री। इन दोनों का एकीकरण जीवात्मा का विश्वात्मा से मिलन माना जाता है। प्रमाण के लिए देखिए—

The whole theory had been based on the funda mental concept of Chinese Cosmology the duahsm between yang (the male principle Sun fire light) and yin (the female principle moon, water Darkness) as the interaction of yang and yin represent the macrocosmic process the sexual act in its microcosmic reproduction the creation in the flesh but also the experience by self identification of the macrocosmus.

Annal of Bhandarker Oriental Research (1957)

रासक का जीवन दर्शन

वैष्णव एवं जैन दोनों प्रकार के रासकों में विश्वविजय की कामना से प्रेरित कामदेव किसी योगी महात्मा पर अभियान की तयारी करता दिखाई पड़ता है। सृष्टि की सबसे अधिक रूपवती रमणियों को ही इस सेना में सैनिक बनने का सौभाग्य मिलता है। ये रमणियाँ काम की आयुधशाला से अस्त्र-शस्त्र लेकर स्वतः मन्मथदेव से युद्धकला सीखती हैं। कामदेव इन्हीं की सेना बनाकर कामविजगीषु तपस्वियों पर आक्रमण करने चलता है। विश्वविजयिनी यह वीरवाहिनी अनेक बार समरांगणों में विजयध्वजा फहराती हुई अपने रणकौशल का परिचय दे चुकी है। वसुधामंडल में कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ इन्होंने अपना राज्य स्थापित न कर लिया हो। इनकी अमोघशक्ति से ऋषि-मुनि तो क्या ब्रह्मा तक काँप उठे थे। शिव को अपने दुर्ग से बाहर आकर इनसे युद्ध करने का साहस न हुआ था, अतः उन्होंने अपने बाह्य नेत्रों को बन्द कर लिया और समाधिस्थ होकर काम के कुसुमशरों को तृतीय नेत्र की ज्वाला में भस्म करने लगे। उन बाणों की शक्ति से वे इतने आतंकित थे कि उनमें से एक का भी शरीरस्पर्श उन्हें असह्य प्रतीत हो रहा था। अतः उन्होंने शरीर-दुर्ग का द्वार बंद कर लिया और व्यूह के अंदर बैठकर प्रहारों का निराकरण करने लगे।

ठीक यही दशा श्री महावीर स्वामी की थी। उन्होंने भी काम के अभियान से भयभीत होकर समाधि लगाई। काम की सेना ने भरपूर शक्ति संकलित कर उन पर आक्रमण किया पर अपने दुर्ग के अंदर सुरक्षित महावीर स्वामी कामशक्ति से विचलित नहीं हुए। दुर्ग के बाहर सेना संगठित कर काम प्राचीर से बाहर उनके निकलने की प्रतीक्षा करता रहा पर उन्होंने ऐसी दीर्घ समाधि लगाई कि कामदेव अधीर हो उठा और अंत में हार मानकर उसे घेरा हटाना पड़ा। उसके पराजित होते ही देवताओं में उल्लास उमड़ उठा। अब भगवान् की अभ्यर्चना के लिए देव-अप्सराओं में आगे बढ़ने के लिए होड़ लग गई। किसी ने पुष्पमाला गूँथी, कोई चामर ढारने लगी। भगवान् के महिमस्तवन का आयोजन होने लगा। इस आयोजन में जिन्हें भाग लेने का अवसर मिला वे धन्य हो गए। नृत्य संगीत की लहरियों पर भक्तों का मन नाच उठा। भगवान् के काम-विजय की रसमय लीला का गान होने लगा और इस प्रकार रास का प्रवर्तन हुआ।

भगवान् की समाधि-वेला समाप्त हुई। उन्होंने भक्तों का समुदाय सामने

देखा जिनके नेत्रों से भक्ति और विश्वास टपक रहा था। जिनकी मुखमुद्रा से जिज्ञासा झलक रही थी। भक्तों ने भगवान् से कामविजय की कथा श्रीमुख से सुनाने का आग्रह किया। भगवान् उनकी भक्ति से विभोर होकर काम के अभियान का विवेचन करने लगे। उन्होंने काम से रक्षा के लिए अपनी व्यूह-रचना की कहानी सुनाकर भक्तों का मन मोहित कर लिया। भक्तों में देवेंद्र नामक अत्यंत प्रवीण अभिनेता इस घटना से इतना प्रभावित हुआ कि भगवान् के प्रवचन को नृत्य-संगीत के माध्यम से जनता के संमुख प्रदर्शित किये बिना उससे रहा न गया। उसने अभिनेताओं की सहायता से १२ शैलियों में इसे अभिनीत करने का प्रयास किया। उनमें एक थी रास की शैली जो सबसे अधिक प्रचलित हुई। इस प्रकार काम की पराजय और जैनाचार्यों की विजय जैन रास का मूल विषय बनी।

जैन रास की कथावस्तु की दो शैलियाँ थीं। एक शैली में भगवान् के केवल उपदेश भाग को ही ग्रहण कर गीतों की रचना हुई। दूसरी शैली में काम के अभियान की तैयारी, कामिनियों के प्रसाधन, काम की युद्ध-प्रणाली एवं उसकी पराजय का विशद चित्रण पाया जाता है। इस प्रणाली में कोई विरक्त जैनाचार्य अथवा धर्मनिष्ठ गृहस्थ नायक के रूप में स्वीकृत होते हैं।

वैष्णव रासों में भी कामदेव अपनी प्रशिक्षित सेना का संचालन करता दिखाई पड़ता है। पर उसकी पद्धति जैन रास से पृथक् है। पद्धति के पृथक् होने का कारण यह है कि वैष्णव रास (विशेषतः कृष्ण रास) में कामदेव का खुले मैदान में युद्ध दिखाया जाता है, दुर्ग के अंदर नहीं। मैदान में होनेवाले इस युद्ध का प्रयोजन 'गर्ग संहिता' में निम्नलिखित रूप में दिया गया है—

कामदेव ने ब्रह्मा और शिव से युद्ध समाप्त करके विष्णु को संग्राम के लिए आमंत्रित किया। उसने यह भी अभिलाषा प्रकट की कि यह युद्ध समाधि रूपी दुर्ग के भीतर न होकर खुले मैदान में हो जिससे मैं अपनी सेना का पूर्णरीति से सदुपयोग कर सकूँ। विष्णु भगवान् ने कामदेव के आह्वान को स्वीकार किया पर युद्ध का समय द्वापर में कृष्णावतार के समय निश्चित किया।

कृष्णावतार में भगवान् ब्रज में आविर्भूत हुए। बाल्यकाल से ही उनके अभिराम सौंदर्य पर गोपियाँ रीझने लगीं। कामदेव प्रसन्न होकर यह लीला

देखने लगा। भगवान् की चीरहरण लीला के उपरात उसने शरद् पूर्णिमा की रात्रि को उपयुक्त समय समझकर सैन्य-सग्रह प्रारभ किया। प्रकृति ने कामदेव के आदेशानुसार विश्वब्रह्माड के सुधाकर का सार लेकर एक नये चंद्रमा का आविष्कार किया। उस पूर्ण चद्र को स्वतः लक्ष्मी ने अपनी मुख-श्री प्रदान की। कामदेव के सकेत से चद्रदेव प्राची दिशा के मुखमडल पर अपने कर कमलों से लालिमा की रोली-केशर मलने लगा। प्राची के मुख-सस्पर्श से रागरजित लाल केशर झड़झड़ कर पृथ्वी मडल को अनुराग-रजित करने लगी। धवल चाँदनी से व्रजभूमि के सिकता प्रदेश में अमृत-सागर लहराने लगा। परिणाम यह हुआ कि व्रज का कोना-कोना उस रस से आप्लावित हो उठा। कामदेव ने व्यूह-रचना प्रारभ की। मल्लिकादि पुष्पों की भीनी-भीनी सुगध से वनप्रदेश सुवासित हो उठा। त्रैलोक्य के सौरभसार से सिक्त पवन मथर गति से चलता हुआ कलिकाओं का मुख चूम चूम कर मस्त होने लगा। ऐसे मादक वातावरण में योगिराज कृष्ण ने कामयुद्ध सबधी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार प्यारी मुरलिका को अधरों पर धारण किया। वशी स्मरदेव के आमत्रण को उद्घोषित करने लगी। उस आह्वान को विश्वविमोहक मत्र से निर्मित किया गया था। कौन ऐसी रमणी थी जो इस विमुग्धकारी काम मन्त्र को सुनकर समाहित रह सके और अपने शयनकक्ष में उद्विग्न न हो उठे। वशी ध्वनि से रमणी हृदय रमण को विकपित हो उठा।

[श्री मद्भागवत् में यह दृश्य शरदकालीन शोभा के कारण निर्मित हुआ था किंतु जयदेव ने इसमें आमूल परिवर्तन कर दिया है और शरद् के स्थान पर वसत श्री का प्रभाव गीत[1]गोविंद में प्रदर्शित हुआ। इसके उपरात जैन, वैष्णव तथा ऐतिहासिक रासों में कामोद्दीपक स्थिति लाने के लिए शरद के स्थान पर वसत सुषमा का ही प्रायः उपयोग हुआ है।]

ऐसी मनोहारी ऋतु की पूर्णिमा की मचलती ज्योत्स्ना में रास का आमत्रण पाकर यूथ-यूथ गोपियाँ गुरुजनों की अवहेलना करती हुई लोक-

---

१—विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।

इसी स्थान पर वकुल कलाप एव विविध कुसुमों पर मँडराने वाले भ्रमरों, किंशुक जाल, केशर कुसुम का विकास, पाटल पटल की छटा, माधवी का परिमल, नवमल्लिका सुगधि, लता परिरभण से मुकुलित एवं पुलकिल आम्र मजरी, कोकिल काकली आदि कामोद्दीपक पदार्थों एव घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

प्रथम सर्ग तृतीय प्रबध

देखा जिनके नेत्रों से श्रद्धा और विश्वास टपक रहा था। जिनकी मुखमुद्रा से जिज्ञासा झलक रही थी। भक्तों ने भगवान् से कामविजय की कथा श्रीमुख से सुनाने का आग्रह किया। भगवान् उनकी भक्ति से विभोर होकर काम के अभियान का विवेचन करने लगे। उन्होंने काम से रक्षा के लिए अपनी व्यूह-रचना की कहानी सुनाकर भक्तों का मन मोहित कर लिया। भक्तों में देवेंद्र नामक अत्यंत प्रवीण अभिनेता इस घटना से इतना प्रभावित हुआ कि भगवान् के प्रवचन को नृत्य-संगीत के माध्यम से जनता के संमुख प्रदर्शित किये बिना उससे रहा न गया। उसने अभिनेताओं की सहायता से १२ शैलियों में इसे अभिनीत करने का प्रयास किया। उनमें एक थी रास की शैली जो सबसे अधिक प्रचलित हुई। इस प्रकार काम की पराजय और जैनाचार्यों की विजय जैन रास का मूल विषय बनी।

जैन रास की कथावस्तु की दो शैलियाँ थीं। एक शैली में भगवान् के केवल उपदेश भाग को ही ग्रहण कर गीतों की रचना हुई। दूसरी शैली में काम के अभियान की तैयारी, कामिनियों के प्रसाधन, काम की युद्ध प्रणाली एवं उसकी पराजय का विशद चित्रण पाया जाता है। इस प्रणाली में कोई विरक्त जैनाचार्य अथवा धर्मनिष्ठ गृहस्थ नायक के रूप में स्वीकृत होते हैं।

वैष्णव रासों में भी कामदेव अपनी प्रशिक्षित सेना का संचालन करता दिखाई पड़ता है। पर उसकी पद्धति जैन रास से पृथक् है। पद्धति के पृथक् होने का कारण यह है कि वैष्णव रास (विशेषतः कृष्ण रास) में कामदेव का खुले मैदान में युद्ध दिखाया जाता है, दुर्ग के अंदर नहीं। मैदान में होनेवाले इस युद्ध का प्रयोजन 'गर्ग संहिता' में निम्नलिखित रूप में दिया गया है—

कामदेव ने ब्रह्मा और शिव से युद्ध समाप्त करके विष्णु को संग्राम के लिए आमंत्रित किया। उसने यह भी अभिलाषा प्रकट की कि वह युद्ध समाधि रूपी दुर्ग के भीतर न होकर खुले मैदान में हो जिससे मैं अपनी सेना का पूर्णरीति से सदुपयोग कर सकूँ। विष्णु भगवान् ने कामदेव के आह्वान को स्वीकार किया पर युद्ध का समय द्वापर में कृष्णावतार के समय निश्चित किया।

कृष्णावतार में भगवान् ब्रज में आविर्भूत हुए। बाल्यकाल से ही उनके अनुपम सौंदर्य पर गोपियाँ रीझने लगीं। कामदेव प्रसन्न होकर यह लीला

यहाँ स्त्री-धर्म की एक बड़ी समस्या उठाई गई है। गोपियों ने कृष्ण से कहा—

'नाथ, स्त्री धर्म क्या पतिपुत्र या भाई-बंधुओं की सेवा तक ही परिसीमित है ? क्या यही नारी जीवन का लक्ष्य है ? क्या नश्वर की उपासना से अनश्वरता की प्राप्ति सभव है ? क्या हमारे पति देवता, माता-पिता या भाई-बंधुओं के आराध्य तुम नहीं हो ? हमारा पूरा विश्वास है कि तुम्हीं समस्त शरीरधारियों के सुहृद् हो, आत्मा हो और परमप्रियतम हो, तुम नित्य प्रिय एव साक्षात् आत्मा हो। मनमोहन ! अब तक हमारा चित्त घर के काम-धंधों में लगता था। इसीसे हमारे हाथ भी उनमें रमे हुए थे। परतु तुमने देखते देखते हमारा वह चित्त लूट लिया। हमारे पैर तुम्हारे चरण-कमलों को छोड़कर एक पग भी हटने के लिए तैयार नहीं है, नहीं हट रहे हैं। प्राणवल्लभ ! तुम्हारी मुसकान और प्रेम भरी चितवन ने मिलन की आग धधका दी है। उसे तुम अपने अधरों की रसधारा से बुझा दो। भक्तों ने जिस चरण-रज का सेवन किया है उन्हीं की शरण में हम गोपियाँ भी आई हैं। हमने इसी की शरण ग्रहण करने को घर, गाँव, कुटुब सबका त्याग किया है।

जिस मोहनी मूर्ति का अवलोकन करने पर जड़ चेतन [गौ, पक्षी, वृक्ष तथा हरिणादि भी] पुलकित हो उठाते हैं उसे अपने नेत्रों से निहार कर कौन आर्यमर्यादा से विचलित न हो उठेगा। प्रियतम, तुम्हारे मिलन की आकाक्षा की आग से हमारा वक्षस्थल जल रहा है। तुम हमारे वक्ष स्थल और सिर पर कर कमल रखकर हमें जीवन दान दो।'

भगवान् ने भक्तों को ठोंक बजाकर देख लिया। गोपियाँ अत तक अपनी प्रतिज्ञा पर डटी रहीं। अब तो भगवान् गोपियों के अनन्य प्रेम और अलौकिक सौंदर्य का गुणगान करने लगे। उन्होंने शृगारसूचक भावभगिमा से गोपियों को रमण के लिये सकेत किया। कामदेव यह देखकर पुलकित हो गया। अपनी विजय को समीप समझ उसने गोपियों के सौंदर्य को अप्रतिम एव मिलन-उत्कठा को अत्यधिक वेगवती बना डाला। अतर्यामी भगवान् कृष्ण काम का अभिप्राय समझ रहे थे। उन्होंने काम-कला को भी आमत्रित किया। शत्रु-शिविर में घुस कर उसी के अस्त्रों से सम्मुख समर में यदि स्मर को परास्त न किया तो कामविजय नामक युद्ध की महत्ता क्या ! भगवान् ने अपनी भावभगिमा तथा अन्य सभी चेष्टाएँ गोपियों के मनोनुकूल कर डाली

लज्जा त्याग कर उस यमुना पुलिन पर पहुँचती हैं जहाँ शरद्चन्द्र की चाँदनी की फिसलन पर बड़े बड़े योगियों का मन भी फिसल जाने को आकुल हो उठता है। कृष्ण के चतुर्दिक् व्रज सुंदरियों का व्यूह बनाकर कामदेव एक कोने में खड़ा मुस्कराने लगता है। ज्यों ज्यों गोपियों की सेना कृष्ण के समीप पहुँचती है काम का उल्लास बढ़ता जाता है। उसे गर्व होने लगा, और अपने विश्वविजय का संकल्प पूर्ण होता दिखाई पड़ने लगा। अंतर्यामी *भगवान् मन्मथ का अहंभाव ताड़ गए। उन्होंने उसे आमंत्रित किया और* अपने मनाराज के किसी स्थान पर आसीन होने का संकेत किया। भगवान् ने उसे स्थान देकर उन गोपियों की ओर दृष्टि फेरी जिनको अपने घर से निकलने का या तो साहस न हुआ अथवा कोई मार्ग न मिला। ऐसी गोपियों ने अपने नेत्र मूँद लिए और बड़ी तन्मयता से वे श्रीकृष्ण के सौंदर्य, माधुर्य और लीलाओं का ध्यान करने लगीं। शुकदेवजी परीक्षित से कह रहे हैं कि अपने *परम प्रियतम श्री कृष्ण के असह्य विरह की तीव्र वेदना से उनके हृदय में* इतनी ज्वाला उठी कि हृद्गत अशुभ संस्कारों का अवशिष्ट अंश भी भस्म हो गया।

इसके बाद तुरंत ही ध्यान लग गया। ध्यान में उनके सामने भगवान् श्री कृष्ण प्रगट हुये। उन्होंने मन ही मन बड़े प्रेम एवं आवेग से उनका आलिंगन किया। इस समय उन्हें इतना सुख, इतनी शांति मिली कि उनके पूर्व संस्कार *भस्मसात् हो गये और उन्होंने पाप और पुण्य कर्मों के परिणाम* से बने गुणमय शरीर का परित्याग कर दिया। अब उन्होंने भगवान् की लीला में अप्राकृत देह द्वारा भाग लेने की सामर्थ्य प्राप्त कर ली।

गृह-निवासिनी गोपियों की मनोकामना पूर्ण करके भगवान् ने यमुना की *प्रशस्त सिकता के रंगमंच* पर पदार्पण करनेवाली गोपियों को सम्मिकट आते देखा। उन्होंने उनका कुशल समाचार पूछकर तुरंत गृह लौटने का परामर्श दिया और साथ ही साथ कुलीन स्त्रियों का धर्म समझाते हुये पतिसेवा और मातृपितृसेवा का मर्म समझाया। उन्होंने यह भी कहा गोपियो, मेरी लीला और गुणों के श्रवण से रूप के दर्शन से उन सबके कीर्तन और ध्यान से मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेम की प्राप्ति होती है, वैसे प्रेम की प्राप्ति पास रहने से नहीं होती इसलिए तुम लोग अभी अपने अपने घर लौट जाओ।

१—श्री मद् भग०—दशम स्कन्ध उनतीसवाँ अध्याय श्लोक ७

हुई कृष्ण बन गई और कहने लगी 'श्रीकृष्ण मैं ही हूँ'। किंतु यह स्थिति अधिक काल तक न रह सकी। गोपियों को पुनः कृष्ण विरह की अनुभूति होने लगी और वे तरु वल्लरियों, कीट पतगों, पशुपक्षियों से अपने प्रियतम का पता पूछने लगीं। इसी विरहावस्था में वे कृष्ण की अनेक लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। गोवर्धन धारण की लीला करते हुए एक ने अपना उत्तरीय ऊपर तान दिया। एक कालीनाग बन गई और दूसरी उसके सिरपर पैर रखकर नाचते हुए बोली—'मैं दुष्टों का दमन करने के लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ।' इस प्रकार विविध लीलाओं का अनुकरण करते हुए एक स्थान पर भगवान् के चरणचिह्न दिखाई पडे।

एक गोपी के मन में अभी अहकार भाव बच गया था। भगवान् उसे ही एकात में ले गये थे। अपना यह मान देखकर उसने सभी गोपियो में अपने को श्रेष्ठ समझा था। भगवान् अवसर देखकर वनप्रदेश में तिरोहित हो गए। भगवान् को न देखकर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। गोपियाँ भगवान् को ढूँढते-ढूँढते उस गोपी के पास पहुँची जो अचेतन पड़ी थी। उसे चेतना में लाया गया। अब सभी गोपियो का मन कृष्णमय हो गया था। वे भगवान् के गुणगान में इतनी तन्मय थीं कि उन्हें अपने शरीर की भी सुधि न रही। सुधि आने पर वे रमण रेती (जहाँ भगवान् ने रास किया था) पर एकत्रित होकर भगवान् को उपालभ देने लगीं। जब विरह-वेदना असह्य हो उठी तो वे फूट-फूट कर रोने एव विलाप करने लगीं। यही रोदन और विलाप रास-काव्यों का मूल स्रोत है। इसीको केंद्र बनाकर कथासूत्र ग्रथित होते हैं। रास काव्य का व्यावर्तक धर्म विरह के द्वारा आत्मशुद्धि मानना अनुचित न होगा।

भगवान् करुणासागर हैं। अश्रुजल मे जब गोपियों का विविध विकार बह गया तो वे सहसा आविर्भूत हो गये। मिलन-विरह का मनोवैज्ञानिक कारण बताते हुए उन्होंने गोपियों को समझाया कि "जैसे निर्धन पुरुष को कभी बहुत सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धन की चिंता से भर जाता है, वैसे ही मैं भी मिल-मिलकर छिप-छिप जाता हूँ।"

इसके उपरात महारास की अपूर्व छटा दिखाई पड़ती है। महारास का वर्णन करते हुए शुकदेव जी कहते हैं—'हे परीक्षित! जैसे नन्हा सा शिशु निर्विकार भाव से अपनी परछाईं के साथ खेलता है, वैसे ही रमारमण भगवान् श्री कृष्ण कभी उन्हें (गोपियों को) अपने हृदय से लगा लेते, कभी

थीं। अब तो कामदेव को अपनी कामनायें पूर्ण होती दिखाई देने लगीं। उसने पवनदेवता को और भी शक्ति संकलित करने का आदेश दिया। कपूर के समान चमकीली बालुका-राशि पर फिसलती हुई चाँदनी में यमुना तरंगों से सिक्त एवं कुमुदिनी मकरंद से सुवासित वायु इस मंडली के मन को आलोडित करने चली। कामदेव पूर्ण शक्ति के साथ मन का मंथन करने के उद्देश्य से भगवान् के अंतःकरण का कोना कोना झाँकने लगा। उसने देखा कि योगमाया ने साराप्रदेश इस प्रकार आवृत कर रखा है कि उसमें कहीं अणु रखने का स्थान नहीं। निराश होकर उसने गोपियों के हृदप्रदेश को मथने का विचार किया पर वहाँ तो उसे उज्ज्वल रस की निर्मल धारा के प्रबल प्रवाह में अपने सभी सेनापति बहते हुए दिखाई पड़े। वे त्राहि त्राहि मचा रहे थे, मन्मथ की सहायता क्या करते।

मनसिज ने नैराश्य पूर्णनेत्रों से अपनी राजधानी मनःप्रदेश पर शत्रु का अधिकार देखा। इतना ही नहीं उसके सम्मुख एक और विचित्र घटना घटित हुई। योगिराज कृष्ण ने अनेक रूप धारण करके प्रत्येक गोपी के साथ क्रीड़ा प्रारंभ की। उन्होंने गोपियों के कोमलकरों को स्पर्श किया। वस्त्रावरण को निरावृत कर वक्षस्थल का मर्दन एवं अन्य क्रीड़ायें करते समय कामकलायें परिचारिका के रूप में उनकी सेवा करने लगीं। अपनी कला-सेना का कृष्ण के सहायक रूप में देखकर कामदेव विस्मय विभोर हो उठा। अपने ही स्कंधावार के सैनिक एवं सेनापति शत्रु के सहायक बन जायें तो विजय की आशा दुराशा मात्र नहीं तो और क्या हो! उसे अब अपनी यथार्थ स्थिति का स्फुरण हुआ।

अपनी कामना को विफली कृत देख वह सिसकने लगा। इसका एक ही अदर्प मित्र बचा था विरह। उभयपक्षों होने के कारण उस पर काम का पूर्ण विश्वास न था पर और कोई मार्ग न देखकर उसने विरह से अपनी व्यथा सुनाई। उसने कामदेव को आश्वासन दिया। इधर कृष्ण की संमानित गोपियाँ नारीसमाज में अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझने लगीं। अंतर्यामी भगवान् ने गोपिया की मनोगति को पहचान लिया और भक्त की इस अंतिम दुर्बलता का परिहार करने के लिये वे अंतर्धान हो गए।

भगवान् के अदृश्य होने पर गोपियों की विरहव्यथा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। विरहाग्नि में उनकी अवशिष्ट दुर्बलता भस्मीभूत होने लगी। प्रत्येक गोपी अपने को सर्वथा भूलकर भगवान् के लीलाविलास का अनुकरण करती

परमेश्वर की उपासना की कि किसी प्रकार स्थूल शरीर को ब्रह्म-स्पर्श का सुख प्राप्त कराया जा सके। परमेश्वर ने कृष्णावतार मे योगियों के भी मनोरथ को पूर्ण करने के लिये रासमडल की रचना की।

रास का रहस्यमय प्रयोजन समझने के लिए विविध आचार्यों ने विविध रीति से प्रयत्न किया है। श्रीमद्भागवत् के अनुसार भक्तों पर अनुग्रह[1] करके भगवान् अनेक लीलायें करते हैं जिनको सुनकर जीव भगवद् परायण हो जाए। किंतु उन सभी लीलाओं मे रास-लीला का सर्वाधिक महत्व है। भगवान् कृष्ण को स्वत' इस लीला पर सबसे अधिक अनुरक्ति है। वे कहते हैं कि यद्यपि व्रज में अनेक लीलायें हुई किंतु रासलीला को स्मरण करके मेरा मन कैसा हो जाता है[2]।

किसी न किसी महद् प्रयोजन से ही अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य एव अव्यपदेश्य ब्रह्म को दिव्य रूप धारण कर गोपीगण के साथ विहार करने को बाध्य होना पड़ा होगा। इस गोपी - विहार का प्रयोजन था— सनकादिक एव शुकादिक ब्रह्मनिष्ठ महामुनींद्रों को ब्रह्म सुख से भी बढ कर अलौकिक आनद प्रदान करना। जिन परमहसो ने ससार के सपूर्ण रसों को त्यागकर समस्त नामरूप क्रियात्मक प्रपचों को मिथ्या घोषित किया था उनको उज्ज्वल रस में सिक्त करना सामान्य कार्य नहीं था।

वेदात सिद्धात के चितकों को परमात्मा प्रथम तो विश्व प्रपच सहित दिखाई पड़ता है और वे प्रयास के द्वारा त्याग-भाग लक्षणा से परमात्मा का यथार्थ स्वरूप देख पाते हैं। किंतु इसके प्रतिकूल रास में गोपियों को कृष्ण भगवान् का प्रपच रहित शुद्ध परमात्मा के रूप मे सद्य. प्रत्यक्षीकरण हुआ। अत. साधना की इस नई पद्धति का प्रयोजन हुआ—अपठित ग्रामीण स्त्रियों को भी ब्रह्म साक्षात्कार का सरल मार्ग दिखाना।

दार्शनिकों की बुद्धि ने जिस 'सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त-निरतिशय प्रेमास्पद और परमानद रूप ब्रह्म का निरूपण किया भक्तों के अत.करण ने उसी ब्रह्म

१—अनुग्रहाय भक्ताना मानुष देहमा'थत ।
भजते तादृशी क्रीडा या श्रुत्वा तत्परो भवेत ॥ १०।३३।३६ ॥
श्रीमद्भागवत

२—सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्तामनोहरा ।
नहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृग भवेत् ॥
श्रीमद्भागवत

हाथ से उनका अंग स्पर्श करते कभी प्रेमभरी तिरछी चितवन से उनकी ओर देखते तो कभी लीला से उन्मुक्त हँसी हँसने लगते।'

श्रीमद्भागवत की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी कंदर्प-विजय का महत्त्व इस प्रकार वर्णन करते हैं—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः॥

अर्थात् ब्रह्मादि लोकपालों को जीत लेने के कारण जो अत्यंत अभिमानी हो गया था, उस कामदेव के दर्प को दलित करनेवाले, गोपियों के रासमंडल के भूषण स्वरूप श्री लक्ष्मीपति की जय हो।

रास का प्रयोजन

दार्शनिकों का एक वर्ग तो प्रस्थान त्रयी को ही मोक्ष प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम साहित्य समझता है किंतु दूसरा वर्ग—दार्शनिकता का विकासानुक्रम मानकर—श्रीमद्भागवत को उपनिषदों से भी उत्कृष्टतर घोषित करता है। वल्लभाचार्य का मत है कि निराकार ब्रह्म की उपासना से योगियों को आनंदानुभूति केवल सूक्ष्म शरीर से होती है किन्तु हमारे देश में ऐसा भी साहित्य है जो इसी स्थूल शरीर एवं इंद्रियों के द्वारा उस अध्यात्म-तत्त्व का बोध कराने में समर्थ है।

कहा जाता है कि एक बार योगियों ने ब्रह्मानंद के समय यह आकांक्षा प्रगट की कि निराकार ब्रह्म के उपासना-काल में सूक्ष्म शरीर से जिस आनंद का अनुभव होता है उसी की अनुभूति यदि स्थूल शरीर के माध्यम से हो जाती तो भविष्य के साधकों को इतना क्लेश सहन न करना पड़ता। अतः भगवान् ने योगियों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये कृष्णावतार धारण किया। इस पूर्णावतार में उन्होंने श्रुति-सूत्रों का मर्म लीला के द्वारा दिखा दिया। इसका विवेचन आगे चलकर किया जायगा।

कतिपय आचार्यों का मत है कि योगियों ने स्थूल शरीर की सर्वथा उपेक्षा करके तुरीयावस्था में ब्रह्मानंद की प्राप्ति की। किंतु उन्होंने एक बार यह सोचा कि स्थूल शरीर के ही बल पर यह सूक्ष्म शरीर बना जिससे हमने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। अतः यदि इस स्थूल शरीर को ब्रह्म-संस्पर्श न कराया गया तो इसके साथ बड़ी कृतघ्नता होगी। इसी उद्देश्य से मुनिगणों ने

परमेश्वर की उपासना की कि किसी प्रकार स्थूल शरीर को ब्रह्म-स्पर्श का सुख प्राप्त कराया जा सके। परमेश्वर ने कृष्णावतार में योगियों के भी मनोरथ को पूर्ण करने के लिये रासमंडल की रचना की।

रास का रहस्यमय प्रयोजन समझने के लिए विविध आचार्यों ने विविध रीति से प्रयत्न किया है। श्रीमद्भागवत् के अनुसार भक्तों पर अनुग्रह[1] करके भगवान् अनेक लीलायें करते हैं जिनको सुनकर जीव भगवद् परायण हो जाए। किंतु उन सभी लीलाओं में रास-लीला का सर्वाधिक महत्व है। भगवान् कृष्ण को स्वतः इस लीला पर सबसे अधिक अनुरक्ति है। वे कहते हैं कि यद्यपि व्रज में अनेक लीलायें हुई किंतु रासलीला को स्मरण करके मेरा मन कैसा हो जाता है[2]।

किसी न किसी महद् प्रयोजन से ही अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य एवं अव्यपदेश्य ब्रह्म को दिव्य रूप धारण कर गोपीगण के साथ विहार करने को बाध्य होना पड़ा होगा। इस गोपी-विहार का प्रयोजन था—सनकादिक एवं शुकादिक ब्रह्मनिष्ठ महामुनीन्द्रों को ब्रह्म सुख से भी बढ़ कर अलौकिक आनंद प्रदान करना। जिन परमहंसों ने संसार के संपूर्ण रसों को त्यागकर समस्त नामरूप क्रियात्मक प्रपंचों को मिथ्या घोषित किया था उनको उज्ज्वल रस में सिक्त करना सामान्य कार्य नहीं था।

वेदांत सिद्धांत के चिंतकों को परमात्मा प्रथम तो विश्व प्रपंच सहित दिखाई पड़ता है और वे प्रयास के द्वारा त्याग-भाग लक्षणा से परमात्मा का यथार्थ स्वरूप देख पाते हैं। किंतु इसके प्रतिकूल रास में गोपियों को कृष्ण भगवान् का प्रपंच रहित शुद्ध परमात्मा के रूप में सद्य. प्रत्यक्षीकरण हुआ। अतः साधना की इस नई पद्धति का प्रयोजन हुआ—अपठित ग्रामीण स्त्रियों को भी ब्रह्म साक्षात्कार का सरल मार्ग दिखाना।

दार्शनिकों की बुद्धि ने जिस 'सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त-निरतिशय प्रेमास्पद और परमानंद रूप ब्रह्म का निरूपण किया भक्तों के अंतःकरण ने उसी ब्रह्म

१—अनुग्रहाय भक्ताना मानुषं देहमाश्रित ।
भजते तादृशी क्रीडा या श्रुत्वा तत्परो भवेत ॥ १०।३३।३६ ॥
श्रीमद्भागवत

२—सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्तामनोहरा ।
नहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत ॥
श्रीमद्भागवत

को इतने स्पष्ट रूप से देखा जैसे नेत्र से सूर्य देखा जाता है। उसी दिव्य भगवत्तत्व रूपी सूर्य को माधुर्य उपासना रूपी दूरवीक्षण यंत्र की सहायता से दिखाने के प्रयोजन से रासलीला का अनाविल उपस्थापन हुआ, ऐसा मत भी किसी किसी महात्मा का है[1]।

श्रीमद्भागवत् ने एक सिद्धांत निरूपित किया कि काम, क्रोध, भय, स्नेह, ईर्ष्या आदि मनोविकारों के साथ भी यदि कोई भगवान् का एकांत चिंतन करे तो उसे तन्मयता की स्थिति प्राप्त हो जाती है, और करुणाकर भगवान् उसकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं। गोपियों को रासलीला में उसी तन्मयता की स्थिति में पहुँचाकर भक्तों के हृदय में इसकी पुष्टि कराना रासलीला का प्रयोजन प्रतीत होता है।

कामविकार से व्याकुल अधोगति में पड़े सांसारिक प्राणी को अति शीघ्र ही हृद्रोग-काम-विकार से मुक्ति दिलाना रासलीला का प्रमुख प्रयोजन है। भक्त इस हृद्रोग से ऐसी मुक्ति पा जाता है कि पुनः उसे यह रोग कभी ग्रस्त नहीं कर पाता। यही रासलीला का सबसे महत्तमम प्रयोजन है। श्री *मद्भागवत् रासलीला दर्शन का लाभ दर्शाते हुए कहता है—*

जो पुरुष श्रद्धासम्पन्न होकर व्रजबालाओं के साथ की हुई भगवान् विष्णु की इस क्रीड़ा का श्रवण या कीर्तन करेगा, वह परम धीर भगवान् में परा भक्ति प्राप्त करके शीघ्र ही मानसिक रोगरूप काम से मुक्त हो जायगा।"[2]

सारांश यह है कि उपनिषदों से भी उच्चतर एक दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना रासलीला का उद्देश्य है। हम कह आए हैं कि उपनिषद् में प्रत्येक दृश्यपदार्थ की नश्वरता प्रमाणित की गई है किंतु रासलीला में ऐसे कृष्ण की स्थापना की गई है जो दृश्य होते हुए भी अनश्वर है। इतना ही नहीं काम-क्रोधादि किसी भी विकार की प्रेरणा से उसके संपर्क में आनेवाला

१—अग्रगामी-श्री भगवत्तत्व पृ० ६४

२— विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णो
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।
भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीर. ॥

प्राणी अनश्वर बन जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के एक मंत्र की प्रत्यक्ष सार्थकता रासलीला का प्रयोजन प्रतीत होता है। बृहदारण्यक में ऋषि कहते हैं—

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति'—

'पति के काम के लिए पति प्रिय नहीं होता, वह आत्मा के लिये प्रिय होता है।'

पतिव्रता गोपियाँ कृष्ण से भी यही कहती हैं कि हमें पति प्रिय हैं किंतु आप तो साक्षात् आत्मा हैं। आपके लिए ही हमे पति प्रिय हैं। रासलीला मे इसी सिद्धात का प्रयोग दिखाया गया है।

आत्मा को उपनिषदों में जहाँ अरूप, अदृश्य, अगम्य बताया गया है वहाँ उसे द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य एव निदिध्यासितव्य भी कहा गया[1] है। रासलीला में उस परम आत्मा को जीवात्मा से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। उसे आलिंग्य एव विक्रीड्य भी दिखाना रास का प्रयोजन जान पड़ता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्मसुख की अनुभूति बताते हुए यह सकेत किया गया है कि 'जिस प्रकार अपनी प्यारी स्त्री के आलिंगन में हम बाह्य एव आतरिक सज्ञा से शून्य हो जाते हैं। केवल एक प्रकार के सुख की ही अनुभूति करते हैं। उसी प्रकार सर्वज्ञ आत्मा के आलिगन से पुरुष आतरिक एव बाह्य चेतना शून्य हो जाता है। जब उसकी सपूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं जब केवल आत्मप्राप्ति की कामना रह जाती है तो उसके सभी दुख निर्मूल हो जाते हैं'—

'यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्[2]।'

१—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो
मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्।
बृहदारण्यकउपनिषद्—चतुर्थ अध्याय—पचम ब्राह्मण ६ वा मत्र

२—बृहदारण्यकउपनिषद्—चतुर्थ अध्याय—तृतीय ब्राह्मण—२१ वा मत्र

रासलीला में उसी सच्चिदानन्दमय आत्मा रूपी कृष्ण के परिरंभ से गोपियाँ आंतरिक एवं बाह्यचेतना शून्य होकर विलक्षण प्रकार की आनंदानुभूति प्राप्त करती हैं। इसी को चरितार्थ करना रासलीला का प्रयोजन प्रतीत होता है।

वैष्णव महात्माओं का सिद्धांत है कि रासलीला का प्रयोजन प्रेमरस का विकास है। यहाँ एक ही तत्त्व को भगवान् श्रीकृष्ण और राधा रूप में आविर्भूत कराना उद्देश्य रहा है इसीलिए उन्हें नायक एवं नायिका रूप में रखने की आवश्यकता पड़ी। उज्ज्वल रस के अमृत सागर में सभी प्रकार की जनता का अवगाहन कराना इस रासलीला का मूल प्रयोजन प्रतीत होता है। इसीका संकेत गीता में भगवान् करते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परं।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।

अर्थात् निरंतर मेरे अंदर मन लगानेवाले मुझे ही प्राणों को अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझमें निरंतर रमण करते हैं।

इसी रमण क्रिया की स्थिति में पहुँचाना रासलीला का मुख्य प्रयोजन है। इसी रमण स्थल का सूचित करनेवाली रमण रेती आज भी वृंदावन में विद्यमान है। इस रमणलीला का रहस्योद्घाटन समय-समय पर आचार्य करते आए हैं।

राधावल्लभीय दृष्टि से रासलीला का प्रयोजन भोगविलास को ही जीवन का सार समझने वाले विलासी व्यक्तियों के मन में आत्मविजय की लालसा जाग्रत कर मुक्तिपथ की ओर अग्रसर करना है। इस संप्रदाय के आचार्यों का कथन है कि श्रीकृष्ण सदा राधिका को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राधा को प्रमुदित रखना ही उनका परमध्येय है। राधिका की अंशभूता अन्यान्य गोपिकाओं का रास में एकत्र कर प्रकारांतर से इष्ट देवी राधा को प्रमुदित करने का यह एक क्रीड़ा कौतुक है। इस लीला में तत्सुख सुखित्व भाव की रक्षा करते हुए श्रीकृष्ण अपने आमोद का विस्तार करते हैं। इस तत्सुख सुखित्व का पर्यवसान भी लोक कल्याण में ही होता है। अतः इस लीला की भावना करना ही पर्याप्त नहीं अपितु इसका मौलिक रूप

में अनुकरण करना भी अभीष्ट है। अनुकरण द्वारा राधा के प्रति कृष्णानुराग का स्वरूप सासारिक जीवों को भी व्यक्त हो जाता है।"[1]

वल्लभ सप्रदाय रास के तीन रूप मानता है—(१) नित्यरास (२) नैमित्तिक रास (३) अनुकरणात्मक रास। भगवान् गोलोक अथवा वृंदावन में अपने आनंद विग्रह से अपनी आनद प्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्यरास-मग्न रहते हैं। उनकी यह क्रीड़ा अनादि एव अनत हैं। कृष्ण और गोपियाँ ससार से निवृत्त एव लौकिक काम से विनिर्मुक्त हैं। इस लीला के श्रवण एव दर्शन से भक्त अपनी कामनाओं की आहुति बनाकर भगवान् के भक्ति-यज्ञ को समर्पित कर देता है। इससे मन कल्मष-रहित बन जाता है।

माधुर्य उपासना का स्वरूप

वेदात के अनुसार साधक जब ब्रह्म के साथ अभेद स्थापित कर लेता है तो ब्रह्ममय हो जाता है। ब्रह्म आनद स्वरूप है अत. ज्ञानी भी आनद रूप हो जाता है। भक्त का कथन है कि यदि साधक आनदमय हो गया तो उसे क्या मिला। भक्त की अभिलाषा रहती है कि मैं आनद का रसास्वादन करता रहूँ। वह भगवान् के प्रेम में मस्त होकर भक्तिरस का आनद लेना चाहता है, स्वत. आनदमय बनना नहीं चाहता। जीवगोस्वामी और बलदेव विद्याभूषण ने रागानुगा भक्ति की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि यद्यपि जीव और ब्रह्म में अतर नहीं है तथापि जीव की जन्म-जन्मातर की वासनाएँ आशा और आकाक्षाएँ उसे पूर्णकाम भगवान् से पृथक् कर देती हैं। जब भगवान् की भक्त पर कृपा होती है तो उसका (भक्त) मन भगवान् के लीलागान में रम जाता है। इस प्रकार निरतर नाम-जपन और लीलागान-श्रवण से उसमें भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। उसे प्रेम से आनद की अनुभूति होती है। इस आनदानुभूति के दो प्रकार हैं—

(१) भगवद्विषयानुकूल्यात्मकस्तदनुगतस्पृहादिमयो ज्ञानविशेषस्तत्प्रीति.।

अर्थात् भगद्विषयक अनुकूलता होने से स्पृहा के द्वारा उनका ज्ञान प्राप्त होता है। भगवद्-विषयक ज्ञान ही आनद का हेतु है क्योंकि ज्ञान आनद का स्वरूप है। यह भगवद् प्रीति कहलाती है। दूसरे प्रकार की आनदानुभूति भगवान् में रति के द्वारा होती है। इसे प्रेमा भक्ति कहते हैं। जिस प्रकार ससार में हम किसी वस्तु को सुदर देखकर स्वभावत. उसकी उपयोगिता का

१—डा० विजयेन्द्र स्नातक—राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धात और साहित्य पृ० २७१

बिना विचार किए ही आकर्षित हो जाते हैं उसी प्रकार भगवान् के अलौकिक सौंदर्य पर हम सहज ही मुग्ध हो जाते हैं। भगवान् आनंद स्वरूप हैं और यह आनंद दो प्रकार का है—(१) स्वरूपानंद (२) स्वरूप शक्त्यानंद। स्वरूपशक्त्यानंद दो प्रकार का होता है—(१) मानसानंद (२) ऐश्वर्यानंद। जब तक भक्त का मन भगवान् के ऐश्वर्य के कारण उनकी ओर आकर्षित होता रहता है तब तक उसे केवल ऐश्वर्यानंद ही प्राप्त हो सकता है। किंतु जब भक्त का मन भगवान् में ऐसा आसक्त हो जाता है जैसा प्रेमिका का मन अपने प्रेमी में, पुत्र का पिता में या पिता का पुत्र में, मित्र का मित्र में तो उस भक्ति को प्रीति की संज्ञा दी जाती है।

प्रीति की यह विशेषता है कि यदि प्रेमपात्र का बाह्य सौंदर्य भी आकर्षक हो तो प्रेमी की सारी मनोवृत्तियाँ प्रेमसागर में निमज्जित हो जाती हैं। ईश्वर से इतर के साथ प्रेम में भौतिक तत्त्वों से निर्मित पदार्थों का आभास बना रहता है, पर परमेश्वर का विग्रह तो पंचभूतों से परे है। अन्य पदार्थ भौतिक नेत्र के विषय हैं पर परमात्मा को अध्यात्म नेत्रों से देखना होता है। भक्त की ऐसी स्वाभाविक स्थिति एकमात्र भगवत्कृपा से बनती है। यह श्रम-साध्य नहीं। यह तो एकमात्र भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर है। भक्त इस स्थिति का जीवन्मुक्त से उत्तर समझता है।[१] वह भगवान् के प्रेम में इतना विभोर हो जाता है कि वह अपनी भौतिक सत्ता को विस्मृत करके अपने को ईश्वर के साथ एकाकार समझने लगता है।

प्रेमी की इस स्थिति और ज्ञानी की शांत स्थिति में अंतर है। जहाँ भक्त ईश्वर को अपना समझता है वहाँ ज्ञानी अपने को ईश्वर का मानता है।

गीता में भक्तों की चार कोटियाँ मानी गई हैं—आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी। कृष्ण भगवान् ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हैं किंतु श्री मद्भागवत् के आधार पर विरचित भक्ति रसामृत सिंधु में उत्तम भक्त का लक्षण भिन्न है—

---

१ बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय में भी निर्वाण के बाद बुद्ध की कृपा से प्राप्त निर्वाण [illegible] माना है। 'निर्वाण के बाद बोधिसत्व नाम महायान में रखा है।' निर्वाण प्राप्त कर लेने के बाद उपायकौशल के द्वारा सम्यक् संबोधि को प्राप्त करना चाहिए।

सद्धर्मपुण्डरीक ११।१-४

अन्याभिलाषिता शून्य ज्ञानकर्माद्यनावृतम्[1] ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन भक्तिरुत्तमा ॥

अर्थात् उत्तमा भक्ति में अभिलाषाओं एव ज्ञान कर्म से अनावृत एक मात्र कृष्णानुशीलन ही ध्येय रहता है। इसकी सिद्धि भगवत्कृपा से ही हो सकती है। अतः भगवत्कृपा के लिए ही भक्त प्रयत्नशील रहता है।

उत्तम भक्त उस मनस्थिति वाले साधक को कहते हैं जो कृष्ण की अनुकूलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। वह मुक्ति और भुक्ति दोनो से निस्पृह हो जाता है—

'भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।'

भक्त के लिए तो भुक्ति और मुक्ति दोनों पिशाची के समान हैं। इन्हें हृदय से निकाल देने पर ही भक्ति-भावना बन सकती है।

प्रेमाभक्ति की दूसरी विशेषता है कि भक्त का मन मैत्री की पावन भावना से इतना ओतप्रोत हो जाता है कि वह किसी प्राणी को दुखी देख ही नहीं सकता। बुद्ध[2] के समान जिसके मन मे करुणा भर जाती है वह निर्वाण को तुच्छ समझकर दीन-दुखी के दुख निवारण मे अनिर्वचनीय आनद की अनुभूति करता है। वहाँ आत्मकल्याण और परकल्याण में कोई विभाजक रेखा खींचना सभव नहीं होता। प्रेमपूर्ण हृदय में किसी के प्रति कटुता कहाँ। प्रेमाभक्ति की यह दूसरी विशेषता है।

तीसरी विशेषता है मुक्तित्याग की। भक्त अपने आराध्य देव कृष्ण के सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। उसकी अहैतुकी भक्ति में किसी प्रकार के स्वार्थ के लिए अवकाश ही नहीं। इस कारण इसकी बड़ी महत्ता है। चौथी विशेषता है कि पुरुषार्थ से यह प्राप्य है ही नहीं। भगवत्कृपा के बिना प्रेमाभक्ति का उदय हो नहीं सकता। अर्चन-पूजन वदन आदि साधन अन्य भक्ति प्रकार में भले ही लाभप्रद हों पर प्रेमाभक्ति में इनकी शक्ति सीमित होने से वे पूर्ण सहायक सिद्ध नहीं होते।

१—रूपगोस्वामी—भक्तिरसामृत सिन्धु १, १, ९

२ मार ने तथागत से कहा—'अब तो आपने निर्वाण प्राप्त कर लिया। आपके जीवन की साध पूरी हुई। अब आप परिनिर्वाण में प्रवेश करें।'

तथागत बोले—'लोक दुखी है। हे समन्तचक्षु! दुखी जनता को देखो। जब तक एक भी प्राणी दुखी है, तबतक मैं कार्य करता रहूँगा॥'

भक्त को प्रेमा भक्ति से उस आनंद की उपलब्धि होती है जिसके संमुख मुक्तिसुख तुच्छ है। इसी कारण भक्ति साहित्य में ज्ञान और प्रेमा भक्ति का विवाद उद्धव गोपी संवाद के द्वारा प्रगट किया गया है। प्रेमाभक्ति की छठी विशेषता कृष्ण भगवान् को सर्वथा वशीभूत करके भक्तों के लिए उन्हें विविध लीलायें करने को बाध्य करना।

रूप गोस्वामी ने साधन भक्ति के दो भेद—(१) वैधी (२) रागानुगा का विवेचन किया है। वैधी भक्ति उन व्यक्तियों को उपयुक्त है जिनकी मनोवृत्ति तार्किक है और जो शास्त्रज्ञान से अभिज्ञ हैं। ऐसे भक्त को वैदिक क्रियाओं को अनिवार्य रूप से करने की आवश्यकता नहीं। भक्ति सिद्धांत के अनुसार भक्त पर आचार नीति और यज्ञक्रियाओं का कोई अंकुश नहीं रहता। वैधीपद्धति के पालन करनेवाले भक्त को शास्त्रीय विवाद में उलझने की आवश्यकता नहीं। वह तो भगवान् के सौंदर्य का ध्यान पर्याप्त समझता है। वह भगवान् को स्वामी और अपने को दास समझता है। वह अपने सभी कर्म कृष्ण को समर्पण कर देता है।

इस स्थिति पर पहुँचने के उपरांत रागानुगा वैधी भक्ति के योग्य साधक बनता है। रागात्मिका भक्ति में प्रेमी के प्रति स्वाभाविक आसक्ति अपेक्षित है। अतः रागानुगा भक्ति का अर्थ है रागात्मिका भक्ति का कुछ अनुकरण।

रागात्मिका भक्ति में स्वाभाविक कामभाव के लिए स्थान है। पर रागानुगा भक्ति इससे भिन्न है। यहाँ कामासक्ति के लिए कोई अवकाश नहीं। उस दशा में तो स्वाभाविक कामवृत्ति की स्थिति की अनुकृति का प्रयास पाया जाता है स्वाभाविक कामवृत्ति यहाँ फटकने भी नहीं पाती।

रागात्मिका भक्ति की भाँति रागानुगाभक्ति भी दो प्रकार की होती है—(१) कामानुगा (२) संबंधानुगा। साधन भक्ति की रागानुगादशा के उपरांत भक्त भावभक्ति के क्षेत्र में पदार्पण करता है। भाव का अर्थ है भगवान् कृष्ण के प्रति स्वाभाविक आसक्ति। इस दशा में रोमांच और अश्रु के द्वारा शारीरिक स्थिति प्रेमभाव की अभिव्यक्त करती है। भक्त का स्वभाव प्रेमानंद के कारण इतना मधुर बन जाता है कि जो भी संपर्क में आता है वह एक प्रकार के आनंद का अनुभव करने लगता है। यह प्रेमभाव आनंद (रति) का मूल बन जाता है अतः रतिभाव की इसे संज्ञा दी गई है। यद्यपि वैधी और रागानुगा में भी भाव की स्फूर्ति दी जाती है पर वह भाव इस

भाव से निम्नकोटि का माना जाता है। कभी कभी साधनभक्ति के बिना भी उच्च रतिभाव की अनुभूति भक्त को होती है पर वह तो ईश्वर का प्रसाद ही समझना चाहिए।

इस उच्च प्रेमभाव के उदय होने पर भक्त दुखसुख से कभी विचलित नहीं होता। वह भावावेश के साथ भगवान् का नामोच्चारण करने लगता है। वह इंद्रियजन्य प्रभावों से मुक्त, विनम्र होकर भगवत्प्राप्ति के लिए सदा उत्कंठित रहता है[१]। वह इस स्थिति पर पहुँचने के उपरांत मुक्ति को भी हेय समझता है। हृदय में कोई आशा-आकांक्षा नहीं रहती। उसका हृत्प्रदेश शांत महासागर के समान निस्तब्ध बन जाता है। यदि किसी भी प्रकार की हलचल बनी रहे तो समझना चाहिए कि उसमें रति नहीं रत्याभास का उदय हुआ है।

रतिभाव की प्रगाढता प्रेम कहलाती है। इसमें भक्त भगवान् पर एक प्रकार का अपना अधिकार समझने लगता है। इसकी प्राप्ति भाव के सतत दृढ होने अथवा भगवान् की अनायास कृपा के द्वारा होती है। आचार्यों का मत है कि कभी तो पूर्व जन्म के पवित्र कर्मों के परिणाम-स्वरूप अनायास मनः स्थिति इस योग्य बन जाती है और कभी यह प्रयत्नसाध्य दिखाई पड़ती है। सनातन गोस्वामी ने अपने ग्रंथ 'बृहद् भागवतामृत' में ऐसे अनेक भक्तों की कथाएँ उद्धृत की हैं।

जो भक्त रतिभाव द्वारा ईश्वर प्राप्ति का इच्छुक है उसे राधा भाव या सखि भाव में से एक का अनुसरण करना पड़ता है।

"But it is governed by no mechanical Sastric rules whatever, even if they are not necessarily discarded, it follows the natural inclination of the heart, and depends entirely upon one's own emotional capacity of devotion

The devotee by his ardent meditaton not only seeks to visualise and make the whole vrindavan-Lila of krishna live before him, but he enters into it imaginatively, and by playing the part of a bel-

---

१—भक्ति रसामृत सिंधु—१ ३ १२-१६

oved of Krishna, he experiences vicariously the passionate feelings which are so vividly pictured in the literature.'

अर्थात् रतिभाव की उपासना किसी शास्त्रीय विधि विधान से संभव नहीं। यद्यपि विधि-विधानों का बहिष्कार जानबूझकर नहीं किया जाता तथापि यह साधना साधक की अभिरुचि पर ही पूर्णतया निर्भर है। वह चाहे तो शास्त्रीय नियमों का बंधन स्वीकार करे चाहे उनको तोड़ डाले। इस साधना-पद्धति का अवलंबन लेनेवाला साधक कृष्ण की वृंदावन लीला के साक्षात्कार से ही संतुष्ट नहीं होता, वह तो अपने भावलोक में होनेवाली वृंदावन लीला में अपना प्रवेश भी चाहता है। वह कृष्ण की प्रिया बनना चाहता है। उस अभिलाषा में वह एक विशेष प्रकार की प्रेम भावना का अनुभव करता है जिससे रास साहित्य ओतप्रोत है।

भाव और महाभाव

रासलीला की दार्शनिकता का विवेचन करते हुए आचार्यों ने उपासकों के तीन वर्ग किए हैं—एक सखी भाव से उपासना करता है और दूसरा गोपी भाव से और तीसरा राधाभाव से। सखी भाव का उपासक, राधाकृष्ण की रासक्रीड़ा की संपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करके किसी ओट से विहार की छटा देखना चाहता है, दूसरे उपासक गोपी भाव से उपासना करते हैं। गोपियाँ रासेश्वरी राधा का शृंगार कर उन्हें रास-मंडल में ले जाती हैं। राधा कृष्ण के साथ विहार करती हैं और राधिका जी का संकेत पाकर वे गोपियों को भी रासमंडल में सम्मिलित कर लेते हैं। इसी प्रकार ऐसे भी उपासक हैं जो राधाकृष्ण मूर्तियों का शृंगार करके रास की कल्पना करते हैं और उस कल्पना में यह अभिलाषा करते हैं कि हम भी गोपी रूप होकर भगवान् के साथ रास रचा सकें।

ऐसी अभिलाषा करनेवाले भक्तों के वर्ग गोपीगीत के अनुसार इस प्रकार किए जा सकते हैं। एक वर्ग के भक्तों की अभिलाषा है कि जिस प्रकार एक गोपी ने बड़े प्रेम और आनंद से श्रीकृष्ण के कर-कमल को अपने दोनों हाथों में ले लिया उसी प्रकार वे भक्त भगवान् की कृपारूपी कर का स्पर्श पाने के अभिलाषी होते हैं। उनकी तृप्ति इसी की प्राप्ति से हो जाती है। दूसरे वर्ग के वे भक्त हैं जिनकी अभिलाषा उन गोपियों के समान है जो

भगवान् के चन्दन-चर्चित-भुजदण्ड को अपने कंधे पर रखना चाहती है अर्थात् जो भगवान् के अधिक आत्मीय बनकर उनके सखा के रूप में कृपा रूपी हाथों को प्रेम पूर्वक अपने स्कंध पर रखने की अभिलाषिणी हैं।

तीसरे प्रकार के भक्त भगवान् के और भी सन्निकट आना चाहते हैं। वे उन गोपियों के समान भगवान् के कृपा-प्रसाद के अभिलाषी हैं जो भगवान् का चबाया हुआ पान अपने हाथों में पाकर मुग्ध हो जाती है। आज भी कई संप्रदायों में इस प्रकार की गुरुभक्ति पाई जाती है। चौथे प्रकार के भक्त वे हैं जिनके हृदय में उस गोपी के समान विरह की तीव्र व्यथा समाई हुई है जो भगवान् के चरण-कमलों को स्कंध पर ही नहीं वक्षस्थल पर रखकर संतुष्ट होने की अभिलाषिणी है। पाँचवीं कोटि में वे भक्त आते हैं जिनका अहंभाव बना हुआ है। वे भगवान् की उपासना करते हुए मन. सिद्धि न होने पर उस गोपी के समान जो भौंहें चढाकर दाँतों से होंठ दबाकर प्रणय कोप करती है—क्रोधावेश में आ जाते हैं।

छठें प्रकार के भक्त उस गोपी के समान हैं जो निर्निमेष नेत्रों से भगवान् के मुख कमल का मकरंद पीते रहने पर भी तृप्त नहीं होती। श्रीमद्भागवत् में उस भक्त का वर्णन करते हुए शुकदेव जी लिखते हैं—सत-पुरुष भगवान् के चरणों के दर्शन से कभी तृप्त नहीं होते, वैसे ही वह उसकी मुख माधुरी का निरंतर पान करते रहने पर भी तृप्त नहीं होती थी।'

सातवें प्रकार के भक्त उस गोपी के समान हैं जो नेत्रों के मार्ग से भगवान् को हृदय में ले गई और फिर उसने आँखें बंद कर लीं[1]। अब वह मन ही मन भगवान् का आलिंगन करने से पुलकित हो उठी। उसका रोम रोम खिल उठा। वह सिद्ध योगियों के समान परमानंद में मग्न हो गई। शुकदेव जी यहाँ भक्ति के इस प्रगाढ भाव की महत्ता गाते हुए कहते हैं कि 'जैसे मुमुक्षुजन परमज्ञानी संत पुरुष को प्राप्त करके संसार की पीड़ा से मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही सभी गोपियों को भगवान् श्री कृष्ण के दर्शन से परम आनंद और परम उल्लास प्राप्त हुआ।'

भावभक्ति की प्राप्ति दो मार्गों से होती है—(१) साधन परिपाक द्वारा

१—गोस्वामीजी ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया—

नयनन्ह मग रामहि उर आनी।
दीन्हीं पलक कपाट सयानी॥

(२) कृष्ण प्रसाद से । अतः इनका नाम रखा गया है साधनाभिनिवेशज और कृष्ण-प्रसादज । कृष्ण-प्रसादज तीन प्रकार का होता है—(१) वाचिक कृष्ण की कृपा वाणी द्वारा (२) आलोक दान द्वारा (३) कृष्णभक्त प्रसाद द्वारा ।

भावभक्ति

भावभक्ति का संबंध हृद्‌गत राग से तब तक माना जाता है जब तक भाव का प्रेम रस में परिपाक नहीं हो जाता । इस भक्ति में बाह्य साधनों का बहुत महत्त्व नहीं है । यह तो व्यक्ति के हृदय-क्षेत्र पर अवलंबित है । जिसके हृदय में भगवान् का रूप देखकर जितना अधिक प्रवित होने की शक्ति है वह उतना ही श्रेष्ठ भक्त बन सकता है । माधवेंद्रपुरी कृष्ण मेघाडंबर देखकर भगवान् के रूप की स्मृति आते ही समाधिस्थ हो जाते थे । चैतन्य महाप्रभु भगवान् की मूर्ति के सामने नृत्य करते करते मूर्छित हो उठते थे । रूप-गोस्वामी इस प्रेमाभक्ति को सर्वोत्तम भक्ति मानते हैं । यह प्रेमाभक्ति वास्तव में भावभक्ति के परिपाक से प्राप्त होती है । जब राग सांद्र बनकर आत्मा को सम्यक् मसृण बना देता है तब प्रेमाभक्ति का उदय होता है ।

भगवान् का निरंतर नाम जपने से कुछ काल के उपरांत साधक पर करुणासागर भगवान् दयार्द्र होकर गुरु रूप में मंत्रोपदेश करते हैं । उसके निरंतर जाप से साधक की पूर्वसंचित मलिन कर्मवासना भस्म हो जाती है और उसे मनोभाव के अनुसार शुद्ध सात्विक शरीर प्राप्त हो जाता है । इसी सात्विक शरीर को भावदेह कहते हैं । भौतिक शरीर के प्राकृत धर्म इस सात्विक शरीर में संभव नहीं होते । इस भावदेह की प्राप्ति होने पर रागा साधना का भी गणेश होता है । जब साधक इस भावदेह के द्वारा भगवान् की लीलाओं का गुणगान गाते गाते गद्‌गद् हो जाता है तो साधन भक्ति भावभक्ति का रूप धारण करती है । कभी कभी यह भावभक्ति प्रयास बिना भी भगवान् के परम अनुग्रह से प्राप्त हो जाती है । पर यह स्थिति विरलों को ही जन्मजन्मांतर के पुण्यफल से प्राप्त हो सकती है ।

स्थूलदेह और भाव देह

इस भावदेह की प्राप्ति के लिए मन की एक ऐसी दृढ़ भावना बनानी पड़ती है जो कभी विचलित न हो । आज भी कभी कभी ऐसे भक्त मिल जाते

हैं जो मातृभाव के साधक हैं। वे सभी मानव में माता की भावना कर लेते हैं और अपने को शिशु मानकर जीवन बिता देते हैं। उनका शरीर जीर्ण-शीर्ण होकर अत्यत वृद्ध एव जर्जरित हो जाता है पर उनका भावशरीर सदा शिशु बना रहता है। वे अपने उपास्यदेव को प्रत्येक पुरुष अथवा नारी में मातृरूप से देखकर उल्लसित हो उठते हैं। जब ऐसी स्थिति में कभी व्यवधान न आये तो उसे भावदेह की सिद्धि समझना चाहिए। इस भाव-सिद्धि का विकसित रूप प्रेम कहलाता है। जिस प्रकार भाव का विकसित रूप प्रेम कहलाता है उसी प्रकार प्रेम की परिपक्वावस्था रस कहलाती है। इसी रस को उज्ज्वलरस की सज्ञा दी गई है जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

राधा की आठ सखियाँ—ललिता, विशाखा, सुमित्रा, चपकलता, रगदेवी, सुदरी, तुगदेवी और इदुरेखा हैं। भगवान् इन गोपियों के मध्य विराजमान राधा के साथ रासलीला किया करते हैं। ये गोपियाँ राधा-कृष्ण की केलि देख कर प्रसन्न होती हैं। दार्शनिक इन्हीं सखियों को अष्टदल मानते हैं।

रासलीला के दार्शनिक विवेचन के प्रसग में महाभाव का माहात्म्य सबसे अधिक माना जाता है। यह स्थिति एक मात्र रसिकेश्वरी राधा में पाई जाती है। भाव-सिद्धि होने पर भक्त की प्रवृत्ति अतर्मुखी हो जाती है। वह अपने अत.करण में अष्टदल कमल का साक्षात्कार करता है। एक एक दल

महाभाव

(कर्मलदल) को एक एक भाव का प्रतीक मानकर वह कर्णिका में महाभाव की स्थिति प्राप्त करता है। 'साधक का चरम लक्ष्य है महाभाव की प्राप्ति और इसके लिए आठों भावों में प्रत्येक भाव को क्रमश. एक एक करके उसे जगाना पड़ता है, नहीं तो कोई भी भाव अपने चरमविकास की अवस्था तक प्रस्फुटित नहीं किया जा सकता। विभिन्न अष्टभावों का समष्टि रूप ही 'महाभाव' होता है[1]।'

कविराज गोपीनाथ जी का कथन है—'अष्टदल की कर्णिका के रूप में जो विंदु है, वही अष्टदल का सार है। इसी का दूसरा नाम 'महाभाव' है। वस्तुतः अष्टदल महाभाव का ही अष्टविध विभक्त स्वरूप मात्र है 'महाभाव का स्वरूप ही इन अष्टभावो की समष्टि है[2]।'

१—प० बलदेव उपाध्याय—भागवत सप्रदाय पृ० ६४५

२—भक्ति रहस्य पृ० ४४६

राधिका की आठ सखियों में से एक एक सखी एक एक दल पर स्थित भाव का प्रतीक बनकर आती है। कर्णिका में स्थित बिंदु महाभाव का प्रतीक होकर राधा का प्रतिनिधित्व करता है। भगवान् या आनंद के प्रतीक हैं और राधा प्रेम की मूर्त्ति। प्रेम और आनंद का अन्योन्याश्रय संबंध होने से एक दूसरे के बिना व्याकुल और अपूर्ण हैं। पुरुष रूपी कृष्ण आराध्य हैं, प्रकृति रूपी राधा आराधिका। कहा जाता है—

> भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव।
> महाभावस्वरूपा श्री राधा ठकुरानी।
> सर्वगुण खानि कृष्ण कान्ता शिरोमणी।

भगवान् बुद्ध ने हृदय की करुणा के विकास द्वारा प्राणी मात्र से मैत्री का संदेश सुनाया था किंतु प्रेमाभक्ति के उपासकों और श्रीमद्भागवत् ने क्रमशः साधु संग भजनक्रिया अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति भाव की सहायता से हृद्गत् श्रद्धा का कृष्ण प्रेम की परिपूर्णता तक पहुँचाने का मार्ग बताया है। भक्त कवियों और आचार्यों ने भक्तिभाव को भाव तक ही सीमित न रखकर रसदशा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है[1]। उस स्थिति में भजन का उसका ऐसा स्वभाव बन जाता है जिससे सर्वभूतहित का भाव उसमें अनायास आ जाता है[2]।

आचार्यों ने महाभाव का अधिकारी एक मात्र राधा को माना है। उस महामाया की अचिंत्य शक्ति है। उसका विवेचन कौन कर सकता है! भगवान् कृष्ण जिसकी प्रसन्नता के लिए रासलीला करें उसके मनोभाव (महाभाव) का क्या वर्णन किया जाय। योगमाया का उल्लेख करते हुए एक आचार्य कहते हैं—

पुरुष इति यागा यदा संशिलष्टरूपा या वृषभानुनंदिनी तस्यां या माया कृपा तामाश्रित्य रन्तुं मनश्चक्रे'—

लालस्वरूपभूता वृषभानुनंदिनी (योगमाया) की प्रसन्नता के लिए रमण करने को मन किया। अतः इस महामाया का महाभाव अचिन्त्य और अवर्णनीय है। उसका अधिकारी और कोई नहीं।

१—माधुर्य रस का विवेचन काव्य सौष्ठव के प्रसंग में किया जायगा।
२—भगुसूत्र सरस्वती।

काम और प्रेम

भगवान् को सच्चिदानद कहा जाता है। वास्तव में सत् और चित् में कोई अतर नहीं है। जिसकी सत्ता होती है उसीका भान होता है और जिसका भान होता है उसकी सत्ता अवश्य होती है। सच्चित् के समान ही आनद भी प्रपच का कारण है। आनद से ही सारे भूत उत्पन्न होते हैं, और उसी में विलीन भी हो जाते हैं।'[1]

आनद दो प्रकार का माना जा सकता है—(१) जो आनद किसी उत्तम वस्तु को आलबन मानकर अभिव्यक्त होता है उसे प्रेम कहते हैं और जो बधनकारी निकृष्ट पदार्थों के आलबन से होता है उसे काम या मोह कहा जाता है।' मधुसूदन स्वामी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> भगवान् परमानन्द स्वरूप स्वयमेव हि।
> मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलाम्॥

भगवान् स्वय रसस्वरूप हैं। जिनका चित्त उस रस रूप में तन्मय हो जाता है वह रसमय बन जाता है। करपात्री जी ने रासलीला रहस्य में इसका विवेचन करते हुए शास्त्रीय पद्धति में लिखा है—

'प्रेमी के द्रुतचित्त पर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पदावच्छिन्न चैतन्य है वही प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि है। जिस प्रकार अग्नि का ताप पहुँचने पर लाक्षा पिघल जाता है उसी प्रकार स्नेहादि रूप अग्नि से भी प्रेमी का अत'करण द्रवीभूत हो जाता है। विष्णु आदि आलबन सात्विक हैं, इसलिए जिस समय तदवच्छिन्न चैतन्य की द्रुतचित्त पर अभिव्यक्ति होती है तब उसे प्रेम कहा जाता है और जब नायिकावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसे 'काम' कहते हैं। प्रेम सुख और पुण्य स्वरूप है तथा काम दु ख और अपुण्य स्वरूप है।'

श्रीमद्भागवत् तथा उसके अनुवादों में गोपियों के कामाभिभूत होने का बारबार वर्णन आता है। इससे पाठक के मन में स्वभावत. भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि काम से प्रेरित गोपियों का एकात में अर्द्धरात्रि को कृष्ण से रमण किस प्रकार उचित सिद्ध किया जा सकता है। इसका उत्तर विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न शैली में देने का प्रयास किया था। एकमत तो यह है कि 'रसो

---

[1]—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

वै सः' के अनुसार प्रसरस आनंद है जो सर्व विशेषण शून्य है। साक्षात्मन्मथ का भी मन्मथ है। वही भी कृष्ण है। काम भी उसीका अंश है 'कामस्तु वासुदेवांश।' अत भीमद्भागवत् में काम वर्णन भगवान् कृष्ण की ही लीला का बयान है। उनके भक्तों में काम और रमण स्पृहा, मूर्ति आदि शब्दों का प्रयोग उनके प्रेम के प्रबल वेग को बोधगम्य कराने के लिए किया गया है। वास्तव में गोपियों के निष्काम प्रेम को काम और कृष्ण के आत्मरमण को रति कहा गया है।

"वस्तुतः श्रीकृष्णचंद्र के पदारविंद की नखमणि चंद्रिका की एक रश्मि के माधुर्य का अनुभव करके कंदर्प का दर्प प्रशांत हो गया और उसे ऐसी दृढ़ भावना हुई कि मैं सहस्त्र वर्ष कठिन तपस्या करके भी व्रजांगना भाव को प्राप्त कर भी कृष्ण के पदारविंद की नखमणि-चंद्रिका का यथेष्ट सेवन करूँगा, फिर साक्षात् कृष्ण रस में निमग्न व्रजांगनाओं के सन्निधान में काम का क्या प्रभाव रह सकता था। यह भी एक आदर्श है। जिस प्रकार साधकों के लिए चित्रलिखित स्त्री को भी न देखना आदर्श है, उसी प्रकार जो बहुत उच्चकोटि के सिद्ध महात्मा हैं उनके लिए मानो यह चेतावनी है कि भाई तुम अभिमान मत करना जब तक तुम ऐसी परिस्थिति में भी अविचलित न रह सको तब तक अपने को सिद्ध मान कर मत बैठना।"

पर स्मरण रखना होगा कि यह आदर्श कामुकों के योग्य नहीं। जिस प्रकार प्रथम के समान सर्वकर्म-संन्यास का अधिकार प्रत्येक साधक को नहीं उसी प्रकार रासलीला का आदर्श कामुक के लिए नहीं। भगवान् श्री कृष्ण का आचरण अनुकरणीय ता हो नहीं सकता क्योंकि कोई भी व्यक्ति साधना के द्वारा उस स्थिति पर पहुँच नहीं सकता। श्री मद्भागवत् में इसकी अनुकृति का भी वर्जित किया गया है। यहाँ तक कि इसे सुनने का भी अधिकार उस व्यक्ति को नहीं दिया गया है जिसे छठी भावना रास की' न प्राप्त हो गई हो। जिस व्यक्ति में कामविजय की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो गई हो और भगवान् कृष्ण की अलौकिक बाललीलाओं के कारण जिनके मन में श्रद्धा भक्ति का उदय हो गया हो उन्हें भगवान् की इस काम-विजय लीला से काम विजय में सहायता मिल सकती है। जिस प्रकार भगवान् की माया का बयान सुनने से मन माया प्रपंच से विरक्त बनता है उसी प्रकार भगवान्

—करपात्रीजी—श्री रासलीला रहस्य—पृ ११

पतंजलि के सूत्र 'वीतरागविषय' वा चित्तम्' के अनुसार कृष्ण की कामविजय लीला से मन काम पर विजय प्राप्त कर लेता है।

स्वकीया परकीया

रासलीला के विवेचन में स्वकीया और परकीया प्रेम की समस्या बार बार उठती रहती है। विभिन्न विद्वानों ने गोपी प्रेम को उक्त दोनों प्रकार के प्रेम के अंतर्गत रखने का प्रयास किया है। स्वकीया और परकीया शब्द लौकिक नायक के आलंबन के प्रयोग में जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करता है वह कामजन्य प्रेम का परिचायक होता है। वास्तव मे वैष्णव कवियो और आचार्यों ने लौकिक और पारलौकिक प्रेम का भेद करने के लिए काम और प्रेम शब्द को अलग अलग अर्थों में लिया है। जब लौकिक नायक को आलंबन मानकर स्वकीया और परकीया नायिका का वर्णन किया जाता है तो लोकमर्यादा और शास्त्राज्ञा के नियमों के अनुसार–परकीया में कामवेग का आधिक्य होते हुए भी–स्वकीया को विहित और परकीया को अवैध स्वीकार किया जाता है। वैष्णव कवियों ने अलौकिक पुरुष अर्थात् कृष्ण के आलंबन मे इस क्रम का विपर्यय कर दिया है।

वहाँ परकीया और स्वकीया किसी मे कामवासना नहीं होती। क्योंकि कामवासना की विद्यमानता में कृष्ण जैसे अलौकिक नायक के प्रति प्राणी का मन उन्मुख होना सभव नहीं। वैष्णवों में परकीया गोपागना को अन्य पूर्विका अर्थात् अपने विहित कर्म (अर्थ) को त्याग कर अन्य मे रुचि रखने-वाली ऋचा माना गया है। जो ऋचा अपने इष्टदेवता की अर्थ सीमा को त्यागकर ब्रह्म का आलिंगन करे वह अन्यपूर्विका कहलाती है। इसी प्रकार जो व्रजागनाएँ अपने पति के अतिरिक्त कृष्ण (ब्रह्म) का आलिंगन करने में समर्थ होती हैं वे परकीया अर्थात् अन्य पूर्विका कहलाती है। जो व्रजागनाएँ अपने पतिप्रेम तक ही सतुष्ट हैं लोकमर्यादा के भीतर रहकर कृष्ण की उपासना करती हैं वे भी मान्य है पर उनसे भी अधिक (आध्यात्मिक जगत में) वे गोपागनाएँ पूज्य हैं जो सारी लोकमर्यादा का अतिक्रमण कर कृष्ण (ब्रह्म) प्रेम में रम जाती हैं।

पारलौकिक प्रेम के आस्वाद का अनुमान कराने के लिये लौकिक प्रेम का

१—अर्थात् विरक्त पुरुषों के विरक्त चित्त का चिंतन करनेवाला चित्त भी स्थिरता प्राप्त करता है।

उदाहरण संमुख रखना उचित समझा गया। जिस प्रकार समाधि सुख का अनुभव कराने के लिए उपनिषदों में कामरस की उपमा दी गई।

पारलौकिक प्रेम की प्रगाढ़ता स्पष्ट करने के लिए भी परकीया नायिका का उदाहरण उपयुक्त प्रतीत होता है। 'स्वकीया नायिका को नायक का सहवास सुलभ होता है, किंतु परकीया में स्नेह की अधिकता रहती है। कई प्रकार की लौकिक वैदिक अड़चनों के कारण वह स्वतंत्रता पूर्वक अपने प्रियतम से नहीं मिल सकती, इसलिए उस व्यवधान के समय उसके हृदय में जो विरहाग्नि सुलगती रहती है उससे उसके प्रेम की निरंतर अभिवृद्धि होती रहती है। इसीलिए कुछ महानुभावों ने स्वकीया नायिकाओं में भी परकीयाभाव माना है अर्थात् स्वकीया होने पर भी उसका प्रेम परकीया नायिकाओं का-सा था। वस्तुतः तो सभी व्रजांगनाएँ स्वकीया ही थीं, क्योंकि उनके परमपति भगवान् श्रीकृष्ण ही थे, परंतु उनमें से कुछ अन्य पुरुषों के साथ विवाहिता थीं और कई अविवाहिता। इस प्रकार प्रेमोत्कर्ष के लिए ही भगवान् ने यह भिन्न रूप लीला की थी।''[1]

परकीया नायिका का प्रेम जारबुद्धि से उद्भूत माना जाता है। रास में जारभाव से भगवान् कृष्ण को प्राप्त करने का वर्णन मिलता है। यहाँ कवि को केवल प्रेम की अतिशयता दिखाना अभिप्रेत है। जिस प्रकार जार के प्रति स्वकीया नायिका की अपेक्षा परकीया में प्रेम का अधिक वेग होता है उसी प्रकार गोपांगनाओं के हृदय में पतिप्रेम की अपेक्षा कृष्ण प्रेम अधिक वेगवान् था। श्री मद्भागवत में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

'जारबुद्धयापिसंगताः अपि शब्द यह सूचित करता है कि सारे अनौचित्य के होते हुए भी कृष्ण भगवान् के दिव्य आलंबन से गोपांगनाओं का परम मंगल ही हुआ।

> कामं क्रोधं भयं स्नेहं ऐक्यं सौहृदमेव च।
> नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
>
> —श्रीमद्भागवत

काम, क्रोध भय स्नेह ऐक्य अथवा सुहृद भाव से जो नित्य भगवान् का स्मरण करता है उसे तन्मयता की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

१—कल्याण-रासलीला रहस्य पृ० २६१

प्रश्न उठता है कि भगवान् कृष्ण में गोपाङ्गनाओं ने जार-बुद्धि क्यों की? यदि उन्होंने भगवान् को सबका अंतर्यामी परमेश्वर माना तो पति-बुद्धि से उनसे प्रेम क्यों नहीं किया? जारबुद्धि से किया हुआ सोपाधिक प्रेम तो कामवासनापूर्ति तक ही रहता है अतः गोपाङ्गनाओं को उचित था कि वे भगवान् को सर्वभूतांतरात्मा मानकर उनमे निरुपाधिक प्रेम करती। उन्होंने जारबुद्धि क्यों की? इन प्रश्नों का उत्तर करपात्रीजी ने श्रीमद्भागवत् के 'जारबुद्ध्यापिसंगताः'[१] के अपि शब्द के द्वारा दिया है। उनका कथन है कि आलंबन कृष्ण के माहात्म्य का प्रभाव है कि गोपाङ्गनाओं के सभी अनौचित्य गुण बन गए। 'उस जार बुद्धि से यह गुण हो गया कि जिस प्रकार जार के प्रति परकीया नायिका का स्वकीया की अपेक्षा अधिक प्रेम होता है वैसे ही इन्हें भी भगवान् के प्रति अतिशय प्रेम हुआ। अतः इससे उपासकों को बड़ा आश्वासन मिलता है। इससे बहुत त्रुटि-पूर्ण होने पर भी उन्हें भगवत्कृपा की आशा बनी रहती है। और प्रेममार्ग में आशा बहुत बड़ा अवलंबन है, क्योंकि जीव आशा होने पर ही प्रयत्नशील हो सकता है। उस प्रकार भगवान् ने अन्यपूर्विका और अनन्य पूर्विका दोनों की प्रवृत्ति अपनी ओर ही दिखलाकर प्रेम-मार्ग को सबके लिए सुलभ कर दिया है।"

आचार्यों का मत है कि भगवान् ने यह रासलीला श्री राधिकाजी को प्रसन्न करने के लिए की। भगवान् के कार्य राधिकाजी के लिए और राधिका जी के कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होते हैं। अन्य गोपागनाएँ तो एक मात्र राधिकाजी की अशाशभूता है। राधिकाजी के प्रसन्न होने से वे स्वतः प्रसन्न हो जाती हैं। इसी से गोपागनाओं का भाव 'तत्सुख सुखित्व' भाव कहलाता है। ये गोपागनाएँ स्वसुख की अभिलाषा नहीं करतीं। राधिका जी के सुख से इन्हें अशाशी भाव के कारण स्वतः सुख प्राप्त हो जाता है।

रासलीला की उपासना पद्धति से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि भक्त को भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए श्री राधिकाजी को प्रसन्न करना होता है। क्योंकि भगवान् के सभी कार्य राधिकाजी की प्रसन्नता के लिए होते हैं। जिस कार्य से राधिकाजी को आनन्द मिलता है कृष्ण वही कार्य करते हैं। और राधिका जी को प्रसन्न करने के लिए गोपाङ्गनाओं की कृपा

१—करपात्रीजी–श्री भगवत्तत्त्व

वांछनीय है। क्योंकि राधिका की सभी कार्य गोपाङ्गनाओं के आह्लाद के लिए करती हैं। गोपाङ्गनाओं की कृपाप्राप्ति गुरु कृपा से होती है। अतः मधुर भाव की उपासना में सर्वप्रथम गुरुकृपा अपरिहार्य है। गुरु ही इस उपासना पद्धति का रहस्य समझा सकता है। उसी के द्वारा गोपाङ्गना का परकीया भाव भक्त में उत्पन्न हो सकता है और नारी पति पुत्र, धन सम्पत्ति सब कुछ गुरु को अर्पित कर सकती है। गोपाङ्गना भाव की दृढ़ता द्वारा से वे गोपाङ्गनाएँ प्रसन्न होती हैं और वे राधिका की तक भक्त को पहुँचा देती हैं। अथवा राधिका के सदृश सत्यनिष्ठा भक्त में उत्पन्न हो जाती है। उस अवस्था में राधिका प्रसन्न हो जाती हैं और भगवान् कृष्ण भक्त को स्वीकार कर लेते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान् में सत्यनिष्ठा सहज में नहीं बनती। तुलसी ने अपनी 'विनयपत्रिका' हनुमान के द्वारा लक्ष्मण के पास भेजी। लक्ष्मण ने सीताजी को दी और सीता ने राम को प्रसन्न मुद्रा की स्थिति में तुलसी की सुधि दिला दी। यह तो वैधी उपासना है। पर रागात्मिका में राधाभाव अथवा सखीभाव प्राप्त करने के लिए प्रथम लोक मर्यादा त्याग कर सब कुछ आचार्य को अर्पण करना पड़ता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—

सखीया परिकीर्तित गोपाराधिभाव मातुर्य भुरो हृदयमाधि भूपाविति लोभोत्पत्तिकाले शास्त्रयुक्त्यपेक्षा न स्यात्।

राधा स्वकीया हैं या परकीया? यह प्रश्न सदा उठता रहता है। हिंदी के भक्त कवियों ने राधा को स्वकीया ही स्वीकार किया है, किंतु गौड़ीय वैष्णवों में राधा परकीया मानी जाती हैं। सूरदास प्रभृति हिंदी के भक्त कवि रास प्रारंभ होने के पूर्व राधा कृष्ण का गांधर्व[1] विवाह संपन्न करा देते हैं। हिंदी के भक्त कवि भी परकीया प्रेम की प्रगाढ़ता भक्ति क्षेत्र में लाने के लिए गोपांगनाओं में कतिपय को स्वकीया और शेष को परकीया[2] रूप से वर्णन करते हैं।

१—[illegible] ब्यास करनत रास।
है गन्धर्व विवाह चित दै सुनौ विविध विलास॥
सू० सा० १०। ११ । ११०१

२—कृष्ण तुष्टि करि कर्म करै जो आन प्रकारा।
फल विभिचार न होय होय सुख परम अपारा॥
नंददास (सिद्धांत पंचाध्यायी) [illegible]

कृष्ण कवियों के मन में भी बारबार परकीया प्रेम की स्वीकृति के विषय मे प्रश्न उठा करता था। कृष्णदास, नददास, सूरदास प्रभृति भक्तों ने बारबार इस तथ्य पर बल दिया है कि गोपागनाओं का प्रेम कामजन्य नहीं। वह तो अध्यात्म प्रेरित होने से शुद्ध प्रेम की कोटि में आता है। प्राकृत जन अर्थात् भक्तिभाव से रहित व्यक्ति उसे नहीं जान सकते—

गरबादिक जे कहे काम के अग आहिं ते।
सुद्ध प्रेम के अग नाहिं जानहिं प्राकृत जे।

[नददास]

नददास ने एक मध्यम मार्ग पकड़ कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यद्यपि कृष्ण के रूपलावण्य पर मुग्ध हो गोपागनाएँ काम से वशीभूत बनकर भगवान् के सान्निध्य में आई थीं किंतु आलबन के माहात्म्य से कामरस शुद्ध प्रेमरस में परिवर्त्तित हो गया। सौराष्ट्र के भक्तों में मीरा और नरसी मेहता का भी यही मत जान पड़ता है[1]।

श्री कृष्ण की दृष्टि से तो सभी गोपियाँ अथवा गोपागनाएँ स्वरूपभूता अतरगा शक्ति हैं। ऐसी स्थिति में जारभाव कहाँ! जहाँ काम को स्थान नहीं, किसी प्रकार का अगसग या भोगलालसा नहीं, वहाँ औपपत्य (जार) की कल्पना कैसे की जा सकती है। कुछ विचारकों का मत है कि 'गोपियाँ परकीया नहीं स्वकीया थीं, परंतु उनमें परकीया भाव था। परकीया होने में और परकीया भाव होने में आकाश-पाताल का अतर है। परकीया भाव में तीन बातें बड़े महत्त्व की हैं—अपने प्रियतम का निरतर चिंतन, मिलन की उत्कट उत्कठा और दोष दृष्टि का सर्वथा अभाव। स्वकीयाभाव में निरतर एक साथ रहने के कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं, परन्तु परकीयाभाव में ये तीनों भाव बने रहते हैं।'

स्वकीया की अपेक्षा चौथी विशेषता परकीया में यह है कि स्वकीया अपने पति से सकाम प्रेम करती है। वह पुत्र, कन्या और अपने भरण-पोषण की पति से आकाक्षा रखती है परतु परकीया अपने प्रियतम से निःस्वार्थ प्रेम करती है। वह आत्म-समर्पण करके सतुष्ट हो जाती है। गोपियों में उक्त

---

१ It is only the married women who surrendered their all to him, who loved him for love's sake Thoothi V G Page 80

प्यारो भावों की उत्कृष्टता थी और वासना का कहीं लेश भी न था। इसी भक्ति को सर्वोत्तम माना गया। किंतु उत्तम से उत्तम सिद्धांत निकृष्ट व्यक्तियों के हाथों में सारी महत्ता खो बैठता है। गांधी जी के सत्याग्रह और अनशन सिद्धांत का आज कितना दुरुपयोग देखा जाता है। ठीक यही दशा मधुर भावना की हुई और अंत में स्वामी दयानंद को इसका विरोध करना पड़ा।

इस परकीया भाव की मधुर उपासना का परिणाम कालांतर में वही हुआ जिसकी भक्त कवियों को आशंका थी। गोस्वामी गुरुओं में जब वल्लभाचार्य या विट्ठलदास के सदृश तपोबल न रहा तो उन्होंने भक्तों की अंध श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाया। जहाँ बुद्धि रूपी नायिका कृष्ण रूपी ब्रह्म को समर्पित की जाती थी वहाँ स्थिति और ही हो गई। एक विद्वान् लिखते हैं[1]—

"Instead of Krishna, the Maharajas are worshi pped as living Krishna to whom the devotee offers his body mind and wealth as an indication of the complete self surrender to which he is prepar ed to render for the sake of his love for Krishua In practice therefore such extreme theories did great harm to the moralitdy of some folks during the seventeenth and the eighteenth centuries. And in the middle of the nineteenth century a case in the High conrt of Bombay gave us a clue to the extent to which demoralization came about owing to such beliefs

रास का अधिकारी पात्र

रास साहित्य का रहस्य समझने के लिए भगवान् के साथ क्रीड़ा में भाग लेनेवाली गोपियों की मनोदशा का मर्म समझना आवश्यक है। भगवान् को गोपियाँ अधिक प्रिय हैं अतः उन्होंने रास का अधिकारी और किसी को न समझ कर गोपियों के मन में मीरा से प्रेरणा उत्पन्न की। भगवान् का

1 Thoothi—The Vaishnavas of guj r t P ge 86

मथुरा से अधिक गोकुल निवासी अतरग प्रतीत होते हैं। उनमें श्रीदामा आदि सखा अन्य मित्रों से अधिक प्रिय हैं। नित्यसखा श्रीदामा आदि से गोप गोपागनाएँ अधिक अतरग हैं। गोपागनाओं में भी ललिता-विशाखा आदि विशेष प्रिय हैं। उन सब में रासरसेश्वरी राधा का स्थान सर्वोच्च है। भगवान् ने रासलीला में भाग लेने का अधिकार केवल गोपागनाओं को दिया और उनमें भी नायिका पद की अधिकारिणी तो श्री राधा ही बनाई गई। गोपगण तो एक मात्र दर्शक रूप में रहे होंगे। वे दर्शक भी उस स्थिति में बने जब छठी भावना प्राप्त कर चुके।

'भगवान् कृष्ण ने तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, प्रलबासुर, आदि के वध, कालियनाग, दावानल आदि से व्रज की रक्षा, गोवर्धन-धारण आदि अनेक अतिमानवीय लीलाओं के द्वारा गोप-गोपियों के मन मे यह विश्वास बिठा दिया था कि कृष्ण कोई पार्थिव पुरुष नहीं। वरुण-लोक से नद की मुक्ति के द्वारा कृष्ण ने अपने भगवदैश्वर्य की पूर्ण स्थापना कर दी। अत में भगवान् ने अपने योगबल से उन्हें अपने निर्विशेष स्वरूप का साक्षात्कार कराया और फिर बैकुठ में ले जाकर अपने सगुण स्वरूप का भी दर्शन कराया।' इस प्रकार उन्होंने गोपों को रास-दर्शन का अधिकारी बनाया। यह अधिकार स्वरूप-साक्षात्कार के बिना सभव नहीं। आज कल व्रज में इसे छठी भावना कहते हैं—'छठी भावना रास की'। पाँचवीं भावना तक पहुँचते पहुँचते देह-सुधि भूल जाती है—'पाँचे भूले देह सुधि'। अर्थात् 'इस भावना में ब्रह्मस्थिति हो ही जाती है। ऐसी स्थिति हुए बिना पुरुष रास दर्शन का अधिकारी नहीं होता।' यह रास दर्शन केवल कृष्णावतार में ही उपलब्ध हुआ।

महारानी कुती के शब्दों से भी यही ध्वनि निकलती है कि परमहस, अमलात्मा मुनियों के लिए भक्तियोग का विधान करने को कृष्णावतार हुआ है—

तथा परमहसाना मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथ पश्येमहि स्त्रियः॥

भगवान् की कृपा से गोप - गोपियों का मन प्राकृत पदार्थों से सर्वथा परामुख होकर 'प्रकृति प्राकृति प्रपचातीत परमतत्व में परिनिष्ठित' हो गया

था। परमहंस का यही लक्षण है कि उसकी दृष्टि में संपूर्ण दृश्य का बाध हो जाता है और केवल शुद्ध चेतन ही अवशिष्ट रह जाता है।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि रासलीला के पूर्व जब गोप-गोपियाँ एवं गोपांगनाएँ परमहंस की स्थिति पर पहुँच गई तो रासलीला का प्रयोजन क्या रहा? हंस के समान जो व्यक्ति आत्मा-अनात्मा, दृक्-दृश्य अथवा पुरुष प्रकृति का विवेक कर सकता है वह परमहंस कहलाता है। जब ब्रजवासियों का यह स्थिति प्राप्त हो गई थी तो रासलीला की आवश्यकता ही क्या थी? इसका उत्तर दुर्गासप्तशती के आधार पर इस प्रकार मिलता है—

तत्त्वज्ञानी हो जाने पर भी भगवती महामाया मोह की ओर ज्ञानी को बलात् आकृष्ट कर लेती है।[1] आचार्यों ने इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि "तत्त्वज्ञ लोग यद्यपि सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद शून्य शुद्ध परब्रह्म का अनुभव करते हैं परंतु प्रारब्धशेष पर्यंत निरुपाधिक नहीं होते। यद्यपि उन्होंने देहेंद्रियादि का मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है तथापि व्यवहार काल में इनकी सत्ता बना ही रहती है।" इसी कारण तत्त्व ज्ञान होने पर भी निरुपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता, उसका अनुभव तो प्रारब्धक्षय के उपरांत उपाधि का नाश होने पर ही संभव है, किंतु भगवान् परमहंसों को प्रारब्ध क्षय से पूर्व ही निरुपाधिक ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए 'कोटिकाम कमनीय महामनोहर श्री कृष्ण मूर्ति में प्रादुर्भूत' हुए और निर्विशेष ब्रह्म-दर्शन की अपेक्षा अधिक आनंद देने और योगमाया के प्रहार से बचने के लिए अपना दिव्य रूप दिखाने लगे। जनक जैसे महात्मा को ऐसे ही परमानंद की स्थिति में पहुँचाने के लिए ये लीलाएँ हैं—राम को देखकर जनक कहते हैं—

> इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥
> सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

रासलीला के योग्य अधिकारी सिद्ध परमहंसों को पूर्ण प्रशांति प्रदान कराने के लिये भगवान ने इस लीला की रचना की। उसका कारण यह है

१—ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

के ब्रह्मतत्त्वज्ञों की भी उतनी प्रगाढ स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती जैसी विषयी पुरुषों की विषयों में होती है। 'इस स्वारसिकी प्रवृत्ति के तारतम्य से ही तत्त्वज्ञों की भूमिका का तारतम्य होता है। चतुर्थ, पचम, षष्ठ और सप्तम भूमिकावाले तत्त्वज्ञों में केवल बाह्य विषयों से उपरत रहते हुए तत्त्वोन्मुख रहने में ही तारतम्य है। ज्ञान तो सबमें समान है। जितनी ही प्रयत्नशून्य स्वारसिकी भगवदुन्मुखता है उतनी ही उत्कृष्ट भूमिका होती है। जिनकी मनोवृत्ति अत्यत कामुक की कामिनी-विषयक लालसा के समान ब्रह्म के प्रति अत्यत स्वारसिकी होती है वे ही नारायण - परायण है।[1] वे उसकी अपेक्षा भिन्न भूमिकावाले जीवन्मुक्तो से उत्कृष्टतम हैं।

रास के नायक और नायिका

रासलीला के नायक हैं श्रीकृष्ण और रासेश्वरी हैं राधा। इन दोनों की लीलाओ ने रास - साहित्य के माध्यम से कोटि-कोटि भारतीय जनता को तत्त्वज्ञान सिखाने में अन्य किसी साहित्य से अधिक सफलता पाई है। मध्यकाल के भक्त कवियों ने समस्त भारत में उत्तर से दक्षिण तक श्री कृष्ण और राधा की प्रेमलीलाओ से भक्ति साहित्य को अनुप्राणित किया। अत. भक्ति विधायक उक्त दोनों तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है।

कृष्ण की ऐतिहासिकता का अनुसधान हमारे विवेच्य विषय की सीमा से परे है अत. हम यहाँ उनके तात्त्विक विवेचन को ही लक्ष्य बनाकर विविध आचार्यों की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। भक्तिकाल के प्रायः सभी आचार्यों एव कवियों ने श्री कृष्ण की आराधना सगुण ब्रह्म मानकर की। किंतु शकर ब्रह्म को उस अर्थ में सगुण स्वीकार नहीं करते, जिस अर्थ में रामानुजादि परवर्ती आचार्यों ने निरूपित किया है। उनका तो कथन है कि श्रुतियों में जहाँ जहाँ सगुण ब्रह्म का वर्णन आया है, वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपासना की सिद्धि के लिये है। अत' ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्गुण ही है।

सगुण और निर्गुण दोनो प्रकार के वर्णन मिलने पर भी समस्त विशेषण और विकल्पों से रहित निर्गुण स्वरूप ही स्वीकार करना चाहिए, सगुण नहीं।

---

१ मुक्तानामपि सिद्धाना नारायणपरायण ।
सुदुर्लभ प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥

क्योंकि उपनिषदों में जहाँ कहीं ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया है वहाँ अशब्द अस्पर्श, अरूप, अव्यय आदि निर्विशेष ही बतलाया गया है।'

अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्त विशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्येवमादिषु अपास्त समस्त विशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते।

(भाष्य ३।२।११)

रामानुजाचार्य ने शंकर के उक्त सिद्धांत से असहमति प्रकट की। उन्होंने ब्रह्म के निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण स्वरूप को अधिक श्रेयस्कर घोषित किया। उनका ब्रह्म सर्वेश्वर, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, निखिल कारण कारण अंतर्यामी, चिदचिद्विशिष्ट, निराकार, साकार, विभवव्यूह अर्चा आदि के रूप में अवतार ग्रहण करनेवाले हैं। जहाँ भगवान् को 'निर्गुण' कहा गया है, वहाँ उसको दिव्य अप्राकृत गुणों से युक्त समझना चाहिए। जीव और जगत् उसके शरीर हैं, और उन दोनों से नित्य युक्त ब्रह्म है।

'इस विषय में तत्त्व इस प्रकार है। ब्रह्म ही सदा 'सब' शब्द का वाच्य है, क्योंकि चित् और जड़ उसीके शरीर या प्रकारमात्र हैं। उसकी कभी कारणावस्था होती है और कभी कार्यावस्था। कारण अवस्था में वह सूक्ष्म दशापन्न होता है, नामरूपरहित जीव और जड़ उसका शरीर होता है। और कार्यावस्था में वह (ब्रह्म) स्थूलदशापन्न होता है, नामरूप के भेद के साथ विभिन्न जीव और जड़ उसके शरीर होते हैं। क्योंकि परब्रह्म से उसका कार्य जगत् भिन्न नहीं है।'

अत्रेदं तत्त्वं चिदचिद् वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्वशब्दाभिधेयम्। तत् कदाचित् स्वस्मात् स्वशरीरतयापि पृथग् व्यपदेशानर्हसूक्ष्म दशापन्न चिदचिद् वस्तुशरीरं तत्कारणावस्थं ब्रह्म। कदाचिच्च विभक्त नाम रूप व्यवहारार्ह स्थूल दशापन्न चिदचिद् वस्तु शरीरं तच्च कार्यावस्थमिति कारणात् परस्मात् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदनन्यत्।

(श्रीभाष्य २।१।१५)

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत की स्थापना की। इसी संप्रदाय में कालांतर में रामभक्त कवियों की अमरवाणी से कृष्ण की लीलाओं का भी

ज्ञान हुआ। तुलसी जैसे मर्यादावादी ने भी रासरमण करनेवाली गोपियों की प्रशंसा करते हुए कहा—

'वलि गुरु तज्यो कंत ब्रज वनितनि भये सब मंगलकारी।'

रासरमण में भाग लेनेवाली गोपियों ने अपने भौतिक पतियों को त्यागकर अनुचित नहीं किया अपितु अपने जीवन को मंगलकारी बना लिया।

द्वैत संप्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य रामानुज के इस मत का विरोध करते हैं कि ईश्वर ही जगत् रूप में परिणत हो जाता है। उनका कथन है कि जगत् और भगवान् में सतत पार्थक्य विद्यमान रहता है। 'भगवान् नियामक हैं और जगत नियम्य। भला नियामक और नियम्य एक किस प्रकार हो सकते हैं। रामानुज से मध्व का भेद जीव और जगत् के संबंध में भी दिखाई पड़ता है। रामानुज जीव और जगत् में ब्रह्म से विजातीय और स्वजातीय भेद नहीं केवल स्वगतभेद मानते हैं। मध्व जीव और ब्रह्म को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् मानते हैं। वे दोनों का एक ही संबंध मानते हैं, वह है सेव्य सेवक भाव का। मध्व ने श्रीकृष्ण को ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप और गोपियों को सेविका मानकर लीलाओं का रहस्योद्घाटन किया है।

निंबार्क ने मध्व का मत स्वीकार नहीं किया। उन्होंने ब्रह्म और जीव में भिन्नाभिन्न संबंध स्थापित किया। वे ब्रह्म को ही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण मानकर जीव और जगत् दोनों को ब्रह्म का परिणाम बताते हैं।

जगत् गुण है और ब्रह्म गुणी। गुणी और गुण में कोई भेद नहीं होता, और गुणी गुण से परे होता है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही है। इन दोनों का विरोध केवल शाब्दिक है, वास्तविक नहीं। गुणी कहने पर भी गुणातीत का बोध हो जाता है। ब्रह्म का स्वरूप अचिंत्य, अनंत, निरतिशय, आश्रय, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर है। श्रीकृष्ण कोई अन्य तत्त्व नहीं वह ब्रह्म के ही नामांतर है।

राससाहित्य की प्रचुर रचना जिस संप्रदाय में हुई उसके प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य हैं जो कृष्ण को समस्त विरुद्ध धर्मों का अधिष्ठान मानते हैं।

वे (ब्रह्म) निर्गुण होने पर भी सगुण हैं, कारण होने पर भी कारण नहीं हैं, अगम्य होने पर भी सुगम हैं, सधर्मक होने पर भी निधर्मक हैं, निराकार होने पर भी साकार हैं, आत्माराम होने पर भी रमण हैं, उनमें माया भी नहीं है और सब कुछ है भी। उनमें कभी परिणाम नहीं होता और होता भी है।

वे अविकृत हैं, उनका परिणाम भी अविकृत है। वे शुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप हैं। वे नित्य साकार हैं।

नित्य विहार-दर्शन में विश्वास करने वाले राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य हितहरिवंश के अनुयायियों ने सिद्धाद्वैत मत की स्थापना करने का प्रयास किया है। इस संप्रदाय की सैद्धांतिक व्याख्या करते हुए डा स्नातक ने तर्क और प्रमाणों के बल पर यह सिद्ध किया है कि "जो अर्थ सिद्धाद्वैत शब्द से गृहीत होता है वह है : सिद्ध है अद्वैत जिसमें या जहाँ वह सिद्धाद्वैत। अर्थात् राधावल्लभ संप्रदाय में राधा और कृष्ण का अद्वैत स्वतःसिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिये माया आदि कारणों के निराकरण की प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ न तो शंकराचार्य के अध्यास की प्रतीति है और न किसी मिथ्या आवरण से अज्ञान होता है। अतः सिद्धाद्वैत शब्द से नित्य सिद्ध अद्वैत स्थिति समझनी चाहिए। किंतु यह शब्द यदि इस भ्रम का द्योतक माना जाय तो राधाकृष्ण का अद्वैत स्वीकार किया जायगा या जीव और ब्रह्म का ? साथ ही यदि अद्वैत है तो लीला में द्वित्व प्रतीति के लिये क्या समाधान प्रस्तुत किया जायगा ? अतः इस शब्द को हम केवल अनुकरणात्मक ही समझते हैं।'

किंतु आज दिन वृंदावन में इस संप्रदाय के अनुयायियों की अगाध श्रद्धा रासलीला में दिखाई पड़ती है और इस संप्रदाय के साधुओं ने रासलीला के उत्तम पदों की रचना भी की है। इसी कारण सिद्धाद्वैत के श्रीकृष्ण तत्व पर प्रकाश डालना उचित समझा गया।

विभिन्न आचार्यों के मत की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकलता गया है कि कृष्ण के विग्रह के विषय में सब में मतैक्य है। वास्तव में भगवान् में शरीर और शरीरी का भेद नहीं होता। जीव अपने शरीर से पृथक् होता है शरीर उसका ग्रहण किया हुआ है और वह उसे त्याग सकता है। परंतु भगवान् का शरीर जड़ नहीं चिन्मय होता है। उसमें हेय-उपादेय का भेद नहीं होता वह संपूर्णतः आत्मा ही है। शरीर की ही भाँति भगवान् के गुण भी आत्मस्वरूप ही होते हैं। इसका कारण यह है कि जीवों के गुण प्राकृत होते हैं वे उनका त्याग कर सकते हैं। भगवान् के गुण निज स्वरूपभूत और अप्राकृत है, इसलिये वे उनका त्याग नहीं कर सकते। एक बात बड़ी विलक्षण है कि [illegible]

होते हैं, भगवान् की दृष्टि में नहीं। भगवान् तो निज स्वरूप में, समत्व में ही स्थित रहते हैं, क्योंकि वहाँ तो गुणगुणी का भेद है ही नहीं।

कृष्ण की रासलीला के संबध में उनके वय का प्रश्न उठाया जाता है। कहा जाता है कि कृष्ण की उस समय दस वर्ष की अवस्था थी किंतु गोपियों के सामने पूर्ण युवा रूपमें वे दिखाई पड़ते थे। एक ही शरीर दो रूप कैसे धारण कर सकता है? इसका उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है। तथ्य तो यह है कि ईसाई धर्म में भी इस प्रकार का प्रसङ्ग पाया जाता है। भक्त की अपनी भावना के अनुसार भगवान् का स्वरूप दिखाई पड़ता है। तुलसीदास भी कहते हैं—'जाकी रही भावना जैसी। हरि मूरति देखी तिन जैसी।"

चौदहवीं शती में जर्मनी में सुसो नामक एक भक्त ईसा मसीह को एक काल में दो स्थितियों में पाता था—

Suso, the German mystic, who flourished in the 14th Century, kissed the baby christ of his vision and uttered a cry of amazment that He who bears up the Heaven is so great and yet so small, so beautiful in Heaven and so child like in earth[1]

रहस्यवादियों का कथन है कि केवल बुद्धि बल से कृष्ण या ईसा की इस स्थिति की अनुभूति नहीं हो सकती। उसे सामान्य चैतन्य शक्ति की सीमाओं का उत्क्रमण कर ऐसे रहस्यमय लोक में पहुँचना होता है जहाँ का सौंदर्य सहसा उसे विस्मय विभोर कर देता है। वहाँ तो आत्मतत्त्व साक्षात् सामने आ जाता है। "It is the sublime which has manifested itself"—Lacordaire

रासेश्वरी राधा

मध्यकालीन राससाहित्य को सबसे अधिक जयदेव की राधा ने प्रभावित किया। जयदेव के राधातत्त्व का मूल स्रोत प्राचीन ब्रह्मवैवर्त्तपुराण को माना जाता है। गीतगोविंद का मंगलाचरण ब्रह्मवैवर्त्त की कथा से पूर्ण संगति रखता जान पड़ता है। कथा इस प्रकार है—

1—W R Inge (1913) Christian Mysticism P 176

एक दिन शिशु कृष्ण को साथ लेकर नंद वृंदावन के भांडीरवन में गोचारण-हित गए। सहसा आकाश मेघाच्छन्न हो गया और वज्रपात की आशंका होने लगी। कृष्ण को अत्यंत भयभीत जानकर नन्द उन्हें किसी प्रकार भेजने को आकुल हो रहे थे कि किशोरी राधिका जी दिखाई पड़ीं। राधिका की अलौकिक सुख श्री देखकर विस्मय विभोर नन्द कहने लगे—गर्ग ऋषि के मुख से हमने सुना है कि तुम परामप्रकृति हो। हे भद्रे, हमारे प्राणप्रिय पुत्र कृष्ण को गृह तक पहुँचा दो। राधा प्रसन्न मुद्रा से कृष्ण को अंक में लेकर गृह की ओर चलीं। मार्ग में क्या देखती हैं कि शिशु कृष्ण किशोर बन होकर कोटि कंदर्प कमनीय बन गए। राधा विस्मित होकर उन्हें निहार ही रही थी कि किशोर कृष्ण पूर्ण युवा बन गए। अब राधिका का मन मदनातुर हो उठा। राधा की चित्त शांति के उपरांत कृष्ण पूर्ववत् शिशु बन गए। वर्षा से आर्द्र वसना राधा रोरुद्यमान कृष्ण को क्रोड़ में लेकर यशोदा के पास पहुँची और बोली—

गृहाण बालकं भद्रे ! स्तनं दत्वा प्रबोधय !'

हे भद्रे बालक को ग्रहण करो और अपना दूध पिला कर शांत करो। ब्रह्म-वैवर्त्त के इसी प्रसंग को लेकर जयदेव मंगलाचरण करते हुए कहते हैं —

मेघ भरित अंबर अति श्यामल तरु तमाल की छाया
कान्ह भीरु है जा राधे ! गृह व्यापी रात की माया।
या निर्देश पाय नंद महर का हरि-राधा मदमाते
यमुना पुलिन के कुंज-कुंज से क्रीड़ा करते जाते।

बंकिमचंद्र ने ठीक ही कहा था कि "वर्त्तमान आकारेर ब्रह्मपुरान जयदेवेर पूर्ववर्ती अर्थात् तृतीय एकादश शतकेर पूर्वगामी। नवीन ब्रह्मवैवर्त्त से बहुत ही भिन्न है।

१—क्रोडे बालकमादाय दृष्ट्वा च नवयौवनम्।
सर्वस्मृतिं स्वरूपा सा तथापि विस्मयं ययौ ॥

२—मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे ! गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः ॥ १ ॥
गीतगोविन्द

वंकिमचंद्र ने यह भी सिद्ध किया है कि वर्त्तमान युग में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण जो प्रचलित है—जो पुराण जयदेव का अवलंबन था—वह प्राचीन ब्रह्मपुराण नहीं। वह एक प्रकार का अभिनव ग्रंथ है क्योंकि मत्स्य पुराण मे ब्रह्मवैवर्त्त का जो परिचय है उसके साथ प्रचलित ब्रह्मपुराण की कोई संगति नहीं। मत्स्यपुराण में उल्लिखित ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में राधा रासेश्वरी है पर आलिंगन, कुचमर्दन आदि का उसमें वर्णन नहीं।[1]

इससे यह प्रमाणित होता है कि पुराणों मे उत्तरोत्तर राधा-कृष्ण की रति क्रीड़ा का वर्णन अधिकाधिक शृंगारी रूप धारण करता गया। और जयदेव ने उसे और भी विकसित करके परवर्त्ती कवियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

साहित्य के अंतर्गत राधा का उद्भव रहस्यमयी घटना है। राधा को यदि जनमानस की सृष्टि कह कर लोक-परिधि के बाहर का तत्व स्वीकार कर लिया जाय तो भी यह प्रश्न बना रहेगा कि किस काल और किस आधार पर लोक मानस मे इस तत्त्व के सृजन का संकल्प उठा। कतिपय आचार्यों का मत है कि सांख्य शास्त्र का पुरुषप्रकृतिवाद ही राधा कृष्ण का मूल रूप है। 'पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को विवृत करने के लिए कृष्ण पुरुष और राधा प्रकृति को कल्पना की गई।' इसका आधार ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का यह उद्धरण है—'ममार्द्धस्वरूपात्व मूलप्रकृतिरीश्वरी।'

राधा का उद्भव

कतिपय आचार्यों ने राधा का उद्भव तंत्र मत के आधार पर सिद्ध किया है। वे लोग शाक्तों की शक्ति देवी से राधा का उद्भव मानते हैं। शिव तथा शक्ति को कालांतर में राधा कृष्ण का रूप दिया गया[2]। इसी प्रकार सहजिया संप्रदाय से भी राधा-कृष्ण का संबंध जोड़ने का प्रयास किया जाता है। सहजिया संप्रदाय की विशेषता है कि वह लौकिक काम की भूमि पर

१—श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त—रासलीला पृ० ८०

२—डा० शशिभूषण गुप्त ने 'श्री राधा का क्रम विकास' में एक स्थान पर लिखा है "राधावाद का बीज भारतीय सामान्य शक्तिवाद में है, वही सामान्य शक्तिवाद वैष्णव धर्म और दर्शन से भिन्न भिन्न प्रकार से युक्त होकर भिन्न भिन्न युगों और भिन्न भिन्न देशों में विचित्र परिणति को प्राप्त हुआ है। उसी क्रम परिणति की एक विशेष अभिव्यक्ति ही राधावाद है।'

श्री राधा का क्रमविकास पृष्ठ ३

है। यही शिवशक्ति संमिलन का प्रयोजक और कामरूप है—आदि रस या शृंगाररस है। विश्व सृष्टि के मूल में ही यह रस-तत्व प्रतिष्ठित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो पैंतीस और छत्तीस तत्व अथवा शक्ति हैं—त्रिपुरा सिद्धांत में वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं। और गौड़ीय वैष्णव दर्शन में वही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिवशक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण राधा एक और अभिन्न हैं। यही परम वस्तु त्रिपुर मत में सुंदरी है। अथवा त्रिपुर सुंदरी है। + + +। 'सौंदर्य लहरी' के पंचक श्लोक और वामकेश्वर महातंत्र की 'चतुःशती' में भी यही बात कही गई है।

इस सुंदरी के उपासक इसकी उपासना चंद्ररूप में करते हैं। चंद्र की सोलह कलाएँ हैं। सभी कलाएँ नित्य हैं, इसलिये संमिलित भाव से इनका नित्य षोडशिका के नाम से वर्णन किया जाता है। पहली पंद्रह कलाओं का उदयअस्त होता रहता है। सोलहवीं का नहीं। यही अमृता नाम की चंद्रकला है। वैयाकरण इसी को परमन्ती कहते हैं। दर्शनशास्त्र में इसका पारिभाषिक नाम आत्मा है। मंत्रशास्त्र में इसी को मंत्र या देवताओं का स्वरूप कहा गया है। + + +। इसी कारण उपासक के निकट सुंदरी नित्य षोडशवर्षीया रहती है। गौड़ीय संप्रदाय में भी ठीक यही बात कही गई है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण नित्य षोडशवर्षीय नित किशोर हैं—

नित्य किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तक।'

इस उद्धरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि काश्मीरीय शैवदर्शन की शक्तिपूजा को गौड़ीय संप्रदाय ने ग्रहण कर लिया।

राधा को कृष्णवल्लभा निरूपित करनेवाले बृहद्गौतमीय तंत्र से भी उपर्युक्त प्रमाणित होता है—

'त्रितत्त्व रूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा, प्रकृतेः परा एवाहं
सापि मच्छक्तिरूपिणी तयासार्धं त्वया न सार्धं देवता ह्युदाहृत्'

राधिका का माहात्म्य यहाँ तक दुरदर्शीय बना कि उसमें कृष्ण की आह्लादिनी संधिनी ज्ञान इच्छा क्रिया आदि अनेक शक्तियों का समावेश सिद्ध करने के लिए एक नए मंत्र राधिकोपनिषद् की रचना की गई। इस उपनिषद् का मत है कि कृष्ण की विविध शक्तियों में से आह्लादिनी शक्ति राधा को अत्यंत प्रिय है। कृष्ण को यह शक्ति इतनी प्रिय है कि वे राधा की इसी कारण आराधना करते हैं। और राधा इनकी आराधना करती है।

राधाकृष्ण की लीलाओं को शिलाओं पर उत्कीर्ण करने का प्रथम प्रयास चौथी शताब्दी के मदसौर के मदिरो में हुआ। इस मदिर के दो स्तभो पर गोवधन लीला के चित्र उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त शिला लेखों पर राधा माखनलीला, शकटासुर लीला, धेनुक लीला, कालीय नागलीला के भी दृश्य विद्यमान है। इन लीलाओं में राधिका की कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं दिखाई पड़ती। डा० सुनीतिकुमार का मत है कि पहाड़पुर (बगाल) से प्राप्त एक मूर्त्ति पर राधा का चित्र एक गोपी के रूप में उत्कीर्ण है। यह मूर्त्ति पॉचवीं शताब्दी में निमित हुई थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पॉचवीं शताब्दी तक राधा साहित्य तक ही नहीं, अन्य ललित कलाओं के लिए भी ग्राह्य बन गई थी।

काव्य-साहित्य के अतर्गत सर्वप्रथम आर्यासप्तशती में राधा का वृत्तात पाया गया। यह ग्रथ ईसा की प्रथम अथवा चतुर्थ शताब्दी में विरचित हुआ। इस ग्रथ में राधा का स्वरूप अस्पष्ट रूप से कुछ इस प्रकार है—

'तुमने (कृष्ण ने) अपने मुख के श्वास से राधिका के कपोल पर लगे हुए धूलिकणों को दूरकरके अन्य गोपियों के महत्त्व को न्यून कर दिया है।'[1] मूल पाठ इस प्रकार है—

'मुहुमारुएण त कह्ण गोरअ राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणं बलवीण अण्णाण वि गोरअं हरसि॥'

यदि इसे प्रक्षिप्त न माना जाए और गाहासत्तसई की रचना चौथी शताब्दी की मानी जाए तो न्यूनाधिक दो सहस्र वर्ष से भारतीय साहित्य को प्रभावित करनेवाली राधा का अक्षुण्ण महत्त्व स्वीकार करना पडेगा।

गाथा सतसई, दशरूपक, वेणीसहार, ध्वन्यालोक, नलचपू (दसवीं शताब्दी) शिशुपालबध की वल्लभदेव कृत टीका, सरस्वती कठाभरण से होते हुए राधा का रूप गीतगोविंद मे आकर निखर उठा। यही परपरागत राधा

---

[1] गाहासत्तसई १।२९

गाय के खुर से उड़ाई हुई धूल राधा के मुखपर छाई हुई है। कृष्ण उसे फूँककर उड़ाने के बहाने मुँह सटाये हुए हैं। (कवि का कलात्मक इगित चुबन की ओर है।) जिस सुख का अनुभव दूसरी गोपियाँ न कर सकने के कारण अपने को अधन्य समझ सकती है।

अलौकिक प्रेम की स्थापना करना चाहता है। इस संप्रदाय की साधन-क्रियायें कामकीला अर्थात् वाम शृंगार पर अवलंबित हैं। भोग कामना के प्राधान्य के कारण इसके अनुयायियों ने परकीया प्रेम को सर्व श्रेष्ठ माना।

सहजिया संप्रदाय ने स्त्री के चौरासी अंगुल के शरीर को ही ८४ कोस वाला ब्रजमंडल घोषित किया।

राधा भाव के स्रोत का अनुसंधान करते हुए डा दास गुप्त ने शक्ति तत्व से इसका उद्भव मानकर यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शक्ति तत्व तो बीच की एक शृंखला है। वास्तव में इसका मूल स्रोत भी एक है। काश्मीर शैव दर्शन के आधार पर भी यह प्रमाणित किया जाता है कि राधातत्व शक्तितत्व का ही परवर्ती रूप है जो देश काल की अनुकूल परिस्थिति पाकर विकासोन्मुख बनता गया। शाक्तों में वामापूजा का बड़ा महत्त्व है। त्रिपुर सुंदरी की आराधना का यह सिद्धांत है कि स्त्रियों का ही नहीं अपितु पुरुषों को भी अपने आप को त्रिपुर सुंदरी ही मानकर साधना करनी चाहिए। संभवतः वैष्णवों में सखीभाव की धारणा इसी सिद्धांत का परिणाम हो। कविराज गोपीनाथ का तो यहाँ तक कहना है कि सूफियों के प्रेमदर्शन एवं वैष्णवों की प्रेमलक्षणा भक्ति का बीज इसी त्रिपुरसुंदरी की आराधना में निहित था।

हित हरिवंश, चैतन्य वल्लभाचार्य और रामानंद के संप्रदायों में सखी भाव तथा राधाभाव की उपासना की पद्धति का मूलस्रोत भी ए० बार्थ इसी शाक्त मत की सीमा के अंतर्गत मानते हैं। उनका कथन है—

Such moreover are the Radhaballabhis who date from the end of the sixteenth century and worship krishna, so far as he is the lover of Radha and the Sakhi bhavas those who identify them selves with the friend that is to say with Radha who have adopted the costume manners and occupations of woman. These last two sects are in reality Vaishnavite Shakts among whom we must also rank a great many individuals and even

entire communities of the Chaitanya, the Vallabhacharya and Ramanandis.[1]

कविराज गोपीनाथ[2] जी ने शाक्त सिद्धात का स्वरूप और उसका प्रभाव दिखाते हुए कहा है—"तीन मार्ग ही त्रिविध उपास्य स्वरूप हैं। क्रमशः आणवोपाय, सभवोपाय और शक्तोपाय के साथ इनका कुछ अश मे सादृश्य जान पड़ता है। दूसरा सिद्धात भारत में बहुत दिनो का परिचित मत है। इस मत से भगवान् सौंदर्य स्वरूप और चिर सुदर हैं। आनदस्वरूप आनदमय हैं। सूफी लोग नरस्वरूप में इनकी पराकाष्ठा देख पाते हैं। जिन लोगों ने सूफी लोगों की काव्य ग्रथमाला का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि सूफी सुदर नरमूर्ति की उपासना, ध्यान और सेवा करना ही परमानद प्राप्ति का साधन मानते हैं। इतना ही नहीं, वे कहते हैं कि मूर्त किशोरावस्था ही तो रस स्फूर्ति में सहायक होती है। किसी के मत में पुरुषमूर्ति श्रेष्ठ है तो किसी के मत में रमणी मूर्ति श्रेष्ठ है। परतु सूफी लोग कहते हैं कि इस वस्तु में पुरुष प्रकृति भेद नहीं है। वह अभेद तत्त्व है। यहीं क्यों, उनके गजल रूबाइयात, मसनवी आदि में जो वर्णन मिलता है उससे किशोर वयस्क पुरुष किंवा किशोर वयस्क स्त्री के प्रसग का निर्णय नहीं किया जा सकता +++। आगम भी क्या ठीक बात नहीं कहते? नटनानद या चिद्वल्ली या काम कला की टीका में कहते हैं कि जिस प्रकार कोई अति सुदर राजा अपने सामने दर्पण में अपने ही प्रतिबिंब को देखकर उस प्रतिबिंब को 'मैं' समझता है परमेश्वर भी इसी प्रकार अपने ही अधीन आत्मशक्ति को देख 'मै पूर्ण हूँ' इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानते हैं। यही पूर्णअहता है। इसी प्रकार परम शिव के सग से पराशक्ति का स्वातत्र्य प्रपच उनसे निर्मित होता है। इसी का नाम विश्व है। सचमुच भगवान् अपने रूप को देखकर आप ही मुग्ध हैं। सौंदर्य का स्वभाव ही यही है। 'श्री चैतन्य चरितामृत' में आया है—

'सब हेरि आपनाए कृष्णो आगे चमत्कार आलिंगिते मने उसे काम।'

यह चमत्कार ही पूर्णअहता चमत्कार है। काम या प्रेम इसी का प्रकाश

१—A Barth the Hindu Religions of India, page 236

२—कविराज गोपीनाथ—कल्याण (शिवाक) काश्मीरीय शैव दर्शन के सबध में कुछ बातें।

है। यही शिवशक्ति संमिलन का प्रयोजक और कायस्वरूप है—आदि रस या शृंगाररस है। निखिल सृष्टि के मूल में ही यह रस-तत्त्व प्रतिष्ठित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो पैंतीस और छत्तीस तत्त्व अथवा शक्ति हैं—त्रिपुरा सिद्धांत में वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं। और गौडीय वैष्णव दर्शन में वही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिवशक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण राधा एक और अभिन्न हैं। यही परम वस्तु त्रिपुर मत में सुंदरी है। अथवा त्रिपुर सुंदरी है। + + +। 'सौंदर्य लहरी' के पंचम श्लोक और वामकेश्वर महातंत्र की 'चतुःशती' में भी यही बात कही गई है।

इस सुंदरी के उपासक इसकी उपासना चंद्ररूप में करते हैं। चंद्र की सोलह कलाएँ हैं। सभी कलाएँ नित्य हैं, इसलिये संमिलित भाव से इनका नित्य षोडशिका के नाम से बयान किया जाता है। पहली पंद्रह कलाओं का उदयास्त होता रहता है। सोलहवीं का नहीं। यही अमृता नाम की चंद्रकला है। वैयाकरण इसी को पश्यन्ती कहते हैं। दर्शनशास्त्र में इसका पारिभाषिक नाम आरब्धा है। मंत्रशास्त्र में इसी को मंत्र या देवताओं का स्वरूप कहा गया है। + + +। इसी कारण उपासक के निकट सुंदरी नित्य षोडशवर्षीया रहती है। गौडीय संप्रदाय में भी ठीक यही बात कही गई है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण नित्य षोडशवर्षीय नित किशोर हैं—

नित्य किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तक।'

इस उद्धरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि काश्मीरीय शैवदर्शन की शक्तिपूजा को गौडीय संप्रदाय ने ग्रहण कर लिया।

राधा को कृष्णवल्लभा निरूपित करनेवाले बृहद्गौतमीय तंत्र से भी उक्तमत प्रमाणित होता है—

> नित्यत्व रूपिणी सापि शक्तिश्च मम बल्लभा प्रकृतेः परा इयाई
> सापि मच्छक्तिरूपिणी सर्वासार्थ त्वया न सार्थ देवता तुह्यम्'

राधिका का माहात्म्य यहाँ तक सुस्पष्ट बना कि उनमें कृष्ण की आह्लादिनी संविनी ज्ञान इच्छा क्रिया आदि अनेक शक्तियों का समावेश सिद्ध करने के लिए एक नए ग्रंथ राधिकोपनिषद् की रचना की गई। इस उपनिषद् का मत है कि कृष्ण की विविध शक्तियों में से आह्लादिनी शक्ति राधा का अत्यंत प्रिय है। कृष्ण को यह शक्ति इतनी प्रिय है कि ये राधा की इसी कारण आराधना करते हैं। और राधा इनकी आराधना करती है।

राधाकृष्ण की लीलाओ को शिलाओ पर उत्कीर्ण करने का प्रथम प्रयास चौथी शताब्दी के मदसौर के मदिरो मे हुआ। इस मदिर के दो स्तभो पर गोवधन लीला के चित्र उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त शिला लेखों पर राधा माखनलीला, शकटासुर लीला, वेनुक लीला, कालीय नागलीला के भी दृश्य विद्यमान है। इन लीलाओ में राधिका की कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं दिखाई पड़ती। डा० सुनीतिकुमार का मत है कि पहाड़पुर (बगाल) से प्राप्त एक मूर्त्ति पर राधा का चित्र एक गोपी के रूप में उत्कीर्ण है। यह मूर्त्ति पाँचवीं शताब्दी में निमित हुई थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पाँचवीं शताब्दी तक राधा साहित्य तक ही नहीं, अन्य ललित कलाओं के लिए भी ग्राह्य बन गई थी।

काव्य-साहित्य के अतर्गत सर्वप्रथम आर्यासप्तशती में राधा का वृत्तात पाया गया। यह ग्रथ ईसा की प्रथम अथवा चतुर्थ शताब्दी में विरचित हुआ। इस ग्रथ मे राधा का स्वरूप अस्पष्ट रूप से कुछ इस प्रकार है—

'तुमने (कृष्ण ने) अपने मुख के श्वास से राधिका के कपोल पर लगे हुए धूलिकणो को दूरकरके अन्य गोपियो के महत्त्व को न्यून कर दिया है।'[१] मूल पाठ इस प्रकार है—

'मुहमारुएण त कह्न गोरअ राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणं बलवीण अण्णाण वि गोरअ हरसि॥'

यदि इसे प्रक्षिप्त न माना जाए और गाहासत्तसई की रचना चौथी शताब्दी की मानी जाए तो न्यूनाधिक दो सहस्र वर्ष से भारतीय साहित्य को प्रभावित करनेवाली राधा का अक्षुण्ण महत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा।

गाथा सतसई, दशरूपक, वेणीसहार, ध्वन्यालोक, नलचपू (दसवी शताब्दी) शिशुपालबध की वल्लभदेव कृत टीका, सरस्वती कठाभरण से होते हुए राधा का रूप गीतगोविंद में आकर निखर उठा। यही परपरागत राधा

---

१ गाहासत्तसई १।२९
गाय के खुर से उड़ाई हुई धूल राधा के मुखपर छाई हुई है। कृष्ण उसे फूँककर उड़ाने के बहाने मुँह सटाये हुए हैं। (कवि का कलात्मक इंगित चुबन की ओर है।) जिस सुख का अनुभव दूसरी गोपियाँ न कर सकने के कारण अपने को अधन्य समझ सकती हैं।

हमारे रास साहित्य के केंद्र में विद्यमान है। माधुर्य-भक्ति और उज्ज्वल रस की स्थापना का यही आधार है।

प्राय रास पंचाध्यायी रास साहित्य का आदि स्रोत माना जाता है। किंतु मूल श्रीमद्भागवत् के रास पंचाध्यायी में राधा का नाम स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई पड़ता। मध्यकालीन वैष्णव भक्तों ने

भागवत और राधा श्री मद्भागवत् की टीका करते हुए राधा का अनुसंधान कर डाला है। श्री सनातन गोस्वामी ने अपनी 'वैष्णव तोषिणी टीका' में 'अनयाराधितो'[१] पद का अर्थ करते हुए विशिष्ट गोपी को राधा की संज्ञा दी है। उस विशिष्ट गोपी को कृष्ण एकांत में अपने साथ ले गए थे। उसने समझा कि 'मैं ही सब गोपियों में श्रेष्ठ हूँ। इसीलिए तो हमारे प्यारे श्रीकृष्ण दूसरी गोपियों को छोड़कर, जो उन्हें इतना चाहती हैं, केवल मेरा ही मान करते हैं। मुझे ही आदर दे रहे हैं।'

विश्वनाथ चक्रवर्ती एवं कृष्णदास कविराज ने भी सनातन गोस्वामी के मत का अनुसरण किया है और भागवत् में राधा की उपस्थिति मानी है। पश्चिम के विद्वान् फर्कुहर ने भागवत् के इस पक्ष की पुष्टि की है किंतु प्रो विल्सन और मौनियरविलियम ने इसका विरोध किया है। फर्कुहर राधा भक्ति का आरंभ भागवत् पुराण से मानते हैं किंतु प्रो विल्सन इसे अमिनव ब्रह्म वैवर्त की सूझ समझते हैं। मौनियर विलियम का मत है—

Krishna and Radha as typical of the longing of the human soul for union with the divine."

राधिका के संबंध में विभिन्न मत उपस्थित किए जाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि नारद पांचरात्र में जिस राधिका का वर्णन मिलता है वही राधा है। राधिका का अर्थ है राधना करने वाली[२]।

The Indians were always ready to associate new ideas with, or to creat new personalizations of ideas to those forms or concepts with which

---

१—अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्द प्रीतोयामनयद्रहः॥
भागवत पुराण १ १ १८

२—अदिति देवकी वैदर्भी राधम् (सफलता समृद्धि) राधिका लक्ष्मी सीता है।

they were, at a given moment, already familiar Taking into account their belief in the continuation of life and in ever recurring earthly existence it was only natural that all those defenders of mankind and conquerors of the wicked and evil powers were considered to be essentially identical. And also that their consorts and female complements were reincarnations of the same divine power.

J. Gonda-Aspects of Early Visnuism, Page 162

रास की प्रतीकात्मक व्याख्या

विभिन्न आचार्यों ने रास की प्रतीकात्मक रूप में व्याख्या की है। आधुनिककाल में बंकिमचन्द ने इस पर विस्तार के साथ विचार किया है। उन्होंने अपने कृष्ण चरित्र के रास प्रकरण में इस पर आधुनिक ढंग से प्रकाश डाला है। प्राचीन काल में भी आचार्यों ने इसका प्रतीकात्मक अर्थ निकाला है।

अथर्ववेद का एक उनिषत् कृष्णोपनिषत् नाम से उपलब्ध है जिसमें परमात्मा की सर्वांगीण विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कृष्ण जीवन की शृंगार मयी घटनाओं का औचित्य प्रमाणित किया गया है। कहा जाता है कि रामावतार में राम के अनुपम सौंदर्य से 'मुनिगण' मोहित हो गए।

राम से मुनि-समुदाय निवेदन करता है—

प्रभु, आपके इस सुंदर रूप का आलिंगन हम अपने नारी शरीर में करना चाहते हैं। हम रासलीला में आप परमेश्वर के साथ उन्मुक्त क्रीड़ा करने के अभिलाषी हैं। आप कृपया ऐसा अवतार धारण करें कि हमारी अभिलाषायें पूर्ण हों। भगवान् राम ने उन्हें आश्वस्त[1] किया और कृष्णावतार में उनकी इच्छा पूर्ति का वचन दिया। कालांतर मे भगवान् ने

---

1 रुद्रादीना वचः श्रुत्वा प्रोवाच भगवान् स्वयम्।
अंग संग करिष्यामि भवद्वाक्य करोम्यहम्।
यो राम कृष्णतामेत्य सार्वात्म्य प्राप्य लीलया।
अतोपयद्देवमौनिपटलं त नतोऽस्म्यहम् ॥

अपनी समस्त सौंदर्य और शक्ति के साथ कृष्ण रूप में अवतरित होने के के लिए परमानंद, ब्रह्मविद्या को यशोदा, विष्णु माया को नंद पुत्री, ब्रह्म पुत्री को देवकी, निगम को वसुदेव, वेद ऋचाओं को गोप गोपियाँ, कमलासन को लकुट, रुद्र को मुरली, इंद्र को शृंग, पाप को अघासुर, वैकुंठ को गोकुल, संत महात्माओं को लताद्रुम, लोभ क्रोधादि को दैत्य, शेषनाग को बलराम बनाकर पृथ्वी पर भेजा। और ब्रह्मंडल को कश्मलों से सर्वथा मुक्त कर दिया।

स्वेच्छा से मायाविग्रहधारी साक्षात् हरि गोप रूप में आविर्भूत हुए। उनके साथ ही वेद और उपनिषद् की ऋचाएँ १६१ ८ गोपियों के रूप में अवतरित हुईं।

ये गोपियाँ ब्रह्मरूप वेद की ऋचायें ही हैं, इस तथ्य पर इस उपनिषद् में बड़ा बल दिया गया है। द्वेष न चाणूर का, मत्सर ने मल्ल का, जय ने मुष्टि का, दर्प ने कुवलय पीड़ का, गर्व ने बक का, दया ने रोहिणी का, धरती माता ने सत्यभामा का, महाव्याधि ने अघासुर का, कलि ने राजा कंस का, शम ने मित्र सुदामा का, सत्य ने अक्रूर का, दम ने उद्धव का विष्णु ने शंख (पाञ्चजन्य का) का रूप धारण किया। बालकृष्ण ने गोपी गृह में उसी प्रकार क्रीड़ा की जिस प्रकार वे श्वेतद्वीप से सुशोभित क्षीरमहासागर में करते थे।

भगवान् हरि की सेवा के लिए वायु ने चमर का, अग्नि ने तेज का, महेश्वर ने खड्ग का, कश्यप ने उलूख का, अदिति ने रज्जु का, सिद्धि और पिंडु (सहस्रारश्मि) ने शंख और चक्र का, कालिका ने गदा का, माया ने शार्ङ्ग धनुष का शरत्काल ने भोजन का गरुड़ ने वट भांडीर का, नारद ने सुदामा का, भक्ति ने वृंदा (राधा) का, बुद्धि ने क्रिया का रूप धारण कर लिया। यह नवीन सृष्टि भगवान् से न तो भिन्न थी न अभिन्न, न भिन्नाभिन्न भगवान् इनमें रहते हुए भी इनसे भिन्न हैं।

इस दृष्टि से कृष्ण और गोपियों का रास जीवात्मा और परमात्मा का मिलन है जिसका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। कुछ लोग सांख्यवादियों की चितिशक्ति को ही भगवान् कृष्ण मानते हैं।[1] पर संपूर्ण प्रकृति

१—इदमविद्यामिमो हि माया मठो विन्द तन्त्रः।

चिद्रूप श्रीकृष्ण के ही चारो ओर घूम रही है। ब्रह्माड का गतिशीलभाव प्रकृति देवी का नृत्य अर्थात् राधा कृष्ण का नित्य रास है। "यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो हमारे शरीर में भी भगवान् की यह नित्यलीला हो रही है। हमारा प्रत्येक अग गतिशील है। हाथ, पॉव, जिह्वा, मन, प्राण सभी नृत्य कर रहे हैं। सब का आश्रय और आराध्य केवल शुद्ध चेतना ही है। यह सारा नृत्य उसी की प्रसन्नता के लिए है, और वही नित्य एकरस रहकर इन सबकी गतिविधि का निरीक्षण करता है। जब तक इनके बीच में वह चैतन्य रूप कृष्ण अभिव्यक्त रहता है तब तक तो यह रास रसमय है, किंतु उसका तिरोभाव होते ही यह विषमय हो जाता है। इसी प्रकार गोपागनाएँ भी भगवान् के अतर्हित हो जाने पर व्याकुल हो गई थी। अत. इस ससार रूप रास क्रीड़ा में भी जिन महाभागों को परमानद श्री ब्रजचद्र की अनुभूति होती रहती है उनके लिए तो यह आनदमय है।"[1]

इसी प्रकार का अध्यात्म-परक अर्थ सर्वप्रथम श्रीधर स्वामीने किया और रासलीला का माहात्म्य वेदातियों को भी स्वीकृत हुआ।

रासलीला की व्याख्या करते हुए विद्वान् आलोचक लिखते हैं[2]—

" The Classical case is of course the symbolism of the sports and dalliances of Radha and Krishna which is probably the greatest spiritual allegary of the world but which in later - times and as handled by erotic writers—even Vidyapati and Krishnadas Kaviraj are not free from this taint becomes a mass of undiluted sexuality

अर्थात् राधाकृष्ण की रासलीला ससार की आध्यात्मिकता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। किंतु कालातर में कवियों के हाथों से इस लीला के आधार पर अनेक कुचेष्टापूर्ण रचनाएँ हुई।

आधुनिक काल में रासलीला की अध्यात्मपरक व्याख्या करते हुए अनेक ग्रथ हिंदी, बॅगला और गुजराती में लिखे गए हैं। हमने अपने ग्रंथ 'हिंदी नाटकः उद्भव और विकास' में इसका विस्तार के साथ विवेचन किया है।

१—करपात्री—भगवत्तत्त्व—पृ० ५८८-५८९

२ श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त—रासलीला-पृ० ११४

१८

उपसंहार

दसवीं शताब्दी में प्रचलित विविध साधना-पद्धति के विवरण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला जा सकता है—

(१) देश वैदिक और अवैदिक दो धार्मिक परंपराओं में विभक्त था। संस्कृतज्ञ जनता शास्त्रीयता की दोहाई दे रही थी किंतु निम्नवर्ग शास्त्रों का खुल्लमखुल्ला विरोध कर रहा था।

(२) धर्म का सामूहिक जीवन छिन्नभिन्न हो गया था, और साधना समष्टि से हटकर व्यष्टिमुखी हो गई थी।

(३) मूर्तिकला साहित्य और समाज में सर्वत्र काम का साम्राज्य फैल गया था।

(४) दक्षिण भारत में निम्न कहलानेवाले आलवार साधना का नया मार्ग निकाल चुके थे और नाथमुनि जैसे आचार्य ने उनका विधिवत् विवेचन करके वैष्णव धर्म की नवीन व्याख्या उपस्थित कर दी थी। प्रपत्तिवाद का नया सिद्धांत जिसमें भगवान् को सर्वस्व समर्पण करने की तीव्र भावना पाई जाती है, लोगों के सामने आ चुका था। आचार्य नाथमुनि ने भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा की सपरिवार यात्रा की। और सन् ९१६ में वहीं उनके एक प्रपौत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम यामुन रखा गया। यही यामुन आगे चलकर रामानुज के भी संप्रदाय के आदि प्रवर्तक हुए। अतः उत्तर भारत और दक्षिण भारत में वैष्णवधर्म के द्वारा ऐक्य स्थापित करने का श्रेय नाथमुनि को ही दिया जाता है। राय चौधरी ने लिखा है—

He had infused fresh energy into the heart of Vaishnavism and the sect of Srivaishnavas established by him was destined to have a chequered career in the annals of India.'

—Early History of the Vaisnnava sect—Page 113

(५) दक्षिण में नाथमुनि और आलवारों के द्वारा वैष्णव धर्म की स्थापना हो रही थी तो पूर्वी भारत में महायान नामक बुद्ध-संप्रदाय वज्रयान और सहजयान का रूप धारण कर सहजिया वैष्णव धर्म के रूप में विख्यात हो रहा था। सहजिया लोगों का विश्वास था कि गुरु युगनद्ध रूप है। उनका रूप मिथुनाकार है। गुरु उपाय और प्रज्ञा का समरस विग्रह है। "शून्यता

सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का वाचक है। करुणा का अर्थ जीवों के उद्धार करने के लिए महती दया दिखलाना है। प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है"।[१] "सच्चा गुरु वही हो सकता है जो रति (आनंद) के प्रभाव से शिष्य के हृदय में महासुख का विस्तार करे।"[२] वज्रयान के सिद्धांत के अनुसार शरीर एक वृक्ष है और चित्त अंकुर। जब चित्त रूपी अंकुर को विशुद्ध विषय रस के द्वारा सिक्त कर दिया जाता है तो वह कल्पवृक्ष बन जाता है। और तभी आकाश के समान निरंजन फल की प्राप्ति होती है।

"तनुतरचित्ताकुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
गगनव्यापी फलद. कल्पतरुत्व कथ लभते॥

(६) तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी तक सूफी सप्रदाय सारे उत्तर भारत में फैल चुका था। सूफीफकीर अपने को खुदा का प्रिय मानते थे और खुदा की मैत्री का दावा करते थे। उनलोगों ने ईश्वर के साथ सखी भाव का सबंध स्थापित कर लिया था। हमारे देश के सतों पर उन मुसलमान फकीरों के प्रेम की व्यापकता का बड़ा प्रभाव पड़ा। जहाँ कट्टर शासक मुसलमान-जाति हिंदुओं की धार्मिक भावना का उपहास करती थी वहाँ ये फकीर हिंदुओं के देवताओं का प्रेम के कारण आदर करते। वे फकीर प्रेम के प्रचारक होने से हिंदुओं में समान्य बने। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि "चैतन्य, रामानद, कबीर, नानक, जायसी आदि उसी प्रेम प्रेरणा के प्रचारक और साधना के विधायक थे। वैष्णवों में सखी समाज की अनोखी भावना भी उसी का परिणाम थी।"[३]

(७) उत्तर भारत में जयदेव, माधवेंद्र पुरी, ईश्वरपुरी, विद्यापति, चैतन्य देव, पट् गोस्वामियों ने माधुर्य उपासना का शास्त्रीय विवेचन करके उज्ज्वल रस का अनाविल उपस्थापन प्रस्तुत किया। आसाम में शकरदेव माधवदेव, गोपालअता ने पूर्वी भारत में वैष्णव नाटकों के अभिनय द्वारा राधाकृष्ण के पावन प्रेम की गगा में जनता को अवगाहन कराया।

१—न प्रज्ञाकेवल मात्रेण बुद्धत्व भवति, नाप्युपायमात्रेण। किन्तु यदि पुन प्रज्ञोपायलक्षणौ समता स्वभावौ भवत, एतौ द्वौ अभिन्न रूपौ भवत तदा भुक्तिमुक्ति-भवति।

२—सद्गुरु शिष्ये रतिस्वभावेन महासुख तनोति।

३—हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास पृ० ७२५।

दसवीं शताब्दी में प्रचलित विविध साधना-पद्धति के विवरण से
उपसंहार — निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला जा सकता है:—

(१) देश वैदिक और अवैदिक दो धार्मिक परंपराओं में विभक्त था। संस्कृतज्ञ जनता शास्त्रीयता की दोहाई दे रही थी किंतु निम्नवर्ग शास्त्रों का खुल्लमखुल्ला विरोध कर रहा था।

(२) धर्म का सामूहिक जीवन छिन्नभिन्न हो गया था, और साधना समष्टि से हटकर व्यष्टिमुखी हो गई थी।

(३) मूर्तिकला साहित्य और समाज में सर्वत्र काम का साम्राज्य फैल गया था।

(४) दक्षिण भारत में निम्न कहलानेवाले आलवार साधना का नया मार्ग निकाल चुके थे और नाथमुनि जैसे आचार्य ने उनका विधिवत् विवेचन करके वैष्णव धर्म की नवीन व्याख्या उपस्थित कर दी थी। प्रपत्तिवाद का नया सिद्धांत जिसमें भगवान् को सर्वस्व समर्पण करने की तीव्र भावना पाई जाती है, लोगों के सामने आ चुका था। आचार्य नाथमुनि ने भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा की सपरिवार यात्रा की। और सन् ९१६ में यहीं उनके एक प्रपौत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम यामुन रखा गया। यही यामुन आगे चलकर रामानुज के भी संप्रदाय के आदि प्रवर्तक हुए। अतः उत्तर भारत और दक्षिण भारत में वैष्णवधर्म के द्वारा एकत्व स्थापित करने का श्रेय नाथमुनि को ही दिया जाता है। राय चौधरी ने लिखा है—

He had infused fresh energy into the heart of Vaishnavism and the sect of Srivaishnavas esta blished by him was destined to have a chequered career in the annals of India.'

—Early History of the Vaisnnava sect—Page 113

(५) दक्षिण में नाथमुनि और आलवारों के द्वारा वैष्णव धर्म की स्थापना हो रही थी तो पूर्वी भारत में महायान नामक बुद्ध-संप्रदाय वज्रयान और सहजयान का रूप धारण कर सहजिया वैष्णव धर्म के रूप में विकसित हो रहा था। सहजिया लोगों का विश्वास था कि गुरु युगनद्ध रूप है। उनका रूप मिथुनाकार है। गुरु उपाय और प्रज्ञा का समरस विग्रह है। "शून्यता

आई थी। गुरु गोविंदसिंह व्रजभाषा के सफल कवि और देश के अग्रगराय नेता थे। उनकी रचना का गान पंजाब में अवश्य ही व्यापक रूप से होता रहा होगा। उनके रास के दो एक उदाहरण देखिए—

"जब आई है कातक की रुत सीतल कान्ह तबै अति ही रसिया।
सँग गोपिन खेल विचार कर्यो जु हुतो भगवान महा जसिआ॥
अपवित्रन लोगन के जिह के पग लागत पाप सबै नसिआ।
तिह को सुनि तीयन के सँग खेल निवारहु काम इहै बसिआ॥
मुख जाहि निसापति कै सम है बन मै तिन गीत रिझ्यो अरु गायो।
तासुर को धुन स्रवनन मै ब्रिज हूँ की त्रिया सभ ही सुन पायो॥
धाइ चली हरि के मिलबे कहु तौ सभ के मन मै जब भायो।
कान्ह मनो म्रिगनी जुवती छलबे कहु घंटक हेर बनायो'॥"

(१२) हम पूर्व कह आए हैं कि उड़ीसा ने प्रेमाभक्ति के प्रचार में बड़ी सहायता दी। जगन्नाथ पुरी दीर्घकाल तक बौद्धों का केंद्र था किंतु सन् १००० ई० के उपरांत वहाँ पर वैष्णव धर्म का प्रचार बढने गया। किंतु इससे पूर्व उत्कल महायान, वज्रयान और सहजयान आदि का गढ माना जाता था। आज मयूरभंज के नाना स्थानों पर बौद्ध देवता वज्रपाणि, आर्यतारा, अवलोकितेश्वर आदि के दर्शन होते हैं। किसी समय उत्कल सहजयान का प्रधान धर्म मानता था। कुछ विद्वान् तो जगन्नाथपुरी को वैष्णव और सहजयान के साथ-साथ शबर संस्कृति का भी केंद्र मानते हैं। ऐसा माना जाता है कि पुरी में भेदभाव विना महाप्रसाद का ग्रहण शबर सभ्यता का द्योतक है। इतिहास से प्रमाण मिलता है कि सन् १०७८ ई० में गंगवंश का राज्य उत्कल में स्थापित हो जाने पर आलवारों की मधुर भाव की उपासना का यहाँ की साधनापद्धति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सहजिया और आलवार दोनों वैष्णव धर्म की मधुर उपासना के प्रेरक माने जा सकते हैं। उत्कल विशेषकर जगन्नाथपुरी चैतन्य समकालीन राय रामानंद के द्वारा वैष्णव धर्म से परिचित हो चुका था। चैतन्य देव के निवास के कारण यह स्थान माधुर्य उपासना के लिए उत्तरोत्तर प्रसिद्ध होता गया। उनके प्रभाव से उत्कल साहित्य के पाँच प्रसिद्ध वैष्णव कवि (१) बलराम दास (२) अनंतदास (३) यशोवंत दास (४) जगन्नाथ दास (५) अच्युतानंद दास,

---

१—दसम ग्रंथ-गुरु गोविंद सिंह ४४१, ४४६
[डा० अग्रवा के थीसिस से उद्धृत]

(८) ब्रज में वल्लभाचार्य, हित हरिवंश, अष्टछाप के भक्त कवियों ने इस उपासनापद्धति से विशाल जनसमूह को नवीन जीवन प्रदान किया। सूरदास प्रभृति हिंदी कवियों के रास-साहित्य से हिंदी जनता भली प्रकार परिचित है। अतः उसका विशेष उल्लेख व्यर्थ समझ कर छोड़ दिया गया है।

(६) महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर से पूर्व श्रीमद्भागवत पुराण में आस्था रखने वाला एक महानुभाव नामक संप्रदाय मिलता है। मराठी भाषा में विरचित 'वत्सहरण' 'रुक्मिणी स्वयंवर' आदि ग्रंथ वैष्णव धर्म के परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र में वारकरी नामक वैष्णव धर्म प्रचलित हो रहा था, जिसका केंद्र पंढरपुर था, जहाँ रुक्मिणी की मूर्ति का बड़ा ही मान था। दोनों पंथों में श्रीमद्भागवत को प्रमाण माना जाता था। श्रीचक्रधर को महानुभाव पंथी कृष्ण का अवतार मानते हैं।

(१) महाराष्ट्र में समर्थरामदास जैसे महात्मा भी मनमोहन कृष्ण के प्रेमरंग में ऐसे रम जाते कि और सब नीरस दिखाई पड़ता।

माई रे मोरी मैन श्याम सुरंग ॥
तद तमाल
बग मृग और पतंग।
गगन सघन धरती सु संग।
कौन दिखत मोहन रंग
रामदास प्रभु रंग लागा।
(और) सब भये विरंग[1] ॥

(११) आन्ध्र प्रदेश में तंजौर के महाराजा का 'राधावंशी विलास' नामक ऐसा दृश्य काव्य मिला है, जिसकी रचना सत्रहवीं शताब्दी में हुई। और तेलगू लिपि में व्रजभाषा में भगवान् कृष्ण की शृंगारमय लीलाओं का बयान पाया जाता है। इस प्रकार माधुर्य उपासना का प्रभाव आंध्र के नाटकों पर भी दिखाई पड़ता है।

(१२) पंजाब में सिक्ख जैसी युद्धप्रिय जाति और गुरुगोविंद सिंह जैसे योद्धा महात्मा ने कृष्णावतार में रास का विस्तार पूर्वक काव्यमय बयान किया। गुरुमुखी लिपि में व्रजभाषा की यह रचना अभी तक प्रकाश में नहीं

१—नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६१ अंक १

आई थी। गुरु गोविंदसिंह व्रजभाषा के सफल कवि और देश के अग्रगराय नेता थे। उनकी रचना का गान पजाब में अवश्य ही व्यापक रूप से होता रहा होगा। उनके रास के दो एक उदाहरण देखिए—

"जब आई है कातक की रुत सीतल कान्ह तबै अति ही रसिया।
सँग गोपिन खेल विचार कर्यो जु हुतो भगवान महा जसिआ॥
अपवित्रन लोगन के जिह के पग लागत पाप सबै नसिआ।
तिह को सुनि तीयन के सँग खेल निवारहु काम इहै बसिआ॥
मुख जाहि निसापति कै सम है बनमै तिन गीत रिझयो अरु गायो।
तासुर को धुन स्रवनन मै व्रिज हूँ की त्रिया सभ ही सुन पायो॥
धाइ चली हरि के मिलबे कहु तौ सभ के मन मै जब भायो।
कान्ह मनो म्रिगनी जुवती छलबे कहु घटक हेर बनायो'॥"

(१३) हम पूर्व कह आए हैं कि उड़ीसा ने प्रेमाभक्ति के प्रचार में बड़ी सहायता दी। जगन्नाथ पुरी दीर्घकाल तक बौद्धों का केंद्र था किंतु सन् १००० ई० के उपरात वहाँ पर वैष्णव धर्म का प्रचार बढने गया। किंतु इससे पूर्व उत्कल महायान, वज्रयान और सहजयान आदि का गढ माना जाता था। आज मयूरभज के नाना स्थानों पर बौद्ध देवता वज्रपाणि, आर्यतारा, अवलोकितेश्वर आदि के दर्शन होते हैं। किसी समय उत्कल सहजयान का प्रधान धर्म मानता था। कुछ विद्वान् तो जगन्नाथपुरी को वैष्णव और सहजयान के साथ-साथ शबर सस्कृति का भी केंद्र मानते हैं। ऐसा माना जाता है कि पुरी में भेदभाव बिना महाप्रसाद का ग्रहण शबर सभ्यता का द्योतक है। इतिहास से प्रमाण मिलता है कि सन् १०७८ ई० में गगवश का राज्य उत्कल में स्थापित हो जाने पर आलवारों की मधुर भाव की उपासना का यहाँ की साधनापद्धति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सहजिया और आलवार दोनों वैष्णव धर्म की मधुर उपासना के प्रेरक माने जा सकते हैं। उत्कल विशेषकर जगन्नाथपुरी चैतन्य समकालीन राय रामानद के द्वारा वैष्णव धर्म से परिचित हो चुका था। चैतन्य देव के निवास के कारण यह स्थान माधुर्य उपासना के लिए उत्तरोत्तर प्रसिद्ध होता गया। उनके प्रभाव से उत्कल साहित्य के पाँच प्रसिद्ध वैष्णव कवि (१) बलराम दास (२) अनतदास (३) यशोवत दास (४) जगन्नाथ दास (५) अच्युतानद दास,

---

१—दसम ग्रथ-गुरु गोविंद सिंह ४४१, ४४६
[डा० अष्ठा के थीसिस से उद्धृत]

पंद्रहवीं शताब्दी में माधुर्य भक्ति के प्रचारक प्रभावित हुए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उत्कल और विशेषकर जगन्नाथपुरी शबर संस्कृति, बौद्ध धर्म, आलवार और प्राचीन वैष्णव धर्म के संमिलन से नवीन वैष्णव धर्म का प्रवर्तक सिद्ध हुआ।

(१४) गुजरात स्थित द्वारका नगरी वैष्णव धर्म की पोषक रही है। सन् १२६९ ई० का एक शिलालेख इस तथ्य का प्रमाण है कि यहाँ मंदिर में निरंतर कृष्णपूजा होती थी। वल्लभाचार्य के समकालीन नरसी मेहता ने माधुर्य भक्ति का यहाँ प्रचार किया था। द्वारका जी के मंदिर में मीराबाई के पदों का गान उस युग की माधुर्य उपासना के प्रचार में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। विट्ठलदास के द्वारा भी माधुर्य उपासना गुजरात में घर घर फैल गई। यहाँ वैष्णव दास के अनेक ग्रंथ मिलते हैं जिनमें वैकुंठदास की रासलीला काव्य और दर्शन की दृष्टि से उच्चकोटि की रचना मानी जाती है। स्थाना भाव से इस संकलन में उसे संमिलित नहीं किया जा सका।

(१५) ऐसी स्थिति में जहाँ काम और रति को साधना के क्षेत्र में भी आवश्यक माना जा रहा हो, विचारकों को ऐसे लोकनायक का चरित्र जनता के सामने रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो मानव की कामवासना का उदात्तीकरण कर सके और जिसकी लीलाएँ हृदय को आकर्षित कर सकें। ऐसी दशा में श्रीमद्भागवत् की रासक्रीड़ा की ओर मनीषियों का ध्यान गया और उसी के आधार पर प्रेम-दर्शन की नई व्याख्या उपस्थित की गई। साधना की इस पद्धति में भारत में प्रचलित सभी मतों, संप्रदायों को आत्मसात् करने की क्षमता थी। इसी के द्वारा जीवात्मा का विश्वात्मा के साथ एकीकरण किया जा सकता था। इसमें व्यक्ति के पूर्ण विकास के साथ सामूहिक चेतना को जागृत करने की शक्ति थी।

श्रीमद्भागवत् के आधार पर प्रेम की नई व्याख्या तत्कालीन जन जीवन के अनुकूल प्रतीत हुई। प्रेम और सेवा के द्वारा कृष्ण ने वृंदावन में गोलोक को अवतरित किया। जहाँ अन्य साधनाएँ मृत्यु के उपरांत मुक्ति और स्वर्ग प्राप्ति का पथ बताती हैं वहाँ कृष्ण ने मुक्ति और स्वर्ग को पृथ्वी पर सुलभ कर दिया। प्रेम के बिना जीवन निस्सार माना गया। इस धर्म की बड़ी विशेषता यह रही कि इसमें शुद्ध प्रेम की अवस्था को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया।

वैष्णव धर्म में प्रत्येक मनुष्य को उसकी रुचि योग्यता और शक्ति के अनुसार पूर्ण विकास की स्वतंत्रता दी गई। सबको अपनी रुचि के अनुसार

जीवन बिताने का पूरा अधिकार मिला। भगवान् के नाम स्मरण को जीवन का लक्ष्य समझा गया। प्रेम की नई परिभाषा की गई। मानव प्रेम में जिस प्रकार दो प्रेमी मिलने को उत्सुक रहते हैं उसी प्रकार भगवान् में भी भक्त से मिलने की उत्कंठा सिद्ध की गई। पापी से पापी के उद्धार की भी आशा घोषित की गई।

प्रेमपूर्ण सेवा की भावना वैष्णवधर्म का प्राण है। कृष्ण ने अनेक विपत्तियों से जनता की रक्षा की। जिसमें ये दोनों गुण सेवा और प्रेम पूर्णता को प्राप्त कर जाएँ वही जीवात्मा को विश्वात्मा के साथ मिला देने में सफल होता है। यही मानव के व्यक्तित्व की पूर्णता है आज का मनोवैज्ञानिक भी यही मानता है।

कृष्णप्रेम श्रीमद्भागवत् का सार है। इस प्रेम के द्वारा श्रीमद्भागवत् मानव जीवन को परिपूर्ण बनाना चाहता है। लौकिक व्यक्तियों का भी परस्पर स्वार्थरहित प्रेम धन्य माना जाता है। गोपियों का प्रेम कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण की भावना से प्रेरित तो है ही उसमें कुछ और भी विशेषता है जो मानवीय कोटि से ऊपर है। वह विशेपता क्या है? वह विशेपता है गोपियों की ऐसी स्वाभाविकी ऋजुता जिसके कारण वे कृष्ण को ब्रह्मविष्णु शिव आदि का साक्षात् स्वामी मानती है। और उनके साथ तदाकार स्थापित करना चाहती हैं। उनके नेत्रों में कृष्ण के अतिरिक्त कोई पुरुष है ही नहीं। कृष्णप्रेम-रहित ज्ञान और कर्म उनके लिए निस्सार है। वह ऐकांतिक होते-हुए भी एकांगी नहीं। उसमें मानव जीवन को परिपूर्ण बनाने की क्षमता है। प्रश्न उठता है कि मानव की परिपूर्णता क्या है? किस मनुष्य को परिपूर्ण कहा जाय? आधुनिक युग का मनोवैज्ञानिक जीवन की परिपूर्णता का क्या लक्षण बताता है? एक मनोविज्ञानवेत्ता[१] का कथन है कि 'किसी के

१—The final stage in the development of one's personality is reached in that organisation of activities by which an individual adjusts his own life, and so far as he can, the life of society, to the ultimate goal or purpose of the universe The achievement of this end is what is meant by the realisation of one's universal self Since human beings are conscious of the universe just as much as they are concious of thier fellow-men, it is possible for them to select as the supreme object of

व्यक्तित्व का चरम विकास उस अवस्था को कहते हैं जब वह अपने विचारों का समाज और विश्व के उद्देश्यों के साथ सामंजस्य कर लेता है। इस स्थिति में जीवात्मा को विश्वात्मा के साथ एक कर देना पड़ता है। मानव अपनी अभिलाषाओं की अंतिम परिधि उस अंबार का साक्षात्कार मानता है जो सत्य, सौंदर्य और शिवता का स्रोत है। इस स्थिति की उपलब्धि जगत् से ऊपर आध्यात्मिक जगत् में ही संभव होती है। उसी जगत् में वैयक्तिक जीवन के सभी अवयव संकलित होकर मनुष्य को पूर्णता का मान करा ही सकते हैं। जब तक हम भौतिक जगत में रह कर पदों की ही कल्पना करते रहेंगे तब तक मानव जीवन अपूर्ण ही बना रहेगा। अध्यात्मलोक के पदार्थ सत्य और सौंदर्य को जब भौतिक जगत के पदार्थों भौतिक सत्यों एवं सुषमा से अधिक महत्त्व देंगे तभी मानव जीवन की परिपूर्णता संभव होगी।

गोपीप्रेम की महत्ता का आभास श्रीमद्भागवत् में स्थान-स्थान पर मिलता है। मानव जीवन की परिपूर्णता का यह ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देवता भी इस स्थिति के लिए लालायित रहते हैं। वे अपने देवत्व को गोपियों के व्यक्तित्व के संमुख तुच्छ समझते हैं। देवत्व में तमोगुण और रजोगुण किसी न किसी अंश में अवशिष्ट रह जाता है, पर प्रेममयी गोपियों में सात्त्विकता की परिपूर्णता दिखाई पड़ती है। इसीलिए उद्धव जैसा ज्ञानी नारद जैसा मुनि एवं विविध देव समुदाय इनके दर्शन से अपने को कृतार्थ मानता है। यही प्रेम श्रीमद्भागवत् का सार है, यही जीवन का नया दर्शन

---

their desire a life that i In harmony with the ultimate source of *all truth, beauty and goodness. The attainment of this* object carries one into th field of eligion which provides that type of experience that can give unity to all the various phases of n individual' lif

The development of personality takes place through the contin ous selection of larger and more inclusive goals which serve as the object of one's desire

Spiritual good tr th, beauty in preference to materi l possession.

—Charl H. Patterson Prof of Philosophy The University of Nebraska Moral Standard—Page 270

है जो व्यक्तित्व की परिपूर्णता का परिचायक है। गोपियों की साधना देखकर ही धर्म और दर्शन चकित रह जाते हैं। वैदिक एव अवैदिक सभी साधना पद्धतियाँ भिन्न भिन्न दिशाओं से आकर इस साधना पद्धति में एकाकार हो जाती हैं। कहा जाता है—

The practical philosophy of the Bhagavata aims at the development of an all-round personality through a synthesis of various spiritual practices, approved by scriptures, which have to be cultivated with effort by aspirants, but which are found in saints as the natural external expression of their perfection. Due recognition is given to each ma i's tastes, capacities, and qualifications, and eacn is allowed to begin practice with whatever he feels to be the most congenial.

The Cultural Heritage of India, Page 289

मानव जीवन की परिपूर्णता का उल्लेख पातजल योगदर्शन में भी मनोवैज्ञानिक शैली में किया गया है। उसके अनुसार भी जब मानव भुक्ति और मुक्ति से ऊपर उठ कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तो वह सभी प्राकृतिक गुणो से परे दिखाई पड़ता है। महर्षि पतजलि उस स्थिति का आभास देते हुए कहते हैं—

पुरुषार्थशून्याना गुणानां प्रतिप्रसवः-
कैवल्य स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।

अर्थात्—गुणों की प्रवृत्ति पुरुष की भुक्ति और मुक्ति के सपादन के लिए है। प्रयोजन से वह इद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहकार मन और तन्मात्राओं के द्वारा कार्य में लगा रहता है। जो पुरुष भुक्ति और मुक्ति की उपलब्धि कर लेता है उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेप नहीं रहता। प्रयोजन को सिद्ध करने वाले गुणों के साथ पुरुष का जो अनादि सिद्ध अविद्याकृत सयोग होता है उसके अभाव होने पर पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

गोपीकृष्ण प्रेम में हम भक्त और भगवान् को इसी स्थिति मे पाते हैं। इसी कारण हम गोपियों का व्यक्तित्व विकास की पूर्णता का द्योतक मानते हैं।

इस स्थान पर हम श्री मद्भागवत् का रचनाकाल जानने और उसकी महत्ता का आभास पाने के लिए उक्त ग्रंथ के विषय में संकेत देनेवाले पुराणों एवं शिलालेखों का किंचित उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं। इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जायगा कि मध्ययुग में इसी नवीन जीवन दर्शन के प्रयोग की क्या आवश्यकता आ पड़ी थी।

[श्रीमद्भागवत् का माहात्म्य और रचनाकाल]

गरुड़पुराण में श्रीमद्भागवत की महिमा का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

> अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
> गायत्री-भाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ परिबृंहितः॥
> पुराणानां साररूपः साक्षात् भगवतोदितः।
> ग्रंथोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः॥

अर्थात् यह ब्रह्मसूत्रों का अर्थ है, महाभारत का तात्पर्य निर्णय है, गायत्री का भाष्य है और समस्त वेदों के अर्थ को धारण करनेवाला है। समस्त पुराणों का सार रूप है, साक्षात् श्री शुकदेवजी के द्वारा कहा हुआ है, अठारह सहस्र श्लोकों का यह श्रीमद्भागवत् नामक ग्रंथ है।

इसी प्रकार पद्मपुराण भी श्रीमद्भागवत् की प्रशंसा में कहता है—'पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम्।' अर्थात् सभी पुराणों में श्रीमद्भागवत् श्रेष्ठ है।

इस ग्रंथ का इतना महत्त्व बढ़ गया कि जो दाता श्रीमद्भागवत् ग्रंथ की लिखी प्रति को हेमसिंहासन सहित पूर्णिमा या अमावस्या को दान देता है वह परम गति को प्राप्त करता माना जाता था।

उक्त पुराणों का मत इतना स्पष्ट है और ब्रह्मसूत्र और भागवत् की भाषा में इतना साम्य है कि कई स्थान पर तो सूत्र के सूत्र तद्वत् भागवत् में मिलते हैं। कहा जाता है कि एक बार चैतन्य महाप्रभु से किसी ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखने का आग्रह किया तो महाप्रभु ने कहा—'ब्रह्मसूत्र का भाष्य श्रीमद्भागवत् तो है ही। अब दूसरा भाष्य क्या लिखा जाय। तात्पर्य यह है कि मध्ययुग में श्रीमद्भागवत् का माहात्म्य ब्रह्मसूत्र के समान हो गया था। मध्वाचार्य ने 'भागवत् तात्पर्य निर्णय' नामक ग्रंथ भागवत् की टीका के रूप

में लिखा और उन्होंने गीता की टीका में श्रीमद्भागवत् को पंचमवेद घोषित किया।

श्री रामानुजाचार्य ने अपने वेदांतसार में श्रीमद्भागवत् का आदर पूर्वक उल्लेख किया है। इससे पूर्व प्रत्यभिज्ञा नामक सप्रदाय के प्रधान आचार्य अभिनव गुप्त ने गीता पर टीका लिखते समय चौदहवें अध्याय के आठवें श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री मद्भागवत् का नाम लेकर कई श्लोक उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त का समय दसवीं शताब्दी है अतः श्रीमद्भागवत् की प्रतिष्ठा दसवीं शताब्दी से पूर्व अवश्य स्थापित हो गई होगी।

इससे भी प्राचीन प्रमाण श्रीगौड़पादाचार्य—शकर के गुरु गोविंदपाद थे और उनके भी गुरु थे श्रीगौड़पादाचार्य—के ग्रंथ उत्तरगीता की टीका में मिलता है। उन्होंने 'तदुक्त भागवते' लिखकर श्री मद्भागवत् का निम्न-लिखित श्लोक उद्धृत किया है—

> श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
> क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
> तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
> नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

इससे भी प्राचीन प्रमाण चीनी भाषा में अनूदित ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्य कारिका पर माठराचार्य की टीका से प्राप्त होता है। उक्त ग्रथ का अनुवाद सन् ५५७ ई० के आसपास हुआ माना जाता है। इस ग्रथ में श्रीमद्भागवत् के दो श्लोक मिलते हैं।[१]

यदि पहाड़पुर ग्राम के भूमिगर्भ में दबी श्रीराधाकृष्ण की युगल मूर्त्ति पाँचवीं शताब्दी की मान ली जाय तो श्रीमद्भागवत् की रचना उससे भी पूर्व की माननी होगी क्योंकि उस समय तक राधा तत्त्व श्रीमद्भागवत् में स्वीकृत नहीं हुआ था।

श्रीमद्भागवत् की रचना चाहे जिस काल में भी हुई हो उसके जीवन दर्शन तथा साधना पद्धति का प्रचारकाल जयदेव के आसपास ही मानना होगा। इससे पूर्व साहित्य के अतर्गत कहीं उल्लेख भले ही आया हो पर

१—प्रथम स्कन्ध के छठें अध्याय का पैंतीसवाँ श्लोक और आठवें अध्याय का बावनवाँ श्लोक।

प्रचुरता रूप से इसकी धारा जयदेव के उपरांत ही प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। संभव है कि गुप्त-साम्राज्य के विध्वंस के बाद शताब्दियों तक देश के विक्षुब्ध वातावरण हिंदू राजाओं के नित्य के पारस्परिक विरोध में इस बीज को पल्लवित होने का अवसर न मिला हो। मध्ययुग की विविध साधनाओं को अंतर्भूत करनेवाले इस धार्मिक ग्रंथ का प्रचार देशकाल के वातावरण के अनुकूल होने से बढ़ गया होगा। इस उपस्थापन को हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार महाभारत-काल में श्रीकृष्ण ने पूर्ववर्ती सभी सिद्धांतों का समन्वय गीता में किया था उसी प्रकार मध्ययुग के सभी धार्मिक मतों का सामंजस्य करनेवाला श्रीमद्भागवत् ग्रंथ समाज का प्रिय बन गया और घर घर में उसका प्रचार होने लगा। ब्रह्मसूत्र के ब्रह्म और गीता के पुरुषोत्तम को श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण रूप से स्वीकार किया गया है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

मध्यकाल में एक समय ऐसा आया कि उपनिषद्, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के समान ही श्रीमद्भागवत भी विभिन्न संप्रदायों का उपजीव्य प्रमाण ग्रंथ बन गया। वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी के स्थान पर प्रमाण चतुष्टय का उल्लेख करते हुए लिखा—

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि[1]।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तत् चतुष्टयम्॥ ७९॥

प्रश्न है कि आचार्य वल्लभ का अभिप्राय समाधिभाषा से क्या हो सकता है? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि व्यास देव को समाधि दशा में जिस जीवनदर्शन की अनुभूति हुई थी उसी का सरल बयान श्रीमद्भागवत्में पाया जाता है। इस प्रकार इस नए जीवन दर्शन का अनाविल उपस्थापन श्रीमद्भागवत् के आधार पर हुआ यही इसका माहात्म्य है।

जिस प्रकार मध्ययुग में कृष्णगोपीप्रेम का प्रधान मानकर हिंदू समाज ने विश्व को एक नया जीवन दर्शन दिया था उसी प्रकार आधुनिक काल में बालगंगाधर तिलक ने कृष्ण के कर्म योग और महात्मा गांधी ने उनके

1—तत्त्वार्थदीप—शुद्ध अद्वैत १, ४१

अनासक्ति योगपर बल देकर इस युग के अनुसार कृष्ण जीवन की नई व्याख्या उपस्थित की। उक्त दोनों राजनैतिक पुरुषों की कृष्ण जीवन की व्याख्या के साथ कृष्णगोपीप्रेम को संयुक्त किया जा सकता है। स्वामी विवेकानद ने उस पावन प्रेम का दिग्गदर्शन कराते हुए लिखा है—

"Krishna is the first great teacher in the history of the world to discover and proclaim the grand truth of love for love's sake and duty for duty's sake Born in a prison, brought-up by cowherds, subjected to all kinds of tyranny by the most despotic monarchy of the day, and derided by the orthodox, 'Krishna still rose to be the greatest saints, philosopher, and reformer of his age. .. In him we find the ideal householder, and the ideal sanyasin, the hero of a thousand battles who knew no defeat. He was a friend of the poor, the weak, and the distressed, the champion of the rights of women and of the Social and spiritual enfranchisement of the Sudra and even of the untouchables, and the perfect ideal of detachment.

And the Bhagwata which records and illustrates his teachings is, in the words of Sri Ramkrishna, 'sweet as cake fried in the butter of wisdom and Soaked in the honey of love."

Philosophy of the Bhagwat

———

और पाँच सौ छात्रों सहित प्रभु के पास व्रत (चरित्र) स्वीकार कि गौतम (सब में) पहला शिष्य था।

मेरे बांधव इंद्रभूति ने संयम की बात स्वीकार की यह जानकर महावीर के पास आया। प्रभु ने नाम लेकर बुलाया। उसके मन में संशय था उसका अभ्यास कराया अर्थात् वेदपद का सत्य अर्थ संशय दूर किया, इस प्रकार से अनुक्रम से ग्यारह गणधर स्थापना की और इस प्रसंग से भुवन-गुरु ने संयम (पांच महाव्रत सहित श्रावकों के बारह व्रत का उपदेश किया। गौतम स्वामी दो-दो उपवास पर पारणा करते हुए विचरण करते रहे। गौतम स्वामी संयम का सारे संसार में जयजयकार होने लगा।'

इसी प्रकार भगवान् महावीर ने स्नान, दान, विजय आदि व्याख्या साधारण जनता के संमुख उपस्थित की जिसका विशेष ग्रंथों में स्थान स्थान पर पाते हैं। स्नान, दान युद्ध के विषय में करते हैं—

धर्म जलाशय है और ब्रह्मचर्य निर्मल एवं प्रसन्न शान्तितीर्थ है। स्नान करने से आत्मा शांत निर्मल और शुद्ध होता है'।

प्रतिमास दस लाख गायों के दान से भी (संयम) करने वाले संयमी मनुष्य का संयम श्रेष्ठ

हजारों दुर्जय संग्रामों को जीतने वाला बड़ा है। एक अपने आत्मा को जीतना श्रेष्ठ है।

इन जैन ग्रं
मिलता है
उपर'
f

अनासक्ति योगपर वल देकर इस युग के अनुसार कृष्ण जीवन की नई व्याख्या उपस्थित की। उक्त दोनों राजनैतिक पुरुषो की कृष्ण जीवन की व्याख्या के साथ कृष्णगोपीप्रेम को संयुक्त किया जा सकता है। स्वामी विवेकानद ने उस पावन प्रेम का दिग्गदर्शन कराते हुए लिखा है—

"Krishna is the first great teacher in the history of the world to discover and proclaim the grand truth of love for love's sake and duty for duty's sake Born in a prison, brought up by cowherds, subjected to all kinds of tyranny by the most despotic monarchy of the day, and derided by the orthodox, 'Krishna still rose to be the greatest saints, philosopher, and reformer of his age. .. In him we find the ideal householder, and the ideal sanyasin, the hero of a thousand battles who knew no defeat. He was a friend of the poor, the weak, and the distressed, the champion of the rights of women and of the Social and spiritual enfranchisement of the Sudra and even of the untouchables, and the perfect ideal of detachment.

And the Bhagwata which records and illustrates his teachings is, in the words of Sri Ramkrishna, 'sweet as cake fried in the butter of wisdom and Soaked in the honey of love"

Philosophy of the Bhagwat

———

मध्ययुग क्रम से इसकी धारा जयदेव के उपरांत ही प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। संभव है कि गुप्त-साम्राज्य के विध्वंस के बाद शताब्दियों तक देश के विक्षुब्ध वातावरण, हिंदू राजाओं के नित्य के पारस्परिक विरोध में इस बीज को पल्लवित होने का अवसर न मिला हो। मध्ययुग की विविध साधनाओं को अंतर्भूत करनेवाले इस धार्मिक ग्रंथ का प्रचार देशकाल के वातावरण के अनुकूल होने से बढ़ गया होगा। इस उपस्थापन को हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार महाभारत-काल में श्रीकृष्ण ने पूर्ववर्ती सभी सिद्धांतों का समन्वय गीता में किया था उसी प्रकार मध्ययुग के सभी धार्मिक मतों का सामंजस्य करनेवाला श्रीमद्भागवत् ग्रंथ समाज का प्रिय बन गया और घर घर में उसका प्रचार होने लगा। ब्रह्मसूत्र के ब्रह्म और गीता के पुरुषोत्तम को श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण रूप से स्वीकार किया गया है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

मध्यकाल में एक समय ऐसा आया कि उपनिषद्, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के समान ही श्रीमद्भागवत भी विभिन्न संप्रदायों का उपजीव्य प्रमाण ग्रंथ बन गया। वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी के स्थान पर प्रमाण चतुष्टय का उल्लेख करते हुए लिखा—

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि[1]।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तत् चतुष्टयम्॥ ७९॥

प्रश्न है कि आचार्य वल्लभ का अभिप्राय समाधिभाषा से क्या हो सकता है? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि व्यास देव को समाधि दशा में जिस जीवनदर्शन की अनुभूति हुई थी उसी का सरस बयान श्रीमद्भागवत्‌में पाया जाता है। इस प्रकार इस नए जीवन दर्शन का अनाविल उपस्थापन श्रीमद्भागवत् के आधार पर हुआ यही इसका माहात्म्य है।

जिस प्रकार मध्ययुग में कृष्णगोपीप्रेम को प्रधान मानकर हिंदू समाज ने विश्व को एक नया जीवन दर्शन दिया था उसी प्रकार आधुनिक काल में बालगंगाधर तिलक ने कृष्ण के कर्म योग और महात्मा गांधी ने उनके

१—वल्लभाचार्य—शुद्धाद्वैतमार्तंड १ ४९

अनासक्ति योगपर बल देकर इस युग के अनुसार कृष्ण जीवन की नई व्याख्या उपस्थित की। उक्त दोनों राजनैतिक पुरुषों की कृष्ण जीवन की व्याख्या के साथ कृष्णगोपीप्रेम को सयुक्त किया जा सकता है। स्वामी विवेकानद ने उस पावन प्रेम का दिग्गदर्शन कराते हुए लिखा है—

"Krishna is the first great teacher in the history of the world to discover and proclaim the grand truth of love for love's sake and duty for duty's sake Born in a prison, brought-up by cow-herds, subjected to all kinds of tyranny by the most despotic monarchy of the day, and derided by the orthodox, 'Krishna still rose to be the greatest saints, philosopher, and reformer of his age. .. In him we find the ideal householder, and the ideal sanyasin, the hero of a thousand battles who knew no defeat He was a friend of the poor, the weak, and the distressed, the champion of the rights of women and of the Social and spiritual enfranchisement of the Sudra and even of the untouchables, and the perfect ideal of detachment.

And the Bhagwata which records and illustrates his teachings is, in the words of Sri Ramkrishna, 'sweet as cake fried in the butter of wisdom and Soaked in the honey of love"

Philosophy of the Bhagwat

———

अक्षुण्ण रूप से इसकी धारा जयदेव के उपरांत ही प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। संभव है कि गुप्त-साम्राज्य के विध्वंस के बाद शताब्दियों तक देश के विक्षुब्ध वातावरण, हिंदू राजाओं के नित्य के पारस्परिक विरोध में इस बीज को पल्लवित होने का अवसर न मिला हो। मध्ययुग की विविध साधनाओं को अंतर्भूत करनेवाले इस धार्मिक ग्रंथ का प्रचार देशकाल के वातावरण के अनुकूल होने से बढ़ गया होगा। इस उपस्थापन को हम यहीं स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार महाभारत-काल में श्रीकृष्ण ने पूर्ववर्ती सभी सिद्धांतों का समन्वय गीता में किया था उसी प्रकार मध्ययुग के सभी धार्मिक मतों का सामंजस्य करनेवाला श्रीमद्भागवत् ग्रंथ समाज का प्रिय बन गया और घर घर में उसका प्रचार होने लगा। ब्रह्मसूत्र के ब्रह्म और गीता के पुरुषोत्तम को श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण रूप से स्वीकार किया गया है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

मध्यकाल में एक समय ऐसा आया कि उपनिषद्, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के समान ही श्रीमद्भागवत भी विभिन्न संप्रदायों का उपजीव्य प्रमाण ग्रंथ बन गया। वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी के स्थान पर प्रमाण चतुष्टय का उल्लेख करते हुए लिखा—

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि[1]।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तत् चतुष्टयम्॥ ७९॥

प्रश्न है कि आचार्य वल्लभ का अभिप्राय समाधिभाषा से क्या हो सकता है? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि व्यास देव को समाधि दशा में जिस जीवनदर्शन की अनुभूति हुई थी उसी का सरस वर्णन श्रीमद्भागवत्में पाया जाता है। इस प्रकार इस नए जीवन दर्शन का अनाविल उपस्थापन श्रीमद्भागवत् के आधार पर हुआ यही इसका माहात्म्य है।

जिस प्रकार मध्ययुग में कृष्णगोपीप्रेम को प्रधान मानकर हिंदू समाज ने विश्व को एक नया जीवन दर्शन दिया था उसी प्रकार आधुनिक काल में बालगंगाधर तिलक ने कृष्ण के कर्म योग और महात्मा गांधी ने उनके

१—वल्लभाचार्य—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड १ ४६

सत्कर्मों में शरीर का समर्पण करनेवाले चरित्रवान् व्यक्ति सच्चरितरूप विजय कारक श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।[1]

तपोमय जीवन की यज्ञ से उपमा देते हुए श्री महावीर जी कहते हैं— "तप ज्योति (अग्नि) है, जीवात्मा अग्निकुंड है, मन वचन, कार्य की प्रवृत्ति कलछुल (दर्वी) है, जो पवित्र संयम रूप होने से शक्तिदायक तथा सुखकारक है और जिसकी ऋषियों ने प्रशंसा की है।[2]"

जैन रासों में इस नवीन जीवन दर्शन की व्याख्या, स्थान स्थान पर मिलती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यज्ञ की नई परिभाषा प्रतीक के रूप में संस्कृत के माध्यम से की गई थी अतः उसका प्रचार केवल संस्कृतज्ञ विद्वानों तक ही सीमित रहा किंतु जैन रास जन भाषा में विरचित एवं गेय होने के कारण सर्वसाधारण तक पहुँच सके।

भगवान् महावीर ने संयमश्री पर बड़ा बल दिया। इसका विवेचन हमें गौतमरास में उस स्थल पर मिलता है जहाँ भगवान् पावापुरी पधार कर इंद्रभूतिको उपदेश देते हैं—

> चरण जिणेसर केवल नाणी, चउविह संघ पइट्ठा जाणी,
> पावापुर सामी संपत्तो, चउविह देव निकायहिं जत्तो॥
> उपसम रसभर भरि वरसंता, योजनावाणि वखाण करंता,
> जाणिअ वर्धमान जिन पाया, सुरनर किंनर आवे राया॥
> कांति समूहे झलझलकंता, गयण विमाण रणरणकंता;
> पेखवि इंद्र भूई मन चिंते, सुर आवे अम्ह यज्ञ होवंते॥
> तीर तरंडक जिमते वहता, समवसरण पहुता गहगहता,
> तो अभिमाने गोयम जंपे, तिणे अवसरे कोपे तणु कंपे॥
> मूढ़ा लोक अजाण्यो बोले, सुर जाणंता इम कांइ डोले,
> मू आगल को जाण भणीजे, मेरू अवर किम ओपम दीजे॥

अर्थात् भगवान् महावीर से वेद के पदों द्वारा उसका संशय मिटा दिया गया। फिर उसने मान को छोड़कर मद को दूर करके भक्ति से मस्तक नवाया

१—सुसंवुडा पचहिं संवरेहिं इह जीविअं अणवकंखमाणा।
वो सट्ठकाया सुइचत्तदेहा महाजयं जयइ जयणसिट्ठं॥

२—तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुआ सरीरं कारिसंग।
कम्मे हहा संजमजोगसंती होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

जैन रास का जीवन दर्शन

हम पूर्व कह आए हैं कि ब्राह्मणों के आडंबरमय यज्ञों के विरुद्ध दो रूप में आंदोलन उठ खड़े हुए थे। एक ओर वैदिक आचार्यों ने वृहदारण्यक में यज्ञों का अध्यात्मपरक अर्थ किया और दूसरी ओर महावीर और बुद्ध ने सच्चरित्र को श्रेष्ठ यज्ञ घोषित किया। जैनागम में उद्धरण मिलता है कि श्री महावीर स्वामी एक बार विहार करते हुए पावापुरी पहुँचे। वहाँ समिल नामक ब्राह्मण विशाल यज्ञ कर रहा था। उसकाल के धुरंधर विद्वान् इंद्रभूति और अग्निभूत उस यज्ञशाला में उपस्थित थे। विद्वान् ब्राह्मणों और याज्ञिकों से यज्ञशाला जनाकीर्ण बनी थी।

भगवान् महावीर उसी यज्ञशाला के समीप होकर विहार करने निकले। उनके तपोमय जीवन और तेजोपुंज आकृति से प्रभावित होकर यज्ञ की दर्शक-मंडली यज्ञशाला त्यागकर मुनिवर का अनुसरण करने लगी।

अपने पांडित्य से उन्मत्त इन्द्रभूति ईर्ष्या और कुतूहल से प्रेरित होकर महावीर जी से शास्त्रार्थ करने चला। उसने आत्मा के अस्तित्व के विषय में अनेक आशंकाएँ उठाईं जिनका समुचित उत्तर देकर भगवान् ने उसका समाधान किया। भगवान् महावीर के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इंद्रभूति और उसके साथी ब्राह्मण भगवान् के शिष्य बन गए।

इंद्रभूति आदि विद्वान् ब्राह्मणों की आत्मा-परमात्मा, देवता, यज्ञ विषयक शंकाओं से यह प्रतीत होता है कि यज्ञ संचालकों के हृदय में भी यज्ञ की उपादेयता के प्रति संदेह उठने लगा था। आज भी गंगा स्नान, *ग्रहणस्नान* गोदान आदि संस्कार करने वाले ब्राह्मणों के मन में *क्रियाकांड* की उपादेयता के विषय में संदेह उठता है पर वे आजीविका के साधन के रूप में उसे चलाते जाते हैं। संभवतः इसी प्रकार स्थिति उस समय यज्ञकर्ता ब्राह्मणों की रही होगी और यज्ञ के नवीन अर्थ से प्रभावित होकर ईमानदार व्यक्तियों ने महावीर के नवीन सिद्धांत को स्वीकार किया होगा। भगवान् महावीर कहते हैं कि अहिंसा आदि पाँच यमों से संवृत्त, वैयक्तिक जीवन की आकांक्षा एवं शरीरगत मोह-ममता से रहित तथा कल्याणरूप

बलवंत बाहुबली (भरत से) बोला कि तुम लौह खड (चक्र) पर गर्वित हो रहे हो। चक्र के सहित तुमको चूर्ण कर डालूँ। तुम्हारे सभी गोत्रवालों का शल्य द्वारा सहार कर दूँ।

भरतेश्वर अपने चित्त में विचार करने लगे। मैंने भाई की रीति का लोप कर दिया। मैं जानता हूँ, चक्र परिवार का हनन नहीं करता। (भ्रातृवध के) मेरे विचार को धिक्कार है। हमने अपने हृदय में क्या सोचा था ! अथवा मेरी ममता किस गिनती में है।

तब बाहुबली राजा बोले—हे भाई, आप अपने मन में विषाद न कीजिए। आप जीत गए और मैं हार गया। मैं ऋषभेश्वर के चरणों की शरण में हूँ।

उस समय भरतेश्वर अपने मन में विचार करने लगे कि बाहुबली के (मन में) ऊपर वैराग्यमुमुक्षता चढ गई है। मैं बड़ा भाई दुखी हूँ जो अविवेकवान् होकर अविमर्श में पड़ गया।

भरतेश्वर कहने लगे—इस ससार को धिक्कार है, धिक्कार है। रानी और राजऋद्धि का धिक्कार है। इतनी मात्रा में जीवसहार विरोध के कारण किसके लिए किया ?

जिससे भाई पुन. विपत्ति में आ जाय ऐसे कार्य को कौन करे ? इस राज्य, घर, पुर, नगर और मदिर (विशाल महल) से काम नहीं। अथवा कल कौन ऐसा कार्य किया जाय कि भाई बाहुबली पुनः (हमारा) आदर करे।[1] इस प्रकार बाहुबली के आत्मविजय का गौरव युद्धविजय की अपेक्षा अधिक महत्त्वमय सिद्ध हुआ।

जैन धर्म में सयम-श्री की उपलब्धि पर बड़ा बल दिया जाता है। जिसने वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली वही सबसे बड़ा वीर है। जैन रासों

सयम श्री

में मनोबल को पुष्ट करने के लिए विविध प्रकार के धार्मिक कथानकों का सहारा लेकर रसमय रास और फाग काव्यों की रचना की गई है। स्थूलभद्र नाम के एक मुनि जैन साहित्य में विलक्षण प्रतिभावाले व्यक्ति हुए हैं। वे वैष्णव के कृष्ण के समान ही आत्मविजयी माने जाते हैं। जैन आगमों में

१—भरतेश्वर बाहुबली रास छंद १८७ से १९२ तक।

और पाँच सौ छात्रों सहित प्रभु के पास व्रत (चारित्र) स्वीकार किया। गौतम (क्रम में) पहला शिष्य था।

मेरे बांधव इंद्रभूति ने संयम की बात स्वीकार की यह जानकर अग्निभूति, महावीर के पास आया। प्रभु ने नाम लेकर बुलाया। उसके मन में जो संशय था उसका अभ्यास कराया अर्थात् वेदपद का सारा अर्थ समझाकर संशय दूर किया, इस प्रमाण से अनुक्रम से ग्यारह गणधर रूपी रत्नों की प्रभु ने स्थापना की और इस प्रसंग से भुवन-गुरू ने संयम (पांच महाव्रत रूप) सहित श्रावकों के बारह व्रत का उपदेश किया। गौतम स्वामी निरंतर ही दो-दो उपवास पर पारणा करते हुए विचरण करते रहे। गौतम स्वामी के संयम का सारे संसार में चमत्कार होने लगा।'

इसी प्रकार भगवान् महावीर ने स्नान, दान, विजय आदि की नई व्याख्या साधारण जनता के संमुख उपस्थित की जिसका विश्लेषण हम रास ग्रंथों में स्थान स्थान पर पाते हैं। स्नान, दान युद्ध के विषय में वे कहते हैं—

धर्म जलाशय है और ब्रह्मचर्य निर्मल एवं प्रसन्न शांतितीर्थ है। उसमें स्नान करने से आत्मा शांत निर्मल और शुद्ध होता है[१]।

प्रतिमास दस लाख गायों के दान से भी, किसी (बाह्य) वस्तु का दान करने वाले संयमी मनुष्य का संयम श्रेष्ठ है[२]।

हजारों दुर्जय संग्रामों को जीतने वाले की अपेक्षा एक अपने आत्मा को जीतने वाला बड़ा है। सब प्रकार के बाह्य विजयों की अपेक्षा आत्मजय श्रेष्ठ है[३]।

इन जैन सिद्धांतों का स्पष्टीकरण हमें रास ग्रंथों में स्थान स्थान पर मिलता है। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' में भरत और बाहुबली के घोर युद्ध के उपरांत रासकार ने शस्त्रबल और बाहुबल से अधिक शक्ति आत्मजय में दिखलाई है। उदाहरण के लिए देखिए—

१—धम्मे हरए बंभे संतितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥

२—जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ अदिंतस्सावि किंचण॥

३—जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥

बलवत बाहुबली (भरत से) बोला कि तुम लौह खंड (चक्र) पर गर्वित हो रहे हो। चक्र के सहित तुमको चूर्ण कर डालूँ। तुम्हारे सभी गोत्रवालों का शल्य द्वारा संहार कर दूँ।

भरतेश्वर अपने चित्त में विचार करने लगे। मैंने भाई की रीति का लोप कर दिया। मैं जानता हूँ, चक्र परिवार का हनन नहीं करता। (भ्रातृवध के) मेरे विचार को धिक्कार है। हमने अपने हृदय मे क्या सोचा था ! अथवा मेरी ममता किस गिनती में है।

तब बाहुबली राजा बोले—हे भाई, आप अपने मन में विषाद न कीजिए। आप जीत गए और मैं हार गया। मैं ऋषभेश्वर के चरणों की शरण में हूँ।

उस समय भरतेश्वर अपने मन में विचार करने लगे कि बाहुबली के (मन में) ऊपर वैराग्यमुमुक्षता चढ गई है। मैं बड़ा भाई दुखी हूँ जो अविवेकवान् होकर अविमर्श में पड़ गया।

भरतेश्वर कहने लगे—इस संसार को धिक्कार है, धिक्कार है। रानी और राजऋद्धि का धिक्कार है। इतनी मात्रा में जीवसंहार विरोध के कारण किसके लिए किया ?

जिससे भाई पुन. विपत्ति में आ जाय ऐसे कार्य को कौन करे ? इस राज्य, घर, पुर, नगर और मंदिर (विशाल महल) से काम नहीं। अथवा फल कौन ऐसा कार्य किया जाय कि भाई बाहुबली पुन, (हमारा) आदर करे। इस प्रकार बाहुबली के आत्मविजय का गौरव-युद्धविजय की अपेक्षा अधिक महत्त्वमय सिद्ध हुआ।

जैन धर्म में संयम-श्री की उपलब्धि, पर बड़ा बल दिया जाता है। जिसने वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली वही सबसे बड़ा वीर है। जैन रासों

संयम श्री

में मनोबल को पुष्ट करने के लिए विविध प्रकार के धार्मिक कथानकों का सहारा लेकर रसमय रास और फाग काव्यों की रचना की गई है। स्थूलभद्र नाम के एक मुनि जैन साहित्य में विलक्षण प्रतिभावाले व्यक्ति हुए है। वे वैष्णव के कृष्ण के समान ही आत्मविजयी माने जाते हैं। जैन आगमों में

१—भरतेश्वर बाहुबली रास छंद १८७ से १९२ तक।

उनका बड़ा माहात्म्य है। जैन धर्म में मंगलाचरण के लिए यह श्लोक प्रसिद्ध है—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमः प्रभुः।
मंगलं स्थूलभद्राद्या जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

स्थूलभद्र के संयममय जीवन का अवलंब लेकर अनेक रास-फागु निर्मित हुए। प्राचीन कथा है कि पाटलिपुत्र नगर में नंद नाम का राजा था। शकटाल के स्थूलभद्र और श्रीयक दो पुत्र थे। स्थूलभद्र नगर की प्रसिद्ध वेश्या कोशा में इतना अनुरक्त हो गया कि शकटाल की मृत्यु के उपरांत उसने राजा के प्रधान सचिव पद के आमंत्रण को भी अस्वीकार कर दिया। कालांतर में स्थूलभद्र ने विलासमय जीवन को निस्सार समझकर संभूतिविजय के पास दीक्षा ले ली।

चातुर्मास आने पर मुनियों ने आचार्य संभूतिविजय से वर्षावास के लिए अनुज्ञा मांगी। अन्य मुनियों की भाँति स्थूलभद्र ने कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास बिताने की अनुमति मांगी। अनुमति मिलने पर स्थूलभद्र कोशा के यहाँ जाकर संयमपूर्वक रहने लगा। धीरे धीरे कोशा को विश्वास हो गया कि अब उन्हें कोई शक्ति विचलित नहीं कर सकती। अनुराग का स्थान भक्ति ने ले लिया और वह अपने पतित जीवन पर अनुताप करने लगी।

चातुर्मास के पूरा होने पर सब मुनि वापस आए। गुरु ने प्रत्येक का अभिवादन किया। जब स्थूलभद्र आए तो वे खड़े हो गए और 'दुष्कर से भी दुष्कर तप करनेवाले महात्मा' कहकर उनका सत्कार किया। इससे दूसरे शिष्य ईर्ष्या करने लगे।

दूसरे वर्ष जब चातुर्मास का समय आया तो सिंह की गुफा में चातुर्मास बितानेवाले एक मुनि ने कोशा की चित्रशाला में रहने की अनुमति मांगी। और गुरु के मना करने पर भी वह कोशा की चित्रशाला में चला गया और पहले दिन ही विचलित हो गया। उसे व्रतभंग से बचाने के लिए कोशा ने कहा 'मुझे रत्नकंबल की आवश्यकता है। नेपाल के राजा के पास जाकर उसे ला दो तो मैं तुम्हारी इच्छा पूरी कर दूंगी'। साधु कामवश चातुर्मास की परवाह किए बिना नेपाल पहुँचा और वहाँ से रत्नकंबल लाया। मार्ग में अनेक संकटों का सामना करता हुआ वह किसी प्रकार कोशा के पास पहुँचा। कोशा ने

रत्नकंबल लेकर गंदे पानी मे डाल दिया। साधु उसे देखकर कहने लगा, 'इतने परिश्रम से मै इस रत्न कंबल को लाया और तुमने नाली में डाल दिया।'

कोशा ने उत्तर दिया—'इतने वर्ष कठोर तपस्या करके तुमने इस संयम रूपी रस को प्राप्त किया है। अब वासना से प्रेरित होकर क्षणिक तृप्ति के लिए इसे नष्ट करने जा रहे हो, यह क्या नाली में डालना नहीं है? इसपर साधु के ज्ञानचक्षु खुल गए और वह प्रायश्चित करने लगा।

कुछ दिनो उपरांत राजा की आज्ञा से कोशा का विवाह एक रथकार के साथ हो गया। परंतु वह सर्वथा जीवन से विरक्त हो चुकी थी और उसने दीक्षा ले ली।

इस आख्यायिका ने अनेक कवियों को रास एवं फाग रचना की प्रेरणा दी। प्रस्तुत संग्रह के 'स्थूलभद्र फाग' में संयम श्री का आनंद लेनेवाले स्थूलभद्र कोशा[1] के आग्रह पर कहते हैं—

\+ \+ \+

चिंतामणि परिहरवि कवणु पत्थरु गिह्न सेह

तिम संजम-सिरि परिवएवि बहु-धम्म समुज्जल

आलिंगइ तुह कोस ! कवणु पसरत महाबल ॥

अर्थात् चिंतामणि को त्यागकर कौन प्रस्तर खंड (सीकटी) ग्रहण करना चाहेगा। उसी प्रकार धर्मसमुज्ज्वल संयम श्री को त्यागकर कौन तेरा आलिंगन करेगा'', तात्पर्य यह है कि 'उत्तराध्ययन' में कोशा गौतमसंवाद को रासग्रंथों में अत्यन्त सरस बनाकर सामान्य जनता के उपयुक्त प्रदर्शित किया गया है।

हम पूर्व कह आये हैं कि जैन रास एवं फाग ग्रंथ जैनागमों की व्याख्या उपस्थित करके सामान्य जनता को धर्मपालन की ओर प्रेरित करते हैं।

१—कोशा के रूपलावण्य और शृंगार का वर्णन कवि रसमय शैली में करता हुआ स्थिति की गंभीरता इस प्रकार दिखाता है—

जिनके नखपल्लव कामदेव के अंकुश की तरह विराजान हैं। जिनके पादकमल में घूँघरी रुमझुम रुमझुम बोलती है। नवयौवन से विलसित देहवाली अभिनव से (पागल) गहली हुई, परिमल लहरी में मगमगती (मँहकती), पहली रतिकेलि के समान प्रवाल-खंड-सम अधर बिंबवाली, उत्तम चंपक के वर्णवाली, हावभाव और बहुत रस से पूर्ण नैनसलोनी शोभा देती है।

सिरियूलिभद्द फागु पृ० १४१–४२

उनका बड़ा माहात्म्य है। जैन धर्म में मंगलाचरण के लिए यह श्लोक प्रसिद्ध है—

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमः प्रभुः।
मंगलं स्थूलभद्राद्या जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

स्थूलभद्र के संयममय जीवन का अवलंब लेकर अनेक रास-फाग निर्मित हुए। प्राचीन कथा है कि पाटलिपुत्र नगर में नंद नाम का राजा था। शकटाल के स्थूलभद्र और श्रीयक दो पुत्र थे। स्थूलभद्र नगर की प्रसिद्ध वेश्या कोशा में इतना अनुरक्त हो गया कि शकटाल की मृत्यु के उपरांत उसने राजा के प्रधान सचिव पद के आमंत्रण को भी अस्वीकार कर दिया। कालांतर में स्थूलभद्र ने विलासमय जीवन को निस्सार समझकर संभूतिविजय के पास दीक्षा ले ली।

चातुर्मास आने पर मुनियों ने आचार्य संभूतिविजय से वर्षावास के लिए अनुज्ञा माँगी। अन्य मुनियों की भाँति स्थूलभद्र ने कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास बिताने की अनुमति माँगी। अनुमति मिलने पर स्थूलभद्र कोशा के यहाँ जाकर संयमपूर्वक रहने लगा। धीरे धीरे कोशा को विश्वास हो गया कि अब उन्हें कोई शक्ति विचलित नहीं कर सकती। अनुराग का स्थान भक्ति ने ले लिया और वह अपने पतित जीवन पर अनुताप करने लगी।

चातुर्मास के पूरा होने पर सब मुनि वापस आए। गुरु ने प्रत्येक का अभिवादन किया। जब स्थूलभद्र आए तो वे खड़े हो गए और 'दुष्कर से भी दुष्कर तप करनेवाले महात्मा' कहकर उनका सत्कार किया। इससे दूसरे शिष्य ईर्ष्या करने लगे।

दूसरे वर्ष जब चातुर्मास का समय आया तो सिंह की गुफा में चातुर्मास बितानेवाले एक मुनि ने कोशा की चित्रशाला में रहने की अनुमति माँगी। और गुरु के मना करने पर भी वह कोशा की चित्रशाला में चला गया और पहले दिन ही विचलित हो गया। उसे व्रतभंग से बचाने के लिए कोशा ने कहा मुझे रत्नकंबल की आवश्यकता है। नेपाल के राजा के पास जाकर उसे ला दो तो मैं तुम्हारी इच्छा पूरी कर दूँगी', साधु कामवश चातुर्मास की परवाह किए बिना नेपाल पहुँचा और वहाँ से रत्नकंबल लाया। मार्ग में अनेक संकटों का सामना करता हुआ वह किसी प्रकार कोशा के पास पहुँचा। कोशा ने

खीर खाढ घृत आण, अमिअवूठ अंगुठ ठवि,
गोयम एकण पात्र, करावे पारणो सवि ॥
पचसया शुभ भावि, उज्जल भरिओ खीरमसि,
साचा गुरु सयोगे, कवल ते केवल रूप हुआ ॥[1]

अर्थात्—गौतम स्वामी अपने ५०० शिष्यों को दीक्षा देकर अपने साथ लेकर यूथाधिपति की भाँति चल पडे। दूध, चीनी और घी एक ही पात्र में मिलाकर उसमे अमृतवर्षीय अगूठा रखकर गौतम स्वामी ने सभी तापसों को क्षीरान्न का पान कराया। सच्चे गुरु के सयोग से वे सभी क्षीर चखकर केवल ज्ञानरूप हो गए। किंतु गौतम स्वामी स्वय केवल ज्ञानी नहीं बन सके। इसका कारण यह था कि श्री महावीर जी में उनका राग बना हुआ था। जिस समय वे गुरु के आदेशानुसार देवशर्मा ब्राह्मण को दीक्षा देकर लौटे उस समय श्री महावीर जी का निर्वाण हो चुका था। गौतम स्वामी सोचने लगे कि "स्वामी जी ने जानबूझकर कैसे समय में मुझे अपने से दूर किया। लोक व्यवहार को जानते हुए भी उस त्रिलोकीनाथ ने उसे पाला नहीं। स्वामिन्! आपने बहुत अच्छा किया। आपने सोचा कि वह मेरे पास 'केवल ज्ञान' माँगेगा।"[2]

"इस प्रकार सोच विचार कर गौतम ने अपना रागासक्तचित्त विराग में लगा दिया। राग के कारण जो केवल ज्ञान दूर रहता था वह राग के दूर होते ही सहज में ही प्राप्त हो गया।"[3]

यहाँ जैन और वैष्णव रास सिद्धातों में स्पष्ट अतर दिखाई पड़ता है। कृष्ण रास मे भगवान् के प्रति राग और ससार से विराग अपेक्षित है किंतु जैन रास में भगवान् महावीर के प्रति भी राग वर्जित है। विरागिता की चरम सीमा जैन रासो का मूलमत्र है।

जैन रासकार जगत् को प्रपचमय जानकर गुरु के प्रति भी विरागिता का उपदेश देता है। इद्रियरस से दूर रहकर एकमात्र आत्मशुद्धि करना ही जैन रास का उद्देश्य रहता है किंतु वैष्णव रास में मन को कृष्ण प्रेम रस से आप्लावित करना अनिवार्य माना जाता है। केवल ज्ञान के द्वारा जहाँ मुक्तिप्राप्ति जैनरासकारों ने अपने जीवन का ध्येय

कृष्णरास और जैनरास में राग का दृष्टिकोण

१—गौतम स्वामी रास—पृ० १८९—छद ३९–४१
२— ,, ,,
३— ,, पृ० १९० छद ४९

जैनागमों में स्थान स्थान पर धर्म की व्याख्या के रूप में भगवान् महावीर के साथ इन्द्रभूति और गौतम का संवाद मिलता है। उववाई रायपसेणइय, जंबूद्वीप पण्णत्ति, सूरपण्णत्ति आदि ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। प्रसिद्ध आगम ग्रंथ 'भगवती' के अधिकांश भाग में गौतम एवं महावीर के प्रश्नोत्तर मिलते हैं। 'पराणवणासूत्र' एवं 'गौतम पृच्छा' नामक ग्रंथ इसी शैली के परिचायक हैं।

जैन परंपरा में आध्यात्मिक विभूतियों के लिए गौतम स्वामी, बुद्धिप्रकर्ष के लिए अभयकुमार और धनवैभव के लिए शालिभद्र अत्यंत प्रसिद्ध माने जाते हैं। इन व्यक्तियों के चरित्र के आधार पर विविध रासों की रचना हुई जिनमें जैनदर्शन के सिद्धांत स्पष्ट किए गए। जैन परंपरा में चित्तशुद्धि

चित्तशुद्धि

का सिद्धांत अत्यंत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। यह कठिन-तपस्या-साध्य है। जब तक चित्त में किसी प्रकार का राग विद्यमान है तब तक चित्त पूर्णतया शुद्ध नहीं होता और जब तक चित्त में अशुद्धि है तब तक केवल-ज्ञान संभव नहीं।

राग को परम[1] शत्रु मानकर उसके त्याग की बारबार घोषणा की गई है। इस राग परित्याग का यहाँ तक विधान है कि अपने पूज्य गुरु एवं आचार्य में भी राग बुद्धि का लेश अक्षम्य है। इस सिद्धांत को हम 'गौतमस्वामी रास' में स्पष्ट देख पाते हैं। गौतम ने अपने माता पिता एवं परिवार आदि को त्यागकर मन में विराग धारण कर लिया। विरागी बनकर उसने घोर तपस्या की। भगवान् महावीर की कृपा से उन्हें शास्त्रों का विधिवत् ज्ञान हो गया, किंतु उनके मन में गुरु के प्रति राग बना रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि वे जिनको दीक्षा देते थे उन्हें तो केवल ज्ञान हो जाता था किंतु वे स्वयं 'केवल ज्ञान' से वञ्चित रहे।

> जसता गोयम सामि सवि तापस प्रतिबोध करे
> लेइ आपयो साथ चाले जिम जुथाधिपति।

१— आर्तध्यानविद्रूप स्वात्माराम निजगुणम्।
रागादयुदयम शत्रूणामनुरक्तौ बनाय च॥

अध्यात्म रहस्य श्लोक २९।

भावार्थ—रागादि रूप शत्रुओं की अनुरक्ति और विभाव के लिए नित्य ही उद्यमी होकर शुद्धात्म स्मरण की भावना करनी चाहिए।

खीर खाड घृत आण, अमिअवूठ अगुठं ठवि,
गोयम एकण पात्र, करावे पारणो सवि ॥
पंचसयां शुभ भावि, उज्जल भरिओ खीरमसि,
साचा गुरु सयोगे, कवल ते केवल रूप हुआ ॥[1]

अर्थात्—गौतम स्वामी अपने ५०० शिष्यों को दीक्षा देकर अपने साथ लेकर यूथाधिपति की भाँति चल पड़े। दूध, चीनी और घी एक ही पात्र में मिलाकर उसमें अमृतवर्षीय अगूठा रखकर गौतम स्वामी ने सभी तापसों को क्षीरान्न का पान कराया। सच्चे गुरु के सयोग से वे सभी क्षीर चखकर केवल ज्ञानरूप हो गए। किंतु गौतम स्वामी स्वयं केवल ज्ञानी नहीं बन सके। इसका कारण यह था कि श्री महावीर जी में उनका राग बना हुआ था। जिस समय वे गुरु के आदेशानुसार देवशर्मा ब्राह्मण को दीक्षा देकर लौटे उस समय श्री महावीर जी का निर्वाण हो चुका था। गौतम स्वामी सोचने लगे कि "स्वामी जी ने जानबूझकर कैसे समय मे मुझे अपने से दूर किया। लोक व्यवहार को जानते हुए भी उस त्रिलोकीनाथ ने उसे पाला नहीं। स्वामिन्! आपने बहुत अच्छा किया। आपने सोचा कि वह मेरे पास 'केवल ज्ञान' माँगेगा।"[2]

"इस प्रकार सोच विचार कर गौतम ने अपना रागासक्तचित्त विराग में लगा दिया। राग के कारण जो केवल ज्ञान दूर रहता था वह राग के दूर होते ही सहज में ही प्राप्त हो गया।"[3]

यहाँ जैन और वैष्णव रास सिद्धातो में स्पष्ट अतर दिखाई पड़ता है। कृष्ण रास में भगवान् के प्रति राग और ससार से विराग अपेक्षित है किंतु जैन रास में भगवान् महावीर के प्रति भी राग वर्जित है। विरागिता की चरम सीमा जैन रासो का मूलमत्र है।

जैन रासकार जगत् को प्रपचमय जानकर गुरु के प्रति भी विरागिता का उपदेश देता है। इद्रियरस से दूर रहकर एकमात्र आत्मशुद्धि करना ही जैन रास का उद्देश्य रहता है किंतु वैष्णव रास में मन को कृष्ण प्रेम रस से आप्लावित करना अनिवार्य माना जाता है। केवल ज्ञान के द्वारा जहाँ मुक्तिप्राप्ति जैनरासकारों ने अपने जीवन का ध्येय

कृष्णरास और जैनरास में राग का दृष्टिकोण

१—गौतम स्वामी रास—पृ० १८९—छद ३९-४१
२— " "
३— " पृ० १९० छद ४६

बनाया जहाँ मुक्ति को भी त्याग कर रासरस का आस्वादन कृष्णरास-कर्त्ताओं का लक्ष्य रहा है। किंतु इस रास की प्राप्ति एकमात्र हरिकृपा से ही संभव है। सूरदास रास का वर्णन करते हुए कहते है—

रास रसरीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन कहाँ, इहि चित जिय भ्रम भुलावै॥
जो कही कौन मानै निगम अगम, हरिकृपा बिनु नहिं या रसहिं पावै।
भाव सों भजै, बिन भाव मैं ए नहीं, भाव ही माँहिं भाव यह बसावै॥
यहै निज मंत्र यह ज्ञान, यह ध्यान है दरस दंपति भजन सार गावै।
यहै माँगो बार बार प्रभु सूर के नयन दोउ रहैं नर देह पावै॥

तात्पर्य यह कि जैन रास का जीवन दर्शन विरागिता के द्वारा जन्म मरण से मुक्ति दिलाना है और वैष्णव रास का लक्ष्य राधा कृष्ण के दांपत्य रस का आस्वादन करने के लिए बारबार नरदेह धारण करना है।

जहाँ जैन रासों में वैराग्य आवश्यक माना जाता है वहाँ वैष्णवों के प्रेमदर्शन में भगवान् के प्रतिराग अनिवार्य समझा जाता है। देवर्षि नारद भक्तिसूत्र में कहते है—

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।[1]

अर्थात्—"इस प्रेम को पाकर प्रेमी इस प्रेम को ही देखता है, 'प्रेम को ही सुनता है प्रेम का ही वर्णन करता है और और प्रेम का ही चिंतन करता है।

वैष्णवरास रचयिता कवियों ने भगवान् के प्रति राग का इतना अधिक बखान किया है कि उनका एक क्षण का वियोग गोपियों को असह्य हो जाता है। उनको तो भगवान् के चरणों में इतना आनंद प्राप्त होता है कि उन्हें अपने चरणों में मोक्ष साम्राज्य भी लोटती दिखाई पड़ती है।[2] संपूर्ण वैष्णव रास कृष्णराग एवं राम राग से परिपूर्ण है। गोपियाँ कृष्णराग में इतनी विह्वल है कि नृत्य के समय उनके चंद्रमुख को निहारने की अभिलाषा सदा उनके मन को गुदगुदाती रहती है।

१—नारदभक्तिसूत्र—५५
२—[illegible] मुकुटे भक्तिरागद [illegible]
[illegible] चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः॥

नाच श्याम सुखमय।
देखि, ताले माने केमन ज्ञानोदय॥
ए तो घाटे माठे दान साधनाय।
एखाने गाइते बाजाते जाने गोपी समुदाय॥
एकबार नाच हे श्याम फिरि फिरि।
सगे सगे नाचव मोरा चाँद वदन हेरि॥[१]

वैष्णव और जैन रास पदों के उक्त उद्धरणों से राग विराग की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

जैन रासो में विरागिता के साथ विद्यादान पर भी बल दिया गया है। एक स्थान पर विद्यादान की महिमा वर्णन करते हुए रासकार लिखते हैं कि विद्यादान के पुण्य का अपार फल है—

विद्यादानु जठ दीजइ सारु जिणु भणइ तेह पुन्य नहीं पारु

साध्वियों का भी समान साधुओं के समान करना आवश्यक बतलाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि १३ वीं १४ वीं शताब्दी में साधु और साध्वियों का समान समान होता था।[२]

इस रास में एक स्थान पर श्रावक के शरीर के सप्तधातु के समान महत्त्व रखनेवाले अध्यात्म शरीर के सात तत्त्व सदाचार, सुविचार, कुशलता निरहकार भाव, शील, निष्कलकता, और दीनजनसहाय बतलाये गये हैं।[३]

वह श्रावक शिवपुर में निवास करता है जो तीन प्रकार की शुद्धि और अत.करणमें वैराग्य को धारण करता है। उसके लिए जिन-वचनों का पढना, श्रवण करना, गुनना आवश्यक माना गया है। जिसने शील रूपी कवच धारण कर रखा है उसके लिए ससार में कुछ भी दुर्लभ नहीं।[४]

जैन और वैष्णव रास सिद्धात में दूसरा बड़ा अतर ईश्वर-सबधी धारणा में पाया जाता है। जैन शास्त्र के अनुसार जिसके सपूर्ण कर्मों का आमूल क्षय हो गया हो वह ईश्वर है। 'परिक्षीण सकल कर्मा ईश्वर.' जैन धर्म के अनुसार ईश्वरत्व और मुक्ति का एक ही लक्षण है। 'मुक्ति प्राप्त करना ही

१—रास और रसान्वयी काव्य पृ० ३६४
२—सप्तक्षेत्रिय रास छद स० ६०
३—वही ,, ८६
४—वही ,, १०१

ईश्वरत्व की प्राप्ति है।' ईश्वर शब्द का अर्थ है समर्थ। अतः अपने ज्ञानादि पूर्ण शुद्ध स्वरूप में पूर्ण समर्थ होने वाले के लिए 'ईश्वर' शब्द बराबर लागू हो सकता है[१]।

जैन शास्त्र का मत है कि मोक्ष प्राप्ति के साधन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अभ्यास जब पूर्ण स्थिति पर पहुँच जाता है तब संपूर्ण आवरण का बंधन दूर हट जाता है और आत्मा का ज्ञान पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। इसी स्थिति का नाम ईश्वरत्व है।

ईश्वर एक ही व्यक्ति नहीं। पूर्ण आत्म-स्थिति पर पहुँचने वाले सभी सिद्ध भगवान् या ईश्वर बनने के अधिकारी हैं। कहा जाता कि 'जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियों अथवा कूपों का एकत्रित किया हुआ जल एक में मिल जाता है तो उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता उसी प्रकार प्रकृति में भी भिन्न भिन्न जलों की भाँति एक दूसरे में मिले हुए सिद्धों के विषय में एक ईश्वर या एक भगवान का व्यवहार होना भी असंगत अथवा अघटित नहीं है[२]।

हमें इसी सिद्धांत का प्रतिपादन जैन रासों में मिलता है। गौतम स्वामी से दीक्षित ५ शिष्य जब केवली बन गए तो उन्होंने भगवान् महावीर के सामने मस्तक झुकाने की आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि वे स्वतः ईश्वर बन गए थे। इसी कारण जैन परंपरा में भगवान् महावीर और उनसे पूर्व होने वाले २३ तीर्थंकर[३] भगवान् पद के अधिकारी माने जाते हैं। जैन धर्म के अनुसार कलियुग में भगवान् बनने का अधिकार अब किसी को नहीं है।

किंतु वैष्णव धर्म में एकमात्र कृष्ण अथवा राम ही ईश्वर अथवा भगवान पद के अधिकारी हैं। गोपियों को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई भगवान् सूझता ही नहीं। उद्धव-गोपी-संवाद में श्रीमद्भागवतकार ने इस तथ्य का

१—मुनि श्री न्यायविजय जी जैनदर्शन पृ ४७।

२—मुनि श्री न्यायविजय जी जैनदर्शन पृ ४८।

३—२४ तीर्थंकर—१ ऋषभ २ अजित ३ संभव, ४ अभिनंदन ५ सुमति ६ पद्म ७ सुपार्श्व ८ चंद्र, ९ सुविधि १० शीतल ११ श्रेयांस, १२ वासुपूज्य १३ विमल १४ अनंत १५ धर्म १६ शांति १७ कुंथु, १८ अर १९ मल्लि २० मुनि सुव्रत २१ नमि २२ अरिष्टनेमि २३ पार्श्व २४ भगवान् महावीर।

और भी स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार जैन रास (गौतम स्वामी रास) में गौतम की रागवृत्ति और गोपियों की रागवृत्ति में अंतर पाया जाना स्वाभाविक है। जैन रास पुत्र-कलत्र आदि के राग त्याग के साथ साथ गुरु में भी राग निषिद्ध मानता है किंतु वैष्णव रास में भगवान् कृष्ण के प्रति राग अनिवार्य माना जाता है। उस राग के बिना भगवद्-भक्ति की पूर्णता संभव नहीं।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में स्थान स्थान पर यह प्रश्न उठाया गया है कि युवावस्था में काम भोगों का आनंद लेकर वृद्धावस्था में विराग धारण करना श्रेयस्कर है अथवा भोगों से दूर रहकर प्रारंभ से ही वैराग्य अपेक्षित है। यशा ने अपने पति भृगु पुरोहित से कहा था—'आपके कामभोग अच्छे संस्कार युक्त, इकट्ठे मिले हुए, प्रधान रसवाले और पर्याप्त हैं। इसलिए हम लोग इन काम भोगों का आनंद लेकर तत्पश्चात् दीक्षारूप प्रधान मार्ग का अनुसरण करेंगे[1]।' भृगुपुरोहित प्रारंभ से वैराग्य के पक्ष में था।

भोग कामना तृप्ति

ठीक इसी प्रकार का प्रश्न सती राजमती के भी जीवन में उठ खड़ा होता है। रथनेमि नामक राजपुत्र उस सती से कहता[2] है—'तुम इधर आओ। प्रथम हम दोनों भोगों को भोगें क्योंकि यह मनुष्य जन्म निश्चय ही मिलना अति कठिन है। अतः भुक्त भोगी होकर पीछे से हम दोनों जिन मार्ग को ग्रहण कर लेंगे। किंतु राजमती ने इस समस्या का उत्तर दिया है। वह सती रथनेमि को फटकारते हुए कहती है—

'हे अयश की कामना करने वाले! तुझे धिक्कार हो जो कि तू असंयत जीवन के कारण से वमन किये हुए को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है[3]।'

१—सुसंभिया काम गुणा इमे ते,
संपिण्डिआ अग्गरसप्पभूया।
भुंजामु ता कामगुणे पगामं,
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं॥ उत्तराध्ययन—१४।३१

२—एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुत्त भोगा तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्समो॥ उत्तराध्ययन—२२।३८

३—उत्तराध्ययन।

ईश्वरत्व की प्राप्ति है।' ईश्वर शब्द का अर्थ है समर्थ। अतः अपने ज्ञानादि पूर्ण शुद्ध स्वरूप में पूर्ण समर्थ होने वाले के लिए 'ईश्वर' शब्द बराबर लागू हो सकता है[1]।

जैन शास्त्र का मत है कि मोक्ष प्राप्ति के साधन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अभ्यास जब पूर्ण स्थिति पर पहुँच जाता है तब संपूर्ण आवरण का बंधन दूर हट जाता है और आत्मा का ज्ञान पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। इसी स्थिति का नाम ईश्वरत्व है।

ईश्वर एक ही व्यक्ति नहीं। पूर्ण आत्म-स्थिति पर पहुँचने वाले सभी सिद्ध भगवान् या ईश्वर बनने के अधिकारी हैं। कहा जाता कि जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियों अथवा कूपों का एकत्रित किया हुआ जल एक में मिल जाता है तो उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता उसी प्रकार प्रकृति में भी भिन्न भिन्न जलों की भाँति एक दूसरे में मिले हुए सिद्धों के विषय में एक ईश्वर या एक भगवान का व्यवहार होना भी असंगत अथवा अघटित नहीं है[2]।

हमें इसी सिद्धांत का प्रतिपादन जैन शास्त्रों में मिलता है। गौतम स्वामी से दीक्षित ५ शिष्य जब केवली बन गए तो उन्होंने भगवान् महावीर के सामने मस्तक झुकाने की आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि वे स्वतः ईश्वर बन गए थे। इसी कारण जैन परंपरा में भगवान् महावीर और उनसे पूर्व होने वाले २३ तीर्थंकर[3] भगवान् पद के अधिकारी माने जाते हैं। जैन धर्म के अनुसार कलियुग में भगवान् बनने का अधिकार अब किसी को नहीं है।

किंतु वैष्णव रास में एकमात्र कृष्ण अथवा राम ही ईश्वर अथवा भगवान पद के अधिकारी हैं। गोपियों को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई भगवान् सूझता ही नहीं। उद्धव-गोपी-संवाद में श्रीमद्भागवतकार ने इस तथ्य को

१—मुनि श्री न्यायविजय जी जैनदर्शन पृ ४७।

२—मुनि श्री न्यायविजय जी जैनदर्शन, पृ ४८।

३—२४ तीर्थंकर—१ ऋषभ २ अजित ३ संभव ४ अभिनंदन ५ सुमति ६ पद्म ७ सुपार्श्व ८ चंद्र ९ सुविधि १० शीतल ११ श्रेयांस १२ वासुपूज्य १३ विमल १४ अनंत १५ धर्म १६ शांति १७ कुंथु १८ अर १९ मल्लि २० मुनि सुव्रत २१ नमि २२ अरिष्टनेमि २३ पार्श्व २४ भगवान् महावीर।

अहिंसा का सिद्वात भी इस रास के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उत्सवो में भी जीव हिंसा के द्वारा आतिथ्य को घृणित माना गया है। इस प्रकार रास ग्रंथ अहिंसा और ब्रह्मचर्य के सिद्धातो का स्पष्टीकरण करने में समर्थ हुए हैं।

मुक्ति मार्ग

अन्य भारतीय दर्शनो के समान ही जैन जीवन-दर्शन मे भी मुक्ति प्राप्ति ही मानव का परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के भिन्न २ मार्गों का निर्देश विभिन्न दर्शन शास्त्रों का प्रयोजन रहा है। जैन धर्म में एक स्थान पर कहा गया है—

"श्रद्धा को नगर बनाकर, तप सवर रूप अर्गला, क्षमा रूप कोट, मन वचन तथा काया के क्रमश' बुर्ज, खाई तथा शतध्नियों की सुरक्षापक्ति से अजेय दुर्ग बनाओ और पराक्रम के धनुष पर, इर्या समिति रूपी प्रत्यचा चढाकर, धृति रूपी मूठ से पकड़, सत्य रूपी चाप द्वारा खींचकर, तप रूपी बाण से, कर्म रूपी कचुक कवच को भेदन कर दो, जिससे सग्राम में पूर्ण विजय प्राप्त कर, मुक्ति के परमधाम को प्राप्त करो।"[1]

न केवल पुरुषों अपितु स्त्रियों को भी नायिका बनाकर रासकारों ने मानव जीवन की सर्वोच्च स्थिति मोक्ष-प्राप्ति को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। विषयासक्ति के पक में फँसे हुए व्यक्ति को किस प्रकार अध्यात्म-रत्न की प्राप्ति कराई जा सकती है? यही इन रासकारों का उद्देश्य रहा है।

रास की नायिका

चदनबाला, शीलवती, अजना सुदरी, कमलावती, चद्रलेखा, द्रौपदी, मलय सुदरी, लीलावती, सुरसुदरी आदि स्त्रियों के नाम पर अनेक रास ग्रथों की रचना हुई। इस स्थान पर केवल चदनबाला और शीलवती रास के आधार पर जीवन दर्शन का विश्लेषण करने का प्रयास किया जायगा।

चदनबाला रास

चदनबाला रास की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ जैनपुस्तक भडारों में मिलती हैं। कदाचित् यह रास मध्ययुग का अतिप्रसिद्ध रास रहा होगा।

१—जैन धर्म पृष्ट ४६

इस प्रकार का बड़ा ही सुखद परिणाम हुआ। राजनेमि ने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतकर पाँचों इंद्रियों को वश में करके प्रमाद की ओर बढ़े हुए आत्मा को पीछे हटाकर धर्म में स्थित किया। इस प्रकार राजमती और रथनेमि ने उग्रतप के द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्षगति प्राप्त की। नेमिनाथ जैन मुनियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। कदाचित् सबसे अधिक रास काव्य और स्तोत्र इन्हीं के जीवन का अवलंब लेकर लिखे गए हैं। नेमिनाथ और श्रीकृष्ण का संबंध जैन रास (नेमिनाथ रास) में स्पष्ट किया गया है। नेमिनाथ को श्रीकृष्ण का चचेरा भाई कहा गया है। नेमिनाथ बाल्यकाल से ही विरक्त थे। संसार के सुखविलास में इनकी तनिक भी रुचि न थी। वे कहा करते थे।

'विषय सुक्खु कहि नरयदुवारू कहि अनंत सुहु संजमसारू।
भवजल दुरउ वावंतु विचारइ काविथि कारवि कोडि कु हारइ ॥
दुरण भवइ हरिराइ कवंधी नेमिकुमारह पय सभोधी।
सामिय इक्कु पसाउ करिजइ पाणिय अवसिरवन्न पर्यागिज्जइ ॥"

अर्थात् विषय सुख नरक का द्वार है और संयम अनंत सुख का मार्ग है।

नेमकुमार के विरोध करने पर भी उनका विवाह उग्रसेन की लावण्यमयी कन्या राजमती के साथ निश्चित किया गया। जब बरात उग्रसेन के द्वार पर पहुँची तो नेमिनाथ को पशु-पक्षियों का क्रंदन सुनाई पड़ा। उनका हृदय दयार्द्र हो आया और वे विवाह-मंडप में जाने के स्थान पर गिरनार पर्वत पर पहुँच गए।

अह अवलोयवि देवी देविहि देविहु।
नेह गिरम्मि रम्मी गउ नाहिय विरयंहु ॥ १० ॥

इससे सिद्ध होता है कि युवावस्था में ही विराग की प्रवृत्ति जैन धर्म में महत्त्वमय मानी जाती है। नेमिकुमार के वैराग्य लेने पर उनकी वाग्दत्ता पत्नी राजमती भी संयमश्री धारण करके आजन्म अविवाहित रह जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जैन रास सांसारिक भोगों को तुच्छ समझकर युवावस्था में ही पूर्ण संयम का परिपालन आवश्यक मानता है।

१—रास और रासान्वयी काव्य पृ० १ १।

यह रास शताब्दियों से भारतीय समाज-विशेषकर जैन वर्ग का अति प्रिय अभिनेय काव्य रहा है। पवित्र पर्वों पर इसका अभिनय अब भी होता है। गत वर्ष इसी दिल्ली नगरी के नये बाजार मुहल्ले में कई दिन तक इसके अभिनय से जनता का मनोरजन होता रहा। इसके इतिवृत्त में ऐसा आकर्षण है और करुण रस के परिपाक की इतनी प्रचुर सामग्री है कि सामाजिक सहज ही करुणार्द्र हो उठता है। नारी की निर्बलता से अनुचित लाभ उठानेवाले वेश्यावृत्ति के सचालकों के हृदयकालुष्य और शील प्रतिपालकों की घोर यत्रणा का दृश्य देखकर किस सहृदय का कलेजा न काँप उठेगा।

विजेता की बर्बरता, समाज की क्रूरता, वेश्या की विवशता, कामुक की रूपलिप्सा मानव की शाश्वत समस्या है। धर्मनिष्ठा का माहात्म्य दिखाकर आपत्ति में धैर्य की क्षमता उत्पन्न करना और शीलरक्षा के यज्ञ में सर्वस्व होम देने की भावना को बलवती बनाना इस रास का उद्देश्य है। नृत्यसगीत के आधार पर इसका अभिनय शताब्दियों से स्पृहणीय रहा है और किसी न किसी रूप में भविष्य में भी इसका अस्तित्व अक्षुण्ण बना ही रहेगा। इस रास के आधार पर जैन आगमों के कई सिद्धात प्रतिपादित किए जा सकते हैं—प्रथम सिद्धात तो यह है कि राज्यशक्ति परिमित है अत. इसका गर्व मिथ्या है। जिनमें केवल पार्थिव बल है और जो अध्यात्म बल की उपेक्षा करते हैं उन्हें सहसा आपत्ति आ पड़ने पर पश्चात्ताप करना पड़ता है और धैर्य के अभाव में धर्म तो क्या जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है।

दूसरा सिद्धात सत्याग्रह का है। सत्याग्रह में पराजय कभी है ही नहीं। सत्य-पालन के लिए प्राण विसर्जन को प्रस्तुत रहनेवाले अध्यात्मचिंतक को कभी पराजय हो ही नहीं सकती। पर इस स्थिति में पहुँचना हँसी खेल नहीं। साधक को वहाँ तक पहुँचने के लिए १४ मानसिक भूमियों को पार करना पड़ता है। दार्शनिकों ने इसे आत्मा की उत्क्रांति की पथरेखा माना है। मोक्षरूपी प्रासाद तक पहुँचने के लिए इन्हें १४ सोपान भी कहा गया है। उन १४ सोपानों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यादृष्टि (२) सासादन (३) मिश्र (४) अविरतिसम्यग-दृष्टि, (५) देशविरति, (६) प्रमत्त, (७) अप्रमत्त (८) अपूर्वकरण (९) अनिवृत्तिकरण (१०) सूक्ष्मसम्पराय (११) उपशातमोह, (१२) क्षीण-मोह, (१३) सयोग केवली और (१४) अयोगिकेवली। इनका विवेचन हम पूर्व कर आए हैं।

इसकी कथा भी ममस्पर्शिनी और शिक्षाप्रद है । कथानक इस प्रकार है ।

राजकुमारी चंदनबाला ने युवावस्था में जैसे ही प्रवेश किया और विवाह के लिए योग्य वर की चिंता ज्योंही राजा को होने लगी कि सहसा शत्रु ने राज्य पर आक्रमण कर दिया और सैन्यशक्ति में निर्बल होने के कारण राजा पराजित हो गया। विजेता शत्रु ने राजप्रासाद को रौंद डाला और राजपरिवार भयभीत होकर इतस्ततः पलायन करते हुए शत्रुओं के हाथ आ गया। चंदनबाला एक गुल्म नायक के अधिकार में आ गई और उसके रनिवास में रहने का बाध्य हुई । गुल्मनायक की विवाहिता पत्नी ने उस राजकुमारी का रनिवास में रहना अपने हित में बाधक समझा और उसे खुले बाजार में विक्रय करने की योजना बनाई । राजकुमारी पशु के समान शृंखला में आबद्ध चौराहे में विक्रयार्थ खड़ी गई और विक्रेता उसका मूल्यांकन करने लगा । अंत में एक वेश्या ने उसे खरीद लिया और अपने घर में उसका विधिवत् शृंगार करके वेश्यावृत्ति के लिए बाध्य करने का प्रयत्न करने लगी ।

राजकुमारी चंदनबाला उसकी घोर प्रताड़ना पर भी शीलधर्म का त्याग करने को प्रस्तुत न हुई और सत्याग्रह के द्वारा प्राणार्पण को उद्यत हो गई । अंत में वेश्या ने भी उसे अपने घर से बहिष्कृत कर दिया और एक सेठ के हाथ उसे बेच दिया । सेठ संतानरहित था और उसकी अवस्था भी अधेड़ हो चुकी थी । उसने चंदनबाला को अपनी कन्या मानकर अपने घर में रखा किंतु उसकी पत्नी को इससे संतोष न हुआ वह पति के आचरण के प्रति सशंक रहने लगी ।

एक दिन सेठ की माल से लदी गाड़ी कीचड़ में फँस गई । सेठ के कर्मचारियों के विविध प्रयास के उपरांत भी गाड़ी कीचड़ से बाहर न निकल सकी । सेठ ने धनहानि की आशंका और कर्मचारियों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से कीचड़ में घुसकर गाड़ी को बाहर निकाल लिया और उन्हीं पैरों से सारी घटना सुनाने के लिए अपने भवन में प्रवेश किया । पितृस्नेह से उमड़कर चंदनबाला पिता का पाद प्रक्षालन करने लगी । उसी समय उसकी केश राशि मुख के संमुख आ गई और सेठ ने वात्सल्यवश उसको सिर के ऊपर डाल दिया । सेठानी यह दृश्य देखकर क्षुभित हो उठी और वह अपने पति को उसे निकाल देने के लिए विवश करने लगी ।

'पहुँचानेवाले सद्गुणों की कुछ कुछ प्राप्ति होने लगती है। इस स्थिति में मिथ्यात्व भी विद्यमान रहता है किंतु मोक्षमार्ग के प्रदर्शन करनेवाले कतिपय गुणों का आभास मिलने लगता है इसलिए इसे मिथ्यात्वगुणस्थान कहा गया है। 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' में युद्ध से वितृष्णा और नेमिनाथ रास में विवाह के समय भोज्य पशुओं का करुणक्रदन सुनकर वैराग्य इसका प्रमाण है।

सासादनगुणस्थान दूसरा सोपान माना जाता है। इस स्थान पर पहुँचने पर क्रोधाधि कषायों के वेग के कारण सम्यक् दर्शन से गिरने की सभावना बनी रहती है। प्रमाण के लिए कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास वितानेवाले आचार हीन जैनमुनि का जीवन देखा जा सकता है।

मिश्रगुणस्थान यह तीसरा सोपान है। इस स्थिति में सम्यक्त्व एव मिथ्यात्व का मिश्रण पाया जाता है। इस स्थिति में पहुँचानेवाला साधक डोलायमान स्थिति में पड़ा रहता है। कभी तो वह मिथ्यात्व की ओर झुकता है और कभी सम्यक्त्व की ओर साधक की यह स्थिति साधना के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्वमय मानी जाती है। इस स्थिति में उसकी चित्तवृत्ति कभी विकासोन्मुखी कभी कभी पतनोन्मुखी बनी रहती है। इस गुणस्थान में डोलायमान अवस्था अल्पकाल तक ही बनी रहती है। इस स्थिति में अनतानुबधी कषाय न होने के कारण यह उपर्युक्त दोनों गुणस्थानों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है।

चौथे सोपान का नाम अविरतिसम्यक् दृष्टि है। यह गुणस्थान आत्मविकास की मूल आधारभूमि माना जाता है। यहाँ मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दृष्टि का अतर समझना आवश्यक है। मिथ्यादृष्टि में स्वार्थ एव प्रतिशोध की भावना प्रबल रहती है किंतु सम्यक्दृष्टि में साधक सबकी आत्मा को समान समझता है। मिथ्या दृष्टिवाला व्यक्ति पाप मार्ग को अपावन न समझकर "इसमें क्या है?" ऐसी स्वाभाविकता से ग्रहण करता है किंतु सम्यक् दृष्टिवाला व्यक्ति परहित साधन में अपना समस्त समर्पण करने को तैयार रहता है।

पाँचवाँ सोपान देशविरति नाम से प्रख्यात है। सम्यक् दृष्टि पूर्वक गृहस्थ धर्म के नियमों के यथोचित पालन की स्थिति देशविरति कहलाती है। इसमें सम्यक् विराग नहीं अपितु अशत. विराग अपेक्षणीय है। अर्थात् गार्हस्थ्य

शीलवतीनो रास

पातिव्रत धर्म की अपार महिमा का ज्ञान कराने के लिए कतिपय नायिका-प्रधान रासग्रंथों की रचना हुई जिनमें 'शीलवती रास' जनता में विशेष रूप से प्रचलित बना। इस रास में पतिव्रता शीलवती को निरपराध ही अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। किंतु अंत में शील-पालन के कारण उसे पति सुख की प्राप्ति हुई। इस रास में देवदानवों का रोमांचकारी वर्णन और अनेक नारियों की विपदामय कथा का उल्लेख मिलता है। इस रास के अंत में जीवन दर्शन की व्याख्या इस प्रकार संक्षिप्त रूप से की हुई है—'जो व्यक्ति शमदमशील रूपी कवच धारण करता है, साधुसंग में विचरण करता है, जिन वचनों का पालन करता है, क्रोधादिक मान को त्याग कर कामाग्नि से बचा रहता है, सम्यक्त्वरूपी जल में अवगाहन करता है, धर्मध्यान रूपी लता के मूल में आसक्त रहता है, मन, वचन और शरीर से योग साधन करता है, कवि विरचित ग्रंथों का अनुशीलन करता है वह चरित्र बल से अवश्य ही मुक्ति प्राप्ति कर लेता है। कवि कहता है।'[1]

> चरित्र थकी मुक्तिए गो त्या हुआ छय गुणयुक्त है।
> जन्म जन्म थारो ते गुण मुक्त पवित्र थई नाम कहता हे।

इस रास में विविध स्वभाव वाली स्त्रियों की प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है। राजकुमारी से वेश्या तक, पट्टमहिषी से दासी तक अनेक स्तर में जीवन व्यतीत करनेवाली स्त्रियों की उत्कृष्ट एवं निकृष्ट प्रवृत्तियों का व्यष्टि जीवन एवं समष्टि जीवन पर प्रभाव दिखाकर सदाचरण की ओर मन को प्रेरित करने का प्रयास किया गया है।

जैन रासकारों ने सांसारिक व्यक्तियों के उद्धार के लिए तीर्थंकरों एवं प्रमुख साधकों के संपूर्ण जीवन की प्रमुख घटनाओं को गेय पदों के रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। तीर्थंकरों के जीवन में शास्त्रोक्त १४ सोपानों को किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। किंतु अन्य साधकों में प्राय: सात ही सोपान देखने को मिलते हैं।

प्रथम सोपान मिथ्यात्वगुण स्थान कहलाता है। इस गुणस्थान में कल्याणकारक सद्गुणों का प्रारंभिक प्रकटीकरण होता है। इस भूमिका में यथार्थ सम्यक् दर्शन प्रकट नहीं होता किंतु सम्यक् दर्शन की भूमि पर

---

[1] —जैनविजय—शीलवतीनो रास—पृ. २०१

आत्मा संपूर्ण मोहावरण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय चक्र का विध्वंस कर देती है।

एकादश और द्वादश सोपान के अंतर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पानी के द्वारा अग्नि शांत कर देने का नाम क्षय है और राख से उसे ढक देने का नाम उपशम है। उपशमन की हुई अग्नि के पुनः उद्दीप्त होने की संभावना बनी रहती है किंतु जल-निमग्न अग्नि सर्वथा शांत हो जाती है। इसी प्रकार उपशांत मोह का साधक पुन. कषाय का शिकार बन सकता है। किंतु क्षीण मोह की स्थिति में साधक कषाय से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

सयोग-केवली नामक तेरहवां सोपान है। देहादि की क्रिया की विद्यमानता में साधक सयोगकेवली कहलाता है। केवल ज्ञान होने के उपरांत भी शरीर के अवयव अपने स्वाभाविक व्यापार से विरत नहीं होते। इसी कारण केवल ज्ञान प्राप्त करनेवाले ऐसे साधक को सयोगकेवली कहते हैं।

अयोगिकेवली साधना की सर्वोच्च अवस्था है। इस अवस्था में देह के समस्त व्यापार शिथिल ही नहीं समाप्त हो जाते हैं। साधक परमात्म-ज्योति. स्वरूप परम कैवल्य धाम को प्राप्त कर लेता है।

कतिपय रासो में साधु-साध्वी श्रावकादि सभी प्रकार के व्यक्तियों के उपयुक्त आचार-विचार की व्याख्या मिलती है पर कई ऐसे भी रास हैं जिनमें केवल श्रावक धर्म या केवल मुनि-आचरण का विवरण मिलता है।

गुणाकर सूरि कृत 'श्रावकविधिरास' संवत् १३७१ वि० की रचना में श्रावक धर्म का विधिवत् विवेचन मिलता है। इस रास में प्रातःकाल उठने का आदेश देते हुए रासकार कहते हैं—

'तिहिं नर आह न ओह जिहिं सूता रवि ऊगाइ ए'[१]। 'जिस श्रावक की शयनावस्था में सूर्योदय हो गया उसे न इस जीवन में सुख है और न उस जीवन में।' इसी प्रकार प्रात.काल के जागरण से लेकर रात्रि शयन तक के श्रावक धर्म का ५० पदों में विवेचन मिलता है। सभी जातियों के सामान्य धर्म का व्याख्यान रासकार का उद्देश्य है। वह लिखते हैं—

१—गुणाकर सूरि श्रावक विधि रास, छंद ४

जीवन के विधि विधानों का नियमित पालन देशविरति अथवा मर्यादित विरति कहलाता है।

प्रमत्तगुण स्थान नामक छठा सोपान साधु जीवन की भूमिका है। यहाँ सब विरति होने पर भी प्रमाद की संभावना बनी रहती है। विरक्त व्यक्ति में भी कभी कभी कर्तव्य कार्य की उपेक्षा देखी जाती है। इसका कारण प्रमाद माना जाता है। प्रमाद नामक कषाय दसवें सोपान तक किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है किंतु सातवें गुणस्थान के उपरांत उसकी शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वह साधक पर आक्रमण करने में असमर्थ हो जाता है। किंतु छठे स्थान में कर्तव्य कर्म के प्रति आलस्य के कारण अनादर बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण प्रमत्त गुणस्थान कहा जाता है।

सातवाँ सोपान अप्रमत्त गुणस्थान है। कर्तव्य के प्रति सदा उत्साह रखनेवाले जागरूक व्यक्ति की यह अवस्था मानी जाती है।

आठवाँ सोपान अपूर्वकरण कहलाता है। इस स्थिति में पहुँचनेवाला साधक या तो चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम करता है अथवा क्षय। उपशम का अर्थ है दमन कर देना और क्षय का अर्थ है क्रमशः क्षीण करते हुए विलुप्त कर देना।

अनिवृत्ति करण नवाँ सोपान है। आत्मिक भाव की निर्मलता का यह स्थल आठवें स्थल से उन्नतर है। यहाँ पहुँचा हुआ साधक आगामी सोपानों पर चढ़ने में प्रायः समर्थ होता है।

सूक्ष्मसंपराय नामक दसवाँ सोपान साधक के अन्य कषायों को मिटा देता है किंतु एक मात्र लोभ का सूक्ष्म अंश अवशिष्ट रहता है। संपराय का अर्थ है कषाय। यहाँ कषाय का अभिप्राय केवल लोभ समझना चाहिए। इस स्थिति में लोभ के अतिरिक्त सभी कषाय सपरिवार या तो उपशांत हो जाते हैं अथवा क्षीण।

उपशांत मोह नामक एकादश सोपान है। इस स्थिति में साधक कषाय रूप चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय नहीं कर पाता केवल उपशम ही कर सकता है। संपूर्ण मोह का उपशमन होने से इसे उपशांत मोह गुणस्थान कहा जाता है।

इसके उपरांत क्षीण मोह की स्थिति आती है। यह बारहवाँ सोपान साधक को केवल ज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ होता है। इस गुणस्थान में

धर्म के गूढ सिद्धातों के अध्ययन का कभी अवसर नहीं मिलता श्रावक धर्म के सामान्य विचारों को रासगायकों के मुख से श्रवण कर जीवन को सफल बनाने की प्रेरणा पाते रहे हैं। रासकार कवियों और रास के अभिनेता एवं गायक समाज को सुव्यवस्थित एव धर्मपरायण बनाने में इस प्रकार महत् योगदान देते चले आ रहे हैं। इन्हीं के प्रयास से भारतीय जनता आपत्तिकाल में भी अपने कर्त्तव्य से विचलित न होने पायी। रास काव्य की यह बड़ी महिमा है।

पौराणिक आख्यान पर आद्धृत रासों में जैन दर्शन

रासकर्त्ता जैन कवियों ने कतिपय हिंदू पौराणिक गाथाओं का अवलबन लेकर रासों की रचना की है। उदाहरण के लिए नल-दवदती रास, पच पाडव चरित रास, हरिश्चद्रराजानुरास आदि।

उक्त रासों में पौराणिक गाथाएँ कहीं कहीं परवर्तित रूप में पाई जाती हैं। यद्यपि मूलभित्ति पुराणों में प्रचलित आख्यान ही होते हैं किंतु घटना-क्रम के विकास में जहाँ भी जैन दर्शन के विवेचन एवं विश्लेपण का कवि को अवकाश मिला है वहीं वह दार्शनिकता का पुट देने के लिए घटना को नया मोड़ देकर उसमें स्वरचित लघु (प्रकरी) घटनाएँ सम्मिश्रित करता हुआ पुनः मूल घटना की ओर आ जाता है। इस प्रकार अति अचलित पौराणिक घटनाओं के माध्यम से रासकार अपने पाठको और प्रेक्षकों के हृदय पर अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि सद्गुणों का प्रभाव डालने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए 'नल दवदती' रास लीजिए। इस रास में कवि ने मूल कथा के स्वरूप को तो अविकृत ही रखा है किंतु उसमें एक नई घटना इस प्रकार सम्मिश्रित कर दी है—

एक बार सागरपुर के मम्मण राजा अपनी राजमहिषी वीरमती के साथ आखेट करते हुए नगर से दूर एक निर्जन स्थान में पहुँच गया। वहाँ उसे एक ऋषि तीर्थाटन करते हुए दिखाई पडे। राजा ने अकारण ही उस ऋषि की भर्त्सना की, किंतु उदारचेता ऋषि ने अपने मन में किसी भी प्रकार का मनोमालिन्य न आने दिया। इसका राजा पर बड़ा प्रभाव पड़ा और राजा ने ऋषि से क्षमा याचना के साथ साथ उपदेश की याचना की।

रासकार को जैन दर्शन के विश्लेषण का यहाँ सुदर अवसर मिल गया और उस मुनि के माध्यम से उन्होंने राजा को इस प्रकार उपदेश दिलाया—[१]

लोहकार सायार छंडार, भाडभुंज भणइ कुंभार।

× × ×

संवर पोसय रहय सु जीवइ वयजीविया कंमसु करीवइ।

× × ×

कूव सरोवर वाणि बयठे अन्नुवि पयइ कम्म करते।
सिखा हुइ कम्म दस पदस पमेहि मनकालि भूमिइ फोडव।
दंत केस नइ रोमइ चम्मइ, संख कवड्डइ पोसय सुम्मइ।
सोवर सावय कम्म विसाहइ[1]॥

तात्पर्य यह है कि जीविका के लिए किसी भी व्यवसाय में संलग्न श्रावक यदि पर-पीड़ा-निवारण के लिए सजग रहता है तो वह पापकर्म से मुक्त है यही सूचन है—

केम पीडा परिहरइ सुजाण।

इसी प्रकार व्यवहार में सरलता प्रत्येक श्रावक का धर्म है—

श्रावकि सूधउ करिव ववहारु।

कुत्ता, बिल्ली, मोर, तोता-मैना आदि पशु-पक्षियों को बंधन में रखना भी श्रावक धर्म के विरुद्ध बताया गया है। इस प्रकार न्यायपूर्वक अर्जित धन का चतुर्थांश धर्म में शेष अपने व्यवहार में व्यय करने की शिक्षा रासकार ने मधुर शब्दों में दी है। संपूर्ण दिन अपने व्यवसाय में बिताकर रात्रि का प्रथम प्रहर धर्म चर्चा में व्यतीत करना श्रावक का कर्तव्य है—

रयणिहि बीजइ पढम पहरि नवकार भणेविणु।
अरिहंत सिद्ध सुसाधु धम्म सरणाइ पइसेविणु[2]॥

यदि कुगुरु से श्रावकों दूर रहने की शिक्षा दी जाती है तो सद्गुरु की नित्य वंदना का भी उपदेश है—

नितु नितु सहगुरु पाय वंदिजए, संभलउ सावय सील सुम दिजए। कुम्हार, लोहार, सोनार आदि अशिक्षित वर्ग के वे श्रावकजन जिन्हें

१—गुणाकर सूरि श्रावक विधि रास छंद ८८।
२— „ „ छंद ११-४१

साधु कहे निज जीवने साँभल मन वीर।
भोगव पूर्व भमे किया ए दुख जजीर॥
करम कमाई आपनी छूटे नहिं कोय।
सुर नरकर में विढंविवा चीत वीचरी जोय॥
करम कमाई प्रमाण ते केहनो नहिं दोष।

मुनिवर के इस आश्वस्त वचन को सुनकर—

'पाय लगी प्रणिपत्य करे हूँ पापी दुष्ट'
× + ×
'समकीत व्रत बेहु आदरे भागो मिथ्यात्व'

राजा हरिश्चद्र के ऊपर मुनि के उपदेश का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपने पुत्र को राज्य समर्पित कर धन का दान देकर चारित्रव्रत ले लिया। कवि अत में कहता है—

'बड़ो रे वैरागी हरिश्चद्र वन्दिए धन धन करणी रे तास
सत्यवन्त सजमधारी निर्मलु चारित्र पवित्र प्रकाश
पचमहाव्रत सुध आदरे थयो साधु निग्रथ'

सुपासिह पाम दीक्षीह, पूरी तप चरम ।
पती मती पवि सापचह, पे मावेसु मवर्मे ॥
सुमासु मुनि रापीपा मारवपर्मे कहिय तेह ।
समकित मुज मतिपालह चार मत कह जेह ॥

इसी प्रकार 'पंचपांडवचरितरास' में पांडवों की मूल कथा का अवलंब लेकर रासकर्ता ने जैन धर्म के अनुरूप मय तय मकरी के रूप में लघु कथाओं को समन्वित कर दिया है। इस रास की प्रथम ठवनि में बहु कथा गंगा का शांतनु के साथ विवाह दिखलाया गया है। शांतनु को इसमें जीव-हिंसक ऐसे आखेटक के रूप में प्रदर्शित किया गया है कि उसकी हिंसक प्रवृत्ति से वितृष्णा होने के कारण गंगा को अपने गांगेय के साथ पितृगृह में २४ वर्ष बिताना पड़ा। इस स्थल पर रासकार को अहिंसा के धोपप्रदान का सुंदर अवसर प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार ठवनि आठ में जैन सिद्धांत के अनुसार आत्मवाद का विवेचन किया गया है। वारणावत नगर में लाक्षागृह के भस्म होने और विदुर के संकेत द्वारा कुंती एवं द्रोपदी सहित पांडवों के सुरंग से निकल जाने के उपरांत रासकार को जैन दर्शन के मान्य वाद सिद्धांत के विश्लेषण का शुभावसर प्राप्त हो गया है। ठवनि १५ में नेमिमुनि के उपदेश से पांडवों के जैन धर्म स्वीकार की कथा रासकार की कल्पना है जो हिंदू पुराणों में अनुपलब्ध है। इस रास के अनुसार पांडव जैन धर्म में दीक्षित हो मुनि बन जाते हैं और जैनाचार्य धर्मघोष उन्हें पूर्व जन्म की कथा सुनाते हुए कहते हैं कि वे पूर्व जन्म में सुरति, शांतनु देव सुमति और सुमद्र नाम से विद्यमान थे।

राजा हरिश्चंद्र का कथानक काव्य और नाटक के अति उपयुक्त माना जाता है। इसी पुण्यश्लोक महाराज के पुराण-प्रचलित कथानक को लेकर जैन कवि कनक सुंदर ने भी 'हरिश्चंद्र राजानु रास' विरचित किया। इसमें राजा हरिश्चंद्र का सत्य की रक्षा के लिए चांडाल के घर बिकना, महारानी शैव्या का अपने मृतक पुत्र का शव लेकर श्मशान पर जाना, पुत्र का नाम ले लेकर माता का विलाप करना, राजा का रानी से कर के रूप में कफन माँगना आदि बड़े ही मार्मिक शब्दों में दिखलाया गया है। अंत में एक जैन मुनिवर उपस्थित होकर हरिश्चंद्र और शैव्या को उनके पूर्व जन्म की घटना सुनाकर दुख का कारण समझाते हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

१—नवीपय कुल—मन रमणी पात पा १

साधु कहे निज जीवने साँभल मन वीर।
भोगव पूर्व भमे क्रिया ए दुख जजीर॥
करम कमाई आपनी छूटे नहिं कोय।
सुर नरकर में विडंबिवा चीत वीचरी जोय॥
करम कमाई प्रमाण ते केहनो नहिं दोप।

मुनिवर के इस आश्वस्त वचन को सुनकर—

'पाय लगी प्रणिपत्य करे हूँ पापी दुष्ट'

× + ×

'समकीत व्रत बेहु आदरे भागो मिथ्यात्व'

राजा हरिश्चद्र के ऊपर मुनि के उपदेश का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपने पुत्र को राज्य समर्पित कर धन का दान देकर चारित्रव्रत ले लिया। कवि अत में कहता है—

'बडो रे वैरागी हरिश्चद्र वन्दिए धन धन करणी रे तास
सत्यवन्त सजमधारी निर्मलु चारित्र पवित्र प्रकाश
पचमहाव्रत सुध आदरे थयो साधु निग्रथ'

इस प्रकार पौराणिक कथानकों के आधार पर जैनधर्म के सिद्धातोंकी ओर पाठक का मन प्रेरित करना रासकारों का उद्देश्य रहा है।

हम पूर्व कह आए हैं कि राम और कृष्ण की पौराणिक आख्यायिकाओं, रामायण और महाभारत की कथाओं का अवलवन लेकर जैन रासकारों ने अनेक काव्यों की रचना की है। ऐसे रास ग्रथों में 'रामयशोरसायन रास' प्रसिद्ध माना जाता है, जिसका गान आज तक धार्मिक जनता में पाया जाता है। जैन और वैष्णव दोनों धर्मों को एकता के सूत्र में ग्रथित करने वाला यह रास साहित्य का शृगार है। इसमें 'राम' नाम की महिमा के विषय में एक स्थान पर मिलता है कि जब 'रा' का उच्चारण करने के लिए मुख खुलता है तो पाप का भडार शरीर के बाहर मुख के मार्ग से निकल जाता है और 'म' का उच्चारण करते ही जब मुख बद होता है तो पाप को पुनः शरीर में प्रवेश करने का अवसर नहीं मिलता। इस रास की १२ वीं ढाल में अयोध्या के राजाओं का नामोल्लेख किया गया है किंतु यह

केशराज मुनि—आनद काव्य महोदधि, पृ० ५६

वर्णन संभवतः किसी जैन पुराण से लिया गया है। इसमें आदीश्वर स्वामी, भरतेश्वर बाहुबलि आदि का वर्णन मिलता है। इस 'ढाल' में राजाओं के संयमव्रत का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

> समता रस साचे चित्तधरी, राय करी तपसंजम सी ॥
> ऐ बारस मी ढाल अनूप संयम मत पाले भव भूप।
> केशराज ऋषिराज बखाण, कर्ता पाप खमम प्रमाण ॥

काव्य के मध्य में स्थान स्थान पर चरित्र निर्माण के लिए उपदेश मिलता है। २१ वीं ढाल में कथा के अंत में कवि पतिव्रता नारी का वर्णन करते हुए कहता है—

> पतिव्रता व्रत सा धरी पतिसुं प्रेम अपार।
> ते सुंदरी संसार में दीसे छै दो चार ॥
> खावे पीवे पहिरवे करिवे भोग विलास।
> सुन्दर भो मन साच थी जब लग पूरे आस ॥
> सुख में आवे आसनी दुख में अलगी जाय।
> स्वारथवी सा सुन्दरी सन्नारियों में गणियाय ॥

ढाल के प्रारंभ में टेक भी प्रायः उपदेशप्रद है। जैसे १ वीं ढाल के आरंभ में है—

> जग जन शीलवन्त नर-नारी।
> रे भाई सेवो साधु सयाणा हेतु सुगति भला भाव बतावे
> तारे जीव अयाणा रे भाई सेवो साधु'

रामकथा के मध्य में तुलसी के समान ही स्थान स्थान पर इस रास में सूक्तियाँ और उपदेश मिलते हैं। एक स्थान पर देखिए—

> पर उपदेशी जग घणो आप न समझे कोय।
> राम कहे मोहि रहा काम कहे गुर लोय ॥
> डूँगर बलतो देखिये पग तलि नवि देखन्त।
> जिह बराबा देखिये पोते नवि देखन्त ॥[1]

अंत में राम की स्तुति नितांत वैष्णव स्तुति के समान प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए देखिए—

१—केशराज कृत—आनंद काव्य महोदधि भाग ६, पृ ११

धन प्रभु रामंजु धन परिणाम जु
पृथ्वीमाहिं प्रशसवे धन तुझ मातु जो
धन तुझ तात जो धन तेरा कुल वश वे ॥
मुनि सुव्रत ने तीरथ वरते सुव्रत जु गण धार वे।
अरह दास वतावियो सतगुरु भव जल तारण हार वे॥[1]

प्रशस्ति से पूर्व इस रास का अत इस प्रकार है कि राम को केवली ज्ञान हो जाता है और वे भक्तों का कल्याण करने में समर्थ होते हैं। अत में ऋषीश्वर बनकर जरा–मृत्यु से मुक्त हो मोक्ष प्राप्त करते हैं।[2]

पौराणिक कथानक को लेकर एक प्रसिद्ध रास 'देवकी जीना षट्पुत्रनो' मिलता है। इसमें देवकी के छः पुत्रों की पूर्वकथा का वर्णन किया गया है।

हनुमान की माता अजना का कथानक लेकर 'अजना सतीनुरास' की रचना की गई है। यह कुल १० लघु ढालों में विरचित है और सभवतः अभिनय की दृष्टि से लिखा गया है। इसमें हनुमान जन्म की कथा इस प्रकार है—

प्राक्रम पूर्ण प्रकटियो कपि के लाखण माम।
दुति शशि सम दीपतो थयो बजरगी नाम ॥[3]

हनुमान के प्रति जैनमुनि की इतनी श्रद्धा वैष्णव और जैन धर्म को समीप लाने में बड़ी ही सहायक हुई होगी।

नायिका प्रधान अनेक रासों की उपलब्धि भी खोज करने पर हो सकती है। मुनिराज श्री चतुर्विजय द्वारा सपादित 'लींबड़ी जैन ज्ञान भडारनी हस्त-लिखित प्रतिओनु सूचीपत्र' में निम्नाकित रास ग्रथों का उल्लेख मिलता है—

१— ,, ,, ,,

२— पचीसहिं बरसा लगि पालो प्रभु केवल पयाय।
भविक जनाना काज समन्या मिथ्या मति मेटाय ॥
पन्द्रह हजार बरसनों आयो पूरोहि प्रतिपाम।
राम ऋषिश्वर मोक्ष सिधाया जन्म जरा भयटार ॥
नमों नमों श्रीराम ऋषीश्वर अचर अमर कहिवाय।
तीन लोक ने माथे बैठा सासता सुख लहाय ॥

३—पृ० ३१ ढाल ११ अजनास तीनु रास

अंजना सुंदरी रास, कमलावती रास, चन्द्रलेखा रास, द्रौपदीरास, मलय सुंदरीरास, शील बतीनो रास, लीलावती रास, सुरसुंदरी चतुष्पदी रास। इन रासों में द्रौपदी रास पौराणिक कथानक के आधार पर विरचित है जिसके माध्यम से जैनधर्म के सिद्धांतों का निरूपण करना कवि को अभीष्ट प्रतीत होता है। इससे प्रमाणित होता है कि जैन मुनियों ने अपनी दृष्टि व्यापक रखी और उन्होंने वैष्णव और जैनधर्म को समीप लाने का प्रयास किया।

कतिपय जैन रास ऐसे भी उपलब्ध है जिनमें कथा-वस्तु का सर्वथा अभाव पाया जाता है। ये रास केवल धार्मिक सिद्धांतों के विवेचन के निमित्त विरचित हुए जिनमें रासकार का उद्देश्य जैन-मत की मूल मान्यताओं को गेयपदों के द्वारा जनसामान्य को हृदयंगम कराना प्रतीत होता है। ऐसे रासों में 'उपदेश रसायन रास', ('सप्तक्षेत्रि रास' 'द्रव्य गुण पर्यायनु रास') 'कर्म विपाकनो रास' 'कर्म रेख भवभावनी रास' 'गुणावली रास' 'मोह विवेकनो रास' 'हित शिक्षारास' आदि प्रसिद्ध हैं। उपदेश रसायन रास का उद्देश्य बताते हुए वृत्तकार लिखते हैं—"कुगुरु-सुगुरु कुपथ-विवेचकं लोक प्रवाह-चैत्य-विधि निरोधकं विधि चैत्य-विधि धर्म स्वरूपाय बोधकं श्रावक श्राविकाऽऽदिशिक्षापदं धर्मोपदेशपरं द्वाशाशताभ्या उत्तराय प्रवीर्व समाम्यते।"

इससे प्रमाणित होता है कि जिनदत्त सूरि का उद्देश्य गेयपदों में जैन धर्मतत्त्व विवेचन है। इस रास में भगवान् महावीर के आचार विचार संबंधी वचनों को जानना आवश्यक बतलाया गया है। साधक के लिए द्रव्य, क्षेत्र और काल का ज्ञान अनिवार्य माना गया है। और उस ज्ञान के अनुकूल आचरण भी धर्म का अंग बतलाया गया है। जिनदत्त सूरि एक स्थान पर कहते हैं जो सूत्रार्थों के वास्तविक अर्थ को जानता है वह ईर्ष्या नहीं करता। इसके विपरीत मतिनिश्चित चित्तवाला व्यक्ति जब तक जीवित रहता है ईर्ष्या नहीं छोड़ता।

परस्पर स्नेह भाव की शिक्षा देते हुए रासकार कहते हैं—'जो धार्मिक धन सहित अपने बंधु बांधवों का ही भला देखकर अन्य सद्बुद्धि प्रधान श्रावकों से विरक्त रहता है वह उपयुक्त कार्य नहीं करता क्योंकि जैन शासन में प्रतिपन्न व्यक्ति को परस्पर स्नेह भाव से रहना उचित है। धार्मिक सहिष्णुता का उपदेश देते हुए मुनि जिनदत्त सूरि कहते हैं कि भिन्न धर्मावलम्बियों को भी

१—जिनदत्त सूरि—उपदेश रसायन रास छंद ११

प्रयत्न पूर्वक भोजन वस्त्र आदि देकर सतुष्ट करना चाहिए। दुष्ट वचन बोल वालों पर भी रोप करना अनुचित है और उनके साथ विवाद में न पड़कर क्षमाशील होना ही उचित है।[1]

इसी प्रकार 'सप्त क्षेत्रिय रास' में जिनवर कथित ९ तत्वों पर सम्यक्त्व के लिए बड़ा बल दिया गया है। वे नौ तत्त्व हैं १—अहिंसा २, सत्य ३, अस्तेय, ४, शील, ५, अपरिग्रह, ६, दिक्प्रमाण, ७, भोगउपभोगव्रत ८, अनर्थदंड का त्याग, ९, सामयक व्रत।

प्राणातिपातव्रतु पहिलउँ होई बीजउ सत्यवचनु जीव जोई।
त्रीजइ व्रति परधनपरिहरो चउथइ शीलतणउ सचारो॥
परिग्रहतणउँ प्रमाणु व्रतु पाचमइ कीजइ।
इणपरि भवह समुद्दो जीव निश्चय तरीजई॥
छट्ठउँ व्रतु दिसितणउ प्रमाणु भोगुवभोगव्रत सातमइ जाणु।
अनरथ व्रत दड आठमउँ होइ नवमउँ व्रत सामायकु तोइ॥

द्रव्यगुण पर्यायनो रास

उत्तराध्ययन नामक दार्शनिक ग्रथ में जैन धर्म सबधी प्रायः सभी तथ्यों का विवरण पाया जाता है। 'द्रव्य गुण पर्यायनो रास' में उक्त दर्शन ग्रथ के सूक्ष्म विवेचन को रास के गेय पदों के माध्यम से समझाने का प्रयास पाया जाता है। यह ससार जड़ और चेतन का समवाय है। जैन दर्शनों में ये दोनों जीव और अजीव के नाम से प्रख्यात हैं। जीव की व्याख्या आगे चलकर पृथक् रूप से विस्तार के साथ की जायगी। अजीव के ५ भेद किये जाते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल का शास्त्रीय नाम देने के लिए इनमें प्रत्येक के साथ अस्तिकाय जोड़ दिया जाता है जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल।[1] रासकार इनका उल्लेख 'द्रव्यगुण पर्यायनो रास' में इस प्रकार करता है।

धर्म अधर्म इ गगन समय वली,
पुद्गल जीव ज एह।
षट् द्रव्य कहियाँ रे श्री जिनशासनी,
जास न आदि न छेह॥[2]

१—जिनदत्त सूरि—उपदेश रसायन रास, छन्द स० ७९।

२—यशोविजय गणि विरचित 'द्रव्य गुण पर्यायनो रास' पृष्ठ १०४ छन्द १६३

धर्म वह पदार्थ कहलाता है जो गमन करनेवाले प्राणियों को तथा गति करनेवाली जड़ वस्तुओं को उनकी गति में सहायता पहुँचाये। जिस प्रकार पानी मछलियों को तैरने में सहायता पहुँचाता है, जिस प्रकार अवकाश प्राप्त करने में आकाश सहायक माना जाता है उसी प्रकार गति में सहायक धर्म तत्त्व माना जाता है। शास्त्रकार कहते हैं—"स्वतो गमक्रिया व्याकुलतया चेष्टाहेतिष्वभावादेव न भवति, न तु जलाभावादिति गत्यपेक्षाकारणे माना भावः।" इति चेत्-शास्त्रकार इसी सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> गति परिणामे रे पुद्गल जीवनइ
> झष जइ जल जिम होइ।
> तास अपेक्षा रे कारण लोकमां
> धरम द्रव्य गइ रे सोय॥[२]

जैन शास्त्रों में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि जब मनुष्य के संपूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं तो वह मुक्त बनकर ऊर्ध्व गमन करता है। जिस प्रकार मिट्टी से आच्छादित तुंबा जल के वेग से मिट्टी धुल जाने पर नीचे से ऊपर स्वतः आ जाता है, उसी प्रकार कर्म रूपी मल से आच्छादित यह आत्मा मैल निवारण होते ही स्वभावतः मुक्त होकर ऊर्ध्वगामी होता है।

धर्मास्तिकाय के द्वारा यह मुक्त आत्मा गतिशील जगत् के अग्र भाग तक पहुँच जाता है। अधर्मास्तिकाय अब उसको लोक से ऊपर ले जा सकता है। अधर्मास्तिकाय की गति भी एक सीमा तक होती है। उस सीमा के ऊपर पुद्गल माना जाता है। पुद्गल का अर्थ है पुद् और गल। पुद् का अर्थ है संश्लेष (मिलन) और गल का अर्थ है विश्लेष (विछुड़न)। प्रत्येक शरीर में इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। अणुसंघातरूप प्रत्येक छोटे बड़े पदार्थ में परमाणुओं का ह्रास विकास हुआ करता है। एक परमाणु दूसरे से संयुक्त अथवा वियुक्त होता रहता है। इसी कारण पुद्गल का मूल तत्त्व परमाणु माना जाता है। शब्द, प्रकाश, धूप, छाया, अंधकार पुद्गल के अंतर्गत हैं। मुक्त जीव पुद्गल

१—काल अस्तिकाय नहीं कहलाता क्योंकि अतीत विनष्ट हो गया अनागत असत् है केवल वर्तमान क्षण ही तद्रूप काल है। अतः काल एकमात्रा का होने से अस्तिकाय नहीं है।

२—यशोविजयगणि-द्रव्यगुण पर्यायनो रास पृष्ठ संख्या ११४

की सीमा को भी पार करता है। अब वह काल के क्षेत्र में प्रवेश करता है। बालक का युवा होना, युवक का वृद्ध होना और वृद्ध का मृत्यु को प्राप्त करना काल की महिमा से होता है। रूपांतर, वर्तन परिवर्तन और नाना प्रकार के परिणाम काल पर ही अवलंबित रहते हैं। मुक्त प्राणी पुद्गल के उपरांत इस काल क्षेत्र को भी उत्तीर्ण कर उच्चप्रदेश में प्रविष्ट होता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय अजीव पदार्थ माने जाते हैं। मुक्त जीव इन चारों के बंधन से छूटकर परम सूक्ष्म अविभाज्य सबसे अंतिम प्रदेश में प्रविष्ट होता है। 'द्रव्यगुणपर्यायनोरास' में इसका सम्यक् विवेचन मिलता है।

आत्मा

जैन शास्त्रों के अनुसार आत्मा में राग-द्वेष का परिणाम अनादि काल से चला आ रहा है। जिस प्रकार मलीन दर्पण मलविहीन होने पर निर्मल एवं उज्ज्वल होकर चमकने लगता है उसी प्रकार कर्म मल से आच्छादित आत्मा निर्विकार एवं विशुद्ध होने पर प्रकाशमान हो उठती है। आत्मा और कर्म का संबंध कराने वाला कारण आस्रव कहलाता है। जिन प्रवृत्तियों से कर्म के पुद्गल आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं वे प्रवृत्तियाँ आस्रव कहलाती हैं अर्थात् ऐसा कार्य जिससे आत्मा कर्मों से आबद्ध हो जाय आस्रव कहलाता है। कार्य के तीन साधन-मन, वचन और शरीर हैं। मन दुष्ट चिंतन अथवा शुभ चिंतन करता रहता है। वाणी दुष्ट भाषण अथवा शुभ भाषण में तल्लीन रहती है और शरीर असत्य, हिंसा, स्तेय आदि दुष्कर्मों तथा जीव रक्षा, ईश्वर-पूजन, दान आदि सत्कार्यों में व्यस्त रहता है। इस प्रकार कर्म और आत्मा का नीर-क्षीर के समान संबंध हो गया है। इसी संबंध का नाम बंध भी है। इन दोनों को पृथक् करने के लिए हंस के समान विवेक बुद्धि की आवश्यकता होती है। आत्मा रूपी शुद्ध जल से जब राग द्वेष रूपी कल्मष पृथक् कर लिया जाता है तो शुद्ध स्वरूप आत्मा प्रोद्भासित हो उठता है। उस पर आवरण डालने वाले कर्म आठ प्रकार के माने जाते हैं। ज्ञानावरण कर्म आत्मा की ज्ञान-शक्ति को आवृत करता है और दर्शनावरण दर्शन शक्ति को। सुख दुख का अनुभव कराने वाले वेदनीय कर्म कहलाते हैं और स्त्री-पुत्र आदि में मोह उत्पन्न कराने वाले मोहनीय कर्म कहलाते हैं। आयुष्य कर्म चार प्रकार के हैं—देवता का आयुष्य, मनुष्य का आयुष्य, तिर्यंच का आयुष्य और नारकीय जीवों का आयुष्य।

नामकर्म के अनेक प्रकार हैं। जिस प्रकार चित्रकार विविध चित्रों की रचना करता है उसी प्रकार नाम-कर्म नाना प्रकार के देहाकार और रूपाकार की रचना करते हैं। शुभ नामकर्म से बलिष्ठ और मनोरम कलेवर मिलता है और अशुभ कर्म से दुर्बल और विकृत।

गोत्र कर्म के द्वारा यह जीव उत्कृष्ट और निकृष्ट स्थान में जन्म ग्रहण करता है। अंतराय कर्म सत्कर्मों में विघ्न उपस्थित करते हैं। विविध प्रकार से प्रयास करने पर और बुद्धि का पूरा उपयोग करने पर भी कार्य में असफलता दिलाने वाले ये ही अंतराय कर्म होते हैं। जैन शास्त्र का कहना है कि जिस प्रकार बीज वपन करने पर उसका फल सद्य: नहीं मिलता समय आने पर ही प्राप्त होता है उसी प्रकार ये आठों प्रकार के कर्म नियत समय आने पर फलदायी होते हैं। यही जैन-धर्म का कर्म सिद्धांत कहलाता है।

संवर

संवर (सम्+वृ) शब्द का अर्थ है रोकना, अटकाना। 'जिस उज्ज्वल आत्म परिणाम से कर्म बँधना रुक जाय, वह उज्ज्वल परिणाम संवर है।' जैसे जैसे आत्म-दशा उन्नत होती जाती है वैसे वैसे कर्म बंध कम होते जाते हैं। आस्रव का निरोध जैसे जैसे बढ़ता जाता है वैसे वैसे गुणस्थान की भूमिका भी उन्नत से उन्नततर होती जाती है। जिस समय साधक की आत्मा उक्त आठ प्रकार के कर्मों के सर्वथा क्षय से शुद्ध हो जाती है उस समय वह शुद्धात्मा बन जाती है।

रास के द्वारा अध्यात्म जीवन की शिक्षा जनसामान्य को हृदयंगम कराना रासकार कवियों एवं महात्माओं का लक्ष्य रहा है। अध्यात्म जीवन का तात्पर्य है आत्मा के शुद्ध स्वरूप को लक्ष्य में रखकर तदनुसार जीवन यापन करना। और उस पावन जीवन के द्वारा अंत में केवल ज्ञान तथा मोक्ष की उपलब्धि करना। इस प्रकार अध्यात्म तत्त्व के परिचय एवं उपभोग से संसार के बंधन से मुक्त होकर जीव मोक्ष प्राप्ति कर लेता है। रासकारों ने काव्य की सरस शैली में जीवन के इसी अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने का सुगम मार्ग बताया है।

आत्मा परमात्मा

वैदिक साहित्य में आत्मा को सवर्गत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित निर्मल, अपापहत सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट, स्वयंभू माना गया है।

उसी ने नित्यसिद्ध सवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से अर्थो (कर्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है।

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य. ॥'

ईशावास्योपनिषद्–मन्त्र ८

उपनिषदों ने आत्मा का स्वरूप समझाने का अनेक प्रकार से प्रयत्न किया है। कहीं कहीं सिद्धात-निरूपण की तर्क शैली का अनुसरण किया गया है और कहीं कही सवाद - शैली का। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ऋषि आरुणि उद्दालक को आत्मा का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं—जो पृथ्वी, जल, अग्नि, अतरिक्ष, वायु, दिशा, चद्रमा, सूर्य, अधकार, तेज, सर्वभूत, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत, मन, वाणी, ज्ञान, वीज सब में विद्यमान है, पर उसे कोई नहीं जानता। जो सबका अतर्यामी एव अमृत तत्त्व है वही आत्मा है। वह आत्मा अदृष्ट का द्रष्टा, अश्रुत का श्रोता, अमत का मता, अविज्ञात का विज्ञाता है। उसके अतिरिक्त देखने सुनने मनन करने वाला अन्य कोई नहीं।

जैन दर्शन और आत्मा

जैन दर्शन आत्मा का उक्त स्वरूप नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक शरीर की भिन्न भिन्न आत्मा उसी शरीर में व्याप्त रहती है। शरीर से वाहर आत्मा का अस्तित्व कहाँ। उनका तर्क है कि जिस वस्तु के गुण जहाँ दृश्यमान हों वहीं उस वस्तु का अस्तित्व है। हेमचद्राचार्य का कथन है कि 'यत्रैव यो दृष्ट गुण. स तत्र कुभादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत्' अर्थात् जिस स्थान पर घट का रूप दिखाई पड़ रहा हो उस स्थान से भिन्न स्थान पर उस रूप वाला घट कैसे हो सकता है? आचार्य का मत है कि 'ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का अनुभव केवल शरीर में ही होने कारण उन गुणों का अधिष्ठाता आत्मा भी केवल शरीर में ही होना चाहिए।'

१—अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुत श्रोताऽमतोमन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम–बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय अध्याय, सप्तम ब्राह्मण।

जहाँ उपनिषद् आत्मा को केवल साक्षी मानते हैं उसे कर्त्ता और भोक्ता नहीं मानते वहाँ जैन दार्शनिक का कथन है—

'चैतन्यस्वरूपः, परिणामी, कर्त्ता साक्षाद्भोक्ता, स्वदेह परिमाण, प्रतिक्षेत्रं भिन्न, पौद्गलिकादृष्टवांश्चायम्[१] ।'

सांख्य जहाँ आत्मा को कमलपत्र की भाँति निर्लेप—परिणाम रहित क्रिया रहित, बताता है वहाँ जैन दर्शन उसे कर्त्ता, भोक्ता और परिणामी मानता है। सांख्य, वैशेषिक और न्याय आत्मा का सर्वव्यापी इंगित करते हैं वहाँ जैन दर्शन उसे 'स्वदेह परिमाण' सिद्ध करता है। जैन रासकारों ने जैन दार्शनिक सिद्धांतों का अनुसरण तो किया है पर इन पर बहुत बल नहीं दिया है। जैन रासकारों को 'द्रव्यानुयोग' पर बल न देकर 'चरणकरणानुयोग' को महत्त्व देना अभीष्ट रहा है। ये लोग श्रावकों, साधु साध्वियों के उत्तम चरित्र का रसमय वर्णन करते हुए श्रोताओं, दर्शकों एवं पाठकों का चरित्र निर्माण करना चाहते हैं। अतएव धार्मिक विभिन्नता की उपेक्षा करते हुए एकता को ही स्पष्ट किया गया है।

आत्मा सुख दुख का कारण

भगवान् महावीर ने मानव जीवन के सुख-दुख का कारण आत्मा को बताया है। उनका कथन है कि जब आत्मा पवित्र कर्त्तव्य कार्यों के साथ सहयोग करती है तो मनुष्य सुखी होता है और जब दुष्कर्मों के साथ सहयोग देती है तो मनुष्य दुखी बनता है। उनका कथन है कि आत्मा के नियंत्रण से मनुष्य का विकास होता है।

जैन दार्शनिकों की यह विशेषता है कि वे एक ही पदार्थ का अनेक दृष्टियों से परीक्षण आवश्यक समझते हैं। जहाँ एक स्थल पर आत्मा को देह तक सीमित एवं विनाशी मानते हैं वहाँ दूसरे स्थल 'भगवती सूत्र' में उसे शाश्वत अमृत, अविकृत एवं सदा स्थायी माना गया है। तीसरे स्थल पर भगवान् महावीर ने आत्मा को नश्वर और अनश्वर दोनों बताया है। एक बार गौतम ने महावीर स्वामी से पूछा—'भगवन्, आत्मा अमर है या मरणशील ?

महावीर बोले—गौतम, आत्मा मर्त्य और अमर्त्य दोनों है।[२] इन दोनों

१—प्रमाणनयतत्त्वालोक-७ ५६।

२—भगवती शतक ७-४

विरोधी मतो की सगति विठानेवाले आचार्यों का मत है कि चेतना की दृष्टि से आत्मा स्थायी एव अमर्त्य है क्योंकि अतीत में चेतना थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी इसकी स्थिति है। किंतु शरीर की दृष्टि से वह परिवर्तनशील एव मर्त्य है। वाल्यकाल से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था को प्राप्त होनेवाले शरीर के साथ आत्मा भी परिवर्तित होने के कारण वह परिवर्तनशील एव मर्त्य है। जैनाचार्यों के अनुसार आत्मा का लक्ष्य है जन्ममरण के आवर्त से पार अमरत्व को प्राप्त करना। 'आत्मा को मुक्ति तभी प्राप्त होती है जब वह पूर्णरीति से शुद्ध हो जाती है।'[1]

आधुनिक जैन दार्शनिकों ने विभिन्न आचार्यों के मत की अन्विति करते हुए आत्मा का जो स्वरूप स्थिर किया है वह विभिन्न धर्मों को समीप लाने वाला सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए देखिए—

The form of soul according to Jain philosophy can be summed up as 'The soul is an independent, eternal Substance. In the absence of a material and imminent causes it cannot be said to have been originated, One which is not originated cannot bc destroyed Its main characteristic is knowledge'[2]

जैनधर्म की अनेक विशेषताओं में एक विशेपता यह भी है कि वह सामयिक भाषा के साथ समय के अनुसार नवीन दार्शनिक सिद्धांतों का प्राचीन सिद्धांतों के साथ समन्वय करता चलता है। जब जब समाज में नवीन वातावरण के अनुसार नवीन विचारों की आवश्यकता प्रतीत हुई है तब तब जैन मुनियों ने जीवन के उस नवीन प्रवाह को प्राचीन विचार धारा के साथ सयुक्त कर दिया है। इस सग्रह में १७ वीं शताब्दी तक के रास समिलित किए गए हैं किंतु रास की धारा आज भी अक्षुण्ण है। जैनधर्म में साधुओ के आचार विचार पर बड़ा वल दिया जाता है। १७ वीं शताब्दी के उपरात जैन मुनियों के आचार विचार में शैथिल्य आने लगा। स्थानक वासी जैन मुनि परपरागत आचार विचारों की उपेक्षा करते हुए एक आसन

1—दशवैकालिक ४, १६

२ Muni shri Nagrag ji Jain philosophy and Modern Science Page 135

पर स्त्री के साथ बैठने लगे। स्त्रियों के निवास स्थान पर रात्रि व्यतीत करने लगे। सरस भोजनों में रस लेने लगे। रात्रि में कक्ष का द्वार बंद करके शयन करने लगे। आवश्यकता से अधिक वस्त्रों का उपयोग होने लगा। नारी रूप को काम दृष्टि से देखने को जैनमुनि लालायित रहने लगे। इन कारणों से मुनिसमाज का चरित्र शैथिल्य देखकर जनता को क्षोभ हो रहा था। श्रावकों ने जैनमुनियों की वंदना भी त्याग दी थी।

ऐसी स्थिति में जैनाचार्यों और जनता के बीच मनोमालिन्य की खाइ बढ़ती जा रही थी। जैन मुनि अपनी त्रुटि स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। उधर जनता ने भी स्थानक वासी मुनियों की उपेक्षा ही नहीं अवमानना आरंभ कर दी थी। किसी भी धार्मिक समाज में जब ऐसी अराजकता चरम सीमा को पहुँचने लगती है तो कोइ न कोइ तपस्वी सुधारक उत्पन्न होकर अव्यवस्था निवारण के लिए कटिबद्ध हो जाता है। श्वेतांबरों में एक वर्ग का विश्वास है कि इस सुधार का श्रेय भीखण स्वामी को है जिन्होंने जनता की पुकार पर ध्यान देकर स्थानक वासी जैन मुनियों की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया और संघ से पृथक् होकर केवल अपने तपोबल से उन्होंने ११ मुनियों को साथ लेकर गाँव गाँव भ्रमण करते हुए चारित्र शैथिल्य के निवारण का प्राणपण से प्रयत्न किया। उन्होंने प्रवचनों और रचनाओं से एक नवीन धार्मिक आंदोलन का संचालन किया जिसका परिणाम मंगलकारी हुआ और जैन समाज में एक नई शक्ति का संचार हो गया।

भीखण स्वामी जन्मजात कवि थे ही उन्होंने संस्कृत प्राकृत और भाषा का अध्ययन भी जमकर किया। परिणाम स्वरूप उनकी काव्य प्रतिभा प्रखर हो उठी और उन्होंने ६१ ग्रंथों की रचना की। उन ग्रंथों में काव्यमय उपदेश की दृष्टि से 'शील की नौ बाड़' 'सुदर्शण सेठ का बखाण' उदाई राजा को बखाण और 'व्यावलो' प्रमुख रासान्वयी काव्य हैं। उनके जीवन को आधार मान कर आगे चलकर भीखणाचार्य ने 'भिक्षु जस रसायन' की रचना उन्नीसवीं शताब्दी में की जिनसे सिद्ध होता है कि भीखण स्वामी ने ३८ सहस्र गाथाओं की रचना की थी।[1]

१—बत्तीस अक्षरों के संकलन को एक गाथा गिना जाता है।
आचार्य संत भीखण जी—श्रीचंद्र रामपुरिया प्रकाशक—हमीरमल पुनमचंद सुराणा"

इस ग्रथ में ब्रह्मचारी को अपने व्रत की रक्षा के लिए शील की नौ बाड़ बनाने का आदेश है। जिस प्रकार गाँव में गो-समूह से खेत की रक्षा के लिए बाड़ बनाने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य रूपी क्षेत्र को गो (इंद्रिय) प्रहार से सुरक्षित रखने के लिए शील की ९ बाड़ बनानी पड़ती है। उदाहरण के लिए देखिए—

शील की नौ बाड़

खेत गाँव ने गोरवें, न रहे न कीधा बाड़।
रहसी तो खेत इण विधे, दोली कीधा बाड़।
पहली बाड़ में इम कह्या, नारि रहे तिहाँ रात।
तिम ठामे रहणो नहीं, रह्याँ व्रत तणी हुवे घात॥

इसी प्रकार शील दुर्ग की रक्षा के लिए रूप-रस, गंध-स्पर्श आदि इंद्रिय सुख से विरत रहना आवश्यक बताया गया है। स्वामीजी कवित्व शैली में तीसरी बाड़ का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अगन कुंड पासे रहे, तो पिघले घृतनो कुंभ।
ज्यु नारी संगत पुरुष नो, रहे किसी पर ब्रह्म॥
पावक गाले लोह ने, जो रहे पावक संग।
ज्युं एकण सिज्या बैसतां, न रहे व्रत स्युं रंग॥

अति अहार की निंदा करते हुए स्वामी कहते हैं—"जैसे हाडी में शक्ति उपरात अन्न डालने से अन्न के उबाल आने पर हाडी फूट जाती है उसी तरह अधिक आहार से पेट फटने लगता है और विकार, प्रमाद, रोग, निद्रा, आलस और विषय विकार की वृद्धि होकर ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है।[1]" शील की महिमा संत भीखण जी ने मुक्त कंठ से गाई है। उन्होंने षट्‌दर्शन का सार शील को माना है—

ऐसो शील निधान रे, भवजीवाँ हितकर आदरो।
ते निश्चै जासी निर्वाण रे, देवलोक में सांसो नहीं॥
षट् दर्शण रे माँह रे, शील अधिको वखाणियो।
तप जप ए सहु जाय रे, शील बिना एक पलक में॥[2]

१—संत भीखण जी—शील की नौ बाड़—आठवीं बाड़।

२—आधुनिक कवि ने शील का वर्णन करते हुए कहा है—

'सब धर्मों का एक शील है छिपा खजाना।'

भाषा भाव की दृष्टि से, दोनों की तुलना की जा सकती है।

जब समाज में जैन साधुओं की अवमानना होने लगी और सामान्य जनता धर्म से पराङ्मुख होने लगी तो इस संत भीखण को सुगुरु और कुगुरु का लक्षण बताकर सुगुरु की सेवा और कुगुरु की उपेक्षा का रहस्य समझाना आवश्यक हो गया। अतः उन्होंने श्रावकों को सावधान करते हुए कहा कि रुपये की परीक्षा आवाज से होती है और साधु की परीक्षा चाल से। जिनकी बुद्धि निर्मल होती है वह रुपये की आवाज से उनकी परख करता है। आगे चलकर एक स्थान पर वे कहते हैं—"खोटा और खरा सिक्का एक झोली में डालकर मूर्ख के हाथ में देने से वह उन्हें पृथक् पृथक् कैसे कर सकता है। ऐसे ही एक वेश में रहनेवाले साधु असाधु की परीक्षा अज्ञानी से नहीं हो सकती।

> खोटो खरो न सांतरो एकण खोली मांय
> ते भार्या रे हाथे दियाँ जुदो किसी किम थाय

कुगुरु की संगति त्याग का उपदेश देते हुए भीखण जी कहते हैं—सोने की छुरी सुंदर होने पर भी उसे कोई अपने पेट में नहीं खोंपता। इसी प्रकार दुर्गति प्राप्त करानेवाले वेशधारी गुरु का आदर किस प्रकार किया जा सकता है। गुरु भवसागर से पार होने के लिये किया जाता है। पर कुगुरु तो दुर्गति में ले जाता है। जो भ्रष्ट गुरु होते हैं उन्हें तुरंत दूर कर देना चाहिए—

> सोना री छुरी चोखी भली जी पिण पेट न मारे कोय।
> ए लौकिक दृष्टांत सां भलोखी दें हृदय विमासी जोय॥
> चतुर नर छोडो कुगुरु संग।
> ज्यूं गुरु किया तिरवा भणी जी ते ले जासी दुर्गति मांय।
> ते भागल दूरा गुरु हुवे त्यां ने क्षमा दीजे छिटकाय॥
> चतुर नर छोडो कुगुरु संग।

भीखण जी ने गुणरहित कुसाधु के त्याग का उपदेश देते हुए कहा है—लाखों कुंड जल से भरे रहते हैं और सब में चंद्रमा का प्रतिबिंब रहता है। मूर्ख सोचता है कि मैं चंद्रमा को पकड़ लूं परंतु वह तो आकाश में रहता है। जो प्रतिबिंब को चंद्रमा मानता है वह पागल नहीं तो क्या है।

इसी प्रकार गुण रहित केवल वेश मात्र से व्यक्ति को साधु समझने वाला अज्ञानी नहीं तो और, क्या है ?[1]

धार्मिक जीवन में श्रद्धा की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए भीखण जी कहते हैं—

> सिद्धान्त भणायो अनन्ता जीवने रे,
> अनन्ता आगे भणीयो सिधत रे।
> गुरु ने चेलो हुवो सर्व जीवनो रे,
> साची सरधा विण न मिटी भ्रात रे॥

इसी प्रकार क्रियाहीन जैनसूत्रवाचक साधु की निंदा करते हुए भीखणजी कहते हैं—जैसे गधे पर बावना चंदन लाद देने पर भी वह केवल भार को ढोने वाला ही रहता है उसी प्रकार क्रिया हीन सूत्र पाठक सम्यक्त्व के विना मूढ और अज्ञानी ही रहता है।

साधु और श्रावक प्रत्येक में श्रद्धा का होना आवश्यक माना गया है। साधु को यदि अपने आचार में श्रद्धा नहीं है और श्रावक मे सच्चे साधु के प्रति श्रद्धा नहीं है तो भ्राति नहीं मिट सकती। बार बार भीखणजी इसकी पुनरावृत्ति करते हुए कहते हैं—[2]

> 'साचो सरधा विण न मिटी भ्रांत रे।'

उन्होंने 'सुदर्शन सेठ का बखाण' नामक ग्रथ में श्रद्धा और शील की विधिवत् महिमा गाइ है। इस रास का कथानक सक्षेप में इस प्रकार है—सुदर्शन सेठ अपने मित्र मत्री कपिल के घर जाता है। कपिल की स्त्री कुलटा कपिला सुदर्शन के सौंदर्य पर मोहित हो जाती है और वह अपनी दासी के द्वारा सेठ सुदर्शन को अपने प्रासाद में आमन्त्रित करती है। सुदर्शन के सौंदर्य से काम के वशीभूत हो वह बार बार सेठ को धर्मच्युत करने का प्रयास करती रही। पर सेठ मेरु पर्वत के समान सुदृढ बना रहा। कवि ने दोनों का वार्तालाप बडे ही मार्मिक शब्दो में इस प्रकार वर्णन किया है[3]—

> कपिला—म्हारो मिनपज मारोरे ते मुझे आप सुधारोरे
> म्हारें आसानै बछा लागी घणा दिना तणीरे।

१—आचार्य सत भिखण जी—श्री चद्र रामपुरिया पृ० २२१
२—सुदशन सेठ का बाखाण—ढाल ४, २७–२८
३— ,, ,, ढाल ५, ६ और १२

मोस्युं आवमुक्योरे प अवसर मत चुकोरे
मिनषम मारा रोला हो जीजियरे ।

सेठ—सेठ कहै बिपता भाखि तुं तो मूढ़ गिंवार ।
पुरष पणौं नहिं मीमखि ते नहि तोमैं कबर बिचार ।
इंद्रादिक सुर नर बड़ा नार तणा हुवा दास ।
तीया मैं पुरष आतम हुवै ते जबदी करै अरदास ।

कवि ने कुनारी चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ी ही स्पष्ट रीति से इस प्रकार किया है—

अविर्मन चरित्र सुणों नारी तणा
छोड़ो संसार नों फन्द ।
कुनारी में कोयल वर्णी भाख्या भी मिसराय ।
नारि कुप कपट लि कोयली मोगरा रो संडार ।
भमर करता में सांतरि भेद पचार्बत हार ।
देहली चढ़ती बिसपड़ै चढ़ जावै दु पर असमान ।
घर में बैठी डर करै राते जाय मसाण ।
देख बिलाड़ डोसकै सिंह नें सम्मुख जाय ।
सांप डसीसै है सोवै ऊम्पर ज्युं मिडकाय ।

कुनारी की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए मीलपजी कहते हैं कि वह ऊपर से कोयल और मोर की तरह मीठी बोली बोलती है पर भीतर कुटक के समान विपाक रहती है। बंदर के समान अपने पति को गुलाम बना कर नचाती है। वह नाम को तो अबला है पर इस संसार में वह सबसे सबल है—

नाम ही अबला नार नों पण सबलि ही ईण संसार ।
सुर नर किंनर देवता ज्यांनें पिण बस कीधा नार ॥

नारी की प्रबल शक्ति रखने वाले उसके अस्त्रों का बखान करते हुए कवि कहता है—

नैण बैण नारी तणां अचगल तीखा तेज ।
अंग तीखो तरवार ज्युं ईण मारयो सकल संवेग ॥

सुदर्शन किसी प्रकार कपिला से पिंड छुड़ा कर उसकी अट्टालिका से बाहर आया। पर कुछ काल के उपरांत ही उस चंपा नगरी के महाराजा दधिवाहन की महारानी अभया से उलझना पड़ा। वह भी सुदर्शन के रूप-लावण्य पर

मोहित हो गई पर वह अपनी राजसत्ता से भी सुदर्शन को पथच्युत न कर सकी। अंत में विवश होकर रानी अभया ने उस पर बलात्कार का दोषारोपण कर राजा से उसे प्राण-दंड दिलवा दिया। सूली पर चढाने के लिए सुदर्शन जब नगर के मध्य से निकला तो सारा नगर हाहाकार करने लगा। रानी के अत्याचार की कहानी सर्वत्र फैल गई। सेठ सुदर्शन को अंतिम बार उसकी स्त्री से मिलने की अनुमति दी गई। सुदर्शन का अपनी स्त्री से अंतिम विदा लेने का दृश्य बड़ा ही मार्मिक है।

तात्पर्य यह है कि सुदर्शन की धर्मनिष्ठा और चरित्र-दृढता का दिग्दर्शन कराते हुए भीखणजी ने इंद्रिय निग्रह का महत्त्व दिखाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार रास के द्वारा चरित्र निर्माण की प्रक्रिया १८ वीं शताब्दी तक पाई जाती है। सरहपा, गोरखनाथ, कबीरदास, तुलसी, रहीम, वृंद आदि कवियों की नीति धर्म पदावली की शैली पर चरित्र निर्माण के उपयुक्त काव्य रचना १८ वीं शताब्दी तक होती रही है।

उन्नीसवीं शताब्दी में भीखणजी के चरित्र का अवलंब लेकर 'भिक्षु यश रसायण' की रचना हुई जिसका भी वही उद्देश्य है जो भीखणजी का था।

अध्यात्म परक अर्थ

रास, फाग और व्याहुला का अध्यात्मपरक अर्थ करने का भी विविध कवि मुनियों ने प्रयास किया है। अठारहवीं शताब्दी में श्री लक्ष्मीवल्लभ ने 'अध्यात्म फाग' और श्री भीखण ने 'व्याहुला' की रचना की। दोनों ने क्रमशः फाग और व्याह-कृत्यों का अध्यात्म-परक अर्थ किया है। 'अध्यात्म फाग' में दिखाया गया है कि सुखरूपी कल्पवृक्ष की मंजरी को मनरूपी राजाराम (बलराम) ने हाथ में लेकर कृष्ण के साथ अध्यात्म प्रेम का फाग खेलने की तैयारी की। कृष्ण की शशिकला से मोह का तुषार फट गया। और सोलह पद्मदल विकसित हो गए। सत्य रूपी समीर त्रिगुण संपन्न होकर बहने लगा। समता रूपी सूर्य का प्रकाश बढने से ममता रूपी रात की पीड़ा जाती रही। शील का पीतांबर रचा गया और उर पर संवेग की माला धारण की गई। विचित्र तप का मोरमुकुट धारण किया गया। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की त्रिवेणी प्रवाहित होने लगी। मुनियों का उदार मन रूपी उज्ज्वल हंस उसमें विचरण करने लगा। सुरत की मुरली से अनाहत की ध्वनि उठी जिससे तीनों लोक विमोहित हो उठे और द्वंद्व-विषाद दूर हो

गया। प्रेम की झोली में भक्ति रूपी गुलाल लेकर होली खेली गई। पुण्य रूपी शरीर के सौरभ से पाप विनष्ट हो गए। सुमति रूपी नारी अत्यंत उल्लसित होकर पति के शरीर का आलिंगन करने लगी। त्रिकुटी रूपी त्रिवेणी के तट पर गुप्त ब्रह्मरंध्र रूपी कुंज में दंपति आनंद-विभोर होकर फाग खेलने लगे। कृष्ण-राधा के वश में इस प्रकार विभोर हो उठे कि उन्होंने अन्य रसरीति त्याग दी। इस अध्यात्म फाग को जो उत्तम रागों में गाता है वह जिनवर का पद प्राप्त करता है[१]।

विवाह संबंधी परंपरागत विश्वासों, अंधविश्वासों, मनोरंजनों, वाद्य संगीतों का भी अध्यात्म परक अर्थ करने का प्रयास आचार्य कवि श्री भीखण जी में पाया जाता है। तत्कालीन लोक-जीवन की मान्यताओं के अध्ययन की दृष्टि से तो इस रासान्वयी काव्य 'ब्याहुला' का महत्त्व है ही, आध्यात्मिक चिंतन की दृष्टि से भी इसका प्रभाव विगत दो शताब्दियों से अक्षुण्ण माना जाता है। इस अभिनव काव्य ने अनेक अध्यात्म प्रेमियों को विरक्ति की ओर प्रेरित किया। इसी कारण जैनसमाज में यह काव्य अत्यंत समादृत हुआ। इस काव्य में विवाह के छोटे मोटे समूचे कृत्यों का अध्यात्म परक अर्थ समझाया गया है। कन्या पक्ष के द्वार पर गले में माला पहनना मानो मायाजाल का फंदा स्वीकार करना है। घर के अंदर प्रवेश करने पर उसके सामने गाड़ी का जुआ रखना इस तथ्य का द्योतक है कि वर महाराज, घर गृहस्थी की गाड़ी में तुम्हें बैल की तरह जुत कर पारिवारिक भार वहन करना होगा। यदि कभी प्रमाद करोगे तो मार्मिक वचनों का प्रहार सहना पड़ेगा। गठबंधन क्या है मानो विवाह के बंधन में आबद्ध हो जाना। हाथ में मेंहदी उस चिह्न का द्योतक है जिसके द्वारा अपनी स्त्री के भरणपोषण के दायित्व में शैथिल्य के कारण तुम गिरफ्तार कर लिए जाओगे। चौक के कोने में तीन बाँस के सहारे मिट्टी के नवपद स्थापित किए जाते हैं—उनका अर्थ यह है कि कुदेव, कुगुरु और कुधर्म ये तीनों पोच बाँस हैं; पांच स्थावर और चार त्रस रूपी मानो मिट्टी के घड़े हैं—इनसे सावधान रहो। वर के संमुख दर्पण का अर्थ है कि तुम भी इसी तरह सांसारिक ज्वाला में भुन जाओगे। फेरे के समय तीन प्रदक्षिणा में स्त्री आगे और पुरुष पीछे रहता है चौथे फेरे में वर को आगे कर दिया जाता है और सातवें फेरे तक वह आगे आगे चलता है जिसका अर्थ है कि अरे पुरुष! सातवें नरक

१—प्राचीन फाग संग्रह—संपादक भोगीलाल ज० सांडेसरा-पृ० १[illegible]–१८।

में तुझे ही जाना पडेगा। अत में ककरण और डोरडे के खेल के समय वर को एक हाथ द्वारा ककरण खोलना पड़ता है और वधू दोनो हाथो से खोल सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि अरे पुरुष! तुझे अकेले ही द्रव्यादि का अर्जन करना होगा। यह विवाह बूरे का लड्डू है, जो खाएगा वह भी पछताएगा और न खाएगा वह भी पश्चाताप करेगा। कारण यह है कि वैवाहिक कृत्यो में तन-सपत्ति का अपव्यय कर मनुष्य चोरी, हिंसा, असत्य आदि दुत्कर्मों के द्वारा मानव जीवन को नष्ट कर देता है। स्त्रीप्रेम के कारण उसे अनतकाल तक यह यातना सहनी पडती है। इसी कारण श्री नेमिनाथ भगवान् विवाह से भागकर तप करने में सलग्न हो गए। भरत चक्रवर्त्ती ने ६४ हजार रानियो और २४ करोड़ सेना कोएक क्षण में छोड़ दिया। स्त्री के कारण ही महाभारत का युद्ध हुआ। सीता के कारण लका जैसी नगरी नष्ट हुई। सती पद्मिनी के कारण चित्तौड़ पर आक्रमण हुआ। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि पाश का फदा तो मनुष्य को शीघ्र ही मार देता है परतु वैवाहिक पाश उसे घुला घुलाकर मारता है।

विवाह के उपरात स्त्री वर आते ही जन्म देनेवाली माता, पोषण करनेवाले पिता, चिर सहचर भाई और बहिन से सबध विच्छेद करा देती है। पुत्र-पौत्रादिको के मोह में पड़कर मनुष्य ऋण लेता है, न्यायालय में भागता है, अहनिश अर्थ की चिंता में चिंतित होकर अपना जीवन विनष्ट कर देता है। यदि दुर्भाग्य से कहीं कर्कशा नारी मिली तो मृत्यु के उपरात तो क्या, इसी ससार में उसे घोर नरक की यत्रणा सहनी पड़ती है। इस प्रकार वैवाहिक बधन के दोषों को इगित करते हुए श्री भीखण जी ने ब्रह्मचर्यमय तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए मोक्षप्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया है।

उपसंहार

वैष्णव और जैन दोनों रास रचनाओ का उद्देश्य है पाठक, स्रोता एव प्रेक्षक को मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर प्रेरित करना। मानव मन बड़ा चचल है। वह सासारिक भोगविलासों की ओर अनायास दौड़ता है किंतु तपमय पावन जीवन की ओर उसे बलपूर्वक प्रेरित करना पड़ता है। जब तक इसे कोई बलवती प्रेरणा खींच कर ले जानेवाली नहीं मिलती तबतक यह अध्यात्म के पथ पर जाने से भागता है। रासकार का उद्देश्य मन को प्रेरित करनेवाली दृढ प्रेरणाओं का निर्माण है। रासकार उस बलवती प्रेरणा

का निर्माण सदाचरण के मूलतत्वों के आधार पर कर पाता है। वो मूलतत्व जैन और वैष्णव दोनों रासों में समान रूप से पाए जाते हैं, उन्हें अहिंसा, सत्य, शौच, दया और आस्तिक्य भाव से पुकारा जा सकता है। अध्यात्म पथ के यही चार पहिये हैं। दोनों की साधना पद्धति में मन को सांसारिक भोगविलासों से विरक्त बनाना आवश्यक माना जाता है। रोगी मन का उपचार करनेवाले ये दोनों चिकित्सक दो भिन्न भिन्न पद्धतियों से चिकित्सा करते हैं। वैष्णव विषासक्त मन के विष को राधा-कृष्ण की पावन प्रणयकेलि की सूई लगाकर निर्मल और नीरोग बनाता है किंतु जैन रासकार विषय सुख की असारता सिद्ध करते हुए मन को वैराग्य की ओर प्रेरित करना चाहता है। वैष्णव रास का आलंबन और आश्रय केवल राधाकृष्ण हैं, उन्हीं की रासलीलाओं का वर्णन संपूर्ण उत्तर भारत के वैष्णव कवियों ने किया किंतु जैन रास के आलंबन तीर्थंकर एवं विरत संत महात्मा हैं, उन्हीं के माध्यम से विलासी जीवन की निस्सारता सिद्ध करते हुए जैन रासकार केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन में प्रेरणा भरना चाहते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि दोनों का उद्देश्य एक है दोनों रुग्ण मानव मन को स्वस्थ करने को दो विभिन्न चिकित्सा प्रणाली का अनुसरण करते हैं। यही रास का जीवन दर्शन है।

रास का काव्य-सौंदर्य

रास-साहित्य का विशाल भडार है। इसमें लौकिक प्रेम से लेकर उज्ज्वल पारलौकिक प्रेम तक का वर्णन मिलता है। केवल लौकिक प्रेम पर आधृत रासो का प्रतिनिधि 'सदेश रासक' को माना जा सकता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस ग्रथ की भूमिका में काव्य-सौंदर्य के सबध में विस्तार के साथ विवेचन किया है। सच पूछिए तो इस रासक में इतना रस भरा है कि पाठक बारबार इसका अनुशीलन करते हुए नया-नया चमत्कार अनायास प्राप्त करके आनदित हो उठता है। अलंकार, गुण, रस, ध्वनि, शब्द शक्ति आदि किसी भी दृष्टि से इसकी समीक्षा कीजिए इसे उत्तम काव्य की कोटि में रखना पडेगा। डा० भायाणी और डा० हजारीप्रसाद ने अपनी भूमिकाओं में इस पर भली प्रकार प्रकाश डाला है अतः इसके सबध में अधिक कहना पिष्टपेषण होगा।

ऐतिहासिक रासो के काव्य सौंदर्य के विषय में पूर्व विवेचन किया जा चुका है। अतः यहाँ केवल वैष्णव एव जैन रासों की काव्यगत विशेषताओ पर विचार किया जायगा।

वैष्णव, जैन एव ऐतिहासिक रासो में क्रमश' प्रेम, वैराग्य और राज-महिमा की प्रधानता दिखाई पड़ती है। वैष्णवों ने राग तत्त्व की शास्त्रीय व्याख्या उपस्थित की है तो जैन कवियों ने वैराग्य का विश्लेषण किया है। जैन कृत ऐतिहासिक रासों में ऐतिहासिक व्यक्तियों के चारित्र्य की महानता दिखाते हुए विरागिता पर बल दिया गया है तो जैनेतर रासो में चरितनायक के शौर्य एव ऐहिक प्रेम की प्रशसा की गई है। इस प्रकार उक्त तीनों प्रकार के रासों के प्रतिपाद्य विषय में विभिन्नता होने के कारण उनकी गृहीत काव्य शैली में भी अतर आ गया है। इस प्रसंग में उन तीनो काव्य शैलियों का सक्षेप में विवेचन कर लेना चाहिए।

सर्वप्रथम हम वैष्णव रासों की काव्य शैली पर विचार करेंगे। हम पूर्व कह आए हैं कि १२वीं शताब्दी के महामेधावी राजकवि जयदेव के गीत-

गोविंद की रचना के द्वारा सभी भारतीय साहित्य संगीतोन्मुख हो उठा। शब्द संगीत का राग रागिनियों से इस प्रकार गठबंधन होते देख कविसमाज में नवचेतना जागी। वैष्णव भक्त कवियों को मानो एक वरदान मिला। नृत्य-संगीत के आधार पर सुसंस्कृत सरल भक्तिकाव्य के रसास्वादन से जनता की प्यास और भी उद्दीप्त हो उठी। देशी भाषाओं में राशि-राशि वैष्णव साहित्य उसी गीतगोविंद की शैली पर विरचित होने लगे। समस्त उत्तर भारत के भक्त कवि उस रसधारा में निमज्जित हो उठे। इस प्रचुर साहित्य का एक और परिणाम हुआ। कतिपय कवि काव्यशास्त्रियों ने वैष्णव साहित्य का पर्यवेक्षण कर एक नए रस का आविष्कार किया जो आगे चलकर उज्ज्वल रस के नाम से विख्यात हुआ।

उज्ज्वल रस का अधिकारी

ध्रुवदास जी कहते हैं कि उज्ज्वल रस की अधिकारिणी एक मात्र सखियाँ हैं अथवा जिन भक्तों में सखी भाव है[1]। जिस भक्त के मन में भगवान् के प्रति वैसी ही आसक्ति हो जाती है जैसी गोपियों की कृष्ण के प्रेम में हो गई थी वह वह उज्ज्वल रस का अधिकारी बनता है। उज्ज्वलरस प्रतिपादित करनेवाले आचार्यों का मत है कि जब तक भक्त का मन भगवान् के एश्वर्य का चिंतन करता है तब तक वह उज्ज्वल रस का अधिकारी नहीं बनता। ध्रुवदास कहते हैं—

इसलिकवा ज्ञान महातम जिते या रस माधुरी को आवर्न है। जब भक्त अपने चित्त से इस आवरण को उतार फेंकता है तब वह माधुर्य रसास्वादन का अधिकारी बनता है। माधुर्य रस के लिए चित्त में आसक्ति की स्थिति लाना अनिवार्य है। आसक्ति का लक्षण देते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

तन मन की वृत्ति जब प्रेम रस में बहै तब आसक्त कहिये। उस आसक्ति की स्थिति का वर्णन करते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

नित्य छिन छिन प्रीति रस सिंधु में तरंग बधि के उठत रहत है नये नये।

हम पूर्व कह आए हैं कि वैष्णवरास में भक्तिरस, जैन रास में शांतरस

---

[1] —या रस की अधिकारिन सखी है कि जिन भक्तन के सखिभाव है। जो कोई भक्तरसिक तामैं प्रेम हो कौ नेम जिन है एक रस है कबहू न घटै तथा प्रेम मैं कछू भेद नाहीं। —भक्तामोद लीला हस्तलिखित प्रति पत्र १५

ओर जैनेतर ऐतिहासिक रासों में वीर रस की प्रधानता रही है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या भक्ति को रसकोटि में परिगणित किया जा सकता है। विभिन्न आचार्यों ने इस पर विभिन्न मत दिया है। संस्कृत के अंतिम

भक्तिरस या भाव

काव्यशास्त्री कविराज जगन्नाथ भक्ति को देवविषयक रति के कारण रस की कोटि में नहीं रखना चाहते। इसके विपरीत रूपगोस्वामी एवं जीव-गोस्वामी ने भक्तिरस को ही रस मानकर अन्य रसों को इसका अनुवर्ती सिद्ध किया है। जीव गोस्वामी ने प्रीतिसंदर्भ में रस विवेचन करते हुए लिखा है कि पूर्व आचार्यों ने जिस देवादि विषयक रति को भाव के अंतर्गत परिगणित किया है वह सामान्य देवताओं की रति का प्रसंग था। देवाधिदेव रासरसिक कृष्ण की रति भाव के अंतर्गत कैसे आ सकती है। वे लिखते हैं—

यत्तु प्राकृतरसिकैः रससामग्रीविरहाद् भक्तौ रसत्वं नेष्टम् तत् खलु प्राकृतदेवादि विषयमेव सम्भवेत् तथा तत्र कारणादयः स्वत एवालौकिकाद्भुत रूपत्वेन दर्शिता दर्शनीयश्च।

अर्थात् प्राकृत रसिकों के लिए भक्ति में रससामग्री के अभाव के कारण रसत्व इष्ट नहीं। वह तो प्राकृत देव में ही संभव है।

मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'भगवद्भक्ति रसायन' ग्रंथ में इस समस्या को सुलझाने का प्रयास करते हुए कहा है कि भक्तिरस एकमात्र स्वानुभव-सिद्ध है। इसे प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके विपरीत, भक्त कवि एवं काव्यशास्त्री रूपगोस्वामी ने स्वरचित काव्यों, नाटकों एवं अन्य कवि-विरचित कृष्णलीला पदों के संग्रहों से यह प्रमाणित करने का सफल प्रयास किया कि भक्ति रस ही रस है। डा० सुशील कुमार डे इस प्रयास की विवेचना करते हुए लिखते हैं

"But the attitude is a curious mixture of the literary, the erotic and the religious and the entire scheme as such is an extremely complicated one. There is an enthusiasm, natural to the analytic scholastic mind, for elaborate and subtle psychologising, as well as for developing and refining the inherited rhetorical traditions, but the attempt is also inspired very largely by an antecedent and

गोविंद की रचना के द्वारा सभी भारतीय साहित्य संगीतोन्मुख हो उठा। शब्द संगीत का राग रागिनियों से इस प्रकार गठबंधन होते देख कविसमाज में नवचेतना जगी। वैष्णव भक्त कवियों को मानो एक वरदान मिला। नृत्य-संगीत के आधार पर सुसंस्कृत सरल भक्तिकाव्य के रसास्वादन से जनता की प्यास और भी उद्दीप्त हो उठी। देशी भाषाओं में राशि-राशि वैष्णव साहित्य उसी गीतगोविंद की शैली पर विरचित होने लगे। समस्त उत्तर भारत के भक्त कवि उस रसधारा में निमज्जित हो उठे। इस प्रचुर साहित्य का एक और परिणाम हुआ। कतिपय कवि काव्यशास्त्रियों ने वैष्णव साहित्य का पर्यवेक्षण कर एक नए रस का आविष्कार किया जो आगे चलकर उज्ज्वल रस के नाम से विख्यात हुआ।

उज्ज्वल रस का अधिकारी

ध्रुवदास जी कहते हैं कि उज्ज्वल रस की अधिकारिणी एक मात्र सखियाँ हैं अथवा जिन भक्तों में सखी भाव है[१]। जिस भक्त के मन में भगवान् के प्रति वैसी ही आसक्ति हो जाती है जैसी गोपियों की कृष्ण के प्रेम में हो गई थी तो वह उज्ज्वल रस का अधिकारी बनता है। उज्ज्वलरस प्रतिपादित करनेवाले आचार्यों का मत है कि जब तक भक्त का मन भगवान् के ऐश्वर्य का चिंतन करता है तब तक वह उज्ज्वल रस का अधिकारी नहीं बनता। ध्रुवदास कहते हैं—

इसलका ज्ञान महातम जिये या रस माधुरी को आवर्न है। जब भक्त अपने चित्त से इस आवरण को उतार फेंकता है तब वह माधुर्य रसास्वादन का अधिकारी बनता है। माधुर्य रस के लिए चित्त में आसक्ति की स्थिति लाना अनिवार्य है। आसक्ति का लक्षण देते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

तन मन की वृत्ति जब प्रेम रस में पगै तब आसक्त कहिये।' उस आसक्ति की स्थिति का वर्णन करते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

नित्य छिन छिन प्रीति रस सिंधु तें तरंग रुचि के उठत रहत है नये नये।'

हम पूर्व कह आए हैं कि वैष्णवरास में भक्तिरस जैसे रास में शांतरस

—या रस की अधिकारिन सखी है कि जिन भक्तन के सखिभाव को भाव है। अन्य तेई भक्तसखि—वाये प्रेम हो की नेम नित्य है एक रस है कबहूं न छूटे ता मन में कबहूं भेद नाहीं। —ध्यानोत्सव लीला हस्तलिखित प्रति पत्र १६

चतुर्थ की भावभक्ति के लिए पञ्चम और षष्ठ की प्रेमाभक्ति के लिए आवश्यकता पड़ती है।

सामान्यतया साधन भक्ति की उपलब्धि के उपरात भाव भक्ति की प्राप्ति होती है किंतु कभी कभी अधिकारी विशेष को पूर्व सञ्चित पुण्य अथवा गुरु-कृपा अथवा दोनों के योग से साधना भक्ति बिना ही भाव भक्ति की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

भाव भक्ति आतरिक भाव-भावना पर निर्भर है और प्रेम या शृंगार-रसस्थिति तक नहीं पहुँच पाती। इसका लक्षण देते हुए रूप गोस्वामी कहते हैं कि जब जन्मजात भावना पावन बनकर शुद्धसत्त्व विशेष का रूप धारण कर लेती है और उसे प्रेमसूर्य की प्रथम किरण का दर्शन होने लगता है तो उसे एक प्रकार का समबुद्धि भाव प्राप्त हो जाता है। यही स्थिति कुछ दिन तक बनी रहती है। तदुपरात उसमें भगवद्प्राप्ति की अभिलाषा जागृत होती है। इस अभिलाषा के जागृत होने पर वह भगवान् कृष्ण का सौहार्दाभिलाषी बन जाता है। ऐसे भक्त के अनुभवो का विवेचन करते हुए रूपगोस्वामी लिखते हैं कि उसमे शाति, अव्यर्थकालता, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबध, समुत्कटा, नामगानरुचि, तद्गुण व्याख्यान आसक्ति, 'तद्वस्तिस्थले प्रीति.' आने लगती है। ऐसी स्थिति में भक्त को रत्याभास हो जाता है। कृष्णरति की स्थिति इसके उपरात आती है।

भावभक्ति

प्रत्येक मनुष्य की मन.स्थिति समान नहीं होती। शास्त्रों ने मनस्तत्त्व का विधिवत् विवेचन किया है। उनका मत है कि मन के विकास - क्रम की मुख्यतया ४ सीढ़ियाँ होती हैं—(१) इन्द्रियमन (२) सर्वेंद्रिय मन (३) सत्त्वमन (४) श्वोवसीयस् मन। ज्ञानशक्तिमय तत्त्व को मन कहते हैं। इन चारों का सबध चिदश से है। उसी के कारण ये प्रज्ञात्मक बनते हैं। जबतक मन इद्रियों का अनुगामी बना रहता है, तब तक वह इंद्रियमन कहलाता है। जब यह विकासोन्मुख होकर स्वय इद्रियप्रवर्त्तक बन जाता है तब अशनाया रूप सर्वेंद्रिय मन कहलाता है। जब उससे भी अधिक इसका विकास होने लगता है और पाँचों

भक्त की मन-स्थिति

१—प्रेम्ण प्रथमच्छविरूप —

still living poetic experience (Jayadeva and Lelasuka) which found expression also in vernacular poetry (Vidyapati and Chandidasa), as well as by the simple piety of popular religions which reflected itself in the conceptions of such Puranas as the श्रीमद्भागवत, the fountain source of mediaeval Vaishnava Bhakti. But it goes further and rests ultimately on the transcendental in personal religious experience of an emotional character which does not indeed deny the senses but goes beyond their pale

नामकरण

भक्ति रस का सार उज्ज्वलरस कहलाता है। इस रस से अभिप्राय है[1] कृष्ण भक्ति का शृंगार रस। आचार्य ने भरत मुनि के उज्ज्वल शब्द से इस रस का नामकरण किया होगा और भक्ति के क्षेत्र में शृंगार का स्थान देकर एक नवीन भक्तिपद्धति का आविष्कार हुआ होगा।

भक्ति के भेद

भक्तिरसामृत सिंधु में भक्ति के ४ प्रकार किए गए हैं—(१) सामान्य भक्ति (२) साधन भक्ति (३) भावभक्ति (४) प्रेमा भक्ति। रूप गोस्वामी ने साधनभक्ति, भाव भक्ति और प्रेमाभक्ति को उत्तम कोटि में परिगणित किया है। कारण यह है कि इन तीनों में भक्त भोग वासना और मोक्ष वासना से विनिर्मुक्त होकर एकमात्र कृष्णानुशीलन में तत्पर रहता है। वह अन्याभिलाषाशून्य हो जाता है। इस भक्ति में भक्त कोशापिता यम-नियम आदि सभी बंधनों से मुक्त होकर निम्नलिखित केवल ६ विशिष्टताओं को अपनाना पड़ता है—(१) क्लेशघ्नत्व (२) शुभदत्व (३) मोक्षलघुताकारित्व (४) सुदुर्लभत्व (५) सान्द्रानन्दविशेषात्मता (६) वशीकरण (कृष्ण का स्मरण करना)

उपर्युक्त ६ विशिष्टताओं में प्रथम दो की साधना भक्ति के लिए तृतीय

१—नाट्यशास्त्र में शृंगाररस का वर्णन करते हुए भरत मुनि कहते हैं—
यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत् शृंगारेणोपमीयते।

चतुर्थ की भावभक्ति के लिए पञ्चम और षष्ठ की प्रेमाभक्ति के लिए आवश्यकता पड़ती है।

सामान्यतया साधन भक्ति की उपलब्धि के उपरात भाव भक्ति की प्राप्ति होती है किंतु कभी कभी अधिकारी विशेष को पूर्व सचित पुण्य अथवा गुरु-कृपा अथवा दोनों के योग से साधना भक्ति बिना ही भाव भक्ति की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

भाव भक्ति आतरिक भाव-भावना पर निर्भर है और प्रेम या शृगार-रसस्थिति तक नहीं पहुँच पाती। इसका लक्षण देते हुए रूप गास्वामी कहते हैं कि जब जन्मजात भावना पावन बनकर शुद्धसत्त्व विशेष का रूप धारण कर लेती है और उसे प्रेमसूर्य की प्रथम किरण का दर्शन होने लगता है तो उसे एक प्रकार का समबुद्धि भाव प्राप्त हो जाता है। यही स्थिति कुछ दिन तक बनी रहती है। तदुपरात उसमें भगवद्प्राप्ति की अभिलाषा जागृत होती है। इस अभिलाषा के जागृत होने पर वह भगवान् कृष्ण का सौहार्दाभिलाषी बन जाता है। ऐसे भक्त के अनुभवों का विवेचन करते हुए रूपगोस्वामी लिखते हैं कि उसमें शाति, अव्यर्थकालता, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबध, समुत्कठा, नामगानरुचि, तद्गुण व्याख्यान आसक्ति, 'तद्वस्तिस्थले प्रीति.' आने लगती है। ऐसी स्थिति में भक्त को रत्याभास हो जाता है। कृष्णरति की स्थिति इसके उपरात आती है।

भावभक्ति

प्रत्येक मनुष्य की मन.स्थिति समान नहीं होती। शास्त्रों ने मनस्तत्त्व का विधिवत् विवेचन किया है। उनका मत है कि मन के विकास - क्रम की मुख्यतया ४ सीढियाँ होती हैं—(१) इन्द्रियमन (२) सर्वेंद्रिय मन (३) सत्त्वमन (४) श्वोव-सीयस् मन। ज्ञानशक्तिमय तत्त्व को मन कहते हैं। इन चारों का सबध चिदश से है। उसी के कारण ये प्रज्ञात्मक बनते हैं। जबतक मन इद्रियों का अनुगामी बना रहता है, तब तक वह इद्रियमन कहलाता है। जब यह विकासोन्मुख होकर स्वय इद्रियप्रवर्त्तक बन जाता है तब अशनाया रूप सर्वेंद्रिय मन कहलाता है। जब उससे भी अधिक इसका विकास होने लगता है और पाँचो

भक्त की मन-स्थिति

१—प्रेम्ण प्रथमच्छविरूप —

इंद्रियों का अनुकूल प्रतिकूल वेदनात्मक व्यापार जब सब इंद्रियों में समान रूप से होने लगे तो मन सर्वेंद्रिय मन कहलाता है। इसे ही अनिंद्रिय मन भी कहते हैं। चलते चलते हुए किसी एक इंद्रिय विषय का अनुभव नहीं होता, तब भी सर्वेंद्रिय मन अपना काम करता ही रहता है। भोग-प्रसक्ति के बिना भी विषयों का चिंतन यही मन करता है।

तीसरी अवस्था है सत्वगुणसंपन्न सत्त्वैकघन महान् मन की। यह मन की सुषुप्ति दशा है। उस सत्त्व मन से भी उच्चतर चौथी अवस्था है जिसे अव्यय मन, श्वोवसीयसमन अथवा चिदंश पुरुष मन कहा जाता है। इस मन का "संबंध परात्पर पुरुष की सहज मुखी कामना से है। यही अणु से अणु और महतो महीयान् है। केंद्रस्थ भाव मन है। यही उक्थ है। जब उसी से अर्क या रश्मियाँ चारों ओर उत्थित होती हैं तो वही परिधि या महिमा के रूप में मनु कहलाता है। यही मन और मनु का संबंध है। यद्यपि अंशतो-गत्वा दोनों अभिन्न हैं।"[1] वास्तव में मन की इसी चतुर्थ अवस्था में उज्ज्वल रस का भाव संभव है।

उज्ज्वल रस

रूप गोस्वामी ने उज्ज्वल रस का प्रतिपादन संस्कृत काव्यशास्त्रियों की ही रस शैली पर किया है पर ध्रुवदास आदि हिंदी कवियों ने काव्य शास्त्र का अवलंब न लेकर स्वानुभूति को ही प्रमाण माना है। ध्रुवदास[2] 'सिद्धांतविचार' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

"प्रेम की बात कछुइक कहिबेकोआवती जैसी उर में उपजाई तैसी कही।"

ध्रुवदासजी कहते हैं कि मेरे मन में अनुभूति का सागर उमड़ रहा है पर मेरी वाणी तो 'जैसे सिंधुहिं सीप भरि लीजै।'

रूप गोस्वामी उज्ज्वल रस का स्थायी[3] भाव मधुरा रति मानते हैं। कृष्ण-रति का नाम मधुरा रति है। यह रति कृष्ण विग्रह अथवा कृष्ण के

१—वासुदेवशरण अग्रवाल—'भारतीय हिंदू मानव और उसकी भावुकता'
—भूमिका पृ. ११

२—ध्रुवदास बीला—(हस्तलिखित प्रति) का. ना. प्र. सभा पत्रा २६-१

३—स्थायिभावोऽत्र संप्रोक्तः श्रीकृष्णे मधुरा रतिः।
—उज्ज्वल नीलमणि पृ. ३८८

अनुकर्त्ता के प्रति भी हो सकती है। ध्रुवदास इसी रति का नाम प्रेम देकर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—कि प्रेम में "उज्ज्वलता, कोमलता स्निग्धता, सरसता, नौतनता। सदा एक रस रुचत सहज स्वच्छद मधुरिता मादिकता जाकौ आदि अत नहीं। छिन छिन नौतन स्वाद।"

ऐसी कृष्ण रति स्थायी भाव है जो अनुभाव विभाव एवं सचारी के योग से उज्ज्वल रस वनकर भक्तों को[1] रसमय कर देता है। काव्यशास्त्र कहता है कि काव्य रस का आनद रसिक को होता है। कृष्ण भक्त में रसिकता का लक्षण देते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

"रसिकता कौ कहियै जो रस कौ सार अहै और जहाँ ताईं भक्त उद्धव जनक सनकादिक अरु लीला द्वारिका मथुरा आदि तिन सवनि पर अति गरिष्ठ सर्वोपर व्रजदेवीन को प्रेम है। ब्रह्मादिक जिनकी पदरज वाछित है। तिनके रस पर महारस अति दुर्लभ श्रीवृदावन चद आनदघन उन्नत नित्य किशोर सबके चूडामनि तिन प्रेम मई निकुज माधुरी विलास ललिता विशाखा आदि इन सखियन कौ सुख सर्वोपर जानहु।"

उस प्रेम की विशेषता बताते हुए ध्रुवदास कहते हैं कि वह प्रेम 'सदा नौतन तें नौतन एक रस रहै। इनकौ प्रेम समुझनौं अति कठिन है।'

किंतु यह कृष्ण रति भगवान की कृपा से अति सुगम भी है। "जिनपर उनकी कृपा होइ तवही उर में आवै।'

जब भक्त के मन में लाडिली (राधिका) और लाल (कृष्ण) का प्रेमभाव भर जाता है तभी इस रस की उपलब्धि होती है। उस भाव के कथन में वाणी असमर्थ हो जाती है। ध्रुवदास कहते हैं—'इनकौ भाव धरिया ही रस की उपासना में कपट छाड़ि भ्रम छाड़ि निस दिन मन में रहै। अनन्य होइ ताकौ भाग कहिवे कौं कोई समर्थ नाहीं।'

इस कृष्ण प्रेम की विलक्षणता यह है कि भक्त निजदेह सुख को भूल जाता है। प्रेमी के ही रग में रँगा रहता है। "और ताके अग सग की जितनी वात है ते सव प्यारी लागै ताके नाते।"

प्रेम का स्थान नेम से ऊँचा वताते हुए ध्रुवदास कहते हैं 'जाकौ आदि

१—स्वाधता हृदि भक्तानाम्

अंत होइ सो नेम जानियो जाको अंत नहीं सो प्रेम सवदा एक रस रहै सो अद्‌भुत प्रेम है। प्रेम में नेम वहीं तक मान्य है

प्रेम और नेम — जहाँ तक वह प्रेम से नियंत्रित है। जब नेम प्रेम पर नियंत्रण करने का अभिलाषी बनता है तो वह त्याज्य समझा जाता है। ध्रुवदास कहते हैं कि वस्त्र को उज्ज्वल, श्वेत करने के लिये अन्य उपादान की आवश्यकता है पर लाल रंग में रँगे वस्त्र को उन्हीं उपादानों से फिर सफेद बनाने की आवश्यकता नहीं रहती। यह दशा नेम की है। "या प्रेम के एक निमेष पर सुख कोटिकलपन के वारि डारियै। स्वाद विशेष के लिये भयो सुदृढ़ प्रेम है। जैसें पाक और जल एकत्र कियौ तब पाक न जल सरवत भयौ पाक जल या वाही में है। ऐसें महामधुर रस स्वाद को सुदृढ़ प्रेम है प्रगट कियौ।"

ध्रुवदास जी ने इस कृष्ण रति (प्रेम) का सांसारिक प्रेम से पार्थक्य दिखाते हुए स्पष्ट कहा है कि भौतिक प्रेम में नायक और नायिका को स्वार्थ की भावना बनी रहती है। एक दूसरे का सुख चाहते हुए भी स्वसुख का सर्वथा समर्पण नहीं देखा जाता। अंतर्मन में स्वसुख की भावना अवश्य विद्यमान रहती है, पर कृष्ण रति की यही महानता है कि गोपियों ने कृष्ण के प्रेम में पति पुत्र सबकी तिलांजलि दे दी थी। 'ध्रुवदास' गोपीप्रेम का बखान करते हुए कहते हैं—

'नायक अपनौं सुख चाहै नायका अपनौं सुख चाहै सो यह प्रेम न होय साधारण सुख भोग है। जबताई अपनौ अपनौ सुख चाहियै तब ताई प्रेम कहा पाइयै। दोइ सुख दोइ मन दोइ रुचि जबताई एक न होय तबताई प्रेम कहाँ! स्वाभाविक सुख जहाँ स्वारथ मद है तो और सुपन की कौन चलावै। विविध रहत नित्य प्रेम सहज एक रस भयो किसोरी किसोर जू को है और कहूँ नाहीं।"

इस प्रकार भक्त कवियों ने ऐसे नायिका-नायक का प्रेम वर्णन किया है जिसमें काम वासना का लेश नहीं—

"यह अप्राकृत प्रेम है श्री कृष्ण काम के बस नाहीं।

ऐसे अद्‌भुत प्रेम से उत्पन्न उज्ज्वल रस की व्याख्या करते हुए ध्रुवदास कहते हैं कि नायिका नायक के रूप में इस प्रेम के वर्णन का उद्देश्य यह है कि 'पहले स्थूल प्रेम समुझै तब मन आगें चलै। जैसें श्री भागवत की बानी

पहले नवधा भक्ति करै तब प्रेम लछना आवै। और महापुरुषन अनेक भाँति के रस कहे। पै पर इतनी समुझ नीके उनकी हिंनी कहाँ ठहरानी सोई गहनी।"[1]

इन उद्धरणों का एकमात्र आशय यह है कि प्रेमभक्ति के अनेक कवियों एव आठ प्रमुख[2] आचार्यों ने केवल स्वानुभूति के बल पर एक नए रस का आविष्कार किया, जिसका उल्लेख पूर्वाचार्यों के ग्रथों में कहीं नहीं मिलता। उज्ज्वलरस का शास्त्रीय विवेचन रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रभृति भक्त आचार्यों ने जिस शास्त्रीय पद्धति से किया है उसका परिचय रास साहित्य के माध्यम से इस प्रकार दिया जा सकता है—

उज्ज्वल रस का आलबन—विभाव कृष्ण हैं। उन्हें पति एव उपपति दो रूपों में दिखाया गया है। प्राकृत जीवन में उपपति हेय एव त्याज्य है पर पारमार्थिक जीवन में उपपति कृष्ण उज्ज्वलरस को

नायक नायिका

सत्र' प्रदान करने से सर्वश्रेष्ठ नायक स्वीकार किये गये हैं। 'उज्ज्वल नीलमणि' ने काव्यशास्त्र के आधार पर कृष्ण को धीरोदात्त, धीर ललित आदि रूपों में प्रदर्शित किया है और ब्रह्म ही को रसास्वाद के लिए कृष्ण रूप में अवतरित माना है—

'रसनिर्यास स्वादार्थमवतारिणी'

अत. कृष्ण का उपपतित्व परमार्थ दृष्टि से सर्वोच्चम माना गया है।

कृष्ण के तीन स्वरूप-पूर्णतम, पूर्णतर एव पूर्ण क्रमशः व्रज, मथुरा एव द्वारका में प्रदर्शित किए गए हैं। कहीं उन्हें धृष्ट, कहीं शठ और कहीं दक्षिण

१—ध्रुवदास—बयालीस लीला (हस्तलिखित प्रति) पृ० ३१

२—क-रूप गोस्वामी, उज्ज्वलनीलमणि
ख-शिवचरण मिश्र, उज्ज्वल चंद्रिका
ग-रूपगोस्वामी, भक्ति रसामृत सिंधु
घ-विकर्णपूर, अलकार कौस्तुभ
च-गोपालदास, श्री राधा कृष्ण रसकल्पवल्लरी
छ-पीताम्बरदास, रसमञ्जरी
ज-नरहरि चद्र, भक्ति रत्नाकर
झ—नित्यानददास, प्रेमविलास

नायक के रूप में सिद्ध किया गया है। पर इस विलक्षण नायक की विशेषता बताते हुए कहा गया है—

> सत्यंज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
> यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥
> ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः।
> ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात्पुरा॥

इस नायक की दूसरी विशेषता यह है कि उसने अपने प्रियजनों को निरामय स्वपद प्रदान किया। प्राकृत नायक में यह शक्ति कहाँ संभव है। अतः इस नायक का पतित्व एवं उपपतित्व अध्यात्म दृष्टि से एक है। उसने अपने भक्तों की रुचि के अनुरूप अपना स्वरूप बनाया था। वह स्वतः पाप-पुण्य, सुख-दुख से परे ब्रह्मतत्त्व है।

नायिका के रूप में राधा और गोपियों को दिखाया गया है। राधा तो कृष्ण से अभिन्न है—

> राधा कृष्ण एक आत्मा दुइ देह धरि।
> अन्योन्य विलसे रस आस्वादन करि॥

राधा कृष्ण एक ही परमतत्त्व आत्मा हैं जो रसास्वादन के लिए दो शरीर धारण किए हुए हैं। कृष्ण ने ही रासमंडल में अनेक रूप धारण किया है—

"श्री रास मंडले तेमनई आपनाकेइ बहु रूपे प्रकाशित करियाछेन"[१]

भक्त आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय-पद्धति पर ही नायिका भेद का विवेचन किया है। किंतु उनके विवेचन में भक्ति का पुट होने से वह पूर्वाचार्यों की मान्य पद्धति से कुछ भिन्न दिखाई पड़ता है।

नायिकाभेद

कृष्ण पति और उपपति दोनों रूपों में विवेच्य हैं अतः नायिकाओं के स्वभावतः दो भेद—(१) स्वकीया (२) परकीया—किए गए हैं। हम पूर्व कह आए हैं कि कृष्ण की सोलह सहस्र नायिकाएँ ब्रज में थीं और १ ८ द्वारका में। कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख ि जाता है कि उनकी प्रेयसियों की संख्या अनंत थी।

यद्यपि कृष्ण के साथ सभी नायिकाओं का गंधर्व विवाह हो गया था किंतु उसे गुप्त रखने के कारण वे परकीया रूप में ही सामने आती हैं। विश्वनाथ

---

(१) श्री सुधारञ्जनराय—कीर्तन पदावली—पदावलीर सारतत्त्व

चक्रवर्ती ने इस प्रसग को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—'कियन्त. गोकुले स्वीयाऽपि पित्रादिशकया परकीया एव' अर्थात् कितनी स्वीया नायिकाएँ अभिभावकों के भय से परकीया भाव धारण किए हुए थीं। जीवगोस्वामी ने इस रहस्य को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"वस्तुत. परम स्वीयाऽपि प्रकट लीलायाम् परकीयमाना श्रीव्रजदेव्यः"

अर्थात् गोपियों का स्वकीया होते हुए भी परकीया भाव लीलामात्र के लिए है, वास्तविक नहीं।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि गोपियों के पति देव के साथ उनका शारीरिक ससर्ग कभी न होने पर गोपों को कभी कृष्ण के प्रति ईर्ष्यादि की भावना नहीं होती। श्रीमद्भागवत् का तो कथन है कि एक ही काल मे गोपियाँ अपने पति एव आराध्यदेव कृष्ण दोनों के साथ विराजमान हैं। इसके अर्थ की इस प्रकार सगति बिठाई जा सकती है कि जो नारी अपने पति की सेवा करते हुए विषय वासना से मुक्त हो निरतर भगवच्चिंतन करती है वह दोनों के साथ एक रूप में विद्यमान है और उस पर भगवान् का परम अनुग्रह होता है।

स्वकीया और परकीया के भी मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेद किए गए हैं। मध्या और प्रगल्भा के भी धीरा, अधीरा, धीराधीरा भेद माने गए हैं। रूप गोस्वामी ने काव्यशास्त्रियों की पद्धति पर इनके अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कठिता, विप्रलब्धा, खडिता, कलहांतरिता, प्रोषितपतिका, स्वाधीनभर्तृका आठ भेद किये हैं। प्रत्येक वर्ग की गोपी के पुन तीन भेद—उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा—किए गए हैं।

रूप गोस्वामी ने कृष्ण वल्लभाओं का एक नवीन वर्गीकरण भी उपस्थित किया है। वे साधन सिद्धा, नित्यसिद्धा अथवा देवी के रूप में संमुख आती है। जिन्हें प्रयत्न द्वारा भगवत्प्रेम मिला है वे साधन सिद्धा है। किंतु राधा-चंद्रावली ऐसी हैं जिन्हें अनायास कृष्णप्रेम प्राप्त है। वे नित्यसिद्धा कहलाती हैं। तीसरी श्रेणी उन गोपियों की है जो कृष्ण अवतार के साथ देव योनि से मानव रूप में अवतरित हुई हैं।

इन गोपियों में कृष्ण की प्रधान नायिका राधा है जिसे तंत्र की ह्लादिनी महाशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। यही रासेश्वरी सबसे अधिक सौभाग्यवती है। शेष गोपियों के तीन वर्ग हैं—अधिका, समा और

नायक के रूप में सिद्ध किया गया है। पर इस विलक्षण नायक की विशेषता बताते हुए कहा गया है—

> सर्वज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
> यन्हि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहित॥
> ते तु ब्रह्मपदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृता।
> ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात्पुरा॥

इस नायक की दूसरी विशेषता यह है कि उसने अपने प्रियजनों को निरामय स्वपद प्रदान किया। प्राकृत नायक में यह शक्ति कहाँ संभव है। अत इस नायक का पतित्व एवं उपपतित्व अध्यात्म दृष्टि से एक है। उसने अपने भक्तों की रुचि के अनुरूप अपना स्वरूप बनाया था। वह स्वत पाप-पुण्य, सुख-दुख से परे ब्रह्मतत्व है।

नायिका के रूप में राधा और गोपियों को दिखाया गया है। राधा तो कृष्ण से अभिन्न है—

> राधा कृष्ण एक आत्मा दुइ देह धरी।
> *अन्योन्य विलसे रस आस्वादन करी॥*

राधा कृष्ण एक ही परमतत्व आत्मा हैं जो रसास्वादन के लिए दो शरीर धारण किए हुए हैं। कृष्ण ने ही रासमंडल में अनेक रूप धारण किया है—

"श्री रास मंडले तैमत्रई आपनाकेउ बहू रूपे प्रकाशित करियाछेन"[1]

भक्त आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय-पद्धति पर ही नायिका भेद का विवेचन किया है। किंतु उनके विवेचन में भक्ति का पुट होने से यह पूर्वाचार्यों की मान्य पद्धति से कुछ भिन्न दिखाई पड़ता है। कृष्ण पति और उपपति दोनों रूपों में विवेच्य हैं अतः नायिकाओं के स्वभावतः दो भेद—(१) स्वकीया (२) परकीया—किए गए हैं। हम पूर्व कह आए हैं कि कृष्ण की सोलह सहस्र नायिकाएँ ब्रज में थीं और १ ८ द्वारका में। कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि उनकी प्रेयसियों की संख्या अनंत थी।

नायिकाभेद

यद्यपि कृष्ण के साथ सभी नायिकाओं का गंधर्व विवाह हो गया था किंतु उस गुप्त रखने के कारण वे परकीया रूप में ही सामने आतीं हैं। विश्वनाथ

(१) श्री दुर्गादासप्रथम—श्रीदेव पदावली—पदावलीर द्वारानाथ

चक्रवर्ती ने इस प्रसग को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—'कियन्तः गोकुले स्वीयाऽपि पित्रादिशकया परकीया एव' अर्थात् कितनी स्वीया नायिकाएँ अभिभावकों के भय से परकीया भाव धारण किए हुए थीं। जीवगोस्वामी ने इस रहस्य को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"वस्तुतः परम स्वीयाऽपि प्रकट लीलायाम् परकीयमाना श्रीव्रजदेव्यः"

अर्थात् गोपियो का स्वकीया होते हुए भी परकीया भाव लीलामात्र के लिए है, वास्तविक नहीं।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि गोपियों के पति देव के साथ उनका शारीरिक ससर्ग कभी न होने पर गोपों को कभी कृष्ण के प्रति ईर्ष्यादि की भावना नहीं होती। श्रीमद्भागवत् का तो कथन है कि एक ही काल में गोपियाँ अपने पति एव आराध्यदेव कृष्ण दोनों के साथ विराजमान हैं। इसके अर्थ की इस प्रकार सगति बिठाई जा सकती है कि जो नारी अपने पति की सेवा करते हुए विषय वासना से मुक्त हो निरतर भगवच्चिंतन करती है वह दोनों के साथ एक रूप में विद्यमान है और उस पर भगवान् का परम अनुग्रह होता है।

स्वकीया और परकीया के भी मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेद किए गए हैं। मध्या और प्रगल्भा के भी धीरा, अधीरा, धीराधीरा भेद माने गए हैं। रूप गोस्वामी ने काव्यशास्त्रियों की पद्धति पर इनके अभिसारिका, वासक-सज्जा, उत्कठिता, विप्रलब्धा, खडिता, कलहातरिता, प्रोषितपतिका, स्वाधीन-भर्तृका आठ भेद किये हैं। प्रत्येक वर्ग की गोपी के पुनः तीन भेद—उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा—किए गए हैं।

रूप गोस्वामी ने कृष्ण वल्लभाओं का एक नवीन वर्गीकरण भी उपस्थित किया है। वे साधन सिद्धा, नित्यसिद्धा अथवा देवी के रूप में समुख आती है। जिन्हें प्रयत्न द्वारा भगवत्प्रेम मिला है वे साधन सिद्धा है। किंतु राधा-चद्रावली ऐसी हैं जिन्हें अनायास कृष्णप्रेम प्राप्त है। वे नित्यसिद्धा कहलाती हैं। तीसरी श्रेणी उन गोपियों की है जो कृष्ण अवतार के साथ देव योनि से मानव रूप में अवतरित हुई हैं।

इन गोपियों में कृष्ण की प्रधान नायिका राधा है जिसे तत्र की ह्लादिनी महाशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। यही रासेश्वरी सबसे अधिक सौभाग्यवती है। शेष गोपियों के तीन वर्ग हैं—अधिका, समा और

सम्वी। गोपियों का एक और वर्गीकरण उनके स्वभाव के अनुसार किया गया है। वे प्रखरा, मध्या और मृद्वी भी हैं। गोपियों की प्रवृत्ति के अनुसार वे स्वपक्षा, सुहृत्पक्षा, तटस्था एवं विपक्षा भी होती हैं। इनमें सुहृत्पक्षा एवं तटस्था उज्ज्वल रस की अधिकारिणी नहीं बन सकतीं। केवल राधा के ही भाग्य में रस की साक्षात् उपभोगात्मकता है किंतु अन्य गोपियों में तदनुमोदनात्मकता की ही उपलब्धि होती है।

अन्य काव्य-शास्त्रियों की शैली पर उद्दीपन विभाव संचारी और सात्विक भावों का भी विवेचन उज्ज्वल रस के प्रसंग में विधिवत् मिलता है। नायक के सहायक रूप में ब्रज में मंगुर और भृंगार को, विट रूप में कडार और भारतीबंधु को, पीठमर्द के रूप में श्रीदामन को, और विदूषक के लिए मधुमंगल को चुना गया है। नायिका पक्ष में दूतियों एवं अन्य गोपियों का बड़ा महत्त्व माना गया है। उन्हीं की सहायता से राधिका को उज्ज्वल रस की उप-लब्धि होती है।

स्थायी भाव

प्रत्येक व्यक्ति की कृष्ण-रति एक समान नहीं हो सकती, अतः तारतम्य के अनुसार रूप गोस्वामी ने इसके ६ विभाग किए हैं—(१) अभियोग (२) विषय (३) संबंध (४) अभिमान (५) उपमा (६) स्वभाव।

अभियोग[1]—जब कृष्णरति की अभिव्यक्ति स्वतः अथवा किसी अन्य की प्रेरणा से हो।

विषय[2]—शब्द, स्पर्श गंधादि के द्वारा रतिभाव की अभिव्यक्ति हो।

संबंध[3]—कुल और रूप आदि में गौरव-भावना के द्वारा कृष्ण रति की अभिव्यक्ति।

अभिमान[4]—किसी विशेष पदार्थ में अभिरुचि के द्वारा।

उपमा[5]—किसी प्रकार के सादृश्य द्वारा कृष्ण रति की अभिव्यक्ति।

१—अभियोगो भवेद्भावव्यक्तिः स्वेन परेण च।
२—शब्दस्पर्शादिका पञ्च विषया विषयाः स्मृताः।
३—सम्बन्धः कुलरूपादिधामभूगौरवं भवेत्।
४—सन्तु भूरीणि रम्याणि प्रार्थ्यं स्यादिदमेव मे।
इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते।
५—यथा कथंचित्सम्बन्धः सादृश्यमुपमीरिता।

स्वभाव[१]—बाह्य वस्तु की सहायता बिना ही अकारण जिसमें कृष्ण रति प्रगट होती है।

रूप गोस्वामी का कथन है कि उक्त प्रकार की कृष्ण रति को उत्तरोत्तर उत्तम श्रेणी में परिगणित करना चाहिए।

स्वभाव रति के दो भेद हैं—(१) निसर्ग (२) स्वरूप।

निसर्गरति सुदृढ अभ्यासजन्य सस्कार वश उत्पन्न होती है और स्वरूप रति भी अकारण ही होती है पर यह कृष्ण-निष्ठा अथवा ललना-निष्ठा जन्य होती है। स्वभावजा रति केवल गोकुल की ललनाओ में ही सभव है।

"रतिः स्वभावजैव स्यात्प्रायो गोकुलसुभ्रुवाम्"[१]

मधुरारति नायिका के अनुसार तीन प्रकार की होती है—(१) साधारणी (२) समजसा (३) समर्था।

कुब्जादि में साधारणी मधुरा रति पाई जाती है और रुक्मिणी आदि कृष्ण महिषियो में समजसा। समर्थामधुरारति की अधिकारिणी एकमात्र गोकुल की देवियाँ हैं। रूप गोस्वामी ने साधारणी मधुरारति की मणि से, समजसा की चिंतामणि से किंतु समर्था की कौस्तुभ मणि से उपमा दी है। यही समर्था मधुरारति, जिसका उद्देश्य एक मात्र कृष्ण की प्रसन्नता है, उज्ज्वल रस में परिणत हो जाती है। क्योंकि महाभाव[२] की दशा तक पहुँचने की सामर्थ्य इसी मधुरारति में पाई जाती है। उद्धव इसी महाभाव दशा में पहुँची हुई गोपियों का स्तवन करते हैं।

समर्थामधुरारति प्रगाढता की दृष्टि से ६ स्तरों से पार होती हुई उज्ज्वल रस तक पहुँचती है। रूप गोस्वामी ने उनको प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग तथा अनुराग नाम से अभिहित किया है। जिस प्रकार इक्षु से रस, गुड़, खड, शर्करा, सिता, और सितोपला उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर होता जाता है

१—रूप गोस्वामी—उज्ज्वल नीलमणि, पृ० ४०३
(निर्णयसागर प्रेस)

२—इयमेव रति प्रौढा महाभाव दशां व्रजेत।
या मृग्या स्याद्विमुक्ताना भक्ताना च वरीयसाम्।
उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४१५

उसी प्रकार मधुरारति प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुराग का रूप धारण कर उज्ज्वल रस में परिणत हो जाती है। रूप गोस्वामी ने उक्त स्थितियों का बड़ा सूक्ष्म विवेचन करके उनके भेद प्रभेद की व्याख्या की है। राग की स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते कृष्णप्राप्ति में मिलने वाली दुःखद बाधायें सुखद बन जाती हैं। राग के दो प्रकार हैं—(१) नीलिमा राग (२) रक्तिमा राग। नीलिमा राग दो प्रकार का है—नीली राग और श्यामा राग। नीली राग अपरिवर्तनीय और बाहर से अदृश्य पर श्यामा राग क्रमशः सान्द्र होता हुआ कुछ कुछ दृश्य बन जाता है। रक्तिमा राग भी दो प्रकार का है—(१) कुसुम्भ (२) मंजिष्ठ। कुसुम्भ राग तो कुसुम्भी रंग के समान कालांतर में हल्का पड़ जाता है पर मंजिष्ठ राग अपरिवर्तनीय रहता है। उस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता है। मंजिष्ठ राग की मधुरा रति का विवेचन करते हुए श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार मंजिष्ठ रंग वस्त्र के कारण अथवा कालक्रम से अपरिवर्तनीय बना रहता है उसी प्रकार मांजिष्ठ राग की मधुरारति संचारि आदि भावों के विचलित होने पर भी कभी न्यून नहीं होती। यह स्वतः सिद्ध रति अपने प्रियतम के प्रति उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर जाती है

जब भक्त की मांजिष्ठराग की स्थिति परिपक्व बन जाती है तो अनुराग उत्पन्न होता है। अनुराग का लक्षण देते हुए रूप गोस्वामी कहते हैं—

> सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
> रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥

जब प्रियतम के प्रति सर्वदा आस्वादित होता हुआ राग नित्य नया बनता जाता है तो अनुराग की स्थिति आती है। अनुराग की परिपक्वावस्था भाव अथवा महाभाव कहलाती है। इसके भी दो सोपान हैं—(१) रूढ़ (२) अधिरूढ़। अधिरूढ़ में प्रियतम का एक क्षण का वियोग भी असह्य हो जाता है और वह एक क्षण कल्प के सदृश दीर्घकालीन प्रतीत होता है। इस स्थिति में असह्य वेदना भी सुख का कारण जान पड़ती है। रासलीला की नायिकाओं की यही स्थिति है।[1]

१—रूप गोस्वामी—उज्ज्वलनीलमणि पृ ४२४

रास साहित्य और सदाचार

वैष्णव राससाहित्य में कृष्ण और गोपियों का स्वच्छन्द विहार देखकर कतिपय आलोचक नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं। इसका मूल कारण है स्थापत्य कला और साहित्य में भारतीय दर्शन के उपस्थापन पद्धति से अनभिज्ञता। जो लोग जगन्नाथ और कोणार्क के देवालयों पर मिथुन मूर्त्तियों को देखकर मन्दिरों को घृणित मानते हैं उनका दोष नहीं, क्योंकि वे भारतीय सस्कृति और भारतीय मदिर - निर्माण - प्रणाली से अनभिज्ञ होने के कारण ही ऐसा कहते हैं।

तथ्य तो यह है कि हमारे देश की मूर्ति कला, चित्रकला और साहित्य में प्रतीक योजना का बड़ा हाथ रहा है। जो हमारी प्रतीक योजना से अनभिज्ञ रहेंगे वे हमारी सस्कृति के मर्म समझ नहीं सकेंगे। हमारी सभ्यता एव संस्कृति के अनेक उपकरणों पर मिथुन विद्या का प्रभाव परिलक्षित होता है। जिस प्रकार मदिरों पर उत्कीर्ण मिथुन मूर्त्तियाँ गभीर दार्शनिक तत्त्व की परिचायक हैं उसी प्रकार रासलीला में कृष्ण के साथ राधा और गोपियों का रमण भी गभीर दार्शनिकता का सूचक है। इस मर्म को समझे बिना वास्तविक काव्य रस (उज्ज्वल रस) की उपलब्धि सभव नहीं।

जगन्नाथ के मदिर के दर्शक चार प्रकार के होते हैं। कुछ दर्शन बाह्य प्रदेश में स्थित मिथुन मूर्त्तियों को अश्लीलता एव असभ्यता का चिह्न मान कर उसे देखना असभ्यता का लक्षण समझते हैं। दूसरे कलाविद् कलाकार की कला पर मुग्ध होकर उसकी सराहना करते हैं? तीसरे सामान्य भक्त दर्शक उसकी ओर बिना ध्यान दिए ही मदिर में भगवान् का वास समझ कर दूर से दंडवत करते हुए आनंदित होते हैं किंतु चैतन्य महाप्रभु सदृश दर्शक मदिर का वास्तविक रहस्य समझ कर आनद - विभोर हो उठते हैं और समाधिस्थ बन जाते हैं। उसी प्रकार राससाहित्य के पाठक एवं रासलीला के प्रेक्षकों की चार कोटियाँ होती है। कतिपय अश्रद्धालु इसमें अश्लीलता आरोपित कर पढना अथवा देखना नहीं चाहते। काव्य-रसिक कवि की काव्य कला

१—एक युग के मंदिरों पर अष्ठ मिथुन युग्म का विधान आवश्यक माना जाता था। इनके अभाव में "मदिर प्रतीक से सवद्ध सृष्टि के सभी सङ्केत पूर्ण न होंगे और प्रासाद प्रतीक का निर्माण अपूर्ण रह जायगा। इसलिए मदिरों पर अष्ट मिथुन का बनाना अनिवाय सा है।" मिथुन मूर्त्तियों की सख्या एक, आठ अथवा पचास रखी जाती है।

की सराहना करते हुए इसके अलंकार, गुण, रीति एवं शृंगार रस की मर्यादा करते हैं। श्रद्धालु जनता गूढार्थ समझने की सामर्थ्य न होने से राधा-कृष्ण प्रेम के पठन और दर्शन से आत्म कल्याण मानकर उससे आनंदित होती है, पर मूल रहस्य को समझने वाले पहुँचे हुए प्रभु भक्तसाहित्यिक को इसमें शंकरदेव, चैतन्य, वल्लभ, हरिवंश, रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, पोतना, विट्ठलदास तुर्वे की मनः स्थिति का अनुभव होने से एक विलक्षण प्रकार के रस की अनुभूति होती है, जिसे आचार्यों ने उज्ज्वलरस के नाम से अभिहित किया है।

जिस प्रकार लोल्लट शंकु, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त ने रसानुभूति तक पहुँचने की मनःस्थिति की व्याख्यायें की हैं उसी प्रकार रूप गोस्वामी जीव गोस्वामी, शिवस्वरूप मिश्र, कवि कर्णपूर, गोपालदास पीताम्बरदास, नित्यानंद प्रभृति भक्त आचार्यों ने उज्ज्वल रस के अनुभूति-क्रम की व्याख्या प्रस्तुत की है। रास साहित्य की यह बड़ी विशेषता है कि इसने काव्य के क्षेत्र में एक नए रस का सफलतापूर्वक उपस्थापन किया ए काव्य रसों के समान इसके भी अनुभाव विभाव एवं संचारी भावों की व्याख्या प्रस्तुत हुई।

रासलीला का मुख्य स्थल देवालय होते हैं। हमारे देवालयों के प्रांगण और मध्यस्थ विशाल होते हैं। इन्हीं स्थलों पर भारत के कोने कोने से समवेत यात्री भगवान् की लीला देखने को उत्सुक रहते हैं। हमारे देवालयों की रचना में कलाकार का शाश्वत उद्देश्य होता है। देवालय में एक अमृत कलश होता है जिसके ऊपर कमल कलिका का ऊर्ध्व भाग बिंदुस्थान है, जो नाद बिंदु के रूप में साकार सृष्टि का आरंभ है। बंद कमल अविकसित सृष्टि का संकेत है। यहाँ से आनंद स्वरूप परमात्मा आकार ग्रहण करने लगता है। इस भावना को आनंदामृत के घट में स्वर्णमयी पुरुष प्रतिमा की स्थापना कर व्यक्त किया जाता है। यह वेदांतियों का आनंदघट, वैदिकों का सोमघट, शाक्तों और वैष्णवों की कामकला या समरसघट, जैनों का केवलज्ञान और बौद्धों की शून्यता और करुणा है। बिंदु आनंद को लेकर आत्मविस्तार करने लगता है, और आमलक वृत्त अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति का रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार आमलक की संख्या तीन भी हो सकती है। प्रकृति का आमलक-वृत्त फैलता हुआ सृष्टि का विस्तार करता चलता है। इसमें देवलोक, मर्त्यलोक, पाताल, देव दानव, किन्नर यक्ष पशु-पक्षी

मानव, मिथुनादि की सृष्टि करता हुआ यह वृक्ष भूचक्र के चतुष्कोण में बढ़ कर स्थिरता प्राप्त करता है और आकार ग्रहण करता है।"

"ऊपर अमृत कलश से नीचे प्रासाद के चतुष्कोण तक अष्ट - भिन्ना प्रकृति का विकास लतागुल्म, पशु-पक्षी, मिथुन, देव-दानव आदि के रूप में दिखाया जाता है। यही अष्ट प्रकृति (पञ्च तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) अष्टकोण के रूप में दिखाई जाती है। यही अष्ट-प्रकृति अष्ट दल कमल के रूप में अंकित की जाती है।"

"भित्तियों पर हंस की प्रतिकृति दिखाई जाती है। हंस प्राचीन काल से जीव का प्रतीक माना जाता है। मुख्यप्रासाद के समीप खचित मंजरियों और शृंग के ऊपर धातु विनिर्मित कँगूरों और कलशों पर पड़ कर चमकते हुए सूर्य, चन्द्र और ग्रह नक्षत्रों के प्रकाश अनंत आकाश में चमकने वाले तारों के रूप में लोकों के प्रतीक हैं और ऊपर उठता हुआ प्रासाद अनंत व्योम में वर्त्तमान परम पुरुष का प्रत्यक्ष रूप है।"

देवालयों पर खचित देव, गंधर्व, अप्सरा, यक्षादि मूर्त्तियों के हाथों में ढाल, तलवार, वाद्य यन्त्र दिखाई पड़ते हैं। ये नर्त्तन करते हुए गगनगामी रूप में प्रतीत होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्नमय कोष वाले प्राणी के समान ये केवल धरा पर रहने वाले नहीं। प्राणमय शरीरी होने से इनकी अव्याहत गति अंतरिक्ष में भी है। वाद्य यन्त्र बजाते और नाचते गाते हुए ये जगत् स्रष्टा परम पुरुष की आराधना में तल्लीन अमृतत्व की ओर उड़ते जा रहे हैं। यह मानो 'परम पद की प्राप्ति के लिए जीव मात्र के उद्यम का प्रतीक है।"

इसी प्रकार मिथुन मूर्त्तियाँ वेद के द्यौ और पृथिवी हैं। 'मंदिरों पर अष्ट मिथुन का बनाना अनिवार्य सा है।' इन मिथुन मूर्त्तियों का तात्पर्य अष्ट प्रकृति के साथ चैतन्य का मिलन है। चेतन के बिना अष्ट प्रकृति निष्क्रिय है। उसमें सक्रियता लाने वाला चेतन पुरुष ब्रह्म है। ब्रह्म के इन मिथुन रूपों की पूजा का विधान है। इस मिथुन प्रतीक में परमानंद के उल्लास से सृष्टि के आरंभ की, ब्रह्म-जीव की लीला की और जीव के मोक्ष की क्रिया अंकित की जाती है।

जनता इस सिद्धांत को विस्मृत न कर दे, इस कारण शिलालेखों पर मनीषियों ने मंदिर-दर्शकों को आदेश दिया है कि जिस शुद्ध बुद्धि से ये

मिथुन मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं उसी पावन भावना से इनका दर्शन एवं पूजन विहित है।[1]

यद्यपि इन मिथुन मूर्त्तियों के निर्माण का अत्यधिक प्रचार मध्ययुग में हुआ तथापि ईसा से पूर्व निर्मित साँची के देवालयों में भी इन मिथुन मूर्त्तियों का दर्शन होता है।[2]

उपनिषद् में भी ब्रह्म-जीव एवं पुरुष-प्रकृति की मिथुन भावना का वर्णन इस प्रकार मिलता है—'ब्रह्म को जब एकाकीपन खलने लगा तो उसने अपना स्त्री पुरुष मिश्रित रूप निर्मित किया। उससे पति-पत्नी का आविर्भाव हुआ। उस युग्म से मानव सृष्टि हुई—[3]

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत् स ह एतावान् आस यथा स्त्री पुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इमम् एव आत्मानं द्वेधा अपातयत्। तत पतिश्च पत्नी च अभवताम्। तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्वः इति ह स्म आह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयम् आकाशः स्त्रिया पूर्यत एव 'तां समभवद्' ततो मनुष्या अजायन्त।

ऐसे वातावरण में रासलीला का विधान है। जिस प्रकार मिथुन मूर्त्तियों का निर्माण गृहस्थों के भवनों पर वर्जित है, उसी प्रकार रासलीला का अभिनय केवल देव स्थानों पर विहित है। रासलीला धारियों का वय आठ तक आठ वर्ष से अधिक गर्हित माना जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस गूढ़ पावन भावना से सिद्ध भक्तों ने रास की रचना की उसी भावना से इस काव्य का पठन पाठन एवं प्रदर्शन होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि रास का शृंगार रस उज्ज्वलरस के रूप में तभी आस्वाद्य अथवा आस्वाद्य बनेगा जब रचयिता की मन स्थिति तक पहुँचने का प्रयास किया जायगा।

1—Sirpa Inscripti Epigraphic Indica, Vol XI Page 190

2—The earliest Mithuna y t known is carv d on one of the earliest mo um s Yet Kn w le-of about the Cen. B C. in Sanchi Stupa II" Marshall foucher.

३—बृहदारण्यक १ ४ ३

जैन रासों में काव्य-तत्त्व

जैन रासो के रचयिता प्राय. जैनाचार्य ही रहे हैं । यद्यपि उन महात्माओं के दर्शनार्थ राजे महाराजे, श्रेष्ठी एव सामत भी आया करते थे तथापि उनका सपर्क विशेपकर ग्रामीण जनता से ही रहता था । अशिक्षित एव अर्द्ध-शिक्षित ग्रामवासियों के जीवन को धार्मिकता की ओर उन्मुख करके उन्हें सुख-शाति प्रदान करना इन मुनियों का लक्ष्य था । अतएव जैन कवियों ने सवदा जनभापा और प्रचलित मुहावरो के माध्यम से अपनी धार्मिक अनुभूतियों को कलात्मक शैली में जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया । उनकी कलात्मक शैली में तीन कलाओं—सगीत कला, नृत्य कला एव काव्य कला—का योग था । लोकगीतो में व्यवहृत राग-रागिनियों का आश्रय लेकर नृत्य के उपयुक्त काव्यसृजन उनका ध्येय था । उन कवि जैनाचार्यों से जन-सामान्य की दर्शन एव काव्य-सबधी योग्यता छिपी नहीं थी । अतएव उन्होंने इस तथ्य को सदा ध्यान में रखा कि दर्शन एव काव्य का गूढातिगूढ भाव भी सहज बोधगम्य बनाकर पाठकों के समुख रखा जाय ताकि उन्हें दुर्बोध न प्रतीत हो । इसी कारण अलकार-नियोजन एव रसध्वान के प्रयोग में वे सदा सतर्क रहा करते थे । इसका परिणाम यह हुआ कि सहज बोधगम्य होने से उनके काव्य आज भी ग्रामीण जनता के प्राण और धर्म पथ के प्रदर्शक बने हुए हैं ।

यद्यपि जैन रासो में प्राय. सभी मुख्य अलकारो की छटा दिखाई पड़ती है तथापि उपमा के प्रति इनकी विशेप रुचि प्रतीत होती है । जैनाचार्य प्रायः

अलङ्कार

अपनी अनुभूति को सरल-सुबोध किंतु सरस पदावली में कहने के अभ्यासी होते हैं । सभी प्रकार के अनुप्रास द्वारा इनकी वाणी में मनोरमता आती जाती है । किंतु जहाँ किसी सूक्ष्म विपय का चित्र सामान्य जनता के मस्तिष्क में उतारना पड़ता है वहाँ ग्राम्य जीवन में व्यवहृत स्थूल पदार्थों के माध्यम से एक के पश्चात् दूसरी तत्पश्चात् तीसरी उपमा की झड़ी लगाकर वे अपने विपय को रोचक एव सहज बोधगम्य बना देने का प्रयास करते हैं । प्रमाण के लिए देखिए । तपस्वी गौतम स्वामी के सौभाग्य गुण आदि का वर्णन करते हुए कवि विनयप्रभ कहते हैं—जैसे आम्रवृक्ष पर कोयल पचम स्वर में गाती है, जैसे सुमन-वन में सुरभि महक उठती है, जैसे चदन सुगध की निधि है, जैसे गगा के पानी में लहरें लहराती हैं, जैसे कनकाचल सुमेरु पर्वत अपने

मन में प्रस्तुत विषय को स्पष्ट कराते समय अनेक नए तथ्यों का उद्घाटन भी करना पड़ता है।

> जिम सुर तरुवर सोहे साखा जिम उत्तम मुखे मधुरी भाषा
> जिम वन केतकी महमहे ए,
> जिम भूमिपति भूय बल चमके जिम जिन-मंदिर घंटा रणके
> गोयम लब्धे गहगहे ए ॥

इस छंद में सोहे, महमहे, गहगहे, चमके, रणके आदि शब्दों की अनुप्रास छटा के साथ साथ अवसर के उपयुक्त शब्दों का चयन कवि की प्रतिभा का द्योतक है। सुरतरुवर और उत्तम पुरुष का मुख सुशोभित होता है, केतकी से वन महमह करता है। भुजबल से भूमिपति चमकता है और घंटा से जिन मंदिर रणक उठता है। इसे काव्य नहीं तो और क्या कहा जा सकता है।

गौतमस्वामी रास में उपलब्ध उपमा की शैली अठारहवीं शताब्दी के कवि भीखन में भी दिखाई पड़ती है। एक स्थान पर कवि कहते हैं—

> सर सर कमल न नीपजै वन वन चंदन न होय
> घर घर संपति न पामिए, जन जन पंडित न होय
> गिरिवर गिरिवर गज नहीं, फल फल मधुर न स्वाद
> सबही काठ हीरा नहीं चंदन नहीं सब बाग
> रयणागिरि हीरों तिहुँ नहीं मणिधर नहीं सब नाग,
> सबही पुरुष सुगा नहीं सब ही नहीं ब्रह्मचार।
> सबही सीप मोती नहीं केशर नहि पामीयास
> सगला गिरि में स्वर्ण नहीं नहि कस्तुरी गो ग्रास ॥

ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी की विशेषता और दुर्लभता का ज्ञान कराने के लिए कवि ने कितनी ही उपमायें एकत्रित कर दी हैं।

इसी युग के पंजाब के प्रतापी कवि गुरु गोविंद सिंह के वैष्णव रास का काव्य सौंदर्य देखिए—

शारदीय ज्योत्स्ना में यमुना-पुलिन पर रास मंडल की धूम मची है। ..... रासमंडल के अमृत सागर में किस प्रकार कल्लोल कर रही हैं—

जल में सफरी जिम केलि करै तिम ग्वारनियाँ हरि के सँग डोलैं।
ज्यों जन फाग को खेलत हैं तिहि भाँतिहि कान्ह के साथ कलोलैं ॥
कोकिलका जिम बोलत है तिम गावत ताकी बराबर बोलैं।
स्याम कहै सभ ग्वारनियाँ इह भाँतन सो रस कान्ह निचोलैं ॥

कविवर की दृष्टि में इस रास मडल का प्रभाव गोपीजन एव पृथ्वी-मडल तक ही परिसीमित नहीं, इसके लिए सुरवधुएँ एव देवमडल भी लालायित है।[1]

खेलत ग्वारन मद्धि सोऊ कवि स्याम कहै हरि जू छवि वारो।
खेलत है सोउ मैन भरी इनहूँ पर मानहु चेटक डारो ॥
तीर नदी ब्रिज भूमि विखै अति होत है सुदर भाँत अखारो ॥
रीझ रहै प्रिथवी के सभै जन रीझ रह्यो सुर मडल सारो।

रास मडल में नर्त्तन करते समय नृत्य और सगीत की ध्वनि से गधर्वगण और नृत्य सौंदर्य से देवबधुएँ भी लज्जित हो जाती हैं—[2]

गावत एक नचै इक ग्वारिन तारिन किंकिन की धुनि बाजै।
ज्यों म्रिग राजत बीच म्रिगी हरि त्यों गन ग्वारिन बीच बिराजै ॥
नाचत सोउ महाहित सो कवि स्याम प्रभा तिनकी इम छाजै।
गाइब पेखि रिसै गन गध्रब नाचब देख बधू सुर लाजै ॥

पजाबकेसरी एव भारतीयता के पुजारी गुरु गोविन्द सिंह की रास रचना में भाषा का माधुर्य और भावों की छटा देखते ही बनती है। किंतु रास रचना का यह क्रम पजाब में कदाचित् समाप्तप्राय हो गया। किंतु आसाम में शकर देव से आज तक इसकी धारा निरतर प्रवाहित होती जा रही है। जैनरास की यह विशेषता है कि इसकी परपरा एक सहस्र वर्ष से अविच्छिन्न बनी हुई है। जैनाचार्य अद्यापि लोकगीतों में व्यवहृत राग-रागिनियों का आश्रय लेकर रास और रासान्वयी काव्य की रचना करते चले जा रहे हैं।

तेरा पथी के नवें आचार्य श्री तुलसी ने सवत् २००० वि० के समीप 'उदाई राजा' के जीवन पर उपदेशप्रद रास की रचना की है। जिसका साराश इस प्रकार है—

१—गुरु गोविंद सिंह—कृष्णावतार—छद ५३०
२— ,, ,, ,, ५३१

समाज में प्रचलित वैवाहिक रीतियों के आधार पर विवाह-बंधन से मुक्त होने की शिक्षा देते हुए कहते हैं—

"अब दूल्हा बिचारा मायाजाल में पूर्णतया फँस जाता है। उसे कन्या पक्ष के सामने हाथ जोड़कर चाकर की तरह खड़ा रहना पड़ता है। विषयांध दूल्हे को यह विस्मृत हो जाता है कि इस मायाजाल का दुष्परिणाम उसे कितना भोगना पड़ेगा। उसे परिवार का संचालन करने को चोरी, हत्या, झूठ दासता और चाटुकारिता के लिए बाध्य होकर अपना जीवन विनष्ट करना होगा[1]।—

> घर बिच्चा कामी बसी दिन मूरता जाय।
> बाढ़ै झूरी तिरकसी, तरफे फाँसी माँय।
> चोर कसाई भरण हणो मूढ गुलामी वेढ।
> इसरा काम अधवर, तोइ भीड भरीजै पेट॥

विवाह के ऋण से उऋण होने के लिए नाना कष्टों का सामना करते हुए वर की दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। ब्याह ऋण समाप्त होता ही नहीं तब तक पुत्र-पुत्रियों की लम्बावस्था के कारण भरण-चिंता, उनकी शिक्षा और दीक्षा उनके विवाह का भार, उत्सव के समय मित्रों एवं कुटुंबियों का भोज देने का व्यय सर पर आ पड़ता है और सारा जीवन भूलवारणी बन जाता है। अतएव घर की संपत्ति गँवाकर मायाजाल मोल लेने वाले की मूर्खता को क्या कहा जाय।

> परण्यों जब जनम दुखी अब भयो तन छोक।
> पाछे बाँधी करजपणी, अब रुपिया जीवा जोक॥

इसके विपरीत युगदास की का 'ब्याहुला' सखियों के विनोद का परिणाम है। वे राधाकृष्ण के सेवारस में ऐसी पगी हुई हैं कि इनके अतिरिक्त उन्हें और कुछ रुचता ही नहीं। राधा और कृष्ण मौर मौरी पहन कर विवाह वेदी पर आसीन हैं। उनकी शोभा का वर्णन करते हुए प्रभुदास कहते हैं—

> बखसत सिंगारे अंग अंगनि सकल तन की छवि बनी।
> मौर मौरी सीस सोहै मैन पानिप सुख घनी॥
> जड़ाव सुमननि सेहरे रचि रतन हीरे जगमगी।
> देखि अद्‌भुत रूप मनमथ कोटि रति पाइन लगी।

---

[1]—मीखद स्वामी ब्याहुला छर १८

जहाँ भीखण स्वामी ने मौर-मौरी, मेंहदी आदि को दुख का कारण बताया है वहाँ ध्रुवदास जी ने राधा कृष्ण के सपर्क से इन पदार्थों का आनंद-दायक होना सिद्ध किया है—

सुरँग महदी रग राचे चरन कर अति राजही।
विविध रागनि किंकिनी अरु मधुर नूपुर बाजही॥

उस शोभा को देखकर—

'तिहिं समै सपि ललितादि हित सों हेर प्रानन वारही।
एक वैस सुभाव एकै सहज जोरी सोहनी।'

भक्त ध्रुवदास प्रभुप्रेम की डोरी को मुक्ति से अधिक श्रेयस्कर मान कर कहते हैं—

'एक डोरी प्रेम की 'ध्रुव' बँधे मोहन मोहनी'[१]

यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर वैष्णव और जैन कवियों की साधना-पद्धति और काव्य-शैली में भेद दिखाई पड़ता है किंतु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों को हम एक ही भूमिका पर पाते हैं।

आत्मानुभूति की अजस्र धारा में देशकाल, जातिधर्म, स्व-पर का भेद-भाव विलीन हो जाता है। जब अनुभूति आत्मिक व्यापार का सहज परिणाम बन जाती है तो उसकी परिधि में प्रवेश पाने को सत्य, शिव और सौंदर्य लालायित हो उठते हैं। अलकार, छद, रस आदि काव्यगुण हाथ जोडे उस दिव्य दृष्टि की प्रतीक्षा करते हैं। भक्त कवि की अनुभूति के अखंड राज्य में उन सबके उपयुक्त स्थान निर्द्धारित रहता है। वे स्वतः अपने अपने स्थान पर विराजमान हो जाते हैं, भक्त कवि उन्हें आमन्त्रित करने नहीं जाते। इसी कारण कहा जाता है कि 'समस्त काव्य शैलियों और काव्य स्वरूपों में अनुभूति की अखड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयों ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्व भौमिकता सिद्ध की'।

यह सभव है कि कोई उपासक कवि अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति में पूर्णतः एकरूपता स्थापित न कर पाए, पर यदि उसकी अनुभूति परिपक्व है तो उसकी अभिव्यक्ति में आदर्शमय साधन का अभाव भी उसकी रचना को काव्यक्षेत्र से वहिष्कृत करने में समर्थ नहीं हो सकता। तथ्य तो यह है कि

---

१ ध्रुवदास, व्याहलो, हस्तलिखित प्रति (का० ना० प्र० स०) पृष्ठ २

समाज में प्रचलित वैवाहिक रीतियों के आधार पर विवाह-बंधन से मुक्त होने की शिक्षा देते हुए कहते हैं—

"अब दूल्हा बिचारा मायाजाल में पूर्णतया फँस जाता है। उसे कन्या पक्ष के सामने हाथ जोड़कर चाकर की तरह खड़ा रहना पड़ता है। विपर्यास दूल्हे को यह विस्मृत हो जाता है कि इस मायाजाल का दुष्परिणाम उसे कितना भोगना पड़ेगा। उसे परिवार का संचालन करने को चोरी, हत्या, झूठ, दासता और चाटुकारिता के लिए बाध्य होकर अपना जीवन विनष्ट करना होगा"[1]।—

घर चिन्ता लागी बड़ी दिन दुलहा जान।
पहले करे सिरमौर, हरके फाँसी मौच।
चोर कसाई मरन लगो सूत गुलामी चेट।
इतरा बाबा आदर, छोड़ बीच मरीबे पेट॥

विवाह के ऋण से उऋण होने के लिए माता पिता का सामना करते हुए वर की दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। ब्याह प्रायः समाप्त होता ही नहीं तब तक पुत्र-पुत्रियों की रुग्णावस्था के कारण भ्रम-चिन्ता उनकी शिक्षा और दीक्षा, उनके विवाह का भार उत्सव के समय मित्रों एवं कुटुंबियों को भोज देने का व्यय सर पर आ पड़ता है और सारा जीवन दुःखदायी बन जाता है। अतएव घर की सम्पत्ति गँवाकर मायाजाल मोल लेने वाले की मूर्खता को क्या कहा जाय।

परबस्यो जब जनम हुतो जब जायो तब सीख।
गये बाँधी कर्मेपची, अब बचिया बीता बोल॥

इसके विपरीत ध्रुवदास जी का ब्याहुला सखियों के विनोद का परिणाम है। वे राधाकृष्ण के खेलरस में ऐसी पगी हुई हैं कि इनके अतिरिक्त उन्हें और कुछ रुचता ही नहीं। राधा और कृष्ण मौर मौरी पहन कर विवाह वेदी पर आसीन हैं। उनकी शोभा का बयान करते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

बसन सिंगारे अंग अंगनि अलक तन की छवि बढ़ी।
मोर मौरी सीस सोहै सीस पाटिन गुहि चढ़ी॥
बरन सुमननि सेहरे रचि रतन हीरे जगमगी।
देखि अद्भुत रूप मनमथ कोटि रति पाइन लगे।

१—श्रीध्रुव स्वामी ब्याहुला पद १८

गणि जैसे पंडित आदि विख्यात है। इन लोगों की जीवनगाथा का सत्य परिचय हमें इन रास ग्रंथों में उपलब्ध है जिन्हें उनकी शिष्य-परंपरा ने सुरक्षित रखा है। कुमारपाल, वस्तुपाल, जगडु आदि रास काव्यों में इस प्रकार के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

४—हमारे देश के इतिहास में जिस प्रकार राजवंशों की कार्यावलियों को अखंड रखने की परिपाटी थी उसी प्रकार रासकाव्यों में जैनाचार्यों की शिष्य परंपरा द्वारा उनके कृत्यों एवं विचारों को सुरक्षित रखने की दीर्घ परंपरा चली आ रही है। इन आचार्यों के विविध गच्छ थे जिनमें आगम गच्छ, उपकेश गच्छ, खरतर गच्छ, तपा गच्छ, रत्नाकर गच्छ, अचल गच्छ, वृद्धतपो गच्छ, सागर गच्छ प्रभृति प्रमुख गच्छों के अनेक आचार्यों के जीवन का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होता है। इन आचार्यों ने समाज के सदाचार-रक्षण एवं अध्यात्म-चिंतन में अपना तपोमय जीवन समर्पित कर दिया। अतः उनका जीवन-काव्य समाज के एक उपयोगी अंग का परिचय देने में सहायक सिद्ध होता है।

५—जिस प्रकार डा० फ्लीट आदि विद्वानों ने पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर पौराणिक काल की सभ्यता एवं संस्कृति, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थितियों का विवरण प्रस्तुत किया है उसी प्रकार कई विद्वानों ने रासमाला के आधार पर पश्चिमी भारत के सांस्कृतिक एवं राजनैतिक इतिहास का निर्माण किया है। पट्टावलियों में जैनाचार्यों के काल का यथातथ्य रूप में वर्णन मिलता है। पट्टाधीश आचार्यों की जन्मतिथि, शिक्षा-दीक्षा आदि का संकेत प्रत्येक रास की प्रशस्ति अथवा कलश में विद्यमान है। अतः इनके द्वारा मध्ययुगीन सांस्कृतिक चेतना का विकास समझने में सहायता मिलती है।

६—जन सामान्य की बोधगम्यभाषा एवं काव्य-शैली में मानवोपयोगी नीति नियमों, धार्मिक सिद्धांतों के उपदेश का स्तुत्य प्रयास रास काव्य में प्रायः सर्वत्र परिलक्षित होता है। इस प्रयास से जन साधारण का मंगलमय इतिहास निर्मित हुआ है। उस इतिहास की झाँकी देखकर जीवन को विकसित करने का सुअवसर प्राप्त होता है। रास काव्य की यह विलक्षणता कि इसमें काव्य, इतिहास एवं धर्म-साधना की त्रिवेणी का एकत्र दर्शन होता है।

'जिस अनुभूति में अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं होती वह अनुभूति न होकर कोरी हीरविता या मानसिक अमुहाई मात्र है।'

जीवन के परमतत्त्व का संदेश विरले ही कवि सुन पाते हैं और उन्हें काव्यरस में संपृक्त करके वितरित करनेवाले तो और भी दुर्लभ हैं। रास के कतिपय मेधावी कवि उन्हीं कवियों में परिगणित होने योग्य हैं जिनकी लेखनी से काव्यकला धन्य बन गई।

रास साहित्य की उपयोगिता

१—समाज के ऐसे वर्ग का स्वाभाविक परिचयचित्रण जिसने जीवन के भोगों का सामना करते हुए गुरुदीक्षा और तपसाधना के बल पर आमुष्मिकता की ओर अपने मन को उन्मुख किया। उन तपस्वी मनीषियों को भिन्न-भिन्न बाधाओं एवं प्रलोभनों से युद्ध करना पड़ा, उनका मनोहारी आख्यान इन ग्रंथों में अंकित मिलता है। सांसारिकता के पंक से पंकिल सूक्ष्म मानस, काया अध्यात्म-गंगा में स्नान करने पर जिस प्रक्रिया द्वारा दिव्य एवं जगमंगलकारी बन सकती है उसकी व्याख्या हमें इन रासकाव्यों में मिलती है। अतः परिचयविकास का क्रम समझने में ये रासकाव्य सहायक सिद्ध होते हैं।

२—भारतीय इतिहास-निर्माण में राजा महाराजाओं के विजय-विलासों, अन्वयरागों एवं सैन्यशक्तियों का ही योग माना जाता था किंतु जब से विद्वानों का ध्यान अपनी सभ्यता और संस्कृति के उपक्रम-पुरस्सर, सामाजिक गतिविधियों धार्मिक आंदोलनों के उत्थान-पतन की ओर जाने लगा है तब से रास एवं रासान्वयी काव्यों के अनुशीलन की ओर शोध कर्त्ताओं का ध्यान आकर्षित हुआ है। अतः भारतीय चिंता-धारा की सम्यक् ज्ञानोपलब्धि में इन रास काव्यों की उपादेयता मुक्तकंठ से स्वीकार का जाने लगी है।

३—ऐतिहासिकों ने शस्त्र-युद्ध के विजेता और विजित का विवरण तो इतिहास ग्रंथों में सुरक्षित रखा किंतु उन अध्यात्म विजेताओं के जीवन की उपेक्षा की जिन्होंने स्वेच्छा से बड़ी से बड़ी विभूति को ठुकरा दिया और *जिन्हें कामदेव का ब्रीड़ा से ओतप्रोत शत्रु कभी एक क्षण के लिए पराजित न* कर सका। ऐसे योद्धाओं में भरतेश्वर बाहुबली जैसे सामंत, कुमारपाल वस्तुपाल जैसे राजा, अंजनासती जैसी नारी, नेमिकुमार जैसे मुनि, बुद्धिविजय

गणि जैसे पडित आदि विख्यात है। इन लोगों की जीवनगाथा का सत्य परिचय हमें इन रास ग्रथों में उपलब्ध है जिन्हें उनकी शिष्य-परपरा ने सुरक्षित रखा है। कुमारपाल, वस्तुपाल, जगडु आदि रास काव्यों में इस प्रकार के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

४—हमारे देश के इतिहास में जिस प्रकार राजवशो की कार्यावलियों को अखड रखने की परिपाटी थी उसी प्रकार रासकाव्यों में जैनाचार्यों की शिष्य परपरा द्वारा उनके कृत्यों एव विचारों को सुरक्षित रखने की दीर्घ परपरा चली आ रही है। इन आचार्यों के विविध गच्छ थे जिनमें आगम गच्छ, उपकेश गच्छ, खरतर गच्छ, तपा गच्छ, रत्नाकर गच्छ, अंचल गच्छ, वृद्धतपा गच्छ, सागर गच्छ प्रभृति प्रमुख गच्छों के अनेक आचार्यों के जीवन का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होता है। इन आचार्यों ने समाज के सदाचार-रक्षण एव अध्यात्म-चिंतन में अपना तपोमय जीवन समर्पित कर दिया। अत॰ उनका जीवन-काव्य समाज के एक उपयोगी अग का परिचय देने में सहायक सिद्ध होता है।

५—जिस प्रकार डा० फ्लीट आदि विद्वानों ने पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर पौराणिक काल की सभ्यता एव सस्कृति, राजनैतिक एव सामाजिक स्थितियों का विवरण प्रस्तुत किया है उसी प्रकार कई विद्वानो ने रासमाला के आधार पर पश्चिमी भारत के सास्कृतिक एव राजनैतिक इतिहास का निर्माण किया है। पट्टावलियों में जैनाचार्यों के काल का यथातथ्य रूप में वर्णन मिलता है। पट्टाधीश आचार्यों की जन्मतिथि, शिक्षा-दीक्षा आदि का सकेत प्रत्येक रास की प्रशस्ति अथवा कलश में विद्यमान है। अत. इनके द्वारा मध्ययुगीन सास्कृतिक चेतना का विकास समझने में सहायता मिलती है।

६—जन सामान्य की बोधगम्यभाषा एव काव्य-शैली में मानवोपयोगी नीति नियमों, धार्मिक सिद्धातों के उपदेश का स्तुत्य प्रयास रास काव्य में प्रायः सर्वत्र परिलक्षित होता है। इस प्रयास से जन साधारण का मंगलमय इतिहास निर्मित हुआ है। उस इतिहास की झाँकी देखकर जीवन को विकसित करने का सुअवसर प्राप्त होता है। रास काव्य की यह विलक्षणता कि इसमें काव्य, इतिहास एव धर्म-साधना की त्रिवेणी का एकत्र दर्शन होता है।

७—रास काव्यों में कवियों के बुद्धि वैभव, काव्य चमत्कार, अलंकार-छटा, एवं कल्पनाविलास का जो निखरा सौंदर्य दिखाई पड़ता है वह अति रमणीय एवं हृद्य है। अतः काव्यरस की उपलब्धि के लिए यह साहित्य पठनीय है।

८—आलोचकों का एक वर्ग धार्मिक साहित्य को रस-साहित्य में परिगणित न कर कोरी उपदेशात्मक पद्यरचना मानना चाहता है। किंतु ऐसे आलोचक रास साहित्य के उस प्रबल पक्ष की अवहेलना कर जाते हैं जिसका प्रभाव परवर्ती भारतीय साहित्य पर स्पष्ट झलकता है। रास की छंद-शैली कथावस्तु, प्रकृति-निरूपण, दार्शनिक सिद्धांत आदि विविध उपादानों एवं विचारों का मध्यकालीन साहित्य पर प्रभाव स्पष्ट झलकता है। यदि रास काव्यों में काव्य सौष्ठव नितांत उपेक्षित भी होता तो भी यह साहित्य प्रभाव की दृष्टि से भी अध्येय होता किंतु रास-साहित्य में रस की उपेक्षा कहाँ। उपदेशप्रद सिद्धांतों को हृदयंगम कराने की नवीन पद्धति का अनुसरण करते हुए काव्यरस और अध्यात्मरस का जैसा मिश्रण रास साहित्य में देखने को मिलता है वैसा कबीर, सूर, तुलसी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई पड़ता। इसी कारण डा हजारीप्रसाद चंदबरदाई, कबीर एवं सूर को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि इधर जैन अपभ्रंश-चरित काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक संप्रदाय के मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। 'धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा।'[१]

९—रास काव्य के रचयिता प्रायः विरक्त साधु-महात्मा होते थे। उनके समस्त जीवन का उद्देश्य आत्म-समर्पण एवं परहित-चिंतन हुआ करता था। जन सामान्य के जीवन को विकासोन्मुख बनाने के विविध साधनों का वे निरंतर चिंतन करते थे। रास की गेय एवं अभिनेय पद्धति का आविष्कार उनके इसी चिंतन का परिणाम है। अत रास काव्यों के अध्ययन से उन

१—हिंदी साहित्य का आदिकाल—डा हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ ११

मनीषियों की मौलिक उद्भावना का ज्ञान प्राप्त होता है, जिन्होंने अनिकेतन रहकर गृहस्थों का मगलमय पथ ढूँढ निकाला था।

१०—हिंदी साहित्य के आदिकाल की जिस विच्छिन्न शृंखला की ओर शुक्ल जी बारबार ध्यान दिलाते थे उसकी कड़ी का ज्ञान इन रास काव्यों के द्वारा सरलता से हो जाता है। कबीर, तुलसी, सूर आदि महाकवियों ने पुरानी हिंदी का जो साहित्य पैतृक-सपत्ति के रूप में प्राप्त किया था उसका अनुसधान इन रास काव्यों के आधार पर किया जा रहा है। अतः इस दृष्टि से भी रास काव्यों का महत्त्व है।

११—रास काव्यों का सबसे अधिक महत्त्व भाषाविज्ञान की दृष्टि से सिद्ध हुआ है। परवर्ती अपभ्रंश एव मध्यकालीन हिंदी भाषा के मध्य जन सामान्य की व्यावहारिक भाषा क्या थी इसका सबसे अधिक प्रामाणिक रूप रास काव्यों में विद्यमान है। अत. न्यूनाधिक चार शताब्दियों तक समस्त उत्तर भारत के कोटि कोटि कठों से गुंजरित होने वाली और उनके सुख-दुख, मिलन-विरह के क्षणों को रससिक्त करने वाली भाषा के लावण्य का मूल्याकन क्या कम महत्त्व का विषय है। तात्पर्य यह है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी रास काव्यों का अनुशीलन साहित्य-शास्त्रियो के लिए अनिवार्य है।

१२—मध्ययुग के सिद्धसतों और प्राणों की आहुति देनेवाले सामंतो ने मानव में निहित देवत्व को जगाने का जो सामूहिक प्रयास किया उसकी अभिव्यक्ति इस रास साहित्य में विद्यमान है। अतः उस काल की धर्मसाधना की सामूहिक अभिव्यजना होने के कारण राससाहित्य का अध्ययन साहित्यिक दृष्टि से वाछनीय ही नहीं अपितु अनिवार्य है। अन्यथा साहित्य केवल शिक्षित जनता की मनोवृत्तियों का दर्पण रह जायगा, 'मानवसमाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति' उसमें न हो पाएगी।

कवि परिचय

जिनदत्तसूरि

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों में आचार्य हेमचंद्र का विशिष्ट स्थान है। उनके प्रभाव से अपभ्रंश साहित्य भी प्रभावित हुआ। संस्कृत और प्राकृत भाषा के विद्वान् आचार्य जनभाषा अपभ्रंश में रचना जनहित के लिए आवश्यक समझने लगे थे। ऐसे ही समय सं० ११३२ वि० में वाच्छिग नामक श्रावक की पत्नी बाहड़ (देवी) के गर्भ से धोलका नामक स्थान में एक शिशु उत्पन्न हुआ। जिसका जन्मजात नाम सोमचंद्र था। सं० ११४१ वि० में इसने धर्मदेवोपाध्याय से दीक्षा ग्रहण की और तत्कालीन प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरि के देहावसान होने पर चित्रकूट में संवत् ११६९ वैशाख बदी छठ को देवभद्राचार्य से सूरि मंत्र लिया। और जिनदत्त सूरि के नाम से प्रख्यात हुए।

बागड़ देश में भ्रमण करते हुए आपने आचार्य जिनवल्लभ सूरि की स्तुति में ११ मात्रावाले कुंद छंद में ४७ कड़ियों की रचना की। तदुपरांत इन्होंने 'उपदेश रसायन रास' की रचना की जिसका परिचय रास के प्रारंभ में दिया गया है।

इनके जन्मस्थान के निर्णय के विषय में उल्लेख मिलता है कि सं० १२ में राजा कुमारपाल के राज्य में एकबार दस्युदल का प्रबल प्रकोप फैला और संभवतः उसी कोपाग्नि में इनकी जन्मभूमि भस्मीभूत हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि तदुपरांत उन्होंने अपने जन्मस्थान से सर्वथा संबंध विच्छेद कर लिया। सं० ११७ वि० में उनके एक शिष्य जिनरक्षित ने पत्तन कवि विरचित एक संस्तुति की प्रतिलिपि धारा नगरी में प्रस्तुत की जिससे इस आचार्य जिनदत्त सूरि की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है—

> व्याख्यायते यत् परमार्थ चैत्य वाचं प्रकाशयति।
> [illegible]
> धर्मः स इवार्थसुन्दः चैत्य वाततिः प्राप्यते।
> वादः स सर्वहितकः यः कण्ठिष्या शुभायते।

संवत् १२११ की आषाढ सुदी एकादशी को अजयमेरु में आप का देहावसान हो गया।

अब्दुल रहमान

सदेश रासक के रचयिता अद्दहरहमाण (अब्दुल रहमान) की जन्म-तिथि अभी तक अनिर्णीत है। किंतु सदेशरासक के अंतःसाक्ष्य के आधार पर मुनि जिन विजय ने कवि अब्दुल रहमान को अमीर खुसरो से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है और इनका जन्म १२ वीं शताब्दी में माना है।

एक दूसरे इतिहास लेखक केशवराम काशीराम[१] शास्त्री का अनुमान है कि अब्दुल रहमान का जन्म १५ वीं शताब्दी में हुआ होगा। शास्त्री जी ने अपने मत का कोई प्रमाण नहीं दिया है। 'सदेश रासक' के छंद तीन और चार के आधार पर इतना निर्भ्रांत कहा जा सकता है कि भारत के पश्चिमी भाग में स्थित म्लेच्छ देश के अतर्गत मीरहुसेन के पुत्र के रूप में अब्दुल रहमान का जन्म हुआ जो प्राकृत काव्य में निपुण था। के० का० शास्त्री का अनुमान है कि पश्चिमी देश में भरुच के समीप चैमूर नामक एक नगर था जहाँ मुसलमानी राज्य स्थापित होने पर अब्दुल रहमान के पूर्वज ने किसी हिंदू कन्या से विवाह कर लिया और उसी वश में अब्दुल रहमान का जन्म हुआ जिसने प्राकृत एव अपभ्रश का अध्ययन किया और अपने ग्रथ की रचना साहित्यिक अपभ्रश के स्थान पर ग्राम्य अपभ्रंश में की।

इस कवि की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है। 'सदेश रासक' की हस्तलिखित प्रति पाटण के जैन भडार में मिली है। इससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि किन्हीं कारणों से कवि पाटण में आकर बस गया होगा और हिंदुओं तथा जैनों के सपर्क में आने से उसने सस्कृत-प्राकृत-अपभ्रश का अभ्यास कर लिया होगा। इससे अधिक इस कवि का और कोई परिचय सभव नहीं।

सुमतिगणि का परिचय

'नेमिनाथ रास' में रासकार सुमतिगणि ने अपने को जिनपति सूरि का शिष्य बतलाया है। आपके जीवन का विशेष परिचय अज्ञात है। श्री भँवरलाल नाहटा का अनुमान है कि आप राजस्थानी थे और आपकी दीक्षा

१—केशवराम काशीरामशास्त्री—कविचरित, भाग १—पृ० १६-१७

कवि परिचय

जिनदत्तसूरि

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों में आचार्य हेमचंद्र का विशिष्ट स्थान है। उनके प्रभाव से अपभ्रंश साहित्य भी प्रभावित हुआ। संस्कृत और प्राकृत भाषा के विद्वान् आचार्य जनभाषा अपभ्रंश में रचना करने के लिए आवश्यक समझने लगे थे। ऐसे ही समय सं ११३२ वि० में वाच्छिग नामक श्रावक की पत्नी बाहड़ (देवी) के गर्भ से धोलका नामक स्थान में एक शिशु उत्पन्न हुआ। जिसका जन्मजात नाम सोमचंद्र था। सं ११४१ वि में इसने धर्मदेवोपाध्याय से दीक्षा ग्रहण की और तत्कालीन प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरि के देहावसान होने पर चित्रकूट में संवत् ११६९ वैशाख वदी छठ को देवभद्राचार्य से सूरि मंत्र लिया। और जिनदत्त सूरि के नाम से प्रख्यात हुए।

वागड़ देश में भ्रमण करते हुए आपने आचार्य जिनवल्लभ सूरि की स्तुति में ११ मात्रावाले छंद में ४७ कड़ियों की रचना की। तदुपरांत इन्होंने 'उपदेश रसायन रास' की रचना की जिसका परिचय रास के प्रारंभ में दिया गया है।

इनके जन्मस्थान के विध्वंस के विषय में उल्लेख मिलता है कि सं० १२ में राजा कुमारपाल के राज्य में एकबार दस्युदल का प्रबल प्रकोप फैला और संभवतः उसी कोपाग्नि में इनकी जन्मभूमि भस्मीभूत हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि तदुपरांत उन्होंने अपने जन्मस्थान से सर्वथा संबंध विच्छेद कर लिया। सं ११७० वि में इनके एक शिष्य जिनरक्षित ने पल्ह कवि विरचित एक संस्तुति की प्रतिलिपि धारा नगरी में प्रस्तुत की जिससे इस आचार्य जिनदत्त सूरि की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है—

> व्याकरणे तद् परमतार्थं येन पार्थं प्रपञ्चयति ।
> ज्ञानागमे यः धीरनाथ कविराजा महाराजपति ॥
> धर्मः स दयामंजुलः येन बालतिः प्राप्यते ।
> नाथः स सर्वजिनः यः वन्दित्वा शुभमते ।

संवत् १२११ की आषाढ सुदी एकादशी को अजयमेरु में आप का देहावसान हो गया ।

अब्दुल रहमान

संदेश रासक के रचयिता अद्दहरहमाण (अब्दुल रहमान) की जन्म-तिथि अभी तक अनिर्णीत है । किंतु संदेशरासक के अंतःसाक्ष्य के आधार पर मुनि जिन विजय ने कवि अब्दुल रहमान को अमीर खुसरो से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है और इनका जन्म १२ वीं शताब्दी में माना है ।

एक दूसरे इतिहास लेखक केशवराम काशीराम[1] शास्त्री का अनुमान है कि अब्दुल रहमान का जन्म १५ वीं शताब्दी में हुआ होगा । शास्त्री जी ने अपने मत का कोई प्रमाण नहीं दिया है। 'संदेश रासक' के छंद तीन और चार के आधार पर इतना निर्भ्रांत कहा जा सकता है कि भारत के पश्चिमी भाग में स्थित म्लेच्छ देश के अंतर्गत मीरहुसेन के पुत्र के रूप में अब्दुल रहमान का जन्म हुआ जो प्राकृत काव्य में निपुण था । के० का० शास्त्री का अनुमान है कि पश्चिमी देश में भरुच के समीप चैमूर नामक एक नगर था जहाँ मुसलमानी राज्य स्थापित होने पर अब्दुल रहमान के पूर्वज ने किसी हिंदू कन्या से विवाह कर लिया और उसी वंश में अब्दुल रहमान का जन्म हुआ जिसने प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्ययन किया और अपने ग्रंथ की रचना साहित्यिक अपभ्रंश के स्थान पर ग्राम्य अपभ्रंश में की ।

इस कवि की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है । 'संदेश रासक' की हस्तलिखित प्रति पाटण के जैन भंडार में मिली है । इससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि किन्हीं कारणों से कवि पाटण में आकर बस गया होगा और हिंदुओं तथा जैनों के संपर्क में आने से उसने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश का अभ्यास कर लिया होगा । इससे अधिक इस कवि का और कोई परिचय संभव नहीं ।

सुमतिगणि का परिचय

'नेमिनाथ रास' में रासकार सुमतिगणि ने अपने को जिनपति सूरि का शिष्य बतलाया है । आपके जीवन का विशेष परिचय अज्ञात है । श्री भँवरलाल नाहटा का अनुमान है कि आप राजस्थानी थे और आपकी दीक्षा

१—केशवराम काशीरामशास्त्री—कविचरित, भाग १—पृ० १६-१७

सं १२६ आषाढ़ शुक्ल ६ को हुई थी। संभवत आपका दीक्षा संस्कार लवणखेटक अर्थात् खेड़पुर में हुआ था। गुर्वावलि से यह ज्ञात होता है कि संवत् १२७१ में जिनपति सूरि अपने शिष्य वर्ग के साथ हरिद्वार में पधारे थे और वहाँ नगरकोट के महाराज पृथ्वीचंद के साथ काश्मीरी राजपंडित मनोदानंद भी विद्यमान थे। पंडित मनोदानंद ने सूरिजी को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया। सूरि जी की आज्ञा से भी जिनपालोपाध्याय और श्री सुमतिगणि शास्त्रार्थ में संमिलित हुए। इन लोगों ने काश्मीरी पंडित को शास्त्रार्थ में पराजित किया।

{ रचनाएँ—

इनकी कई रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें प्रमुख रचना 'गणधरसार्धशतक-वृत्ति' सं १२९५ में विरचित हुई। १२१ ५ श्लोक की टीका भी जो १५ गाथा के मूल पर लिखी गई है आपके रचना-कौशल की परिचायक है। नेमिनाथ रास आपकी प्रारंभिक रचना प्रतीत होती है। आपकी विद्वत्ता के संबंध में गुर्वावलि में इस प्रकार उद्धरण मिलता है, "तथा वाचनाचार्य सूरप्रभकीर्तिचन्द्रवीर प्रभगणि—सुमतिगणि नामानश्चत्वारः शिष्याः महाप्रधानाविष्यकार्तन्त। येषामेकैकोऽप्याकारस्य पतता करयो मम ।

प्रज्ञातिलक

कच्छूली रास के रचयिता प्रज्ञातिलक सूरि का जीवन वृत्तांत विशेष रूप से उपलब्ध नहीं है। इन्होंने कोरंटा नामक स्थान पर सं १३६३ वि में कच्छूली रास की रचना की। कच्छूली आबू के समीप एक ग्राम है जिसका वर्णन इस रास में किया गया है। किंतु चौदहवीं शताब्दी में ऐतिहासिकता की दृष्टि में रखकर रास की रचना इसकी विशेषता है। 'धर्मविधिप्रकरण' के कर्ता विधि मार्गी श्रीप्रभसूरि के शिष्य माणिक्यप्रभसूरि ने कच्छूली ग्राम में पार्श्वजिन भुवन की प्रतिष्ठा की थी। माणिक्यप्रभ सूरि ने अपने स्थान पर उदयसिंह सूरि को स्थापित किया था। इसी उदयसिंह सूरि ने चड्डावलि (चंद्रावती) के रावल धंधल देव के समक्ष शास्त्रार्थ से संघवादी को पराजित किया था। उन्होंने पिंड विशुद्धि विवरण धर्म विधि (वृत्ति) और चैत्यवंदन की रचना की थी। संवत् १३१३ वि में उनका स्वर्गवास हो गया था। तदुपरांत उनके शिष्य कमल सूरि प्रज्ञा सूरि, प्रज्ञातिलक सूरि विख्यात हुए। उसी शिष्य संप्रदाय में प्रज्ञातिलक सूरि ने कच्छूली रास की रचना की।

जिनपद्म सूरि

जिनपद्म सूरि कृत 'स्थूलि भद्र फागु' भाषा-साहित्य में उपलब्ध समस्त फागु काव्यों में द्वितीय रचना है। (समय की दृष्टि से) इस कृति के रचयिता जिनपद्म सूरि जैन श्वेतांबर संप्रदाय के अंतर्गत आये 'खरतरगच्छ' के आचार्य थे। इस खरतर गच्छ की अनुक्रमणिका के अनुसार जिनपद्म सूरि को सं० १३९० में आचार्य पद प्राप्त हुआ था। और सं० १४०० में इनकी मृत्यु हुई थी। इससे ज्ञात होता है कि इस 'फाग' की रचना सं० १३९० से १४०० के बीच में हुई होगी।

इनकी रचना 'स्थूलि भद्र फागु' एक लघुकाय काव्य है जिसमें २७ कड़ियाँ है। इसकी कथावस्तु जैन इतिहास में प्रसिद्ध है।

राजशेखरसूरि

'नेमिनाथ फागु' के रचयिता 'राजशेखर सूरि' हर्षपुरीय गच्छ या मलबार गच्छ के आचार्य और अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनका संस्कृत 'प्रबंध कोश' एवं 'चतुर्विंशति प्रबंध' गुजरात के मध्यकालीन इतिहास को जानने के लिए प्रमुख साधन ग्रंथ है। 'प्रबंध कोश' की रचना सं० १४०५ मे हुई थी। इसके अतिरिक्त कई अन्य संस्कृत ग्रंथों की भी रचनायें इन्होंने की है जिनमें 'न्याय कंदली' 'विनोद-कथा-संग्रह' आदि है। विद्वानो के मतानुसार नेमिनाथ फागु की रचना भी 'प्रबंध कोश' की रचना के काल में ही हुई होगी।

नेमिनाथ फागु के नायक नेमिनाथ एक महान् यादव थे जो विवाह नहीं करना चाहते थे।

श्रीधर कवि

'रणमल्ल छंद' के रचयिता श्रीधर कवि अवहट्ट भाषा के प्रमुख कवियों में परिगणित होते हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ रणमल्ल छंद के प्रारंभिक ११ छंदों में राजा रणमल्ल का परिचय दिया है किंतु अपने जीवन के विषय में कुछ उल्लेख नहीं किया। इनकी तीन प्रमुख रचनायें 'रणमल्ल छंद' 'भागवत दशम स्कंध' और 'सप्तशती' (श्रीधर छंद) मिलती हैं जिनमें छंद-वैविध्य पाया जाता है। इस ग्रंथ की अवहट्ट भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का भी प्रायः प्रयोग दिखाई पड़ता है। शब्दों को द्वित्व करने की प्रवृत्ति इसमें

सं० १२६ आषाढ़ शुक्ल ६ को हुई थी। संभवतः आपका दीक्षा-संस्कार लवणखेटक अर्थात् खेड़पुर में हुआ था। गुर्वावलि से यह ज्ञात होता है कि संवत् १२५१ में जिनपति सूरि अपने शिष्य वर्ग के साथ हरिद्वार में पधारे थे और वहाँ नगरकोट के महाराज पृथ्वीचंद के साथ काश्मीरी राजपंडित मनोदानंद भी विद्यमान थे। पंडित मनोदानंद ने सूरिजी को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया। सूरि जी की आज्ञा से श्री जिनपालोपाध्याय और श्री सुमतिगणि शास्त्रार्थ में सम्मिलित हुए। इन लोगों ने काश्मीरी पंडित को शास्त्रार्थ में पराजित किया।

रचनाएँ—

इनकी कई रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें प्रमुख रचना 'गणधरसार्धशतक-वृत्ति' सं० १२९५ में विरचित हुई। १२१ ५ श्लोक की टीका भी जो १५ गाथा के मूल पर लिखी गई है आपके रचना-कौशल की परिचायक है। नेमिनाथ रास आपकी प्रारंभिक रचना प्रतीत होती है। आपकी विद्वत्ता के संबंध में गुर्वावलि में इस प्रकार उद्धरण मिलता है, "तथा वाचनाचार्य सुप्रभकीर्तिचन्द्रवीर प्रभगणि—सुमतिगणि नामानश्चत्वारः शिष्याः महा-प्रधानाविष्पधायतन्त। येषामेकैकोऽप्याकाशस्य पतती धरणी क्षमः।

प्रज्ञातिलक

कच्छूली रास के रचयिता प्रज्ञातिलक सूरि का जीवन वृत्तांत विशेष रूप से उपलब्ध नहीं है। इन्होंने कोरंटा नामक स्थान पर सं १३६३ वि में कच्छूली रास की रचना की। कच्छूली आबू के समीप एक ग्राम है जिसका वर्णन इस रास में किया गया है। किंतु चौदहवीं शताब्दी में ऐतिहासिकता की दृष्टि से रखकर रास की रचना इसकी विशेषता है। 'धर्मविधिप्रकरण' के कर्ता विधि मार्गी श्रीप्रभसूरि के शिष्य माणिक्यप्रभसूरि ने कच्छूली ग्राम में पार्श्वजिन भुवन की प्रतिष्ठा की थी। माणिक्यप्रभ सूरि ने अपने स्थान पर उदयसिंह सूरि को स्थापित किया था। इसी उदयसिंह सूरि ने चन्द्रावलि (चंद्रावती) के राजल धंधल देव के समक्ष मंत्रवाद से मंत्रवादी को पराजित किया था। उन्होंने 'पिंड विशुद्धि विवरण', 'धर्म विधि' (वृत्ति) और चैत्यवंदन की रचना की थी। संवत् १३१३ वि में उनका स्वर्गवास हो गया था। तदुपरांत उनके शिष्य कमल सूरि प्रज्ञा सूरि, प्रज्ञातिलक सूरि विख्यात हुए। उसी शिष्य संप्रदाय में प्रज्ञातिलक सूरि ने कच्छूली रास की रचना की।

जिनपद्म सूरि

जिनपद्म सूरि कृत 'स्थूलि भद्र फागु' भाषा-साहित्य में उपलब्ध समस्त फागु काव्यों में द्वितीय रचना है। (समय की दृष्टि से) इस कृति के रचयिता जिनपद्म सूरि जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अंतर्गत आये 'खरतरगच्छ' के आचार्य थे। इस खरतर गच्छ की अनुक्रमणिका के अनुसार जिनपद्म सूरि को स० १३६० में आचार्य पद प्राप्त हुआ था। और स० १४०० में इनकी मृत्यु हुई थी। इससे ज्ञात होता है कि इस 'फाग' की रचना स० १३६० से १४०० के बीच में हुई होगी।

इनकी रचना 'स्थूलि भद्र फागु' एक लघुकाय काव्य है जिसमें २७ कड़ियाँ है। इसकी कथावस्तु जैन इतिहास में प्रसिद्ध है।

राजशेखरसूरि

'नेमिनाथ फागु' के रचयिता 'राजशेखर सूरि' हर्षपुरीय गच्छ या मलबार गच्छ के आचार्य और अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनका संस्कृत 'प्रबंध कोश' एवं 'चतुर्विंशति प्रबंध' गुजरात के मध्यकालीन इतिहास को जानने के लिए प्रमुख साधन ग्रंथ है। 'प्रबंध कोश' की रचना सं० १४०५ में हुई थी। इसके अतिरिक्त कई अन्य संस्कृत ग्रंथों की भी रचनायें इन्होंने की है जिनमें 'न्याय कदली' 'विनोद-कथा-संग्रह' आदि है। विद्वानों के मतानुसार नेमिनाथ फागु की रचना भी 'प्रबंध कोश' की रचना के काल में ही हुई होगी।

नेमिनाथ फागु के नायक नेमिनाथ एक महान् यादव थे जो विवाह नहीं करना चाहते थे।

श्रीधर कवि

'रणमल्ल छंद' के रचयिता श्रीधर कवि अवहट्ट भाषा के प्रमुख कवियों में परिगणित होते हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ रणमल्ल छंद के प्रारंभिक ११ छंदों में राजा रणमल्ल का परिचय दिया है किंतु अपने जीवन के विषय में कुछ उल्लेख नहीं किया। इनकी तीन प्रमुख रचनायें 'रणमल्ल छंद' 'भागवत दशम स्कंध' और 'सप्तशती' (श्रीधर छंद) मिलती हैं जिनमें छंद-वैविध्य पाया जाता है। इस ग्रंथ की अवहट्ट भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का भी प्रायः प्रयोग दिखाई पड़ता है। शब्दों को द्वित्त करने की प्रवृत्ति इसमें

पृथ्वीराज रासो और कीर्त्तिलता की शैली की स्मृति दिलाती है। श्यामलदास की वीरता का बयान कविने जिस ओजपूर्ण शैली में किया है वह वीररस साहित्य में विशेष सम्मान के योग्य है। ऐसे मेधावी कवि के जीवन वृत्तांत का अभाव खटकता है। संभव है कि भविष्य में इनके जीवन के विषय में कुछ सामग्री उपलब्ध हो सके। किंतु अपनी रचनाओं में वे अपने जीवन वृत्तांत के विषय में सर्वथा मौन हैं।

जिनचंद सूरि

'अकबर प्रतिबोध रास' के रचयिता जिनचंद सूरि अकबर कालीन साधु समाज में प्रमुख माने जाते थे। एक बार अकबर बादशाह को जैन समाज के सर्वश्रेष्ठ मुनि के दर्शन की अभिलाषा हुई। उन्हें खरतर गच्छ के आचार्य जिनचंद सूरि का नाम बताया गया। सम्राट् ने उनको आगरा आमंत्रित किया किंतु उस समय वे खंभ तीर्थ (खंभात) में थे। ग्रीष्म ऋतु में संदेश पाकर वे चल पड़े और स्वर्णगिरि (जालौर) में चतुर्मासा व्यतीत किया। दूसरा चतुर्मासा लाहौर में व्यतीत कर वे अकबर के राज-प्रासाद में विराजमान हुए। उन्होंने मुसलमान शासकों द्वारा द्वारका और शत्रुंजय तीर्थ में स्थित जैन मंदिरों के विध्वंस की करुणामयी घटना सुनाई और सम्राट् ने उक्त तीर्थों की रक्षा के लिए आजमखाँ को नियुक्त किया।

अकबर इनकी साधुता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने जिनचंद सूरि को युगप्रधान और इनके शिष्य मानसिंह को आचार्य पद की उपाधि प्रदान की। एकबार जहाँगीर ने संवत् १६६६ में जैनदर्शन साधुओं को देश निष्कासित करने की आज्ञा प्रदान की थी। किंतु युग-प्रधान मुनि जिनचंद सूरि पाटण से आगरे आए और जहाँगीर को समझा कर उक्त आज्ञा रद्द करा दी। इस मुनि ने 'अकबर प्रतिबोध नामक रास लिखकर तत्कालीन सामाजिक, राज नैतिक एवं धार्मिक स्थितियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला।

नरसिंह महेतो

नरसिंह महेता का ज न्म सं १४६६ या १४७ वि के आसपास हुआ होगा। उन्होंने अपने जन्मस्थान के विषय में स्वतः लिखा है—

"गाम तलाजा मां जन्म मारोथयो, भामी जे मूरख कही मेहेणुं दीधुं वचन वागुं टेक अपूज शिव लिंगनु वनमांह जई पूजन कीधुं"। नरसिंह

महेतो वडनगर के नागर ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम कृष्णदास और पितामह का पुरुषोत्तम दास था। माता दयाकोर के नाम से विख्यात थीं।

नरसिंह के माता-पिता की मृत्यु उनके शैशव में ही हो गई अतः उनके भाई मगल जी के० जीवणराम ने इनका पालन-पोषण किया। नरसिंह का मन विद्याध्ययन में नहीं लगता था और वे वाल्यकाल से ही साधुओं की संगति में रहा करते थे। जनश्रुति है कि ११ वें वर्ष में इनका विवाह सबंध होनेवाला था किंतु इनको अकर्मण्य समझकर कन्या के पिता ने इनके साथ विवाह करना उचित नहीं समझा। आगे चलकर संवत् १४८८ वि० में रघुनाथ-राम ने अपनी पुत्री माणेक वाई के साथ इनका विवाह कर दिया। विवाहो-परात ये भाई के परिवार के साथ रहते थे किंतु धनोपार्जन न करने के कारण इनकी भाभी इन्हें ताने दिया करती थी। एक दिन इनके भाई भी इनपर क्रुद्ध हुए अतः इन्होंने चैतसुदी सप्तमी सोमवार को वन में तपस्या प्रारंभ कर दी। शिवपूजन से महादेव प्रसन्न हुए, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वत. इस प्रकार किया है—

> **भोला चक्रमस्य प्रसन्न हूआ नि आवी मस्तक्य दीध्रि हाथ,**
> **सोल सहस्र गोपी वृंद रमतां रास देखाड्यो वैकुंठनाथ,**
> **हित जाणी पोताना माटि महादेव वोल्या वचन ते वारि;**
> **नरसिंघा, तूं लीला गाजे, ये कीधी कृष्ण अवतार ॥**

भगवान् की कृपा से नरसिंह के जीवन में अपूर्व परिवर्त्तन आया और उनमें कवित्व शक्ति का स्फुरण हुआ। उनका विश्वास था कि—

> **अनाथ हुने सनाथ कीधो पार्वती ने नाथ,**
> **दिव्यचक्षु आप्या मुजने, मस्तक मेल्यो हाथ।**

अब प्रभुभक्ति में मस्त रहनेवाले नरसिंह जूनागढ में आकर बस गए और साधु संगति और हरिभजन में तल्लीन रहने लगे। जाति-पाँति का भेदभाव विलीन हो गया और प्रेम के साम्राज्य में उन्होंने सबको स्वीकार किया। इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

काव्यक्षेत्र में इनके ऊपर जयदेव का प्रभाव परिलक्षित होता है। के० का० शास्त्री ने प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया है कि—

"नरसिंहे भंग रस्म पराकोटिये नाम्यो छे। तेमा ऊपर तेमो 'जयदेव' नी *शैली छाप छे। पोते कृष्णनी क्रीडाओं नो साथे होवानुं कवि प्रतिमा थी* जोवरे छे, तेमां ते जयदेव ने पद्य सामीप राखे छे। पोते ज विविधियो मूल जणावे छे।'

हम पूर्व कह आए हैं कि वल्लभाचार्य के समकालीन होने पर भी इनपर उस आचार्य का प्रभाव नहीं था। उस काल में गुजरात-काठियावाड़ में एक भक्ति संप्रदाय प्रचलित था जिससे इनके काका प्रभावित थे और उनका ही प्रभाव इनके ऊपर बचपन में पड़ा। ई० १६७१ में विरचित 'समरा रासु' में जूनागढ़ में दामोदर मंदिर की चर्चा है। इससे सिद्ध होता है कि उस स्थान पर विष्णुस्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी प्रभाव से वैष्णव धर्म प्रचलित था।

संभवत १५३६ के आस पास इनका गोलोकवास हुआ।

अनंतदास

अनंत नामक दो कवियों का उल्लेख मिलता है—एक हैं अनंत आचार्य और दूसरे अनंतदास। अनंत आचार्य गदाधर पंडित के शिष्य थे और अनंतदास चैतन्य चरितामृत में अद्वैत आचार्य की शिष्य परंपरा में थे। अनंतदास का नाम भानु पंडित और वासनारायण के साथ चैतन्य चरितामृत की आदि लीला में मिलता है। अनंत आचार्य गौरांग देव के समकालीन थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनका जन्म संवत् १६५ से १५८२ वि के मध्य हुआ होगा।

कवि शेखर

कवि शेखर का वास्तविक नाम देवकी नंदन सिंह था। इन्होंने संस्कृत में 'गोपाल चरित' महाकाव्य और 'गोपीनाथ विजय' नाटक लिखा है। 'गोपाल विजय' नामक पांचाली काव्य भी इनकी प्रमुख कृति है। इनके जीवन के विषय में विशेष सामग्री नहीं उपलब्ध होती।

गोविंद दास

गोविंददास नामक कइ कवि हो गए हैं। आचार्य गोविंददास भी चैतन्यदेव के शिष्य थे और सं १६९ में विद्यमान थे। दूसरे गोविंददास कर्मकार चैतन्य देव के सेवक के रूप में साथ रहते थे। तीसरे गोविंददास कविराज उत्तम कोटि के कवि हो गए हैं। अनुमानतः इनका जन्म सं १५८७ वि और मृत्युकाल सं १६७ वि माना जाता है। भक्तमाल के

अनुसार अपने विरक्त भाई रामचंद्र कविराज की प्रेरणा से गोविंद दास भी शाक्त से वैष्णव धर्म में दीक्षित हुए। कतिपय विद्वानों का मत है कि इनका जन्म तेलियाबुधरी ग्राम में हुआ था और इनके पिता का नाम चिरंजीव सेन था।

प्रारंभ में यह विचार था कि 'रास और रासान्वयी काव्य' के सभी कवियों का परिचय दे दिया जाय किंतु ग्रंथ का कलेवर अनुमान से अत्यधिक बढ़ जाने के कारण चारों प्रकार की रास शैलियों के केवल दो-एक प्रमुख कवियों का संक्षिप्त जीवन-परिचय देकर संतोष करना पड़ा। उस काल के साधु कवि प्रायः अपना जीवन - वृत्तांत नहीं लिखा करते थे। अतः सभी कवियों के जन्मकाल और शिक्षा-दीक्षा के संबंध में अनुमान लगाना पड़ता है। इन महात्मा कवियों का उद्देश्य था—आबाल वृद्ध वनिताके हृदय को अपनी रचना की सुगंधि से सुरभित करना तथा काव्य सुधा-प्रवाह से मन को परिपुष्ट बनाना। अतः वे अपने जीवन-चरित्र की अपेक्षा उच्च चरित्ररूपी मलयागिरि के वास्तविक श्रीखंड का सौरभ विकीर्ण करना तथा काव्यामृत से पाठक को अमरत्व प्रदान करना अधिक उपयोगी समझते थे। इसीलिए अभयदेव सूरि ने लिखा है—

> जयति ते सत्कवयो यदुक्त्या बाला अपि स्युः कविताप्रवीणाः।
> श्रीखंडवासेन कृताधिवासाः श्रीखंडतां यान्त्यपरेऽपि वृक्षाः॥
> जयन्तु सर्वेऽपि कवीश्वरास्ते, यदीयसत्काव्य सुधाप्रवाहः।
> विघूर्णिताक्षेण सुहृज्जनेन निपीयमानोऽप्यतिपुष्यतीव॥

गंगादशहरा, सं० २०१६ वि०
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

विनीत—
दशरथ ओझा

नरसिंहे संसाररस पराक्रमेटिमे गायो छे। तेना ऊपर तेमां 'जयदेव' नी ऊंची छाप छे। पोते कृष्णनी क्रीडाओं मां साथे होवानुं कवि प्रतिमा थी जोतो छे तेमां ते जयदेव ने पण सामेल राखे छे। श्रेष्ठे ज विशिष्टिनो मूल बनावे छे।'

इस पूरा का आशय है कि वल्लभाचार्य के समकालीन होने पर भी इनपर उस आचार्य का प्रभाव नहीं था। उस काल में गुजरात-काठियावाड़ में एक भक्ति संप्रदाय प्रचलित था जिससे इनके काका प्रभावित थे और उनका ही प्रभाव इनके ऊपर बचपन में पड़ा। सं १३०१ में विरचित 'समरा रासु' में जूनागढ़ में दामोदर मंदिर की चर्चा है। इससे सिद्ध होता है कि उस स्थान पर विष्णुस्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी प्रभाव से वैष्णव धर्म प्रचलित था।
संभवतः १५३६ के आस पास इनका गोलोकवास हुआ।

अनंतदास

अनंत नामक दो कवियों का उल्लेख मिलता है—एक हैं अनंत आचार्य और दूसरे अनंतदास। अनंत आचार्य गदाधर पंडित के शिष्य थे और अनंतदास चैतन्य चरितामृत में अद्वैत आचार्य की शिष्य परंपरा में थे। अनंतदास का नाम कानु पंडित और वासुनारायण के साथ चैतन्य चरितामृत की आदि लीला में मिलता है। अनंत आचार्य गौरांग देव के समकालीन थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनका जन्म संवत् १५५ से १५८२ वि के मध्य हुआ होगा।

कवि शेखर

कवि शेखर का जन्मजात नाम देवकी नंदन सिंह था। इन्होंने संस्कृत में गोपाल चरित महाकाव्य और गोपीनाथ विजय' नाटक लिखा है। 'गोपाल विजय' नामक पांचाली काव्य भी इनकी प्रमुख कृति है। इनके जीवन के विषय में विशेष सामग्री नहीं उपलब्ध होती।

गोविंद दास

गोविंददास नामक कई कवि हो गए हैं। आचार्य गोविंददास भी चैतन्यदेव के शिष्य थे और सं १६९ में विद्यमान थे। दूसरे गोविंददास कर्मकार चैतन्य देव के सेवक के रूप में साथ रहते थे। तीसरे गोविंददास कविराज उत्तम कोटि के कवि हो गए हैं। अनुमानतः इनका जन्म सं १५८० वि और मृत्युकाल सं १६७० वि माना जाता है। भक्तमाल के

उपदेशरसायनरास

परिचय—

अपभ्रंश भाषा में विरचित इस रासग्रथ का विशेष महत्त्व है। उपलब्ध राससाहित्य में इसकी गणना प्राचीनतम रासो मे की जाती है। अपभ्रंशमिश्रित देशी भाषा में जो रासग्रथ बारहवीं शताब्दी के उपरात लिखे गए,उनकी काव्य-शैली पर इस ग्रथ का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। रास-रचयिता कवियों ने प्रारम्भ में वर्ण्य विषय और छदयोजना दोनो में इस रास की शैली का अनुसरण किया। बुद्धिरास पर तो इसका प्रभाव स्पष्ट झलकता है।

इस रास के रचयिता जिनदत्त सूरि हैं जो परमपितामह (बड़ा दादा) नाम से श्वेताबर जैनानुयायियों में (खरतर गच्छीय में विशेषकर) प्रसिद्ध हैं। इनका व्यक्तिगत परिचय हम भूमिका में दे चुके हैं, अतः यहाँ प्रस्तुत रास का ही सक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस रास में विशेष रूप से श्रावकों को सदाचरण का उपदेश दिया गया है। त्रिभुवन स्वामी जिनेश्वर और युगप्रवर अनेक शास्त्रवेत्ता निज गुरु जिन-वल्लभ सूरि की वदना के उपरात आचार्य जिनदत्त सूरि श्री गुरुवर को कवि माघ[1], कालिदास[2], भारवि आदि सस्कृत के महाकवियो से भी श्रेष्ठ कवि स्वीकार करते हैं।

गुरु-महिमा-वर्णन के उपरान्त अस्थिर एव कुपथगामी पतित व्यक्तियों की दुर्दशा का विवरण[3] मिलता है। कवि ने जिस प्रकार सस्कारहीन व्यक्तियों की दुर्दशा का काव्यमय विवेचन किया है उसी प्रकार सुपथगामी धर्मपरायण[4] व्यक्तियों का लक्षण और महत्त्व भी सुचारु रूप से प्रदर्शित किया है।

इस स्थल पर जिनदत्त सूरि ने तत्कालीन प्रचलित धार्मिक नाटकों पर अभिनव प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा कि धार्मिक पुरुष भरत-सगर बलराजदेव

---

१ उपदेश रसायन रास, छद ४

२ ,, ,, ,, ५

३ ,, ,, ,, १४ से १९

४ ,, ,, २५ से २८

उपदेश रसायन रासः

जिनदत्त सूरि

(संवत् ११७१ वि०)

पणमह पास—वीरजिण भाविण
तुम्हि सव्वि जिव मुच्चहु पाविण।
घरववहारि म लग्गा अच्छह
खणि खणि आउ गलतउ पिच्छह ॥ १ ॥

लद्धउ माणुसजम्मु म हारहु
अप्पा भव-समुद्दि गउतारहु।
अप्पु म अप्पहु रायह रोसह
करहु निहाणु म सव्वह दोसह ॥ २ ॥

दुलहउ मणुयजम्मु जो पत्तउ
सहलउ करहु तुम्हि सुनिरुत्तउ।
सुहगुरु—दसण विणु सो सहलउ
होइ न कीवइ वहलउ वहलउ ॥ ३ ॥

सुगुरु सु वुच्चइ सच्चउ भासइ
परपरिवाथि—नियरु जसु नासइ।
सव्वि जीव जिव अप्पउ रक्खइ
मुक्ख—मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ ॥ ४ ॥

जो जिण-वयणु जहट्ठिउ जाणइ
दव्वु खित्तु कालु वि परियाणइ।
जो उस्सग्गववाय वि कारइ
उम्मग्गिण जणु जतउ वारइ ॥ ५ ॥

दशार्णभद्र आदि के चरित्र के आधार पर गायन, नर्तन एवं नाटक[५] का अभिनय वांछनीय ही नहीं आवश्यक है।

अब कवि युगप्रधान गुरु[६] एवं संघ[७] के लक्षणों का विवेचन करता है। विवाह और धनव्यय के संबंध में अवश्य विषयों का कथन करके कवि विधिपथ-अनुगामी साधु[८]-साध्वियों के सत्कार की चर्चा करता है। इसके उपरांत धार्मिक अवसरों पर कुपयात्रा करने वाले कुपथों की सम्यक्त्वहीनता का वर्णन है।

कवि की दृष्टि में लौकिक अशौचनिवारण का भी महत्त्व कम नहीं है। आचार्य का मत है कि जो लोग लौकिक[९] अशौचनिवारण की उपेक्षा करते हैं वे सम्यक्त्व-प्राप्ति नहीं कर सकते।

अब आचार्य जिनदत्त सूरि उन पापप्रसक्त व्यक्तियों के दुराचरण का संक्षेप में विवेचन करते हैं, जिन्हें सद्दृष्टि[१०] (सम्यक्त्व) सदा दुर्लभ रहेगी। उनकी दृढ़ धारणा है कि श्रावक के छिद्रान्वेषण विरुद्ध वचन एवं असत्य भाषण परधन या परस्त्री के अपहरण से मानव को कभी सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसके उपरांत गृह[११]-कुटुंब-निर्वाह की समुचित पद्धति का अत्यंत संक्षेप में वर्णन है। अंत में इस रास ग्रंथ का उपसंहार करते हुए कवि आशीर्वाद देता है कि जो भी धार्मिक जन कर्ण रूपी अंजलि से इस रास का रसपान करेंगे वे सभी अजर एवं अमर हो जायेंगे।

---

५. उपदेश रसायन रास छंद—१७ से १८ तक
६. —४१ से ५ तक
७. " "—४४ से ५० तक
८ —५१ से ५५ तक
९. " —५६ से ७१ तक
१० —७२ से ७४ तक
११ —७५ से ७८ तक
१२. " —

उपदेश रसायन रासः

जिनदत्त सूरि

(संवत् ११७१ वि०)

पणमह पास—वीरजिण भाविण
तुम्हि सव्वि जिव मुच्चहु पाविण।
घरववहारि म लग्गा अच्छह
खणि खणि आउ गलतउ पिच्छह ॥ १ ॥

लद्धउ माणुसजम्मु म हारहु
अप्पा भव-समुद्दि गउतारहु।
अप्पु म अप्पहु रायह रोसह
करहु निहाणु म सव्वह दोसह ॥ २ ॥

दुलहउ मणुयजम्मु जो पत्तउ
सहलउ करहु तुम्हि सुनिरुत्तउ।
सुहगुरु—दसण विणु सो सहलउ
होइ न कीवइ वहलउ वहलउ ॥ ३ ॥

सुगुरु सु वुच्चइ सच्चउ भासइ
परपरिवाग्नि—नियरु जसु नासइ।
सव्वि जीव जिव अप्पउ रक्खइ
मुक्ख—मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ ॥ ४ ॥

जो जिण-वयणु जहट्ठिउ जाणइ
दव्वु खित्तु कालु वि परियाणइ।
जो उस्सग्गववाय वि कारइ
उम्मग्गिण जणु जतउ वारइ ॥ ५ ॥

दशार्णभद्र आदि के चरित्र के आधार पर गायन, नर्तन एवं नाटक[५] का अभिनय सराहनीय ही नहीं आवश्यक है।

अब कवि युगप्रधान गुरु[६] एवं संघ[७] के लक्षणों का विवेचन करता है। विवाह और धनव्यय के संबंध में शास्त्रीय विपरीत का वर्णन करके कवि विधिपथ-अनुगामी साधु[८]-साध्वियों के सत्कार की चर्चा करता है। इसके उपरांत धार्मिक अवसरों पर कृपणता करने वाले धनियों की सम्यक्त्वहीनता का वर्णन है।

कवि की दृष्टि में लौकिक अशौचनिवारण का भी महत्व कम नहीं है। आचार्य का मत है कि जो लोग लौकिक[९] अशौचनिवारण की उपेक्षा करते हैं वे सम्यक्त्व-प्राप्ति नहीं कर सकते।

अब आचार्य जिनदत्त सूरि उन पापासक्त व्यक्तियों के दुराचरण का संक्षेप में विवेचन करते हैं, जिन्हें सद्दृष्टि[१०] (सम्यक्त्व) सदा दुर्लभ रहेगी। उनकी दृढ़ धारणा है कि श्रावक के छिद्रान्वेषण, विकृत वचन एवं असत्य भाषण, परधन या परस्त्री के अपहरण से मानव को कभी सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसके उपरांत गृह[११]-कुटुंब-निर्वाह की समुचित पद्धति का अत्यंत संक्षेप में वर्णन है। अंत में इस रास ग्रंथ का उपसंहार करते हुए कवि आशीर्वाद देता है कि जो भी धार्मिक जन कर्ण रूपी अंजलि से इस रास का रसपान करेंगे वे सभी अजर एवं अमर हो जायेंगे।

---

५ उपदेश रसायन रास छंद—१० से ११ तक
६ „ „—४१ से ५ तक
७ „ „—५४ से ५० तक
८ —११ से ११ तक
९ „ „—११ से ७१ तक
१० „ „—७१ से ७४ तक
११ —७५ से ७८ तक
१२ „ —

तसु किव होइ सुनिव्वुइ-संगमु ?
अथिरु जु जिव किक्काणु तुरगमु।
कुप्पहि पडइ न मग्गि विलग्गइ
वायह भरिउ जहिच्छइ वग्गइ ॥ १३ ॥

खज्जइ सावएहि सुवहुत्तिहि
भिज्जइ सामएहि गुरुगत्तिहि।
वग्वसघ-भय पडइ सु खड्डह
पडियउ होइ सु कूडउ हड्डह ॥ १४ ॥

तेण जम्मु इहु नियउ निरत्थउ
नियमत्थइ देविणु पुल्हत्थउ।
जइ किर तिण कुलि जम्मु वि पाविउ
जाडजुत्तु तु वि गुण न सु दाविउ ॥ १५ ॥

जइ किर वरिससयाउ वि होई
पाउ इक्कु परिसंचइ सोई।
कह वि सो वि जिणदिक्ख पवज्जइ
तह वि न सावज्जइ परिवज्जइ ॥ १६ ॥

गज्जइ मुद्धह लोअह अग्गइ
लक्खण तक्क वियारण लग्गइ।
भणइ जिणागमु सहु वक्खाणउ
त पि वियारमि ज लुक्काणउ ॥ १७ ॥

अद्धमास चउमासह पारइ
मलु अब्भितरु वाहिरि धारइ।
कहइ उस्सुत्त—उम्मग्गपयाइं
पड्डिक्कमणय—वदणयगयाइं ॥ १८ ॥

पर न मुणइ तयत्थु जो अच्छइ
लोयपवाहि पडिउ सु वि गच्छइ।
जइ गीयत्थु को वि तं वारइ
ता त उट्ठिवि लउडइ मारइ ॥ १९ ॥

इह विसमी गुरुगिरिहिं समुट्ठिय
लोयपवाह—सरिय कुमइट्ठिय।
अमु गुरुपोउ नत्थि सो निज्जइ
तमु पवाहि पडियउ परिखिज्जइ॥ ६॥

सा पयाजड परिपूरिय दुत्तर
किव तरंति जे हुंति निरुत्तर ?
विरला किवि तरंति जि सदुत्तर
ते लहन्ति सुक्खइ उत्तरुत्तर॥ ७॥

गुरु-पवहणु निप्पुन्नि न लब्भइ
तिणि पवाहि जणु पडियउ वुब्भइ।
ना संसार-समुद्दि पइट्ठी
जहि सुक्खह वत्ता वि पणट्ठी॥ ८॥

तहिं गय जण कुग्गाहिहिं खज्जहिं
मयर-गरुयग्गाहग्गिहि भिज्जहिं।
अप्पु न मुणहि न पर परियाणहिं
सुलसर्मिच्छ सुमिणे वि न माणहिं॥ ६॥

गुरु-पवहणु जइ किर कु वि पाणइ
परउवयाररसिय मह्णणइ।
ता गयचेयण ते जण पिक्खइ
किंपि सज्जीउ मो वि तं निक्खइ॥ १०॥

कड्ढिण कु वि सइ आरोविज्जइ
तु वि तिण नीसत्तिण रविज्जइ।
फरइ ज विज्जइ किर रोवइ
ना अमुहदि मरियइ पिक्खंतइ॥ ११॥

धम्मु सु घरगु कु मक्कइ फायर ?
तहि गुण्णु कयाणु पडावइ सायर ?।
नमु मुहत्तु निव्वाणु कि मंघइ ?
मुक्तर कि करइ राइ कि सु विचइ ?॥ १२॥

तसु किव होइ सुनिव्वुइ-संगमु ?
अथिरु जु जिव किक्काणु तुरगमु ।
कुप्पहि पडइ न मग्गि विलग्गइ
वायह भरिउ जहिच्छइ वग्गइ ॥ १३ ॥

खज्जइ सावएहि सुबहुत्तिहिं
भिज्जइ सामएहि गुरुगत्तिहि ।
वग्घसंघ-भय पडइ सु खड्डह
पडियउ होइ सु कूडउ हड्डह ॥ १४ ॥

तेण जम्मु इहु नियउ निरत्थउ
नियमत्थइ देविणु पुल्हत्थउ ।
जइ किर तिण कुलि जम्मु वि पाविउ
जाइजुत्तु तु वि गुण न सु दाविउ ॥ १५ ॥

जइ किर वरिससयाउ वि होई
पाउ इक्कु परिसंचइ सोई ।
कह वि सो वि जिणदिक्ख पवज्जइ
तह वि न सावज्जइ परिवज्जइ ॥ १६ ॥

गज्जइ मुद्धह लोअह अग्गइ
लक्खण तक्क वियारण लग्गइ ।
भणइ जिणागमु सहु वक्खाणउं
तं पि वियारमि ज लुक्काणउ ॥ १७ ॥

अद्धमास चउमासह पारइ
मलु अब्भितरु वाहिरि धारइ ।
कहइ उस्सुत्त—उम्मग्गपयाइं
पड्डिक्कमणय—वंदणयगयाइं ॥ १८ ॥

पर न मुणइ तयत्थु जो अच्छइ
लोयपवाहि पडिउ सु वि गच्छइ ।
जइ गीयत्थु को वि त वारइ
ता त उट्ठिवि लउडइ मारइ ॥ १६ ॥

धम्मिय जणु सत्थेण वियारइ
सु वि ते धम्मिय सत्थि वियारइ।
तम्मिइलोइहि सो परियरियउ
तउ गीयत्थिहि सो परिहरियउ ॥ २० ॥

जो गीयत्थु सु करइ न मच्छरु
सु वि सीसंतु न मिल्लइ मच्छरु।
सुगुरु धम्मि जु समागु थिरत्तउ
संधि सु मम्मु कहिज्जइ जवत्तउ ॥ २१ ॥

पइ पइ पाणिउ तसु पाडिज्जइ
उवसमि धम्मु सो वि वाडिज्जइ।
तस्सावय सावय जिंव लग्गहिं
धम्मिय लोयह चिल्लइ मग्गहिं ॥ २२ ॥

विहिचेइहरि अविहिकरेवइ
करहि उवाय बहुवि ति लेवइ।
जइ विहिजिणहरि अविहि पयट्टइ
ता घिउ सत्तुयमज्झि पलुट्टइ ॥ २३ ॥

जइ किर नरवइ कि वि दूसमवस
ताहि वि अप्पहि विहिचेइय वस।
तह वि न धम्मिय विहि विणु झगडहिं
जइ ते सव्वि वि उट्ठहि लगुडिहि ॥ २४ ॥

निच्चु वि सुगुरु—देवपयभत्तह
पणपरमिट्ठि सरंतह संतह।
सासणसुर पसन्न ते मम्वइ
धम्मिय कज्ज पसाहहि सव्वइं ॥ २५ ॥

धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ
परु मारइ कीवइ जुज्झंतउ।
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ
परमपइ निवसइ सो सासइ ॥ २६ ॥

सावय विहिधम्मह अहिगारिय
जिज्ज न हुंति दीहसंसारिय।
अविहि करिंति न सुहगुरुवारिय
जिणसंबंधिय धरहि न दारिय ॥ २७ ॥

जइ किर फुल्लइ लब्भइ मुल्लिण
तो वाडिय न करहि सहु कूविण।
थावर घर-हट्टइ न करावहि
जिणधणु सगहु करि न वद्धारहि ॥ २८ ॥

जइ किर कु वि मरतु घर-हट्टइ
देइ त लिज्जहि लहणावट्टइ।
अह कु वि भत्तिहि देइ त लिज्जहि
तब्भाडयधणि जिण पूइज्जहि ॥ २९ ॥

दिंत न सावय ते वारिज्जहिं
धम्मिकज्जि ते उच्छाहिज्जहि।
घरवावारु सव्वु जिव मिल्लहि
जिव न कसाइहिं ते पिल्लिज्जहि ॥ ३० ॥

तिव तिव धम्मु कहिंति सयाणा
जिव ते मरिवि हुंति सुरराणा।
चित्तासोय करत ड्डाहिय
जण तहि कय हवंति नट्ठाहिय ॥ ३१ ॥

जिव कल्लाणय पुट्ठिहि किज्जहिं
तिव करिंति सावय जहसत्तिहिं।
जा लहुडी सा नच्चाविज्जइ
वड्डी सुगुरु-वयणि आणिज्जइ ॥ ३२ ॥

जोव्वणत्थ जा नच्चइ दारी
मा लग्गइ सावयह वियारी।
तिहि निमित्तु सावयसुय फट्टहिं
जतिहिं दिवसिहिं धम्मह फिट्टहिं ॥ ३३ ॥

धम्मिय जणु मत्थेण वियारइ
सु वि ते धम्मिय सत्थि वियारइ।
वन्नियइल्लोइहिं सो परियरियउ
तउ गीयत्थिहिं सो परिहरियउ ॥ २० ॥

जो गीयत्थु सु करइ न मच्छरु
सु वि जीवंतु न मिल्लइ मच्छरु।
सुद्धइ धम्मि जु लग्गाउ विरलउ
संधि सु धम्मु कहिज्जइ अयलउ ॥ २१ ॥

पइ पइ पाणिउ तसु थाहिज्जइ
उवसमि धम्मु सो वि थाहिज्जइ।
तस्मायय सावय जिम लग्गहिं
धम्मिय लोयह चिहुरइ मग्गहिं ॥ २२ ॥

विहिचेइहरि अविहिकरेवइ
करहिं उवाय बहुवि ति लेवइ।
अइ विहिजिणहरि अविहि पयट्टइ
ता घिउ सत्तुयमज्झि पलुट्टइ ॥ २३ ॥

जइ किर नरवइ कि वि दूसमवस
ताहि वि अप्पहिं विहिचेइय दस।
धइ वि न धम्मिय विहि विणु मग्गहिं
जइ ते सज्भि वि उट्ठहिं लग्गहिं ॥ २४ ॥

निसु वि सुगुरु—देवपयभत्तइ
पणपरमिट्ठि सरंतइ संतइ।
सासणसुर पसम ते भव्वइ
धम्मिय कज्ज पसाहहिं सव्वइ ॥ २५ ॥

धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ
परु मारइ कीवइ जुज्झंतउ।
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ
परमपइ निवसइ सो सासइ ॥ २६ ॥

एगु जुगप्पहाणु गुरु मन्नहिं
जो जिण गणिगुरु पवयणि वन्नहि ।
तासु सीसि गुणसिगु समुट्ठइ
पवयणु-कज्जु जु साहइ लट्ठइ ॥ ४१ ॥

सो छउमत्थु वि जाणइ सव्वइ
जिण-गुरु-समइपसाइण भव्वइ ।
चलइ न पाइण तेण जु दिट्ठउ
जं जि निकाइउ त परि विणट्ठउ ॥ ४२ ॥

जिणपवयणभत्तउ जो सक्कु वि तसु
पयचित करइ वहु [व] क्कु वि जसु ।
न कसाइहिं मणु पीडिज्जइ
तेण सु देविहि वि ईडिज्जइ ॥ ४३ ॥

सुगुरु-आण मणि सइ जसु निवसइ
जसु तत्तत्थि चित्त पुणु पविसइ ।
जो नाइण कु वि जिणवि न सक्कइ
जो परवाइ-भइण नोसक्कइ ॥ ४४ ॥

जसु चरिइण गुणिचित्तु चमक्कइ
तसु जु न सहइ सु दूरि निलुक्कइ
जसु परिचित करहि जे देवय
तसु समचित्त ति थोवा सेवय ॥ ४५ ॥

तसु निसि दिवसि चित इह (य) वट्टइ
कहि वि ठावि जिणपवयणु फिट्टइ ।
भूरि भवंता दीसहि बोडा
जे सु पससहि ते परि थोडा ॥ ४६ ॥

पिच्छहि ते तसु पइ पइ पाणिउ
तसु असतु दुहु ढोयहिं आणिउं ।
धम्मपसाइण सो परि छुट्टइ
सव्वत्थ वि सुहकज्जि पयट्टइ ॥ ४७ ॥

बहुय लोय रायंघ स पिक्खहि
जिणमुह-पकउ विरला वंछहि ।
अणु जिणमयणि सुहत्यु जु भावउ
मरउ सु विक्खकउविक्खहिं धायउ ॥ ३४ ॥

राग विरुद्धा नवि गाइअहिं
हियइ धरतिहि जिणगुण गिज्जहिं ।
पाउ वि न हु बहुय वाइअहिं
लउडारसु सइं पुरिससिहि ॥ ३५ ॥

उचिय थुत्ति-थुयपाढ पढिअहिं
जे सिद्धंतिहिं सहु संधिअहिं
तालारासु वि दिति न रयणिहिं
दिवसि वि लउडारसु सहुं पुरिसिहिं ॥ ३६ ॥

धम्मिय नाडय पर नच्चिअहिं
भरह—सगरनिक्खमण कहिअहिं ।
चक्कवट्टि-बल-रायह चरियइं
नचिवि अंति हुंति पव्वइयइं ॥ ३७ ॥

हास खिड्ड हुड्ड वि वज्जिअहिं
सहु पुरिसेहिं वि केलि न किज्जहिं ।
रत्तिहिं जुवइपवसु निवारहि
न्हवणु नंदि न पइट्ठ कराविहि ॥ ३८ ॥

माहमाल-जलकीलंदोलय
वि वि बहुय न करति गुणालय ।
बलि अत्थमियइ दिणयरि न धरहिं
धरकज्जइं पुण जिणहरि न करहिं ॥ ३९ ॥

सूरि वि विहिजिणहरि वक्खाणहि
तहिं जे भविहि तस्सुणु न आणहिं ।
नंदि-पइट्ठइ ते अहिगारिय
सूरि वि जे तदवरि ते वारिय ॥ ४० ॥

एगु जुगप्पहाणु गुरु मन्नहिं
जो जिण गणिगुरु पवयणि वन्नहि ।
तासु सीसि गुणसिगु समुट्ठइ
पवयणु-कज्जु जु साहइ लट्ठइ ॥ ४१ ॥

सो छउमत्थु वि जाणइ सव्वइ
जिण-गुरु-समइपसाइण भव्वइ ।
चलइ न पाडण तेण जु दिट्ठउ
जं जि निकाइउ त परि विणट्ठउ ॥ ४२ ॥

जिणपवयणभत्तउ जो सक्कु वि तसु
पयचित करइ वहु [व] क्कु वि जसु ।
न कसाइहिं मणु पीडिज्जइ
तेण सु देविहि वि ईडिज्जइ ॥ ४३ ॥

सुगुरु-आण मणि सइ जसु निवसइ
जसु तत्तत्थि चित्त पुणु पविसइ ।
जो नाइण कु वि जिणवि न सक्कइ
जो परवाइ-भइण नोसक्कइ ॥ ४४ ॥

जसु चरिइण गुणिचित्तु चमक्कइ
तसु जु न सहइ सु दूरि निलुक्कइ
जसु परिचित करहि जे देवय
तसु समचित्त ति थोवा सेवय ॥ ४५ ॥

तसु निसि दिवसि चित इह (य) वट्टइ
कहिं वि ठावि जिणपवयणु फिट्टइ ।
भूरि भवता दीसहि वोडा
जे सु पससहि ते परि थोडा ॥ ४६ ॥

पिच्छहि ते तसु पइ पइ पाणिउ
तसु असतु दुहु ढोयहिं आणिउ ।
धम्मपसाइण सो परि छुट्टइ
सव्वत्थ वि सुहकज्जि पयट्टइ ॥ ४७ ॥

तह वि हु वाहि वि सो नवि रूसइ
खम न सु भिज्जइ नवि से बूसइ।
जइ वि वि आयहि तो संमासइ
जुत्तु अजुत्तु वि निसुणिवि तूसइ ॥ ४८ ॥

अप्पु अणप्पु वि न सु यहु मन्नइ
थोयगुणु वि परु पिक्खवि वन्नइ।
एइ वि अइ सरंति भवसायरु
ता अणुवत्तउ निच्चु वि मायरु ॥ ४९ ॥

जुगपहाणु गुरु इउ परि चिंतइ
तं-भुत्ति वि तं-भण सु निकिंतइ।
लोउ लोयपवाणइ भमाउ
तासु न वसणु पिच्छइ भमाउ ॥ ५० ॥

इह गुरु केहि वि लोइहि थप्पिउ
तु वि अम्हारइ संपि न मप्पिउ।
अम्हि कम्म इसु पुट्ठिहि लग्गइ?
अप्पिहि सिव किव नियगुरु मिल्लइ? ॥ ५१ ॥

पारतंत-विहिविसइ-विमुक्कउ
जणु इउ बुज्झइ मग्गह चुक्कउ।
तिणि जणु विहिधम्मिहि सह झगडइ
इह परलोइ वि अप्पा रगडइ ॥ ५२ ॥

तु वि अविसम्मु वियारु करंतउ
किवइ न यक्कइ विहि असहंतउ।
जो जिणभासिउ विहि सु किं तुट्टइ?
सो झगडंतु लोउ परिकिट्टइ ॥ ५३ ॥

दुप्पसहंतु चरणु जं वुत्तउ
त विहि विणु किव होइ निरुत्तउ?।
इक्क सूरि इक्का वि स अज्जी
इक्कु वेम सि इक्क वि वेसज्जी ॥ ५४ ॥

तह वीरह तु वि तित्थु पयट्टइ
त दस-वीसह अज्जु कि तुट्टइ ? ।
नाण-चरण-दंसणगुणसंठिउ
संघु सु वुच्चइ जिणिहि जहट्ठिउ ॥ ५५ ॥

दव्व-खित्त-काल – ठिइ वट्टइ
गुणि-मच्छरु करंतु न निहट्टइ ।
गुणविहूणु सघाउ कहिज्जइ
लोअपवाहनईए जो निज्जइ ॥ ५६ ॥

जुत्ताजुत्तु वियारु न रुच्चइ
जसु जं भावइ तं तिण वुच्चइ ।
अविवेइहिं सु वि सघु भणिज्जइ
पर गीयत्थिहि किव मन्निज्जइ ? ॥ ५७ ॥

विणु कारणि सिद्धति निसिद्धउ
वदणाइकरणु वि जु पसिद्धउ ।
तसु गीयत्थ केम कारण विणु
पइदिणु मिलहिं करहिं पयवदणु ॥ ५८ ॥

जो असंघु सो सघु पयासइ
जु जि सघु तसु दूरिण नासइ ।
जिव रायध जुवइदेहगिहि
चद कुद अणहुति वि लक्खहिं ॥ ५९ ॥

तिव दसणरायंध निरिक्खहि
ज न अत्थि तं वत्थु विवक्खहि ।
ते विवरीयदिट्ठि सिवसुक्खइ
पाविहि सुमिरिण वि कह पच्चक्खइ ॥ ६० ॥

दम्म लिंति साहम्मिय—संतिय
अवरुप्परु झगडति न दिंति य ।
ते विहिधम्मह खिस महति य
लोयमज्झि झगडति करति य ॥ ६१ ॥

तह यि हु वादि वि सो नवि रूसइ
खम न सु भिक्खइ नवि से दूसइ।
जइ वि वि भासहि सो संभासइ
गुणु बहुगु यि निसुणिवि तूसइ ॥ ४८ ॥

अप्पु अप्पणु वि न सु पहु मन्नइ
धावगुणु वि पर पिच्छवि पन्नइ।
एइ वि जइ तरंति भवसायरु
ता अणुसरउ निच्चु वि सायरु ॥ ४९ ॥

जुगुपहाणु गुरु इउ परि पिक्खइ
सं-भूमि वि सं-मणु सु निरिक्खइ।
लोउ लोयपवाहइ लग्गउ
तासु न दंसणु पिच्छइ नग्गउ ॥ ५० ॥

इह गुरु केहि वि लोइहि वन्निउ
तु वि अम्हारइ मंपि न मन्निउ।
अन्निह केम इसु पुट्ठिहि लग्गइ ?
अन्निहि भिव किव नियगुरु सिक्कइ ? ॥ ५१ ॥

पारतंत-विहिविसइ-विमुक्कउ
जणु इउ मुज्झइ मग्गह चुक्कउ।
विहि जणु विहिधम्मिहि सह झगडइ
इह परलोइ वि अप्पा रगडइ ॥ ५२ ॥

सु वि अविसम्मत्तु वियाउ करंतउ
किज्जइ न मक्कइ विहि असहंतउ।
जो जिणभासिउ विहि सु कि मुक्कइ ?
सो मज्झत्थु लोउ परिच्छिन्दइ ॥ ५३ ॥

दुप्पसहंतु चरणु जं वुत्तउ
तं विहि विणु किव होइ निरुत्तउ ?।
इक्क सुरि इक्क वि स अज्जी
इक्कु देस वि इक्क वि देसज्जी ॥ ५४ ॥

तह वीरह तु वि तित्थु पयट्टइ
तं दस-वीसह अज्जु कि तुट्टइ ? ।
नाण-चरण-दसणगुणसंठिउ
संघु सु वुच्चइ जिणिहि जहट्ठिउ ॥ ५५ ॥

दव्व-खित्त-काल - ठिइ वट्टइ
गुणि-मच्छरु करतु न निहट्टइ ।
गुणविहूणु संघाउ कहिज्जइ
लोअपवाहनईए जो निज्जइ ॥ ५६ ॥

जुत्ताजुत्तु वियारु न रुच्चइ
जसु जं भावइ तं तिण वुच्चइ ।
अविवेइहिं सु वि संघु भणिज्जइ
पर गीयत्थिहि किव मन्निज्जइ ? ॥ ५७ ॥

विणु कारणि सिद्धंति निसिद्धउ
वंदणाइकरणु वि जु पसिद्धउ ।
तसु गीयत्थ केम कारण विणु
पइदिणु मिलहिं करहिं पयवदणु ॥ ५८ ॥

जो असंघु सो संघु पयासइ
जु ज्जि संघु तसु दूरिण नासइ ।
जिव रायध जुवइदेहगिहि
चद कुद अणहुति वि लक्खहिं ॥ ५९ ॥

तिव दसणरायंध निरिक्खहि
ज न अत्थि त वत्थु विवक्खहि ।
ते विवरीयदिट्ठि सिवसुक्खइ
पाविहि सुमिणि वि कह पच्चक्खइ ॥ ६० ॥

दम्म लिंति साहम्मिय—सतिय
अवरुप्परु झगडति न दिंति य ।
ते विहिधम्मह खिस महति य
लोयमज्झि झगडति- करति य ॥ ६१ ॥

सह वि हु थाहि वि सो नवि रूसइ
खम न सु भिज्जइ नवि ते दूसइ ।
जइ ति वि आवहि तो संभासइ
जुत्तु अजुत्तु वि निसुणिवि तूसइ ॥ ४८ ॥

अप्पु अणप्पु वि न सु यहु मन्नइ
थोवगुणु वि पर पिक्खवि वन्नइ ।
गइ वि अइ सरंति भवसायर
सो अणुवत्तउ निच्चु वि सायर ॥ ४९ ॥

सुगुणपहाणु गुरु इउ परि चिंतइ
तं-भूलि वि तं-मण सु निच्छिवइ ।
लोउ लोयपवाहइ मग्गउ
तासु न वसणु पिच्छइ नग्गउ ॥ ५० ॥

इह गुरु केहि वि लोयहि वज्जिउ
तु वि अम्हारइ संपि न मज्जिउ ।
अम्हि केम इसु पुच्छिहि लग्गह ?
अभिमिहि जिय किम नियगुरु मिल्लह ? ॥ ५१ ॥

पारतंत-विहिविसइ-विमुक्कउ
अणु इउ मुज्झइ मग्गह चुक्कउ ।
तिणि अणु विहिधम्मिहि सहु झगडइ
इह परलोइ वि अप्पा रगडइ ॥ ५२ ॥

तु वि अविवेकहु धिंगाउ करंतउ
किवइ न थक्कइ विहि असहंतउ ।
जो जिणभासिउ विहि सु कि छुट्टइ ?
सो झगडंतु लोउ परिपिट्टइ ॥ ५३ ॥

दुप्पसहंतु चरणु जं भुत्तउ
तं विहि विणु किम होइ निरुत्तउ ? ।
इक्क सूरि इक्क वि म अज्जी
इक्कु देम जि इक्क वि देसज्जी ॥ ५४ ॥

तसु संमत्तु होइ किव सुद्धउ
जो नवि वयणि विलग्गइ बुद्धह ।
तिन्नि चयारि छुत्तिदिण रक्खइ
स जिज सगावी लग्गउ लिक्खइ ॥ ६९ ॥

छुति य च्छुत्ति जल (पय) ट्टइ मेल्लइ
सा घर-धम्महं श्रावइ निल्लइ ।
छुत्तिभग्ग घर छड्डइ देवय
मासरणासुर मिल्लहि विहिसेवय ॥ ७० ॥

पडिकमणइ वंदणइ आउल्ली
चित्त धरति करइ असुल्ली ।
मणह मज्झि नवकारु वि ज्झायइ
तासु सुद्धु सम्मत्तु वि गायइ ॥ ७१ ॥

मावउ सावयल्लिहइ मग्गइ
तिणि सहु जुज्झइ धणवलि वग्गइ ।
अलिउ वि अप्पाणउ मन्नावइ
सो समत्तु न केमइ पावइ ॥ ७२ ॥

विकियवयणु वुल्लइ नवि मिल्लइ
पर पभणतु वि सच्चउं पिल्लइ ।
अट्ट मयट्ठाणिहिं वट्टतउ
सो सद्दिट्ठि न होइ न सन्तउ ॥ ७३ ॥

पर अणत्थि घल्लंतु न सक्कइ
परधण-धणिय जु लेयण वक्कइ ।
अहियपरिग्गह-पावपसत्ताउ
सो समत्तिण दूरिण चत्तउ ॥ ७४ ॥

जो सिद्धंत्तियजुत्तिहि नियवरु
वाहि न जाणइ करइ विसवरु ।
कु वि केणइ कसायपूरियमणु
वसइ कुडुवि ज माणुसघणु ॥ ७५ ॥

जिणपवयण—अपमाणय वड्डी
सउ सम्मत्तह वत्त वि फुट्टी ।
जुत्तिहिं वेयवन्तु तं मण्णइ
हुंतउ भमाइ सो वि न गिज्जइ ॥ ६२ ॥

जेट्ठा जेट्ठी परिणाविज्जहिं
ते वि समाणधम्म-घरि दिज्जहिं ।
विसमधम्म-घरि जइ वीवाहइ
तो सम (म्म) त्तु सु निच्छइ वाहइ ॥ ६३ ॥

थोवइ धणि संसारियकज्जइ
साहिज्जइ सव्वइ सावज्जइ ।
विहिधम्मत्थि अत्थु विम्भिग्गइ
जेण सु अप्पु निव्वुइ निज्जइ ॥ ६४ ॥

सावय वसहिं जेहिं फिर ठावहिं
साहुणि साहु थित्तु जइ आवहिं ।
मग्ग वत्थ फासुय अन्न आसण
वसहिं वि दिंति य पावपणासण ॥ ६५ ॥

जइ वि वि कालुचिय-गुणि वट्टहिं
अप्पा परु वि धरहिं विहिवट्टहिं ।
जिण गुरुवेयावच्चु करेवउ
इउ सिक्खविउ धम्मु सरेवउ ॥ ६६ ॥

पणुमाणुसु कुटुंबु निव्वाहइ
धम्मधारु पर छिड्डउ वाहइ ।
तिणि सम्मत्त-अवगमणि विमी
तसु भवभमणि न मइ निग्विणी ॥ ६७ ॥

सयणु सधाइ जु ज्जि तसु मत्तउ
भमइ भरिद्विहिं वि विरत्तउ ।
जे जिणसासणि हुंति पवमा
ते सवि बंधव नेहपवमा ॥ ६८ ॥

तसु संमत्तु होइ किव मुद्धह
जो नवि वयणि विल्लग्गइ वुद्धह।
तिन्नि चयारि छुत्तिदिण रक्खइ
स जिज सरावी लग्गइ लिक्खइ ॥ ६९ ॥

हुति य च्छुत्ति जल (पव) ट्टइ सेच्छइ
सा घर-धम्मह आवइ निच्छइ।
छुत्तिभग्ग घर छड्डइ देवय
मासणसुर मिल्लहि विहिसेवय ॥ ७० ॥

पडिकमणइ वदणइ आउल्ली
चित्त धरंति करेइ अमुल्ली।
मणह मज्झि नवकारु वि ज्झायइ
तासु सुद्धु सम्मत्तु वि रायइ ॥ ७१ ॥

सावउ सावयच्छिहइं मग्गइ
तिणि सहु जुज्झइ धणवलि वग्गइ।
अलिउ वि अप्पाणउ सच्चावइ
सो समत्तु न केमइ पावइ ॥ ७२ ॥

विकियवयणु वुल्लइ नवि मिल्लइ
पर पभणतु वि सच्चउ पिल्लइ।
अट्ठ मयट्ठाणिहिं वट्टतउ
सो सद्दिट्ठि न होइ न सन्तउ ॥ ७३ ॥

पर अणत्थि घल्लंतु न संकइ
परधण-धणिय जु लेयण धखइ।
अहियपरिग्गह-पावपसत्तउ
सो समत्तिण दूरिण चत्तउ ॥ ७४ ॥

जो सिद्धंतियजुत्तिहि नियघरु
वाहि न जाणइ करइ विसवरु।
कु वि केणइ कसायपूरियमणु
वसइ कुडुवि ज माणुसधणु ॥ ७५ ॥

जिणपवयणु—अपमावयणु वड्ढी
तउ सम्मत्तइ घत्त वि वुड्ढी।
जुत्तिहिं देवदव्वु तं मज्झइ
हुंतउ मग्गइ सो वि न दिज्जइ ॥ ६२ ॥

चेड्डा चेड्डी परिणाविज्जहिं
ते वि समाणधम्म-घरि दिज्जहिं।
विसमधम्म-घरि जइ वीवाहइ
ता सम (म्म) त्तु सु निच्छइ वाहइ ॥ ६३ ॥

थोवइ धणि ससारियकज्जइ
साहिज्जइ सव्वइ सावज्जइ।
विहिधम्मत्थि अत्थु विढविज्जइ
जेण सु अप्पु निम्मुइ निज्जइ ॥ ६४ ॥

सावय वसहिं लेहिं किर उववहिं
साहुणि साहु तित्थु जइ आवहि।
मत्त वत्थ फासुय जल आसण
वसहिं वि दिंति य पावपणासण ॥ ६५ ॥

जइ ति वि कालुचिय-गुणि वट्टहिं
अप्पा पर वि धरहिं विहिवट्टहिं।
जिण गुरुवेयावच्चु करेवउ
इउ सिद्धंतिउ वयणु सरेवउ ॥ ६६ ॥

धणमाणुसु कुडुंवु निव्वाहइ
धम्मवार पर हिट्ठउ वाहइ।
तिणि सम्मत्त-जलंजलि दिन्नी
तसु भवभमणि न मइ निव्विन्नी ॥ ६७ ॥

सयणु मज्झइ सु जिम्ह तसु भत्तउ
अन्नइ सरिट्ठिहिं वि विरत्तउ।
जं जिणसासणि हुंति पवन्ना
ते सवि बंधव महपवन्ना ॥ ६८ ॥

चर्चरी

परिचय—

नृत्य-सगीत-सहित एक लोक-नाट्य चर्चरी कहलाता था, जिसका अभिनय प्राय. वसन्तोत्सव के अवसर पर होता। ऐसा प्रतीत होता है कि चर्चरी रासक के समान प्रारभ मे एक नृत्यप्रकार था जो विकसित होकर दृश्य काव्य की स्थिति तक पहुँच गया। एक आचार्य का मत है कि नटों का वह नर्तन, जिसमें 'तेति गिध' शब्दों का उच्चारण करते हुए ताल सहित चार आवर्त्तन (चक्कर) लगाया जाय, चर्चरी[1] कहलाता है।

चर्चरी-नृत्य कालातर में शृगाररस की कथावस्तु के आधार पर अभिनेय गीति-नाट्य बन गया जिसका प्रमाण भूमिका में विस्तार के साथ दिया जा चुका है।

प्रस्तुत चर्चरी इस बात का प्रमाण है कि कुछ जैन-चैत्यगृह भी शृगार-रसपूर्ण रास और चर्चरियो से इतने अधिक गुजरित होने लगे थे कि धर्म-समाज-सुधारकों को इस प्रचलित प्रथा के विरुद्ध आदोलन करना पड़ा। यह तथ्य इस चर्चरी के साराश से स्पष्ट हो जायगा।

इस चर्चरी के रचयिता आचार्य जिनदत्तसूरि हैं जिनकी कृतियो के विषय में पूर्व पाठ मे सकेत किया जा चुका है। इस चर्चरी के प्रारम्भ मे धर्मजिन-स्तुति और जिनवल्लभसूरि की स्तुति के उपरात ७ पदो मे आचार्यवर के पाडित्य[2] का निरूपण मिलता है। दसवें पद में दुःसघ और सुसघ का अतर दिखाया गया है। तदुपरात उत्सूत्र-भाषियो के त्याग एव लोकप्रवाह में पडे हुए कुतूहल-प्रिय प्राणियों द्वारा चैत्यगृह के अपमानद्योतक गीत, वाद्य, क्रीड़ा, कौतुक का निषेध[3] वर्णित है।

---

१ तेति गिध इति शब्देन नर्त्तन राम तालत।
अथवा चर्चरी तालाच्चतुरावर्तनैनटैः।
क्रियते नर्त्तन तत्स्याच्चर्चरी नर्त्तन वरम्॥ वेद।

२ चर्चरी छद ११-१३

३ जिनवल्लभसूरि का काव्य-रचना-चातुरी में कालिदास माघ प्रभृति कवियों से श्रेष्ठ पद प्रदान किया गया है।

जसु सम्मत्तु मुणिवि अणुवरिज्जइ
पुण वि दाणिण पुणवि वयणिण लिज्जइ ।
पुणवि मणेण फरि पारणु भरिज्जइ
सगुणु जिट्ठु सो पइ ठाविज्जइ ॥ ७६ ॥

जुट्टइ पिट्टइ न य पतिज्जइ
जा अमत्तु असुवरि दइ किज्जइ ।
अप्पा परह न लक्खावियइ
अप्पा विणु फारणि ण्हाविज्जइ ॥ ७७ ॥

माय-पियर जे धम्मि विभिन्ना
ति वि अणुचियत्तिय हुंति निभन्ना ।
जं किर हुंति दीहसंसारिय
त पुत्तव न ठंति निवारिय ॥ ७८ ॥

ताहि वि कीरइ इह अणुवत्तणु
भायण-वत्थ-पयाणपयत्तिण ।
तह पुत्तंतह नवि रूसिज्जइ
तेहि समाणु विवाउ न किज्जइ ॥ ७९ ॥

इय जिणदत्तु वएसरसायणु
इह-परलोयह सुक्खह भायणु ।
कण्णंजलिहि पियंति जि भव्वइ
ते हवंति अजरामर सव्वइ ॥ ८० ॥

उपदेशरसायन समाप्तम् ॥

चर्चरी

जिनदत्त सूरि

नमिवि जिणेसरधम्मह तिहुयणसामियह
पायकमलु ससिनिम्मलु सिवगयगामियह ।
करिमि जहट्ठियगुणथुइ सिरिजिणवल्लहह
जुगपवरागमसूरिहि गुणिगणदुल्लहह ॥ १ ॥

जो अपमाणु पमाणइ छद्दरिसण तणइ
जाणइ जिव नियनामु न तिण जिव कुवि घणइ ।
परपरिवाइगइदवियारणपंचमुहु
तसु गुणवन्नणु करण कु सक्कइ इक्कमुहु? ॥ २ ॥

जो वायरणु वियाणइ सुहलक्खणनिलउ
सद्द असद्द वियारइ सुवियक्खणतिलउ ।
सु च्छंदिण वक्खाणइ छंदु जु सुजइमउ
गुरु लहु लहि पइठावइ नरहिउ विजयमउ ॥ ३ ॥

कव्वु अउव्वु जु विरयइ नवरसभरसहिउ
लद्धपसिद्धिहिं सुकइहिं सायरु जो महिउ ।
सुकइ माहु ति पससहिं जे तसु सुहगुरुहु
साहु न मुणहि अयाणुय मइजियसुरगुरुहु ॥ ४ ॥

कालियासु कइ आसि जु लोइहि वन्नियइ
ताव जाव जिणवल्लहु कइ नाअन्नियइ ।
अप्पु चित्तु परियाणहि त पि विसुद्ध न य
ते वि चित्तकइराय भणिज्जहि मुद्धनय ॥ ५ ॥

सुकइविसेसियवयणु जु वप्पइराउकइ
सु न्वि जिणवल्लहपुरउ न पावइ किन्ति कइ ।

अब आचार्य प्रवर जिनवल्लभसूरि प्रदर्शित चैत्यगृह के विधि-विधान का विवरण देते हैं। उनका कथन है कि रात्रि में चैत्यगृह में साध्वियों का प्रवेश, धार्मिक जलक्रीड़ा एवं निंदित कर्म, एवं विलासिनी-नृत्य निषिद्ध है। निषिद्ध कर्मों की विस्तृत सूची में रात्रि में रथभ्रमण लकुट-रास-प्रदर्शन जिन गुरु के अनुपयुक्त गायन, तांबूल-भक्षण, उपानह धारण प्रहरण-पुष्प-कल्पन, शिरोवस्त्र धारण, गृह-चिंता-ग्रहण मलिन वस्त्र-धारण कर जिनवर पूजन, श्राविका का मूल प्रतिमा-स्पर्श, आत्मप्रशंसा एवं परदूषण-कथन भी सम्मिलित है।

आगे चलकर चैत्यगृह के प्रबन्धकों की अकर्मण्यता का दुष्परिणाम और आगम के अनुसार आचरण करनेवाले पूज्य व्यक्तियों के सम्मान का वर्णन है। अंत के सात पद्यों में जिनवल्लभसूरि की महिमा का उल्लेख है।

उपर्युक्त विवरण इस तथ्य का द्योतक प्रतीत होता है कि चैत्यगृहों में लकुट-रास खेला जाता था, तभी तो उसके निषेध की आवश्यकता पड़ी।

चर्चरी

जिनदत्त सूरि

नमिवि जिणेसरधम्मह तिहुयणसामियह
पायकमलु ससिनिम्मलु सिवगयगामियह ।
करिमि जहट्ठियगुणथुइ सिरिजिणवल्लहह
जुगपवरागमसूरिहि गुणिगणदुल्लहह ॥ १ ॥

जो अपमाणु पमाणइ छद्दरिसण तणइ
जाणइ जिव नियनामु न तिण जिव कुवि घणइ ।
परपरिवाइगइंदवियारणपचमुहु
तसु गुणवन्नणु करण कु सक्कइ इक्कमुहु? ॥ २ ॥

जो वायरणु वियाणइ सुहलक्खणनिलउ
सद्द असद्द वियारइ सुवियक्खणतिलउ ।
सुच्छंदिण वक्खाणइ छंदु जु सुजइमउ
गुरु लहु लहि पइठावइ नरहिउ विजयमउ ॥ ३ ॥

कव्वु अउव्वु जु विरयइ नवरसभरसहिउ
लद्धपसिद्धिहिँ सुकइहिँ सायरु जो महिउ ।
सुकइ माहु ति पससहिँ जे तसु सुहगुरुहु
साहु न मुणहि अयाणुय मइजियसुरगुरुहु ॥ ४ ॥

कालियासु कइ आसि जु लोइहिँ वन्नियइ
ताव जाव जिणवल्लहु कइ नाअन्नियइ ।
अप्पु चित्तु परियाणहि त पि विसुद्ध न य
ते वि चित्तकइराय भणिज्जहि मुद्धनय ॥ ५ ॥

सुकइविसेसियवयणु जु वप्पइराउकइ
सुन्दि जिणवल्लहपुरउ न पावइ किन्ति कइ ।

मणरि मणेयविणेयहिं सुकइ पसंसियहिं
सक्कब्वासयलुद्धिहिं निच्चु नमंसियहिं ॥ ६ ॥

जिण कय नाणा चित्ताइं चित्तु हरन्ति लहु
तसु दंसणु विणु पुन्निहिं कउ लब्भइ दुलहु ।
सारइं बहु थुइ-थुत्ताइं चित्ताइं जेण कय
तसु पयकमलु कि पणमहिं ते जण कयसुकय ॥ ७ ॥

जो सिद्धंतु वियाणइ जिणवयणुब्भविउ
तसु नामु वि सुणि तूसइ होइ जु इहु भविउ ।
पारतंतु विहि पयडिउ विहिविसइहिं फलिउ
सहि ! जसु जसु पसरंतु न कत्थइ पडिक्खलिउ ॥८॥

जो किर सुत्तु वियाणइ कहइ जु कारवइ
करइ त्रियोवि जु मासिउ सिवपहु दक्खवइ ।
खवइ पावु पुव्वज्जिउ पर—अप्पह तणउ
तासु कदंसणि सगुणहिं रम्मुरिज्जइ पणउ ॥ ९ ॥

परिहरि लोयपवाहु पयट्टिउ विहिविसउ
पारतंति सहु जेण निहोडि कुमग्गसउ ।
दंसिउ जेण दुसंघ-सुसंघह अंतरउ
वद्धमाणजिणतित्थह कियउ निरंतरउ ॥ १० ॥

जं सम्मत्तु पयपहिं दूरि ति परिहरइ
जो न सुनाण-सुदंसण—किरिय वि आयरइ ।
गड्डरि गामपवाहपविट्ठि वि संचरिय
जिण गीयत्थायरियइ सम्मइ संभरिय ॥ ११ ॥

जोइहरि मग्गुचियई त्रि गीयह वाह्यइ
तह पिक्करूणं—भुइ—भुसइ लिहुइ कारवइ
विरहंकिय किर विक्खु ति सव्वि निवारियइ
जेहिं कहिं आसायण तेच न कारियइ ॥ १२ ॥

लोयपवाहपयट्टिहिं कोउहलपियइहिं
कीरन्तइ फुडलोयइ संसयविरहियहिं ।

ताइं वि समइनिसिद्धइ समइकयत्थियहि ।
धम्मत्थीहि वि कीरहि बहुजणपत्थियहि ॥ १३ ॥

जुगपवरागमु मन्निउ सिरिहरिभद्दपहु
पडिहयकुमयमयमूहु पयासियमुत्तिपहु ।
जुगपहाणसिद्धतिण सिरिजिणवल्लहिण
पयडिउ पयडपयाविण विहिपहु दुल्लहिण ॥ १४ ॥

विहिचेईहरु कारिउ कहिउ तमाययणु
तमिह अणिस्साचेइउ कयनिव्वुइनयणु ।
थिहि पुण तत्थ निवेइय सिवपावण पउण
जं निसुणेविणु रजिय जिणपवयणनिउण ॥ १५ ॥

जहि उस्सुत्तुजणक्कमु कु वि किर लोयणिहि
कीरतउ नवि दीसइ सुविहिपलोयणिहिं ।
निसि न ण्हाणु न पइट्ठ न साहुहि साहुणिहि
निसि जुवइहि न पवेसु न नट्टु विलासिणिहि ॥ १६ ॥

जाइ नाइ न कयग्गहु मन्नइ जिणवयणु
कुणइ न निद्दियकमु न पीडउ धम्मियणु ।
विहिजिणहरि अहिगारिउ सो किर सलहियइ
सुद्धउ धम्मु सुनिम्मलि जसु निवसइ हियइ ॥ १७ ॥

जित्थु तिन्चउरसुसावयदिट्ठउ दव्ववउ
निसिहि न नंदि करावि कुवि किर लेइ वउ
वलि दिणयरि अत्थमियइ जहि न हु जिणपुरउ
दीसइ धरिउ न सुत्ताइ जहि जणि तूररउ ॥ १८ ॥

जहिं रयणिहि रहभमणु कयाइ न कारियइ
लउडारसु जहिं पुरिसु वि दितउ वारियइ ।
जहि जलकीडदोलण हुति न देवयह
माहमाल न निसिद्धी कयअट्ठाहियह ॥ १६ ॥

जहि सावय सिग्गपडिमइ करिहि पइठ्ठ न य
इच्छाच्छंद न दीसहि जहि मुद्धंगिनय।
जहि उस्सुत्तपयट्टइ वयणु न निसुणियइ
जहि अम्मुत्तु जिण-गुरुह वि गउ न गाइयइ ॥ २० ॥

जहि सावय तंबालुन भक्खहि लिंति न य
जहि पाणहि य धरंति न सावय सुद्धनय।
जहि भोयणु न य सयणु न अणुचिउ वइसणउ
सह पहरणि न पवेसु न दुट्ठउ बुल्लणउ ॥ २१ ॥

जहि न हासु न वि हुडु न खिड्ड न रूसणउ
कित्तिनिमित्तु न निम्बइ जहि धणु अप्पणउ।
करहि जि बहु आसायण जहिं वि न मेलियहि
मिलिय ति केलि करंवि समाणु महेलियहि ॥ २२ ॥

जहिं संकंति न गहणु न माहि न मण्डलउ
जहिं सावयसिरि दीमइ कियउ न विंटलउ।
न्हवणयारा जाणु मिलिवि जहि न विभूसणाइ।
सावयजणिहि न कीरइ जहि गिहचिन्तणाउ ॥ २४ ॥

जहिं न मलियणंसंगिहि जिणवरु पूइयइ
मूलपडिम सुइमूइ वि छिवइ न साविय।
आरत्तिउ उत्तारिउ जं किर जिणवरह
तं पि न उत्तारिज्जइ बीयजिणेसरह ॥ २४ ॥

जहि पुरुसह निम्मलु न अक्खय वयाहलइ
महिलिमंडलमूसणाइं न नेसइ निम्मलइ।
जिणु न नहाहि ममत्तु न जिणु वि तअवसरु
जहि न अतिय गुरुदंसियनीइहि पमइसरु ॥ २५ ॥

जहि पुच्छिय सुसावय सुहगुरुलक्खणइ
मन्निहि गुणगुय सावय पवक्खइ तणइ

जहि इक्कुत्तु वि कीरइ निच्छइ सग्गुणाउ
समयजुत्ति विहडतु न वहुलोयह [त] णाउ ॥ २६ ॥

जहिं न अप्पु वन्निज्जइ परु वि न दूसियइ
जहि सग्गुणु वन्निज्जइ विगुणु उवेहियइ ।
जहि किर वत्थु-वियारणि कसुवि न वीहियइ
जहि जिणवयणुत्तिन्नु न कह वि पयंपियइ ॥ २७ ॥

इय वहुविह उस्सुत्तइ जेण निसेहियइ
विहिजिणहरि सुपसत्थिहि लिहिवि निदसियइ ।
जुगपहाणु जिणवल्लहु सो किं न मन्नियइ ?
सुगुरु जासु सन्नाणु सुनिउणिहि वन्नियइ ॥ २८ ॥

लवमित्तु वि उस्सुत्तु जु इत्थु पयंपियइ
तसु विवाउ अइथोड वि केवलि दसियइ ।
ताइ जि जे उस्सुत्तइ कियइ निरतरइ
ताह दुक्ख जे हुति ति भूरि भवतरइ ॥ २९ ॥

अपरिक्खियसुयनिहसिहिं नियमइगव्वियहि
लोयपवाहपयट्टिहिं नामिण सुविहियइ ।
अवरुप्परमच्छरिण निदसिय सगुणिहि
पूआविज्जइ अप्पउ जिणु जिव निग्घिणिहि ॥ ३० ॥

इह अणुसोयपयट्टह सख न कु वि करइ
भवसायरि ति पडति न इक्कु वि उत्तरइ ।
जे पडिसोय पयट्टहि अप्प वि जिय धरह
अवसय सामिय हु ति ति निव्वुइ पुरवरह ॥ ३१ ॥

ज आगम-आयरणिहिं सहु न विसवयइ
भणहि त वयणु निरुत्तु न सग्गुणु ज चयइ
ते वसति गिहिगेहि वि होइ तमाययणु
गइहि तित्थु लहु लब्भइ मुत्तिउ सुहरयणु ॥ ३२ ॥

पासत्थाइविओहिय केइ जि सावयइ
कारावहि जिणमदिरु तमइभावियइं ।

जहि सावय जिणपडिमइ करिंहि पइट्ठ न य
इच्छाच्छंद न दीसहि जहि मुद्धगिनय।
जहि उस्सुत्तपयट्टइ वयणु न निसुणियइ
जहि अम्मुणु जिण-गुहइ वि गउ न गाइयइ ॥ २० ॥

जहि सावय तंबोलुन भक्खहि लिंति न य
जहि पाणहि य धरंति न सावय सुद्धनय।
जहि भोयणु न य सयणु न अणुचिउ बइसणउ
सह पहरणि न पवेसु न दुट्ठउ भुल्लणउ ॥ २१ ॥

जहि न हासु न वि हुड्डु न खिड्डु न रूसणउ
कित्तिनिमित्तु न दिज्जइ जहि धणु अप्पणउ।
करहि जि बहु आसायण जहि सि न मेलियहि
मिलिय वि केलि करंति समाणु महेलियहिं ॥ २२ ॥

जहिं संकंति न गहणु न माहि न मंडलउ
जहिं सावयसिरि दीसइ कियउ न विंटलउ।
पहवणयार जणु मिल्लिवि जहि न विभूसणउ।
सावयजणिहि न कीरइ जहि गिहचिन्तणउ ॥ २४ ॥

जहिं न मलिणचेलंगिहि जिणवरु पूइयइ
मूलपडिम सुइभूइ वि छिवइ न साविपइ।
आरत्तिउ उत्तारिउ जं किर जिणवरह
तं पि न उत्तारिज्जइ बीयजिणे सरह ॥ २४ ॥

जहि पुप्फइ निम्मलु न अक्खय वयइहला
मडिमंडणभूसणई न बेसइ निम्मलइ।
जित्थु न अइहि ममत्तु न जित्थु वि सम्बसणु
जहि न अत्थि गुरुदंसियनीइहि पम्हसणु ॥ २५ ॥

जहि पुच्छिय भुसायय सुहगुरुलक्खणइ
भणिहि गुणभुय सयय पवक्खह तणइ

जहि इक्कु त्तु वि कीरइ निच्छइ सगुणउ
समयजुत्ति विहडतु न बहुलोयह [त] णउ ॥ २६ ॥

जहि न अप्पु वन्निज्जइ परु वि न दूसियइ
जहि सग्गुणु वन्निज्जइ विगुणु उवेहियइ ।
जहि किर वत्थु-वियारणि कसुवि न बीहियइ
जहि जिणवयणुत्तिन्नु न कह वि पयंपियइ ॥ २७ ॥

इय बहुविह उस्सुत्तइ जेण निसेहियइ
विहिजिणहरि सुपसत्थिहि लिहिवि निदसियइ ।
जुगपहाणु जिणवल्लहु सो किं न मन्नियइ ?
सुगुरु जासु सन्नाणु सुनिउणिहि वन्नियइ ॥ २८ ॥

लवमित्तु वि उस्सुत्तु जु इत्थु पयंपियइ
तसु विवाउ अइरोउ वि केवलि दसियइ ।
ताइ जि जे उस्सुत्ताइं कियइ निरतरइ
ताह दुक्ख जे हुति ति भूरि भवतरइ ॥ २९ ॥

अपरिक्खियसुयनिहसिहिं नियमइगव्वियहि
लोयपवाहपयट्टिहिं नामिण सुविहियइ ।
अवरुप्परमच्छरिण निदमिय सगुणिहि
पूआविज्जइ अप्पउ जिणु जिव निग्घिणिहिं ॥ ३० ॥

इह अणुसोयपयट्टह सख न कु वि करइ
भवसायरि ति पडति न इक्कु वि उत्तरइ ।
जे पडिसोय पयट्टहि अप्प वि जिय धरह
अवसय सामिय हु ति ति निव्वुइ पुरवरह ॥ ३१ ॥

ज आगम-आयरणिहिं सहु न विसवयइ
भणहि त वयणु निरुत्तु न सग्गुणु ज चयइ
ते वसति गिहिगेहि वि होइ तमाययणु
गइहि तित्थु लहु लब्भइ मुत्तिउ सुहरयणु ॥ ३२ ॥

पासत्थाइविबोहिय केइ जि सावयइं
कारावहि जिणमदिरु तमइभावियइं ।

जहि माषय जिणपडिमह करिहि पाहू न य
इच्छाधहंव न दीसहि जहि मुद्धंगिनय।
जहि उस्सुत्तपयहृह वयणु न निसुणियइ
जहि भव्वुगु जिण–गुरुहं वि गेउ न गाइयइ ॥ २० ॥

जहि सावय तंबोलुन भक्खहि लिंति न य
जहि पाणहि य धरंति न सावय सुद्धनय।
जहि भोयणु न य समणु न मणुचिउ बइसणउ
सह पहरणि न पवसु न दुट्ठउ बुल्लणउ ॥ २१ ॥

जहि न हासु न वि हुडु न खिडु न रूसणउ
किचिनिमित्तु न निच्छइ जहि धणु अप्पणउ।
करहि जि बहु आसायण जहिं ति न मेलियहि
मिलिय ति केलि करंति समाणु महेलियहिं ॥ २२ ॥

जहिं संकंति न गहणु न माहि न मंडलउ
जहिं सावयसिरि दीसइ कियउ न विंटलउ।
णहवणायार जत्थ मिलिवि जहि न विमूसणउ।
सावयजणिहि न कीरइ जहि गिहचिन्तणउ ॥ २४ ॥

जहिं न मलिणचेलंगिहि जिणवरु पूइयइ
मूलपडिम सुहमूइ वि छिवइ न साविया।
आरत्तिउ उत्तारिउ जं फिर जिणवरह
तं पि न उत्तारिज्जइ बीयबिंबो सरइ ॥ २४ ॥

जहि पुत्थइ निम्मलु न अक्खय वसहइस
महिमंडणमूसणाइं न वेसइ निम्मलइ।
जित्थु न जाइहि ममत्तु न जित्थु वि सव्वसरणु
जहि न अत्थि गुरुदंसियनीइहि पम्हसणु ॥ २५ ॥

जहि पुच्छिय सुमावय सुहगुरुलक्खणाइ
मथिहि गुणभुय सावय पवक्खइ तणाइ

जहि इक्कुत्तु वि कीरइ निच्छइ सगुणउ
समयजुत्ति विहडतु न वहुलोयह [त] णउ ॥ २६ ॥

जहि न अप्पु वन्निज्जइ परु वि न दूसियइ
जहि सग्गुणु वन्निज्जइ विगुणु उवेहियइ ।
जहि किर वत्थु-वियारणि कसुवि न वीहियइ
जहि जिणवयणुत्तिन्नु न कह वि पयंपियइ ॥ २७ ॥

इय वहुविह उस्सुत्तइ जेण निसेहियइ
विहिजिणहरि सुपसत्थिहि लिहिवि निदंसियइ ।
जुगपहाणु जिणवल्लहु सो किं न मन्नियइ ?
सुगुरु जासु सन्नाणु सुनिउणिहि वन्नियइ ॥ २८ ॥

लवमित्तु वि उस्सुत्तु जु इत्थु पयंपियइ
तसु विवाउ अइघोउ वि केवलि दंसियइ ।
ताइ जि जे उस्सुत्तइ कियइ निरंतरइ
ताह दुक्ख जे हुंति ति भूरि भवंतरइ ॥ २९ ॥

अपरिक्खियसुयनिहसिहिं नियमइगव्वियहि
लोयपवाहपयट्टिहिं नामिण सुविहियइ ।
अवरुप्परमच्छरिण निदंसिय सगुणिहि
पूआविज्जइ अप्पउ जिणु जिव निग्घिणिहि ॥ ३० ॥

इह अणुसोयपयट्टह सख न कु वि करइ
भवसायरि ति पडंति न इक्कु वि उत्तरइ ।
जे पडिसोय पयट्टहि अप्प वि जिय धरह
अवसय सामिय हुंति ति निव्वुइ पुरवरह ॥ ३१ ॥

ज आगम-आयरणिहिं सहु न विसंवयइ
भणहि त वयणु निरुत्तु न सग्गुणु ज चयइ
ते वसंति गिहिगेहि वि होइ तमाययणु
गइहि तित्थु लहु लब्भइ मुत्तिउ सुहरयणु ॥ ३२ ॥

पासत्थाइविमोहिय केइ जि सावयइ
कारावहि जिणमदिरु तंमइभावियइ ।

तं किर निस्सावेइउ अववायिया मणिउ
विहि-पडिवहि तहि फीरइ वंदणु कारणिउ ॥ २३ ॥

जहि लिंगिम जिणमंदिरि जिणदव्विण कयइ
महि वसन्ति आसायण करहिं महंतियइ ।
तं पकप्पि परिवज्जिउ साहम्मियथलिय
जहिं गय वंदणकज्जिण न सुदंसण मिलिय ॥ २४ ॥

आइनिद्धसावस्सयपयरणदंसियउ
समणायमणु जु दावइ दुक्खइ पसंसियउ ।
तहिं कारणि वि न जुत्तउ सावयजणगमणु
तहि वसंति जे लिंगिय ताहि वि पयनमणु ॥ २५ ॥

जाइज्जइ तहिं वायि(ठाणि वि नमियहिं इत्थु जइ
गय नमंतजण पावहि गुणगणबुद्धिं जइ ।
गइहि तत्थु वि नमंतिहिं पाउ जु पावियइ
गमणु नमणु तहिं निच्छइ मगुणिहिं वारियइ ॥ २६ ॥

वसहिहिं वसहि वहुघउसुत्तपयंपिरइ
करहि किरिय जणरज्जण निच्चु वि दुक्करय ।
परि सम्मत्तविहीणय वि हीणिहि सेवियहिं
विहि सहु दंसणु सगुण कुणहिं न पावियहिं ॥ २७ ॥

उस्सग्गिण विहिचेइउ पढमु पयासियउ
निस्साकडु अववाइण दुइउ निदंसियउ ।
जहि किर लिंगिय निवसहि तमिह अणायपणु
पहि निसिद्ध सिद्धंति वि धम्मियजणगमणु ॥ २८ ॥

विणु कारणि तहि गमणु न कुणहि जि सुविहियई
तिविहु जु चेइउ कहइ सु माइ वि मंनियइ ।
न पुण दुविहु कहइ जु सा अवगमियइ
तण खाउ इह सयलु वि मोक्खउ बुज्झियइ ॥ २९ ॥

इय निगुणहइ दुल्लह सिरिजिणवल्लहिया
विविहु निवइउ चेइउ सियमिरिवल्लहिए ।
उस्सुत्तइ वारंतिण सुत्तु कहंतएण
इह नव व जिणसासणु दंसिउ सुम्मइएण ॥ ४

इक्कवयणु जिणवल्लहु पहु वयणइ घणइ
कि व जंपिवि जणु सक्कइ सक्कु वि जइ मुणइ ।
तसु पयभत्तह सत्तह सत्तह भवभयह
होइ अंतु सुनिरुत्ताउ तव्वयणुज्जयह ॥ ४१ ॥

इक्ककालु जसु विज्ज असेस वि वयणि ठिय
मिच्छदिट्ठि वि वदहि किंकरभावट्ठिय ।
ठावि (णि) विहिपक्खु वि जिण अप्पडिखलिउ
फुडु पयडिउ निक्कवडिण पर आपउ कलिउ ॥ ४२ ॥

तसु पयपकयउ पुन्निहि पाविउ जण-भमरु
सुद्धनाण-महुपाणु करतउ हुइ अमरु ।
सत्थु हु तु सो जाणइ सत्थ सपत्थ सहि
कहि अणुवमु उवमिज्जइ केण समाणु सहि ! ? ॥ ४३ ॥

वद्धमाणसूरिसीसु जिणेसर सूरिवरु
तासु सीसु जिणचंदजईसरु जगपवरु ।
अभयदेउमुणिनाहु नवगह वित्तिकरु
तसु पयपकय - भसलु सलक्खणुचरणकरु ॥ ४४ ॥

सिरिजिणवल्लहु दुल्लहु निप्पुन्नह जणह
हउ न अंतु परियाणउ अहु जण ! तग्गुणह ।
सुद्धधम्मि हउ ठाविउ जुगपवरागमिण
एउ वि मइ परियाणिउ तग्गुण-संकमिण ॥ ४५ ॥

भमिउ भूरिभवसायरि तह वि न पत्तु मइ
सुगुरुरयणु जिणवल्लहु दुल्लहु सुद्धमइ ।
पाविय तेण न निव्वुइ इह पारत्तियइ
परिभव पत्ता बहुत्त न हुय पारत्तियइ ॥ ४६ ॥

इय जुगपवरह सूरिहि सिरिजिणवल्लहह
नायसमयपरमत्थह वहुजणदुल्लहह ।
तसु गुणथुइ बहुमाणिण सिरिजिणदत्तगुरु
करइ सु निरुवमु पावइ पउ जिणदत्तगुरु ॥ ४७ ॥

॥ इति चर्चरी समाप्त ॥

सन्देश-रासक

सन्देश-रासक की हस्तलिखित प्रतियाँ मुनिजिनविजय को पाटन-भंडार में सन् १९१९—११ में प्राप्त हुईं। सर्वप्रथम उन्हें जो प्रति प्राप्त हुई उसमें संस्कृत अवचूरिका या टिप्पणी का पता नहीं था। सन् १९१८ ई. में पूना के भंडारकर—ओरियंटलरिसर्चइंस्टिट्यूट में उन्हें एक ऐसी हस्तलिखित प्रति मिली जिसमें संस्कृत भाषा में अवचूरिका विद्यमान थी। मुनि जिनविजय जी ने विविध प्रतियों में पाठभेद देखकर यह परिणाम निकाला कि इस रासक में देश काल-भेद के कारण पाठांतर होता गया। जनप्रिय होने के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों के विद्वान् स्थानीय शब्दों को इसमें सन्निविष्ट करते गए, जिसका परिणाम यह हुआ कि इसके पाठभेद उत्तरोत्तर बढ़ते ही गये।

देशी भाषा-मिश्रित इस अपभ्रंश ग्रन्थ की महत्ता के अनेक कारण हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इतिहास की दृष्टि से यह सबसे *प्राचीन धर्मेतर रास रचना* अबतक उपलब्ध हुई है। इसके पूर्व विरचित रास अनतधर्म सम्बन्धी ग्रंथ हैं जिनकी रचना जैनाचार्यों को ध्यान में रखकर की गई थी। लोक-प्रचलित प्रेम कथा के आधार पर शुद्ध लौकिक प्रेमकी व्याख्या करनेवाला यह प्रथम प्राप्य रासक ग्रंथ है।

इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसका रचयिता अब्दुल रहमान एक उदार अहिंदू है जिसने बड़ी सहानुभूति के साथ विजित हिंदुओं की धार्मिक एवं साहित्यिक परम्परा को हृदय से स्वीकार किया और उनके सुख दुखकी गाथाका गान उन्हीं के शब्दों और उन्हीं की शैली में गाकर विजेता और विजित के मध्य विद्यमान कटुता के निवारण का प्रयास किया।

भाषा-शैली

इस ग्रंथ की भाषा मूल पृथ्वीराजरासो की भाषा से प्रायः साम्य रखती है। इस रासक में भी य के स्थान पर 'इ' अथवा 'इ' के स्थान पर य प्रयुक्त हुआ है 'वियोगी' शब्द 'विउयइ' हो गया है। इस प्रकार का परिवर्तन दोहा-कोश और प्राचीन बँगला में भी पाया जाता है।

'व' और 'व' का भेद प्रायः प्रतियों में नहीं पाया जाता। जैसे—'बलाहक' का 'वलाहय' 'अब्रवीत' का 'वोलत' 'बहिणी' का 'वरहिणी' आदि रूप पाये जाते हैं।

इसी प्रकार 'ए' का 'इ' 'ओ' का 'उ'। जैसे—'पेक्खइ' का 'पिक्खइ' 'ज्योत्सना' का 'जुन्ह'।

रचनाकाल—

आश्चर्य का विषय है कि इतने मनोहर काव्य का उल्लेख किसी ग्रथ मे नहीं मिलता। सिद्धराज और कुमारपाल के राजत्वकाल मे व्यवसाय का प्रसार देखकर और इस रासक के कथानक से तत्कालीन परिस्थिति की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि यह रासक बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे रचा गया होगा। श्री मुनिजिनविजय ने अपना यही मत प्रकट किया है।

छन्द-योजना—

इस रासक मे अपभ्रश के विविध छदों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि रासा छदों की सख्या अधिक है तथापि गाहा, रड्डा, पद्धडिया, दोहा, चउपइया, वत्थु, अडिल्ला, मडिल्ला आदि अपभ्रश छदों की सख्या भी कम नहीं है।

कथावस्तु—

कवि ने प्रारम्भ मे विश्वरचयिता की वदना के उपरात अपने ततुवाय (जुलाहा) कुल का परिचय दिया है। तदुपरात अपने पूर्ववर्ती उन कवियों को, जिन्होने अवहट्ट, सस्कृत, प्राकृत और पैशाची भाषाओं में काव्यरचना की, श्रद्धाजलि समर्पित की। कवि अल्पज्ञता के कारण अपनी साधारण कृति के लिए विद्वानों से क्षमा-याचना करते हुए कहता है कि यदि गगा की बड़ी महिमा है तो सामान्य नदियों की अपनी उपयोगिता है वह अपने काव्यको विद्वन्मडली अथवा मूर्खमडली के अनुपयुक्त समझता है और आशा करता है कि मध्यमवर्ग का पाठक इसे अपनाएगा। द्वितीय प्रक्रम में मूल कथा इस प्रकार प्रारम्भ होती है। विजयनगर (विक्रम-पुर) में राहुग्रस्त चद्रमा के समान मुखवाली एक प्रोषित-पतिका नायिका अपने पति के आगमन का मार्ग जोहती हुई नेत्रों से निरतर अश्रु वर्षा कर रही है। वियोग-सतप्ता नायिका समीप के ही एक मार्गपर जाते हुए पथिक

सन्देश रासक

सन्देश-रासक की हस्तलिखित प्रतियाँ मुनिजिनविजय को पाटन भंडार में सन् १६१२-१३ में प्राप्त हुई। सर्वप्रथम उन्हें जो प्रति प्राप्त हुई उसमें संस्कृत अवचूरिका या टिप्पणी का पता नहीं था। सन् १६१८ ई० में पूना के भंडारकर—ओरियंटलरिसर्चइंस्टिट्यूट में उन्हें एक ऐसी हस्तलिखित प्रति मिली जिसमें संस्कृत भाषा में अवचूरिका विद्यमान थी। मुनि जिनविजय जी ने विविध प्रतियों में पाठभेद देखकर यह परिणाम निकाला कि इस रासक में देश काल-भेद के कारण पाठांतर होता गया। जनप्रिय होने के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों के विद्वान् स्थानीय शब्दों को इसमें सन्निविष्ट करते गए, जिसका परिणाम यह हुआ कि इसके पाठभेद उत्तरोत्तर बढ़ते ही गये।

देशी भाषा-मिश्रित इस अपभ्रंश ग्रन्थ की महत्ता के अनेक कारण हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इतिहास की दृष्टि से यह सबसे प्राचीन धर्मेतर रास रचना अबतक उपलब्ध हुई है। इसके पूर्व विरचित रास जैनधर्म सम्बन्धी ग्रंथ हैं जिनकी रचना जनावलम्बियों को ध्यान में रखकर की गई थी। लोक प्रचलित प्रेम कथा के आधार पर शुद्ध लौकिक प्रेमकी व्याख्या करनेवाला यह प्रथम प्राप्य रासक ग्रंथ है।

इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसका रचयिता अब्दुल रहमान ऐसा उदार व्यक्ति है जिसने बड़ी सहानुभूति के साथ विजित हिंदुओं की धार्मिक एवं साहित्यिक परम्परा को हृदय से स्वीकार किया और उनके सुख-दुखकी गाथाका गान उन्हीं के शब्दों और उन्हीं की शैली में गाकर विजेता और विजित के मध्य विद्यमान कटुता के निवारण का प्रयास किया।

भाषा—शैली

इस ग्रंथ की भाषा मूल पृथ्वीराजरासो की भाषा से प्रायः साम्य रखती है। इस रासक में भी 'य' के स्थान पर 'इ' अथवा 'इ' के स्थान पर 'य' प्रयुक्त हुआ है 'विओरी' शब्द 'वियोगी' हो गया है। इस प्रकार का परिवर्तन दोहा-कोश और प्राचीन बँगला में भी पाया जाता है।

सन्देश-रासक

अब्दुर्रहमान

[१२वीं शती का अन्त]

रयणायरधरगिरितरुवराइ गयणंगणंमि रिक्खाइं ।
जेणऽज्ज सयल सिरियं सो ब्रुहयण वो सिवं देउ ॥ १ ॥

माणुस्सदिव्वविज्जाहरेहि णहमग्गि सूर-ससि-विंबे ।
आएहिं जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तार ॥ २ ॥

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि ।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥ ३ ॥

तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वेसु गीयविसयेसु ।
अद्दहमाणपसिद्धो सनेहयरासय रइय ॥ ४ ॥

पुव्वच्छेयाण णमो सुकईण य सद्दसत्थकुसलाण ।
तियलोए सुच्छंद जेहि कय जेहि णिद्दिट्ठ ॥ ५ ॥

अवहट्टय-सक्कय - पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए ।
लक्खणछन्दाहरणे सुकइत्त भूसिय जेहि ॥ ६ ॥

ताणऽणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थरहियाण ।
लक्खणछंदपमुक्क कुकवित्तं को पससेइ ॥ ७ ॥

अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइय ससहरेण णिसि समए ।
ता किं ण हु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्ख ॥ ८ ॥

जइ परहुएहिं रडियं सरस सुमणोहर च तरुसिहरे ।
ता किं भुवणारूढा मा काया करकरायन्तु ॥ ९ ॥

तंतीवाय णिसुयं जइ किरि करपल्लवेहि अइमहुरं ।
ता मद्दलकरडिरव मा सुम्मउ रामरमणेसु ॥ १० ॥

जइ मयगलु मउ झरए कमलदलव्वहलगधडुप्पिच्छो ।
जइ अइरावइ मत्तो ता सेसगया म मच्चतु ॥ ११ ॥

मे रात रोते उसके गंतव्य स्थान का नाम पूछती है। पथिक अपना परिचय देते हुए कहता है कि मैं मूलस्थान (सामोर) से आ रहा हूँ और अपने स्वामी का संदेश लेकर स्तंभतीर्थ जा रहा हूँ। स्तंभतीर्थ नगर का नाम सुनते ही वह नायिका विकंपित हो उठी। कारण यह था कि उसका पति चिरकाल से परिणीता की सुधि भूलकर उसे विरहाग्नि में तपा रहा था। पथिक ने उसके पति के लिए जब संदेश माँगा तो उसने कहा कि जो हृदयहीन व्यक्ति धन के अर्जन में अपनी प्रिया को विस्मृत कर जाता है उसे क्या संदेश दूँ।

इसी प्रकार दोनों में वार्तालाप होता रहा। नायिका ने ग्रीष्म से प्रारंभ कर वसंत तक आनेवाली अपनी विपदाओं का उल्लेख किया। काम बाण से बिद्ध बाला ने अंत में पथिक से विनय की कि यदि पतिदेव के संबंध में मुझसे अविनय हो गई हो तो आप उन शब्दों का उल्लेख न करें।

पथिक को विदा कर गृह को लौटते हुए ज्यों ही उसने दक्षिण दिशा में देखा उसे प्रवासी पतिदेव पधारते आते दिखाई पड़े। वह आनंद से विभोर हो उठी।

सन्देश-रासक

अब्दुर्रहमान

[१२वीं शती का अन्त]

रयणायरधरगिरितरुवराइं गयणंगणंमि रिक्खाइं ।
जेणऽज्ज सयल सिरियं सो ब्रुहयण वो सिवं देउ ॥ १ ॥

माणुस्सदिव्वविज्जाहरेहिं णहमग्गि सूर-ससि-बिंबे ।
आएहिं जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तार ॥ २ ॥

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि ।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥ ३ ॥

तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वेसु गीयविसयेसु ।
अद्दहमाणपसिद्धो संनेहयरासय रइय ॥ ४ ॥

पुव्वच्छेयाण णमो सुकईण य सद्दसत्थकुसलाण ।
तियलोए सुच्छंद जेहि कय जेहि णिद्दिट्ठ ॥ ५ ॥

अवहट्टय-सक्कय - पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए ।
लक्खणछन्दाहरणे सुकइत्त भूसियं जेहि ॥ ६ ॥

ताणऽणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थरहियाण ।
लक्खणछंदपमुक्क कुकवित्त को पससेइ ॥ ७ ॥

अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइय ससहरेण णिसि समए ।
ता किं ण हु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्ख ॥ ८ ॥

जइ परहुएहिं रडियं सरस सुमणोहर च तरुसिहरे ।
ता कि भुवणारूढा मा काया करकरायन्तु ॥ ९ ॥

तंतीवायं णिसुय जइ किरि करपल्लवेहि अइमहुरं ।
ता मद्दलकरडिरव मा सुम्मउ रामरमणेसु ॥ १० ॥

जइ मयगलु मउ झरए कमलदलब्बहलगंधदुप्पिच्छो ।
जइ अइरावइ मत्तो ता सेसगया म मच्चतु ॥ ११ ॥

से रोते राते उसके गंतव्य स्थान का नाम पूछती है। पथिक अपना परिचय देते हुए कहता है कि मैं मलस्थान (सामार) से आ रहा हूँ और अपने स्वामी का संदेश लेकर स्तंभतीर्थ जा रहा हूँ। स्तंभतीर्थ नगर का नाम सुनते ही वह नायिका विक्षिप्त हो उठी। कारण यह था कि उसका पति चिरकाल से परिणीता की सुधि भूलकर उसे विरहाग्नि में तपा रहा था। पथिक ने उसके पति के लिए जब संदेश माँगा तो उसने कहा कि जो हृदय हीन व्यक्ति धन के प्रलोभन में अपनी प्रिया को विस्मृत कर जाता है उसे क्या संदेश दूँ।

इसी प्रकार दोनों में वार्तालाप होता रहा। नायिका ने ग्रीष्म से प्रारंभ कर बसंत तक आनेवाली अपनी विपदाओं का उल्लेख किया। काम बाण से बिद्ध बाला ने अंत में पथिक से विनय की कि यदि पतिदेव के संबंध में मुझसे अविनय हो गई हो तो आप उन शब्दों का उल्लेख न करें।

पथिक को विदा कर वह ज्यों लौटते हुए ज्यों ही उसने दक्षिण दिशा में देखा उसे प्रवासी पतिदेव पथपर आते दिखाई पड़े। वह आनंद से विभोर हो उठी।

अइणेहिण भासिउ रइमइ वासिउ, सवण सकुलियह अमियसरो ।
लइ लिहइ वियक्खणु, अत्यह लक्खणु, सुरइ संगि जु विअड नरो॥२३॥
[डुमिला छंद]

द्वितीय: प्रक्रमः

विजयनयरहु कावि वररमणि

उत्तगथिरथोरथणि, विरुडलक धयरट्ठपउहर ।
दीणाणण पहु णिहइ, जलपवाह पवहंति दीहर ॥
विरहग्गिहि कणयगितणु तह सामलिमपवन्नु ।
णज्जइ राहि विडंविअउ ताराहिवइ सउन्नु ॥ २४ ॥

फुसड लोयण रुवइ दुक्खत्ता,
धम्मिल्लउमुक्कमुह, विज्जभइ अरु अंगु मोडइ ।
विरहानलि संतविअ, समइ दीह करसाह तोडइ ।
इम मुद्धह विलवतियह महि चलणेहि छिहंतु ।
अद्धुड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु ॥ २५ ॥(रड्डा०)

त जि पहिय पिक्खेविणु पिअउक्कंखिरिय,
मंथरगय सरलाइवि उत्तावलि चलिय ।
तह मणहर चल्लंतिय चंचलरमणभरि,
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणिरवपसरि ॥ २६ ॥

त जं मेहल ठवइ गठि णिठ्ठुर सुहय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसरहाररलय ।
सा तिवि किवि सवरिवि चइवि किवि सचरिय,
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पखुडिय ॥ २८ ॥

पडि उट्ठिय सविलक्ख सलज्जिर सम्भसिय,
तउ सिय सच्छ णियसण मुद्धह विवलसिय ।

जइ अत्थि पारिजाओ बहुविह गंधड्ढ कुसुम आमोओ।
फुल्लइ सुरिंदभुवणे ता सेसतरू म फुल्लंतु ॥ १२ ॥

जइ अत्थि णई गंगा तियलोए णिच्चपयडियपहावा।
वच्चइ सायरसमुहा ता सेससरी म वच्चंतु ॥ १३ ॥

जइ मरगयंमि विमले सूरं उग्गंमि विब्भसिआणलिणी।
ता किं वाडिविलग्गा मा विअसउ तुंबिणी कहवि ॥ १४ ॥
जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंग चंगिमा तरुणी।
ता किं गामगहिल्ली तालीसद्दे ण णच्चेइ ॥ १५ ॥

जइ बहुलदुद्धसंमीलिया य उल्लसइ तंदुला खीरी।
ता कणकुक्कससहिआ रब्बडिया मा दुहव्वडउ ॥ १६ ॥
जा अम्स कव्वसत्ती मा सेवा मलमिरेण भणियव्वा।
जइ सहुसुरेण भणिय ता सेसा मा भणिज्जंतु ॥ १७ ॥

णत्थि विहुयमि ज च णहु विहु
तुम्हेहिं वि अ न सुउ विम्भअम्पु सुच्छंदु सरसउ।
णिसुणेविणु को रहइ ललियमहीणु मुक्खाह फरसउ।
सा दुग्गविय छेअरहिं परहिं चलहंतेहिं।
आसासिज्जइ कह कह वि सामली रसिएहिं ॥ १८ ॥

णिम्मकविताह विभ माहप्प
पडितपविस्थरणु मणुअयंमि कालियपयासिउ।
कोऊहलि मासिअउ सम्मभाइ मनेहरासउ ॥
तं आणिवि णिमिसिद्धु खणु सुहयणु कवि सयेहु।
पामरजणसुलक्खरहिं ज रइयउ णिसुणेहु ॥ १९ ॥

[रड्डाछन्द]

संपडिउ जु सिक्खइ कुइ समत्थु, तसु कहउ विसुद्ध संगहवि इत्थु।
पडिताह मुक्खह सुणहि मेउ तिह पुरउ पडिव्वउ ण हु वि एउ ॥ २० ॥
णहु रहइ बुहा कुकवित्तरेसि अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि।
जि ण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार, तिह पुरउ पढिव्वउ सव्ववार ॥ २१ ॥

[पद्धडी छंद]

मणुराइमरमहर कामिणमणहर, मयणमणह पहदीवयरो।
विरहणिमहरद्धउ सुणहु विसुद्धउ रसियह रससंजीवयरो ॥ ॥

अइणेहिण भासिउ रइमइ वासिउ, सवण सकुलियह अमियसरो।
लइ लिहइ वियक्खणु, अत्यह लक्खणु, सुरइ संगि जु विअड नरो॥२३॥
[डुमिला छद]

द्वितीयः प्रक्रमः

विजयनयरहु कावि वररमणि

उत्तगथिरथोरथणि, विरुडलक धयरट्ठपउहर।
दीणाणण पहु णिहइ, जलपवाह पवहंति दीहर॥
विरहग्गिहि कणयगितणु तह सामलिमपवन्नु।
णज्जइ राहि विडंविअउ ताराहिवइ सउन्नु॥ २४॥

फुसइ लोयण रुवइ दुक्खत्ता,
धम्मिल्लउमुक्कमुह, विज्जभइ अरु अगु मोडइ।
विरहानलि संतविअ, समइ दीह करसाह तोडइ।
इम मुद्धह विलवतियह महि चलणेहि छिहंतु।
अद्धुड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु॥ २५॥(रड्डु०)

त जि पहिय पिक्खेविणु पिअउक्कंखिरिय,
मथरगय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।
तह मणहर चल्लंतिय चचलरमणभरि,
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणिरवपसरि॥ २६॥

त ज मेहल ठवइ गठि णिट्ठुर सुहय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसरहारलय।
सा तिवि किवि सवरिवि चइवि किवि सचरिय,
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पखुडिय॥ २८॥

पडि उट्ठिय सविलक्ख सलज्जिर सभसिय,
तउ सिय सच्छ णियंसण मुद्धह विवलसिय।

तं संवरि अणुसरिय पहियपावयणमण
फुडवि णिरा कुप्पास विलग्गिय दर मिहण ॥ २८ ॥

छायंती कह कह व सलज्जिर णियकराहि
कणयकलस झंपंती णं इंदीवरहि।
तो आसन्न पहुत्त सगग्गिरगिर वयणि,
कियउ सबद्दु सविलासु कडय वीहरनयणि ॥ २९ ॥

ठाहि ठाहि णिमिसिधद्धु मुंधिरु भवद्दारि मणु
णिसुणि किं पि ज जंपउ हियइ पसिज्जि खणु।
एय वयण आयन्नि पहिउ कोउहलिउ
थोम णिमत्त वा सु कमयधु वि णहु चलिउ ॥ ३० ॥

कुसुमसराउह रूवणिहि विहि णिम्मविय गरिठ्ठ।
तं पिक्खेविणु पहियणहि गाहा भणिया भट्ठ ॥ ३१ ॥

पहिउ भणइ विवि दाहा पमु सु वियड्ढपरि।
हंड्ड मणि विंभव थियउ कि त्थविणि पिक्खि करि॥
किं तु पयावइ अयडड अइवि वियड्ढसु मारि।
जिणि परिसि ठिय णिम्मविय ठविय न अप्पइ पाहि॥
अइकुडिलमाइ पिहुणा विविहतरंगिणिसु सलिलकल्लोला।
किसणत्तणंमि अलया अलिकसमाकव्व रेहंति ॥ ३२ ॥

रयणीतमविद्दवणो अमियमऊरणो सपुण्णसोमो य।
अकलंक माइ वयणं वासरणाहस्स पडिबिंबं ॥ ३३ ॥

सोयणजुय च मज्झइ रविंदइल दीहरं च राइल्लं।
पिंडीरकुसुमपुंज तरुणिकपोला कलिज्जंति ॥ ३४ ॥

कोमल मुणालणालयं भमरसरुप्पम बाहुजुयलं से।
दायंत करकमलं मज्झ दाहाइयं पउमं ॥ ३५ ॥

सिहणा सुयणसखला इव थड्ढा निच्चुण्णया य मुहरहिया।
संगमि सुमणसरिच्छा आसासहि जे वि अंगाई ॥ ३६ ॥

गिरिणइ समआवत्तं गोइन्द याहिमंडलं गुहिरं।
मज्झ मयसुहं मिव तुच्छ तरलमाइहरयं ॥ ३७ ॥

जालंधरिथंभजिया ऊरू रेहंति तासु अइरम्मा ।
वट्टा य णाइदीहा सरसा सुमणोहरा जंघा ॥ ३८ ॥

[क्षेपक]

रेहंति पउमराइ व चलणंगुलि फलिहकुट्टि णहपंती ।
तुच्छं रोमतरंगं उव्विन्न कुसुमनलएसु ॥ ३९ ॥

सयलज्ज सिरेविणु पयडियाइँ अगाइँ तीय सविसेसं ।
को कवियणाण दूसइ, सिट्ठ विहिणा वि पुणरुत्ता ॥ ४० ॥

गाहा तं निसुणेविणु रायमरालगइ ।
चलणंगुट्ठि धरत्ति सलज्जिर उल्लिहइ ॥
तउ पंथिउ कणयगि तत्थ बोलावियउ ।
कहिजाइसि हिव पहिय कह व तुह आइयउ ॥ ४१ ॥

णयरणामु सामोरु सरोरुहदलनयणि ।
णायरजण सपुन्नु हरिस ससिहरवयणि ॥
धवलतुगपायारिहि तिउरिहि मंडियउ ।
णहु दीसइ कुइ मुक्खु सयलु जणु पडियउ ॥ ४२ ॥

विविहविअक्खण सत्थिहि जइ पवसिइ णिरु ।
सुम्मइ छदु मणोहरु पायउ महुरयरु ॥
कह व ठाइ चउवेइहि वेउ पयासियइ ।
कह बहु रूवि णिबद्धउ रासउ भासियइ ॥ ४३ ॥

कह व ठाइ सुदयवच्छ कत्थ व नलचरिउ ।
कत्थ व विविहविणोइहि भारहु उच्चरिउ ।
कह व ठाइ आसीसिय चाइहि दयवरिहिं,
रामायणु अहिणविअइ कत्थ वि कयवरिहिं ॥ ४४ ॥

के आइन्निहिं वसवीणकाहलमुरउ ।
कह पयवण्णणिबद्धउ सुम्मइ गीयरउ ॥
आयण्णहि सुसमत्थ पीणउन्नयथणिय ।
चल्लहि चल्ल करंतिय कत्थ वि णट्टणिय ॥ ४५ ॥

नर अउव्व विंभविय विविहनडनाडइहिं,
मुच्छिज्जहि पविसत य वेसावाडइहिं ।

पच्चमु कह व कुणतिय भीणउ महुरयरु,
णाय तुअरि सज्जिउ सुरपिक्खणइ सरु ॥ ५३ ॥

इम इक्किकह तत्थ रूवु जोयंतयह,
झसुरपिंग पच्च खलहि पहिय पवहतयह ।
अह वाहिरि परिभमणि कोइ जइ नीसरइ,
पिक्खिवि विविह उज्जाणु भुवणु तहि वीसरइ ॥ ५४ ॥

अथ वनस्पति नामानि—]

ढक कुद सयवत्तिय कत्थ व रत्तवल,
कह व टाइ वर मालइ मालिय तह विमल ।
जूही खट्टण वालू चवा वउल घण,
केवइ तह कडुट्टय अणुरत्ता सयण ॥ ५५ ॥

माउलिंग मालूर मोय मायद मुर,
दक्ख भभ ईखोड पीण आरु सियर ।
तरुणताल तमाल तरुण तुवर खयर,
सजिय सइवत्तिय सिरीस सीसम अयर ॥ ५६ ॥

पिप्पल पाडल पुय पलास घणसारवण,
मणहर तुज्ज हिरन्न मुज्ज धय वसवण ।
नालिएर निंबोय निंविजिय निंव वड,
ढक चूय अंविलिय कणयचदण निवड ॥ ५७ ॥
आमरुय गुल्लर महूय आमलि अभय,
नायवेलि मजिट्ठ पसरि दह दिसह गय ॥ ५८ ॥
मदार जाइ तह सिंदुवार ।
महमहइ सु वालउ अतिहि फार ॥

[रासा छद]

किंकिल्लि कुज कुंकुम कवोल,
सुरयार सरल सल्लइ सलोल ।
वायव निंव निंवू चिनार,
सिमि साय सरल सिय देवदार ॥ ५९ ॥

[पद्धडी]

सेसूइ एल लींबिय लवंग कणयार फइर कुरवय सरंग।
चंपिलिय कयंब बिमीय बोय रत्तंजण जंपुय गुरु असोय ॥६०॥

जंवीर सुरंजण नायरंग, बिजउरिय अयरुय पीयरंग।
नंदणु जिम माहइ रत्तसाल, जिह पल्लव दीसइ अणु पवाल ॥६१॥

आरिट्ठिय दमणय गिह चीड, जिह मालइ दीसइ सउणि मीड।
सज्जूरि येरि माहण सयाइ मोहेय दयण तुलसीयलाइं ॥६ ॥

नायमरि माविम पूगमाल महमहइ छम्म मरुआ विसाल ॥६३॥

(प्रथम)

प्रमय सेम महालिह अत्थि जि ममिवयणि
मुखइ णामु तह कवणु सरोरुहदलनयणि।
अह मम्पइ संखेविणु निसुणु निरंतरिण,
आयण बम गंमिज्जइ सरउत्तरिण ॥ ६४ ॥

[पुरउ सुधिरयर बमउ बद्धउ जइवि
करि अगमुगमणु मह मगा धू अत्थवणि रवि ॥]

तवण तिन्धु पाउरिसि मियच्छि पसाणियइ,
मूलत्याणु सुपसिद्धउ महियलि जाणियइ।
तिह हुवउ हउं इक्किय लेहउ पसियउ
रंभाइतइं पवउं पहुआणसियह ॥ ६५ ॥

एय पयण आयसयि मिगुम्मवयणि
ममिथि मासु नीहुन्दउ मलिलम्मयनयणि।
ताहि फरगुलि फग्ग मगमिार गिरपमरु
जालंपरि प सर्मोरिण मुंघ परहरिय पिग ॥ ६६ ॥

गइवि गएउ पुम्मवि नयण पुण पज्जरिउ,
गम्भाइणह णामि पढिय तणु अज्जरिउ।
तह मह अम्हइ णाहु विरहउन्हाययर
अहिय कालु गम्मियउ ण आयउ लिहयर ॥ ६७ ॥

पउ माहवि निमिमिद्ध पढिय नाह हय पगहि,
पढउं किवि गंदगउ पिय तुच्छउअरहि।

पहिउ भणइ कणयंगि कहह कि रुन्नयण,
झिज्जती णिरु दीसहि उव्विन्नमियनयण ॥ ६८ ॥

जसु णिग्गमि रेणुक्करडि, कीअ ण विरहदवेण।
किम दिज्जइ सदेसडउ, तसु णिट्ठुरइ मणेण ॥ ६९ ॥

[पाणी तणइ विउइ, कादमही फुट्टइ हिआ।
जइ इम माणसु होइ, नेहु त साचउ जाणीयइ ॥
कतु कहिव्वउ भंति विणु, धू पंथिय जाणाइं।
अज्जइ जीविउ कंत विणु, तिणि सदेसइ काइ ॥]

जसु पवसत ण पवसिआ, मुइअ विओइ ण जासु।
लज्जिज्जउ सदेसडउ, दिंती पहिय पियासु ॥ ७० ॥

लज्जवि पथिय जइ रहउ, हियउ न धरणउ जाइ।
गाह पढिज्जसु इक्क पिय, कर लेविणु मन्नाइ ॥ ७१ ॥

तुह विरहपहरसचूरिआइ विहडति जं न अगाइं।
तं अज्जकल्लसघडण ओसहे णाह तग्गंति ॥ ७२ ॥

ऊसासडउ न मिल्हवउ, दज्झण अंग भएण।
जिम हउ मुक्की वल्लहइ, तिम सो मुक्क जमेण ॥ ७३ ॥

कहवि इय गाह पथिय, मन्नाएवि पिउ।
दोहा पंच कहिज्जसु, गुरुविणएण सउ ॥ ७४ ॥

पिअविरहानलसतविअ, जइ वच्चउ सुरलोइ।
तुअ छड्डिवि हियअट्ठियह, त परिवाडि ण होइ ॥ ७५ ॥

कत जु तइ हिअयट्ठियह, विरह विडवइ काउ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ, परपरिहव सताउ ॥ ७६ ॥

गरुअउ परिहवु कि न सहउ, पइ पोरिस निलएण।
जिहि अगिहि तूं विलसियउ, ते दद्धा विरहेण ॥ ७७ ॥

विरह परिग्गह छावडइ, पहराविउ निरवक्खि।
तुट्टी देह ण हउ हियउ, तुअ समाणिय पिक्खि ॥ ७८ ॥

मह ण समत्थिम विरह सउ, ता अच्छउ विलवति।
पाली रूअ पमाण पर, धण सामिहि घुम्मति ॥ ७९ ॥

संदेसडउ सवित्थरउ, हउं कहणह असमत्थ ।
भण पिय इक्कत्ति बलियडइ, बे वि समाणा हत्थ ॥ ८० ॥

संदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ ।
जो कालंगुलि मूंदडउ, सो बाहडी समाइ ॥ ८१ ॥

तुरिय णियगमणु इच्छंतु तत्तक्खणे
वाहया सुणवि साहेइ सुवियक्खणे ।
कहसु मह अहिउ जं किंपि संभिव्वउ
मग्गु अइदुग्गु मइ मुंधि जाइव्वउ ॥ ८२ ॥

वयण णिसुणेवि मणमत्थसरघट्टिया,
मयउसरमुक्क जं हरिणि उत्तट्ठिया ।
मुक दीउन्ह नीसास ऊससंतिया
पढिय इय गाह णियणयणि बरसंतिया ॥ ८३ ॥

अणियत्तणयं जलभरियगेण लज्जंति नयण नहु दिट्ठा ।
खंडवयणचसयं पिय विरहग्गी समइ अहियपरं ॥ ८४ ॥

पढवि इय गाह सिभनयण उम्भिभिया
भणइ पहियस्स अइकरुणदुक्खभिया ।
कढिणनीसास रइमाससुहविन्भियो
विन्नि चउपइय पभणिज्ज तसु निम्भियो ॥ ८५ ॥

तुय ममरंस समाहि मोहु विसम ट्ठियउ
तह सखि सुयइ कयालु न वामकरट्ठियउ ।
निम्रासरउ न मिल्हउ खणु खट्टग लय
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय ॥ ८६ ॥

सासिउ अंसु उससिउ अंगु विलुलिय अलय
तुय उम्भिंगिरवयण ससिय पिवरीय गय ।
कुंकुमकणयसरिच्छ कंति कसिणायरिय;
हुइय मुंध तुय विरहि णिसायर णिसियरिय ॥ ८७ ॥

गुरु पुणु कह्नि हिमावलड, लिहिवि न सक्कउ लेहु ।
गाहा गाह कहिज्ज पिय पंथिय करिवि सणेहु ॥ ८८ ॥

पाइय पिय वडवानलहु, विरहग्गिहि उप्पत्ति।
ज सित्तउ थोरंसुयहि, जलइ पडिल्ली झत्ति ॥ ८९ ॥

सोसिज्जत विवज्जइ सासे दीउन्हएहि पसयच्छी।
निवडंत वाहभर लोयणाइ धूमइण सिचति ॥ ९० ॥

पहिउ भणइ पडिउजि जाउ ससिहरवयणि,
अहवा किवि कहणिज्ज सु महु कहु मियनयणि।
कहउ पहिय कि ण कहउ कहिसु कि कहिययण,
जिण किय एह अवत्थ णेहरइरहिययण ॥ ९१ ॥

जिणि हउ विरहह कुहरि एव करि घल्लिया,
अत्थ लोहि अकयत्थि इकल्लिय मिल्हिया।
सदेसडउ सवित्थरु तुहु उत्तावलउ,
कहिय पहिय पिय गाह वत्थु तह डोमिलउ ॥ ९२ ॥

तइया निवडत णिवेसियाइ सगमइ जत्थ णहु हारो।
इन्हि सायर-सरिया-गिरि-तरु-दुग्गाइ अतरिया ॥ ९३ ॥

णियदइयह उक्कखिरिय किवि विरहाउलिय,
पियआसगि पहुतिय तसु सगमि वाउलिय।
ते पावहि सुविणंतरि धन्नउ पियतणुफरसु,
आलिगणु अवलोयणु चुवणु चवणु सुरयरसु।
इम कहिय पहिय तसु णिदयह जइय कालि पवसियउ तुहु।
तसु लइ मइ तणि णिद णहु को पुणु सुविणइ सगसुहु ॥ ९४ ॥

(षट्पदम्)

पियविरहविओए, सगमसोए, दिवसरयणि झूरंत मणे,
णिरु अगु सुसतह, वाह फुसतह अप्पह णिद्दय कि पि भणे
तसु सुयण निवेसिय भाइण पेसिय, मोहवसण वोलत खणे ॥
मह साइय वक्खरु, हरि गउ तक्खरु, जाऊ सरणि कसु पहिय भणे ॥९५॥

इहु डोमिलउ भणेविणु निशि (सि) तमहर वयणि,
हुइय णिमिस णिप्फद सरोरुहदलनयणि।
णहु किहु कहइ ण पिक्खइ ज पुणु अवरु जणु,
चित्ति भित्ति णं लिहिय मुध सच्चविय खणु ॥ ९६ ॥

धोसासंममरुद्धसास वरुममुह,' वम्महसरपहिमिम सरवि पियसंगसुह।
दर तिरच्छि तरलच्छि पहिउ जं जोइयउ, ण गुणसह वत्तहि कुरंगि पलोइयउ ॥ ९७ ॥

पहिउ भणइ यिउ होहि 'धीर भासासि खणु,
तहवि वरक्किय ससिसउन्नु फंसहि वयणु।
तस्स वयणु भायम्मि बिरहमर मंजरिय,
तइ मंचलु मुहु पुंछिउ तह व मलमरिय ॥ ९८ ॥

पहिय ण सिक्कइ किरि मलु मह कंदप्पसउ
रत्तउ जं प विरत्तउ निद्दोसे य पिउ।
योय सुयिय परखेयया निमेहइ वसइ,
मासिणिविणु कहिज्जउ इमह तह सखइ ॥ ९९ ॥

जइ वि रइविरामे पव्वसोहो मुणंती,
सुहय तइय रामो छमिलंतो सिरोहो।
मयवि नवयरंगे इकु कुमो धरंती,
हियउ तह पडिक्को मोक्खियवो विरत्तो ॥ १०० ॥

जइ भवरु वमिलइ राम पुणि रंगियइ,
भह निमेहउ वंगु होइ भासंगियइ।
भह हारिअइ पविणु जिणिवि पुणु मिट्टियइ,
पिय विरत्तु हुइ चित्तु पहिम किम वट्टियइ ॥ १०१ ॥

पहिउ भणइ पसयच्छि धीरि मणु पंथि भउ,
संवरि थिरु लोयणइ वहंतउ नीर भर।
पायासुय चडुकजि गमहि सहि परिसमइ,
भणकियइ थियइ पउमणि सुंदरि ! णाहु वसइ ॥ १०२ ॥

ते य विप्पसि फिरतय वम्महसरपहय,
थियधरखिय सुमरंत विरह मवसेय कय।
दियमरयणि थियतइय साय भसाइंत भर
जिम तुम्हिहि तिम मुंधि पहिय फिज्मंति णिरु ॥ १०३ ॥

णय चयण आयन्निवि दीहरलोयणिहि,
पढिय अडिल्ल थियसेविणु मयणुक्कोयणिहि ।

(अर्द्धम ।)

जइ मइ णत्थि णेहु ताक तह, पथिय कज्जु साहि मह कतहं ।
जं विरहग्गि मज्झ णक्कतह, हियउ हवेइ मज्झ णकंतह ॥ १०४ ॥

[अडिल्लच्छन्द.]

कहि ण सवित्थरु सक्कउ मयणाउहवहिय,
इय अवत्थ अम्हारिय कतह सिव कहिय ।
अगभगि णिरु अणरइ उज्जगउ णिसिहि,
विहलंघल गय मग्ग चलतिहि आलसिहि ॥ १०५ ॥

धम्मिलह मवरणु न घणु कुसमिहि रइउ,
कज्जलु गलइ कवोलिहि ज नयणिहि धरिउ ।
ज पियआससगिहि अंगिहि पलु चडइ,
विरह हुयासि झलक्किउ, त पडिलिउ झडइ ॥ १०६ ॥

आसजलससित्त विरहउन्हत्त जलतिय,
णहु जीवउ णहु मरउ पहिय ! अच्छउ धुक्खतिय ।
इत्थतरि पुण पुणवि तेण पहिय धरेवि मणु,
फुल्लउ भणियउ दीहरच्छि णियणयण फुसेविणु ॥ १०७ ॥

सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय उक्किख करेइ ।
विरहहुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ ॥ १०८ ॥

पहिउ भणइ पहि जत अमगलु मह म करि,
रुयवि रुयवि पुणरुत्त, वाह सवरिवि धरि ।
पहिय ! होउ तुह इच्छ अज्ज सिज्झउ गमणु,
मइ न रुन्नु विरहग्गिधूम लोयणसवणु ॥ १०९ ॥

पहिउ भणइ पसयच्छि ! तुरियउ किं वज्जरहि,
रवि दिणसेसि पहुत्तु पडुजहि दय करहि ।
जाहि पहिय ! तुह मगलु होउ पुणन्नवउ,
पियह कहिय हिव इक्क मडिल अन्नु चूडिलउ ॥ ११० ॥

तणु दीउन्हसासि सोसिज्जइ, असुजलोहु णेय सो सिज्जइ ।
हियउ पउक्कु पढिउ दीवतरि, णाइ पतगु पडिउ दीवतरि ॥ १११ ॥

उत्तरायणि वड्ढिहि दिवस, णिसि दक्खिणए हुइ पुव्व णिउत्तउ।
दुविय वड्ढहि जस्थ पिय, इहु बीयउ विरहायणु होइयउ ॥ ११२ ॥

गयउ दिवस थिउ सेसु पहिय ! गमु मिल्लियइ,
णिसि अत्थमु बोलेवि विषसि पुणु चल्लियइ।
विआहरि विय विंब जुन्ह गोसिहि वलइ,
सो आइभइ म कवि मइ अइआवलइ
जइ न रहहि इणि ठाइ पहिय ! इच्छहि गमणु
चुक्किअउ अवहुत्तउ पियहं गाहाइ मणु ॥ ११३ ॥

फग्गु विरहग्गि पयासि तुम पाइउ अम्हिहि आइ पियह मणु।
चिरु जीवं घउ लडु वरु, हुअउ संवच्छरवुग्गउ इक दिणु ॥११४॥

जइ पिम्मविमोय विसुंठलयं हिययं
सइ अंगु अणंगसरेहिं हयं खिवुय।
जइ पाइअलोह कवोलरयं णयणं
तइ णिच मणंमि पियंभियवं भमणं ॥ ११५ ॥

ता पहिय ! केम णिसि समप पाविज्जइ निवइ य तह णिद
जीविज्जइ जं पियविरहयाहि दिवसाइ तं चुज्जं ॥ ११६ ॥

पहिउ भणइ करुणंगि ! भणसु जं तुम्हि कहिउ,
अवसइ जं मइ पिउ पयासिसु तं कहिउ।
पउमदलक्खि पसहिहि इच्छहि णियमुवणु,
हर्ज पुणि मग्गि पयट्टउ मंखि म मह गमणु।
पुव्वदिसिहि तमु पसरिउ रवि अत्थमणि गउ।
णिसि कहिहि गम्मियइ मग्गु दुग्गमु समउ ॥ ११७ ॥

पहियवयण आमन्निवि पिम्मविमोहरिय
ससि उसासु दीहुन्हउ पुणु लामोयरिय
अंसुजलाहु कवोलि जु किम्मइ जुइ रडइ
णं विद्दुमपुडोवरि मुत्तिउ सुद्द सडइ।
कहइ रुवइ विलवंती पियपावासइइ।

भणइ कहिय तह पियइ इक्कु खंधइ दुवइ ॥ ११८ ॥
मह हिययं रयणनिही महियं गुरुमंदरेण तं णिच्वं।
उम्मूलियं असेसं सुहरयणं कढियं च तुह पिम्मे ॥ ११९ ॥

मयणमसीरविहुय विरहाणल दिट्ठिफुलिगणिब्भरो,
दुसह फुरत तिव्व मह हियइ निरंतर झाल दुद्धरो।
अणरइझलकंति पचिल्लइ तज्जइ ताम दड्ढण,
इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरुह अम्ह वड्ढण॥ १२० ॥

खंधउ दुवइ सुणेवि अगु रोमंचियउ,
रोय पिम्म परिवडिउ पहिउ मंथि रजियउ।
तह पय जंपइ भियनयणि सुणिहि धीरि खणु,
किहु पुच्छउ ससिवयणि पयासहि फुड वयणु॥ १२१ ॥

णवघणरेहविणिग्गय निम्मल फुरइ करु,
सरय रयणि पच्चक्खु झरतउ अमियभरु।
तह चदह जिणणत्थु पियह संजणिय मुहु,
कइयलग्गि विरहग्गिधूमि झपियउ मुहु॥ १२२ ॥

वककडक्खिहि तिक्खिहि मयणाकोयणिहि,
भणु वट्टहि कइ दियहि झुरतिहि लोयणिहि।
जालधरि व सकोमलु अगु सोसंतियह,
हससरिस सरलयवि गयहि लीलतियह॥ १२३ ॥

इम दुक्खह तरलच्छि काइ तइ अप्पियइ,
दुसह विरहकरवत्तिहि अगु करप्पियइ।
हरिसुयवाणखुरप्पिहि कइ दिण मणु पहउ,
भणु कइ कालि पउत्तउ सुदरि तुअ सुहउ॥ १२४ ॥

पहियवयण आइन्निवि दीहरलोयणिहि।
पढियउ गाहचउक्कउ मयणाकोयणिहि॥ १२५ ॥

(अर्द्धम् कुलक पञ्चभि. ।)

आएहि पहिय किं पुच्छिएण मह पियपवासदियहेण।
हरिऊण जत्थ सुक्ख लद्ध दुक्खाण पडिवट्टं॥ १२६ ॥

ता कहसु तेण किं सुमरिएण विच्छेयजालजलणेण।
ज गओ खणद्धमत्तो णामं मा तस्स दियहस्स॥ १२७ ॥

तत्थ गओ सो सुहओ धरिह दियसाउ कम्मह मणियत्ती।
णिम्भ्रउ हियए पंथिय कालो कालु व्व परिणमइ ॥ १२८ ॥

मुक्कउ उत्तम पिए कम्कउ गिम्हानलेण सो गिम्हो।
मलयगिरिसोसयोण य सोसिज्जउ सासिमा जेण ॥ १२९ ॥

तृतीय प्रक्रम

[अतो ग्रीष्म वर्णनम् ।]

णयगिम्हागमि पहिय णाहु ज पवसियउ
करवि करजुलि मुहसमूह मह णिवसियउ।
तसु मणुमंघि पलुट्टि विरहहविलविय तणु,
वसिवि पत्त खियसुययि विसंठुल विहलमणु ॥ १३० ॥

तह भयारह रयरयाउ भसुह भसहंवियई,
दुस्सहु मलयसमीरण मयणार्कंतियई।
विसमम्भल मलकत जलंतिय तिव्वयर,
महियलि वणखियदहण तवंति य तरणिकर ॥ १३१ ॥

जमजीहह णं चंचलु णहयलु लहलहइ
तडतडयइ घर तिडइ ण तेयह भर सहइ।
भड्डन्हउ वोमयलि पईजणु जं वहइ,
त संभरु विरहिणिहि अंगु फरिसिउ दहइ ॥ १३२ ॥

पिउ चाबडहि मणिज्जइ नयणण कंखिरिहिं
मल्लिलिनिवहु सुच्छउ मरइ तरंगणिहि।
पलहारिय उम्भियउ भाममच्छयइ मुहि
कुमरसवयणमरिच्छ पईन्नि र गंधवहि । १३३ ॥

मह पतिहि भंमम्मिहि सूयाकंखिरिय
फीरपंति परिवमइ णिवइ णिरवरिय।

लइ पल्लव भुञ्जंति समुट्ठिय करुणमुणि,
हउ किय णिस्साहार पहिय साहारवणि ॥ १३४ ॥

(युग्मम्)

हरियदणु सिसिरत्थु उवरि जं लेवियउ,
त सिहणह परितवइ अहिउ अहिसेवियउ ।
ठविय विविह विलवंतिय अह तह हारलय,
कुसुममाल तिवि मुयइ झाल तउ हुई सभय ॥ १३५ ॥

णिसि सयणिह ज खित्तु सरीरह सुहजणणु,
विउणउ करइ उवेउ कमलदलसत्थरणु ।
इम सिज्जह उट्ठत पडत सलज्जिरिहि,
पढिउ वत्थु तह दोहउ पहिय सगग्गिरिहि ॥ १३६ ॥

वियसाविय रवियरहि तविहिं अरविय तवणि,
अमियमयूहु ण सुह जणइ दहइ विसजम्मगुणि ।
दसिउ दसणिहिं भुआंगे अगु चंदणु खयहि,
खिवइ हारु खारुब्भवु कुसुमसरच्छयहि ॥
राईव चदु चदणु रयण सिसिर भणिअि जगि ससियहिं ।
उल्हवइ ण केणइ विरहज्झल पुण वि अंग परीहिसियहि ॥१३७॥

तणु घणसारिण चंदणिण अलिउ जि किवि चच्चति ।
पुण वि पिएण व उल्हवइ पियविरहग्गि निभति ॥ १३८ ॥

[अथ वर्षा वर्णनम्]

इम तवियउ वहु गिंभु कह वि मइ वोलियउ,
पहिय पत्तु पुण पाउसु धिट्ठु ण पत्तु पिउ ।
चउदिसि घोरधारु पवन्नउ गरुयभरु,
गयणि गुहिरु घुरहुरइ सरोसउ अवुहरु ॥ १३९ ॥

पउदडउ णेसिज्जइ झाल झलकतियइ,
भच्छभेसिय अइरावइ गयणि खिवंतियइ ।
रसहि सरस वव्वीहिय णिरु तिप्पति जलि,
वगह रेह णहि रेहइ णवघण जति तलि ॥ १४० ॥

गिंभ तविए सूर तावियं पहु फिरणुप्फरिहिं
पउ पवंतु पुक्खरहु ण मावइ पुक्खरिहिं ।
पयहरियए किय पहिय पयहि पयइंतयइ
पइ पइ पेसइ कल्लउ गयणि सियंतयइ ॥ १४१ ॥

णिवडलहरि पयअंवरि भंगिहिं दुत्तरिहिं
करि करयलु कआलिहि गज्जिउ वरसरिहिं ।
दिसि पावासुय थक्किय णियकज्जागमिहि
गमियइ णाविहिं मग्गु पहियन्हु दुरगमिहि ॥ १४२ ॥

कद्दमलुस भग्गसंग विहावियइ सग्गभरिहि,
तडिनय वि पयमरिए भलक्क मलज्झरिहि ।
हुउ तारायणु भलक्कु वियभिउ तमपसरु
छत्तउ इंदोवइहि निरंतरु धर सिहरु ॥ १४३ ॥

[सरक ?]

मग्गु मिल्हवि सलिलहरु सरसिहरिहिं पडिउ,
वंडवु करिवि सिइंडिहि वरसिहरिहि रडिउ ।
ससिसिहि वर सारसिहि फरसिउ रसिउ मरि,
कमलु कियउ कमयंठिहि बहि चूयइ सिहरि ॥ १४४ ॥

णाय णिवड पइ रुद्ध फंथियरिहिं इह दिसिहिं
हुअय असंचर मग्ग महंत महाविसिहिं ।
पाउससरसपरिवड्ढणु नीरतरंगभरि,
उत्तमउ गिरिसिहरिहि हंसिहि कउपसरि ॥ १४५ ॥

मच्छरमय सच्चविउ रमि गोयंगणिहि,
मयहर रमियइ नाणु रगि गोयंगणिहि ।
हरियाउलु धरवलउ कयविया महमहिउ
कियउ मंगु अंगंगि अपंगिण मइ महिउ ॥ १४६ ॥

विसमसिसिरविलुलिविय महदुक्खिलपइ
कलिजलमाल विसमाय सर पडिभिभियइ ।
अखिमिसनमग्गुच्छिभिय खिसि जागंतियइ
वत्तु गाह किउ दाइउ णिद पसाइंसियइ ॥ १४७ ॥

झपवि तम वद्दलिण दसह दिसि छायउ अम्बरु,
उन्नवियउ घुरहुरइ घोरु घणु किसणाडंवरु ।
णहहमग्गि णहवल्लिय तरल तडयडि वि तडक्कइ,
दद्दुररडणु रउद्दु सद्दु कुवि सहवि ण सक्कइ ।
निवड निरंतर नीरहर दुद्धर धरधारोहभरु,
किम सहउ पहिय सिहरट्ठियइ दुसहउ कोइल-रसइ-सरु ॥१४८॥

उल्हविय गिम्हहवी धारानिवहेण पाउसे पत्ते ।
अच्चरियं मह हियए विरहग्गी तवइ अहिय [य] रो ॥ १४९ ॥

गुणणिहि जलविंदुब्भवहि, ण-गलत्थिय लज्जंति ।
पहिय ज थोरसुइहि, थण थड्ढा डज्झंति ॥ १५० ॥

दोहउ एउ पढेविणु, विरहखेअालसीइ,
उ अग्गइ अइखिन्नी मोहपरावसीइ ।
सुविणंतरि चिरु पवसिउ ज जोइअउ पिउ,
सजाणिवि कर गहिवि मइ भणिउ इहु ॥ १५१ ॥

किं जुत्तं सुकुलग्गयाण मुत्तूण जं च इह समए,
तडतडणतिव्व-घणघडणसकुले दइय वच्चंति ॥ १५२ ॥

णवमेहमालमालिय णहम्मि सुरचाव रत्तदिसि पसरो ।
घणछन्नछम्म इंदोइएहि पिय पावस दुसह ॥ १५३ ॥

रायरुद्ध कंठग्गि विउद्धी ज सिवणि,
कह हउ कह पिउ पत्थरगि ज न मुइय खणि ।
जइ णहु णिग्गउ जीउ पाववधहि जडिउ,
हियउ न किण किरि फुट्टउ ण वज्जिहि घडिउ ॥ १५४ ॥

ईसरसरि सालूरिव कुणंती करुणसरि ।
इहु दोहउ मइ पढियउ निसह पच्छिमपहरि ॥ १५६ ॥

जामिणि ज वयणिज्ज तुअ, तं तिहुयणि णहु माइ ।
दुक्खिहि होइ चउग्गणी, झिज्जइ सुहसगाइ ॥ १५६ ॥

[अथ शरद् वर्णनम्]

इम विलवंती कहय दिण पाइउ, गेउ गिरंस पईतइ पाइउ।
पियमणुराइ रयणिम रमणीयव, गिम्हइ पहिय मुणिय भरमणीयव॥१५७॥

आमिणि गमियइ इम समगतइ, पहिय पियागमि भम दगतइ।
गामुयरव मिल्हि मिस्रासणु, मणि सुमरंत विरहणिमासणु॥ १५८॥

दक्खिणए मग्गु णियंतइ मत्तिहिं, विड्ढ अइयियरिसिउ मइ कत्तिहिं।
मुणियउ सु पाउसु परिगमिअउ पिउ परएसि रहिउ णाहु रमिअउ॥१५९॥

गय विद्दवि बलाइय गयणिहि,
मणहर रिक्ख पलोइय रयणिहि।
हुयउ वासु छम्भयपलि फणिदइ,
फुरिय जुन्ह निसि निम्मल चंदह॥ १६०॥

सोहइ सलिलु सारिहि सयवत्तिहि,
विविहतरंग तरंगिणि जत्तिहि।
स हय दीय गिंभि णवसरयइ
ते पुण सोह पत्ती णव सरयइ॥ १६१॥

हंसिहि कहुदिहि धुद्दिणि रसु
कियउ कलयलु सुमणोहरु सुरसु।
उम्मलि सुवण भरिय सयवत्तिहि,
गय जलरिक्ति पविक्षिय तित्थिहि॥ १६२॥

धवलिय भवणसंखसंकासिहिं,।
सोहहि सरइ वीर संकासिहिं।
णिम्मलखीरसरिहि पवहंतिहि
तइ रेहंति विहंगमपंतिहि॥ १६३॥

पडिबिंबिउ वरसिआइ विमलिहिं, कद्दम भार पमुक्किउ सलिलिहिं।
सहमि ण कुंजसर सरयागमि मरमि मरालागमि णाहु दगमि॥ १६४॥

झिज्झउ पहिय जलिहि झिज्झतिहि,
खिज्जउ खज्जोयहि खज्जतिहि।
सारस सरसु रसहि कि सारसि,
मह चिर जिएणदुक्खु कि सारसि ॥ १६५ ॥

णिट्ठुर करुणु सद्दु मणमहि लव, दड्ढा महिल होइ गयमहिलव।
इम इक्किक्कह करुण भणंतह, पहिय ण कुइ धीरवइ रुणंतह ॥ १६६ ॥

अच्छिहि जिह सन्निह घर कतय, रच्छिहि रमिहि ति रासु रमतय।
करिवि सिगारु विविह आहरणिहि, चित्तविचित्तइ तणुपगुरणिहि ॥१६७॥

तिलउ भालयति तुरक्कि तिलक्किवि, कुंकुमि चदणि तणु चच्चंकिवि।
सोरडहिं करि लियहि फिरतिहि, दिव्वमणोहरु गेउ गिरतिहि ॥१६८॥

धूव दिंति गुरुभत्ति सइत्तिहि, गोआसणिहि तुरंगचलत्थिहि।
त जोइवि हउ णियय उव्विन्निय, णेय सहिय मह इच्छा पुन्निय ॥ १६९ ॥
(युग्गम्)

तउ पिक्खिय दिसि अहिय विचित्तिय, णाय हुआसणि जणु पक्खित्तिय।
मणि पज्जलिय विरह झालावलि, नंदणि गाह भणिय भमरावलि ॥१७०॥

सकसाय णवव्भिस सुद्धगले, धयरट्ठ-रहग रसंति जले।
गयदति चमक्करिण पवरं, सरयासरि णेवर झीणसरं ॥ १७१ ॥

आसोए सरय महासरीए पयखलिर वेयवियडाए।
सारसि रसिऊण सरं पुणरुत्त रुयाविया दुक्ख ॥ १७२ ॥

ससिजुन्ह निसासु सुसोहियय धवल, वरतुगपयार मणोहरयं अमल।
पियवज्जिय सिज्ज लुलंत पमुक्करए, जमकुट्टसरिच्छ वहारगए सरए॥१७३॥

अच्छिहि जिह नारिहिं नर रमिरह, सोहइ सरह तीरि तिह भमिरइ।
वालय वर जुवाण खिल्लतय, दीसइ घरि घरि पडह वज्जंतय ॥ १७४ ॥

दारय कुडवाल तडव कर, भमहि रच्छि वायतय सुदर।
सोहहि सिज्ज तरुणि जणसत्थिहि, घरि घरि रमियइ रेह पत्तित्थिहि॥१७५॥

दितिय णिग्गि दीवालिय दीवय, णवससिरेहसरिस करि लीअय।
मडिय भुवण तरुण जोइक्खिहिं, महिलिय दिति सलाइय अक्खिहि॥१७६॥

कसिणब्बरिहिं विहाविह भंगिहिं, कड्ढिय कुडिल अणेगतरगिहि।
मयणाहिण मयवट्ट मणोहर, चच्चिय चक्कावट्ट पयोहर ॥ १७७ ॥

भंगिं भगि घणु घुमिरगु मिलवउ, ण कंदप्पि मरिहि बिमु छिलवउ ।
सव्विउ कुसुममाल सीसोवरि, णं मेवदु कसिण घणगोवरि ॥ १७८ ॥
मम्मुरु कप्पूर बहुल मुहि झुवउ णं पच्चूसिहि दिणयदु धुवउ ।
रइसच्छसि कीरइ पासाइए, बररय किंकिणीहि मिस्राभाग ॥ १७९ ॥
इम किवि केलि करहि संपुणिय मइ पुणु रयणि गमिय अन्निमिय ।
अच्छइ घरि घरि गीउ रवभउ, एगु इक्कु कडु मइ दिमउ ॥ १८० ॥
पुण पिउ समरिउ पहिय ! विरगगउ, णियमरणि जाणि अइ वि सूरगगउ
घण अवखाड़ु बहुल सिम्हेविणु, पडिय भडिक्क मइ वक्खु लहेवि णु ॥ १८१ ॥
णिसि पहरखु योय णंदीयइ, पियकइ जपिरी अणवीयइ ।
रयणिमिसिदु भडु ण वीमइ, विरही कामवयि णं वीमइ ॥ १८२ ॥

कि तहि देसि णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मलचंदह,
भइ कलरउ न कुणंति हंस फलसेवि रविंदह ।
भइ पायउ णहु पढइ कोइ सुललिय पुण राइण
भइ पंचउ णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण ।
महमहइ भहव पच्चूसि णहु ओमसिउ घणु कुसममरु ।
भह मुणिउ पहिय ! भणरसिउ पिउ सरइ समइ जु न सरइ घरु
॥ १८३ ॥

[अथ हेमंत वर्णनम् ।]

घुरणिगंधु रमणीउ सरउ इम बोलियउ,
पायाखुय भइधिहि ण खसि घर समरिउ ।
इम अच्छउ ज करुण मयणपडिभिमसरि,
भक्सोइय थयसहर सेयसुस्सारमरि ॥ १८४ ॥
अखिउ पहिय सव्वंगु विरहभमिणा तवयवि
नर पमुक कंदप्प दप्पि घणु कडयडवि ।
तं सिक्कहि दुक्खिक्खि ण आयउ बिहरु
परमंडगु हिंमंतु कसाखिउ सलु सवरु ॥ १८५ ॥
तह कंखिरि भणियपति णियंती विसि पसरु
कह दुक्क कोसिखि हिमदु दुमार मरु ।
दुइयभयधायर सीमल सुवणिहि पहिय वस
उस्सारिय सत्थरहु सयल कंदुहुस ॥ १८६ ॥

सेरंधिहि घणसारु ण चंदणु पीसियइ,
अहरकओलालकरणि मयणु संमीसियइ।
सीहडिहिं वज्जियउ वुसिणु तणि लेवियइ,
चपएलु मियणाहिण सरिसउ सेवियइ॥ १८७॥

णाहु दलियइ कप्पूरसरिसु जाईहलह,
दिज्जइ केवइवासु ण पयडउ फोफलह।
भुवणुप्परु परिहरवि पसुप्पइ जामिणिहि,
उयारइ पल्लव विच्छाइय कामिणिहि॥ १८८।

धूइज्जइ तह अगरु घुसिणु तणि लाइयइ।
गाढउ निवडालिंगणु अंगि सुहाइयइ।
अन्नह दिवसह सन्निहि अगुलमत्त हुय,
महु इक्कह परि पहिय णिवेहिय वम्हजुय॥ १८९॥

विलवती अलहत निंद निसि दीहरिहि,
पढिय वत्थु तह पथिय इक्कल्लिय घरिहि॥ १९०॥

दहिउसासिहि दीहरयणि मह गइय णिरक्खर,
आइ ण णिद्दय णिद तुज्झ सुयरतिय तक्खर।
अगिहि तुह अलहत धिट्ठ करयलफरिसु,
ससोसिउ तणु हिमिण हाम हेमह सरिसु।
हेमति कत विलवतियह, जइ पलुट्टि नासासिहसि।
त तइय मुक्ख खल पाइ मइ, मुइय विज्ज कि आविहसि॥ १९१॥

[अथ शिशिरवर्णनम्।]

इम कट्ठिहिं मइ गमिउ पहिय हेमतरिउ,
सिसिर पहुत्तउ धुत्तु णाहु दूरंतरिउ।
उड्डिउ झखड्ड गयणि खरफरसु पवणि हय,
तिणि सूडिय झडि करि असेस तहि तरुय गय॥ १९२॥

छाय फुल्ल फल रहिय असेविय सउणियण,
तिमिरतरिय दिसा य तुहिण धूइण भरिण।
मग्ग भग्ग पथियह ण पवसिहि हिमडरिण,
उज्जाणह ढखर छ्अ सोसिय कुसुमवण॥ १९३॥

तरुणिहि कंत पमुक्किय खिय कसीहरिहि
सिसिर भइखि किउ अलगु मरणु अगीहरिहि,
भावाखिय केलीरसु अभिमंतरमुयगु,
पज्जाणइ दुम्मिहि वि ण कीरइ किंपि समणु ॥ १९४ ।

मणसुक्क संठविउ पियहर्गंधकरिसु,
पिक्खइ अझावट्टउ रसियहि इक्खरसु ।
कुंदचउत्थि चरच्छणि पीणुन्नयथणिय,
णियसतयरि पलुर्ति केवि सीमंतिणिय ॥ १९५ ॥

केवि विंति रिङ्गणाइइ उप्पयिहि पिणिहि,
णियवल्लह कर कलि जंति सिक्खासणिहि ।
इत्थंतरि पुण पठिय सिक्ख इकक्खियइ ॥ १९६ ॥

मइ जाणिउ पिउ भाणि मक्म संतोसिहइ
णहु मुक्खिभउ खलु भिड्, सो वि महु मिलिहइइ ।
पिउ णाविउ इहु पुउ गहिवि तत्थ वि रहिउ ॥
सच्चु हियउ मह दुक्ख भारि पुरिउ महिउ ॥ १९७ ॥

णाइ मुलु पिअसंगि खाहु इच्छंतियइ,
णिसुणि पहिय ण पहिउ बत्थु विसवंतियइ ॥ १९८ ॥

[भ्रमम्]

मइ पणु दुक्खु सहन्ति सुणवि मणु पेसिउ तूमउ
णाहु ण आणिउ तेण सु पुणु तत्थव रय हूमउ ।
एम भणंतह सुन्दरिहियय र्क रयणि विहाणिय
भणिरइ कीयइ कम्मि भवसु मणि पच्छुत्ताणिय ॥
मइ पिम्मु हियउ णहु पतु पिउ, हुइ उवम इहु कहु कवण !
सिंगतिय गइय उयाडमयणि पिक्ख इराविम णिम सवण ॥ १९९ ॥

[अथ वसन्तवर्णनम् ।]

गयउ सिसिरु पणविणि वहंतु, महु मास मणोहरु इत्थ पत्तु ।
गिरि मलय समीरण थिरु सरंतु, मयणम्मि पिउयइ विप्फुरंतु ॥२००॥

स केवइ जणइ सुह विश्रासु, विश्रसंतु रवन्नउ दह दिसासु ।
णवकुसुमपत्त हुय विविहवेसि, श्रइ रेहइ णवसरइ विसेसि ॥२०१॥

वहु विविहराइ घण मणहेरहि, सियसावरत्तपुप्फवरेहि ।
पंगुरणिहिं चच्चिउ तणु विचित्तु, मिलि सहीयहि गेउ गिरत्ति णित्तु॥२०२॥

महमहिउ श्रगि वहु गधमोउ, णं तरणि पमुकउ सिसिर सोउ ।
त पिखिवि मइ मज्भहि सहीण,
लंकोडउ पढियउ नववल्लहीण ॥ २०३ ॥

गयहु गिम्हु श्रहदुसहु वरिसु उव्विन्नियइ,
सरउ गयउ श्रइकट्ठि हिमतु पवन्नियई ।
सिसिर फरसु वुल्लीणु कहव रोवतियइ,
दुकरु गमियइ एहु णाहु सुमरतियइ ॥ २०४ ॥

वाहिज्जइ नवकिसलयकरेहि, महुमास लच्छि ण तरुवरेहिं ।
रुणमुण करेहि वणि भमरु छुद्ध, केवयकलीहि रसगधलुद्ध ॥२०५॥

विज्भति परुप्पर तरु लिहति, कटग्ग तिक्ख ते णाहु गणति ।
तणु दिज्जइ रसियह रसह लोहि,
णाहु पाहु गणिज्जइ पिम्ममोहि ॥ २०६ ॥

महु पिक्खिवि विभिउ मणिहि हूउ ।
सुणि पहिय कहिउ खणिज्ज रूउ ॥ २०७ ॥

[श्रर्द्धम्]

पज्जलत विरहग्गि तिव्व भालाउल,
मयरद्धउ वि गज्जतु लहरि घण भाउल ।
सहवि दुसहु दुत्तर विचिरिज्जउ सव्भयं,
मह गेहह किवि दुग्गु वणिज्जइ णिब्भय ॥ २०८ ॥

किसुयइ कसिण घणरत्तवास, पच्चक्ख पलासइ धुय पलास ।
सवि दुसहु हूय पहजणेण, सजणिउ श्रसुहु वि सुहजणेण ॥ २०९ ॥

णियडंत रेणु घरपिंजरीहिं महियमर णविय णायमंजरीहिं।
मग सियलु णाइ महि सीयलु,
णाइ अणाइ सीउ ण खिवइ तंतु ॥ २१० ॥
जसु नाम भणिज्जउ कहइ लोउ, णाइ हरइ रूणरूणु असोउ सोउ।
कंजप्प दुप्पि संतविय अंगि साहारइ णाइ ण सहार अंगि ॥२११॥

तहिं छिदुडु विरंभिउ विरह घोरु करि संठउ मुणिउ रवंत मोरु।
सिहि वढिउ पिक्खि मायवसाइ,
मुणि पंथिय जं मइ पढिय गाइ ॥ २१२ ॥

कुरुवअउ कुडय मरहिसणीहिं कयहरिस णइवरइम्मि।
गयणे पसरियणायदुम घणमंती मुणिय पुण कुम्म ॥ २१३ ॥

इय गाइ पढिवि उट्ठिय रवंत थिर जुन्न कुक्कड मखि संमरंत।
विरहग्गिम्मल पम्ब्वलिम अंगि
अञ्जरिउ वाणिहिं घणु भमणि ॥ २१४ ॥

वणु मुणिउ कुसडु अमकाखपासु
वर कुसुमिहिं सोहिउ दस दिसासु।
गय खिवड खिरंवर गयणि धूय णायमजरि सत्थ बसंत हूय ॥२१५॥

तहिं सिहरि मुरतय कमिय काय उवरहिं मरइ जणु विविह भाय।
घइ मणहरु परलु मणोह रीउ, उवरहिं सरसु महुयर कुसुमीउ ॥२१६॥

कारड करहिं तह कीर माइ काउन्न पडकड तह कुणाइ।
मइ परिस मयणपरब्वसीय, कइ कहव भरंती कड्ढि जीउ ॥ २१७ ॥

जलरहिय मह संतविय काइ किम कोइल कलरउ सहण आइ।
रमणीयण रतिमिहिं परिममति तूरारवि सिदुयण महिरयंति ॥२१८॥

ववरिहिं गेउ मुणि करिवि तालु नवीयइ मउडय पसंतकालु।
घण निविड हार परिखिड़रीहिं
रुणझुण रउ महलकिंकिणीहिं ॥ २१६ ॥

गाज्जति तरुणि णवजुम्बणीहिं
मुणि पढिय गाइ चिमकंमरीहि ॥ २० ॥

[धमम्]

एआरिसमि समए घणदिणरहसोयरमि लोयंमि ।
अच्चहिय मह हियए कंदप्पो खिवइ सरजालं ॥ २२१ ॥

जइ अणक्खरु कहिउ मइ पहिय ।
घणदुक्खाउन्नियह मयणअग्गि विरहिणि पलितिहि,
त फरसउ मिल्हि तुहु विणयमग्गि पभणिज्ज भतिहि ।
तिम भपिय जिम कुवइ णहु त पत्रणिय ज जुत्तु,
आसिसिवि वरकामिणिहिं वहाऊ पडिउत्त ॥ २२२ ॥

त पडुजिवि चलिय दीहच्छि,
अइ तुरिय, इत्थतरिय दिसि दक्खिण तिणि जाम दरसिय,
आसन्न पहावरिउ दिट्ठु णाहु तिणि भत्ति हरसिय ।
जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्धु खणद्धि महतु,
तेम पढत सुणतुयह जयउ अणाइ अणतु ॥ २२३ ॥

———

भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास

परिचय

'संदेश रासक' के उपरांत 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' सबसे प्राचीन है। इस रचना को प्रकाश में लाने का श्रेय भी अगरचंद नाहटा का है, जिन्हें सर्वप्रथम इसकी एक प्रति जैसलमेर के खरतरगच्छीय पंचायती भंडार में प्राप्त हुई।

नामकरण का कारण

नाहटाजी का मत है कि इस रास में भरत और बाहुबलि के घोर युद्ध का वर्णन प्रधान है अतः इस रास का नाम भी 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर' रास रखा गया।

कथा वस्तु

जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के भरत बाहुबलि आदि सौ पुत्र थे। आयु के अंतिम दिनों में उन्होंने अपना राज्य अपने पुत्रों में बाँट कर स्वयं तपस्वी जीवन बिताना प्रारंभ किया। भरत अपने भूभाग से असंतुष्ट होकर एक चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने का प्रयास करने लगे। उन्होंने क्रमशः अपने सभी भ्राताओं का राज्य अपहृत कर लिया केवल बाहुबलि का राज्य अवशिष्ट रह गया। बाहुबलि के अतिरिक्त अन्य भ्राता तो पिता के परामर्श से आत्म-साधना के पथिक बन गए किंतु बाहुबलि ने भरत का खुला विरोध किया। दोनों भ्राताओं में मल्ल-युद्ध होने लगा। भरत के मुष्टि प्रहार को सह कर बाहुबलि ज्येष्ठ भ्राता (भरत) के ऊपर प्रहार करते समय रुक गए। उनके मनमें यह आत्मग्लानि हुई कि राज्य के लोभ से मैं सत्पथ से पतित हो रहा हूँ। उन्होंने अपने मनमें संकल्प किया कि मुझे उसी पर प्रहार करना चाहिए जिसने भाई पर प्रहार करने के लिए मुझे प्रेरित किया।' इस संकल्प सिद्धि के लिए बाहुबलि ने मुनिव्रत ले लिया और आत्म शत्रुओं को पराजित करने के लिए वन के एक कोने में ध्यानावस्थित दशा में साधना करने लगे। साधना करते-करते संपूर्ण मनोविकारों पर विजय प्राप्त करने पर भी उनके मन से अहंकार नहीं गया। अंत में ऋषभदेव के उपदेश से यह भी दोष निकल गया और उन्हें कैवल्य-पद की प्राप्ति हुई।

भरतेश्वर बाहुबलिघोर-रास

वज्रसेन सूरि रचित [सं० १२२५ के आसपास]

पहिलउ रिसह जिणंदु नमवि भवियहु। निसुणहु गेलु धरेवि ॥
बाहुबलि केरउ चरिउ ॥ १ ॥

सयलह पुत्तह रज्जु देवि। भरहेसरु निय पाटि ठवे वि ॥
रिसहेसरि दिक्खमि लियउ ॥ २ ॥

वरिसु जाउ दिणि दिणि उपवासु। मूनिहि थाकउ वरिस सहासु ॥
इव रिसहेसरि तपु कियउ ॥ ३ ॥

तो जुगाइ-देवह सुपहाणु। उप्पन्नं वर केवल-नाणु ॥
चक्कु रयणु भर हेसरह ॥ ४ ॥

भर हेसरु जिण वंदण जाइ। रिद्धि नियंती अंगि न माइ ॥
मरुदेवी केवलु लहइ ॥ ५ ॥

तो चक्की दिगु-विजउ करेवि। भरहेसरु राणा मेलेवि ॥
अवज्झा-नयरिहि आइयउ ॥ ६ ॥

तो सेणावइ कहियं देव। सज्जउ आयुह-सालह भेव ॥
चक्कु रयणु नउ पइसरइ ॥ ७ ॥

भरहु भणइ कुन मनइ आण। देवगघु सवि सीघ सयाण ॥
बाहुबलि पुण आगलउ ॥ ८ ॥

बन्धु बाहु ! तुम्हि आवुन्न आवु। करउ आण कम छंडउ राजु ॥
भरहिं दूय पठाविउ ॥ ९ ॥

तो संभव गय तापह पासि। सव्वे केवलि हुय गुण रासि ॥
राह बलि मंडिउ थियउ ॥ १० ॥

पहु भर हेसर भेव बाहु बलिहि कहा वियउ।
अइ बाहु मनहि खेव तो प्रचण्ड संभासि थिउ ॥ ११ ॥

गरूया भेकइ नांव दूवोलिहिं गजण वडिय।
सो बाहुबलि लोव दूभउ गरुइ खियाविउ ॥ १२ ॥

सो वाहुबलि वाणि, सभलेवि अवभ्रह गयउ।
भरह तणइ अत्थाणि पणमेविण दूअउ भणइ ॥ १३ ॥

पणमेविणु

मइं लाध तहि ठामि, मउडि महेसरु ज करइ।
अवरुइ साभलि सामि वाहु बलिहिं कहावियउं ॥१४।

खतह गागह तीरि दडउ जेव उच्छालियउ।
घाउ भ होउ सरीरि पडत उदय करिझालियउ ॥१५॥

त वीसरियं आजु, भरहेसरू मय भिमलउ।
जइ करि लाधउ राजु तकि अम्ह सेव मना विरथइ ॥१६।

गग सिंधु दुइ राउ अनु जइ नाहल साहिया।
अे तीणइ छइ खाड जीतउं मानइ भामटउ ॥१७॥

अेरिस वयणुसुणेवि त्रिलि-त्रिलि हुँतिन गोहडिय।
अगूटइ टेरेवि वाहुबलि वाहा-बलिहि ॥१८॥

अेत्थं तरि नह गामि आवै विणु नार उभणइ।
तलि महियलि अरूसागि नउ थी वाहुबलि सवउ ॥१९॥

कोवानल पज्जलिउ ताव भरहेसरू जपइ।
रेरे दियहु पियाण ढाक जिमु महियलु कपई ॥२०॥

गुलु गुलत चालिया हाथि न गिरवर जगम।
हिंसा-रवि जहि रिय दियत हल्लिय तुरगय ॥२१॥

धर डोलइ खलभलइ सेनु दिणियरू छाइज्जइ।
भर हेसरू चालियउ कटकि कसु ऊपम दीजइ ॥२२॥

तं निसुणे विणु वाहुबलिण सीवह गय गुडिया।
रिणरहसि हिच उरग दलिहि वेउ पासा जुडिया ॥२३॥

अति चाविउं पाडर होइ अति ताणिउ त्रूटइ।
अति मथिय होइ कालकूट अति भरिय फूटइ ॥२४॥

मडलियउ बाहूबलि मणइ मन मरइ अखूटइ।
जो भुयदडह पडइ पाखि सो किमुइ न छूटइ ॥२५॥

देव-सूरि पणमेवि सयलुतिय-जोय वदीतउ।
वयरसेण सूरि भणइ अेहु रण रगुजु वीतउ ॥२६॥

तापहिरिआइ रिउ-रंगि अनलु वेगु सहि भूमियउ।
पडियउ मंगो-मग्गि आगि वाथि मरवइ खयइ ॥२८॥
काइं सूया कूव काइं माभा मूंडिया।
केवि किया सर ढूव विज्झा हरि विज्झ वलिहिं ॥२८॥
इण परिजउ महवाउ मउइ वधा ऊसारियउ।
तउ मरमेसरू राउ आपणि ऊठ वणिय करइ ॥२९॥
तावह विज्जु पचंडु अनलवेगु नइ-पलि गयउ।
मोडिवि तिणु चय-खंडु मरहेसरू विक्खउ कियउ ॥३०॥
पक्खिहिं छिवइ मंभु भरहेसरू विज्झा हरइ।
इण रण रंगि जु वीतु वेवा हइ नइमीसरइ ॥३१॥
तो बहु जीय संहारू वेवविणु पाहु वलिणा।
भणियु पर-बल मारू मुज्झुवि झुज्झवि लागठइ ॥३२॥
अइ बूझसि तउ धूझि काइं मांडलिये मारिये।
पहरण पाखइ झक्क मंगो मंगिहिं कीजिमइ ॥३३॥
तउ धुरि ओअंताइं नाखिहिं पाथिउं आइयउ।
वादहिं पोखताइ मरपहिं पाडिकतरू नहिं ॥३४॥
भड़ु वि जुध दंडेहि मञ्मभुतहिं निम्मियं।
मूठिहिं भरू दंडहि मरहु जीनु बाहु चलिहिं ॥३५॥
सा सिंहस-विमाठ जा दाइयह वूयलउ।
तहिं कहियउ राउ बल रमणु सह सुमरियं ॥३६॥
करियलि चक्कु परवि जाल-फुलिंगा मेल्हतउं।
मूकउं बलि भक्लेवि प्रयहइ नाइउं गात्रियह ३७॥
सावइं भणइ हसवि बाहुबलि भरहेसरह।
छेदह इ मर देवि चक्क-रयणि सउं निइलउ ॥३८॥
पुण तं भइ पचंडु तउ मइं मूकउ जीवतउ।
मह पुणु किउ मामंतु धवह मूठिहिं लावु किउ ॥३९।
मा पामे लागवि भर देमरि समाविथउ।
वंधप! मुज्झु गमरि तइं जीतउ मइं हारियउ ॥४०॥

ऊतरू ताव न देइ वाहुबलि भरहेसरह ।
राणे सरिसउ ताव भरहेसरू घरि आइयउ ॥४१॥
पहु भरिहेसरि राइं रिसह जिणसरू पूछियउं ।
ह वाहूबलि भाइं सामिय काइं हरावियउ ॥४२॥
तउ महुरक्खर वाणि(अे) रिसहनाहु पहु वज्जरइ ।
कारणु अवरू म जाणि(अे) पुव्व-कियं परि परिणामइ ॥४३॥
पचपूत अम्हि आसि(अे)वयरसेण तित्थकरह ।
राजु करि वि तहिं पासि(अे)तपु किउ अम्हि निम्मलउ ॥४४॥
मइ तहिं तित्थयरत्तु(अे) तइ पुणु वाधउं भोग-फलु ।
मुणिहि मलेविणु गातु(अे) वाहूबलिहि ॥४५॥
वभी सुदरि बेवि(अे)मायाकरि हुई जुवई ।
भवियहु इहु जाणेवि(अे)माया दूरिं परिहरउ ॥४६॥
वाहूबलि हू नाण(अे)माणि पणडइ तउ हुयउ ।
अवरुम करिसउ माणु(अे)वयरसेण सुरि वज्जरइ ॥४७॥
भावण तिंव भावेउ जिंव भावी भरहेसरिहिं ।
तउ केवल पावेहु(अे)राजु करंता तेण जिंव ॥४८॥

इति भरहेसर-बाहूबलि घोर समाप्त

भरतेश्वर बाहु-बलि-रास

परिचय

देशी भाषा के उपलब्ध रास-ग्रंथों में 'भरतेश्वर-बाहु-बलि' की गणना प्राचीनतम रास के रूप में की जाती है। इसके रचयिता शालिभद्र सूरि राजगच्छ नामक आम्नाय के प्रमुख आचार्य थे।

रचना-काल हेमचंद्रयुग

इसकी रचना सं. १२४१ वि. के फाल्गुन मास की पंचमी तिथि को समाप्त हुई। इस रास को सब प्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय श्री मुनिजिन विजय जी को है, जिन्होंने सन् १९१४ ई. में बड़ौदा के पाटण जैन-भंडार का सुव्यवस्थित रूप से निरीक्षण करके अनेक दुर्लभ ग्रंथों को प्रकाश में लाने के लिए अथक श्रम किया। उन्होंने सन् १९१५ ई. में गुजराती साहित्य-परिषद् के निमित्त एक विस्तृत निबंध प्रस्तुत किया, जिसमें पाटण जैन भंडार से प्राप्त अपभ्रंश ग्रन्थों पर अभिनव प्रकाश डाला।

मुनिजिन विजय के शोधकार्य से पूर्व विद्वानों की धारणा थी कि महेंद्रसूरि के शिष्य धर्म नामक विद्वान् द्वारा विरचित 'जंबू स्वामिरास' प्राचीनतम रासग्रंथ है किन्तु अब तो सब सम्मति से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि इससे भी ६५ वर्ष पूर्व भरतेश्वर बाहु-बलि रास की रचना हो चुकी थी।

रासकर्ता आचार्य शालिभद्र सूरि ने अपने स्थान का कहीं भी संकेत नहीं किया है किन्तु मुनि जिनविजय की ऐसी धारणा है कि वे प्रायः पाटण में ही निवास करते थे। इस ग्रंथ की रचना के दस वर्ष पूर्व प्रसिद्ध आचार्य हेमचंद्र का स्वर्गवास हो चुका था। किन्तु उनकी प्रभा का आलोक वर्षों तक विद्वानों का पथ-प्रदर्शक बना रहा। इसी कारण श्री मुनि जिन विजय इस रास को हेमचंद्र युग की श्रेष्ठ कृतियों में परिगणित करते हैं।

सबसे प्राचीन प्रति

इस रास की एकमात्र प्राचीन प्रति बड़ौदा में अवस्थित श्री कांतिविजय जी के शास्त्र संग्रहालय से प्राप्त हुई। इस प्रति में १०½ और ४½ इंच की साइज के ६ पन्ने हैं। इस प्रति पर कहीं भी प्रति लिपि काल का उल्लेख नहीं मिलता, किंतु अनुमानतः यह ४०० अथवा ५०० वर्ष पुरानी प्रति होगी। इस प्रति की लेखनशैली में एकरूपता का अभाव है। विशेषकर

इकार-उकार, ह्रस्व-दीर्घ का कोई नियम नहीं। एक शब्द एक स्थान पर ह्रस्व 'इ' से लिखा मिलता है, किन्तु वही शब्द दूसरे स्थान पर दीर्घ 'ई' से। इसी प्रकार एक ही शब्द में 'उकार' और 'ऊकार' दोनों पाए जाते हैं। इतना ही नहीं, 'इकार' और 'उकार' में भी भेद नहीं पाया जाता। उदाहरण के लिये 'हवे' शब्द लीजिए। इसके अनेक रूप हिव, हिवु, हिवउ, हिवि, हिवइ, हवि, हव आदि पाए जाते हैं। इस त्रुटि के कारणों पर भूमिका में प्रकाश डाला जा चुका है।

इस रास की भाषा का वही स्वरूप मिलता है जो १३ वीं शताब्दी में विरचित 'जबूस्वामिरास', 'रेवत-गिरिरास', तथा 'आबू गिरिरास' में पाया जाता है। इसकी छंद-योजना भी प्रायः उस युग के अन्य रासों के सदृश ही है। इसमें दोहा, वस्तु और चउपइ आदि छंद मिलते हैं। (ढालवाला) ढाळवाला राग में गाया जाने वाला रासा छंद भी पाया जाता है। प्रत्येक ठवणि के उपरांत छंदवाली पंक्ति (कड़िओ) को पृथक्-पृथक् रागों में गाया जाता था। यही रासा छंद की विशेषता थी।

भाषा

इस रासग्रंथ की कथा-वस्तु जैन-साहित्य की एक अति प्रचलित घटना है। युगादि पुरुष भगवान ऋषभ देव के दो पुत्र थे—भरत और बाहुबलि। इन दोनों में राज्याधिकार के निमित्त संघर्ष छिड़ गया। दोनों में घोर युद्ध हुआ। उस युद्ध के अंतिम परिणाम का वर्णन बड़े ही नाटकीय ढंग से किया गया है।

कथा वस्तु

———

शालिभद्रसूरिकृत

भरतेश्वर-बाहुबली रास

(एक प्राचीनतम-पद्यकृति)

॥ नमोऽर्हद्भ्यः ॥

श्री

रिसह जिणेसर पय पणमेवी सरसति सामिणि मनि समरेवी
नमवि निरंतर गुरुचलणा ॥ १

भरह नरिंदह तणुं चरित्तो जं जुगी वसहावलय वदीतो
बार वरिस बिहुं बंधवह ॥ २

हुं हिव पभणिसु रासह छंदिहिं तं जनमनहर मन आणंदिहिं
भाविहिं भवीयण ! संभलेउ ॥ ३

जंबुदीवि उवज्झाउरि नयरो, धणि कणि कंचणि रयणिहिं पवरो
अवर पवर किरि अमर पुरो ॥ ४

करइ राज तहिं रिसह जिणेसर, पावतिमिर भयहरण दिणेसर,
देसि तरणि कर तहिं तपइ ए ॥ ५

नाभि सुनंद सुमंगल देवि राय रिसहेसर राणी बे वि
रूप रेहिं रति प्रीति जिव ॥ ६

बिबि बेटी जनमी सुनंदन तेह वि तिहूयण मन-आनंदन
भरह सुमंगल-देवि तणु ॥ ७

देवि सुनंदन नंदन बाहूबलि समइ मिल्ल महाभड भूयबलि
अवर कुमर वर वीर धर ॥ ८

पूरव लाख तेसि तेयासी, राजतणी परि पुहवि पयासी
जुगि जुग मारग थापीउ ए ॥ ९

उवज्झपुरि भरहेसर थापीय तक्षशिला बाहुबलि आपीय
अवर अठाणुं वर नयर ॥ १०

दान दियइ जिणवर संवत्सर, विसयविरत्त महइ संजमभर
सुर असुर नरि सेवीउ ए ॥ ११

परमतालपुरि केवलनाणुं, तस ऊपन्नू प्रगट प्रमाणूं,
जाण हवु भरहेसरह ॥ १२

तिणि दिणि आउधसालह चक्को, आवीय अरीयण पडिय धसक्को,
भरह विमासइ गहगहीउ ॥ १३

धनु धनु हु धर-मडलि राउ, आज पढम जिणवर मुझ ताउ,
केवललच्छि अलकीयउ ॥ १४

पहिलु ताय-पाय पणमेसो, राजरिद्धि राणिम-फल लेसो,
चक्करयण तव अणुसरउं ॥ १५

❀

वस्तु—चलीय गयवर, चलीय गयवर, गडीय गज्जत,
हू पत्तउ रोसभरि, हिणहिणत हय थट्ट हल्लीय।
रह भय भरि टलटलीय मेरु, सेमु मणि मउड खिल्लीय।
सिउं मरुदेविहिं सचरीय, कुजरी चडिउ नरिंद।
समोसरणि सुरवरि सहिय, वदिय पढम जिणद ॥ १६

पढम जिणवर, पढम जिणवर-पाय पणमेवि,
आणदिहिं उच्छव करीय, चक्करयण वलिवलिय पुज्जइ।
गडयडत गजकेसरीय, गरुय नदि गजमेह गज्जइ।
वहिरीय अबर तूर-रवि, वलिउ नीसाणे घाउ।
रोमचिय रिउरायवरि, सिरि भरहेसर राउ ॥ १७

❀

ठवणि १. प्रहि उगमि पूरवदिसिहिं, पहिलउं चालीय चक्क तु।
धूजीय धरयल थरहर ए, चलीय कुलाचल-चक्क तु ॥ १८

पूठि पीयाणु तउ दियए, भूयबलि भरह नरिंद तु।
पिडि पचायण परदलह, इलियलि अवर सुरिंद तु ॥ १९

वज्जीय समहरि संचरीय, सेनापति सामत तु।
मिलीय महाधर मडलीय, गाढिम गुण गज्जत तु। २०

गडयडतु गयवर गुडीय, जगम जिम गिरिशृग तु।
सुडा-दड चिर चालवइ, वेलइं अगिहिं अग तु ॥ २१

सिर डोलावइ धरणिहि ए, ट्रंक टोल शिरिश्रृंग तु ।
सायर सयल वि झलमलीय, गहलीय गंग तुरंग तु ॥ ३६

खर रवि पूंदीय मेहरवि, महियलि मेहंधार तु ।
उजूआलइ आउध तणइं, चालइ रायखधार तु ॥ ३७

मडिय मंडलचइ न मुहे, ससि न कवइं सामत तु ।
राउत राउतवट रहीय, मनि मूंभः मतिवंत तु ॥ ३८

कटक न कवणिहिं भर तणु, भाजइ भेडि भडंत तु ।
रेलइं रयणायर जमले, राणोराणि नमंत तु ॥ ३९

साठि सहस संवच्छरह, भरहस भरह खड तु ।
समरगणि साधइ सधर, वरतइ आण अखड तु ॥ ४०

वार वरिस नमि विनमि, भड भिडीय मनावीय आण तु ।
आवाटी तडि गंग तणइ, पामइ नवह निहाण तु ॥ ४१

छत्रीस सहस मउडुध सिउं, चऊद रयण संपत्त तु ।
आविउ गंग भोगवीय, एक सहस वरसाउ तु ॥ ४२

❀

ठवणि २

तउ तिहिं आउधसाल, आवइ आउधराउ नवि ।
तिणि खिणि मणि भूपाल, भरह भयह लोलावइओ ॥ ४३

वाहिरि वहूय अणालि, अलूआरीय अहनिसि करइ ए ।
अति उतपात अकालि, दाणव दल वरि दापवइ ए ॥ ४४

मतिसागर किणि काजि, चक्क त (न) पुरि परवेस करइ ।
तइ जि अम्हारइ राजि, धोरीय धर धरीउ धरह ॥ ४५

देव कि थभीउ एय, कवणि कि दानव मानविहिं ।
एउ आखि न मुझ भेउ, वयरीय वार न लाईइ ए ॥ ४६

वोलइ मंत्रिमयक, सांभलि सामीय चक्कधरो ।
अवर नही कोइ वंकु, चक्करयण रहवा तणउ ॥ ४७

संकीय सुरवर सामि भरहेसर तूंय भूय भवणे ।
नासइ ति सुणीय नामि, दानव मानव कहि कवणि ॥ ४८

नवि मानइ तूंय आण, बाहूबलि विहुं बाहुबले ।
भीरइ वयर विनाणु, विसमा विग्रह वीरवरे ॥ ४९

तीणि कारणि नरदेव, चक्क न आवइ नीय नयरे ।
विणु बंधव तूंय सेव, सवू कोइ सामीय सारवइ ए ॥ ५०

तं ति सुणीय तीणइ वालि ऊठीउ राउ सरोसभरे ।
भमइ चडावीय भालि, चमकइ मोडवि भू ति मुहे ॥ ५१

जु न मानइ मम आण कवण सु कहीइ बाहुबले ।
सीसई सवु ए राण, भवउ भुज मारिहिं भिडीय ॥ ५२

स मतिसागर मंति, बलि वसुहाहिव वीनवइ ।
नवि मनि कीजइ खंति, बंधव सिउ कहि कवण बलो ॥ ५३

दूत पठावीयइ देव पहिलउं वात जणावीइ ए ।
जु नवि आवइ देव तु नरवर कटकइ करउ ॥ ५४

तं मनि मानीय राउ वेगि सुवेगइं आइसइ ए ।
अईय सुनंदाजाउ, आपा मनावे आपणीय ॥ ५५

जां रथ जोत्रीय जाइ, सु वि आपसिहिं नरवरइं ।
फिरि फिरि साहमु थाइ, वाम तुरीय वाहणि वणउ ॥ ५६

कालवकाल विराल आवीय आविहिं ऊतरइ ए ।
जिमणउ जम विकराल खर सु-रव ऊससीय ॥ ५७

सूकीय चाम्म डालि देवि चडटीय सुर करइ ए ।
भंटीय म्यास मम्मसि धूक पोकारइ वाहिणओ ॥ ५८

जिमणइ गमइ विचारि, फिरीय सिव फे करइ ए ।
डावीय रगसइ डावि भयरव भैरव रसु करइ ए ॥ ५९

चइ मसनइ कालीयार, एकउ वेतुं ऊतरइ ए ।
नींअसीउ वंगार, संचरतो साहमु हुइ ए ॥ ६०

काल भुयंगम काल वंधीय वंसण चालवइ ए ।
माज मसूरग काल, पूठउ रहि रहि इम भणइ ए ॥ ६१

जाइ जाणी दूत, जीवह जोधि आगमइ ए।
जेम भमतउ भूत, गिणइ न गिरि गुह वण गइण ॥ ६२

तईंड नेसमि वेस, न गिणइ नइ दह नीझरण।
लघीय देस असेस, गाम नयर पुर पाटणह ॥ ६३

वाहरि वहूय आराम, सुरवर नइ तां नीझरण।
मणि तोरण अभिराम, रेहइ धवलीय धवलहरो ॥ ६४

पोयणपुर दीसंति, दूत सुवेग सु गहगहीउ।
व्यवहारीया वसति, धणि कणि कचणि मणि पवरो ॥ ६५

धरणि तरणि ताडक, जेम तुग त्रिगढु लहइ ए।
एह कि अभिनव लक, सिरि कोसीमा कणयमय ॥ ६६

पोढा पोलि पगार, पाडा पार न पीमाइं ए।
सख न सीहदूयार, दीसइं देउल दह दिसिइं ॥ ६७

पेखवि पुरह प्रवेसु, दूत पहूतउ रायहरे।
सिउ प्रतिहार प्रवेसु, पामीय नरवर पय नमइ ए ॥ ६८

चउकीय माणिक थंभ, माहि वईठउ वाहुवले।
रूपिहि जिसीय रभ, चमरहारि चालइ चमर ॥ ६९

मडीय मणिमइ दड, मेघाडबर सिरि धरिय।
जस पयडे भूयुदंडि, जयवंती जयसिरि वसइं ए ॥ ७०

जिम उदयाचलि सूर, तिम सिरि सोहइ मणिमुकुटो।
कसतुरीय कुसुम कपूर, कुचूवरि महमहइ ए ॥ ७१

झलकइ ए कुडल कानि, रवि शशि मडीय किरि अवर।
गगाजल गजदानि, गाढिम गुण गज गुडअडइं ए ॥ ७२

उरवरि मोतीय हार, वीरवलय करि झलहलइ ए।
तवल अगि सिणगार, खलक ए टोडर वाम [इ] ए ॥ ७३

पहिरणि जादर चीर, ककोलइ करिमाल करे।
गुरूउ गुणि गंभीर, दीठउ अवर कि चक्कधर ॥ ७४

रजिउ चित्ति सु दूत, देषीय राणिम तसु तणीय।
धन रिसहेरपूत, जयवतु जुगि बाहुवले ॥ ७५

गंजइ फिरि फिरि गिरि सिहरि, मजइ सरुभर बालि सु ।
मकम-वसि भायइ नहीं य, करइ अपार मयालि सु ॥ २२

हींसइं हमसिसि हणहणइं ए, तरवर तार सापार सु ।
मूंद्रव सुरसइं लेखवीय, मन मानइं असुभार सु ॥ २३

पाम्हर पखि कि पंसरू य उडाऊडिहिं जाइ सु ।
हूंफइं सलपइं ससइ धसइ अबइ अकीरीय धाइं सु ॥ २४

फिरइं फेकारइं फोरणइ फुड फेणावलि फार सु ।
वरखि सुरगम सम मुलइं खेलीय वरस ततार सु ॥ २५

धडहडंत धर ध्रमध्रमीय, रह रूंधइं रहयाट सु ।
रय-भरि गणइं न गिरि गहण, थिर थोभइ रहयाट सु ॥ २६

घमरपिंघ घज लहलहइ ए, मिल्हइ मयगल माग सु ।
धगि चहंता वीहं सणइं ए, पायल न लहइ लाग सु ॥ २७

दडवडंत दह दिसि धुसह ए, घमरीय पायक-चक्क सु ।
अंगोअंगि अंगमइ अरीयणि अमरणि अवांत सु ॥ २८

ताकइ वसपइ तालि मिलि हणि हणि हणि पनयांव सु ।
भागलि काइ म भणइ मलु ए, जे साहसु जूझंत तउ ॥ २९

दिसि दिसि वारक संचरीय वसर वहइ अपार सु ।
संप न लामइ मेन-वणीं काइ न लहइ सुभि सार सु ॥ ३०

बधव बंधवि मधि मिलइ, न चगा मिलइं न बाप सु ।
मामि न सेवक सारवइं आभिहिं आप भिआप सु ॥ ३१

गयवरि चडीउ चकभरा पिंडि पयंड भूयदंड सु ।
धालाय पिंडु दिसि पलपलीय दिइं धमाडिय दंड सु ॥ ३°

बज्जीय समहरि ध्रमध्रमीय पण-निनाद नीसाण सु ।
मंडीय मुरचरि ममि मय अथरहं कमल प्रमाण सु ॥ ३३

हाक हूक थंबक तणइ ए, गाजीय गयण निहाण सु ।
पर पंडद पंडादिवइं चालतु चमरीय माण सु ॥ ३४

भर्गाय गय भर तिहुं भूयणि महित किमइं न माइ सु ।
कंपिय पय भरि सेस रहिउ बिण माहीउ न जाइ सु ॥ ३५

सिर डोलावइ धरणिहि ए, ट्रंक टोल शिरिशृंग तु ।
सायर सयल वि भलभलीय, गहलीय गंग तुरंग तु ॥ ३६

खर रवि पूर्दीय मेहरवि, महियलि मेहधार तु ।
उजूआलइ आउध तणइं, चालइं रायखवार तु ॥ ३७

मडिय मडलवइ न मुहे, ससि न कवइ सामत तु ।
राउत राउतवट रहीय, मनि मूंभइं मतिवत तु ॥ ३८

कटक न कवणिहि भर तणु, भाजइ भेडि भडंत तु ।
रेलइं रयणायर जमले, राणोराणि नमत तु ॥ ३९

साठि सहस संवच्छरह, भरहस भरह खड तु ।
समरगणि साधइ सधर, वरतइ आण अखड तु ॥ ४०

वार वरिस नमि विनमि, भड भिडीय मनावीय आण तु ।
आवाठी तडि गंग तणइ, पामइ नवह निहाण तु ॥ ४१

छत्रीस सहस मउडुध सिउ, चऊद रयण संपत्त तु ।
आविउ गंग भोगवीय, एक सहस वरसाउ तु ॥ ४२

❀

ठवणि २

तउ तिहिं आउधसाल, आवइ आउधराउ नवि ।
तिणि खिणि मणि भूपाल, भरह भयह लोलावडओ ॥ ४३

वाहिरि वहूय अणालि, अलूआरीय अहनिसि करइ ए ।
अति उतपात अकालि, दाणव दल वरि दापवइ ए ॥ ४४

मतिसागर किणि काजि, चक्क त (न) पुरि परवेस करइ ।
तइ जि अम्हारइ राजि, धोरीय धर धरीउ धरह ॥ ४५

देव कि थभीउ एय, कवणि कि दानव मानविहिं ।
एउ आखि न मुझ भेउ, वयरीय वार न लाईइ ए ॥ ४६

वोलइ मन्त्रिमयक, सांभलि सामीय चक्कधरो ।
अवर नही कोइ वंकु, चक्करयण रहवा तणउ ॥ ४७

संकीय सुरवर मामि, भरहेसर रूय भूय मवयो ।
नामइ ति सुणीय मामि, शनव मानव कहि कवयणि ॥ ४८

नवि मानइ रूय आण याहुबलि पिहुं वाहुबले ।
वीरह वयर विनाणु, विसमा विहवइ वीरवरो ॥ ४९

सीणि काठणि नरदेव चक्क न आवइ नीय नयरे ।
विण बंधव रूय सेव मइ कोइ मामीय साचवइ ए ॥ ५०

सं वि सुणीय वीयाइ सालि कठीउ राउ मरोसमरे ।
भमइ चडावीय मालि, पभयइ मोडवि मू छि मुहे ॥ ५१

जु न मानइ मम्ह आण, कवण सु कहीइ याहुबले ।
लीलइ लसु ए राण मंजउ मुज मारिहिं मिडीय ॥ ५२

स मतिसागर मंति, वलि वसुहाहिव वीनवइ ।
नवि मनि कीजइ खंति बंधव सिउ कहि कवण मलो ॥ ५३

दूत पठावीयइ देव पहिलउं वात जणावीइ ए ।
जु नवि आवइ देव तु नरवर कटकइ करउ ॥ ५४

ईं मनि मानीय राउ वगि सुवेगह आइलइ ए ।
जईय सुनंदाजाउ, आण मनावे आपणीय ॥ ५५

जां रथ जोत्रीय साइ सु जि आपसिहिं नरवरहं ।
फिरि फिरि साइमु थाइ, वाम सुरीय वाडखि तराउ ॥ ५६

काजलकाल विराल आवीय आडिहिं ऊतरइ ए ।
जिमणाउ जम विकराल खर सुरख ऊखलीय ॥ ५७

सूकीय वाउल डालि देवि बइठीय सुर करइ ए ।
मंमीय माल मम्झालि धूक पोकारइ वाहिरमो ॥ ५८

विमणउं गमइ विपाटि, फिरीय शिव फे करइ ए ।
वावीय अगसइ साटि, मयरव भैरव रख करइ ए ॥ ५९

वड सलनइ कालीमार, एकउ पेटुं ऊतरइ ए ।
नींगलीउ अंगार, संवरसा साइमु हुइ ए ॥ ६०

काल भुयंगम काल दंतीय वंसण पासवइ ए ।
आज अखुट्ट काल, पूटड रहि रहि इम मणइ ए ॥ ६१

जाइ जाणी दूत, जंविह जोपि आगमइ ए।
जेम भमतउ भूत, गिणइ न गिरि गुह वण गइण ॥ ६२

तईड नेसमि वेस, न गिणइ नइ दह नीभरण।
लंघीय देस असेस, गाम नयर पुर पाटणह ॥ ६३

वाहरि वहूय आराम, सुरवर नइ तां नीभरण।
मणि तोरण अभिराम, रेहइ धवलीय धवलहरो ॥ ६४

पोयणपुर दीसति, दूत सुवेग सु गहगहीउ।
व्यवहारीया वसति, धणि कणि कंचणि मणि पवरो ॥ ६५

धरणि तरणि ताडक, जेम तुग त्रिगढु लहइ ए।
एह कि अभिनव लक, सिरि कोसीमा कणयमय ॥ ६६

पोढा पोलि पगार, पाडा पार न पीमाइं ए।
सख न सीहदूयार, दीसइं देउल दह दिसिइं ॥ ६७

पेखवि पुरह प्रवेसु, दूत पहूतउ रायहरे।
सिउ प्रतिहार प्रवेसु, पामीय नरवर पय नमइ ए ॥ ६८

चउकीय माणिक थभ, माहि वईठउ वाहुवले।
रूपिहिं जिसीय रभ, चमरहारि चालइं चमर ॥ ६९

मडीय मणिमइ दड, मेघाडबर सिरि धरिय।
जस पयडे भूयुदडि, जयवती जयसिरि वसइं ए ॥ ७०

जिम उदयाचलि सूर, तिम सिरि सोहइ मणिमुकुटो।
कसतुरीय कुसुम कपूर, कुचूंवरि महमहइ ए ॥ ७१

झलकइ ए कुडल कानि, रवि शशि मंडीय किरि अवर।
गगाजल गजदानि, गाढिम गुण गज गुडअडइ ए ॥ ७२

उरवरि मोतीय हार, वीरवलय करि झलहलइ ए।
तवल अगि सिणगार, खलक ए टोडर वाम [इ] ए ॥ ७३

पहिरणि जादर चीर, ककोलइ करिमाल करे।
गुरूउ गुणि गभीर, दीठउ अवर कि चक्कधर ॥ ७४

रजिउ चित्ति सु दूत, देषीय राणिम तसु तणीय।
धन रिसहेरपूत, जयवतु जुगि बाहुबले ॥ ७५

बाहुबलि पूछेइ कुमयण, काजि तुम्हि आवीया ए।
दूत भणइ निअ काजि, भरहेसरि अम्हि पाठव्या ए॥ ७६

❀

वस्तु

राउ जंपइ राउ जंपइ, सुणि न सुणि दूत
भरहखित्त भूमीसरह, भरह राउ अम्ह सहोयर।
सवाकोडि कुमरिहिं सहीय, सूरकुमर तहिं अवर नरवर।
मति महाधर मंडलिय, अंतेवरि परिवारि।
सामंतह सीमाल सह, कहि न कुसल सविचार॥ ७७

दूत पभणइ, दूत पभणइ, बाहुबलि राउ।
भरहेसर चक्कवइ, कहि न कवणि दूहवणह किज्जइ।
जिहु लहु बंधव तूंय, सरिस गयघडंत गज भीम गज्जइ।
जइ अंधारइ रवि किरणि भड भंजइ वर वीर।
तु भरहेसर समर भरि, जिप्पइ माहरी धीर॥ ७८

❀

ठवणि २

केरि सुवेग सु सुजाइ, संभलि बाहुबलि।
राजउ कोइ तुह मुझइ, ईणिइं भमइ रविरलि॥ ७९

जो तव बंधव भरह नरिंदो जसु सुइं कंपइं सग्गि सुरिंदो।
चीयाईं चीतां भरह छ खंड, म्लेच्छ मनाव्या आण अखंड॥ ८०

मडि मडंव न भूयपति भाजइ, गडयडंतु गडि गाडिम गाजइ।
सहस बतीस मउडबधा राय तूंय बंधव सवि सेवइं पाय॥ ८१

चउद रयण घरि नवइं निहाण संख न गयघड जसु केकाण।
तूंय दरसण पाटइ अभिषेको, तूंय नवि आवीय कवण विवेको॥ ८२

विण बंधव सवि संपय ऊणो, जिम विण लवण रसोइ अलूणी ।
तुम्ह दंसण उतकठिउ राउ, नितु नितु वाट जोइ तुह भाउ ॥ ८३

वडउ सहोयर अनइं वड वीर, देव ज प्रणमइं साहस धीर ।
एक सीह अनइं पाखरीउ, भरहेसर नइ तइ परवरीउ ॥ ८४

❀

ठवणि ४

तु बाहूवलि जंपइ, कहि वयण म काचुं ।
भरहेसर भय कपइ, ज जग तु साचु ॥ ८५

समरंगणि तिणि सिउ कुण काछइ, जीह बंधव मइं सरिसउ पाछइ ।
जावत जंबुदीवि तसु आण, ता अम्ह कहीइ कवण ए राण ॥ ८६

जिम जिम सु जि गढ गाढिम गाढउ, हय गय रह वरि करीय सनाढु ।
तस अरधासण आपइ इंदो, तिम तिम अम्ह मनि परमाणंदो ॥ ८७

जु न आव्या अभिषेकह वार, तु तिणि अम्ह नवि कीधा सार ।
वडउ राउ अम्ह वडउ जि भाई, जहिं भावइ तिहां मिलिसिउ जाई ॥ ८८

अम्ह ओलगनी वाट न जोई, भड भरहेसर विकर न होइ ।
मझ बंधव नवि फीटइ कीमइ, लोभीया लोक भणइ लख ईम्हई ॥ ८९

❀

ठवणि ५

चालि म लाइसि वार, बंधव भेटीजइ ।
चूकि भ चींति विचार, मू य वयण सुलीजइ ॥ ९०

वयण अम्हारु तूय मनि मानि, भरह नरेसर गणि गजदानि ।
सतूठउ दिइ कचण भार, गयघड तेजीय तुरल तुषार ॥ ९१

गाम नयर पुर पाटण आपइ, देसाहिव थिर थोभीय थापइ ।
देय अदेय न देतु विमासइ, सगपणि कह नवि किंपि विणासइ ॥ ९२

जा ण राउ ओलगिउ जाणइ, माणण हार विरोषिइं माखइ ।
प्रतिपन्नउ [प्रगट प्रतिपालइ, प्रारथिउ नवि घडी विमरालइ ॥ ९३

तिणि सिरं देव न कीजइ वाडउ, सु मि मनाविइ मांड म आडउ।
हूं हितकारणि कहुं सुजाण, पूछइ कहूं सु भरहेसर आण ॥ ९४

❀

वस्तु

राइ जंपइ, राउ जंपइ, सुणि न सुणि दूत
त चिहि लहीउ मालइसि सं वि लाय भवि भविहिं पामइ।
इमइ नीसत नर वि (नि) गुण उलगाग वण्ण अणइ नामइ।
वंम पुरंदर सुर असुर, लीहं न लंघइ कोइ।
लग्मइ अधिक न उण्ण पथि, भरहेसर कुण होइ ॥ ९५

❀

ठवणि ६

नेसि निवेसि देसि परि मंदिरि, वसि यसि अंगसि गिरि गुह कंदरि।
दिसि दिसि पेसि देसि दीपतरि, लहीउं लामइ जुगि सचराचरि ॥ ९६

अरिरि दूत सुणि देवन दानव महिमंडलि मंडल मैमानव।
कोइ न लंघइ लहीया लीह, लामइ अधिक न उला बीह ॥ ९७

पण्ण कण्ण कंचण नवइ निहाण, गय पइ तेजीय तरल केकाण।
सिर सरवस सपरंग गमीजइ, कोइ नीसत्त पणइ न नमीजइ ॥ ९८

❀

ठवणि ७

दूत मयाइ पडु माई पुभिहिं पामीजइ।
पइ लागीजइ भाई, अम्ह कहीउं कीजइ ॥ ९९

अमर अठाणुं सु वई पहिरं मिलसिइ सु पुरुष मिलिउं न सयलुं।
कहि विरोध कुण कारणि कीजइ, माम म नीगमि वार भलीजइ ॥ १००

वार वरापह करसण फलीजइ, ईणि कारणि जई वहिला मिलीइ ।
जोइ न मन सिउं वात विमासी, आगइ वारूअ वात विणासी ॥ १०१

मिलिउ न किहां कटक मेलावइ, तउ भरहेसर तइं तेडावइ ।
जाण रषे कोइ झूझ करेसिइ, सहू कोइ भरह जि हियडइ धरेसिइ ॥१०२

गाजता गाढिम गज भीम, ते सवि देसह लीधा सीम ।
भरह अछइ भाई भोलावउ, तउ तिणि सिउ न करीजइ दावउ ॥ १०३

❀

वस्तु

तव सु जपइ, तव सु जपइ, वाहुवलि राउ,
अप्पह वाह भजा न वल, परह आस कहइ कवण कीजइ ।
सु जि मूरप अजाण पुण, अवर देपि वरवयइ ति गज्जइ ।
हु एकल्लउ समर भरि, भड भरहेसर घाइ ।
भजउं भुजवलि रे भिडिय, भाह न भेडि न थाइ ॥ १०४

❀

ठवणि ८

जइ रिसहेसर केरा पूत, अवर जि अम्ह सहोयर दूत ।
ते मनि मान न मेल्हइ कीमइ, आलईयाण म झषिसि ईम्हइ ॥ १०५

परह आस किणि कारणि कीजइ, साहस सइंवर सिद्धि वरीजइ ।
हीउं अनइ हाथ हत्थीयार, एह जि वीर तणउ परिवार ॥ १०६

जइ कीरि सीह सीयालइ खाजइ, तु वाहुबलि भूयवलि भाजइ ।
जु गाइं वाघिणि:धाई जइ, अरे दूत तु भरह जि जीपइ ॥ १०७

❀

ठवणि ९

जु नवि मन्नसि आण, वरवहं वाहूवलि ।
लेसिइ तु तूं प्राण, भरहेसर भूयवलि ॥ १०८

अस लक्खवइ कोडि छहं पायक, कोडि बहुत्तरि फरकइं फारक ।
नर नरवर कुण पामइ पारो, ससी न सकीइ सेनामारो ॥ १०९

जीवंता विहि सहू संभाहइ, जु तुहि भाजिसि सु भाजिउ पखाहइ ।
गिरि कंदरि भरि छपिउ न छूटइ, तूं बाहुबलि मरि म अखूटइ ॥ ११०

गय गडइ हय हड जिम अंबर, सीह सीयाल जिसिउ पटंतर ।
भरहेसर भमइ सूंय विहरउ छूटिसि किम्हइ करंत न निहरू ॥ १११

सरवसु सुंपि मनावि न माइ, कहि कुणि कूडी कुमति विसाई ।
मूंभि म मूरप मरि म गमार, पय पणमीय करि करि न समार ॥ ११२

गढ गंजिउ मढ भंजिउ प्राणि, तई हिय सारइ प्राण विनाणि ।
भरे दूत मोसी नवि जाणइ, तुंह भाव्या जमह प्राण ॥ ११३

कहि रे भरहेसर कुण कहीइ मई सिउं रणि सुरि असुरि न रहीइ ।
जे भाजिइं भऋरुषि विचार, भमइ नगरि कूंमार अपार ॥ ११४

आपणि गंगातीरि रमंता अलमल भूंपलि पड़ीय धमंता ।
छइ उल्लालीय गयणि पडंतउ, करुणा करीय वली झालंतउ ॥ ११५

ते परि कांइ गमार वीसार, जु तुहि भाजिसि सु जाणिसि सार ।
भउ मज्भुधा मउड उतारउ, रहिउ रिणि जु न हय गय धारउ ॥ ११६

भउ न मारउ भरहेसर राउ, तउ साधइ रिसहेसर साउ ।
मड भरहेसर जई जणावे हय गय रह वर भगि भलावे ॥ ११७

❀

वस्तु

दूत जंपइ दूत जंपइ सुणि न सुणि राउ,
बेह दियस परि म न गिणसि गंगतीरि खिलंत बिणि दिणि ।
भज्जंतां दल मारि जसु सेससीस सलमलइ फणिमणि ।
इमह याण स मानि रणि भरहेसर छइ दूरि ।
आपापूं भडिउ गयो कालि उगंतई सूरि ॥ ११८

दूत भडिउ, दूत भज्जिउ कहीय इम जाम
भंतीसरि चिंतयिउ, तु पमाउ दूषइ दियाइ ।

अवर अठाणू कुमर वर, वाइ सोइ पहतु पचारइ ।
तेह न मनिउ आविउ, वलि भरहेसरि पासि ।
अखई य मामिय संधिअल, अधवसिउ म विमासि ॥ ११९

❀

ठवणि १०

तउ कीपिहिं कलकलीउ काल के य कलानल,
ककोरइ कोरवीयउ करमाल महाबल ।
कालह कलयणि कलगलत मउडाधा मिलीया,
कलह तणइ कारणि कराल कोपिहिं परजलीया ॥ १२०

हुऊउ कोलाहउ गहगहाटि गयणगणि गज्जिय,
सचरिया सामत सुहड सामहणीय सज्जीय ।
गडयडत गय गडीय गेलि गिरिवर सिर ढालइं,
गूगलीया गुलणइ चलंत करिय ऊलालइं ॥ १२१

जुडइं भिडइं भडहडइं खेदि खडखडइं खडाखडि,
धाणीय धूणीय धोसवइं दतूसलि दोत [तडा] डि ।
खुरतलि खोणि खणति खेदि तेजीय दरवरिया,
समइ धसइ धसमसइं सादि पय सइ पापरिया ॥ १२२

कधगल केकाण कवी करडइ कडीयाली,
रणणइं रवि रण वखर सखर घण घाघरीयाला ।
सींचाणा वरि सरइ फिरइ सेलइं फोकारइं,
ऊडइ आडइ अंगि रगि असवार विचारइ ॥ १२३

धसि धामइं धडहडइं धरणि रथि सारथि गाढा ।
जडीय जोध जडजोड जरद सन्नाहि सनाढा ।
पसरिय पायल पूर कि पुण रलीया रयणार ।
लोह लहर वरवीर वयर वहवटिइ अवायर ॥ १२४

रणणीय रवि रण तूर तार त्रवक त्रहत्रहीया,
ढाक ढूक ढम ढमीय ढोल राउत रहरहीया ।

नेष नीसाण निनादि नींमझरण निरमीय
रणमेरी भुकारि मारि मूयवलिदि थियमीय ॥ १२५

चल चमाल करिमाल कुंत करतल कोदंड,
मलक्कइ सावल सबल सेल हल ममल पयंड।
मींगिणि गुण टंकार सहित बाणावलि वाणइं,
परशु उलालइ करि धरइ माला उल्लालइ ॥ १२६

तीरीय तोमर भिडमाल उथ्थर फमर्यंघ
सांगि सकति वरुमारि छुरीय मनु नागविबंध
हय खर रवि उछलीय खेह छाइय रविमंडल
धर धूजइ कलकलीय कोल कोपिउ कादकुल ॥ १२७

टलटलीया गिरिटंक टोल खेचर खलमलीया
कडडीय कूरम कंधसंधि सायर मलहलीया।
कडडीय कूरम कंधसंधि सायर धलहलीया।
चल्लीय समहरि सेससीसु सलसलीय न सकइ
कंचणगिरि कंधार मारि कमकमीय कसमइ ॥ १२८

कंपीय किंनर कोडि पडीय हरगण्या हडहडीया
संकिय सुरवर ममि सयल दाणव दडवडीया।
चलिप्रलंब छाइकइ प्रलंब बलविंध चिहुं दिसि
संचरीया सामंत सीस मीकिरिदिं कसाकसि ॥ १२९

वाइय भरह नरिंद कटक मूछइ वल घल्लइ
कुण बाहुबलि जे उ वरब मइं सिउं बल सुल्लइ।
जइ गिरि कंदरि विवरि वीर पइसंतु न छूटइ
जइ पखी अंगसि जाइ किम्हइ तु मरइ अपूटइ ॥ १३०

गज साहणि संचरीय मनु गार वेढीय पोयणपुर।
वाजीय भूंग म वहकीयउ बाहुबलि नरवर।
सघु मंत्रीसरि भरह राउ संभालीउ सांधु
य मविमांसिउं कीउं काइ आज जि वइ कांधु ॥ १३१

वंधव सिउ नरवीर कांइ इम अतर देषइ,
लहु वधव नीय जीव जेम कहि काइं न लेखइ ।
तउ मनि चिंतइ राय किसिउ एय कोइ पराठीउ,
ओसरी उवनि वीर राउ रहीउ अवाटीउ ॥ १३२

गय आगलीया गलगलत दीजइ हय लास,
हुइं हसमस ·· भरहराय केरा आवास ।
एकि निरतर वहइं नीर एकि इंधण आणइ,
एक आलसिइ परतणुं पाणु आणिउ तृण ताणइ ॥ १३३

एकि ऊतारा करीय तुरीय तलसारे बाधइ,
इकि भरडइं केकाण खाण इकि चारे रांधइं ।
इकि झीलीय नय नीरि तीरि तेतीय वोलावइ,
एकि वारू असवार सार साहण वेलावइ ॥ १३४

एकि आकुलीया तापि तरल तडि चडीय झपावइ,
एकि गूडर साबाण सुहड चउरा दिवरावइं ।
सारीय सामि सनामि आदिजिण पूज पयासइ,
कसतूरीय कुकुम कपूरि चदनि वनवासइं ॥ १३५

पूज करीउ चक्ररयण राउ वइठउ भूं जाई,
वाजीय सख असख राउ आव्या सवि धाई ।
मडलवइ मउडुध मु (सु ?) हड जीमइ सामतह,
सइ हत्थि दियइ तबोल कणय ककण झलकतह ॥ १३६

❀

वस्तु

दूत चलीउ, दूत चलीउ, वाहुवलि पासि,
भणइ भूर नरवर निसुणि, भरह राउ पयसेव कीजइ ।
भारिहि भीम न कवणि रणि, एउ भिडत भूय भारि भज्जइ ।
जइ नवि मूरप एह तर्णी, सिरवरि आण वहेसि ।
सिउ परिकरिइं समर भरि, सहूइ सयरि सहेसि ॥ १३७

राउ युझइ, राउ युझइ सुणि न सुणि दूत
ताय पाय पणमंतय सुम्फ बंधव भति ग्ररउ सज्जइ ।
तु भरहेसर ग्रसतणीय कहि न कीम ग्रम्हि सेव किज्जइ ।
भारिहं भूयबलि जु न मिडउं, मुज मंजु भडिवाउ ।
तउ लज्जइ तिहूयण भणीं सिरि रिसहेसर ताउ ॥ १३८

❀

ठवणि १४

चलीय दूत भरहेसरहं तेय वात जणावइ
कोपानलि परजलीय धीर साहण पसणावइ ।
लागी व लागि निनादि मादि भारति असवार,
बाहूबलि रणि रहिउ रोसि माडिउ विणि वार ॥ १३९

कड कंडोरण रणंत सर बेसर फूटइं
अंतरालि आपाइं इ याण तीहं अंत अखूटइं ।
राउत-राउति योध-योधि पायक-पायकिहिं
रहवर-रहवरि वीर-वीरि नायक-नायकिहिं ॥ १४०

वेढिक विहड़ विरामि सामि नामिहिं नरनरीया
मारइ मुरडीय मूंछ मेच्छ मांनि मच्छर भरीया ।
ससइ हसइ धसमसइ वीरधड वड नरि नाचइ
रायस री रा रव करंति रुहिरे सवि रायइ ॥ १४१

चांपीय चुरइ नरकरोडि भूयबलि भय भिरडइ
विण हथीयार कि वार एक दांतिहिं दल करडइ ।
भालइ भालि भम्माल बाल करमाल ति ताकइ
पडइ विंध सूभट कनय सिरि समहरि हाकइ ॥ १४२

रुहिर रलि वहिं वरइ तुरंग गय गुडीय भमूभइ
राउत रण रसि रहिय मुझि समरंगणि सूभइ ।
पहिलइ दिणि इम झूझ हुयुं सेनइ मुरझंडण
संप्या समइ ति वारणुं य करइ भट विहु रण ॥ १४३

❀

ठवणि १२. हिवं सरस्वती धउल—

तउ तहिं वीजए दिणि सुविहाणि, ऊगीउ एक जि अनलवेगो,
सडवड समहरे वरसए वाणि, छयल सुत छलीयए छावडु ए।
अरीयण अंगमइ अगोअगि, राउतो रामति रणि रमइं ए,
लडसड लाडउ चडीय चउरंगि, आरेयणि सयंवर वरइं ए॥ १४४

❀

त्रूटक

वर वरइं सयंवर वीर, आरेणि साहस धीर।
मंडलीय मिलिया जान, हय हीस मंगल गान।
हय हीस मंगल गानि गार्जीय, गयण गिरि गुह गुमगुमइं,
धमधमीय धरयल ससीय न सकइ, सेस कुलगिरि कमकमइं।
धसधसीय धायइं धारधा वलि, धीर वीर विहंडए,
सामत समहरि, समु न लहइं, मंडलीक न मडए॥ १४५

❀

धउल

मंडए माथए महीयलि राउ, गाढिम गय घड टोलवए,
पिडि पर परवत प्राय, भडधड नरवए नाचवइ ए।
काल कंकोलए करि करमाल, झाझए भूमिहिं झलहलइए,
भांजए भड घड जिम जम जाल, पंचायण गिरि गडयडए॥ १४६

❀

त्रूटक

गडयडइ गजदलि सीहु, आरेणि अकल अबीह।
धसमसीय हयदल धाइ, भडहडइं भय भडिवाइ
भडहडइ भय भडवाइ सुयवलि, भरीय हुइ जिम भींभरी,
तहिं चद्रचूडह पुत्र परबलि, अपिउ नरवइ नर नरतरी।
वसमतीय नदण वीर विसमू, सेल सर म दिखाडए,
रहु रहु रे हणि हणि.....भणंतू, अपड पायक पाडए॥ १४७

❀

वउल

पाडीय मुसेय सेणावए दंत पूंटिहिं निहणीय रणरणीय,
सूर कुमाराइ राउ पेखंत मिरढण भूपहरु मेउ .. ।
नयणिहिं निरपीय कुपीयउ राउ चक्करयण तउ समरइए,
मेल्हइए तेह प्रति अवि सकसाउ मनत्तयेगा वहिं चिंतवइ ए ॥ १४८

❀

मूरफ

चिंतवईय सुहइ राउ ओ भाई उपूटउ आउ ।
हिव मरण एह जि सीम रंजईंम चक्कपुरि जीम ॥
रंजवईय चक्कपुति जीम इम, मणि चक्र मुट्ठिहिं पडपली
सचरिउ सूरस सूरमंडलि चक्र पुहचइ तहिं वली ।
पडपडीउ नंदण चंद्रचूडह, चंद्रमंडल मोहए,
भलहलीय झाणि झमाणि मुट्ठिहिं चक्र तहिं तहिं रोहए ॥ १४९

❀

वउल

रोहीउ राउव आइ पाणासि, विज्जाहर विज्जावलिहिं,
चक्र पहूचए पूटि तीणि वासि वोलए भ्रातीय सहमजसो ।
रे रे रहि रहि कुपीउ राउ जिस्यु आइसि तिस्यु मारिसु ए,
तिहूयणि कोइ न अख्खइ अपाय जय जोपिम जीणइ जीवीइ ए ॥ १५०

❀

मूरफ

जीविवा छंडीय मोह, मनि मरणि मेल्हीय मोह
समरीय गु तीणि प्रमि इकु आदि जिणवर सामि ।
इकु आदि जिणवर सामि समरीय वज्जपंजर अणुसरइ,
नरनरीउ पापलि किरीउ वस सिरि चक्र लेई संचरइ ।
पयकमल पुज्ज भरह भूपति बाहुबलि वल खलभलइ
चक्रपाणि चमकीय चींति कहयसि कस्याइ कारणि किलगिलइ ॥ १५१

❀

धउल

ऊलगिलइ चक्रधर सेन सग्रामि, वोलए कवण सु वाहुवले,
तउ पोयणपुर केरउ सामि, वरवह दीसए दस गणु ए।
कवण सो चक्क रे कवण सो जाख, कवण सु कहीइ ए भरह राउ।
सेन सहारीय सोधउ साप, आज मल्हावउ रिसहवंसो॥ १५२

ठवणि १३. हिवं चउपई–

चद्रचूड विज्जाहर राउ, तिणि वातइं मनि विहीय विसाउ।
हा कुलमडण हा कुलवीर, हा समरगणि साहसधीर॥ १५३

कहीइ कहि नइ किसिउं घणु, कलु न लजाविउं तइ आपणउ।
तइं पुण भरह भलाविउ आप, भलु भणाविउ तिहूयणि वापु॥१५४

सु जि वोलइ वाहूवलि पासि, देव म दोहिलुंइँ हीइ विमांसि।
कहि कुण ऊपरि कीजइ रोसु, एह जि दैवह दीजइ दोसु॥ १५५

सामीय विसमु करम विपाउ, कोइ न छूटइ रक न राउ।
कोइ न भांजइ लिहिया लीह, पामइ अधिक न ओछा दीह॥ १५६

भजउ भूयवलि भरह नरिंद, मइं सिउं रणि न रहइ सुरिंद।
इम भणि वरवीय वावन वीर, सेलइ समहरि साहस धीर॥ १५७

थसमस धीर धसइ धडहडइं, गाजइ गजदलि गिरि गडयडइं।
जसु सुइ भडहड हडइ भडक, दल दडवडइ जि चड चडक॥ १५८

मारइ दारइ खल दल खणइ, हेड हणोहणि हयदल हणइ,
अनलवेग कुण कूखइ अछइ, इम पचारीय पाडइ पछइ॥ १५९

नरु निरुवइ नरनरइ निनादि, वीर विणासइ वादि विवादि।
तिन्नि मास एकल्लउ भिडइ, तउ पुण पूरउ चक्कह चडइ॥ १६०

चऊद कोडि विद्याधर सामि, तउ झूरइ रतनारी नामि।
दल ददोलिउ दउढ वरीस, तउ चक्किइं तसु छेदीय सीस॥ १६१

रतनचूड विद्याधर धसइ, गजइ गयघड हीयडइ हसइ।
पवनजय भड भरहु नरिंद, सु जि सहारीय हसइ सुरिंद॥ १६२

वहुलीक भरहेसरतणु, भड भांजणीय भिडीउ घणु।
सुरसारी वाहूवलिजाउ, भडिउ तेण तहि फेडीय ठाउ॥ १६३

अमितकेत विद्याधर सार. जस पामीइ न पौरुष पार ।
पखीउ चक्रधर वाजइ भंगि, भूरिउ पक्खिहिं पडिउ पउरंगि ॥ १६४

समरसंघ अनइ वीरह धंध, मिलीउ समहरि बिहुं सिउं बंध ।
सात मास रहीया रणि बेउ, गइ गहगहीया अपछरा लेउ ॥ १६५

सिरवाली सुरीवाली नामि, मिलइ महाभड बेउ संग्रामि ।
माल्या परवइं बायोबाथि, परमथि पुहता सरगा साथि ॥ १६६

महेन्द्रचूड रथचूड नरिंद, झूझइ हणहण हसइं सुरिंद ।
हाकइं ताकइ तुसपइं तुसइं, आठि मासि सइं जिमपुरि मिसइं ॥१६७

दंड खेड घसीउ पुरचारि, भरतपूत नरनरह निनादि ।
गजीउ पक्षि बाहूबलितणउ, वंस मल्हाविउ वीयि आपणु ॥ १६८

सिंहरथ उठीउ हाकंत, अमितगति संपिउ आवंत ।
तिभि मास मड भूजिउं आस, भरह राउ मनि बसिउ वासु ॥ १६९

अमिततेज प्रचपइ तहिं तेलि, सिउ सारंगिइं मिलिउ हेलि ।
भाइ बीर हयाइं बे वाधि, एक मासि नीवकया नीयाथि ॥ १७०

कुंडरीक भरहेसरजाउ, जस भड भडत न पालउ पाउ ।
इठवीय पक्षि बाहूबलि राय तउ पयर्यकइ प्रथमीय वाय ॥ १७१

सुरिंमसोम समर हाकंत, मिलिया वाथि वोमर ताकंत ।
पांच वरिस भर मेलीय भाइ, मीय मीय ठामि सिधारिआ राइ ॥१७२

इकि चूरइ इकि चंपइ पाय, एकि वारइ एकि मारइं धाइ ।
मसमस्रोत झूझइ सेयंस, धनु धनु रिसहेसरजु वंस ॥ १७३

सकुमारी भरहेसरजाउ रणि रसि रोपइ पहिलउ पाउ ।
गिणइ न गोठइ गजघड हणइ रणरसि वीर वधावइ मणइ ॥ १७४

वीस कोडि विद्याधर मिली उठिउ सुगति नाम किलिगिली ।
सिवनंदनि सिउं मिलीउ वाथि बासठि दिवसि बिहुं जम साथि ॥१७५

कोपि चडिउ चक्रिउ चक्रपाथि मारउं बयरी वायाविनाथि ।
मंडो रहिउ बाहूबलि राउ मंकउ मणइ भरह मकिवाउ ॥ १७६

बिहुं पक्षि वाजी रणि काहली असमस खोणि ले रलसमली ।
भूजइं धसकीय घड धरहरइ वीर वीर सिउं समवर वरइं ॥ १७७

ऊडीय खेह न सूझइ सूर, नवि जाणीइ सवार असूर ।
पडइं सुहड धड धायइ धसी, हणइं हणोहणि हाकइ हसी ॥ १७८

गडडइं गयघड ढीचा ढलइ, सूनासमा तुरग मल तुलइ ।
वाजइं धणुही तणा धोंकार, भाजइं भिडत न भेडीगार ॥ १७९

वहइ रुहिर-नइ सिरवर तरइं, री-रीयाट रणि राघस करइ ।
हयदल हाकइं भरह नरिंद, तु साहसु लहइ सग्गि सुरिंद ॥ १८०

भरहजाउ सरसु सग्रामि, गाजइ गजदल आगलि सामि ।
तेर दिवस भड पडीउ घाइ, धूणी सीस वाहुवलि राइ ॥ १८१

तीह प्रति जपइ सुरवर सार, देपी एवडु भडसंहार ।
काइ मरावउ तम्हि इम जीव, पडसिउ नरकि करता रीव ॥ १८२

गज ऊतारीय वधव वेउ, मानिउ वयण सुरिदह तेउ ।
पइसइ मालाखाडइ वीर, गिरिवर-पाहिइ सबल शरीर ॥ १८३

वचनभूमि भड भरहु न जिणइ, दृष्टिभूमि हारिउं कुणअणइ ।
दृडिभूमि झड झपीय पडइ, वाहु पासि पडिउ तडफडइ ॥ १८४

गूडासमउ धरणि-मझारि, गिउ वाहूवलि मुष्टिप्रहारि ।
भरह सबल तइ तीणइं वाइ, कंठसमाणउ भूमिहि जाइ ॥ १८५

कुपीउ भरह छ-खडह धणी, चक्र पटावइ भाई भणी ।
पाखलि फिरी सु वलीउं जाम, करि वाहूवलि धरिउ ताम ॥ १८६

वोलइ वाहुवलि वलवत, लोहखंडि तउ गरवीउ हत ।
चक्रसरीसउ चूनउ करउ, सयलह गोत्रह कुल संहरउं ॥ १८७

तु भरहेसर चितइ चीति, मइं पुण लोपीय भाई-रीति ।
जाणउ चक्र न गोत्री हणइ, माम महारी हिव कुण गिणइ ॥ १८८

तु बोलइ बाहूवलि राय(उ), भाईय ! मनि म म धरसि विसाउ ।
तइ जीतउ मइं हारउं भाइ, अम्ह शरण रिसहेसर-पाय ॥ १८९

❀

ठवणि १४

तउ तिहिं ए चितइ राउ, चढिउ सवेगिइं वाहुवले ।
दूहविउ ए मइं वडु भाय, अविमासिइं अविवेकवति ॥ १९०

धिग धिग ! ए एय संसार, धिग धिग ! राणिम राजरिद्धि ।
एवडु ए जीवसंहार, कीधउ कुण विरोधवसि ? ॥ १९१

कीजइ ए कहि कुण काजि जउ पुण बंधव मारवइ ए ।
काज न ए ईणइ राजि, घरि पुरि नयरि न मंदिरिहिं ॥ १९२

गिरिवरि ए छोष करेइ, कासगि रहीउ बाहुबले ।
अंसूय ए अंखि भरेइ, तस पय पणमए भरह भडो ॥ १९३

बापब ए अंह न बोल, ए अविमासिउं मइ कीउ ए ।
मेल्हिम ए माइ निटोल ईणि मवि हुं हिव एकलु ए । १९४

कीजइ ए बाजु पसाउ, छांडि न छांडि न छयल छलो ।
हीयडइ ए म धरि विसाउ, माइ य अम्हे विरांसीया ए ॥ १९५

मानई ए नवि मुनिराउ, मौन न मेल्हइ मनरवीय ।
मुक्कई ए नहु नीय माण, वरस दिवस निरसण रहीय ॥ १९६

बंभीउ ए सुंदरि बेउ, आवीय बंधव बूझवइ ए ।
उत्वरि ए मायगयंद, पु केवलसिरि अणुसरइ ए ॥ १९७

ऊपनूं ए केवल नाण पु विहरइ रिसहेस सिउ ।
आवीउ ए भरह नरिंद, सिउ परगहि अवयरपुरी ए ॥ १९८

हरिपीया ए हीइ सुरिंद, आपण पइ उच्छव करइ ए ।
वाजई ए वाज कंसाल, पडह पखाउज गमगमइ ए ॥ १९९

आवई ए आयुधसाल, चक्क रयण तउ रंगभरे ।
संख न ए वस केकाण गयघड रहवर राणिमहं ॥ २००

दस दिसि ए वरतइ आण भड भरहेसर गहगहइ ए ।
रायह ए गच्छ सिणगार, 'वयरसेण सुरि' पाटधरो ॥ २०१

गुणगणहं ए तणु भंडार, 'सालिभद्र सूरि' जाणीइ ए ।
कीधउ ए तीणि चरितु भरहनरेसर राउ छंदि ए ॥ २०२

जो पढइ ए वसइ वदीत, सो नरो निति नव निहि लहइ ए ।
संवत ए 'बार'[११] 'कएताल'[४] फागुण पंचमिइ एउ कीउ ए ॥ २०३

॥ इति भरतेश्वर—बाहुबलि रास श्रीसालिभद्रसूरिकृतसमाप्तः ॥

बुद्धिरास

परिचय

६३ कड़ियों का यह एक रास ग्रथ है। इसक भी रचयिता शालिभद्र-सूरि हैं। आचार्य कवि ने इस रास मे भरतेश्वर-बाहुबलि के समान अपना एव गच्छ-गुरु आदि का नामोल्लेख नहीं किया। अतः सर्वथा निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह रास भी भरतेश्वर-बाहुबलि के रचयिता शालिभद्र सूरि का ही है। शालिभद्र सूरि नाम के एक दो और भी ग्रथकार हो गए हैं और उन्होंने भी 'रास' की रचना की है। किंतु प्रस्तुत बुद्धिरास की भाषा का सूक्ष्म अवलोकन करने पर यही विशेष सभव जान पड़ता है कि भरतेश्वर-बाहुबलि के रचयिता शालिभद्र सूरि की ही यह भी रचना है।

इसमें प्रथम तो सर्वसाधारण के जीवनोपयोगी—सामान्यतः आचरण के योग्य—अत्यल्प शब्दों में बोध-वचन गुथे हुए हैं और अत में शिक्षाप्रद उपदेश मुख्यत. श्रावक वर्ग के आचरण के लिए दिए गए हैं। ये सब बोध-वचन सक्षेप मे सूत्र रूप से सरल भाषा में कठ करने योग्य प्रतीत होते हैं।

भडारों के अनुसधान से ज्ञात होता है कि यह रास गत ७०० वर्षों में भलीविधि जनप्रिय हो गया था। सैकड़ों नरनारी इसको केवल कठस्थ ही नहीं प्रत्युत निरतर वाचन-मनन भी करते थे। फल-स्वरूप प्राचीन भंडारों में इसकी अनेकानेक प्रतिया यत्र-तत्र प्राप्त हो जाती हैं। विविध प्रतियों में पाठ-भेद इस बात का प्रमाण है कि दीर्घकाल तक जनप्रिय होने के कारण देशकालानुरूप भाषा का समावेश होता गया।

सबसे प्राचीन प्रति के आधार पर यहा पाठ दिया जा रहा है। अधिकाश प्रतियों में यही पाठ मिलता है और भाषा का जो सबसे अधिक प्रचलित स्वरूप मिलता है वही यहाँ दिया जा रहा है। कहीं-कहीं पाठ-भेद भी टिप्पणी में दे दिया गया है। पाठ-भेद के पर्यवेक्षण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शब्द-योजना एव भाषा-शैली में समय समय पर परिवर्त्तन होने से किस प्रकार हिंदी का रूप बदलता गया।

इस रास की शैली के अनुकरण पर कालातर में 'सारशिखामण रास',

'हितशिक्षारास' आदि कितनी ही छोटी बड़ी रचनायें मिली हैं जिनसे इस रास की विशदता स्पष्ट हो जाती है।

इसमें 'उपदेश-रसायन रास' की शैली पर कलम्याकरम्य का विचार किया गया है। प्रारंभ में ब्रह्मा-पुत्री की वंदना के उपरांत सद्गुरु-वचन-संग्रह और लोक में उन वचनों के प्रचार पर विचार किया गया है। आचार्य की आज्ञा है कि जिस पर-गृह में एकाकिनी[1] स्त्री का निवास हो उसमें प्रवेश वर्जित है। मानवधर्म है कि वह पर-स्त्री को भगिनी[2] तुल्य समझे। न तो कभी किसी का अपमान जनक उत्तर दे और न शिक्षा देनेवाले पर आक्रोश दिखलाए।

गृहस्थधर्म की व्याख्या करते हुए कवि दान-महिमा पर बल देता है। उसका विश्वास है कि पाँचों[3] उंगलियों से जो दान करता है उसे मानव जन्म का फल मिल जाता है। आचार्य जीवन को पतनोन्मुख करनेवाली साधारण से साधारण बात पर भी विचार करते हैं। उनका कथन है कि सज्जन से अधिक विवाद किसी के शून्यगृह, अथवा नदी-सरोवर के जल में प्रवेश वर्जित[4] है। कुमारी की मैत्री कुजन से कलह बिना कंठ का गान, गुरु-विहीन शिक्षा एवं धन-बिना अभिमान व्यर्थ है।[5]

श्रावक धर्म का विवेचन करते हुए आचार्य ऐसे पुर में निवास वर्जित बताते हैं जहाँ देवालय अथवा पौसाल[6] न हो। मातृ पितृ-भक्ति पर बड़ा बल दिया गया है। सदाचार और दुराचार-वर्णन का उपसंहार करते हुए आचार्य इसे स्वीकार करते हैं कि गुरु के उपदेश अनंत हैं। इनका वर्णन सम्भव नहीं। अंत में वे आशीर्वचन देते हैं कि जो लोग मेरे उपदेश वचनों को हृदय में धारण करेंगे उनका जीवन सफल हो जाएगा।

१	बुद्धिरास	छंद ५ ।
२		६ ।
३	,,	१४ ।
४	,,	,, १८ ।
५	,,	२१–२६ ।
६	,,	,, ४७ ।

बुद्धि रास

शालिभद्रसूरिकृत

पणमवि देवि अबाई, पंचाइण गामिणी ।
समरवि देवि सीधाई, जिण सासण सामिणि ॥ १

पणमिउ गणहरु गोयम स्वामि, दुरिउ पणासइ जेहनइ नामिइं ।
सुहगुरु वयणे सग्रह कीजई, भोला लोक सीपामण दीजइ ॥ २

केई बोल जि लोक प्रसिद्धा, गुरुउवएसिइं केई लीद्धा ।
ते उपदेश सुणउ सवि रूडा, कुणहइ आल म देयो कूडा ॥ ३

जाणीउ धरमु स जीव विणासु, अणजाणिइ घरि म करिसि वासु ।
चोरीकारु चडइ अणालीधी, वस्तु सु किमइ म लेसि अदीधी ॥ ४

परि घरि गोठि किमइ म जाइसि, कूडउं आलु तुं मुहिया पामिस ।
जे घरि हुइ एकली नारि, किमइ म जाइसि तेह घरबारि ॥ ५

घरपच्छोकडि रापे छीडी, वरजे नारि जि बाहिरि हीडी ।
परस्त्री बहिनि भणीनइ माने, परस्त्री वयण म धरजे काने ॥ ६

मइ एकलउ मारगि जाए, अणजाणिउ फल किमइं म षाए ।
जिमता माणस द्रेठी म देजे, अकहि परि घरि किंपि म लेजे ॥ ७

वडा ऊतर किमइं न दीजइ, सीप देयंतां रोस न कीजइ ।
ओछइ वासि म वसिजे कीमइं, धरमहीणु भव जासिइ ईमइ ॥ ८

छोरू वीटी ज हुइ नारि, तउ सीषामण देजे सारी ।
अति अधारइ नइ आगासइं, डाहउ कोइ न जिमवा बइसइ ॥ ९

सीषि म पिसुनपणु अनु चाडी, वचनि म दूमिसि तू निय माडी ।
मरम पीयारु प्रगट न कीजइ, अधिक लेइ नवि ऊछु दीजइ ॥ १०

विसहरु जातु पाय म चापे, आविइ मरणि म हीयडइ कांपे ।
ग्रहणा पाषइ व्याजि म देजे, अणपूछिइ घरि नीर म पीजे ॥ ११

कहिसि म कुण्हहनीय परि गूझो, मोटां सिउ म भाखिसि मूझो ।
भणविमास्यां म करीसि काज, तं न करेयं जिणि हुइ लाज ॥ १३

अणि वारितउ गामि म जाए, सं बोले जं पुण निरवाहे ।
पातु कांइ हींडि म मागे, पाछिम राति वहिलु जागे ॥ १३

हियडइ समरि न कुल आचारो गणि न असार पइ संसारो ।
पांचे आगुलि जं धन दीजइ, परभवि तेहतणुं फलु लीजइ ॥ १४

❀

ठवणि १

मरम म बोलिसि वीरु, कुणहइ केरउ कुविगिरिहिं ।
सायरनिहिं जिम गभीरु पुहवि पुरुष प्रससीइ ए ॥ १५

रहिनु धनु खेत त्यागि भोगि जे वीवइ ए ।
पवहणि तवि पगु देउ आयो सो सा।रि पडइ ए ॥ १६

एक कम्हइ लिइ व्याजि मीआहइं व्याजि दीयए ।
सो नर जीविय काजि, विस वहि वन संचरइ ए[1] ॥ १७

ऊजइ अखि म न पइसि, अधिक म बोलिसि सुयणस्युं ।
सुनइ धरि म न पइसि, थरुहटइ म विहिसि नारिस्युं ॥ १८

बोल विच्यारिय बोलि अविचारीय पांचउ पडइ ए ।
मूरप मरइ निटोल जे धण जोवण चाखता ए ॥ १९

वल ऊपहरऊ कोपु, बल ऊपहरी वेढि पुण ।
म करिसि थापणि लोप, कूड़भो किमइ म बिसाहरसे ॥ २०

म करिस जूयारी मित्र म करिसि कलि धन सांपडए ।
धणुं लाडावि म पुत्र कलह म करिजे सुयण सिउ तु ॥ २१

धनु ऊपजतउं लेपि बाप तणी निंदा म करे ।
म गमु जन्मु अलेपि धरम विहूणा धामीयइं ॥ २२

कंठ विहूणुं गानु, गुरु विहूणउ पाठ पुण ।
गरय विहूणुं अभिमान प त्रिहुइं असुहामणा ए ॥ २३

❀

---

१ प्राचीन प्रतिमें 'विसवेलि विप संहरइ ए' पाठ है ।

ठवणि २

हासउ म करिसि कंठइ कूया, गरथि मूढ म खेलि जूया,
म भरिसि कूडी सापि किहइं ॥ २४

गाठि सारि विणज चलावे, तं आरंभी जं निरवाहे[1] ।
निय नारी सतोप करे ॥ २५

मोटइ सरिसु वयर न कीजइ[1], वडा माणस वितउ न दीजइ ।
वइसि म गोठि फलहणीया[2] ॥ २६

गुरुयां उपरि रीस न कीजइ,[3] सीप पूछता कुसीप म देजे ।
विणउ करता दोप नवि ॥ २७

म करिसि सगति वेशासरमी, धण कण कूड करी साहरसी ।
मित्री नीचिइ सिं म करे ॥ २८

थोडामाहि थोडेरु[1] देजे, वेला लाधी कृपणु म होजे ।
गरव म करीजे गरथतणु ॥ २९

व्याधि शत्रु ऊठतां वारउ, पाय ऊपरि कोइ म पचारु ।
सतु क छडिसि दुहि पडीउ ॥ ३०

अजाणयारहि पहू म थाए, साजुण पीड्यां वाहर धाए ।
मत्र म पूछिसि स्त्री कन्हए ॥ ३१

अजाणि कुलि म करि विवाहो, पाछइ होसिइं हीयडइ दाहो ।
कन्या गरथिइ म वीकणसे ॥ ३२

[1]देव म भेटिसि ठालइ हाथि, अणउलपीता म जाइसि साथिइ ।
गूझ म कहिजे महिलीयह ॥ ३३

[1]परहुणाइ आव्यइ आदर कीजइ, जूनुं ढोर न कापड लीजइ ।
हूतइ हाथ न खाचीइए ॥ ३४

---

१ पाठान्तर–'जु हियइ सुहाए' ।

२ पा० 'चउवटए' ।

३ पाठान्तर–'गरुआसिउ अभिमान न कीजइ' ।

†गाडइं पाइ छोर म मारउ, मातइ कलहि म पइसि निवारउ ।
पर घरि मा जिमसि आ सभूया ॥ ३५

मगति म चूकीसि बापह मायी जूठउ थापण म छंडिसि माई ।
गुरखु म करि गुरु सुहासिणी य ॥ ३६

नींपनइ धानि म जाइसि भूयिउ, गाठि गरथि म जीविसि लूपउ ।
माटा पातक परहरउ ए ॥ ३७

गिउ दराविरि सूयमि म राविइ, विम न करेवुं जिम टल पाविइ ।
तृष्णा वाधिउ म न वहसे ॥ ३८

धणि फीटइ विषमाइं लागे आपल तडी म साजण मागे ।
कृष्णइ कोइ न ऊपरीउ ॥ ३९

[*आवणु जीवि रापीजइ सविहु नइ उपगार करीजइ ।
सार संसारह पवलु ॥] ४०

माणसि करिया सवि व्यवहार पापी घरि म न लेजे आहार ।
म करिस पूत्र पहीगणुं ए ॥ ४१

जइ करिसुं सो भागइ म मागि, गोर्यासिउं न करेयउं मागि ।
मरतां भरणु म लेसि पुण्ण ॥ ४२

उमड म करिसि राग मजाणिइ, कृष्णइ गुरखु म लेसि पराणि ।
सिरज्यों पापइ भरण मवि ॥ ४३

धरमि पहींगे दुखिया भवण अनि आयनुं आणे मरण ।
माणस धरम करावीइ ए ॥ ४४

इसि परि पइरह पाप न लागइं अनइ जमधाउ मसरउ जागइ ।
राणे सामिइं अंतरीउ ॥ ४५

ॐ

ठवणि ३

दिय भापकला मंडनह थालसु कइ पाल ।
भयपद मारगि डाँडतां ए विणमइ धरम मंटाल ॥ ४६

---

† दूसरी प्रतियों में य कड़ियाँ आगे पीछे लिखी मिलती हैं ।
* दूसरी प्रतियों में य कड़ियाँ नहीं मिलतीं अतः प्रक्षिप्त प्रतीत होती है ।

तिण पुरि निवसे जिण हवए, देवालउ पोमाल ।
भूप्या त्रिस्या गोरूयहं, छोरू करि न संभाल ॥ ४७

तिरिहवार जिण पूज करे, सामायक[1] वे वार ।
माय वाप गुरु भक्ति करे, जाणी धरम विचारु ॥ ४८

करमवध हुइ जिण वयणि, ते तउं बोलि म वोलि ।
अधिके ऊणे मापुले,[2] कुडउ किमइ म तोलि ॥ ४९

अधिक म लेसि मापुलइं, उच्छ किमइ म देसि ।
एकह जीहव कारणिहि, केता पाप करेसि ॥ ५०

जिणवर पूठिइं म न वससे, मराखे सिवनी द्रेटि ।
राउलि आगलि[3] म न वससे, वहूअ पाडेसिइं वेटि ॥ ५१

रापे घरि त्रि[1] वारणा ए, ऊधत रापे नारि ।
ईंधणि कातणि जलवहणि, होइ सर्व्वदाचारि ॥ ५२

पटकसाल पांचइ तणीय, जयणा भली करावि ।
आठमि चउदसि पूनीमिहि, धोयणि गारि वरावि ॥ ५३

[† अणगल जल म न वावरू ए, जोउ तेहनउ व्याप ।
आहेडी माछीं तणू ए, एक चलुं ते पाप ॥ ५४

लोह मीण लप धाहडी य, गली य चरम विचारि ।
एह सविनू विवहरण, निश्चउ करीय निवारि ॥ ५५

सुइमुहि जेतुं चापीइ ए, जीव अनता जाणि ।
कद मूल सवि परहरु ए, धरम म न करइ हाणि ॥ ५६

रयणी भोजन म न करिसि, वहूय जीव सिंहार ।
सो नर निश्चइ नरयफल, होसिइ पाप प्रमाणि ॥] ५७

जात्र जोत्र ऊपल मुशल, आपि म हल हथीयार ।
सइ हथि आगि न आपीइ ए, नाच गीत घरबारि ॥ ५८

---

१ दूसरी प्रति में 'पडिकमणु' शब्द है ।

२ दूसरी प्रति में 'काटलेऊ' शब्द है ।

३ दूसरी प्रति में 'हेठलि' शब्द है ।

पाटा पेटी म न करसे, करसण नइ अभिकारि ।
न्याइ रीतिइ विवहरु ए, श्रावक एह आचार ॥ ५९

थाच म चाखिसि कुपुरसह, फूटइ बुद्धि मइसेसि ।
बहुरि म भास पियारेह बहु ऊधारि म देसि ॥ ६०

बाइव विलासखि धूतकीय, बुद्धभाणीसु लगु ।
रापे बहिनर बेटडी ए, जिम हुइ शील न भंगु ॥ ६१

गुरु उपदेसिइ अति घणा ए, कहूं सु लहु न पार ।
एह बोल हीयडइ धरीउ, सफल करे संसार ॥ ६२

सालिभद्रगुरु संकलीय, सिखिइं गुर उपदेसि ।
पढइ गुणइ जे सांभलइं ताहइ विघ्न टलेसि ॥ ६३

॥ इति बुद्धिरास समाप्तमिति ॥

---

† इस चौढक की ४ कड़ियाँ दूसरी प्रति में नहीं मिलती ।

जीवदयारास

परिचय

जीवदया रास के रचयिता आसिग (आसगु) कवि-विरचित एक नया रास और प्राप्त हुआ है। इस रास का नाम है 'चन्दनबाला रास'। इस रास की रचना भी सम्भवतः स० १२५७ के आसपास हुई थी। प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि इन दोनो रासों की रचना राजस्थान में हुई थी। इन दोनों रासों की भाषा गुजरात देश में विरचित प्राचीन रासग्रथों की भाषा से सर्वथा साम्य रखती है। इससे डा० टासिटरी का यह मत निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्राचीनकाल में गुजराती और राजस्थानी में कोई भेद नहीं था।

इस रास में श्रावक धर्म निरूपित किया गया है। प्रारभ में पुस्तक-धारिणी सरस्वती की वदना है। तदुपरात कवि मानव-जन्म को सफल बनाने वाले जिनवर धर्म की व्याख्या इस प्रकार प्रारभ करता है—

जीव दया का पालन करो और माता-पिता तथा गुरु की आराधना करो। जो जन देवभक्ति और गुरु-भक्ति में जीवन बिताते हैं, वे यम-पाश से मुक्त रहते हैं। जलाशय के सदृश परोपकार करो। जिस प्रकार वन में दावाग्नि लगने पर हरिणी व्याकुल हो जाती है, उसी प्रकार मनुष्य इस ससार रूपी वन मे महान् सकटों में पड़ा रहता है। कवि कहता है "अरे मनुष्यो, मन में ऐसा चितन करके धर्म का पालन करो, क्योंकि मनुष्य-जन्म बड़ा ही दुर्लभ है।"

इस ससार में न कोई किसी का पुत्र है न कोई माता-पिता-सुता सबधी, भाई। पुत्र-कलत्र तो कुमित्र के समान खाते पीते हैं और अत मे धोका दे जाते हैं।

जिस प्रकार ऐंद्रजालिक क्षणमात्र के लिए बिना बादल के ही आकाश से वर्षा कर देता है उसी प्रकार ससार मे लोगों का प्रेम क्षणिक होता है। अरे मनुष्य, मन को बाँधकर स्वाधीन रख। इस प्रकार जीवित रहकर यौवन का लाभ प्राप्त कर।

कभी अलीक भाषण न करो। शुद्ध भाव से दान करो। धर्म-सरोवर के विमल जल में स्नान करो। यह शरीर दस-पाच दिन के लिए तरुण होता है। इसके उपरात प्राण निकल जाने पर सूने मदिर के समान हो जाता है। जब आयु के दिवस और महीने पूरे हो जाते हैं तो चाहे वृद्ध हो या बाल वह यमराज से बच नहीं सकता। ससार से प्रस्थान करते समय केवल धर्म ही सबल रूप से जाता है। धर्म ही गुण-प्रवर-सज्जन है। धर्म ही से भव-

जीवदया रास—छद—७

सागर तरा जाता है। धर्म ही राज्य और रत्न का भंडार है। धर्म ही से मनुष्य सुख प्राप्त करता है, धर्म से ही भवसागर से पार होता है। धर्म से ही श्रृंगार सुशोभित होता है।

धर्म से ही रेशमी वस्त्र धारण होता है, धर्म से ही चावल और दाल में घी मिलता है, धर्म से ही पान का बीड़ा और तांबूल मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति को एक धर्म का पालन करना चाहिए। इससे नरक द्वार पर किवाड़ में ताला बंद हो जाता है। अपने चंचल मन को स्थिर करो और क्रोध लोभ, मद और मोह का निवारण करो। पंचबाण कामदेव को जीत लेने से तुम शुद्ध सिद्धिमार्ग पा जाओगे।

तीसवें छंद के उपरांत कवि आसिग कलियुग की दशा का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि संसार में समानता है ही नहीं। कितने लोग पैदल परिभ्रमण करते हैं कितने हाथी और घोड़े पर सुखासन बनाते हैं। कितने सिर पर काठ ढोते हैं कितने राजसिंहासन पर बैठते हैं। कितने अपने घर में चावल दाल बना कर उसमें खूब घी डालकर खाते हैं। कितने आदमी भूख से व्याकुलित दूसरे के घर मजदूरी करते हुए दिखाई पड़ते हैं। कितने ही जीवित मनुष्य (दुःख के कारण) मृतक के समान हैं।

अब कवि आसिग संसार की नश्वरता पर विचार करते हुए कहते हैं कि बलि और बाहुबलि जैसे बली राजा चले गए। धर्म के लिए डोम के घर पानी भरनेवाले राजा हरिश्चंद्र भी चले गए। राजा दशरथ और (उनके प्रतापी पुत्र) राम-लक्ष्मण भी चले गए। वह रावण भी चला गया जिसके घर को वायु बुहारता था। चक्र-धुरंधर भरतेश्वर, मांधाता, नल, सगर कौरव-पांडव चले गए। जिस कृष्ण ने जरासंध, केशी, कंस चाणूर आदि को मारा और नेमि-कुमार की स्थापना की, वे भी चले गए। सत्यवादी स्थूलभद्र चले गए। इस असार संसार को धिक्कार है। हे जीव तू एक जिन धर्म का अपना परिवार बना।

कवि कहता है कि अणहिल पुरी का जैसलराज चला गया जिसने पृथ्वी समाज का उद्धार किया। कलियुग का कुँवर-नरेंद्र भी गया जिसने सब जीवों को अभय दान दिया। ४५ वें छंद के आगे १८ ऋषियों, स्वामी आदि जिन नेमिकुमार इत्यादि धार्मिक महात्माओं को वंदना की गई है जो पाप रूपी अंधकार का विनाश करनेवाले हैं। अन्त में कवि इस ग्रंथ का रचना-काल और स्थान का वर्णन करता है।

जीवदयारास

कवि आसिग विरचित

(सं० १२५७ के आसपास)

[अपभ्रंश मिश्रित हिंदी की एक प्राचीनतर पद्यकृति]

उरि सरसति आसिगु भणइ, नवउ रासु जीवदया-सारु।
कनु धरिवि निसुणेहु जण, दुत्तरु जेम तरहु संसारु॥ १

जय जय जय पणमउ सरसत्ती। जय जय जय खिवि पुत्थाहत्थी।
कसमीरह मुखमंडणिय, तइं तुट्टी हउ रयउ कहाणउ।
जालउरउ कवि वज्जरइ, देहा सरवरि हंसु वखाणउं॥ २

पहिलउ अक्खउ जिणवरधम्मु। जिम सफलउ हुइ माणुसजम्मु।
जीवदया परिपालिजए, माय वप्पु गुरु आराहिजए।
सव्वह तित्थह तरुवर ठविजइ, (जिम ?) छाहीं फलु पावीजइ॥ ३

देवभत्ति गुरुभत्ति अराहहु। हियडइ अंखि धरेविणु चाहहु।
धणु वेचहु जिणवर भवणि, खाहु पियहु नर वधहु आसा।
कायागढ तारुण भरि, जं न पडहिं जमदेवह पासा॥ ४

सारय सजल सरिसु परधधउ। नालिउ लोउ न पेखइ अंधउ।
डुगरि लग्गइ दव हरणि, तिम माणुसु बहु दुक्खह आलउ।
छज्जइ अवगुण दोसडइ, जिम हिम वणि वणगहणु विसालउ॥ ५
नालिउ अप्पउ अप्पइ दक्खइ। पायह दिट्ठि वलतु न पिक्खइ।

गणिया लब्भहिं दिवसडइं, जजि मरेवउ त वीसरियउ।
दाणु न दिनउ तपु न किउ, जाणंतो वि जीउ छेतरियउ॥ ६

अरि जिय यउ चिंतिवि किरि धमु। वलि वलि दुलहु माणुसजंमु।
नत्थि कोइ कासु वि तणउ, माय ताय सुय सज्जण भाय।
पुत कलत्त कुमित्त जिम, खाइ पियइ सवु पच्छइ थाइ॥ ७
धणि मिलियइ बहु मग्ग जण हार। किं तसु जणणिहि किं महतार।
किं केतउ मागइ घरणि पुत्तु, होइ प्राणी एइ लेसइ।
विहव ण वारह पत्तगह, वोलाविउ को साथु न देसइ। ८

मणुणि भणइ मइ वयरई परिपउ । मप्पु भणइ मह परि भववरियउ ।
मणास्लाइय महिलिय भणइ पातग सणइ न मारगि जाउ ।
जरसु मरसु बिहंपिवि स्रियउं वि विनस्पी पत्तु पडसइ न्हाउ ॥ ९

यउ विंविवि निय मणिहिं परिभ्मइ । कुम्मी सालि न कासु वि दिज्जइ ।
भार्लि वि नइ मालसउ जउ, भसु हुयउ कालु न होसइ ।

भनु चिंतवहे भसु हुइ, बंधइ पडियउ जीउ मरेसइ ॥ १०
पुबइ निपंन खेम जलर्बिदु । विम संसारु भसारु समुंदु ।

इंदियालु मडपिसणउ जिम, भंबरि अलु परिसइ मेहु ।
पच दिवस मणि छोहसउ, तिम धडु प्रियतम सरिसउ नेहु ॥ ११

मरि प्रिय परतंह पासि पंभिजइ । जीविय ओवण लाहउ लीजइ ।
भसियउ कह वि न बोलिजइ, मुखइ माविहि दिज्जइ दाणु ।
धम्म सरोवर विमल जलु, कुंभपाउ नियमस्थि थउ भाणु ॥ १२

पंच दिवस होसइ तारुन्नु । जइ देह जिम मंदिर सुन्नु ।
आवसतो पिय आवइ, दिक्खांता हुई होइ पयाणउ ।
बहूई संबलु नहु लयउ, भागइ जीव किसउ परिमाणु ॥ १३

दिवसे मासे पूजइ कालु । जीउ न छूटइ विरधु न बालु ।
छडउ पयाणउ जीव तुहु साजणु मितु बोलावि वलेसइ ।
धम्मु परतह संबलभो जवा सरिसउ तं वि वलेसइ ॥ १४

मरि प्रिय जइ बूम्कहि वा बूम्कु । वलि वलि सीस कु धीसइ बूम्कु ।
मारि मसाणिहि निय वलइ, कुडि धारं ली गंधि न भावइ ।
पावकूप भितरि पडिउ तिथि जिणधम्मु किमउ नवि भावइ ॥ १५

जिम कुंभारि घडियउ भंडु । तिम माणुसु कारिमउ करंडु ।
करतारह निप्पाइयउ, भइ तरसउ नाहिसयाइ ।
जिम पसुपालइ खीरहरु, पुहिहि समाउ हिंडइ वाइ ॥ १६

देहा-सरवर मज्झिहिं कमलु । तहि वइसउ हंसा पुरि धवलो ।
कालु भमरु उपरि भमइ, भातवप रस गंधु वि लेसइ ।
मणसूटइ मदु जिउ मरइ, खुटा वपर घरी न दीसइ ॥ १७

नयर पुक्क आया वणिजारा। जणणि समाणु अरिहिं परिवारा।
धम्म फयाणउं ववहरहु, पावतणी भंडसाल निवारहु।
जीवह लोहु समग्गलउ कुमारगि जणु अंतउ वारहु॥ १८

एगिंदिय रे जीव सुणिज्जइ। वेइंदिय नवि आसा किज्जइ।
तेइंदिय नवि सभलइ, चउरिंदिय महिमंडलि वासु।
पंचिंदिय तुहुं करहिं दय, जिणधम्मिहि कज्जइ अहिलासु॥ १९

धम्मिहि गय घड तुरियहं घट्ट। भयमिंभल कंचण कसवट्ट।
धम्मिहि सज्जण गुणपवर, धम्मिहिं रज्ज रयण भंडार।
धम्मफलिण सुकलत्त घरि, वे पक्खसुद्ध सीलसिंगार॥ २०

धम्मिहिं सुक्खसुक्ख पाविज्जइ। धम्मिहि भवसंसारु तरीजइ।
धम्मिहि धणु कणु संपडइ, धम्मिहि कंचण आभरणाइं।
नालिय जीउ न जाणइ य, एहि धम्मह तण फलाइं॥ २१

धम्मिहि सपज्जइ सिणगारो। करि कंकण एकावलि हारु।
धम्मि पटोला पहिरिजहिं, धम्मिहि सालि दालि घिउ घोलु।
धम्मि फलिण वितसा (रु?) लियइं, धम्मिहिं पानवीड तंबोलु॥ २२

अरि जिय धम्मु इक्कु परिपालहु। नरयवारि किवाडइं तालहु।
मणु चचलु अविचलु वरहु, कोहु लोहु मय मोहु निवारहु।
पंचवाण कामहिं जिणहु जिम, सुह सिद्धिमग्गु तुम्हि पावहु। २३

सिद्धिनामि सिद्धि वरसारु। एकाएकिं कहहु विचारु।
चउरासी लक्ख जोणि, जीवह जो घल्लेसइ घाउ।
अतकालि समरइ अंगि, कोइ तसु होइ हु दाहु॥ २४

अरु जीवइं अस्संखइ मारइं। मारोमारि करइ मारावइ।
मुच्छाविय धरणिहि पडइ, जीउ विणासिवि जीतउ मानइ।
मच्छगिलिग्गिलि पुणु वि पुणु, दुख सहइ ऊथलियइ पंनइ॥ २५

पन्नउ जउ जगु छन्नउ मंनउं। कूवहं संसारिहि उपंनउं।
पुन म सारिहि कलिजुगिहि, ढीलइ जं लीजइ ववहारु।
एकह जीवहं कारणिण, सहसलक्ख जीवह सहारु॥ २६

वरिसा सउ आऊपउ लोए। असी वरिस नहु जीवइ कोइ।
कूडी कलि आसिगु भणइ, दयारीजि नय नय अवतारु।
धमु चलिउ पाडलिय पुरे, एका कालु कलिहि सचारु॥ २७

माय भखेविणु विणउ न कीजइ। नहिधि मणिधि पावडणु न कीजइ।
सहुव वडाइ हा 'पिय मुक्की लाज स समुद मरजाद।
घरघरिणिहिं धीया पियइ पिय इस्थि धोवावइ पाय। २८

मासुय बहुय न पलणे समाइ। इइ छाइइ पाडव्यणइ मागइ।
ससुरा बिट्ठइ नवि टलइ रामि करंती लाज न मावइ।
मेलावइ साजण तणइ, सिरि उग्घाडइ बाहिरि धावइ॥ २९

मिथिहि मुक्का मिसाचारि। एकहि घरणिहिं हुइ रसवाला।
जे साजण ते खेलव गिई, गोवी कूका गोवाचारा।
हाथि विधि वह्रावणइ, विहुरहि वार करहिं नहु सारा॥ ३०

कवि मासिग कलियंतरु आइ। एक समाण न दीसइ कोइ।
के नरि पाला परिभमहि, के गय तुरि मंडवि सुखासणि।
केई नर कव्य वहहि, के नर यइसहिं रायसिंहासणि॥ ३१

के नर सालि दालि भुंजता। घिय घलहलु मज्झे विलहंता।
के नर भूपा (त्रा) तृषि (लि) यइ दीसहिं परघरि कम्मु करंता॥
जीवता वि मुया गणिय अच्छहिं बाहिरि भूमि रुलंता॥ ३२

के नर संयोगु वि संभाणहिं। विविह भोय रमणिहिं सउ माणहिं।
के वि अपुंनइ बप्पुडइ मणु हु तइ दोहला करंता।
दाणु न दिंनउ अर्न भवि ते नर परघर कंमु करंता॥ ३३

आमेवंता जीव न जाणहिं। अप्पहिं अप्पाउ नहु परियाणहिं।
चंचलु जीविउ धूय मरणा विहि विधाता वस इउ सीसइ।
मूढ धम्मु परजाणियइ अमरु अमरु कसि कोइ ना दीसइ॥ ३४

नव निधान जसु हुता बारि। सो बलिराय गयउ संसारि।
बाहुबलि पलवंत गउ, भरह कय ओयणा करहु म गारउ।
डुयंह घर पाणिउ भरिउ, पुहविहि गयउ सु हरिचंदु राउ॥ ३५

गउ दसरथु गउ लक्खणु रामु। दिढइ घरउ म कोइ मंचिमाउ।
बार वरसि वणु सेवियउ लंका रावणि किय संहारु।
गइय स मीय महासइय पिक्खाहु इंदियालु संसारु॥ ३६

जसु वरि जसु पाणिउ आणेई । फुल्लतरु जसु वणसइ देई ।
पवणु वुहारइ जसु ज्वहि, करइ तलारउ चामुड माया ।
खूटइ सो रावणु गयउ, जिणि गह बद्धा खाटहं पाए ॥ ३७

गउ भरथेसरु चक्कधुरंधरु । जिणि अट्टावइ ठविय जिणेसरु ।
मधाता नलु सगरु गओ, गउ कयरव-पंडव परिवारो ।
सेतुजा सिहरिहिं चडेवि जिणि, जिणभवण कियउ उद्धारु । ३८

जिणि रणि जरासिंधु विदारिउ । आहि दाणवु वलवंतउ मारिउ ।
कस केसि चाणू०, जिणि ठवियउ नेमिकुमारु ।
वारवई नयरिय घणिउ कहहि, सु हरि गोविहि मत्तारु ॥ ३९

जिणु चउवीसमु वदिउ वीरु । कहहि सु सेणिउ साहस धीरु ।
जिणसासण समुद्धरणु, विहलिय जण वदिय सद्धारु ।
रायग्गिह नयरियह, बुद्धिमंतु गउ अभयकुमारु ॥ ४०

पाउ पणासइ मुणिवर नामि । वयरसाभि तह गोयमसामि ।
सालिभइ ससारि गउ, मगलकलस सुदरिसण सारो ।
थूलभद्द सतवंतु गवो धिगु, धिगु यह ससारु असारु ॥ ४१

गउ हलधरु सजमसणगारु । गयसुकुमालु वि मेहकुमारु ।
जवुसामि गणहरु गयउ, गउ धन्नह ढढणह कुमारु ।
जउ चितिवि रे जीव तुहुं, करि जिणधंमु इक्कु परिवारो ॥ ४२

जिणि सवच्छरु महि अब्राविउ । अवरि चदिहि नामु लिहाविउ ।
ऊरिणि की पिरिथिमि सयल, अणु पालिउ जिणु धम्मु पवित्तु ।
उज्जेणीनयरी घणिउ कह, अजरमकर विवकमदीतु ॥ ४३

गउ अणहिलपुरि जेसलु राउ । जिणि उद्धरियलि पुहवि सयाउ ।
कलिजुग कुमरनरिंदु गउ, जिणि सव जीवह अभउ दियाविउ ।
उवएसिहिं हेमसूरि गुरु, अहिणव 'कुमरविहारु कराविउ ॥ ४४

इत्थंतरि जण निसुणहु भाविं । करहु धम्मु जिम मुच्चहु पाविं ।
इहिं संसारि समुद्दजलि, तरण तरंड सयल तित्थाइ ।
वदहु पूयहु भविय जण, जे तियलोह जिणभवणाइ ॥ ४५

भद्दाय‍इ रिसहेसरु वंदहु । कोडि विवालिय जिम चिरु नंदहु ।
सिसुरुवइ सिहरिहिं चडिवि अम्बउ सामिउ आदिजिणिंदु ।
आंबुइ पणामउ पउमजिणु, उम्मुसइ भवतरुवरकंदु ॥ ४६

उज्जिलि वंदहु नमिकुमारु । नय भव विमुयणि तरहि संसारु ।
धंमाइय पणमेहु जणा, अक्खोयणा सिहरि पिक्खेहु ।
विसम तुंग भंभर रयणा, वंदहु संवु पज्जुन्नइ देउ ॥ ४७

थुणउ वीरु सच्चउरई मंडणु । पावतिमिर दुहकम्म विहंडणु ।
वदउ माडरानयरि, पडावल्लि पुरि वंदउ देउ ।
जे विहुर ते वंदियउ विमलमावि तुइ करजोडि ॥ ४८

वाणारसि महुरइ जिणचंदु । धंमणि आइवि नमहु जिणिंदु ।
संखेसरि भारोप पुरि, नागदहि फलवद्धि दुवारि ।
वंदहु सामिउ पासजिणु जालउरा गिरि 'कुमरविहार' ॥ ४९

काम वि देह हवइ वालिहु । कासु वि तोडइ पावइ कंदु ।
कासु वि दे निम्मल नयणा जासु मासु खेमणु फेडेई ।
जसु तूसइ पहु पासजिणु । तासु घरि नय निधान वरिसेइ ॥ ५०

धाला मंत्रि वणइ पाल्होपइ । वहल महिनंदन महिरोपइ ।
तसु सरुइ कुलचंद फलु, तसु कुखि आसाइतु अप्पइंतु ।
तसु वलहिय पल्हीपवर, कवि आसिगु पहुगुण संजुत्तु ॥ ५१

सा तडपरिया कवि जालउरउ । माउसालि सुंमइ सीमउरउ ।
आसीत वडोही वयण कवि आसिगु जालउरह आयउ ।
सहजिगपुरि पासइ भवणि नवउ रासु इहु विहि निप्पाइउ । ५२

संवतु बारह सय सत्तावनइ । विक्कमकालि गयइ पडिपुन्नइ ।
आसोयहं सिय सत्तमिहिं, हत्थो हत्थिं जिणा निप्पायउ ।
संतिसूरि पयभत्तयरियं रयउ रासु भवियहं मणमाहणु ॥ ५३

श्री नेमिनाथ रास

परिचय

इस रास के रचयिता सुमतिगणि हैं जिनके जीवन का परिचय प्रारंभ में दिया जा चुका है। यहाँ पाठकों की सुविधा के लिए इस रास का साराश संक्षेप में दिया जा रहा है।

प्रारभ मे कवि श्रुतज्ञान रूपी रत्न से विभूषित सरस्वती देवी को प्रणाम करके नेमिनाथ का रास वर्णन करता है। सोरीपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर है जिसका वर्णन बृहस्पति भी नहीं कर सकते। इस सुरपुर के सदृश नगरी के महाराज समुद्रविजय और उनकी रानी शिवादेवी थीं। उस नवरूपा नवयौवना मृगनयनी रानी की कुक्षि मे सख का जीव देवलोक से चलकर कार्तिक कृष्णा द्वादशी को अवतीर्ण हुआ। नियत समय आने पर श्रावण शुक्ला पचमी को रात्रि वेला मे दसों दिशाओ को प्रकाशित करनेवाले सूर्य के सदृश नेमिनाथ का जन्म हुआ।

जन्मकाल मे ५६ दिक्कुमारियों ने रानी की परिचर्या की और चौंसट देवेंद्र और सुरगण मेरुगिरि पर एकत्रित हुए। इन्द्र ने शिवादेवी को अवस्वापिनी निद्रा में मग्न किया और श्री नेमिनाथ को मेरु शिखर पर ले जाकर अभिषेक करके माता के पास पुन पहुँचा दिया। भगवान नेमिनाथ ने गर्भावस्था में श्री अरिष्टनेमि का दर्शन किया था, अतः भगवान् का नाम भी अरिष्टनेमि पड़ गया।

उस समय जरासध के आतक से यादवगण सोरीपुर त्याग कर समुद्र तट पर चले गए और द्वारावती में रहने लगे। श्री कृष्ण के प्रताप से देवताओ ने द्वारावती नगरी को खूब समृद्ध बनाया।

नेमिकुमार अनुदिन विचरण करते हुए एक दिन कृष्ण की आयुधशाला में गए और लीलावश उन्होंने उनका (कृष्ण का) शख बजाया। शखध्वनि से त्रिभुवन क्षुब्ध हो गया। कृष्ण भी भयभीत होकर बलराम से पूछने लगे कि किसने मेरा शख बजाया। लोगों ने जिनेश्वर का बल असख्य (अपरिमित) बताया तो कृष्ण ने भयभीत होकर बलराम से कहा 'भाई, इस स्थान पर वास सभव नहीं, हाय! नेमिकुमार यह राज्य ले लेगा।' बलराम ने कहा 'मन में विश्वास करिए। परमेश्वर नेमिनाथ मोक्ष सुख के आकाक्षी हैं। जो मूर्ख राज्य-सुख की वाछा करता है वह निश्चय घोर नरक मे पड़ता है। विषय-सुख नरक का द्वार है और सयम अनत सुख का भडार।'

श्री कृष्ण ने एक दिन नेमिकुमार से कहा कि हम दोनों भाई बाहुयुद्ध द्वारा बल-परीक्षा कर लें। नेमिकुमार ने उत्तर दिया—"हे जनार्दन, युद्ध व्यर्थ है। मैं अपना हाथ फैलाता हूँ, आप इसे झुका दें। श्री कृष्ण नेमिनाथ की भुजाओं पर बंदर के समान झूलते रहे पर भगवान नेमिनाथ का हाथ तिलमात्र भी न झुका सके। कृष्ण मन में क्षुब्ध होते हुए भी भगवान के बल की प्रशंसा करने लगे। वह बोले—'मैं धन्य हूँ कि मेरे भाइ में इतना बल है।

(एकबार) यादवों ने महाराज समुद्रविजय के संतोष के लिए नेमिकुमार के विवाह का प्रसंग उठाया। श्री कृष्ण ने भी भगवान नेमिकुमार से किसी सुंदर बाला के साथ विवाह करने का अनुरोध किया। इस बार भगवान के मौन धारण करने से उनकी सम्मति जान उग्रसेन की अति लावण्यमयी कन्या राजिमती के साथ उनका सगाइ कर दी गइ। जब विवाह के लिए बरात गइ और बरातियों के सत्कार के लिए लाए गए अनेक पशु-पक्षियों का करुण क्रंदन नेमिनाथ को सुनाइ पड़ा तो उन्होंने अपना रथ बिना ब्याह किये ही लौटा लिया। उन्हें धार वैराग्य हो गया और उन्होने १ वर्ष तक कुमार अवस्था में रहकर एक सहस्र राजाओं के साथ संसार का त्याग किया। पालकी में बैठकर श्रावण भी छठ को वे गिरनार पर्वत पर पहुँचे और प्रव्रजित हो गए।

राजिमती ने आराध्यदेव नेमिकुमार के प्रव्रजन का समाचार सुनकर मन में विचार किया कि इस संसार को धिक्कार है। जो देवता सुररमणियों को भी दुलभ हैं वे मुझ मुग्धा के साथ प्रवाह कैसे स्वीकार करते। व मुझे भले ही छोड़ जाएँ पर मैं तो सदा उनके चरणों का अनुसरण करूँगी।

भगवान नेमिनाथ ने द्वारका में पयटन करते हुए परमार्थ से पारण किया और ५४ दिन के उपरांत आसोज (आश्विन) अमावस्या को केवल ज्ञान की प्राप्ति की। राजिमती ने भगवान से दीक्षा ग्रहण कर ली और नेमिकुमार से पूर्व ही वह सिद्धि प्राप्ति की अधिकारिणी बन गइ। भगवान नेमिनाथ का निर्वाण आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को हो गया।

अंत में कवि अपने का जिनपति सूरि का शिष्य संबोधित कर मंगल कामना करता है कि शासनदेवी अंबा इस नेमिनाथ का रास देने वालों का विघ्न शीघ्र दूर करें।

श्री नेमिनाथ रास

श्री सुमीतगणि कृत

पणमवि सरसइ देवी सुय रयण विभूसिय।
पभणिसु नेमि सुरासो जण निसुणउ तूसिय ॥ १ ॥

धूयउ

अत्थि पसिद्धु नयरि सोरियपुरु, जवन्नेवि न सक्कइ सुरगुरु।
जहि पडुर रेहहिं जिण मदिर, नावइ हिमगिरि कूड़ समुद्धर ॥ २ ॥

इउ सक्खा जिण जम्मण भूमी, तुहु पुणु जिनवर चवणाण दूमी।
इया हसइव ज पवणुद्धय मिसि सुरपुरि निब्भय उब्भिय भूय ॥ ३ ॥

तहिं नरवइ वइरिहि अवराउ, नामि समुद्द विजउ विक्खाउ।
दस दसार जो पढम दसारू, जायव कुल सयलह विजु सारू ॥ ४ ॥

तस्सय नवरूवा नव जुव्वण, नव गुण पुन्निविणिय गयव्वण।
राणी इयणि यर सम वयणी सिवदेवित्ति हरिण वहु नयणी ॥ ५ ॥

रायह तीइ पियाए विसयइं सेवंतह।
अइगउ कित्तिउ कालो जिम्व सगि सुरिदह ॥ ६ ॥

सखजीव अहदेउ चवित्तु अवराइय कप्पाउ पवित्तु।
कत्तिय किणह दुवालसि कुच्छिहिं, उप्पन्नउ सिवदेविमयच्छिहि ॥ ७ ॥

ते सापिच्छिवि चउदस सुमिणइं, हट्ठ तुट्ठ उट्ठिवि पिउ पभणइ।
सामिय सुणिमइ सुमिणा दिट्ठ, चउदस सुदर गुणिहिं विसिट्ठ ॥ ८ ॥

राउ भणइ तुह सुदरि नदणु, होसइ जणमण नयणा णंदणु।
इय भणिया सा पभणइ राइणी, इय महु होस्यउ तुज्झ पसाइण ॥ ९ ॥

अह सावणसिय पचमि रतिहि, सुहतिहि सुह नक्खत्त मुहुत्तिहिं।
दस दिसि उज्जोअतउ कतिहि, रवि जिव तमहरु भुवण भरतिहि ॥ १० ॥

तिहि नाणिहि संजुत्तो ज जिणवरु जायउ।
मायर पियरह ताम्व मणि हरिसु न मायउ ॥ ११ ॥

दक्खिणदिसि दिसि कुमारिय छप्पन्ना सइ कम्मु निम्मवहिं सुपन्ना ।
ताम्वहिं जाणिवि हरि चउसट्ठि करि समुहउ निम्मल वरदिट्ठि ॥ १२ ॥

से गयमयण सम मेरिंग सुगिरि सिहरुप्परि ।
जाइ नमिवि जिण माया सहरिसु जंपइ हरि ॥ १३ ॥

धम्म पुण्ण सुकयत्थिय सामिणि, सुह जीविउ सहलउ सिव गामिणि ।
जीइ उयरि धरियउ गुण गामिणि विस्सु नाहु तिहुयण चूडामणि ॥ १४ ॥

देवि नमुत्थु महिए तुह तिहुयण लच्छिहिं ।
अगभूयण उप्पन्नो जिणधम्म सत्तु कुच्छिहिं ॥ १५ ॥

धूवउ

जिम्व निसि साहइ पूनमियं का, जिम्व सरसि रेहइ कमलका ।
रयणायर मर रयणिहिं जम्व, तुह जिणवरि करि सोहसि तेम्व ॥ १६ ॥

मह अवसोयणि देवी देविहिं देविंदु ।
मेरु गिरम्मि रम्मी गय गहिय जिणंदु ॥ १७ ॥

धूवउ

तहिं जाइ पंडुकं बल सिल उप्परि, चउसट्ठिवि हरिगिरि जिणवरु धरि ।
भूरि भत्ति भर निब्भर भाविण पक्खालहिं पहु सहुनिय पाणिय ॥ १८ ॥

सुयसम कुसुम माल समलंकिउ धर विलेव कलियउ अकलंकिउ ।
कप्पदुम्मु विहिक संकप्पिउ, देवि जिणजिणु जणणि समप्पिउ ॥ १९ ॥

गब्भत्थइ जणणीए नमिय रिट्ठइ नेमि ।
विहिउ त किउ नामु जिणवरु रिट्ठनेमि ॥ २० ॥

सो सोहाग निहाणु जिणेसरु रूवरेह जिम मयण मुणीसरु ।
सुरगिरि कंदरि बयठ जेम्व वड्ढइ नेमि सुहंसुही तम्व ॥ २१ ॥

तहिं जिकालि पाया वरसिधु, समु भय आयव गय सवि सिन्धु ।
पारवइ भया कयिहिं छमिच्छि, कच्छ पुष्मि देविहिं करि रिद्धि ॥ २२ ॥

तहिं वसंति आयव कुल कोडिहिं हसहिं रमहिं कीलहिं बहि गोट्ठिहिं ।
सम्मपुरी हम्मुम मय कालु, गयउ न जाणइ कित्तिउ कालु ॥ २३ ॥

नेमिकुमरु अन दियहि रमतउ, गउहरि आउह साल भमंतउ।
सखु लेवि लीलइ वाएई, सख सहि तिहुयण खोमेई ॥ २४ ॥

तसुणि पभणइ कण्हो किण वायउ सखु।
भणिउ जणेण नरिंदो जिण वलुज अमंखु ॥ २५ ॥

धूवउ

तो भयभीउ भणइ हरि रामह भाउ नहिय चासु इह ठावह।
लेसइ नेमिकुमरु तह रज्जू, हाहा हियइ वसक्कइ अज्जु ॥ २६ ॥

जसु वालस्सवि जसउ महावलु, कित्तिय मित्तु तासु इहु महवलु।
राम भणइ मन करइ विसाऊ, रज्जु न लेसइ तुह कवि भाउ ॥ २७ ॥

इहु ससारु विरत्तु जिणेसरू, मुक्ख सुक्ख कखिउ परमेसरु।
रज्जु सुक्ख करि मुद्धु जुवच्छइ, घोर नरइ सो निवडइ निन्छइ ॥ २८ ॥

पुणवि भणइ हरि रामह अग्गइ, वंधव गय इह पुहवि समग्गइ।
अतुल परिक्कमु नेमिकुमारू, लेसइ रज्जु न किणइ सहारू ॥ २९ ॥

रामु जणद्दणु पड़िवोहेई कुग्गइ कारण रज्जु कु लेई।
मुद्ध जु वुद्धिवतु कुवि होइ, अमिउ सुलहि किम्व विसु भक्खेइ ॥ ३० ॥

तो निस्सकु हुअउ गोविंदू, भुजइ भोग सुहइं सच्छंदू।
नेमिकुमारू विनमिउ सुरिंदहिं, रमइ जहिन्छइ हलि गोविंदिहि ॥ ३१ ॥

अन्न दियहि जायविहिं मिलेवि, भणिउ कुमरु पडिवधु कदेवि।
परिणिकुमार मणोरबह पूरि पियरह जिम हुइ सुक्खु सरीरि ॥ ३२ ॥

वुल्लइ नेमिकुमारो मिल्लहि असगाहू।
करह माय पिय तुम्हि इउ भणिउ न साहू ॥ ३३ ॥

धूवउ

विसय सुक्खु कहि नरय दुवारू, कहि अनत सुहु सजम मारु।
भलउ वुरउ जाणतु विचारइ, कागिणि कारणि फोडि कु हारइ ॥ ३४ ॥

पुरण भणइ हरिगाह करेवी, नेमिकुमारह प्रय लग्गेवी।
सामिय इक्कु पसाउ करिज्जउ, घालिय काविसरूव मरणिज्जइ ॥ ३५ ॥

विणु वोग्कु अग्गीयन खंपा, हरि आणिउ हउं मभिउ सपइ ।
कवण स होसइ भमिय नारी जा मणु हरिसइ नेमिकुमारि ॥ ३६ ॥

इ आणाय मइ अच्छइ बाली, रायमइ बहु गुणिहिं विसाली ।
उग्गसेण राय गहि आइय, रूव सुहाग लाणि विक्खाइय ॥ ३७ ॥

जसु घणकेस कलावु सुसवउ नीलु किरण आलुम्ब फुरंतउ ।
दीसइ दीहर नयण सहंती नं निलुप्पल खीला हसंति ॥ ३८ ॥

वयणु कमलु नं छण ससि मंडलु, विक्खवि मुखइ धूमा सवलु ।
मणहरु घणहरु मणु मोहेइ, कंचन कलसह खीह न देइ ॥ ३६ ॥

सरल बाहु लय कंवि विगिजिय नं चंपय लम्मायवणि सज्जिय ।
जसु सरूवु पविणु पणासिय नरइ गइयस कत्थ विनासिय ॥ ४० ॥

इय विणावणु कहिह सा बाल मराविय ।
नेमिकुमारह रेसि (सुपत्थिय) आयव मेलाविय ॥ ४१ ॥

धूवउ

तुट्ट रायमई कहवि न माई हरफल परि हिंडई माइ ।
हउं पर धम इक सुकयत्थिय नेमि कुमारह रेसि जु पत्थिय ॥ ४२ ॥

ए सुमिणेवि मणोरह मासी जं महु नेमि कुमरु वरु होसी ।
नेमि कुमरु पुणु आणिवि समरू, लोगंतिय पवि बोहिउ कमड ॥ ४३ ॥

विमि वरिस सय रहि कुमरत्तिहिं, संवच्छरु अउ देविणु दत्तिहिं ।
राय मद्दम परिवुडु गुण गुडउ, उत्तर कुरु सिवयहिं आरूढउ ॥ ४४ ॥

उज्जल सिहरि चडेवि पव्विवि सावज्जइ ।
सावण सिय छट्ठी ए पवज्ज पवज्जइ ॥ ४५ ॥

हं निसुणे विणु रायमई चिंतइ, धिगु धिगु एहु संसारु ।
निच्छय आणिउ देव मई न परणइ नेमि कुमारु ॥ ४६ ॥

जो विहुयण रूविण करि चविउं जं थमंतु कुरुवि लहस्थिउ ।
सुर रमणी हवि सो किर दुल्लहु जो किम्म हुइ महु सुविय वाहहु ॥ ४७ ॥

पुणरवि चिंतइ रायमइ जइ हउं नेमिकुमारिणु मुक्कि ।
तुवि तसु मग्गवि पयसरणु हु मणि निच्छउ आयणु थक्कि ॥ ४८ ॥

मह जिणवर धारवइ भमणइ परमसिव पायाविय संतह ।
दिय चउपमह मंनि असोमह सावम केवलु हुयउ असोयह ॥ ४६ ॥

तो मुण साहुणि सावय साविय, गुणमणि रोहण जिणमय भाविय।
इहु पहुचउ विहु तित्थु पवित्तउ, नाग चरण दसिणिहि पवित्तउ ॥ ५० ॥

रायमई पहु पाय नमेविणु नेमि पासि पवज्ज लहेविणु।
परम महासई सील समिद्धिय नेमिकुमारह पहिलउ सिद्धिय ॥ ५१ ॥

नेमि जिणुवि भवियणु पडिबोहिवि, सूरु जेम्व महि मडलु सोहिवि।
आसाढट्ठमि सुद्धि मुणिसरू, संपत्तउ सिद्धिहि परमेसरु ॥ ५२ ॥

सिरि जिणवइ गुरु सीसिइ इहु मण हर मासु।
नेमिकुमारह रहउ गणि सुमइण रासु ॥ ५३ ॥

सासण देवी अवाई इहु रासु दियतह।
विग्धु हरउ सिग्घू सघह गुणवंतह ॥ ५४ ॥

इति श्री नेमिकुमार रासक। पडित सुमति गणि विरचितः ॥

रेवंतगिरिरास

परिचय

कवि विजयसेन सूरि कहते हैं कि मैं परमेश्वर तीर्थेश्वर को प्रणाम कर और अंबिका देवी का स्मरण करके रेवंतगिरिरास का वर्णन करूँगा। पश्चिम दिशा में मनोहर देव-भूमि के समान सुंदर गाँव, पुर, वन, सरिता, तालाब आदि से सुशोभित सोरठ देश है। जहाँ मरकत-मणि के मुकुट के समान शोभायमान रेवंत गिरि (गिरिनार) शोभा देता है जहाँ निर्मल यादव कुल के तिलक के समान स्वामी नेमि कुमार का निवास है।

गुर्जर धरा की पुरी रूप धोलका में वीर धवलदेव के राज्य में पोरवाड़ कुल के मंडन और आसाराज के नंदन वरमंत्री वस्तुपाल और तेजपाल दो भाई थे। आचार्य विजयसेन सूरि का उपदेश पाकर दोनों नररत्नों ने धर्म में दृढ़भाव धारण किया। तेजपाल ने गिरनार की तलहटी में प्याऊ, मठ एवं उपवन से सुसज्जित तेजलपुर बसाया। उसने इस नगर के आसाराज विहार में अपनी माता के नाम पर कुमर सरोवर निर्मित कराया।

गिरनार के द्वार पर स्वर्णरेखा नदी के तीर एक विशाल वनराजि थी जिसमें अगुरु अंजन आम्रवली, अगर, अशोक कराह कदम्ब कदली बकुल वड सहकार सागवान इत्यादि अनेक प्रकार के वृक्ष लहरा रहे थे। वहाँ धार वर्षाकाल में वरमंत्री वस्तुपाल ने संघ की कठिन यात्रा बुलाकर एकत्र की ओर मानसहित वापस भेजा।

द्वितीय कड़वक में गुर्जर देश के भूपाल कुमारपाल का वर्णन है जिसने श्रीमाल कुल में उत्पन्न आंबड़ को सोरठ का दंडनायक नियुक्त किया। दंडनायक ने गिरनार पर विशाल सोपान-पंक्ति बनवाई। सोपान द्वारा ज्यों-ज्यों भक्त गिरनार के शिखर पर चढ़ता जाता है त्यों-त्यों सांसारिक वासनाओं से दूर हटता जाता है। ज्यों-ज्यों उसके अंगों पर निर्झर का जल बहता है त्यों-त्यों कलियुग का मल धुलता जाता है। अब कवि गिरनार के शिखर का वर्णन करता है। मेघजाल एवं निर्झर से रमणीय यह शिखर भ्रमर अथवा काजल सम श्यामल है। यहाँ विविध धातुओं से सुवर्णमय मदिनी जाज्वल्यमान हो रही है और विविध औषधियाँ (वनस्पतियाँ) प्रकाशमान हैं। विविध पुष्पों से परिपूर्ण भूमि दसों दिशाओं में तारामंडल

के समान दीख पड़ती है। यहा प्रफुल्ल लवली कुसुमदल से प्रकाशित, सुरमहिला (अप्सरा) समूह के ललित चरणतल से ताड़ित, गलित स्थल कमल के मकरद जल से कोमल, विपुल श्यामल शिलापट्ट शोभित हैं। वहाँ मनोहर गहन वन में किन्नर किलकारी करते हुए हँसते हैं और नेमिजिनेश्वर का गीत गाते हैं। जिस भूमि के ऊपर स्वामी नेमिकुमार का पदपकज पड़ा हुआ है वह भूमि धन्य है। इस पवित्र भूमि का दर्शन उन्हीं को होता है जो अन्न एव स्वर्ण के दान से कर्म की ग्रन्थि क्षय कर डालते हैं।

गुर्जर धरा में अमरेश्वर जैसे श्री जयसिंहदेव ने सोरठ के राव खगार को पराजित कर वहा का दडनायक साजन को बनाया। उसने नेमिजिनेन्द्र का अभिनव भवन बनवाया।

उत्तर दिशा में कश्मीर देश है। वहाँ से नेमिकुमार के दर्शनार्थ अजित और रत्न नामक दो बधु सघाधिप होकर आए। उन्होंने कलश भर कर ज्योंही नेमिप्रतिमा को स्नान कराया त्यों ही प्रतिमा गल गई। दोनों भाइयों को परम सताप हुआ और उन्होंने आहार-त्याग का नियम ग्रहण किया। इक्कीस अनशन के उपरात अम्बिका देवी आई। उन्होंने मणिमय नेमि-प्रतिमा प्रदान कर देवस्थापन की आज्ञा दी। दोनों भाइयो ने पश्चिम दिशा में एक भवन का निर्माण किया और इस प्रकार अपने जन्म-जन्मातर के दुखों को विनष्ट कर डाला।

इस शिखर पर मत्रिवर वस्तुपाल ने ऋषभेश्वर का मदिर बनवाया और विशाल इद्र मडप का देपाल मत्री ने उद्धार कराया। यहा गयदम कुड, गगन गगा, सहस्राराम आम्रवन अत्यत शोभायमान हैं। यहाँ अम्बिका देवी का रमणीय स्थान है। जो जन अवलोकन शिखर, श्यामकुमार, प्रद्युम्न अष्टापद नदीश्वर का दर्शन करता है उसको रेवत शिखर के दर्शन का फल प्राप्त होता है। कवि कहता है कि ग्रहगण में सूर्य का एव पर्वतों में मेरुगिरि का जो स्थान है वही स्थान त्रिभुवन के तीर्थों में रेवतगिरि का है। जो भक्त नेमिजिनेश्वर के उत्तम मदिर में धवल ध्वज, चमर, मगल-प्रदीप, तिलक, मुकुट, हार, छत्र आदि प्रदान करते हैं वे इस ससार के भोग भोग कर दूसरे जन्म में तीर्थेश्वर श्री का पद प्राप्त करते हैं।

इसके उपरात इस गिरि के दर्शन की महिमा का वर्णन है। जो लोग विजयसेन सूरि का रचा हुआ यह रास रग से रमते हैं उनके ऊपर नेमिजिन प्रसन्न होते हैं। उनके मन की इच्छायें अम्बिका पूर्ण करती हैं।

———

रेवंतगिरि-रासु

विजयसेन सूरिकृत सं० १२८७

प्रथम कडवम्

परमेसर-तित्थेसरह, पय-पंकय पणमेवि।
भणिसु रासु रेवंतगिरे, अंबिक-दिवि सुमरेवि॥ १

गामागर-पुर-वण-गहण- सरि-सरवरि सु-पएसु।
देव-भूमि दिसि-पच्छिमह, मणहरु सोरठ देसु॥ २

जिणु (जणु) तहिं मंडल-मंडणउ, मरगय-मउड-महंतु।
निम्मल-सामल-सिहर-भरे, रेहइ गिरि रेवंतु॥ ३

तसु-सिरि सामिउ सामलउ सोहग-सुंदर-सारु।
जाइव निम्मल-कुल-तिलउ निवसइ नेमि-कुमारु॥ ४

तसु मुह-दंसणु दस-दिसि वि देस-देसंतरु संघ।
आवइ भाव-रसाल-मण उहलि (?) रंग-तरंग॥ ५

पोरुयाड-कुल-मंडणउ नंदणु आसाराय।
वस्तुपाल वर-मंति तहिं, तेजपालु दुइ भाय॥ ६

गुरजर-धर धुरि धवलक्कि (?) वीरधवलदेव-राजि।
बिहु बंधवि अवयारिउ, सु (स) मु दूसम-माझि॥ ७

नायल-गच्छह मंडणउ विजयसेण-सूरिराउ।
उवएसिहिं बिहु नर-पवरे धम्मि धरिउ दिढु भाउ॥ ८

तेजपालि गिरनार-तले तेजलपुर निय-नामि।
कारिउ गढ-मढ-पव-पवरु मणहरु घरि आरामि॥ ९

तहिं पुरि सोहिउ पास-जिणु, आसाराय-विहारु।
निम्मिउ नामिहि निज जणणि कुमर-सरोवरु फारु॥ १०

तहिं नयरह पूरव दिसिहिं उग्गसेण-गढ-दुग्गु।
आदिजिणेसर-पमुह-जिण-, मंदिरि भरिउ समग्गु॥ ११

बाहिरि-गढ दाहिण-दिसिहि, चउरिड-वेहि-विसालु ।
लाडुकलह (?) हिय-ओरडीय, तडि पसु-टाइ (?) करालु ॥ १२

तहि नयरह उत्तर-दिसिहि, साल-थभ-संभार ।
मडण-महि-मडल-सयल, मडप दसह उसार ॥ १३

जोइउ जोइउ भविय (य) ण, पेमि गिरिहि दुयारि ।
दामोदरु हरि पचमउ, सुवन्नरेह-नइ-पारि ॥ १४

अगुण (?) अजण अंविलीय, अंबाडय अंकुल्लु ।
उबरु अवरु आमलीय, अगरु असोय अहल्लु ॥ १५

करवर करपट करुणतर (?), करवदी करवीर ।
कुडा कडाह कयब कड करव कदलि कपीर ॥ १६

वेयलु वजलु वउल वडो, वेडस वरण विडंग ।
वासती वीरिणि विरह, वंसियालि वण वग ॥ १७

सीसमि सिंबलि सिर (स) सभि, सिंधुवारि सिरखंड ।
सरल सार साहार सय, सागु सिगु (?) सिण दंड ॥ १८

पल्लव-फुल्ल-फलुल्लसिय, रेहइ ताहि (?) वणराइ ।
तहि उज्जिल-तलि धम्मियह, उल्लटु अगि न माइ ॥ १९

वोलावी सघह तणीय कालमेघन्तर-पंथि (?) ।
मेल्हविय (?) तहि दिढ धणीय, वस्तपाल वर-मंति ॥ २०

द्वितीयं कडवम्

दु (ह) विहि गुज्जर-देसे रिउ-राय-विहडणु,
कुमरपालु भूपालु जिण-सासण-मडणु ॥
तेण सठाविओ सुरठ-दडाहिवो, अबओ सिरे-सिरिमाल-कुल-सभवो ॥
पाज सुविसाल तिणि नठिय (?) अतरे धवल पुणु परव मराविय ॥
वनु सु धवलह भाउ जिणि (?) पाग पयासिय,
वार-विसोतर-वरसे जसु जसि दिसि वासिय १

जिम जिम चडइ तडि कडणि गिरनारह,
तिम तिम ऊडइं जण भवणसंसारह ॥
जिम जिम सेउ-जलु अंगि पालोट ए,
तिम तिम कलिमलु (?) सयलु ओहट्ट ए ॥
जिम जिम वायइ वाउ तहि निज्झर-सीयलु,
तिम तिम भव दुह दाहो तरकवि तुट्टइ निच्चलु ॥ २

कोइल-कलयलो मोर-केकारवो, सुंमए महुयरमहुरु गुंजारवो ॥
पाज चडतह मायया लोयणी, लाखारामु (?) दिसि दीसए दाहिणी ॥
जलद-जाल-बंबाले नीझरणि रमाउलु
रेहइ उज्जिल-सिहरु अलि-कज्जल-सामलु ॥ ३

बहल-दुद्ध (?) धातु-रस-भेइणी जत्थ उल्हसइ सोवन्नमइ मेइणी ॥
जत्थ दिप्पंति दिवोसही सुंदरा, गुहिर वर गरुय गंभीर गिरि-कंदरा ॥
जाइ-कुंद-विहसन्ता जं कुसुमिहि संकुलु,
दीसइ दस-दिसि दिवसो किरि तारा-मंडलु ॥ ४

मिलिय-नवलवलि-दल कुसुम-झलहलिया,
ललिय-सुरमहिवलय चलण-तल-तालिया ॥
गलिय-थलकमल-मयरंद-जल-कोमला
विउल सिल-वट्ट सोहंति तहि संमला ॥
मणहर-घण वण-गहणे रसिर-हसिय-किंनरा
गेय महुरु गायंता सिरि-नेमि-जिणेसरा ॥ ५

जत्थ सिरि-नेमि-जिणु अच्छए अच्छरा,
असुर-सुर उरग-किंनरय-विज्जाहरा ॥
मउड-मणि-किरण-पिंजरिय-गिरि-सेहरा,
हरसि आवंति बहु-भत्ति-भर-निब्भरा ॥
सामिय-नेमि-कुमार-पय-पंकय-लंछिउ
धर-धूल विजिणा भम मन पूरइ वंछिउ (?) ६

जो भव कोडाकोडिइ (?) अनु मोक्खु पग्गु बारु जउ दिन्नए ॥
संवउ जड-कम्मपणा-गंठि जउ विज्जए,
तउ (?) उज्जितगिरिहर पाविज्जए ॥

जम्मणु जोव जाविय तसु तहि कयत्थू
जे नर उज्जिंत-सिहरु पेरकइ वरतित्थू
आसि गुरजर-धरय (?) जेण अमरेसरु,
सिरि जयसिंघ-देउ (?) पवर-पुहवीसरु ॥
हणवि सोरठु तिणि राउ खगारउ, ठविउ साजण (उ) दंडाहिवं सारउ ॥
अहिणवुनेमि-जिणिंद तिणिभवणु कराविउ,
निम्मलु चदरु त्रिवे निय-नाउं लिहाविउ ॥ ८

थोर-विरकंभ वायं भ-रमाउल, ललिय-पुत्तलिय कलस-कुल-सकुलं ॥
मडपु दड घणु तुंगतर तोरण,
धवलिय वज्झि रुणझणिरि किंकणि-घण ॥
इक्कारसय सहीउ पचासीय वच्छरि,
नेमि भुयणु उद्धरिउ साजणि नर-सेहरि ॥ ६

मालव-मडल-गुह-मुह-मडणु-भावड-साहु दालिधु खडणु ॥
आमलसार सोवन्नु तिणि कारिउ,
किरि गयणगण सूरु अवयारिउ ॥
अवर सिहर-वर कलस झलहलइ मणोहर,
नेमि-भुयणि तिणि दिट्ठइ दुह गलइ निरतर ॥

तृतीयं कडवम्

दिसि उतर कसमीर-देसु नेमिहिं उम्माहिय,
अजिउ रतन दुइ वध गरुय संघाहिव आविय ।
हरसवसिण घण-कलस भरिवि ति (ह) न्हवणु करतह,
गलिउ लेवमु नेमि-बिंबु जलधार पडंतह
संघाहिवु सघेण सहिउ निय मणि संतविउ,
हा हा धिगु धिगु मह विमलकुलगंजणु आविउ
सामिय-सामल धीर-चरण मह सरणि भवंतरि,
इम परिहरि आहार नियमु लइउ संघ-धुरंधरि

पक्खीसि उपवासि सामु संविक-विहि भाविय
पमणइ सपत्तम दयि जमत्तय सहाविय
उट्ठेविणु सिरि-नेमि-विणुसिउ (?) तुरयउ
पच्छलु मन जोएसि पच्छ तुं मयणि वलयउ ॥
गाइवि संवि (कन्दवि) कंचण-वलायाइ
(सिरि नेमि) विंबु मणिमउ तहिं भाणइ ॥
पढम-भयणि देहलिहि देउ सुविपुलि आरोविउ,
संघाविहि हरिसेण सम दिसि पच्छलु जोइउ ॥

ठिउ निश्चलु देहलिहि देवु सिरि-नेमि-कुमारो
कुसुम-वुट्ठिमिसेहिं वि देवि किउ जयजयकारो
वइसाही-पुंनिमइ पुंनवतिया जिणु थप्पिउ,
पच्छिम दिसि निम्मविउ भवणु भव दुह हर कप्पिउ ।
न्हवण-विलेवण-सयीय वंछ मंगिमणुअणा पूरिय,
संघाहिव सिरि अभिदु रतनु निय-देसि पराइय ॥
भयल विपति कलि-कालि-काल-कलुसं नाणवि प्पारिउ,
मलाइंसवि मणि-बिंब-कंवि संथि कुद्धं बाइय ॥

समुद्दविजय-सिवदेवि-पुत्तु जायव कुल-मंडणु जराहिम-बल
मयणु मयणु मयण-मह-माण-विहंडणु ।
राइमइ-मण हरणु रमणुसिव-रमणिं मणोहरु
पुनवंत पणमंति नेमि-जिणु सोहग-सुंदरु ।
वस्तपालि वरमंति भूयणु कारिउ रिसहेसरः
अट्ठावय-संमेयसिहर-वरमंडपु मणाहरु ।
कवडि-जक्खु[१] मरुदेवि दुह विहंगु पासाइउ,
धम्मिय सिरु धूणंति देव वलिवि (?) पलोइउ ।
तसपालि निम्मविउ तत्थ तिहुयण-जण-रंजणु
कल्याणत्तउ-तुंगु-भुयणु लंधिउ-गयणंगणु ।
दीसइ दिसि दिसि कुंडि कुंडि नीझरण झमाला
इंद्रमंडपु देपालि मंत्रि उद्धरिउ विसालो ।
बाइराबण-गयराम-पाय-मुद्रा-समरंकिउ

[१] पाठा०—वरकु ।

दिट्ठु गयंदमु (?) कुड विमलु निज्झर-समलंकिउ।
गउणगंग ज सयल-तित्थ-अवयारु भणिज्जइ,
पक्खा[1]लिवि तहि अगु दुक्ख[2] जल-अंजलि दिज्जइ।
सिंदुवार-मंदार-कुरवक (?) कुदिहि सुदरु,
जाइ-जूह-सयवत्ति-विन्निफलेहि (?) निरंतरु॥
दिठ्ठ य छत्रसिल-कडणि अववण सहसारामु,
नेमि-जिणेसर-दिक्ख[3]-नाण-निव्वाणहठामु॥ ३११

चतुर्थ कडवम्

(गिरि) गरुया (ए) सिहरि चडेवि, अंब-जबाहिं बंबालिउं ए।
समिणि (?) (णि) ए अंबिकदेवि, देउलु दीठु रम्माउलं ए॥ १

वज्जइ एताल कंसाल वज्जइ मदल गुहिर-सर।
रगिहि नच्चइ बाल, पेखिवि अंविक-मुह कमलु॥ २

सुभ-करु एक ठविउ उच्छंगि, विभकरो नंदणु पासिक (?) ए।
सोहइ एऊजिलि-सिगि, सामिणि सीह सिघासणी ए॥ ३

दावइ ए दुक्खह[4] भगु, पुरइ ए वछिउ भवियजण।
रक्खइ[5] ए उविहु सघु सामिणि सीह-सिघासणी ए॥ ४

दस दिसि ए नेमि-कुमारि, आरोही अवलोइ (य) उं ए।
दीजइ ए तहि गिरनारि, गयणागणु (?) अवलोण-सिहरो॥ ५

पहिलइ ए साव-कुमारु, बीजइ सिहरि पज्जून पुण।
पणमइ ए पामइ पारु, भवियण भीसण-भव-भमण॥ ६

ठामि (हि) ए ठामि (रयण) सोवन्न बिंब जिणेसर तहिं ठविय।
पणमइ ए ते नर धन्न, जे न कलि-कालि मल-मयलिय ए॥ ७

---

१ पाठा० परका। २ पाठा० दुरक। ३. पाठा० दिरक।
४. पाठा० दुरकह। ५ पाठा० ररकइ।

जं फलु ए सिहर समेय, अट्ठावय-नंदीसरिहिं ।
तं फलु ए भवि पामेइ, पेखेविणु रेवंत-सिहरो ॥ ८

गह-गण-ए माहि (?) जिम भाणु-पव्वय-माहि जिम मेरुगिरि ।
त्रिहु भुयणे तेम पहाणु तित्थ-माहि रेवंतगिरि ॥ ९

धवल धय चमर भिंगार, आरति मंगल पईव ।
तिलय मउड कुंडल हार, मेघाडंबर आविय (?) ए ॥ १०

दियहिं नर जो (पवर) संग्रोय, नेमि-जिणेसर-वरभुयणि ।
इह-भवि ए भुंजवि भोय, सो तित्थेसर-सिरि लहइ ए ॥ ११

चउ-विहु ए सघु करेइ, जो आवइ उज्जिंत-गिरि ।
तिविसि वहू (?) रागु करेइ, सो भुंचइ चउगइ-गमणि ॥ १२

अठ-विह ए ज्ञय (?) करंति, अट्ठाइ जो तहि करइ ए ।
अठ-विह एकरम हरवति सो अट्ठ-भवि सिज्झाइ (?) ॥ १३

अंबिल ए जो उपवास एगासण नीवी करइं ए ।
तसु मणि ए अच्छाइं आस, इह भव पर भव विहल-परे ॥ १४

पेमिहि मुणि जयइ भम (इ), दाणु धम्मियवच्छलु करइ ए ।
वसु कही नहीं उपमाणु, परमाति सरग विणउ (?) ॥ १५

आवइ ए जे न उज्जिंत घर-धरइ धंधोलिया ए ।
आविहीं ए हीयइ न जं (? तं) ति निप्फलु जीविउ तास तणउ ॥ १६

जीविउ ए सो जि परि धन्नु, तासु समच्छर निप्फलु ए ।
सो परि ए मासु परि (?) धन्नु, वलि हीजइ नहि वासर (?) ए । १७

ज (जि) ही जिणु ए उज्जिंत-सामि सोहग-सुंदर सामलु (ए) ।
दीसइ ए तिहुण-सामि नयण-सलूणउ नेमि-जिणु ॥ १८

नीझर (ण) ए चमर ढलंति मेघाडंबर सिरि धरीइं ।
तित्थइ ए सउ रेवति, सिंहासणि जयइ नेमि-जिण ॥ १९

रंगिहि ए रमइ जा रासु, (सिरि) विजयसेण-सूरि निंमविउ ए ।
नेमि-जिणु तूसइ तासु, अंबिक पूरइ मणि रली ए ॥ २०

॥ समत्तु रेवंतगिरि-रासु ॥

गयसुकुमाल रास

परिचय

इस रास के रचयिता श्री देल्हड़ श्वेताम्बर-श्रावक प्रतीत होते हैं। रचयिता ने श्री देवेन्द्र सूरि के वचनानुसार इसकी रचना की। श्री देवेन्द्रसूरि सम्भवत. तपागच्छ के सस्थापक जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे। जगच्चन्द्रसूरि का समय स० १३०० वि० के सन्निकट है। अत' इस रास का रचना काल १३ वीं शताब्दी माना जा सकता है।

इस रास में गजसुकुमार मुनिका चरित्र वर्णित है। कवि प्रारम्भ मे रत्न-विभूषित श्रुतदेवी को प्रणाम करता है जिनके हाथ मे पुस्तक और कमल हैं और जो कमलासन सस्थिता है। अब कवि समुद्र के उपकठ में बसी स्वर्ण एव रत्नों मे सजी द्वारावती नगरी का वर्णन करता है। उस नगरी पर कृष्णनरेन्द्र का राज्य है जो इन्द्र के समान शोभायमान हो रहे हैं। जिन्होंने नराधिप कस का सहार किया जिन्होंने मल्ल और चाणूर को विदीर्ण किया। जरासिन्धु को जिन्होंने पछाड़ा। उनके पिता वसुदेव वररूप के निधान थे और उनकी माता देवकी गुणों से परिपूर्ण थीं। उनको देवता भी मस्तक झुकाते थे। वे नित्य मन्दिर जाती थीं जहाँ जुगल मुनि आते। जुगल मुनि के समान पुत्र की देवकी को इच्छा हुई। वह नेमिकुमार के पास चली गई और उनसे अपनी मनोकामना प्रकट की। मुनि नेमिकुमार के आशीर्वाद से उनको पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ जिसका नाम गय सुकुमाल रखा गया। गयसुकुमाल के जन्म से सारे लोक में आनन्द छा गया। किन्तु बाल्यकाल मे ही गयसुकुमाल विरक्त हो गया। जिन वर नेमिकुमार को स्मरण कर गयसुकुमार ने कार्योत्सर्ग किया और द्वारावती के बाहर एक उद्यान में तप करने लगे। जिस प्रकार खरपवन से सुरगिरि हिल नहीं सकता उसी प्रकार ससार की किसी बात से मुनि का ध्यान नहीं विचलित होता। तप करते करते अन्त में उनको शुभ शिव का स्थान प्राप्त हो गया।

गजसुकुमाल मुनि का चरित्र प्राचीन जैनागम अतगडदसा सूत्र में पाया जाता है। उसी के आधार पर यह काव्य विरचित प्रतीत होता है।

पक्खीसि उपवासि तासु धंमिक-दिसि भाविय,
पमणइ सपसम ववि जयजय सद्दाविय
उट्ठेविणु सिरि-नेमि-पियुमुक्खिउ (?) सुरंवउ
पच्छलु मन खोपसि पच्छ हुं भयणि पक्खतउ ॥
गाइवि थंति (कन्देपि) कंचण-वलाणइ,
(सिरि नेमि) दिग्गु मयिमउ सहि भाणइ ॥
पढम-मयणि देहलिहि देउ छुविपुढ भारोविउ,
मंचाविहि हरिसेण सम दिसि पच्छलु ओइउ ॥ ४

ठिउ निपछु देहलिहि देखु सिरि-नेमि-कुमारो
कुसुम-वुट्ठिमिस्देवि देवि किउ जइजइकारो
पइसाही-पुंनिमइ पुंनवतिग जिणु थप्पिउ,
पच्छिम दिसि निम्मविउ भवणु मय दुह सह कप्पिउ ।
नवण-विलेवण-सणीय धंछ भवियण-जण पूरिय,
संभाविय सिरि-अजितु रतनु निम-देसि पराइय ॥
सयल विपत्ति कलि-कालि-काल-कलुसे आणवि झाडिउ
मरुदंसति माणि-विंप-कंति भंवि कुलं भाइय ॥ ६

समुद्दविजय-सिवदेवि-पुत्तु भायव कुल-मंडणु मरासिंघ-दल
मद्दणु मयणु मयण-मउ-माया-विहंडणु ।
राइमइ-मय हरणु रमणुसिव-रमणि मणोहरु,
पुनवत पणमेवि नेमि-जिणु सोहग-सुंदरु ।
वस्तपालि वरमंवि भूयणु कारिउ रिसहेसरु
अट्ठावय-संमेयसिहर-वरमंडपु मणहरु ।
कवडि-जक्खु[1] मरुदेवि दुह विहुंणु पज्जाइउ,
पम्मिय सिरु पूणंति देव वसिवि (?) पलोइउ ।
तेजपालि निम्मविउ तत्थ तिहुयण-जण-रंजणु
कल्याणउ-सत्त-तुंग-सुपणु खंभिउ-गयणंगणु ।
दीसइ दिसि दिसि कुंडि कुंडि नीमरण झमाला
इंद्रमंडपु देपालि मंत्रि उद्धरिउ विसालो ।
मइरावण-गयराय-पाय-मुद्दा-समलंकिउ

[1] पाठा —जक्खु ।

दिट्ठु गयंदमु (?) कुंड विमलु निज्झर-समलंकिउ।
गउणगग ज सयल-तित्थ-अवयारु भणिज्जइ,
पक्खा[1]लिवि तहि अंगु दुक्ख[2] जल-अंजलि दिज्जइ।
सिढुवार-मदार-कुरवक (?) कुदिहि सुदरु,
जाइ-जूह-सयवत्ति-विन्निफलेहि (?) निरंतरु॥

दिठ्ठ य छत्रसिल-कडणि अववण सहसारामु,
नेमि-जिणेसर-दिक्ख[3]-नाण-निव्वाणहठामु॥ ३११

—— ——

चतुर्थ कडवम्

(गिरि) गरुया (ए) सिहरि चडेवि, अंब-जबाहिं बंबालिउं ए।
समिणि (?) (णि) ए अंबिकदेवि, देउलु दीठु रम्माउलं ए॥ १

वज्जइ एताल कसाल वज्जइ मदल गुहिर-सर।
रगिहि नच्चइ वाल, पेखिवि अविक-मुह कमलु॥ २

सुभ-करु एक ठविउ उछंगि, विभकरो नंदणु पासिक (?) ए।
सोहइ एऊजिलि-सिगि, सामिणि सीह सिघासणी ए॥ ३

टावइ ए दुक्खहं[4] भगु, पुरइ ए वछिउ भवियजण।
रक्खइ[5] ए उविहु सघु सामिणि सीह-सिघासणी ए॥ ४

दस दिसि ए नेमि-कुमारि, आरोही अवलोइ (य) उं ए।
दीजइ ए तहि गिरनारि, गयणांगणु (?) अवलोण-सिहरो॥ ५

पहिलइ ए साब-कुमारु, वीजइ सिहरि पज्जून पुण।
पणमइ ए पामइ पारु, भवियण भीसण-भव-भमण॥ ६

ठामि (हि) ए ठामि (रयण) सोवन्न विंब जिणेसर तहिं ठविय।
पणमइ ए ते नर धन्न, जे न कलि-कालि मल-मयलिय ए॥ ७

---

१ पाठा० परका। २ पाठा० दुरक। ३ पाठा० दिरक।
४. पाठा० दुरकह। ५ पाठा० ररकइ।

जं फलु ए सिहर समेय, अट्ठावय-नदीसरिहिं ।
त फलु ए भवि पामेइ, पेखविणु रेवंत–सिहरो ॥ ८

गह-गण-ए माहि (?) जिम भाणु-पब्बय-माहि जिम मेरुगिरि ।
त्रिहु भुयणे तेम पहाणु तित्थ-माहि रेवंतगिरि ॥ ६

धवल धय चमर भिंगार, आरशि मंगल पईव ।
विलय मब्ब कुंडल हार, मेघाडंबर आविय (?) ए ॥ १०

दियहि नर जो (पवर) चंद्रोय नेमि-जिणेसर-वरभुयणि ।
इह-भवि ए भुजवि भोय, सो तित्थेसर-सिरि लहइ ए ॥ ११

पञ्च-विहु ए सघु करेइ, जा आवइ उज्जित-गिरि ।
विविस वहू (?) रागु करेइ, सो भुयइ अमाइ-गमणि ॥ १२

अट-विह ए ख्य (?) करंति, अट्ठाइ जो तहि करइ ए ।
अट-विह एकरम हरणंति सो अट्ठ-भावि सिज्झइ (?) ॥ १३

अंत्रिल ए जो उपवास, एगासण नीवी करइं ए ।
तसु मणि ए अच्छई आस, इह भव पर भव विहव-परे ॥ १४

पेमिहि मुणि-जय अम (६), दाणु धम्मियवच्छलु करइ ए ।
तसु कही नहीं उपमाणु, परमाति सरण विणउ (?) ॥ १५

आवइ ए जे न उज्जिंति, घर घरइ धंधोलिया ए ।
आविही ए हीयइ न जं (? सं) ति, निष्फलु जीविउ तास तणउ ॥ १६

जीविउ ए सो जि परि धन्नु, तासु समच्छर निच्छणु ए ।
सो परि ए मासु परि (?) धन्नु, वलि हीयइ नहि वासर (?) ए । १७

ज (जि) ही जिणु ए उज्जिल-ठामि सोहग-सुंदर सामलु (ए) ।
दीसइ ए तिहुयण-सामि नयण-सलूणउ नेमि-जिणु ॥ १८

नीझर (ण) ए चमर ढलंति मेघाडंबर सिरि धरीइं ।
तित्थइ ए सउ रेवति, सिंहासणि जयइ नेमि-जिणु ॥ १६

रंगिहि ए रमइ जा रासु, (सिरि) विजयसेण-सूरि निम्मविउ ए ।
नेमि-जिणु तूसइ तासु, अंबिक पूरइ मणि रली ए ॥ २०

॥ समत्तु रेवंतगिरि-रासु ॥

गयसुकुमाल रास

परिचय

इस रास के रचयिता श्री देल्हड़ श्वेताम्बर-श्रावक प्रतीत होते हैं। रचयिता ने श्री देवेन्द्र सूरि के वचनानुसार इसकी रचना की। श्री देवेन्द्रसूरि सम्भवतः तपागच्छ के सस्थापक जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे। जगच्चन्द्रसूरि का समय स० १३०० वि० के सन्निकट है। अतः इस रास का रचना काल १३ वीं शताब्दी माना जा सकता है।

इस रास मे गजसुकुमार मुनिका चरित्र वर्णित है। कवि प्रारम्भ मे रत्न-विभूपित श्रुतदेवी को प्रणाम करता है जिनके हाथ में पुस्तक और कमल हैं और जो कमलासन सस्थिता है। अब कवि समुद्र के उपकठ मे वसी स्वर्ण एव रत्नों से सजी द्वारावती नगरी का वर्णन करता है। उस नगरी पर कृष्णनरेन्द्र का राज्य है जो इन्द्र के समान शोभायमान हो रहे हैं। जिन्होंने नराधिप कस का सहार किया जिन्होंने मल्ल और चाणूर को विदीर्ण किया। जरासिन्धु को जिन्होंने पछाड़ा। उनके पिता वसुदेव वररूप के निधान थे और उनकी माता देवकी गुणो से परिपूर्ण थीं। उनको देवता भी मस्तक झुकाते थे। वे नित्य मन्दिर जाती थीं जहाँ जुगल मुनि आते। जुगल मुनि के समान पुत्र की देवकी को इच्छा हुई। वह नेमिकुमार के पास चली गई और उनसे अपनी मनोकामना प्रकट की। मुनि नेमिकुमार के आशीर्वाद से उनको पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ जिसका नाम गय सुकुमाल रखा गया। गयसुकुमाल के जन्म से सारे लोक में आनन्द छा गया। किन्तु वाल्यकाल में ही गयसुकुमाल विरक्त हो गया। जिन वर नेमिकुमार को स्मरण कर गयसुकुमार ने कार्योत्सर्ग किया और द्वारावती के वाहर एक उद्यान में तप करने लगे। जिस प्रकार खरपवन से सुरगिरि हिल नहीं सकता उसी प्रकार ससार की किसी वात से मुनि का ध्यान नहीं विचलित होता। तप करते करते अन्त में उनको शुभ शिव का स्थान प्राप्त हो गया।

गजसुकुमाल मुनि का चरित्र प्राचीन जैनागम अतगडदसा सूत्र में पाया जाता है। उसी के आधार पर यह काव्य विरचित प्रतीत होता है।

[इस रास के रहस्य को भली प्रकार समझने के लिये द्वारिका में घटित होने वाली एक घटना को समझ लेना चाहिए। माता देवकी के एक ही पुत्र कृष्ण था। एक बार अरिष्टनेमी मुनि द्वारका पधारे और उन्होंने कृष्ण के ६ भाइयों को जो मुनिकुमार हो गए थे, दो दो की टोली में माता देवकी के पास भिक्षार्थ भेजा। ये मुनिकुमार रूप में एक दूसरे से इतना साम्य रखते थे कि माता देवकी ने उन्हें एक ही समझा। अतः उन्हें शंका हुई कि अरिष्टनेमी मुनि बार-बार इन्हीं दोनों साधुओं को भिक्षा लेने के निमित्त मेरे पास क्यों भेजते हैं। अरिष्टनेमी के पास जाकर वे शंका निवारण के लिए पूछने लगी—'भगवन्, ये दोनों साधु बार-बार एकही घर में भिक्षा के लिए क्यों आते हैं?' भगवान ने यह रहस्योद्घाटन किया कि एक समान रूपवाले ये छहों भाई तुम्हारे पुत्र हैं। देवकी ने अपना दुःख प्रकट किया कि मैं ७ पुत्रों की जननी हुई, पर मैं एक पुत्र की भी बाल-क्रीड़ा न देख सकी। मेरी अभिलाषा है कि एक पुत्र की बाल—लीला देखने का सुख मुझे प्राप्त हो। मुनि के आशीर्वाद से कृष्ण का लघु भ्राता उत्पन्न हुआ। हाथी के तालवे के सदृश सुकुमार होने से उसका नाम गजसुकुमार रखा गया। वह बालक बाल्यावस्था में ही अरिष्ट मुनि से दीक्षा लेकर साधु बन गया।]

गयसुकुमाल रास

देवेन्द्रसूरिकृत सं० १३०० वि० के आसपास

पणमेविणु सुयदेवी सुयरयण-विभूसिय ।
पुत्थय कमल-कराए कमलासणि संठिय ॥ १ ॥

पभणउ गयसुमार—चरित्तू
पुव्वि भरह—खित्ति ज वित्तू ।
जु उज्जिल पुन्न—पएसू ॥ २ ॥

तह सायर-उवकठे वारवइ पसिद्धिय ।
वर कंचण धण धन्नि वर रयण समिद्धिय ॥ ३ ॥

वारह जोयण जसु वित्थारू
निवसइ सुन्दरु गुणिहि विसालू ।
वाहत्तरि कुल कोडि विसिट्ठो ।
अन्नवि सुहड रणंगणि दिट्ठो ॥ ४ ॥

नयरिहि रज्जु करेई तहि कन्हु नरिंदू ।
नरवइ मति सणाहो जिव सुरगणि इदू ॥ ५ ॥

सख चक्क गय पहरण धारा
कस नराहिव कय संहारा ।
जिणि चाणउरि मल्लु वियारिउ
जरासिंधु वलवतउ धाडिउ ॥ ६ ॥

तासु जणउ वसुदेवो वर रूव निहाणू ।
महियलि पयड पयावो रिउ भड तम भाणू ॥ ७ ॥

जणणिहि देवइ गुण संपुन्निय
नावइ सुरलोयह उत्तिन्निय ।
सा निय मदिरि अच्छइ जाम्व
तिन्नि जुयल मुणि आइय ताम्व ॥ ८ ॥

सिरिवच्छंकिय वच्छे रूविं विक्खाया ।
चिंतइ धन्निय नारी जसु एरिस जाया ॥ ९ ॥

मुणिवर सुंदर लक्खण सहिया
महसुय केसि कयच्छि गहिया ।
मारवइ मुणि विंभव हत्थू
कहि पलियवहि मुणि आयउ इत्थू ॥ १० ॥

पूछइ देवइता पणमहि मुनिवर ।
वाम्वा (अम्ह) सम रूव सहोयर ॥ ११ ॥

सुरस मणमिय कुक्खि धरिया
सुव्वण विसय पिसाई नडिया ।
सुमरिवि जिणवर नेमिकुमारू
तसु पय मूलि लयउ वय भारू ॥ १२ ॥

पुत्त सिणेहि वाम्वा देवइ झूरइ मणु ।
जसु करि करुणा होई तसु कयसु संपप्पणु ॥ १३ ॥

आइवि पुच्छइ नेमिकुमारू
संसउ तोडइ तिहुयण सारू ।
पुव्वि जम्म रयण तइ हरिया
तिणि कारणि सुह सुय अवहरिया ॥ १४ ॥

तसु वि होइ निमित्त वर करह करेइ ।
सुलस मणमिय वाम्वा सुरु अप्पइ नेइ ॥ १५ ॥

देवइ मुणिवर वंदइ जाम्व,
हरिस विसाउ धरइ मणि ताम्व ।
सुलस सधम्मिय जसु घारि वड्ढिय
हउं पुण पास जिणहि पडिय ॥ १६ ॥

रणु वाम्लाविउ ता - - - -
रिमिय नारी पिच्छइ काई ॥ १७ ॥

सिक्खावइ मल्हावइ जाम्व
देवइ मण कुम्मणा हुई ताम्व ।
तं पिच्छिय चडिय परं सूरउ
माहुरेउ मणा वंछिय पूरउ ॥ १८ ॥

सुमरइ अमर नरिंदो मह दवि सहोयरू ।
सयल गुणेहिं जुत्ता निय जयणि मणोहर ॥ १९ ॥

उज्झइ मुणिवरु गयसुकुमालु,
महियाउ रिक्खउ गुणिहि विसालु।
जिम सार पवणि न सुरगिरि हल्लइ,
तिम ताणु इक्कु न झाणह चल्लइ ॥ २० ॥

भवपासेसु गुणेसु किर होइ निमित्त।
सहसिय पुव्व कयाइ हुय इसि थिर चित्तु ॥ २१ ॥

महिया सइ मुणि गयसुकुमालु
निट्ठुर उज्झइ कम्मह जालु।
अंतगडिवि उप्पाडिउ नाणु
पाविउ सासय सिव-सुह ठाणु ॥ २२ ॥

सिरि देविंदसूरिंदह पमयो,
खमि उवसमि महियउ।
गयसुकुमाल चरित
सिरि देल्हणि रइयउ ॥ २३ ॥

एहु रासु सुहसेयह ठाई।
रक्खउ सयलु संघु अंमाई।
एहु रासु जो देसी गुणिसी
सो सासय सिव-सुक्खइं लहिसी ॥ २४ ॥

॥ गयसुकुमाल रास समास ॥

आबू रास

परिचय

[गुर्जर देश में अनेक वापी सरोवर आदि से विभूषित चन्द्रावती नगर है। वहाँ सोम नाम का राजा राज्य करता है। उसके राज्य में पुण्यमय आबू नामका गिरिवर है। वहीं अचलेश्वर श्री माता ऋषभ जिनेन्द्र स्वामिनी अम्बा देवी का स्थान है। वह विमल मंत्री धन्य है जिसने यह मन्दिर बनवाया।

गुजरात देश में लवण प्रसाद नाम का राणा था। उसका पुत्र वीरधवल शत्रु-राजाओं के उर के लिए शल्य था। उसके मंत्री तेजपाल ने आबू पर मन्दिर बनवाने का निश्चय किया और राजा सोम से आबू में मन्दिर-निर्माण की आज्ञा माँगी। सोम ने आज्ञा प्रदान की और वस्तुपाल और तेजपाल ने ठाकुर ऊदल को चन्द्रावती भेजा। वह महाजनों को लेकर देलवाडे पहुँचा और मन्दिर के लिए स्थान ढूँढने लगा। उसने विमल के मन्दिर के उत्तर की ओर मन्दिर बनवाया। सोमन देव इसका सूत्रधार (Architect) था।]

———

आबू रास

॥ तेरहवीं शताब्दी की प्राचीन कवि ॥

पणमेविणु सामिणि वाएसरि
अभिनवु कवितु रयउ परमेसरि
नंदीसर वरु आसु निवासो
पभणउ नेमि जिणंदह रासो ॥ १

गूजर देसह मज्झि पहाणु
चन्द्रावती नयरि वक्खाणी
वावि सरोवर सुरहि सुणीजइ
वणु आरामिहिं ऊपम दीजइ ॥ २

त्रिग चाचरि चउहट्ट विचारा
पउमंदिर धवळहर पगारा
छत्तिस राजकुळी निवसेई
धनु धनु धम्मिउ लोकु वसेई ॥ ३

राजु करइ तहि सोम नरिंदो
निम्मळ सोळ कला जिम चंदो
हिव वरणउ गिरि पुहवि पसिद्धो-
अद्भुयइं लोयइं वण्णउ जु सीधा ॥ ४

धण वखरायइं सजळु सुठाउ
तहिं गिरिवर पुणु आबू नाउ
तसु सिरि वारह गाम निवासो
राठी गूगुलिया तहिं तपसी ॥ ५

तसु सिरि वहिसउ देस सुणीजइ
अचलेसरु तसु ऊपमु दीजइ
तहिं छइ देवत वाळ कुमारी
सिरि मा माभिणी कहउ विचारी ॥ ६

विमलहिं ठवियउ पाव निकदो
तहि छइ सामिउ रिसह जिणिंदो
सानिधु सघह करइ सखेवी
तहि छइ सामिणि अबा देवी ॥ ७

पुरूव पछिम धम्मिय तहिं आवहिं
उतर दखिण संघु जिणवरु न्हावहिं
पेखहि मंदिरु रिसह रवन्ना ॥ ८

धनु धनु विमळ जेणि कराविउ
ससि मडळि जिणि नाउ लिहाविउ
विहुंसइ वरिसइ अंतरू मुणीजइ
वीजउ नेमिहि भुवणु सुणीजइ ॥ ९

ठवणि

नमिवि चिराणउ थुणि नमिवि वीजा मंदिर निवेसु
पुहविहि माहि जो सलहिजओ उत्तिम गूजरू देस ॥ १०
सोलकिय कुल सभमिउ सूरउ जगि जसु वाउ
गूजरात धुर समुधरणु राणउ लूणपसाउ ॥ ११
परिवलु दलु जो ओडवओ जिणि पेलिउ सुरताणु
राज करइ अन्नय तणओ जासु अगंजिउ माणु ॥ १२
लुणन्सा पुतु जु विरधवलो राणउ अरडकमल्लु
चोर चराडिहि आगलओ रिपुरायह उर सल्लु ॥ १३

भासा

वस्तपालु तसु तणइ महतउ
सहु परु तेजपाल उदयतउ
अभिणवु मदिर जेण कराविय
ठावि ठावि जिण विंव भराविय ॥ १४
महि मडलि किय जहि उद्धारा
नीर निवाणिहि सत्तू कारा

सेत्रुंज सिहरि सळायु स्विगाविउ
अणुपम-सरु तसु नामु दियाविउ ॥ १५

नितु नितु सुर संघ पूजा कीजइ
छहि वरिसंधि परि दाणुअ दीजइ
संघ पुरिस पुहविहिं मलहीजइ
राजु वधंता यहु मनि कीजइ ॥● १६

अन दिवसि निय मणि चिंतीजइ
महतइ तेजपालि पमणीजइ
आबू मणि अइ तीयहं ठांउ
जइ जिण-मंदिरु तइ नीपावउँ ॥ १७

ठाकुर ऊजल ताव हकारिउ
कहिय वात कान्हइ पइसारिउ
आबू रिखमह मंदिरु आछइ
महतउ तेजपालु इम पूछइ ॥ १८

कीजउ नेमिहिं भुवण करेसइं
पहितउ सोम नरिंदु पूछिअइ
अइ जिणमंदिर आहर लहिसइं
कटक माहि आइवि विनवीजइ ॥ १९

ठवणि

महि तिहि आयवि भेटियउ आवल देवि मझारु
कउ कोडेवणु वीनवयो सोम नरिंद प्रमारु ॥ २०

विनती अम्हह सइं वणिय सामिय तुहु अवधारि
मांगउ आहर मंदिरह आबुय गिरिहि मझारि ॥ २१

तूटउ धांधल देवि तणउ आगा कहियउ बेहु
विमलह मंदिर आसनउं विजउ करावहु देव ॥ २२

अम्हि धरि गोठिय आबुयह आगे बहइ निवाणु
करिज मंदिर तेजपाल तुहं हियय म धरिवहु काणि ॥ २३

● पाठान्तर—मानीजइ ।

भासा

दिसइ आयसु तह सोम नरिंदो
वस्तपालु तेजपालु अणंदो
जिण संमिय मदिरु वेगि निपज्जओ
आयसु रोपु दिव उदल दीजओ ॥ २४

अइसि उदल्लु चंदावति आवओ
सयळ महाजनु घरि तेडावओ
चालहु हिव आवुइ जाओसह
जिण मदिर थाहर भूमि जोओसहं ॥ २५

चलिउ उदल्लु महाजनि सइतउं
आवुय देवल-वाडइ पहुतउ
ठमि ठमि मदिर भूमि जायंतओ
मिलिउ मेलावओ आवुय लोयह ॥ २६

मदिर थाहर नवि आयेमहं
प्राणिहि सुवणु करण नवि देसह
आगओ विमल मदिर निपन्नओ
सिरया भूमिहि दीनउ दानओ ॥ २७

ठवणि

ऊदल्लु तित्थु पसीय वहु परि मनावइ
राडीवर गूगुलिया वास्तइ पहिरावइ ॥ २८

भासा

अम्हि धुरि गोठिय दिव नेमिनाहा
जिण भूमि खापहु तेइ सुवाहा
विमल मंदिरु-ऊतरदिसि जाम
लइय भूमि तेजपालु वधाविउ ॥ २९

महतइ तेजपाल पभणीजइ
सोभनदउ सुत-हार तेडीजइ

जाइअ आयुइ गुरु कमठाअे
वेगिहि जिणमंदिर नीपाअे ॥ ३०

चाखिउ पाठ करिउ सुतहारो
भूमि सुखण इक वार अहारो
सोमनवेउ वेगि आयुइ आवइ
कमठ मोहुतु आरंभु करावइ ॥ ३१

ठवणि

मूळमा पायार घर पूरिउ कूरू म प्रवेसु
मरिउ गभारउ तहि म पुरे सरसिल हुयउ निवेसु
आसन्नी सहि ऊपडिय पाथर केरिय खाणि
निपणि नु गभारउ मूलिगओ देवलु चडिउ प्रमाणि ॥ ३३

रूपा सरिसउ सम गुणओ दसदिहिदिसावर आइ
पाहण तहिं आरासणउ आणिउ सहिं कमठाइ ॥ ३४

सरवरु भाडु जो नीपजअे मंदिर बहु विस्तारि
अविसइ वीसइ रूवडउ नेमि जिणिंद पयारु ॥ ३५

भासा

सोमन देउ सुतहारो कमठाउ करावइ
सइसउ मंत्रि तेजपालो जिणु बिंब भरावइ
खभायति घर नयरि बिंब निप्पजअे
रयण मउ नेमि जिणु रूपम दीसअे ॥ ३६

विसेवि कंति रमण कंपि सामळ धीरा
बहु पकति बहु सकति आइ सरीरा
निवसअे बिंबु जो मासइ संठिओ
विजयसेण सूरि गुरि पहम पईठिओ ॥ ३७

निपुनु परिपूरनु सामलरूवउ
धणु तेजपालु विधि आणुय नेओ
धवल सुव सुरहि युव ठविय तहि रहवरे
साहइ सुहडा सुमुहइ आयुय गिरवरे ॥ ३८

नयर वर गामह माहिहि आवअे
सइतभविय हो जिण पहेरावअे
आवुय तळवटे रत्थ पहुत्तओ
तणियउ वरणिय पाज चडतओ ॥ ३६

थड उ थडइ रहु पाज विसमी खरी
वेगि सपत्त अंविक वर अछरि
सानिध अंबाइय रत्थु चडतओ
देवलवाडइ दिणि छटइ पहुत्तओ ॥ ४०

ठवणि

आवुय सिहरि संपत्तु देउ पहु नेमि जिणेसरु
वणसइ सवि विहसणहं लग्ग आइय तित्थेसरु ॥ ४१

उच्छगिहि जुगादि जिणु जिणु पहिलउ टविज्जइ
तुहुँ गरुयउ नेमिनाथ विंव तेजपालिहिं कीजइ ॥ ४२

हकारहु वर जोइसिय पइटह दिणु जोयहु
तेड़ावहु चउवियहे सघ पुर पाटण गायहं ॥ ४३

वार सवछरि छियासअे परमेसरु सठउ
चेत्रह तीजह किसिण पक्खि नेमि भुवणहि संठिउ ॥ ४४

वहु आयरिहि पयट्ठ किय वहु भाउ धरतह
रागु न वद्धइभविय जणह नेमि तित्थ नमतह ॥ ४५

आवेहडावडा तणे जिणु पहिलउ न्हवियउ
पाछइ न्हवियउ सयल सवि तुम्हि पणमुह भवियहु ॥ ४६

रिसभ चित्र अट्ठमि जि नमु तासु कल्याणि कु कीजइ
दसमि तित्थु नेमि जात रेसि संघ पास मगीजइ ॥ ४७

सघ रहिउ जिणि जात करिवि नमि भुवण विसाला
पूरि मणोरह वस्तुपाल मंती तजपाला ॥ ४८

मूरति वपु असराज तणी कुमरादेवि माया
काराविय नेमि भुवण माहि विहु निम्मल काया ॥ ४९

करायिव नेमि भुवणु पमु क्षयउ संसारे
निमुणह धरिमु न दत्ता तेणि धंधूय प्रमारे ॥ ५०

रिखभ मंदिर सासणि आगु
धंधुय दिन्नउ दक्कड वाणिउ गाउ
तिणि सु मसीहि उजाणिउ नाउं ॥
नेमिहि दिन्नु वधाणिउ गाउ ॥ ५१

अनेक संघपति आयुह आवहिं
कनक कपड नेमि जिणु पहिरावहिं
पूअहिं माणिक मोतीयउ मूले
किवि पूअहि सोगंभिहि फूले ॥ ५२

केवि हु हियडय भावण भावहिं
केवि हु मं नीयाइ आराहहि
कवि चडावछि नेमि नमीजइ
ध सु-नयणु पाखइण पुज कीजइ ॥ ५३

बार संवछरि नवमासीमें
वसंत मासु रंमाउलु दीह
भेडु रासु विसतारिहिं आवे
रासइ सयल सघ अंवाये ॥ ५४

रासइ भासु जु आजइ खेडइ
रासइ मम संति मूडेय ॥ ५५

जिनचंदसूरि फागु

(सं० १३४१ के आसपास)

परिचय

फाल्गुन के महीने में वसन्तागमन के अवसर पर गायाजानेवाला यह काव्य-प्रकार शताब्दियों से प्रचलित रहा है। फागु शब्द की उत्पत्ति फाल्गुन से हुई प्रतीत होती है। फागु दो प्रकार के पाए जाते हैं—जैन फागु एव जैनेतर फागु। जैन फागुओं में वसन्त की शोभा का लघु वर्णन मिलता है। नायिका के सौन्दर्य का वर्णन मनोहारी अवश्य होता है। अन्त में काम पर विजय पाने का प्रयत्न पाया जाता है।

जिनचदसूरि फागु सर्व-प्रथम-उपलब्ध फागु माना जाता है। डा० भोगीलाल ज० साडेसरा का भी यही मत है। इससे पूर्व-रचित फाग अभी-तक किसी शोधकर्त्ता को सम्भवतः उपलब्ध नहीं हुआ है।

प्रारम्भ में १६ वें तीर्थंकर स्वामी संतजी को प्रणाम किया गया है। कवि कहता है कि रतिपतिनाथ (कामदेव) ने सबके हृदय को सतप्त कर दिया है और वह राजा के रूप में सबको अपने अधिकार में बुला रहा है। अरी गोरागी (नायिका), वह बलात् तुम्हें जीतने के लिए आगया है। तुम अपने पति से मिलो। यह मन-मोहक वसन्त आ गया। हमारे इस प्रकार के वचन को भली प्रकार सुनो।

सारांश

देखो—पाटल, बकुल, सेवती, मुचकुन्द, रायपचक, केवड़ा आदि के समूह विकसित हो रहे हैं। तालाबो में कमल, कुमुद आदि पुष्प शोभित हो रहे हैं। शीतल, कोमल एव सुरभित दक्षिण पवन चल रहा है। गाँवगाँव में आम्र मजरी से कोकिला प्रसन्न हो रही है। और उसी स्थल पर बैठकर ऐसी मधुर वाणी बोलती है कि कामदेव विरहिणी को जला डालता है। उसकी वाणी से कितनों के हृदय में हूक उठती है। इसी कारण अचेतन पक्षी भी जोड़ा बनाने की वार्त्ता चला रहे हैं। इस प्रकार की वसन्त ऋतु देखकर

जिनचंदसूरि फागु

(सं० १३४१ के आसपास)

अरे पणमवि सामिउ संतजु, सिव वाउलि उरि हारु,
अरे अणहिलवाडामंडणउ सव्वह तिहुयणसारु,
अरे जिणपवोहसूरि पाटिहि, सिरि सजमु सिरि कतु,
अरे गाइवउ जिणचद सूरि गुरु, कामलदेवि कउ पुतु । १

अरे हयडऊ तपियउ पैखिवि, न सहए रतिपति नाहु,
अरे वोलावइ वसतु ज सव्वह रितुहु राउ,
अरे आगए तुह वलि जंतओ, गोरड करऊ वालभु,
अरे इसइ वचनु निसुणेविणु, आगयउ रलिय वसतु । २

अरे पाडल वालउ वेउल, सेवत्री जाइ मुचकुदु,
अरे कंदु करणी रायचंपक विहसिय केवडिविदु,
अरे कमलहि कुमुदिहि सोहिया, मानस जवलि तलाय
अरे सीयला कोमला सुरहिया वायइ दक्खिणा वाय । ३

अरे पुरि पुरि आवुला मउरिया, कोइल हरखिय देह,
अरे तहिं टए दुहकए वोलए, मयणह केरिय खेह
अरे इसइ वसतिहि हूयए, माघु स केतिय मात्र (?)
अरे अचेतन जे पाखिया, तिन्हु तणी जुगलिय वात । ४

अरे इसउ वसतु पेखेवि, नारियकुंजरु कामु,
अरे सिगारावए विविह परि, सव्वह लोयह वामु,
अरे सिरि-मउडु, कन्नि कुंडल वरा, कोटिहि नवसरु हारु,
अरे वाहहिं चूडा, पागिहि नेउर कओ झणकारु । ५

अरे सिरिया मोडा लहलहहि कसतूरिय महिवटु,
अरे न .. ..
... .

. . ट परि हुयउ देवगण भउ ।

रिणतूरिहिं वज्जंतिहिं वद्दिउ शीलनरिन्दु,
देखिवि उसकद्दु विम्हियउ सयलु वि देखिहि विंदु । ~१

अरे ग्रेटिहिं ग्रेटिहिं वीटप नाठउ रविपवि राउ,
नारीयकुंयरु मेल्हिवि ओयए छाडिय साल (?) २२

घरणिंदइ पामालिहिं पुहविहिं पंडिय लोउ,
जीतउं जीतउं इम भणइ सग्गिहिं सुरपवि इंदु । २३

वद्धावणउं करावए सग्गिहिं जिणसरसूरि,
गूजरात पाटण मल्लउ सयलई नयरई माहि । २४

मालवा की बाउल भणहि सयलई लोयई माहि
सिरिजिणचंदसूरि फागिहिं गायहिं जे अति भावि,
ते बाउल भड पुल्सला, विलसहि विलसहि सिवसुह सामि । २५

कच्छूली रास

परिचय

[रास का आरम्भ पार्श्वजिन को नमस्कार के अनन्तर किया गया है। पृथ्वी पर अष्टादशशत नाम का एक देश है जिस पर अग्नि-कुंड से उत्पन्न परमार लोग राज करते हैं। उसी में अनेक तीर्थ-युक्त आबू पर्वत है। उसकी तलहटी में कच्छूली नाम की नगरी थी, जिसमें अनेक सत्यशील कपटकूट-विहीन लोग बसते थे। उसमें हिमगिरि के समान धवल-उज्ज्वल पार्श्वजिन का मन्दिर है। वहाँ लोग विधिपूर्वक पार्श्वजिन के गुण गाते। एकान्तर उपवास करते और दूसरे दिन पारणा करते। श्रावक लोग माणिक्यप्रभु सूरी की बहुत भक्ति करते। सूरीजी ने अम्बिलादि व्रतों से अपने शरीर को सुखा दिया था। जब उन्होंने अपना अन्तकाल निकट देखा तो (उन्होंने) कच्छूली नगर में जाकर बासल के पुत्र को अपने पट्ट पर बिठाया और उनका नाम उदयसिंह सूरी रखा।

उदयसिंह सूरी चड्डावली (चन्द्रावती) पहुँचे जहाँ रावल धधलदेव राज्य करता था। रावल ने सोचा कि ब्राह्मण, पडित, तापस सभी हार गए हैं। उदयसिंह को हराने वाला कोई नहीं है। सर्प और बाघ भी इन्हें देख कर दूर हट जाते हैं। उन्होंने भी हार मान ली है। कवालधर नामक एक कालमुह ने भी हार मानी और मान छोड़ कर उनके पैरों की वंदना की। चड्डावली से विहार करते हुए उदयसूरि मेवाड़ पहुँचे। उन्होंने नागद्रह मे स्नान किया और आहार मे समवसरण किया। उन्होंने द्वीप नगरी मे वाद मे यह सिद्ध किया कि जिन ने केवली को भक्ति नहीं बताई है, नारी और साधु के लिए सिद्धि कही है। उन्होंने 'पिंड विशुद्धि विवरण' नाम का प्रसिद्ध धर्मग्रथ बनाया। वे फिर कच्छूली वापस आए। उन्होंने गुर्जरधरा, मेवाड़, मालवा, उज्जैन आदि बहुत से स्थानों में श्रावकों का उद्धार किया और सघ की प्रभावना की। उन्होंने कमल सूरि को अपने स्थान पर बैठाया और अनशन द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध किया। इस प्रकार अन्त में सुरलोक को प्रस्थान किया। स० १३६३ मे कुरटावड़ (कोरिंटावड़ि) में इस रास की रचना हुई। जो लोग इस रास को पढेंगे अथवा सुनेंगे उनकी सब मनवाछित इच्छा पूर्ण होगी।]

———

कच्छूलीरास

प्रज्ञातिलक संवत् १३६३ वि०

गणवइ जो जिम दुरीउविहंडणु रोअनिवारणु विहुयणमंडणु पणमवि सामीउ पासजिणु ।

सिरिभद्देसरसूरिहिं वंसो बीजीसाहह यन्तिसु रासो धम्मीय रोल निवारीउ ।

सग्गखंडु जिम महीयलि आयाउं अट्ठरसउ देसु वखाणउं गोउलि धणि । रमाउलउ ॥

धनरकुंडरसंभम परमार राजु करई तहिंछे सविचार आबूगिरिवर सहिं पवरो ।

विमलवसहीं मादि जिणहरो अवसे सरउ सिरिमासिरि वंदो तसु तलि नयरी य कमांयए ।

जणमण नयणइ कम्मणमूली कच्छूली किरि लंकधिसाली सरगवणावि मणोहरी य ॥

वस्तु—तम्हि नयरी य तम्हि नयरी य वसइ बहू लोय ।
पिंवामणि जिम दुम्भीयहं दीइ दानु सविवेय हरिसि य ।
सवई सीलि ववहरई कूडकपडु नवि ते य जाणई ।
गहीउं बहु बाली पीइ धम्मकम्मि अणुरत्त ।
एकवीह जिम वनीह कच्छूली सु पवित्त ॥

हिमगिरिधवलउ जिसु कविलासा गुरुमंडपु पुतलीयविलासा पास भूयणु रलीयामणउ ।

भवीयहं गुरु मणि आणंदु आणइ असहवनंदणु तं परिमाणइ सयरि भेदि संजमु परिपालइ ।

विहिमगि सिरिपहसूरि गुरु ठावइ पगवर उपवास करेइ वीरा विय आंबिल पारेइ ।

सासणदेवति देसणा आवइ रयणिहिं अवसति गुरु पवीइ कविलकोटि भीमसूरि विहरंवइ ।

मालारोपण कीयां तुरंतइं सइ नर आवीय पचसयाइं समिकति नदइं
वहू य वयाइ ।
छाहडनंदणु वहु गुणवंतउ दीख लीइ संसार विरत्तउ ।
लापणछद परमाणपरिरकणु आगमधम्मवियार वियरकणु ।
छत्रीसी गुरुगुणि जुत्तउ जाणीउ नियपदि ठविउ निरुतउ ।
माणिकपहुसूरि नामू श्रीयसूरिप्रतीछीउ कछूलीपुरि पासजिणभूयणि
अहिठीउ ॥
सावयलोय करइ तसु भत्ती नव नवधम्ममहूसवजुत्ती ।
श्रीयसूरि आरासणिअटाही अणसणविहि पहतउ सुरनाही ।
निवीय आंबिलि सोसीय नियकाया माणिक पहसूरि वदउ पाया ।
विणठदेह जस धवलह राणी पायपखालणि हुई य पहाणी ।
माणिकसूरि जे कीध जिणधम्मपभावण इकमुहि ते किम वन्नउ भवपाव-
पणासण ॥
कालु आसन्नु जाणेवि माणिकसूरि नयरिकछुलि जाणवि गुणमणि
गिरि ।
सेठि वासलसुउ वादिगयकेसरी विरससंसारसरिनाह तारणतरी ।
सवु मेलवि सिरिपासजिणमंदिरे वेगि नियपाटि गुरु ठविउ अइसइ
परे ।
उदयसिंहसूरि कीउ नामि नाचती ए नारिगण गच्छभरु सयलु सम-
पीजए ।
सूरु जिम भवियकमलाइ विहसतओ नयरि चड्डावली ताव संपत्तओ ॥
वन्न चत्तारि वरवाणि जो रजए राउलो धधलोदेउ मणि चमकए ।
कोइ कम्माली पाऊयारूढओ गयणि खापरिथीइ भणइ हउ वादीओ ।
पडिते बंभणे तापसे हारियं राउलोधधलोदेविहि चिंतियं ।
वादिहिं जीतउ नयरो नवि कोउ हरावइ उदयसूरि जइ होए अम्ह माणु
रहावइ ॥
वस्त—जित्त नयरि य जित्त नयरि य सयलमुणिसीह ।
नीरतइ नीरु पडो गरूयदह्ढवरु करतइं ।
धधलु राउलु विन्नवइ सामि साल पइ मझि संतइं ।
बंभण तपसीय पंडीया ज त न बंधइ बाल ।
सु गुरु कम्मा लेउ निज्झणीउ अम्ह अप्पउ वरमाल ॥
वधलजिणहरि सवि मिलिय राणालोय असेस ।

उदयसूरि संभिहि सहीउ निवसइ ए निवसइ ए निवसइ वरहरि पीठि ॥
सत्तिपमाणी हरावीउ मंत्रिहिं ए मंत्रिहिं ए मंत्रिहिं धाडुकमठो ॥
सेयवर सउ हिव रहिले जे गुरु सिद्धिहिं पंथा ।
विहसरु भावसु परिपलि जे संपीउ ए संपीउ ए संपीउ दंडु पयंडो ॥
तउ गुरि मुहतां मिलिइकरि हाइ गरखु पयोय ।
भाईउ लीधउ संघुपडे गिलीउ ए गिलीउ ए गिलीउ छालमुयगो ॥
पाडपिल्लि वि समुहीय बरबरसु यीउ वायो ।
ओपणहार सवि पलमलीय हीयडई ए हीयडई ए हीयडइ पडीउ वायो ॥
तउ गुरि मूकीउ रयहरणु कीधउ सीहु करालो ।
नामइ ज वा दूरि यीउ हरिसीउ ए हरिसीउ ए हरिसीउ नयरु सवालो ॥
इरयंतरि मुणि गमणठिय तसु सिरि पाडीय ठीव ।
हुउ कमालीउ कालमुहो लोकिहिं ए लोकिहिं ए लोकिहिं वाइय पूंब ॥
लंबीउ माणु कवालमरो धाईउ मंडइ पाय ।
समि समि सामि पसाउ करी जीवउं ए जीवउ ए जीवउं तइ सुखि राय ॥

वस्तु—ताव संधीउ ताव संधीउ ठीम मंतेण ।
गणहरि करि कम्मालीयइ भिसमरीउ भप्पीउ मुहविया ।
रामिहिं जिम वामसइ इक निसुव सु हरीउ सत्तीया ।
धाराबरसि कर्मवसमि भिडीउ ढिंसीउ साम ।
प्रतपउ कोडि वरीस जिनउदयसूरिरवि जाम ॥
बडबावलिहिं विहरीउ प्रमु पहुतउ मेवाडि ।
पासु नमंसीउ नागद्रहे समोसरीउ आहाडि ॥
आलु कुरालिय मीसरणी दीधउ पारउ पेटि ।
वाहीय टोबरु पइ भरए पहुतउ पमणउ पेटि ॥
केवलिमुकति न जिणु भणए नारिहिं सिद्धि सवारिय ।
उदयसूरि पमरउउ पखीउ अमउ ल रामभपारिए ॥
कवलिमुकति म भवि करे नारि सेति भुव सिद्धि ।
विसमयसिद्धा भक्ति खीय लीह आहार विमुद्ध ॥

घीव पीर दीटंतु दीउ जित्तु नदिमुणिदेवि ।
गयकुभथलि आरुहीय पढमसिद्ध मरुदेवि ।।
विवरणु पिंडवि सुद्धि कीउ धमविहिग्रंथु प्रसिद्धु ।
चीयवंदणदीवीय रचीय गणहरु भूअणि प्रसिद्धु ।।
अम्हह साजणसेठे छम्मासहं कालो ।
वसतिणि ऊयरि ऊपनउ पदि टाविजि वालो ।।
तेरदुरोत्तरवरिसे अप्पउ साधेइं ।
चड्डावलि दिविहो जगि लीह लिहावी ।।
कछूली जाएवि परमकल सु गच्छभारुधरो ।
पंचम वरिस वहति सजणनदणु दीखीउ ।
देवाएसु लहेवि गोठीय सतमे वरिस लहो ।
चउदीसि मेलीउ सघु आरीठवणउ विविहपरे ।
गोतमसामिहि मत्रु आषात्रीजइ दिणी दीइए ।
जोगवहाणु वहेवि अग इग्यारइ सो पढए ।
त संजमि रणि जीतु सयरह चुकउ पचसरो ।।
गूजरधर मेवाडि मालव ऊजेणी वहू य ।
सावय कीय उवयार सघपभावण तहिं घणी य ।।
सात्रीसइ आषाढि लखमण मयधरसाहुसूत्रो ।
छयणीनयरमझारि आरिटवणाउं भीमि किओ ।।
कमलसूरि·नियपाटि सइं हथि प्रज्ञासुरि ठवीओ ।
षमीउ षमावीउ जीवु अणसणि अप्पा सूधु कीओ ।।
पणि पहुत्तउ;सुरलोइ गणहरु गंगाजल विमलो ।
तासु सीसु चिरकालु प्रतपउ प्रज्ञातिलकसूरे ।।
जिणसासणिनहचदु सुहगुरु भवीयह कलपतरो ।
ता जगे जयवत उम्हाउ जा जगि ऊगइ सहसकरो ।
तेरत्रिसठइ रासु कोरिंटावडि निम्मिउ ।
जिणहरि दितसुणत मणवछिय सवि पूरवउ ।।

[कछूलीरासः समाप्तः ।।]

स्थूलिभद्र फाग

परिचय

इस फाग की रचना आचार्य जिनपद्म ने सं० ११६ वि० में की। मंगलाचरण करते हुए कवि कहते हैं कि मैं पार्श्व जिनेन्द्र के पाँव पूजकर और सरस्वती का स्मरण करके फागबन्ध द्वारा मुनिपति स्थूलभद्र के कतिपय गुण गाऊँगा। एक बार गुण-भंडार संयमश्री के हार-स्वरूप मुनिराज स्थूलिभद्र विहार करते-करते पाटलिपुत्र में पहुँचे। मुनिराज गुरुवर आर्य संभूतिविजय सूरि के आदेश से कोशा नामक वेश्या के घर जाते हैं। वेश्या दासी से मुनि आगमन का समाचार पाते ही अति वेग से स्वागत सत्कार को दौड़ती है।

वर्षाऋतु थी। झिरमिर झिरमिर मेघ बरस रहे थे। मधुर गम्भीर स्वर से मेघ गरज रहे थे। केतकी के परिमल से वातावरण सुवासित हो रहा था। मयूर नाच रहे थे। इस कामोद्दीपन काल में वेश्या मन की बड़ी लगन से शृंगार सजती है। अंग पर सुन्दर बहुरंगी चन्दनरस का लेप करती है। सिर पर चम्पक, केतकी और जाइकुसुम का जूड़ा भरती है। अत्यन्त झीना और अमूल्य परिधान धारण करती है। वक्षस्थल पर मुक्ताहार, पग में नूपुर, कान में कुंडल पहनती है। नयन युगल को काजल से आँजकर सीमांत बनाती है।

कवि कोशा के अंग-सौंदर्य का वर्णन करता है। वह कहता है कि नव यौवन से विकसित देहवाली अभिनव प्रेम से पुलकित, परिमल-लहरी से सुवासित प्रवालखंडसम अधर बिम्बवाली उत्तम चम्पकवर्णा सलोने नयनवाली मनमोहक हाव भाव से पूर्ण होकर मुनिवर के समीप पहुँची। उस समय आकाशमंडल में देव-किन्नर जिज्ञासा से यह कौतुक देखने लगे।

कोशा अपने नयन-कटाक्षों से बारबार मुनिवर पर प्रहार करने लगी किन्तु उनपर काम-बाणों का किंचित् प्रभाव न देखकर अन्त में बोली "हे नाथ बारह वर्ष का प्रेम आपने किस प्रकार विस्मृत कर दिया। आपके विरहताप से मैं इतने दिनों तक सन्तप्त रही। आपने मेरे साथ इतनी निष्ठुरता का बर्ताव क्यों किया?

स्थूलिभद्र बोले— वेश्या व्यर्थ ही इतना श्रम न करो। लौह-निर्मित मेरे हृदय पर तुम्हारे वचनों का कोई प्रभाव न पड़ेगा।'

कोशा विलाप करती हुई कहने लगी—"नाथ, मुझपर अनुराग कीजिए। ऐसे मोहक पावस-काल मे मेरे साथ आनद मनाइए।"

मुनिवर—"वेश्या, मेरा मन सिद्धिरमणी के साथ आनद करने और सयमश्री के साथ भोग करने मे लीन हो गया है।"

कोशा—"हे मुनिराज मुझे छोड़कर आप सयमश्री के साथ क्यो रमण कर रहे हैं" ?

मुनिवर—"कोशा, चिन्तामणि को छोड़कर पत्थर कौन ग्रहण करेगा ? बहु-धर्म-समुज्ज्वल सयमश्री को तजकर तेरा आलिंगन कौन करे ?"

काशा—"पहले हमारे यौवन का फल लीजिए। तदनतर सयमश्री के साथ सुखपूर्वक रमण कीजिए।"

मुनि—"समग्र भुवन मे कौन ऐसा है जो मेरा मन मोहित कर सकता है ?" मुनिवर का अटल सयम देखकर कोशा के चित्त में विस्मय के साथ सुख उत्पन्न हुआ। देवताओं ने सतुष्ट होकर कुसुम वृष्टि करते हुए इस प्रकार जय जयकार किया—"स्थूलिभद्र, तुम धन्य हो, धन्य हो! तुमने कामदेव को जीत लिया!"

इस प्रकार कोशा के गृह में चतुर्मास व्यतीत कर और उसे प्रतिबोध देकर मुनिराज अपने गुरुदेव के पास पहुँचे। दुष्कर से भी दुष्कर कार्य करने वाले शूरवीरों ने उनकी प्रशसा की। सुरनर-समाज ने उस यशस्वी को नमस्कार किया।

खरतरगच्छवाले जिनपद्मसूरिकृत यह फाग रमाया गया। चैत्र महीने में खेल और नाच के साथ रग से इस रास को गाओ।

"सिरि-थूलि भद्द फागु"

कवि जिन पद्म सं० १३६० वि०

पणमिय पासजिणिंद-पय अनु सरसइ समरेवी।
थूलिभद्द-मुणिवइ भणिसु फागु-बंधि गुण केवी॥ १

[प्रथम भास]

(अह) सोहग सुन्दर रूपवंतुगुण-मणि-भंडारो
कंचण जिम झलकंत-कंति संजम सिरि-हारो।
थूलिभद्दमुणिराउ जाम महियलि बोहंतउ
नयरराय-पाडलिय-माहि पहुतउ विहरंतउ॥ २

बरिसालइ चउमास-माहि साहू गहगहिया
लियइ अभिग्गह गुरुह पासि निय-गुण-महमहिया।
अज्ज-विजयसंभूय-सूरि गुरु-वयण मोकलावइ
तसु आएसि मुणीस कोस-वेसा घरि आवइ॥ ३

मंदिर-तोरणि आवियउ मुणिवरु पिक्खेवी
चमकिय चित्तिहि दासडिय वेगि जाइ वधावी।
वेसा अतिहि उतावलि य हारिहिं लहकंती
आविय मुणिवर राय-पासि करयल जोडंती॥ ४

धम्म-लाभु मुणिवइ भणवि चित्रसाली मंगावी
रहियउ सीह-किसोर जिम धीरिम हियइ धरावी॥ ५

[द्वितीय भास]

झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा वरिसंते
खलहल खलहल खलहल ए वाहला वहंते॥
झबझब झबझब झबझब ए वीजुलिय झबझब
थरहर थरहर थरहर ए विरहिणि-मणु कंपइ॥ ६

महुर-गॅभीर-सरेण मेह जिम जिम गाजते
पंचबाण निय कुसुम-बाण तिम तिम सांजते ॥
जिम जिम केतकि महमहंत परिमल विहसावइ
तिम तिम कामिय चरण लगि निय रमणि मनावइ ॥ ७

सीयल-कोमल-सुरहि वाय जिम जिम वायते
माणमडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचते ॥
जिम जिम जल-भर-भरिय मेह गयणंगणि मिलिया
तिम तिम पंथिय-तण नयणा* नीरिहिं झलहलिया ॥ ८

मेहारवभरऊलटि य जिम जिम नाचइ मोर
तिम तिम माणिणि खलभलइ साहीता जिम चोर ॥ ९

[तृतीय भास]

अइ सिंगारु करेइ वेस मोटइ मन-ऊलटि
रइय (?) अंगि बहु-रंगि चंगि चंदण-रस-ऊगटि ॥
चंपक-केतकि-जाइ-कुसुम सिरि खुंप भरेई
अति-अच्छउ सुकुमाल चीरु पहिरणि पहिरेइ ॥ १०

लहलह-लहलह-लहलहए उरि मोतिय हारो
रणरण-रणरण-रणरणए पगि नेउर-सारो ॥
झगमग-झगमग-झगमगए कानिहि वर कुंडल
झलहल झलहल-झलहलए आभरणहं मंडल ॥ ११

मयण-खग्गु जिम लहलहए जसु वेणी-दंडो
सरलउ तरलउ सामलउ (?) रोमावलि दंडो ॥
तुंग पयोहर उल्लसइ [जिम] सिंगारथवक्का
कुसुम-बाणि निय अमिय-कुंभ किर थापणि मुक्का ॥ १२

कज्जलि-अंजिवि नयण जुय सिरि सइँथउ† फाडेई ।
वोरीयाँवडि-कंचुलिय पुण उरमंडलि ताडेइ ॥ १३

---

* पाठभेद—कामी तणा नयण ।
† पाठभेद (सथउ) ।

[चतुर्थ-मास]

कन्न-जुयल जसु लहलहंत किर मयण हिंडोला
चंचल चपल तरंग-चंग जसु नयण-कचोला ॥
सोहइ जासु कपोल-पालि जणु गालिमसूरा
कोमल विमलु सुकंठु जासु वाजइ संख-तूरा ॥ १४

लवणिमरसभरकूवडिय जसु नाहिय रेहइ
मयणराम किर विजयखंभ जसु ऊरु सोहइ ॥
जसु नहपल्लव कामदेव अंकुस जिम राजइ
रिमिझिमि रिमिझिमि पाय-कमलि घाघरिय सुवाजइ ॥ १५

नवजोवण विलसंत देह नवनेह गहिल्ली
परिमल-लहरिहिं मयमयंत रइकेलि पहिल्ली ॥
अहर-बिंब परवाल-खंड वर-चंपावन्नी
नयणा-सलूणीय हाव भाव बहु-रस-संपुन्नी ॥ १६

इय सिंगार करेवि वर जउ आवो मुणि पासि
जोएवा कउतिगि मिलिय सुर-किंनर आकासि ॥ १७

[पंचम-मास]

मह नयणा कडक्खिहिं आहणए बांकउ जोयंती
हाव-भाव सिंगार-भंगि नवनविय करंति ॥
तहवि न भीजइ मुणि-पवरो तउ वेस बोलावइ
तवणातुल्लु तुह विरह, नाह ! मह तणु संतावइ ॥ १८

बारहं वरिसहं तणउ नेहु किणि कारणि छंडिउ
एवडु निठुरपणउ काइं मू-सिउं तुम्हि मंडिउ ॥
थूलि भद्द पभणेइ वेस ! अह-खेदु न कीजइ
लोहिहि घडियउ हियउ मज्झ, तुह वयणि न भीजइ ॥ १९

'मह विलवंतिय उवरि नाह ! अणुराग धरीजइ
एरिसु पावस-कालु सयलु मू-सिउं माणीजइ ॥
मुणिवइ-जंपइ 'वेस ! सिद्धि-रमणी परिणाया
मणु लीणउ संजम-सिरीहिं सिउं भोग रमेवा' ॥ २०

भणइ कोस 'साचउँ कियउँ 'नवलइ राचइ लोउ'
मू ं मिल्हिवि सजम-सिरिहिं जउ रातउ मुणि-राउ' ॥ २१

[षष्ठ-भास]

उवसमरसभरपूरियय उ (?) रिसिराउ भणेई
'चितामणि परिहरवि कवणु पत्थरु गिह णेइ ॥
तिम सजम-सिरि परिवएवि वहु-धम्म समुज्जल
आलिंगइ तुह, कोस ! कवणु पसरत्त-महावल' ॥ २२
'पहिलउ हिवडॉ' कोस कहइ 'जुव्वण-फलु लीजइ
तयणंतरु'सजमसिरीहि सिउँ सुहिण रमीजइ' ॥
मुणि वोलेइ ज मइँ लियउ त लियउ ज होइ (?)
केवणु सुअच्छइ भुवण-तले जो मह मणु मोहइ' ॥ २३
इणिपरि कोसा अवगणिय थूलिभद्द मुणिराइ ।
तसु धीरिम अवधारि-करि चमकिय चित्ति सुहाइ ॥ २४

[सप्तम-भास]

अइ-वलवतु सु मोह-राउ जिणि नाणि निधाडिउ
भाण खडग्गिण मयणसुहड समरंगणि पाडिउ ॥
कुसुम-वुट्ठि सुर करइ तुट्ठि तह जय-जय-कारो
'धनु धनु एहु जु थूलिभद्दु जिणि जीतउ मारो' ॥ २५
पडिवोहिवि तह कोस-वेस चउमासि अणतरु
पालिअभिग्गह ललिय चलिय गुरु पासि मुणीसरु ॥
'दुक्कर-दुक्कर-कारगु' त्ति सूरिहिं सु पसंसिउ
सख-समज्जल-जसु लसतु सुर*-नारिहिंनमसिउ ॥ २६
नदउ सो सिरि-थूलिभद्दु जो जुगह पहाणो
मलियउ जिणि जगि मल्लसल्लरइवल्लह-माणो ॥
खरतर-गच्छि जिण-पदम-सूर-किउ फागु रमेवउ
खेला-नाचइँ चैत्र-मासि रगिहि गावेवउ ॥ ० २७

---

* पाठभेद—सुरनरह ।

पंचपंडवचरितरास

पूर्णिमागच्छ के शालिभद्रसूरि कृत

(१४१० वि० सं)

परिचय

इस रास की रचना देवचन्द्र की आज्ञा से पूर्णिमागच्छ के शालिभद्र सूरि ने की। कवि ने नर्मदा तट पर नाद उद्र (वर्तमान नांदोद) नामक नगर में इसका प्रणयन किया। इस काव्य का कथानक तंदुलवेयालीयसुत्त के आधार पर निर्मित है। प्रथम ठवणी में जह्नुकन्या गंगा का शांतनु के साथ विवाह दिखाया गया है। गंगा का पुत्र गांगेय हुआ। गंगा अपने पुत्र के साथ पितृगृह चली गई और चौबीस वर्ष तक वहीं रही। पति के मृगया प्रेम से उसे वितृष्णा हो गई और वह पितृगृह में ही रहने लगी।

शान्तनु मृगया खेलकर यमुना तट पर स्थित एक विशाल उपवन में विश्राम किया करते। गंगा अपने पुत्र के साथ प्रायः उस उपवन में जाती।

ठवणी २

गांगेय अपने पिता से मृगया से उपराम ग्रहण करने का अनुरोध करते किन्तु वे कब मानने वाले। एक दिन दोनों में युद्ध छिड़ गया। गंगा ने मध्यस्थ बन कर युद्ध बंद करा दिया और गांगेय को पिता के साथ हस्तिनापुर भेज दिया।

इसी ठवणी में शान्तनु का केवट कन्या सत्यवती से विवाह दिखाया गया है। गांगेय (भीष्म) आजीवन उत्तराधिकार पद त्याग की प्रतिज्ञा करते हैं।

ठवणी ३

कालान्तर में सत्यवती का पुत्र विचित्रवीर्य सम्राट् बनता है। गांगेय काशिराज की तीन कन्यायें—

अम्बिका अंबालिका और अम्बा को अपहृत कर लाते हैं और उनका विचित्रवीर्य से विवाह कर देते हैं। तीनों रानियों से क्रमशः धृतराष्ट्र पांडु और विदुर का जन्म होता है, तदुपरान्त पांडु और कुन्ती के विवाह का वर्णन

एव कर्ण के जन्म की कथा मिलती है। धृतराष्ट्र के साथ गाधारी के विवाह का उल्लेख है और माद्री के साथ पाडु के दूसरे विवाह का वर्णन मिलता है।

इस ठवणी मे पाँचों पाडवो और सौ कौरवो के जन्म का वृत्तात है।

ठवणी ४

पाडवों के प्रति दुर्योधन के उपद्रव, कृपाचार्य और द्रोणाचार्य के साथ कौरवों की मत्रणा, एकलव्य की बाण-विद्या, राधावेध नामक बाण-विद्या की शिक्षा, अर्जुन का द्रोण की रक्षा का वर्णन सक्षेप मे मिलता है।

ठवणी ५

इस ठवणी में कर्ण और दुर्योधन की मैत्री, द्रौपदी-स्वयवर और उसमें राजकुमारो का आगमन वर्णित है।

स्वयवर में द्रौपदी अर्जुन को जयमाला पहनाती है, इसी समय चारण मुनि द्रौपदी के पूर्व जन्म की कथा सुनाते हैं जिससे ज्ञात होता है कि उसने

ठवणी ६

पाँच पतियों को एक ही समय में प्राप्त करने का वरदान पाया था। यह कथा सुनाकर चारण मुनि आकाश में उड़ जाते है। पाँचो पाडवों को कई प्रतिबध लगाये गए है और यह निर्णय हुआ कि जो एक भी नियम का उल्लघन करेगा उसे बारह वर्ष का वनवास मिलेगा। अर्जुन को नियमोल्लघन के कारण बारह वर्ष का वनवास मिला। बन में उन्होंने आदिनाथ को प्रणाम किया और अपने मित्र मणिचूड़ की बहिन का उद्धार उसके अपहर्त्ता के हाथों से करके उसके पति हेमागद को समर्पित कर दिया।

इसमें युधिष्ठिर के राजसिंहासन पर आसीन होने का वर्णन है। मणिचूड़

ठवणी ७

की सहायता से एक विशाल सभागृह निर्मित हुआ। दुर्योधन और कृष्ण उसमें आमत्रित हुए। दुर्योधन ने द्यूत-क्रीड़ा के लिए युधिष्ठिर को आह्वान किया। द्रौपदी का अपमान होता है और पाडव कौपीन धारण करके वन मे निर्वासित होते हैं।

बारह वर्ष के वनवास की गाथा इस भाग में वर्णित है। भाग में भीमन किर्मीर राक्षस का वध करते हैं। अब काम्यकवन की कथा आती है। वारणावत नगर में लाक्षागृह के भस्म होने और विदुर के संकेत द्वारा कुंती एवं द्रौपदी-सहित पांडवों के सुरंग में निकल भागने का वर्णन है। यह जैन सिद्धान्तानुसार भाग्यवाद का विवेचन है।

टपणी ८

टपणी ६

भीम का हिडिम्बा के साथ विवाह होता है।

पांडव वन में भ्रमते हुए एकचक्रपुर पहुँचते हैं। भीम बकासुर का वध करते हैं। दुर्योधन को यह समाचार ज्ञात होता है इस काल में पांडव द्वैतवन पहुँचकर एक पर्णकुटी बना रहते हैं। प्रियंवद के द्वारा दुर्योधन और कर्ण के आगमन की सूचना मिलती है और द्रौपदी इन दोनों शत्रुओं के वध का आग्रह करती है किन्तु युधिष्ठिर विरोध करते हैं।

टपणी १०

अर्जुन और विद्याधर पुत्र के युद्ध का वर्णन है। विद्याधर के द्वारा इन्द्रभवन का पता चलता है। इंद्र का भाई विद्यु माली अपने भ्राता का विरोधी बनकर दानवों का सहायक बनता है। अर्जुन दानवों को पराजित करता है और इंद्र उसे अस्त्र-शस्त्र प्रदान करता है।

टपणी ११

इसी काल हिडिम्बा के पुत्र होता है और आकाश से एक कमल उतरता दिखाई पड़ता है जो सरोवर में डूब जाता है। पांडव सरोवर में उसके अनुसंधान का निष्फल प्रयास करते हैं। दूसरे दिन एक व्यक्ति वह स्वर्ण कमल लेकर उपस्थित होता है और यह संवाद देता है कि यह स्वर्ण कमल इंद्र-रथ के झटके से टूटकर पृथ्वी पर गिरा है। इंद्र रथारूढ़ होकर ऐसे महात्मा को छूने जा रहे थे जिन्हें पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गई है। इंद्र ने कुंती और द्रौपदी को ध्यान निमग्न देखकर पाताल लोक के नागराज के बंधन में जकड़े पांडवों की मुक्ति की। वनवास के पांच वर्ष व्यतीत होने पर पांडव द्वैतवन में निवास करते हैं। दुर्योधन की स्त्री से सूचना पाकर पांडव चित्रांगद नामक विद्याधर के बन्धन से उसके पति की मुक्ति करते हैं।

दुर्योधन का वहनोई (भगिनिपति) जयद्रथ द्रौपदी-हरण करता है किन्तु भीम और अर्जुन उसे युद्ध में पराजित करते हैं। अपनी वहिन के विधवा होने के भय से वे जयद्रथ का वध नहीं करते।

ठवणी १२ — दुर्योधन की घोषणा पाकर पुरोहित-पुत्र पाडवो पर कृत्या का प्रयोग करता है। नारद पाडवो को कृत्या-प्रभाव से मुक्ति के लिए ईश्वर-ध्यान का परामर्श देते हैं। कृत्या के प्रभाव से पाडव मूर्च्छा में पड़ जाते हैं किन्तु एक पुलिन्द (जाति-विशेष) उन्हें मत्रबल से चेतनता प्रदान करता है।

विराटराज के यहा १३ वें वर्ष का गुप्त वनवास इस भाग मे वर्णित है। पाडवों का कृष्ण की नगरी में पहुँचना, कृष्ण का दुर्योधन के सम्मुख पाडवों के लिए राज्य का एक भाग दे देने का

ठवणी १३ — प्रस्ताव रखना, दुर्योधन का प्रस्ताव ठुकराना, कृष्ण को अपमानित करना, कृष्ण का कर्ण को दुर्योधन के साथ युद्ध मे सम्मिलित न होने का परामर्श देना, कर्ण का दुर्योधन की सहायता मे दृढ रहना आदि वर्णित है।

इस भाग में महाभारत युद्ध के लिए की जानेवाली तैयारी का वर्णन। ७०४ से ७६१ तक की पक्तियों मे युद्ध का वर्णन

ठवणी १४ — है। पाडवों के विजयी होने एव उनके हस्तिनापुर आगमन की कथा दी गई है। इस ठवणी की वर्णन-शैली भरतेश्वर-वाहुवलिरास से प्रायः मिलती जुलती है।

यह भाग उपसहार सूचक है। इसमें नेमिमुनि के उपदेश से पाडव जैनधर्म स्वीकार करते हैं। वे लोग परीक्षित को राज्य प्रदान कर स्वय मुनि वन जाते हैं। जैनाचार्य धर्मघोषु उन्हें पूर्व

ठवणी १५ — जन्म की कथा सुनाते हैं कि वे प्रथम जन्म में सुरति, शतनु, देव, सुमति और सुभद्र थे। पाडव किस प्रकार अणुत्तर स्वर्ग से गिर कर पृथ्वी पर आए और अव उनकी मुक्ति किस प्रकार होगी—इसका वर्णन अन्त में दिया गया है।

———

पचपडवचरितरासु

रचयिता—शालिभद्रसूरि

नेमिजिणिंदह पय पणमेवी
सरसति सामिणि मनि समरेवी
अमिकि माळी अणुसरउ ॥ १

आगइ द्वापर माहि जु वीतो
५ पचइ पडव तणउ चरीतो
हरखि हियां नइ हुं भणउं ॥ २

रासि रसाउलु चरीउ सुणीजइ
किम रयणायरु हीयइं तरीजइ
सानिधि सासणदेवि तणइ ॥ ३

१० आदिजिणेसर केरउ नंदणु
कुरुनरिंदु हूउ कुलमंडणु
तासु पुतु हुउ हाथियउ ॥ ४

तीणइ थापिउ तिहुयणसारो
बीजउ अमरापुरि अवतारो
१५ हथिणाउरपुर नामीयए ॥ ५

तिणि पुरि हूउ संति जिणेसरु
संपइ संतिकरउ परमेसरु
चक्कवट्टि जिणि पंचमउ ॥ ६

तिणि कुलि सुणीइ संतणु राओ
२० भूयवलि भडइ रिउभडिघाओ
राणि जसु गरिणु करए ॥ ७

अमरदिवसि आहेडइ चल्लइ
पारधिवसणु सु किम्मइ न मिल्हइ
वलु मेल्ही दूरिहि गयआ ॥ ८

२५ हरिणु एकु हरिणी सुं खेलइ
कोमलवयणि हरिणी बोलइ
"पेखि पेखि प्रिय पारधीउ" ॥ ९

सरु साधी राउ केडइ धाइ
हरिणउ हरिणी सहितु पुलाइ
३० ऊजाईउ गिउ गंगवणे ॥ १०

नयणह आगलि गयउ कुरंगू
राय चींति जां हूयउ विरंगू
जोइ वामु दाहिणउं ॥ ११

ता वणि पेखइ मणिमइ भूयणु
३५ तींछे निवसइ नारीरयणु
खणि पहुतउ राउ धवलहरे ॥ १२

जन्हुनरिंदह केरी धूय
गंगा नामि रइसमरूय
ऊठइ नरवइ सामुहीय ॥ १३

४० पूछइ राजा "कहि ससिवयणि
इणि वणि वसीइ कारणि कमणि"
बोलइ गंग महासईय ॥ १४

"जो अम्हारु वयणु सुणेसिइ
निश्चि सो वरु मइ परिणेसिइ
४५ खेचरु भूचरु भूमिधरो" ॥ १५

त जि वयणु राइ मानीजइ
जन्हुराय वेटी परिणीजइ
परिणी पहुतउ नियघरे ॥ १६

ए पुत्तु तसु कूखि ऊपन्नउ
५० विद्यालक्षणगुणसंपन्नउ
कला वाहत्तरि सो पढए ॥ १७

गंगनामि गंगेउ भणीजइ
क्रमि क्रमि जुव्वणि तिणि पसरीजइ
बीज तणी ससिरेह जिम ॥ १८

५५ निसु निसु राउ आहेडइ चल्लइ
रोसि भरी राणी इम बुल्लइ
"प्रियतम पारधि मन करउ" ॥ १९

राइ न मानी गगा राणी
तीणइ दूखि मनि कुमलाणी
६० पूत लेइ पीहरि गइय ॥ २०

धनुपकला आरखउ पढावइ
जीवदया नियचिति रहावइ
साथि चारणमुनि तणइ ॥ २१

सावउ आणइ जिणधर्ममागो
६५ तउ मनि नूयउ लागइ विरागो
गंगानंदणु वधि वसए ॥ २२

वस्तु

राउ संतणु राउ संतणु वयणु चुक्केवि
आहेडइ चल्लीउ पावपसरि मनि माहि मूंभिउ
पूतु लेउ पीहरि गई *गंग तीया भवमाहि वूमीय*
वात सुणी पाछउ वलइ जां नवि देखइ गंग
७१ चउवीसं [वासं] रहइ निम्मु रइहीणु [अभंगु] ॥ २३

ठवणी ॥ १ ॥

आइ मनमाहि नरिंदो पारधि संभावइ
सई दलि रमलि करंतउ गंगातडि आवइ ॥
गंगतडा तडि मंडइ जोयणु
विस्तरि वीरपि बारह जोयणु
७५ पासहरा वागुरीय वहूय
पहुय चरिस कोलाहलु हुय ॥
दह दिसि नासइं हाक पहु जीव पियासइं
एकि धुसइ एकि भायइं एकि भागलि नासइं ॥
इहविधि इम जां पसु आरोडइं

८० जीव विणासइं तरुयर मोडइं
जा इम दलवइ पारधि लागइ
ताम असभमु पेखइ आगइ ॥
विहुं खवेव दो भाथा करयलि कोदंडो
८५ वालविसह वालो भुयदंडपयडो ॥

राय पासि पहिलुं पहुचेई
पय पणमी वीनती करेई
"सांभलि वाचा मुझ भूपाल
इणि वणि अछउ अम्हि रखवाल ॥
९० जेती भुइं तूं राओ तेती तू सरणि

मुझ मनु का इम दूमइ जीवह मरणि" ॥
तासु वयणु अवहेलइ राओ
अति घणु घल्लइ जीवह घाउ
कोपि चडिउ तसु वणरखवालो
९५ धनुपु चडावइ जमविकरालो ॥

हाकी भड ऊठाडइ आगला ति पाडइ
सरसे जपउ ढाढइ राउत रंसाडइ ॥
वेटउ रूडु करतउ जाणी
ताखणि आवी गगाराणी
१०० वेउ पखि झूझु करंता राखइ

नियप्रिय आगलि नंदणु दाखइ ॥
देखी गगाराणी राजा आणदिउ
मेल्ही सवि हथियार वेटउ आलिंगिउ ॥
राउ भणइ "मइं किसउं पवारउ
१०५ हिव तुम्हि मइं सु घरि पाउधारो

राजु तुम्हारुं पूत्तु तुम्हारउ
अजीउ गगे किसु विचारउ" ॥
पूत्ति भतारिहिं देवी अतिघणुं मनावी
पूत्तु समोपीउ सय आपणि नवि आवी ॥
११० पिता पुत्त वेउ रगिं मिलीया

देवि सुकलीवी पाला बलीया
हथिणाउरि पुरि राजु करेइ
अणु जिम दीहा बहूय गमेइ ॥
अमरिसुंवरि रामलि करंतउ ।
११५ जमणातडा तहि राउ पहूतउ ।

तस खेलंती दीठी बाल
बेडी बइठी रूपविसाल ॥
पूछइ बेडीवाहा केडी
"ए कुण दीसइ बइठी बेडी" ।
१२० बेडीवाहा बणु जु स्वामी

राय पासि पभणइ सिरु नामी ॥
'ए अम्हारा कुलसिणगारी
सामी कहइ अछीय कुंयारी
कोइ न पामुं वरु अभिरामु
१२५ सफलु करुं जिम दैवह कामु ॥'

तसु परि अइसी राउ सा बाली मागइ
बाव स बेडीवाहा पुण चींति न लागइ ॥
'सांभलि स्वामी अम्ह परसूतो
तुम्ह घरि अछइ गंगापूतो ।
१३० मई बेटी अउ तुम्हह देवी

तउ सइ हथि दूख भरेवी ॥
कुरुवंसह केरउ मंडणु
राजु करेसि गंगानंदणु ।
धीय महारी तणां जि बाल
१३५ ते सवि पामइ दूख कराल ॥

तुम्ह पासिं तुम्हि किसुं कहावउ
तुम्हि अम्हारी धीय न पामउ" ।
इम निसुणीउ परि पहुतु नरिंदा
जिम विम्पावसि हरीउ करिंदो ॥
[१४० मनि चिंतइ सा बाल कुणबइ म कहइ

अगे लागी झाल जिम देहु दहेई ॥
कूयरु वेडीवाहा मंदिरि
जाईउ मागइ सा इ जि कूयरि ।
वेढीवाहइं तं जि भणीजइ
१४५ तीछे कूंयरि प्रतिज्ञा कीजइ ॥
मंत्रि मउडउधा सहूइ तेडइ
वेढीवाहा भ्रति सु फेडइ
"वयणु अम्हारुं म पडउ पाखइ
देवादेवी सहूयइ साखिइ ॥
१५० निसुणउ मइ जि प्रतिज्ञा कीजइ
चांदुलडइ चिय नामु लिहीजइ ।
एकु राजु अनइ परिणेवु
मइ अनेरइ जनमि करेवु" ॥
निसुणीउ वयणु गभेलउ बोलइ
१५५ "कोइ न तिहुयणि जो तुझ तोलइ ।
निसुणउ हिव इह कन्न वृतंतू
एह रहइ होइ सतणु कंतू ॥

॥ वस्तु ॥

नयरु अच्छइ नयरु अच्छइ रयणउरु नामि
रयणसिहरु नरवरु वसइ तासु गेहि एह बाल जाईय
१६० विद्याधरि अपहरीय जातमात्र तडि जमण मिल्हीय
इसीय वाच गयणह पडी तउ मइ लिद्ध कुमारि
सत्यवती नामिं हुसिए सतणघरनारि" ॥

[ठवणि ॥ २ ॥]

पणमीउ सामीउ नेमिनाहु अनु अंबिकि माडी
पभणिसु पडव तणउ चरितु अभिनवपरिवाडी ॥
१६५ हथिणाउरि पुरि कुरुनरिंद केरो कुलमडणु
सहजिहि सतु सुहागसीलु हूउ नरवरु सतणु ॥
तसु घरि राणी अछइ दुन्नि एक नामिं गंगा

पुत्तु आउ गगेउ नामि सिरि तिहूरिंग चंगा ॥
मत्स्यगंधी छइ अवर नारि तसु नंदण दुन्नि
१७० मये सलक्खण रूपवंत मनु कंचगावन्नि
पहिउलउ बेटउ करमदोसि बालप्पणि विवनउ
विचित्रवीर्यु बीजउ कुमारु बहुगुणसंपन्नउ ॥
राउ पहूतउ सरगलोकि गगेयकुमारिं
तउ लघु बंधवु ठविउ पाटि सिरि वयणविचारिं ॥
१७५ कासीसरघरि तिन्नि धूय अंबिकिं अंबाला
श्रीजी अंबा अछइ बाल मयणह जयमाला ॥
परिणाबेवा तीहं बाल सयंवरु मंडाविउ
गंगानंदणु बहीउ रोसि अणतेडउ आव्यो ॥
समरि जिणीय सवि राय बाल लेउ विराहइ आव्यो
१८० बडउ महोच्छउ करीउ नयरि बंधनु परिणाव्यो ॥
अंबिकि बेटउ धायरट्ठ सो नयणे आंधउ
अबाला नउ पुत्त पंडुत्तिहु भुयणि प्रसिद्धउ ॥
अंबानंदणु विदुरु नामु नामि जि सरीखउ
साइ सीराइ पुणु विचित्रवीर्युपहु राजि प्रतीठिउं ॥
१८५ कुंतादेवि नउं लिखिउ रूपु देखीउ चित्रामि
माहिउ पंडु नरिंदु बीति अति लीघउ कामि ॥
विद्याधर वनि कुणिहिं एकु मेल्हिउ छह वांधी
छोडिउ पंडुकुमारि पासि तसु मुद्रा लाधी ॥
एवइ अंधकवृष्णि नामि सोरीपुरसामी
१९० दस बेटा तसु एक धूय कुंतादेवि नामी ॥
पाटी आपणहार पुरुषु सोरियपुरि पहुतउ
'पंडु वरीउ' पिय पासि कुंयरि संभलइ कहंतउ ॥
नवि जीमइ नवि रमइ रंगि नवि सहीय बोलावइ
बालावी वी पहीय आइ अणखेडी आवइ ॥
१९५ खीजइ मूंमइ रडइ बालजिम सयर संतावइ

[१८१] आंधउ पाठान्तर आंधउ ।
[८१] नाणु न मु ।

कमलि णिकारणि यण समाधि सा किमइ न पामइ ॥
चडु य चदणु हीयइ हारु अगार समाणउ
'कुणहइ काई दहइ दूखु जाणीइ तु जाणउ ॥
नीलजु निघिणु मइं अजाणु कांइ मारइ मारो
२०० ईणि जनमि मुझ पडुकुमर विणु नही य भतारो' ॥
विरहि विरागीय वण मझारि जाईउ मणि झायइ
'लवणिम जूवणु रूपरेह ता आलिहि जाइ' ॥
कठि ठवइ जां पासु डाल तरुयर णी' ' ' '
आविउ मूद्रप्रभावि ताम मनि चिंतिउ सामि ॥
२०५ परिणीय आपी पडुकुमरि आपणीय जि थवणी
सहीयर वलि एकंति हुई पुत्तु जायउ रमणी ॥
गग प्रवाहिउ रयण माहि घालिउ मंजूस
काजइ पातकु पुण्यवंति कइ लाज कि रीस ॥
जाणीउ राइ कुंतिचितु पडु जु परिणावइ
२१० लिहिउ जासु निलाडि जाम त सुजु आवइ ॥

॥ वस्तु ॥

सवलु नरवरु सवलु नरवरु देसि गधारि
कुयरि तसु तणए आठ धीय गधारि पहिलीय
कुलदेवलिआइसिं धायरट्ठ नरनाह दिन्हीय
देवकनरवइ नंदणी कुमुइणि विदुरकुमारि
२१५ बीजी मद्रकि मद्रधूय पडुतणइ घरनारि ॥
गभु धरीउ गभु धरीउ देवि गधारि
दुट्ठत्तणि डोहलउ कूड कलहि जण झुझि गज्जइ
पुरुपवेसि गइवरि चडई सहड जेम मनि समरु सज्जइ
गानि रडता वदीयण पेखीउ हरिखु करेइ
२२० सासु ससरा कुणवि सु अहनिसि कलहु करेइ ॥

(ठवणी ॥ ३ ॥)

पुन्नप्रभाविहि पामीयउ पहिलु कुतादेवि
पुन्नमणोरहु पूत्त पुण सुमिणा पंच लहेवि ॥

---

[१९७] पाठान्तर चडु न ।

[२०४] पाठान्तर प्रभाति प्रभावि का ।

देखि मुकलीया पाला वलीया
हथिणाउरि पुरि राजु करेइ
भगउ जिम दीहा पहुच गमेइ ॥
अमरिपुरवरि रामलि करंतउ
११५ अमणावउ तवि राउ पहुतउ ।

जल खेलंती दीठी बाल
वेवी मछठी रूपविसाल ॥
पूछइ वेवीवाहा तेवी
"ए कुण दीसइ मछठी वेवी" ।
१२० वेवीवाहा तणु जु स्वामी

राय पासि पभणइ सिरु नामी ॥
'ए अम्हारा कुलसिणगारी
सामी अछइ अजीय कुंयारी
कोइ न पामुं वरु अभिरामु
१२५ सफलु करउं जिम देवह कामु॥

वसु भरि वछली राउ सा वाली मागइ
बाव स वेवीवाहा पुणा पीति न लागइ ॥
सांभलि स्वामी अम्ह परसूतो
तुम्ह घरि अछइ गंगापूतो ।
१३० मई मटी जउ तुम्हह देवी

तउ सई हर्षि पूख मरवी ॥
कुरुवंसह केरउ मंडणु
राजु करेसि गंगानंदणु ।
धीय महारी वर्णा जि बाल
१३५ ते सवि पामइ पूख कराल ॥

मुझ पासि तुम्हि किसुं कहावउ
तुम्हि अम्हारी धीय न पामउ' ।
इम निसुणी5 घरि पहुतु नरिंदो
जिम विम्यावलि हरीय करिंदो ॥
[१४० मनि चिंतइ सा बाल कुणहइ न कहेई

अगे लागी झाल जिम देहु दहेई ॥
कूयरु वेडीवाहा मंदिरि
जाईउ मागइ साइ जि कूयरि ।
वेडीवाहइ तं जि भणीजइ
१४५ तीछे कूंयरि प्रतिज्ञा कीजइ ॥

मंत्रि मउडउधा सहूइ तेडइ
वेडीवाहा अति सु फेडइ
"वयणु अम्हारु म पडउ पाखइ
देवादेवी सहूयइ साखिइं ॥
१५० निसुणउ मइ जि प्रतिज्ञा कीजइ

चाहुलडइ चिय नामु लिहीजइ ।
एकु राजु अनइ परिणेवु
मइं अनेरइ जनमि करेवु" ॥
निसुणीउ वयणु गभेलउ बोलइ
१५५ "कोइ न तिहुयणि जो तुझ तोलइ ।

निसुणउ हिव इह कन्न वृतंतू
एह रहइ होइ सतणु कंतू ॥

॥ वस्तु ॥

नयरु अच्छइ नयरु अच्छइ रयणउरु नामि
रयणसिहरु नरवरु वसइ तासु गेहि एह बाल जाईय
१६० विद्याधरि अपहरीय जातमात्र तहि जमण मिल्हीय
इसीय वाच गयणह पडी तउ मइ लिद्ध कुमारि
सत्यवती नामि हुसिए सतणघरनारि" ॥

[ठवणि ॥ २ ॥]

पणमीउ सामीउ नेमिनाहु अनु अंबिकि माडी
पभणिसु पडव तणउ चरितु अभिनवपरिवाडी ॥
१६५ हथिणाउरि पुरि कुरनरिंद केरो कुलमडणु
सहजिहि सतु सुहागसीलु हूउ नरवरु सतणु ॥
तसु घरि राणी अछइ दुन्नि एक नामिं गगा

पुत्तु जाउ गंगेउ नामि सिधि तिहूयणि जगा ॥
मत्स्यवती छइ अवर नारि तसु नंदण दुन्नि
१७० सये ससक्खण रूयवत अनु कंचणवन्नि

पहिलुउ बेटउ कम्मदोसि बालप्पणि विणनउ
विचित्रवीर्यु बीजउ कुमारु बहुगुणसंपन्नउ ॥
राउ पहूतउ सरगलोकि गंगेयकुमारि
तउ लघु बंधवु ठविउ पाटि विधि बयणविचारि ॥
१७५ कासीसरघरि तिन्नि धूय अंबिकि अंबाला

श्रीजी अंबा अछइ बाल मयणाइ जयमाला ॥
परिणावेवा तीह बाल सयवर मंडाविउ
गंगानंदणु बईठ रोसि ममुलेवउ आव्यो ॥
समरि जिणीय सवि राय बाल लेउ त्रिणइ आव्यो
१८० मउउ महोच्छव करीउ नयरि बंधवु परिणाव्यो ॥

अंबिकि बेटउ धायराठु सो नयणे आधउ
अंबाला नउ पुत्त पंडुनिवु गुणपणि प्रसिद्धउ ॥
अंबानंदणु विदुर नामु नामि जि सरीखउ
सइ लीयाइ पुणु विचित्रवीर्युपंडु राजि प्रतीठिउ ॥
१८५ कुंतादेवि नउं चिविउ रूपु देखीउ चित्रामि

मोहिउ पंडु नरिंदु चीति अति लीणउ कामि ॥
विद्याधरु धनि कुणिहिं एकु मेल्हिउ छइ बांधी
छोडिउ पंडुकुमारि पासि तसु मुद्रा लाधी ॥
पतइ अंधकवृष्णि नामि सोरीपुरसामी
१९० दस बेटा तसु एक धूय कुंतादेवि नामी ॥

पाटी आपणहारु पुरुषु सोरियपुरि पहुतउ
'पंडु करीउ' पिय पासि कुंयरि संभलइ कहंतउ ॥
नवि खीमइ नवि रमइ रंगि नवि सहीय बोलावइ
बालापी ती पहीय वाइ अपछरी आणइ ॥
१९५ खीजइ मूंकइ रडइ बालजिम सयरु संतावइ

---

[१८] आथउ पाठान्तर आथउ ।
[८१] नामु " नमु ।

कमलि णिकाणणि यण समाधि सा किमइ न पामइ ॥
चदु य चदणु हीयइ हारु अगार समाणउ
'कुणहइ काई दहइ दूखु जाणीइ तु जाणउ ॥
नीलजु निघिणु मइं अजाणु काइ मारइ मारो
२०० ईणि जनमि मुझ पडुकुमर विणु नही य भतारो' ॥
विरहि विरागीय वण मझारि जाईउ मणि झायइ
'लवणिम जूवणु रूपरेह ता आलिहि जाइ' ॥
कठि ठवइ जा पासु डाल तरुयर णी · ·
आविउ मूद्रप्रभावि ताम मनि चिंतिउ सामि ॥
२०५ परिणीय आपी पडुकुमरि आपणीय जि थवणी
सहीयर वलि एकति हुई पुत्तु जायउ रमणी ॥
गग प्रवाहिउ रयण माहि घालिउ मंजूस
काजइ पातकु पुण्यवंति कइ लाज कि रीस ॥
जाणीउ राइ कुतिचितु पडु जु परिणावइ
२१० लिहिउ जासु निलाडि जाम त सुजु आवइ ॥

॥ वस्तु ॥

सवलु नरवरु सवलु नरवरु देसि गधारि
कुयरि तसु तणए आठ धीय गधारि पहिलीय
कुलदेवलिआइसि धायरठ्ठ नरनाह दिन्हीय
देवकनरवइ नदणी कुमुइणि विदुरकुमारि
२१५ बीजी मद्रकि मद्रधूय पडुतणइ घरनारि ॥
गभु धरीउ गभु धरीउ देवि गधारि
दुट्ठत्तणि डोहलऊ कूड कलहि जण झुझि गज्जइ
पुरुषवेसि गइंवरि चडई सहड जेम मनि समरु सज्जइ
गानि रडता वदीयण पेखीउ हरिखु करेइ
२२० सासु ससरा कुणवि सु अहनिसि कलहु करेइ ॥

(ठवणी ॥ ३ ॥)

पुन्नप्रभाविहिं पामीयउ पहिलुं कुतादेवि
पुन्नमणोरहु पूत्त पुण सुमिणा पच लहेवि ॥

---

[१९७] पाठान्तर चहु न ।
[२०४] पाठान्तर प्रभाति प्रभात्रि का ।

दीठउ सुरगिरि खीरहरो सुमिणइ सिरि रवि चंद
जनमि युधिष्ठिरराय तणइ मिलीय सुरवइविंद ॥
२२५ गयणगणि वाणी पढीय 'खमि दमि संजमि एकु
धरमपुत्तु जगि ऊपनउ सत्यसीलि सुविवेकु' ॥
दोपीउ पवणिहिं कल्पतरो सुमिणइ कुंतिदूयारि
पवणइ नंदणु पवनसमो भीम सु भूयण मझारि ॥
त्रीसे मासे आइयउ दूमीय देवि गंधारि
२३० दिवसि मधुरे ऊपनओ दुर्योधनु संसारि ॥

वसइ वसारइ महिनडीय त्रीजउं धरइ आधानु
'वायण दस सवि निइलव मनि पखडु अभिमानु ॥
'धनुपु चडावीउ सूयणि समंउ इच्छा छइ मन माहि
चइठउ दीठउ हाथिणीयं सुरवइ सुमिणा माहि ।
२३५ जनम महोछवु सुर करइं नाचइं अपछरवाल
तु दुहि वाजइं गयणयले परणिहि ताल कंसाल ॥
गयणह वाणी ऊछलीय 'अरजुनु इंद्रह पूतु'
धनुषधरसि पंचोत्तिसीए सुरयोधन धरसि तु' ॥
नकुलु अनइ सहदेवु भवो जुमलइं जाया बेउ
२४० प्रसु चंद्रप्रसु वापीयउ नासिकि कुंती देउ ॥

सउ वेटो धयराठघरे पंडु तणइ घरि पंच
दुर्योधनु कउतिग करए कूडा कपडप्रपंच ॥
अणविणंतरि गिरिसिहरे राजा रमझि करेइ
कुंतीकरयल अवगणिउ रडयउ भीमु हवेइ ॥
२४५ पाहणि पाहणि आफलीउ भास न दूमीउ देहु
पाहण सवि चूनउ हूयए केवडु कउतिगु एहु ॥
गयणह वाणी आपीयउ आगइ वज्रसरीरु
नाचइं पंचइ चंद खिम पंडव गुणगंभीर ॥
भीमु भीडंतउ समणावडे कूटइ कुरववीर
२५० पाडइ इच्छइ सेडवइ चांपोय बोलइ नीरि ॥

[२४१] धन्ना पाठान्तर धन्न का
[२४५] पाहणि पाठान्तर

दुरयोधनु रोसिंहि चडीउ वोलइ 'साभलि भीम
तु मुझ वधत्र कूटतउ म मरि अखूटइ ईम' ॥
भीमि भिडिउ भड़ु पाडीयउ वाधीउ धालिउ नीरि
जागिउ त्रोडइ वध वलि नवि दूमिइ सरीरि ॥
२५५ विसु दीधउ दूरयोधनिहिं भीमह भोजन माहि

अमृतु हुई नइ परिणामिउ पुन्निहि दुरिउ पुलाइ ॥
अतिरथि सारथि तहि वसए राय तणइ घरिसूतु
राधा नामिहि तसु घरणि करणु भणु तसु पूत्तु ॥
सउ कूंयर पचगलउ किवहरि पढिवा जाइ
२६० धीरु वीरु मति आगलउं करणु पढइ तिणि ठाइ ॥

दहा लगइ गुरू भेटीउ द्रोणु सु बंभणवेसि
तेह पासि विद्या पढइ कूपगुर नइ उपदेसि ॥

॥ वस्तु ॥

तींह कूयरह तींह कूयरह माहि दो वीर
इकु अरजुनु आगलऊ अनइ करणु हीयइ हरालउ
२६५ गुरकूवइ विणयह लगइ धणुहवेदु दीधउ सरालउ

किसु न हुइ गुरभगति लगइ माटि नउ गुरु किद्धु
अहनिसि गुरु आराधतउ एकलव्यु हूउ सिद्धु ॥
गुरु परिक्खइ गुरु परिक्खइ अन्नदीहमि
दुरयोधनपमुह सवि रायकूयर वण माहि लेविणु
२७० सारींगु मिलिह करि तालरूख सिरि लखु देविणु

तीण परीक्षा गुर तणी पूगउ एकु जु पत्थु
राहावेहु तउ सिखवइ मच्छइ देविणु हत्थु ॥
एक वासरि एक वासरि कूयर नइ माहि
गुरि सरिसा जलि तरइं द्रोणचलणु जलजीवि लिद्धऊ
२७५ कूयरपरीक्षा तणइ मिसि गुरिहिं कूड पोकारु किद्धउ

धायउ अरजुनु धणुहधरु अवर न वाया केइ
मेल्हाविउ गुरचलणु तसु गुरु किम नवि तूसइ ॥

[ठवणी ॥ ४ ॥]

गुरि वीनविउ अवसरि राउ "सविहु बेटा करउ पसाउ
सुन्हि मंडावउ नवउ अखाडउ नव नव भीगे पूत्र रमाडउ" ॥१॥
२८० आइसु विदुरह दीघउं राइ वह दिसि जणावइ खोवा घाई
सोवनथंभे मंच मडावइ राणो राणि ते सहू य आवइ ॥२॥
पहिलउं आयइ गुरु गंगेउ घायरङ्घ पुरि पइसइ राउ
विदुर कृपा गुर अवर नरिंद मंचि चड्या सोहइं जिम चंद ॥३॥
केवि दिखाडइं खांडा मरमु केवि तुरंगम आणइ मरमु
२८५ चाक छुरी किवि सावल मालइं किवि हथीयार पडंगा म्हालइ॥४॥
पहिलुं सरमइ घरमह पूतो जेह रहइ नवि कोई शत्रो
ऊठिउ भीमु गदा फेरतउ छउ दुर्योधन भिडइ तुरंतउ । ५॥
मनि मावीत्रह मत्सर रहीउ पाछइ अरजुनु अति गहगहीउ
भीमु दुजोहण बा बे मिलिया बा गुरनवधि पाछा करीआ । ६॥
२९० गुरु उठाडइ अरजुनु कुमरो करथिहिं सरिसउं माडइ बयरो
बे माया विहुं लखे बहेई करयलि विसमु घणुहु भरेई ॥७॥
सांहपुरपु छइ चकि भमतउ पंच बाणि आइणइ तुरंतउ
राघावेधु करीउ दिखाडइ विसउ न कोई तीणइ अखाडइ ॥८॥
तीछे हूंफी ऊठइ करणु 'अरजुनु पामइ मूं करि मरणु
२९५ रोसिं ऊठइ बेउ भूजेवा रणरसु कोई देवी देवा ॥ ९ ॥
बेउ हुंफई बेउ बाकरवाइं राय तणा मनि रीझु ऊपाइ
घरणि धसळइ गाजइ गयणु हारिइ जीतइ जयजय-जमणु ॥१०॥
हीयां ध्रसकइ कायर कांक संत वणी मन फरइ सशोक
आयो बीज पवि [म] अकालि आयो मु द्र सुम्या कलिकालि॥११॥
३०० झणि नान्हा छणि मोटा दीसइ माहोमाहि झूझइं बेउ रीसइं
बंघवि बींटीउ राउ दुजोहणु विहु पंडवि बींटीउ द्रोणु ॥१२॥
किमुं पहुवउ द्वापरि प्रसउ हूइ लगइ कइ अम्ह परि विसउ
अरजुन बोलइ "रे कुलहीन, अरजुन मूझिसि मइं तुं हीन ॥१३॥

---

[१८८] मसु पाठान्तर मरउ
[१९७] जयजमणु पाठान्तर जयजयजयमणु का
[१] रीसं पाठान्तर रीसइं का

अरजुन सरसी भेडि न कीजइ नियकुलमानि गर.वु वहीजइ
३०५ इम आपणपु घणु वखाण बोलिन नीयकुल तणु प्रमाणु ॥१४॥
इम आगोडिउ तपि जा करणु पुरुष पराभवि सारु मरणु
दुरजोधनि तउ पखउ करीजइ "वीराचारि कुलु जाणीजइ"॥१५॥
एतइं अतिरथि सारथि आवइ करण तणु कुलु राउ जणावइ
"मइं गंगा ऊगमतइ दीस लाधी रतनभरी मंजुस ॥ १६ ॥
३१० कुंडल सरिसउ लाधउ वालो एकु लहइ जिम रयण झमालो
तिणि दिणि दीठउ सुभिणइ सूरो अम्ह घरि आविउ पुन्नह पूरो॥१७॥
कान हेठि करु करिउ ज सूतउ तउ अम्हि कहीयइ करणु निरूत्तउ
इसीय वात मन भीतरि जाणी गूझू न कहीउ कूंती राणी ॥१८॥
करणु दुजोहणु वेई मित्र पंचह पडव केरा शत्र
३१५ तसु दीधु सउ कूयर राजो गो सग्रहीइ जिणि हुइ काजो ॥ १९
द्रोणगुरिं झूझता वारी वेउ बेटा वहुमानिं भारी
ईम परीक्षा हुई अखाडइ तींछे अरजुनु चडीउ पवाडइ ॥ २०

॥ वस्तु ॥

अन्नवासरि अन्नआसरि रायअसथानि
परिवारि सु अछइ ताम दूतु पोलिं पहूतऊ
३२० पडिहारिहिं वीनविउ लहीउ मानु चाउरि वइठऊ
पय पणमी इम वीनवइ 'द्रुपदनरिंदह धीय
परणउ कोई नरपवरु राहावेहु करीउ ॥
द्रुपदरायह द्रुपदरायह तणी कूयारि
तसु रूपह जामलिहिं त्रिहउ भूयणि कइ नारि नत्थीय
३२५ पाधारउ कुमरिं सहीय आठ चक्र छइं थभि थंभीय
तींह मझि वि पूतली फिरइ स सृष्टि सहारि ।
तासु नयण वेही करी परिणउ द्रूपदि नारि" ॥

[ठवणी ॥ ५॥]

पडु नरेसरो सइवरि जाइ हथिणाउरपुर सचरए
राइ दले सरिसा कूयर लेउ तारे सु जिम चादुलउ ए ॥
३३० वाजीय त्रबक गुहिर नीसाण दिणयरो रेणिहिं छाईउ ए

---

[३३०] पाठान्तर 'जाईउ' मिलता है 'छाईउ' का

पहुतउ जाणीउ पहु नरिंदु भूपहु पहूचए सामहो ए।
घलीया तोरण चंद्रवास नयर ऊलोचिहिं छाईउ ए
मणिमय पूतली सोवनथंभ मोतीय चउक पूराविया ए॥
कुंकूम चदणि छडउ दिवारि घरि घरि तोरण ऊभीयो ए
३३५ नयरि पइसारउ पहु नरिंद किरि अमराउरि अवतरी ए॥
पोखि पहुवउ पहु तेजि तरणि पयंडु
सीसि चमर चंद्राल अनु कंठि कुसुमह माल॥
अनु कंठि कुसुमह माल किरि सुं मयणि आपणि आवीइ
कोइ इंदु चंदु नरिंदु मइथरि पहुतु इम संभावीयइ॥
३४० भडीउ चंचलि नयणि निरखइं अमणु बोलइं सवे सही
'पंच पंडव सहिउ पहुतु तउ पंडु नरवरु हुइ सही'॥
मिलिया सुरवए कोडि तेत्रीस गयणे दुंदुहि दडवडीय
मेले वाइठा रायकूंयार आवए कूयरि रूपवीय
सीसि कचुंवरि कुसुमह खूपु कानि कनेउर झलझलइए
३४५ नयण सलूणीय काजलरेह तिलउ कसतूरी घम घिमडीय
करयले कंकण मणि झमकारु आदर फालीय पहिरणा ए
अहर तंबोलीय रूपवी बाल पाए नेउर रुणझुणइं ए
माइय चमणिहिं राधावेघु नरवर साघइं सवि मला ए
कुणिहि न साधीउ पंडु आपसि मरछुमु ऊठइ नरनरीउ ए
३५० मति अणुइ जुनु पर्ण तूय सासि सबलु वेदु
इम भणी रहिउ भीमु सो धनुषु नामइ कीमु
सो धनुषु नामइ कीमु फाटकि मरथि भासकि भडहवी
चंमंड खंड विसंड थाइ कि सम्मि सयल वि रहवडी
मझलीय सायर सत्त सुरगिरि शृंगशृंगि झलझली
३५५ साणु एकु असरणु हुउं तिहुयणु राय सयल वि परहवी

---

[३३५] पाठान्तर फिरि मिलता है करि का
[३४८] At the end of the line 1
[३४९] Ms has only नरनरीउ and not नरनरीउए, at the end of the line there is 2
[३५३] कीम In Ms for कीमु
[३५५] परही In Ms. for परहवी

एतइं हूयउ जयजयकारु सुर पन्नग सवि हररखीया ए
धनु धनु रायह द्रूपदर्धीय जीण असभम वर वरिया ए
धनु धनु राणीय कुतादेवि जसु कूखिहि ए ऊपना ए
पचम गति रहइं अवतर्या पंच पंचनाण जिसा जगि हूया ए
२६० पाचइ गाईय सुर सुरलोकि सुखए सिरु धूणाविया ए

महीयले महिलीय करइ विचारु "कवणु कीउ तपु द्रूपदीय
कोइ न त्रिहु जगि हुईय नारि हिव पछी कोइ न होइसि ए
एरु महेलीय पच भतार मतीय सिरोमणि गाई ए ॥
राधावेधु सु अरजुनि साधिउ मनचींतीउ वरु लाडीय लाधउ
३६५ जा मेल्हि गलि अरजुन माल दीसइ पाचह गलि समकाल
राइ युधिष्ठिरि मनि लाजीजइ तिणि खणि चारणि मुनि बोलीजइ
"निसुणउ लाडीय तपह प्रमाणु पूरविलइ भवि कियउ नियाणुं
भवि पहिलेरइ बंभणि हूती कडुउ तूबु मुणिवर दिंती
नरग सही वलि साहुणि हुई पांचह पुरिस नियाणु धरेई
३७० एहु न कोईय करउ विचार द्रूपदराणीय पंच भतार" ॥

साहु कही नइ गयणि पहूतउ पडु नराहिवु हूयउ सयंतउ
अइहवि दीजइं मगल चार जगि सचराचरि जयजयकार
लाडीय कोटं कुसुमह माल लाडीय लोचन अति अणीयाला
लाडीय नयणे काजलरेह सहजिहिं लाडण सोवनदेह
३७५ कुती मद्रीय माथइ मउड धनु धनु पंडव द्रूपदि जोड
पचइ पडव वइठा चउरी नरवइ आसात०यरु मउरी

वस्तु

पच पडव पंच पंडव देवि परिणेवि
सउं परियारिहि सु दलिहिं हस्तिनागपुरि नगरि आवइं
अन्न दिवसि रिपि नारदह नारि कज्जि आदेसु पामइं
३८० समयधम्मु जो लघिसिइ तीण पुरपि वनवासि

वार वरिस वसिवु अवसि अहनिसि तीरथवासि ॥
सच्च कज्जिहिं सच्च कज्जिहिं अन्न दीहमि
उल्लघिउ गुरुवयणु इदपुत्तु वनवासि चल्लई

गिरि बेयमुद्द सलि गयऊ पणमिउ नाभि मल्हार
३८५ निव मणिचूडह राजु दिइ पहिलउ एउ उपकार ॥

वार वरिसह वार वरिसह थकिउ विमाणि
अट्ठाययपमुह सवि नमीय तित्थ जां घरि पहुता
मणिचूडह मिलह मयणि राउ एकु परिहरीउ पयइ
गहीय पभायइ रिउ हणिउ मंजिउ मारग धूडु
३९० घरि पहुचउ चंउ मिव छउ दुमेगडु मणिचूडु ॥

ठवणा ॥ ६ ॥

एतल ए पडु नरिंदा जूठिलो पाटि पईठिउ ए
थभवि ए विजयु करेवि राय सवे वसि आणीया ए
सोवन ए राशि करेवि वंधव आगलिउ गिया ए
मिलह ए रईय मणिचूड राय रहइ समा रयणमए
३९५ राइहिं ए सवि जिणंद नयउ प्रासादु करावीउ ए

कंचण ए मणिमय थंम रयणमइ बिंब भरावीयां ए
तेडीउ ए वेगु मुरारि राउ दुरयोधनु आवीउ ए
इछाय ए दीजइ दान बिंबप्रतिष्ठा नीपजे ए
परठीय ए वेसि समारि ऊरिण कीधी मेदिनी ए
४०० हसिऊ ए समा मझारि राउ दुरयोधनु परामवी ए

माउलं ए सरिसउ मंतु वायइ आगलि बीनवं ए
वारिउ ए विदुरि वापणा वयणु न मानइ कूडीउ ए
आणीय ए सभामिसेण पंडव पंचइ राइ सउं ए
कूडिहिं ए दीजइ मान वयरिहिं माडइ जूवटउ ए
४०५ राखिउ ए राउ जूठिलु विदुरह वयणु न मानीउ ए

हारीयां ए हामिय थाट मारीय हारीय राजि सउं ए
हारीय ए दुपदह धीय ऊतारिय सवि आमरण ए
आणीय ए सभामझारि दुरीय दुर्योधनु इम भणां ए
आणीय ए सभामझारि दुरीय दुर्योधनु इम भणां ए
४१० "आविन ए आवि उत्संगि द्रुपदि बइसिन मुझ तणं ए"

इम भणी ए दियइ सरापु 'रु [—] हुजे तुं कुलि सउ ए
कुपीउ ए काढवी चीरु अट्ठोत्तर सउ सार्डीय ए
ऊठीउ ए गुरु गगेउ कुणवि दुरयोधनु ताजिउ ए
तउ भणं ए "पहव पच वयणु महारउ पडिवजु ए
४१५ वारह ए वरस वणवासु नाठे हींडिवु तेरमई ए
अम्हि किम ए जाणिसु तुहितउ वनवासु जु तेतलु ए"
पडव ए लियइं वणवासु सरसीय छट्टीय द्रूपदीय

॥ वस्तु ॥

हैय दैवह हैय दैवह दुट्ठ परिणामु
पिय पचह पेखता द्रुपदधीय कडिचीरु कड्ढीय
४२० द्रोण विदुर गगेय गुरा न हलि कोहग्गि दड्ढीय
आसमुद वरहि धणिय इक्केकइ कडिचीरि
हाकीउ रल जिम काढीइंउ आथमतइ सूरि ॥

[ठवणी ॥ ७ ॥]

अह दैवह वसि तेवि पच ए पंडव वणि चलिय
हथिणउरि जाएवि मुकलावइ निय माय पीय
४२५ पय पणमीय निय ताय कुती मद्री पय नमीम
सच्च वयण निरवाहु करिवा काणणि संचरइं
लेई निय हथियार द्रोण पियामहि अणगमीय
कुतादिवि भरतार नयण नीर नीझर झरइ ए ॥ ३
सच्चवई पिय माय अबा अबाली अंबिका
४३० कुती मुद्री जाइ वउलावेवा नदणह ॥ ४
पभणइ जूठिलु राउ "माइ म अरणइ तुहि करउ
निय घरि पाछा जायउ लोकु सहूयइ राहवउ" ॥ ५
दाणवि कूरि कमीरि पचाली वीहावीयउ
भूझिउ मारीउ वीरू भीमिहिं तु दुरयोधनह ॥ ६
४३५ एव वनि कामुकि जाइं पंचह पडव कुणवि सउ

मंत्रह तणइ उपाइ भरजुनु भाणइ रसमती प ॥ ७

पणमीय वायह पाय पाछउ वालीउ मद्रि सउं
विद्या सुद्धि उपाइ भापीय पहुतउ पीत्रीयउ ॥
पचाली नउ भाउ पंच पंचाल लेइ गिउ
४४० पसइ केसवु राउ कुंती मिलिया भावीयउ ॥ ६

वलु वोलीउ पलमंधु सुभद्रा लेइ सोवरण
हिव पुणु हुव निबधु कुंती धुं सरसा साल ज प ॥ १०
यहु सु पुरोचन नामि पुरोहितु दुर्योधनह
"तुम्हि वीनविया सामि राय सुयाधनि पय नमीय ॥ ११
४४५ मइ मूरखि भजाणि भविणउ कीधउ तुम्हा तहइ

मूं मोटी मुहकाणि तुम्हइं रूमउ भवराहु मुझ ॥ १२
पाघारिसिउम रानि वारणावति पुरि रहण करउ
ताय सणइ बहुमानि हुं भाराधिसु तुम्ह पय" ॥ १३
कूडु करी विधि विम्रि वारणावति पुरि भावीया प
४५० किम्हुं न कोवइ रात्रि भवसरि लाभइ परमवइ ॥ १४

विदुरि पगाचिउ लेखु 'दुरयोधन मन वीसिसउं
पसु पुरोहितवेषु कालु तुम्हारउ जाणिजउ ॥ १५
इह घरि भवइ मंत्रु लाख तणउं छइ भवसइरो
माहि पञ्चाचउ रात्र एकसरा सवि संहरउ ॥ १६
४५५ काली पञ्चमि दीहु तुम्हे रुवइं जो जउ

पउ दुरयोधनु सीहु भाइ उपाइं मारिसिए' ॥ १७
मीसु मणइ सुणि माय बारउ वयरी वाभउउ
कुलह कुलंछणु जाइ एकि सुयोधनि संहरीइं" ॥ १८
सगरिहिं सखीय सुरंग विदुरि विचारीय दूर लगइ
४६० 'हुं ऊगारउ भंग हुया रूपाइं पंडवह' ॥ १६

इकि जोकरि तिथि दीसि पांच पुत्र इकि वहुय सउं
कुंती नइ भावासि वटेवाहू वीसमियों ॥ २०

---

[४४१] पाठान्तर मामि नामि का
[४५१] पगाचिउ का पाठान्तर पगाठिउ

राति चालइ राउ मागि सुरंगह कुणवि सउं
दियइ पुरोहितु दाउ लाखहरइ विसनरु ठवइ ॥ २१

४६५ साधीउ पच्छेवाणु भीमि पुरोहितु लाखहरे
मेल्हीउ दीधु पीयाणु केडइ आवी पुणु भिलए ॥ २२
हरखीउ कउरवु राउ देखी दाधा माणुसह
जोयउ पुन्नपभाउ पडव जीवी ऊगरए ॥ २३

॥ वस्तु ॥

दैवु न गिणई दैवु न गिणई पुण्यु नइ पापु
४७० सतापु सुयणह करई पुण्यहीन जिम राय रोलई
दारिद्र दुक्खु केह भरई तृणा कज्जि गिरि सिहरु ढोलई
जोउ मांग्ग निसवला पचइ पंडव जंति
राजु छंडाव्या वणि फिरइं धिगु धिगु दूख सहति ॥

ठवणी ॥ ८ ॥

धिगु रि धिगु रि धिग दैवविलासु पचह पंडव हुइ वणवासु
४७५ उतइ लाखहरु परिजलइ उतइ भीमु जु केडइ मिलीइ ॥ १
रातिं खुडत पडंता जाइ वयरी ने भइ वेगि पुलाइ
ते जीवता नाणइ किमइ कूडु नवउ तउ माडइ तिमइ ॥ २
सासू वहूय न चालइ पाउ ऊभउ न रहइ जूठिलु राउ
माडी बोलइ "साभलि भीम केती मुइं वयरी नी सीम ॥ ३
४८० इकि वयरी ना परिभव सह्या लहूया नदण पाछलि रह्या
हूँ थाकी अनु थाकी वहू दिणु ऊगिउ तउ मरिसइ सहू" ॥ ४
वासइ वाधा बंधव बेउ माडी महिली कंधि करेउ
तरूयर मोडतु चालिउ भीमु दैव तणु वलु दलीइ ईम ॥ ५
एक वाह साहिउ राउ वीजी साहिउ लहुडउ भाउ
४८५ जा महिमडलि ऊगिउ सूरू तां वणि पहुतउ पडव वीरू ॥ ६
सहू पराधु निद्रा करीइ पाणी कारणि वणि वणि फिरइ
भीमु जाम लेउ आवइ नीरु पाछलि जोअइ साहसधीरु ॥ ७
एक असंभम देखइ वाल पहिलु दीठी अति विकराल
बोलइ राखसि साँभलि सामि हुं जि हिडबा कहीउ नामि ॥ ८

४९० राखस हिडंब तणी हूं धूय तइं दीठइ मयणातुर हूय
पइठउ ताउ अछइ नीय ठामि भाइ आयी माणुसहामि ॥ ९
मुझ रहिं आइसु दीधु इसु 'कांइ आम्हु छइ माणसु
कोपि करी छेउ वहिली आवि उपवासी मइं पारणुं करावि' ॥ १०
कर जोडी हूं पणमउं पाय मइ तुम्हि परणउ पांडवराय
४९५ तुम्ह उपकार करिसु हूं घणा दूख वखिसु वणवासह तणा ॥ ११

ऊभी धमी हूंमस बोलिइ पवन बीजा मरणम म बोलि
जग उद्धसिमा धर अवतरइ रूटा जगनु जीवीउ हरइ ॥ १२
ए माडी ए अम्ह धर नारि ए अम्ह बंधव सुवा च्यारि
इह तणे तू चलणे लागि भगति करी मनवंछिउ मागि" ॥ १३
५०० पतइ राखसु रासि अलंतु आवइ फुड फेंकार करंतु
पेटी भूखउ मारइ लाम भीमु भिडेवा ऊठिउ ठाम ॥ १४
'रे राखस मुझ आगलि बाल मारिसि तउ तूं पूगउ काल
रूख ऊपाडी बेइ विढइं वइ दिसि गाजइ डूंगर रडइं १५
पलणनिहाइ लागिउं सहू पणमी बोलइ हिडंबा वहू
५०५ भाइ भाइ ऊठाडउ राउ ए रूठउ अम्हारउ ताउ १६
इणि मारीसइ तुम्ह मिडंबु बीजउ कोई घाउ तुरंतु"
इसुं सुणी नइ भायउ पत्थु कुम्भइ भीम मिलिउ अवसत्थु ॥ १७
पडिउ भीमु आसासिउ राइ गदा लेउ चलि साम्हउ भाइ
अरजुनु जां झूझेवा जाइ राखसु भीमि रहाविउ ठाइ

॥ वस्तु ॥

५१० मइ हिडंबा भाइ हिडंबा सत्थि अल्लोइ
कुंती अनु द्रोपदी अ कंधि करीउ मारगि चलावइ
कुंती अश विणु लूंबीइ वहि हिडंब अहु लेउ आवइ
एक दिवसु घरा ओमती भासाटी पंचालि
ओई आई रूसना पंडव चाणि विकरालि ॥ १८

[॥ ठवणी ॥ ६ ॥]

५१५ भाप सीह गज द्रोठि पवइ सतीय समरि ते मवि आभिडइ
~ राति पचंठी पंडव रडइं मखि मखि मूंछी भूमि पडइ ॥

राखसि धाई गाहिउं रानु आणी द्रूपदि लाधूं मानु
भीमसेन गलि मेल्ही माल कुणभि मिली परिणावी बाल ॥ २१
भोजनु आणइ मारगि वहइ करइ भगति सरसी दुक्ख सहइ
५२० नवउ अवासु करी नइ रमइ पंचह पंडव सरसी भमइ ॥ २२

एकचक्रपुरि पंडव गया देवशर्मबंभण घरि रह्या
हीडइ चालइ बभण वेसि जिम नोलखीइ तीण देसि ॥ २३
राइ बोलावी वहू हिडंब "अम्हि वसीसइ वेस विडंबि
तुम्हि सिधावउ तायह राजि समरी आवे अम्हह काजि २४
५२५ करि रखवालु थांपणि तणुं अजीउ फिरेवु अम्हि वनि घणुं"
नमी हिडंबा पाछी जाइ बापराजि घणियाणी थाइ ॥ २५
अन्न दिवसि बभणु सकुटंब रल जिम विलवइ पाडइ बुंब
पूछइ भीमु करी एकतु "आविउ दूखु किसु अचितु"
"वडुया सांभलि" बाभणु भणइ एविवहारु नयरिअम्ह तणी॥ २६
५३० विद्यासिद्धी राखसु हूउ वक नामि छइ जम नउ दूउ ॥ २७
विद्या जोवा तीण पलासि पहिलु सिला रची आकासि
राजा भीडी अन्नग्रहु लीउ "पइदिणि नरु एकेकउ दीउ ॥ २८
चीठी काढइ नितू कूयारि आवइ वारउ जण विवहारि
आजु अम्हारइ आविउ दूउ आजु न छूटउ हु अणमूउ ॥ २९
५३५ केवलि वयणु जु कूडउ थाइ जउ नवि आव्या पंडवराय"
पूछीउ भीमि कथाप्रबंधु वणि जाई बग राखसु रुद्धु ॥ ३०

॥ वस्तु ॥

वगु विणासी वगु विणासी भीमु आवेइ
वद्धावइ जणु सयलु "जीवदानु तइ देवि दिद्धऊ
केवलि वयणु जु सच्चु किउ त्रिहु भुयणि जसवाउ लिद्धउ"
५४० पचइ पडवडा वसइं तींछे वंभणवेसि
वात गई जण जण मिली दुरयोधन नइ देसि ॥ ३१
राति माहे राति माहे हुई प्रच्छन्न
तउ जाइ द्वैतवणि वसइ वासि उडवा करी नइ
पुरुष प्रियवदु पाठविउ विदुरि वात बक नी सुणी नइ
५४५ पय पणमी सो वीनवइ दुरयोधन नु मत्रु

४९० राखस हिडंब तणी हूं धूय तई दीठइ मयणातुर हूय
बइठउ ताउ भलइ नीय अणि वाई आवी माणुसहाणि ॥ ९
मुझ रहिं भाइसु दीधुं इसुं 'काई आव्युं छइ मागसुं
कांबि करी खेड वहिसी आवि उपवासी मइ पारणुं कराविं' ॥ १०
कर जोडी हुं पणमउ पाय मइं तुम्हि परणउ पांडवराय
४९५ तुम्ह उपकार करिसु हुं घणा वूस वलिसु बणावासह तणा ॥ ११
तमी तमी इसंम बोलिइ पडव बीजां मरणम म बोसि
जग वखासिवा घर भवतरइ स्टा अगनुं जीविउ हरइ ॥ १२
ए माडी ए अम्ह घर नारि ए अम्ह बंधव सूता च्यारि
इह तणे तू चलणे लागि भगति करी मनवंछित मागि" ॥ १३
५०० एतइ राससु रासि भलंतु आयइ पुड केकार करंतु
येटी मूसट मारइ ताम मीमु मिडेवा ऊठिउ ताम ॥ १४
रे राखस मुझ आगलि बाल मारिसि तउ तूं पूगउ काल
संम रूपाळी बेहुं मिडइं दह दिसि गाजइ डूंगर रडई १५
चलणनिहाइ लागिउ सहू पणमी वालइ हिडंबा बहू
५०५ माइ माइ ऊठाडउ राउ ए रूठउ अम्हारउ ताउ १६
इणि मारीसइ सुहडु मिडंसु बीजउ कोई भाउ मुरंतु"
इसुं सुणी नइ धायउ पत्थु झूमइ भीम मिळिउ भडसत्थु ॥ १७
पडिउ मीमु भासासिउ राइ गदा लेउ वसि साम्हउ धाइ
भरळुनु जो झूमेवा थाइ राससु भीमि रडावउ जाइ

॥ वस्तु ॥

५१० भइ हिडंबा भइ हिडंबा सरिय बल्लोइ
कुंती अनु द्रोपदी भ कांधि करीउ मारगि चलावइ
कुंती जस विरुए संत्तीइ वहि हिडंब अनु ताउ आवइ
एक दिवसु बया जोयती भासाटी पंचालि
जाई आइ ऊसमा पंडव पवि विकरालि ॥ १९

[॥ ठवणी ॥ ६ ॥]

५१५ थाप मीह गज त्रोडिं पडइ मसीय सयरि ते मनि आमिडइ
- रावि पईवी पंडव रडइं पलि वलि मूंछी भूमिं पडइ ॥

५७५ इद्रु अछइ रहतू पुरराउ विज्जमालि ते लहुडउ भाउ
चपलु भणी नइ काढिउ राइ रोसि चडिउ राखसपुरि जाइ॥ ४१
इद्रवयणु इकु तुम्हि साभलउ करीउ पसाउ नइ दाणव दलउ"
हरखिउ अरजुनु जा रथि चडिउ दाणवघरि वुबारवु पडिउ ॥ ४२
असुर विणासी किउ उपगारु इद्रि लोकि हूउ जयजयकारु
५८० इंद्र तणुं ए कीधु काजु असुर विणासी लीधउं राजु ॥ ४३
कवच मउड अनइ हथीयार इंद्रि आप्या तिहूयणि सार
धनुपवेदु चित्रगदि दीउ पुत्रु भणी इद्रि परठीउ ॥ ४४
पाछउ आवइ चडीउ विमाणि माडी बधव पणमइ रानि
एतइं कमलु अगासह पडीउं वइठी द्रूपदि करयलि चडिउ ॥ ४५
५८५ सवा कमल नी इच्छा करइ भीमसेनु तउ वनि वनि फिरइ
असउण देखी बोलइ राउ भीम पासि वछेदिइ जाउ ॥ ४६
मागु न जाणइ खीजिउ सहू समरी राइ हिडवा वहू
कुणवु ऊपाडी मेलिउ भीम जाणे दूखह आवी सीम ॥ ४७
मुखु देखी मवि घडुया तणु पडव कूयरु लडावइं घणु
५९० जाम हिडवा पाछी गई वात अपूरव तां इक हुई ॥ ४८

द्रुपदि वयणि सरोवर माहि पइठउ भीमु भलेरइ ठाइ
भीमु न दीसइ वलतउ किमइ तउ झपावइ अरजुनु तिमइ
केडइ नकुलु अनइ सहदेउ पाणी वूडा तेई वेउ
माइ मोकलावी पइठउ राउ सविहु हूउ एकु जु ठाउ ॥ ५०
५९५ काई रोउ न लहइ रानि द्रूपदि कूती रही वे ध्यानि
मनह माहि समरइं नवकारु 'एहु मत्रु अम्ह करिसि सार' ॥ ५१
बीजा दिवसह दिणयर उदइ ध्यान प्रभावि आव्या सइ
अछइ सोवन्नीकावज हाथि एकु पुरुषु आविउ छइ साथि ॥ ५२
माइ मनि हरिखु धरिउ पुरुष पासि कहावइ चरीउ
६०० "एक मुनि पामइ केवलज्ञानु गयणि पहूचइ इद्र विमानु ॥ ५३

तुम्ह ऊपरि खलहिउ जाम जाणी सुरवइ बोलउ ताम
हु पाठविउ वेगि पडिहारु जईअ पयालि कीउ उपगारु ॥ ५४
सतीय वेउ छइ कासगि रही इद्रह आइसु तु तम्ह कही
मेल्हउ पडव वडइ वछेदि विणु हथियारह वाधा भेदि ॥ ५५

"तुम्ह पासि ए मागिसिइं करय दुर्योधन राय' ॥ ३२
ईम निसुणीउ इम निसुणीउ भणइ पंचालि
"मणि उलगां अम्ह रहइं भजीय राय सिउं सिउं करेसिइ"
राजरिद्धि अम्हह घणी लोईय जेण हिव सिउ हरेसिइं
५५० पंचाली मनि परिभवी बोलइ मेल्ही लाज
पांचइ जण कां हसिइ तुम्हि किसाइ काज ॥ ३३
माई हूइ माइ हुई काइ नवि वंभि
मइ आशा नवि मूआ तुम्हे राजु कांई देवि विढउ
पुत्रवंत नारी भाइइ सीह माहि तुम्हि भयसु लिढउ
५५५ केसि धरीनइ ताणीउं दुःसासणि दुरचारि
पाछलपणि हुं नवि मूइ कांइ हुई तुम्ह नारि" ॥ ३४
रोसु भामीउ रोसु नामीउ भीमि धनु पत्थि
राउ भणइ "तां सामउ मुझ वयणु जां भवधि पुज्जइ
पंचाली रोसवसि अवसि थंति अम्ह काजु सिज्झइ
५६० सच्च वयणु मनि परिहरउ साचउ जिणधर्ममूलु
सत्य वयणि रुडु पामीइ भवसायर परकूलु" ॥ ३५
बूभवयणि बूज्झवयणि राउ मूटिस्सु
गिरि गंधमायण गिया इंद्रकीलु तसु सिहरु चिढउ
गुरुआयी अरजुनु चडइ नमीउ तितु तसु सिहरि बइठउ
५६५ जिणा सवि सिद्धिहिं गई जां पेखइ वयणाइ
माहेंदी आरोहीउ तां एकु सूअरू धाइ ॥ ३६

॥ ठवणी ॥ १० ॥

सूयर देखी मेल्हिउ बाणु अरजुन सिउ झुणु करइ संधाणु
तिणि खिणि मल्हिउ वणचरि बाणु भील्लि गयणि हूअं भमभाणु ॥ ३७
अरजुन यन भर लागउ वादु करउ झूझु अतारउं नादु'
५७० एकमर कारणि झूझइ पेउकरइ परीक्षा इसर बेउ ॥ ३८
मूटो अजुन सवि हथीयार मालझूझ चउ करइं अपार
साहिउ अर्जुनि वनचर पागि प्रकटु हुइ बोलइ 'वर मागि' ॥ ३९
अजुनु बोलइ 'वर भंडारि पालइ आवइ सउ उपगारि
नगपद पालइ 'सोभालि सामि गिरि वयह सुणीइ नामि ॥ ४०

५७५ इंद्रु अछइ रहनू पुरराउ विज्जमालि ते लहुडउ भाउ
चपलु भणी नइ काढिउ राइ रोसि चडिउ राक्षसपुरि जाइ॥ ४१
इद्रवयणु इकु तुम्हि सांभलउ करीउ पसाउ नइ दाणव दलउ"
हरखिउ अरजुनु जा रथि चडिउ दाणवघरि वुत्राखु पडिउ ॥ ४२
असुर विणासी किउ उपगारु इंद्रि लोकि हूउ जयजयकारु
५८० इंद्र तणुं ए कोधु काजु असुर विणासी लीधउं राजु ॥ ४३

कवच मउड अनइ हथीयार इंद्रि आप्यां तिहूयणि मार
धनुपवेदु चित्रगदि दीउ पुत्रु भणी इंद्रि परठीउ ॥ ४४
पाछउ आवइ चडीउ विमाणि माडी वंधव पणमइ रानि
एतइं कमलु अगासह पडीउ वइठी द्रूपदि करयलि चडिउ ॥ ४५
५८५ सवा कमल नी इच्छा करइ भीमसेनु तउ वनि वनि फिरइ
असउण देखी वोलइ राउ भीम पासि वछेदिइ जाउ ॥ ४६
मागु न जाणइ खीजिउं सहू समरी राइ हिडंवा वहू
कुणपु ऊपाडी मेलिउ भीम जाणे दूखह आवी सीम ॥ ४७
मुखु देखी सवि घडुया तणु पडव कूयरु लडावइं घणु
५९० जाम हिडंवा पाछी गई वात अपूरव तां इक हुई ॥ ४८

द्रुपदि वयणि सरोवर माहि पइठउ भीमु भलेरइ ठाइ
भीमु न दीसइ वलतउ किमइ तउ झपावइ अरजुनु तिमइ
केडइ नकुलु अनइ सहदेउ पाणी वूडा तेई वेउ
माइ मोकलावी पइठउ राउ सविहु हूउ एकु जु ठाउ ॥ ५०
५९५ काई रोउ न लहइ रानि द्रूपदि कूती रही वे ध्यानि

मनह माहि समरइ नवकारु 'एहु मत्रु अम्ह करिसि सार' ॥ ५१
वीजा दिवसह दिणयर उदइ ध्यान प्रभावि आव्या सइ
अछइ सोवन्नकावज हाथि एकु पुरुपु आविउ छइ साथि ॥ ५२
माइ मनि हरिखु धरिउ पुरुप पासि कहावइं चरीउ
६०० "एक मुनि पामइ केवलज्ञानु गयणि पहूचइ इद्र विमानु ॥ ५३

तुम्ह ऊपरि खलहिउ जाम जाणी सुरवइ वोलउ ताम
हु पाटविउ वेगि पडिहारु जईअ पयालि कीउ उपगारु ॥ ५४
सतीय वेउ छइं कासगि रही इद्रह आइसु तु तम्ह कही
मेल्हउ पडव वडइ वछेदि विणु हथियारह वाघा भेदि ॥ ५५

॥ वस्तु ॥

६०५ नागपासह नागपासह बंध छोडिवि
इंद्रासि पंडवह नागराइ निजराजु दिद्धऊ
हार ममोपीउ नरवरह सवीय रेसि मनु कमलु लिद्धऊ
अरजुन संगति कुमरवा मपचूड़ सानिद्धु
मागीउ आवी तुम्ह पय पषइ विद्या सिद्ध ' ॥ ५६

६१० परसि छडइ परसि छडइ दैववषि जाइ
धुओहण घर परणि सामि सिक्ख रखवीय मन्नाइ
धम्मपुत वयणत्थ पुत्त इवपुत्त विरिध मगिग सम्माइ
दुरयोधन चित्रंगदह मेल्हावी उहिं पत्थि
विद्याहररायइ नमइ दुरयोधनु छेउ सत्थि ॥ ५७

[ठवणी ॥ ११ ॥]

६१५ तांह ऊपाडिउ घालिउ पाइ पूछिउं कुसलु युधिष्ठिरि राइ
भणइ दुरयोधनु "धतिम सुणीया तुम्ह पाय जउ मइं परणीया"
॥ ५८

घर ऊपरि दुरयोधनु चलइ एतइ जयद्रथु पाछउ वलइ
निउ द्रीउ पूती रहिउ मोइ अरजुनि आणी मंत्र रसोइ ॥ ५९
लावन अंषी कूड करउ बालिउ पापी द्रुपदि लउ
६२० भमुनु मीमु मिळ्या भइ घेउ कटकु विणामिउ द्रुपदि लेउ ॥ ६०

पांचे पाटे भद्रिउ [ ] भीमि भिडी ऊपाडी रीस
मवि मारिउ छड माडी वयणि जिम नवि दीसइ रांडी मयणि॥६१
एतउ नारदु रिपि आवऊ दुर्योधन मु मंमु करेउ
नगर माहि वजाविउ पडहु बालिउ दूसणु इम पडयडहु ॥ ६१

६२५ "पपह पंडव करइ विणासु तेह तणी हुं पूरं आस"
पूमु पुरोहित नउ इम भणइ 'कृत्या नउ घर छइ अम्ह तणइ॥ ६३
कृत्या पासि कराववुं कामु पयगी नुं हुं फडउ ठामु'
कृत्या आवी पाइ 'मकल कइ मारं कइ करुं विकल' ॥ ६४
मारग पाहुनउ मिल्या दवि पडय पडदा प्यानु धरेवि
६३० एउं पाई दियपर बैठि दीयपइ मंमु पंच परमठि ॥ ६५

दिवस सात जा इण परि जाइ ता अचभू को रणवाइं
एतइ आविउं कटकु अपारु पडव धाया लेई हथीयार ॥ ६६
घोडइ घाली द्रूपदि देवि साटे मारइ कटकु मिलेवि
अरजुनि जामुं दलु निरदलु राय तणुं ता सूकउं गलुं ॥ ६७
६३५ कृत्रिम सरवरि पाणी पीइ पाचइ पुहवी तलि मूंछीयइ
सरवर पालि द्रूपदि मिली एकि पुलिंदइ आणी वली ॥ ६८
कृत्या राखसि तणीय जि सही भीलिं वाली ऊभी रही
मणि माला नुं पाया नीरु पाचइ हूया प्रकट सरीर ॥ ६९

॥ वस्तु ॥

पच पंडव पच पडव चिंत्ति चिंतंति
६४० 'कुणु नरवरु आवीऊ कुणि तलावि विसनीरु निम्मिउ
कुणि द्रूपदि अपहरीय कुणि पुलिंदि' इम चित्ति विम्हिउ
अमरु एकु पयडउ हूउ बोलइ "साभलि णाह
ए माया सवि मइं करी कृत्या राखेवाह ७०
एतइ भोजनवेला हुई द्रूपदि देवि करइ रसवई
६४५ मासखमणपारणइ मुणिंद वेला पहुतउ बारि नरिंद ॥ ७१
पचइ पडव पय पणमति अतिथिदानु ते मुनिवर दित
वाजी दुंदुहि अनु डुडडुडी अबर हूती वाचा पडी ॥ ७२
'मत्स्यदेसि जाई नइ रमउ ए तेरमउ वरसु नीगमउ'
ग्या वइराटह राय असथानि वेस विडव्या नीय अभिमानि ॥ ७३
६५० कक भट्टु वल्लवु सूआरु अरजुनु हूउ कीवाचारु
चउथउ नकुलु असंधउ थाइ सहदे वारइ नरवर गाइ ॥ ७४
प्रथम पवाडइ कीचक मरइ बीजइ दक्षिण गोग्रहु करइं
त्रीजउ उत्तरगोग्रहु हूउ पंडवि वरसु इस परि गमिउ ॥ ७५
अभिवनु उत्तरकूयरि वरिउ आवी कृष्णि वीवाहु सु करिउ
६५५ पहुतउ सहूइ कन्हडपुरि च्यारि कन्न चिहु पंडवि वरी ॥ ७६

॥ वस्तु ॥

दूयभावि दूयभावि गयउ गोवालु
"दुजोहण वयणु सुणि एक वार मह भणिउ किज्जई

॥ वस्तु ॥

६०५ नागपासइ नागपासइ बंध छोडिवि
इन्द्राइसि पंडवह नागराइ निअराजु विढरू
हार समोपीउ नरवरह सतीय रेसि मनु कमलु लिढऊ
अरजुन संगति भूकर्णा संपचूड सानिद्धु
मागीउ आवी तुम्ह पय पवइ विद्या सिद्ध' ॥ ५६

६१० वरसि छइ वरसि छइ द्वैतवणि आइ
दुर्जोहण पर घरणि सामि सिक्स्य रहतीय मम्माइ
धम्मपुत्त वयणेण पुण इन्द्रपुत्त विहि मगिग सम्माइ
दुरयाधन चित्रंगदइ मेल्हावी उहि पत्थि
विद्याहररायहं नमइं दुरयाधनु लेउ सत्थि ॥ ५७

[ठवणा ॥ ११ ॥]

६१५ साह ऊपाडिउ पाखिउ पाइ पूछिउं कुसलु युधिष्ठिरि राइ
भणइ दुरयाधनु "अविअ मुखीया तुम्ह पाय अउ मइं पणमीया" ॥ ५८

घर ऊपरि दुरयाधनु चलइ मतइं जयद्रथु पाछउ वलइ
लिउ श्रीउ कुंती रहिउ सोइ अरजुनि आणी मंत्र रसाइ ॥ ५९
लोचन मर्ची पूछ करउ पाखिउ पापी द्रुपदि लेउ
६२० अजुनु भीमु भिडरा भड धउ कटकु विधासिउं द्रुपदि लेउ ॥ ६०

पांच पाटे भद्रिउ [ ] भीमि भिडी ऊपाडी रीस
नवि मारिउ छइ माडी मयणि जिम नवि दीस" रांडी भयणि॥६१
पणइ नारदु रिषि आयऊ दुर्योधन मु मंत्रु करेउ
नगर माहि वज्यविउ पडहु पाखिउ दूखणु इम पइवइदु ॥ ६२
६२५ 'पंचह पंडम करइ विणासु तेह तणी हुं पूरं आस"
पूछु पुराहित नउ इम भणइ "कृत्या नउ बर छह अम्ह तणइ॥ ६३
कृत्या पासि करावुं काम् वयरी नुं हुं फेडउं ठाम्'
कृत्या आपी पाइ 'सफल करइ मार्ह करइ करं विफल' ॥ ६४
मारग पाठुवत्त सिरुपा दयि पहय करइं ध्यानु घरेवि
६३० पर्क पाई दिणयर ऊठि दीयइह मंत्रु पंच परमठि ॥ ६५

दिवस सात जां इण परि जाइं ता अचभ् को रणवाइं
एतइ आविउं कटकु अपारु पंडव धाया लेई हथीयार ॥ ६६
घोडइ घाली द्रूपदि देवि साटे मारइ कटकु मिलेवि
अरजुनि जामु दलु निरदलु राय तणुं ता सूकउं गलुं ॥ ६७
६३५ कृत्रिम सरवरि पाणी पींइ पाचइ पुहवी तलि मूंर्छीयइ

सरवर पालि द्रूपदि मिली एकि पुलिंदइ आणी वली ॥ ६८
कृत्या राखसि तणीय जि सही भीलि वाली ऊभी रही
मणि माला नु पाया नीरु पाचइ हूया प्रकट सरीर ॥ ६९

॥ वस्तु ॥

पंच पंडव पच पडव चित्ति चितंति
६४० 'कुणु नरवरु आवीऊ कुणि तलावि विसनीरु निम्मिउ
कुणि द्रूपदि अपहरीय कुणि पुलिंदि' इम चित्ति विम्हिउ
अमरु एकु पयडउ हूउ बोलइ "साभलि णाह
ए माया मवि मइं करी कृत्या राखेवाह ' ७०
एतइ भोजनवेला हुई द्रूपदि देवि करइ रसवई
६४५ मासखमणपारणइ मुणिंद वेला पहुतउ बारि नरिंद ॥ ७१
पचइ पडव पय पणमति अतिथिदानु ते मुनिवर दित
वाजी दुदुहि अनु दुडदुडी अंबर हूती वाचा पडी ॥ ७२
'मत्स्यदेसि जाई नइ रमउ ए तेरमउ वरसु नीगमउ'
ग्या वइराटह राय असथानि वेस विडव्या नीय अभिमानि ॥७३
६५० कक भट्टु वल्लवु सूआरु अरजुनु हूउ कीवाचारु

चउथउ नकुलु असधउ थाइ सहदे वारइ नरवर गाइ ॥ ७४
प्रथम पवाडइ कीचक मरइ बीजइ दक्षिण गोग्रहु करइ
त्रीजउ उत्तरगोग्रहु हूउ पंडवि वरसु इस परि गमिउ ॥ ७५
अभिवनु उत्तरकूयरि वरिउ आवी कृष्णि वीवाहु सु करिउ
६५५ पहुतउ सहूइ कन्हडपुरि च्यारि कन्न चिहु पडवि वरी ॥ ७६

॥ वस्तु ॥

दूयभावि दूयभावि गयउ गोवालु
"दुजोहण वयणु सुणि एक वार मह भणिउ किज्जई

निय अवधि आवीया पडवाह बहु मानु दिअइं
इंद्रपत्थु तिलपत्थु पुर वारणु कोसी ब्यारि
६६० हस्तिनागपुर पांचमु आपीउ मत्सर वारि ॥ ७७
भणइ कृष्णु भणइ कृष्णु "देव गोविंद
मइ महीयलि वधि फिनरिया पहु मनु पंडव न मानइ
सुइ सखी सूयअर्सि एक बास हिव ए न पामइं
इक महिली पंच सया वीहं मिलिवं हुं पभिख
६६५ ए सभहारण सम्बु किउ 'फूडउ फूडा सविख' ॥ ७८
कन्हु बोलइ कन्हु बोलइ "भीमबलु जोइ
विसखप्पर कीचका बकु हिडंबु कमीर मारिउ
सहु बंधवि अर्जुनि सुमि बार सुह कीउ उगारिउ
विदुरि कृपागुरि द्रोणि मइं जव न मिलइं ए राय
६७० तउ आणुं नियकुल नुं हिव कउरव नु घरु जाइ
पंडु पुच्छीउ पहु पुच्छीउ विदुर घरि कन्हु ॥ ७९
रोसारुणु धमीयउ मम्मि मिलीउ सहूइ नावइ
'दुरयोधनु दुम्मणु किम इण देव अम्ह सवि न भावइ
हिव एकु अम्ह मानु दियउ बिहुं पखउ हुं छांडि
६७५ कउरववंस विणासिवा कांई कूडु म मांडि" ॥ ८०
मानु दिन्हउं मानु दिन्हउ कन्ह गंगेय
एकंतु करि भखीउ कम गुरु कुंती पयासीउ
"इह सतिप काइ हुं मिलिव जोइ जोइ हुं मनि विमासीउ"
करणु भणइ 'सच्चुं कहउ पुणु छइ एकु पि माणु
६८० दुरयोधन रहिं आपणा मइ कल्या छइं प्राण" ॥ ८१
भणइ कन्हडु भणइ कन्हडु कम आयोजि
नवि मानिउ तुम्हि हूं पह बात अति हुइ विरूई
अनु मुझ घरि आविया पंडुपुत्र इह बात गरूइ
दुरयोधनि हु पंडवह उट्ठउ कीधउ ताइ
६८५ रण मेल्हिसु अरजुन तणउ जं भावइ तं होउ ॥ ८२

[ठवणी ॥ १३ ॥]

प्रनु खेउ विदुर गयउ वन मांहि कन्ह वली द्वारावती जाइ
बिहु परि पालइं दल सामही बिहु पखि आपइं मह गहगही॥८३

जरासिंध नउ आविउ दूउ कालकुमरु जंइँ लग्गइ मूउं
वणिजारा नी वात सांभली जरासिंधु आवइ तुम्ह भणी ॥ ८४
६९० उत्सव माहे उत्सवु एहु सविहु वयरी आव्यो छेहु
धर्मराय ना पणमीय पाय एतउ शल्यु सु परि दलि जाइ ॥ ८५
'करण रहइ दिउ गुभाजणी' इसी वात तिणि जातइ भणी
पाचि पचाले लिउ सनाहु आविउ घट्टूउ कूंयरू अवाहु ॥ ८६
इंद्रचडु अनु चंद्रापीडु चित्रगदु अन्नइ मणिचूडु
६९५ आविउ उत्तरु अनु वइराहु मिलिउ वाग पडव नउ वाहु ॥ ८७
धृष्टद्युमनु सेनानी कीउ बीजउ कन्हडदल सामह्यउ
पवित्र भूमि सरसति नइ श्रोत्रि दलु आवाठउ तिणि कुरुखेत्रि॥८८
कउरव नइ दलि गुरु गगेउ कृपु दुरयोधनु शल्यु मिलेउ
शकुनि दुसासणु जयद्रथु पुत्रु गरूउ भूरिश्रवा भगदत्तु ॥ ८९
७०० मिलीउ जरासिंधु जादववइरि सह लगउं एस हूइ सइरि
दुरयोधनु अति मत्सरि चडीउ जाई जरासिध पाए पडीउ ॥ ९०
"मुझ रहइ पहिलउं दिउ अगेवाणु पंडव कन्ह दलउ जिम माणु
ईंहा सेनानी गगेउ ग्रह विहसी जुडिया दल वेउ ॥ ९१
दल मिलीयां कलगलीय सुहड गयवर गलगलीया
७०५ धर धसकीय सलवलीय सेस गिरिवर टलटलीया
रणवणीया सवि सख तूर अवरु आकपीउ
हय गयवर खुरि खणीय रेणु ऊडीउ जगु झपीउ ।
पडइ बध चलवलइ चिंध सींगिणि गुण साधइ
गइवरि गइवरु तुरगि तुरगु राउत रण रूधइ ।
७१० भिडइ सहड रंडवडइ सीस धड नड जिम नच्चइं
हसइं घुसइं ऊससइ वीर मेगल जिम मच्चइं
गयघडगुड गडमडत धीर धयवड धर पाडइ
हसमसता सामंत सरसु सरसेलि दिखाडइ ।
सउ सउ रायह दिवसि दिवसि गगेउ विणासइ
७१५ तउ आठमइ दिवसि कन्हु मन माहि विमासइ
मेल्हीउ शल्लिहिं सकति कुअरु उत्तरु रणु पाडीउ
ताम सिखडीय तणीय बुद्धि तउ कान्हि दिखाडीउ

अरजुनु पूठि सिखंडीमाहि पइसी सर मंकइ
पडीउ पीयामहु समर माहि किम अरजुनु चूकइ
७२० त्रिगयी सर रहावीयउ सरि गंगा आगी

फउतिगु चालीउ फउरयोह पीउ पायु पाणी।
इग्यारमइ दिवसि द्रोणि उत्थपणी कीजइ
आजु अपंडवु करउ अन्नाणु इम मनि चींतीजइ।
काइल कलयल खग चूक भ्रंयक नीसाणा
७२५ घउ मेल्हीउ भगदत्ति राइ गजु करीउ सहाणा।

पूरउ रहवइ नरकरोदि पंतूसलि बारउ
अरजुन पाम्यइ पंचफटक हरषतु फुन्नु भारइ।
दावाय दसि जिम दवयइंतु दीठी देखी नइ
धायउ अरजुनु घसमसंतु धयरी मूंकी नइ।
७३० दिणि आयमतइ हणिउ हाथि हरि पडाप हरस्तीय

तिणि तेरमइ चक्रव्यूहु तउ फउरवि माडीय।
अर्जुनु गिउ पनि झूझिवा तिणि अभिमनु पइसइ
मारीउ जयद्रथि करीउ झूझु घउ अरजुनु दसाइ
करीउ प्रतिज्ञा पडीउ झूझि जयद्रथु रणि पाडइ।
७३५ भूरिश्रवा नउ वीणा समइ सरि बाहु विडारइ
सत्यकु छेदिउ चलिहि सीसु तसु. तिणि चउदमइ
रातिहिं झूझइ विसम झूझि गुरु पडइ कीमइ।
धृष्टद्युम्न बोलइ परमपुत्तु हथीयार छंडावइ
छेदिउं मस्तकु दृष्टद्युमनि अमु सिरउ न करावइ
७४० पार पहर तउ पडीउ रोसि गुरनंदणु झूझइ

रणि पाडिउ भगदत्तु राउ कपरव दल मंभइ
करि करवालु सु करीउ करणु समहरि रणु भावइ
फारक पायक तुरग भाग नवि फाई छंडइ।
धूलि मिलीय मसमसीय सयल दिसि दिणायरु छाईउ
७४५ गयणे दुंदुहि दमद्रमीय सुरबरि वसु गाइउ
पाडइ चिंध कबंध बंध परमंडलि रोसइ
बाणि विनाणि किवाणि केवि अरीयण घंघोलइ।

कूडु करीउ गोविंदि देवि रथु धरणिहिं खूतउ
मारीउ अरजुनि करणु कूडि रणि अणभूभंतउ।
७५० शल्यु शकुनि बेउ हणीय वेगि नकुलि सहदेवि
सरवर माहि कढावीयउ दुरयोधनु दैवि।
राइ सनाहु समोपीयउ भीमिहिं सु भिडेउ
गदापहारिं हणीय जाव मनि सालु सु फेडिउ
रूठउ राम मनाविवा जां पंडव जाइ
७५५ कृपु कृतवर्म आसवामता त्रिन्हइ धाइं।
पाछपीलि पापी करइं कूडु दीधउ रतिवाउ
निहणीय पंच पचाल बाल अनु राखसि जाउ।
सीसु शिखडी तणउ तासु छेदीउ छलु साधीउ
पाप पराभव नइ प्रवेसि गतिमागु विराधीउ।
६० कन्हडि बोधीउ सूयण लोकु सह सोगु निवारीउ
पहुतु महूइ नीय नयरि परीयणि परिवारीय।

॥ वस्तु ॥

दाघु दिन्हउ दाघु दिन्हउ कन्ह उवएसि
तहिं अरजुणि मिलिहिऊ आगिणेय सरु अगि उट्ठीय
वहु दुक्खु मणि चितवीय पडसेन घण नयणि वुट्ठीय
७६५ कन्हडु सहूउ परीठवीउ कुणवि निवारी रोसु
हथिणाउरपुरि आवीया अति आणंदिऊ लोकु॥

[ठवणी ॥ १४ ॥]

थापीउ पंडव राजि कन्हडु ए उत्सवु अति करए
कुणविहिं देवि गधारि धयरठू ए राउ मनावीउ ए।
हरीयला द्रुपदि देवि इकु दिणु ए नारद परिभवि ए।
७७० वेह रहइ कन्हु जाणवि सुद्रह ए माहि वाटडी ए
आणीय धानुकी पहि देवीय ए अरि वसि घालीया ए
पहुतला पासिं गंगेय जय तणी ए सांभलइ वातडी ए।

---

[७७२] हस्तलिखित प्रति में पासि के स्थान पर पासि लिखा है जो भूल है।

ऊपनु केवलनाणु सामीय ए नेमि जिणेसरई ए
सांभली सामि वखाणु विरता ए सायचमनु घरई ए ।
७७५ घरतीय देसि अमारि नारिऊ ए आईउ जिणु नमइ ए ।
विधि विधि दीजई दान पूजीय ए जिण भूषण ऊपनउ ए ।
ऊपनउ भवह वइरागु बेटऊ ए पीरीयखि पाटि प्रतीठिउ ए
सामीय गणहर पासि पांचइ ए हरिसिहि व्रतु लिइं ए ।
सामली पछिमद्रि वात नियमपू ए पूटम पूजइ प्रमु कन्हइ ए ।
७८० मोकलइ गुरु धर्मघोषु पुवमवि ए पांच ए कुणभीम ए

यमई थि भणसाइ गामि भवव ए पाँच ए माविया ए
मुरहेउ संवनु देखु सुमतिऊ ए सुभद्र सुधांसु ए ।
सुगुण यशोघर पासि हरसिहि ए पांच ए व्रत घरए
कणगावलि तपु एकु बीजऊ ए करइ रयणावली ए ।
७८५ मुकतावलि तपु सारू चउथऊ ए सिंहनिकीलिऊं ए

पावमु आंबिलवर्धमानु तपु तपी ए भणुत्तरि सथि गिया ए
चवीयला सुम्हि हूया पंचइ ए भवि ए सिवपुरि पामिसउ ए'
सांभली नेमिनिरवाणु वारणा ए समयाइ सुणि चमखि
सेत्रुंजि तीथि चडेवि पांचइ ए पांडव सिद्धि गिया ए
७९० पडव तणाउ चरीतु जो पढए जो गुणइ संभलए

पाप तणाउ विणासु तसु राइइं ए हेलां होइसि ए
नीपनउ नयरि नावउद्रि वच्छारी ए चउसयछोतर ए
संदुसवेयालीयसूत्र माभिखा ए भव भम्हि ऊभया ए
पूनिमपख मुणिंद सालिभद्र ए सूरिहिं नीमीउ ए
देवचंद्र उपरोधि पंडव ए रासु रसाउलु ए ॥

॥ इति पंच पाडव चरित्ररासः समाप्तः ॥

---

[७७७] पाठान्तर बोटउ बेटउ के स्थान पर
[७७९] पाठान्तर पुवए पुठए के स्थान पर
[७९१] पाठान्तर पाऊ पाप के स्थान पर

नेमिनाथ फागु

[राजशेखर सूरि कृत]

(संवत् १४०५ वि० के आसपास)

परिचय

नेमिनाथ जी को नायक मानकर अनेक रास एव फागुकाव्य विरचित हुए हैं। स्वय राजशेखर सूरि ने ही दो नेमिनाथ फागों की रचना की। श्री भोगीलाल ज० साडेसरा के मतानुसार प्रथम का रचनाकाल सं० १४०५ वि० है और दूसरे का स० १४६० वि०। इससे ज्ञात होता है कि जैन मुनियों एवं आचार्यों को सेवकों के लिए काव्यामृत प्रस्तुत करने को नेमिनाथ का इतिवृत्त क्षीरसागर के समान प्रतीत हुआ।

सारांश

नेमिनाथ एक महापुरुष थे। इनका जन्म यादव कुल मे हुआ था। आप द्वारका में निवास करते थे। इनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा देवी था। नेमिनाथ जी सासारिकता से दूर भागना चाहते थे, अत. अपने विवाह का विरोध करते। किन्तु एक बार वसत-क्रीड़ा के समय श्री कृष्ण की पत्नियों ने इन्हें विवाह के लिए बाध्य किया।

राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती अथवा राजुल से इनका पाणिग्रहण होना निश्चित हुआ। श्रावण शुक्ला छठ को नयनों को आनन्द प्रदान करने वाली कामिनी राजीमती (राजुल) के साथ विवाह होने की तैयारी हुई। नेमिनाथ एक ऊँचे एव तरल तुरग पर आरूढ होकर विवाह के लिए चले। उनके कानों में कुडल, शीश पर मुकुट और गले में नवसर हार सुशोभित हो रहा था। शरीर पर चन्दन का लेप हुआ था और चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल वस्त्र से उनका शृंगार किया गया था।

कई मृगनयनी सुन्दरियों ने उनके ऊपर वर्तुलाकार छत्र धारण किया था और कतिपय उन्हें चामर डुला रही थीं। उनकी श्रेष्ठ बहिनें 'लूण' उतार रही थीं। उनके चतुर्दिक् यादव-भूपाल बैठे हुए थे।

हाथी-घोड़े-रथ पर सवार एवं पैदल बरातियों का समूह चला। गोराङ्गी स्त्रियाँ मंगलाचार गा रही थीं। भाट जयजयकार कर रहे थे। इस प्रकार बरात के साथ नेमिकुमार उग्रसेन के घर विवाह के निमित्त पहुँचे।

कवि कहता है कि मैं राजल देवि के शृंगार का क्या वर्णन करूँ! वह चम्पक-वर्ण वाली सुन्दरी अंगों पर चन्दन के लेप से शोभायमान हो रही थी। उसके मस्तक पर पुष्प का शृंगार किया हुआ था। उसके सीमंत (मांग) में मोतियों की लड़ें भरी थीं। उसके मस्तक पर कुंकुम का तिलक था और कानों में मोती का कुंडल। नेत्रों को कज्जल का अंजन तथा मुख-कमल को ताम्बूल शोभायमान बना रहा था। कंठ में नगजटित कंठा एवं हार शोभायमान हो रहा था। उस बाला ने हाथ में कंकण और मणिजटित चूड़ियाँ धारण कर रखी थीं जिनकी खड़कने की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। उनके पैरों के घूघरू वाले कड़े से रुणझुन एवं नूपुर से रिमझिम की ध्वनि निकल रही थी।

उग्रसेन के घर बरातियों के सत्कार के लिए लाए हुए पशुओं की पुकार से बाड़े गूँज रहे थे। नेमिनाथ ने जिज्ञासा प्रगट की कि इतने पशु बाड़ों में क्यों चीत्कार कर रहे हैं? जब उन्होंने सुना कि इन पशुओं को मारकर इनका मांस दिया जायगा तो उन्हें संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने असार संसार को धिक्कारते हुए इसका परित्याग कर दिया। अब राजल देवि अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगी।

गिरनार पर नेमिनाथ का दीक्षा महोत्सव हुआ। इस प्रकार उन्हें केवल ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता प्राप्त हुई।

श्री नेमिनाथ फागु

राजशेखर सूरि

(सं० १४०५ वि० के आसपास)

सिद्धि जेहिं सइ वर वरिय ते तित्थयर नमेवी ।
फागुबंधि पहुनेमिजिणुगुण गाएसउं केवी ॥ १

अह नवजुव्वण नेमिकुमरु जादवकुलधवलो ।
काजलसामल ललवलउ सुललियमुहकमलो ।
समुदविजयसिवदेविपुतु सोहगसिंगारो ।
जरासिंधुभडभंगभीमु वलि रूवि अप्पारो ॥ २

गहिरसदि हरिसखु जेण पूरिय उद्दंडो ।
हरि हरि जिम हिंडोलियउ भुयदडपयडो ।
तेयपरिचक्कमि आगलउ पुणि नारिविरत्तउ ।
सामि सुलक्खणसामलउ सिवसिरिअणुरत्तउ ॥ ३

हरिहलहरसउ नेमिपहु खेलइ मास वसंतो ।
हावि भावि भिज्जइ नही य भामिणिमाहि भमतो ॥ ४

अह खेलइं खडोखलिय नीरि पुणु मयणि नमावइ ।
हरिअंतेउरमाहि रमइ पुणि नाहु न राचइ ।
नयणसलूणउ लडसंडतु जउ तीरिहिं आविउ ।
माइ बापि वधविहिं मांढ वीवाह मनाविउ ॥ ५

घरि घरि उत्सव वारवए राउल गहगहए
तोरण वदुरवाल कलस धयवड लहलहए ।
कन्हडि मागिय उग्गसेणधूय राजल लाधा
नेमिऊमाहीय, बाल अट्ठभवनेहनिबद्धा ॥ ६

राइमए सम तिहु भुवणि अवर न अत्थइ नारे ।
मोहणविल्लि नवल्लडीय उप्पनीय संसारे ॥ ७

अह सामलकोमल केशपाश किरि मोरकलाउ ।
अद्धचंद समु भालु मयणु पोसइ भडवाउ ।

वंकुडियालीय भुंहडियइं भरि भुवणु भमाडइ
लाडी लोयणलहकुडलइ सुर सग्गह पाडइ ॥ ८

किरि सिसिबिंब कपोल कन्नहिंडोल फुरंता
नासा वंसा गरुडचंचु दाडिमफल दंता ।
अहर पवाल तिरेह कंठु राजलसर रूडउ
जाणु वीणु रणरणइ जाणु कोइलटहकडलउ ॥ ९

सरलतरल भुयवल्लरिय सिहण पीणघणतुंग ।
उदरदेसि लंकाउली य सोहइ तिवलतुरंग ॥ १०

अह कोमल विमल नियंबबिंब किरि गंगापुलिणा,
करिकर ऊरि हरिण जंघ पल्लव करचरणा ।
मलपति चालति वेलणीय हंसला हरावइ
संझाराग अकालि बालु नहकिरणि करावइ ॥ ११

सहजिहिं लडहीय रायमइ सुलखण सुकुमाला ।
घणउं मणोहरउं गहगहए नवजुव्वण बाला ।
भंमरभोली नेमिजिणवीवाह सुणेई
नेहगहिल्ली गोरडी हियडइ विहसेई ॥ १२

मावणसुकिलछट्ठि दिणि भावीसमउ जिणंदो
चलइ राजलपरिणयण कामिणिनयणाणंदो[1] ॥ १३

अह सेयतुंगतरलतुरइ रहवहि चडइ कुमारो
कन्निहिं कुंडल सीसि मउड गलि नवसरहारो ।
चंदणि अंगटि चंदणघलकापडि सिणगारो
कणयछियालउ झुंपु भरवि पकुडउ पडिफारो ॥ १४

धरहि छत्तु बिहु चमर ढालहिं मृगनयणी
लूणु उतारहिं वरभइणी हरि सुललियवयणी ।
चहुपरि महसइ दसारकोडि यादवभूपाला
हयगयरहपायक्कपमुही किरिहिं कपाला ॥ १५

मंगल गायहिं गोरडीय भट्टह जयजयकारो ।
उग्गसेणघरनारि वरो पहुतउ नेमिकुमारो ॥ १६

---

(१) पाठान्तर नयणानंद—नयणाणंदो के स्थान पर (छन्द १३)

अहसिहिय[२] पयपय हल सहि ए तुह वल्लहउ आवइ
मालिअटालिहिं चडिउ लोउ मण नयणु सुहावइ ।
गउखि वइठी रायमए नेमिनाहु निरखइ
पसइपमाणिहि चचलिहिं लोअणिहि कडखइं ॥ १७

किम किम राजलदेवितणउ सिणगारु भणेवउ ।
चपइगोरी अइधोइ अगि चदनुलेवउ ।
खुपु भराविउ जाइकुसमि कसतूरी सारी ।
सीमंतइ सिंदूररेह मोतीसरि सारि ॥ १८

नवरंगी कुंकुमि तिलय किय रयणतिलउ तसु भाले ।
मोतीकुडल कन्नि थिय विंबोलिय करजाले ॥ १९

अह निरतीय कज्जलरेह नयणि मुहकमलि तबोलो
नगोदरकठलउ कठि अनु हार विरोलो ।
मरगदजादर कंचुयउ फुडफुल्लहं माला ।
करि ककण मणिवलयचूड खलकावइ बाला ॥ २०

रुणुझुणु ए रुणुझुण ए रुणुझुणु ए कडि घघरियाली ।
रिमिझिमि रिमिझिमि रिमिझिमि ए पयनेउरजुयली ।
नहि आलत्तउ वलवलउ सेअंसुयकिमिसि
अंखडियाली रायमए प्रिउ जोअइ मनरसि ॥ २१

वाडउ भरिन जीवडहं टलवलत कुरलत ।
अहूठकोडिरूं उद्धसिय देषइ राजलकतो ॥ २२

अह पूछइ राजलकंतु कांइ पसुबंधणु दीसइ
सारहि बोलइ सामिसाल तुह गोरवु हुस्यइ ।
जीव मेल्हावइ नेमिकुमरु सरणागइ पालइ ।
धिगु ससारु असारु इस्यउं इम भणि रहु वालइ ॥ २३

समुदविजय सिवदेवि रामु केसवु मन्नावइ
नइपवाह जिम गयउ नेमि भवभमणु न भावइ ।
धरणि धसक्कइ पडइ देवि राजल विहलघल
रोअइ रिज्जइ वेसु रूवु बहु मन्नइ निष्फलु ॥ २४

---

(२) ,, अह सहिय—अह सिहिय के स्थान पर (छन्द १७)

उग्गसेणधूय इम भणइ दूसहि दाम्म देहो ।
कां पिरवर कव सुई नयणिहि लाइवि नेहो ॥ २५

आसा पूरइ सिहुसुयण मूं म करि हयासी
इय करि इय करि देव तुम्ह हउं अछउं दासी ।
सामि न पावइ पडिवयणउं तउ कासु कहीअइ
मयगलु नवढ संवरप किम्पि कानि गहीअइ ॥ २६

नेमि न मनइ नेहु देइ संवच्छरदाणुं
उज्जलगिरि संजम लिअउ हुय केवलनाणु ।
राजलदेविसउं सिद्धि गयउ सो देउ थुणीअइ
मलधारिहि रायसिहरसूरिकिउ फागु रमीअइ ॥ २७

[इति श्री नेमिनाथ फागु]

गौतमस्वामी रास

रचनाकाल कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा सं० १४१२ वि०

परिचय

इस रास की रचना खभात में विनयप्रभ उपाध्याय ने की। भडारों में उपलब्ध इस रास की अनेक प्रतियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि यह रास काव्य जनता में भली प्रकार प्रचलित था। इसके प्रचलन का एक बड़ा कारण इसका काव्यत्व भी है। रासकार विनयप्रभ की दीक्षा स० १३८२ की वैशाख सुदी पचमी के दिन आचार्य जिनकुशल सूरी ने अपने करकमलों से की। इस रास की रचना से पूर्व श्री विनयप्रभ 'उपाध्याय' की उपाधि से विभूषित हो चुके थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में भूमिका मे विस्तार के साथ दिया जा चुका है।

रास का साराश

इस रास के चरित्रनायक गौतम का मूल नाम इन्द्रभूति था। गौतम आपके गोत्र का नाम था। आपका जन्म राजगृह (मगधदेश) के समीप गुब्बर नामक ग्राम में हुआ था। आपका शरीर जैसा तेजस्वी था वैसी ही आपकी बुद्धि प्रखर थी। आपका सात हाथ ऊँचा शरीर प्रभावोत्पादक एवं, रूपवान् था। बाल्यकाल में आपने विधिवत् शिक्षा प्राप्त करके युवावस्था में सुखपूर्वक गृहस्थ जीवन बिताना प्रारम्भ किया। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित हो दूर-दूर से आकर पाँच सौ छात्र आपसे शिक्षा ग्रहण करते थे।

इस युग में भगवान् महावीर का यश-सौरभ चतुर्दिक् विकीर्ण हो रहा-था। भगवान् पर्यटन करते हुए एकबार पावापुरी पधारे। उनका उपदेश श्रवण करने के लिये सहस्रों नर-नारी एकत्र हुए। इन्द्रभूति महोदय भी अपने शिष्यवर्ग के सहित वहाँ उपस्थित थे। इन्होंने आकाश-मार्ग से देव-विमानों को आते देखकर मन में विचार किया कि ये देव-विमान इनके यज्ञ के प्रभाव से इन्हींके पास आ रहे हैं। पर जब वे देव-विमान भगवान् महावीर के समवसरण में पहुँचे तो इन्द्रभूति के आश्चर्य और क्रोध की सीमा न रही। इन्द्रभूति को अपनी विद्वत्ता का बड़ा गर्व था अतः वे वादविवाद के लिये अपने शिष्यवर्ग के साथ भगवान् महावीर के समक्ष उपस्थित होकर शास्त्रार्थ

उग्गसेणधूय इम भणइ सूणहि वाम्भइ देहो ।
को विरचउ कव तुहं नयणिहि लाइवि नेहो ॥ २५

आसा पूरइ त्रिभुवणइ मू म करि इयासी
दय करि इय करि देव तुम्ह हउं भछउ दासी ।
सामि न पालइ पडिवनउं छउ कासु कहीजइ
मयगलु उवट संचरए किणि कानि गहीजइ ॥ २६

नेमि न मन्नइ नेहु देइ संवच्छरदाणु
ऊज्जलगिरि संजम लियउ हुय केवलनाणु ।
राजलदेविसउं सिद्धि गयउ सो देउ थुणीजइ
मलधारिहिं रायसिहरसूरिकिउ फागु रमीजइ ॥ २७

[इति श्री नेमिनाथ फागु]

कि हे भगवन् आपने मुझे जीवन भर साथ रखकर अन्तकाल में क्या दूर भेज दिया। लोक-व्यवहार का भी नियम है कि मृत्युकाल में कुटुम्बियों को समीप बुला लिया जाता है किन्तु आपने इस नियम के अनुसार भी मुझे मृत्युवेला में अपने पास न बुलाया। कदाचित् आपने यह सोचा होगा कि गौतम कैवल्य माँगेगा। इस प्रकार विलाप करते करते गौतम को ज्ञान की प्राप्ति हुई, उन्होंने यह सोचा कि वे तो वीतराग थे। उनके साथ राग सम्बन्ध कैसा।

९२ वर्ष की आयु प्राप्त कर गौतम स्वामी मोक्षगामी बने। अन्त के पदों में गौतम की महिमा का अलंकृत वर्णन मिलता है। यही इस रास का सार है।

करने लगे। भगवान् महावीर ने वेदमंत्रों के द्वारा ही उनके संशयों का निराकरण किया। इन्द्रभूति इतने प्रभावित हुए कि वे अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान महावीर के शिष्य बन गए। सर्वप्रथम दीक्षा लेने के कारण आपको प्रथम गणधर की उपाधि मिली। तदुपरान्त आपके भ्राता अग्निभूति एवं ११ प्रधान वैदिक विद्वान् भगवान के शिष्य बन गए। इस प्रकार ११ गणधरों की स्थापना हुई।

गौतम दो-दो उपवास का तप करते हुए पारणा करते थे। आपको जब कभी शास्त्र एवं धर्म के सबन्ध में संशय उत्पन्न होता था, आप भगवान से ज्ञान प्राप्त कर अपनी शंका का निवारण करते। आप ऐसे तपस्वी बन गए कि आपसे दीक्षा प्राप्त करते ही 'केवल ज्ञान' की उपलब्धि हो जाती। किन्तु आपका अनुराग भगवान महावीर में इतना दृढ़ था कि आप स्वतः केवली न बन सके। एक बार भगवान महावीर ने उपदेश देते हुए कहा कि "अष्टा पद के २४ जिनालयों की यात्रा करनेवाला इसी भव में मोक्षगामी होता है"— इस उपदेश को सुनकर गौतम आत्मबल से उस पर्वत पर पहुँच गए। पर्वत के मार्ग में तप करनेवाले १५ ० तपस्वियों ने जब देखा कि गौतम सूर्य की किरणों का आलम्बन ले ऊपर आरोहण कर रहे हैं तब वे अत्यन्त आश्चर्य चकित हुए।

जब गौतम अष्टापद नामक तीर्थ-स्थल पर पहुँचे तो उन्होंने प्रथम (आदिनाथ के पुत्र) भरत-निर्मित दण्ड-कलश-ध्वज विभूषित जिनालय का दर्शन किया। जिनालयों में २४ तीर्थंकरों की मूर्तियों के दर्शन हुए। वे मूर्तियाँ तीर्थंकरों के स्वशरीर के परिमाण में निर्मित हुई थीं। गौतम ने वहाँ वज्रस्वामी के जीवविषयक भूमिका देखकर 'पुंडरीक और 'कंडरीक' के अध्ययन द्वारा प्रतिबोध किया। तीर्थयात्रा से पुनरावर्तन करते हुए १५ ० तपस्वियों को भी आपने ज्ञान दिया। वे तपस्वी ज्ञान प्राप्तकर केवली बन गए।

एक बार गौतम को इस बात का बड़ा विषाद हुआ कि उनके शिष्य तो केवली बन जाते हैं किन्तु मुझे कैवल्य ज्ञान नहीं प्राप्त होता। भगवान ने आपको आश्वस्त किया। जब गौतम की अवस्था ७२ वर्ष की हो गई तो एक दिन भगवान् महावीर उन्हें साथ लेकर पावापुर पधारे और स्वयं वहीं ठहरकर गौतम को देवशर्मा को प्रतिबोध देने के निमित्त दूर गाँव में भेज दिया। गौतम की अनुपस्थिति में भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया। जब यह समाचार गौतम को मिला तो वे बहुत ही दुखी हुए और विलाप करने लगे

कि हे भगवन् आपने मुझे जीवन भर साथ रखकर अन्तकाल में क्या दूर भेज दिया। लोक-व्यवहार का भी नियम है कि मृत्युकाल में कुटुम्बियों को समीप बुला लिया जाता है किन्तु आपने इस नियम के अनुसार भी मुझे मृत्युवेला में अपने पास न बुलाया। कदाचित् आपने यह सोचा होगा कि गौतम कैवल्य माँगेगा। इस प्रकार विलाप करते-करते गौतम को ज्ञान की प्राप्ति हुई, उन्होंने यह सोचा कि वे तो वीतराग थे। उनके साथ राग सम्बन्ध कैसा।

९२ वर्ष की आयु प्राप्त कर गौतम स्वामी मोक्षगामी बने। अन्त के पदों में गौतम की महिमा का अलंकृत वर्णन मिलता है। यही इस रास का सार है।

———

श्री गौतम स्वामी रास

कवि-विनयप्रभ

सं० १४१२ वि०

ढाल पहेली

वीर जिणेसर चरण कमल कमला कयवासो,
पणमवि पभणिसु सामि साल गोयम गुरु रासो।
मणु तणु वयण एकंत करवि निसुणो भो भविया,
जिम निवसे तुम देहगेह गुणगण गह गहिया ॥ १ ॥
जंबुदीव सिरिभरहखित्त खोणीतल मंडण,
मगधदेस सेणीय नरेस रीउदल बल खंडण
धणवर गुब्बर नाम ग्राम नहिं गुणगण सज्जा,
विप्प वसे वसुभूइ तथ्य तसु पुहवी भज्जा ॥ २ ॥
ताण पुत्त सिरिइन्दभूइ भूवलय पसिद्धो,
चउदह विज्जा विविह रुव नारि रस विद्धो (लुद्धो)
विनय विवेक विचार सार गुणगणह मनोहर,
सातहाथ सुप्रमाण देह रूपे रंभावर ॥ ३ ॥
नयण वयण कर चरण जिणवि पंकज जल पाडिय,
तेजे तारा चंद सूर आकाशे भमाडिय।
रुवे मयण अनंग करवि मेल्हिओ निरधाडिय,
धीरमें मेरु गंभीर सिंधु चंगिम चयचाडिय ॥ ४ ॥
पेखवि निरुवम रुव जास जण जंपे किंचिय
एकाकी कलिभीते इथ्य गुण मेहल्या संचिय।
अहवा निश्चे पुब्वजम्मे जिणवर इणे अंचिय
रंभा पउमा गोरि गंग रति हा विधि वंचिय ॥ ५ ॥
नहिं बुध नहिं गुरु कवि न कोई जसु आगल रहियो,
पंचसयां गुणपात्र छात्र हींडे परिवरियो।
करे निरंतर यज्ञकर्म मिथ्यामति मोहिय
इणे छलि होसे चरणनाण दंसणह विसोहिय ॥ ६ ॥

वस्तु

जंवुदीवह जंवुदीवह भरहवासमि,
भूमितल मंडण मगधदेस, सेणियन-रेसर,
वर गुव्वर गाम तिहां विप्प, वसे वसुभूय सुंदर,
तसु भज्जा पुहवी, सयल गुणगण रुव निहाण,
ताण पुत्त विज्जानिलो, गोयम अतिहि सुजाण ॥ ७ ॥

भाषा (ढाल बीजी)

चरण जिणेसर केवल नाणी, चउविह संघ पइट्ठा जाणी,
पावापुर सामी संपत्तो, चउविह देव निकायहि जत्तो ॥ ८ ॥
देव समवसरण तिहाँ कीजे, जिण दीठे मिथ्या मति खीजे,
त्रिभुवन गुरु सिंघासणे बेठा, तसखिण मोह दिगंते पइट्ठा ॥ ९ ॥
क्रोध मान माया मदपूरा, जाअे नाटा जिम दिने चौरा,
देवदुंदुभि आकाशे वाजे, धर्मनरेसर आव्या गाजे ॥ १० ॥
कुसुम वृष्टि विरचे तिहां देवा, चउसठ इंद्रज मागे सेवा,
चामर छत्र शिरोवरि सोहे, रुपे जिणवर जग समोहे (सहु मोहे)॥११॥
उपसम रसभर भरि वरसता, योजनवाणि वखाण करता,
जाणिअ वर्धमान जिन पाया, सुरनर किंनर आवे राया ॥ १२ ॥
कांति समूहे झलझलकता, गयण विमाण रणरणकता,
पेखवि इंद्र भूई मन चिंते, सुर आवे अम्ह यज्ञ होवते ॥ १३ ॥
तीर तरंडक जिमते वहता, समवसरण पहुता गहगहता,
तो अभिमाने गोयम जपे, तिणे अवसरे कोपे तणु कंपे ॥ १४ ॥
मूढा लोक अजाण्यो बोले, सुर जाणता इम काइं डोले,
मू आगल को जाण भणीजे, मेरु अवर किम ओपम दीजे ॥ १५ ॥

वस्तु

वीर जिणवर वीर जिणवर नाण संपन्न,
पावापुरि सुरमहिअ पत्तनाह संसार तारण,
तिहिं देवे निम्मविअ समोसरण बहु सुखकारण,
जिणवर जग उज्जोअकर तेजे करी दिणकार,
सिंहासणे सामी ठव्यों, हुओ सुजय जयकार ॥ १६ ॥

श्री गौतम स्वामी रास

कवि-विनयप्रभ

सं० १४१२ वि०

ढाल पहेली

वीर जिणेसर चरण कमल कमला कयवासो,
पणमवि पमणिसु सामि साल गोयम गुरु रासो
मणु तणु वयण एकंत करवि निसुणो भो भविया,
जिम निवसे तुम देहगेह गुणगुण गह गहिया ॥ १ ॥
जंबुदीव सिरिभरहखित्त खोणीतल मंडण
मगधदेस सेणीय नरेस रीउदल बल खंडण
धणवर गुव्वर नाम गाम नहिं गुणगण सज्जा
विप्प वसे वसुभूइ तत्थ तसु पुहवी भज्जा ॥ २ ॥
ताण पुत्त सिरिइन्दभूइ भूवलय पसिद्धो,
चउदह विज्जा विविह रुव नारि रस विद्धो (लुद्धो)।
विनय विवेक विचार सार गुणगणह मनोहर,
सातहाथ सुप्रमाण देह रूपे रंभावर ॥ ३ ॥
नयण वयण कर चरण जिणवि पंकज जल पाडिय,
तेजे तारा चंद सूर आकाशे भमाडिय
रुवे मयण अनंग करवि मेल्हियो निरधाडिय,
धीरमें मेरु गंभीर सिंधु चंगिम चयचाडिय ॥ ४ ॥
पेखवि निरुवम रुव जास जण जपे किंचिय,
एकाकी कलिभीते इत्थ गुण मेहल्या संचिय
अहवा निश्चे पुव्वजम्मे जिणवर इणे अंचिय,
रंभा पउमा गोरि गंग रति हा विधि वंचिय ॥ ५ ॥
नहिं बुध नहिं गुरु कवि न कोई जसु आगल रहियो
पंचसयां गुणपात्र छात्र हींडे परिवरियो।
करे निरंतर यज्ञकर्म मिथ्यामति मोहिय
इणे छलि होसे चरणनाद दंसणह विसोहिय ॥ ६ ॥

(सिरि गोयम गणधार, पचसया मुनि परवरिय,
भूमिय करय विहार, भवियण जन पडि बोह करे')
समवसरण मझारि, जे जे समय उपजेग ते से पर उपकार,
कारणे पुछे मुनि पवरो ॥ २९ ॥

जिहाँ जिहाँ दीजे दीख, तिहाँ तिहाँ केवल उपजे ए,
आप कन्हे अणहुत, गोयम दीजे दान इम ॥ ३० ॥

गुरु उपरि गुरु भत्ति, सामी गोयल उपनीय;
एणि छल केवल नाण, रागज राखे रंग भरे ॥ ३१ ॥

जो अष्टापद सेल, वदे चडि चउवीस जिण,
आतमल वधि वसेण, चरम सरीरी सोय मुनि ॥ ३२ ॥

इय देसण निसुणेवि, गोयम गणहर सचलिय,
तापस पन्नरसएण तो, मुनि दीठो आवतो ए ॥ ३३ ॥

तपसोसिय नियअग, अम्ह सगति नवि उपजे ए,
किम चडसे दढ काय, गज जिम दीसे गाजतो ए ॥ ३४ ॥

गिरुए एणे अभिमान, तापस जा मने चिंतवे ए,
तो मुनि चडिओ वेग, आलंबवि दिनकर किरण ॥ ३५ ॥

कचण मणि निप्पन्न, दड कलस धज वड सहिअ,
पेखवि परमानद, जिणहर भरतेसर विहिअ ॥ ३६ ॥

निय निय काय प्रमाण, चउदिसि संठिअ जिणह बिंब,
पणमवि मन उल्हास, गोयम गणहर तिहाँ वसिअ ॥ ३७ ॥

वइर सामिनो जीव, तिर्यक जृंभक देव तिहा,
प्रतिबोधे पुडरीक, कडरीक अध्ययन भणी ॥ ३८ ॥

वलता गोयम सामि, सवि तापस प्रतिबोध करे,
लेइ आपणे साथ चाले, जिम जुथाधिपति ॥ ३९ ॥

खीर खाड घृत आण, असिअवूठ अंगुठ ठवि,
गोयम एकण पात्र, करावे पारणो सवि ॥ ४० ॥

पचसया शुभ भावि, उज्जल भरिओ खीरमसि,
साचा गुरु सयोगे, कवल ते केवल रुप हुआ ॥ ४१ ॥

---

१. किसी किसी प्रति मे इतना अश नहीं मिलता ।

भाषा (ढाल श्रीजी)

तव चडिओ घणमाण गाजे, इंदभूइ भूदेव तो
हुंकारो करि संचरिअ कवणसु जिणवर देव तो ॥ १७ ॥
योजन भूमि समोसरण, पेखे प्रथमा रंभ तो
दहदिसि देखे विबिध वधु, आवंती सुर रंभ तो ॥ १८ ॥
मणिमय तोरण दंड धज, कोसीसे नव घाट तो,
वयर विवर्जित जंतुगण, प्रातिहारज आठ तो ॥ १९ ॥
सुरनर किंनर असुर वर, इंद्र इंद्राणी राय तो
चित्ते चमक्किय चिंतवे ओ, सेवंता प्रभु पाय तो ॥ २० ॥
सहस किरण सम वीर जिण पेखवे रुप विशाल तोः
ओह असंभम (व) संभवेरे, सा च इंद्रजाल तो ॥ २१ ॥
तव बोलावे त्रिजग गुरु, इंदभूइ नामेण तोः
श्रीमुखे संसय सामि सवे, फेडे वेद पएण तो ॥ २२ ॥
मान मेल्ही मद ठेली करीं भक्तिए नामे शीस तो
पंच सयांशुं व्रत लीओ ए, गोयम पहेला सीस तो ॥ २३ ॥
बंधव संजम सुणवि करी, अगनिभूइ आवंय तो
नाम लेइ अभ्यास करे, ते पण प्रतिबोधय तो ॥ २४ ॥
इणे अनुक्रमे गणहर रयण थाप्या वीरे अग्यार तोः
तव उपदेसे भुवन गुरु, संयम शुं व्रत बारतो ॥ २५ ॥
बिहु उपवासे पारणुं ए, आपणपे विहरंत तो
गोयम संयम जग सयल जय जयकार करंत तो ॥ २६ ॥

वस्तु

इंदभूइअ इंदभूइअ, चडिअ बहु मान
हुंकारो करि कंपतो समोसरणे;पहोतो तुरंत
अह संसा सामि सवे चरमनाह फेडे फुरंत
बोधि बीज संजाय मने गोयम भवह विरत्त,
दिक्ख लइ सिख्खा सहिअ गणहर पय संपत्त ॥ ७ ॥

भाषा (ढाल चोथी)

आज हुआ सुविहाण आज पचेलिमां पुण्य भरोः
दीठा गोयम सामि जो निय नयणे अमिय सरो ॥ ८ ॥

(सिरि गोयम गणधार, पंचसयां मुनि परवरिय,
भूमिय करय विहार, भवियण जन पडि बोह करे[1])
समवसरण मझारि, जे जे ससय उपजेए ते से पर उपकार,
कारणे पुछे मुनि पवरो ॥ २९ ॥

जिहॉ जिहॉ दीजे दीख, तिहॉ तिहॉ केवल उपजे ए,
आप कन्हे अणहुत, गोयम दीजे दान इम ॥ ३० ॥

गुरु उपरि गुरु भत्ति, सामी गोयल उपनीय,
एणि छल केवल नाण, रागज राखे रग भरे ॥ ३१ ॥

जो अष्टापद सेल, वदे चडि चउवीस जिण,
आतमल बधि वसेण, चरम सरीरी सोय मुनि ॥ ३२ ॥

इय देसण निसुणेवि, गोयम गणहर सचलिय,
तापस पन्नरसएण तो, मुनि दीठो आवतो ए ॥ ३३ ॥

तपसोसिय नियअग, अम्ह सगति नवि उपजे ए,
किम चडसे दृढ़ काय, गज जिम दीसे गाजतो ए ॥ ३४ ॥

गिरुए एणे अभिमान, तापस जा मने चिंतवे ए,
तो मुनि चडिओ वेग, आलबवि दिनकर किरण ॥ ३५ ॥

कचण मणि निप्पन्न, दंड कलस धज वड सहिअ,
पेखवि परमानद, जिणहर भरतेसर विहिअ ॥ ३६ ॥

निय निय काय प्रमाण, चउदिसि सठिअ जिणह बिब,
पणमवि मन उल्हास, गोयम गणहर तिहाँ वसिअ ॥ ३७ ॥

वइर सामिनो जीव, तिर्यक जृंभक देव तिहा,
प्रतिबोधे पुडरीक, कडरीक अध्ययन भणी ॥ ३८ ॥

वलता गोयम सामि, सवि तापस प्रतिबोध करे,
लेइ आपणे साथ चाले, जिम जुथाधिपति ॥ ३९ ॥

खीर खाड घृत आण, अमिअवूठ अगुठ ठवि,
गोयम एकण पात्र, करावे पारणो सवि ॥ ४० ॥

पचसया शुभ भावि, उज्जल भरिओ खीरमसि,
साचा गुरु सयोगे, कवल ते केवल रूप हुआ ॥ ४१ ॥

---

१. किसी किसी प्रति में इतना अश नहीं मिलता ।

भाषा (ढाल त्रीजी)

तव चढियो घणमाण गाजे, इंदभूइ भूदेव तो
हुंकारो करि संचरिय कवणसु जिणवर देव तो ॥ १७ ॥
योजन भूमि समोसरण, पेखे प्रथमा रंभ तो
दहदिसि देखे विबुध वधु, आवंती सुर रंभ तो ॥ १८ ॥
मणिमय तोरण दंड धज, कोसीसे नव घाट तो,
वयर विवर्जित जंतुगण, प्रातिहारज आठ तो ॥ १९ ॥
सुरनर किंनर असुर वर, इंद इंद्राणी राय तो,
चित्ते चमक्किय चिंतवे ए, सेवंता प्रभु पाय तो ॥ २० ॥
सहस किरण सम वीर जिण पेखवि रूप विशाल तो,
एह असंभम (व) संभवए, सा च इंद्रजाल तो ॥ २१ ॥
तव बोलावे त्रिजग गुरु, इंदभूइ नामेण तो
श्रीमुख संसय सामि सवे फेडे वेद पएण तो ॥ २२ ॥
मान मेल्ही मद ठेली करीं, भक्ति नामे शीस तो
पंच सयांसु व्रत लीयो ए, गोयम पहेलो सीस तो ॥ २३ ॥ -
बंधव संजम सुणवि करी अगनिभूइ आवेय तो
नाम लेइ अभ्यास करे, ते पण प्रतिबोधेय तो ॥ २४ ॥
इणे अनुक्रमे गणहर रयण, थाप्या वीरे अग्यार तो
तव उपदेसे भुवन गुरु, संयम शुं व्रत बारतो ॥ २५ ॥
बिहु उपवासे पारणुं ए, आपणपे विहरंत तो,
गोयम संयम जग सयल जय जयकार करंत तो ॥ २६ ॥

वस्तु

इंदभूइअ इंदभूइअ, चढिअ बहु माने
हुंकारो करि कंपतो समोसरणे पहोता तुरंत
आह संसा सामि सवे, चरमनाह फेडे फुरंत
बोधि बीज संजाय मने गोयम भवह विरत्त,
दिक्ख लइ सिक्खा सहिअ गणहर पय संपत्त ॥ २७ ॥

भाषा (ढाल चोथी)

आज हुओ सुविहाण आज पचेलिमो पुण्य भरो,
दीठा गोयम सामि जो निअ नयणे अमिय सरो ॥ २८ ॥

पंचसयां जिणनाह, समवसरणे प्राकारत्रय,
पेखवि केवल नाण, उपन्नू उज्जोय करे ॥ ४२ ॥
जाणे जिणवि पीयूष, गाजंती घण मेघ जिम।
जिणवाणी निसुणेव नाणी हुआ पांचसये ॥ ४३ ॥

वस्तु

इणे अनुक्रमे इणे अनुक्रमेनाण संपन्न, पन्नरहसयपरिवरिया
हरिअ दुरिअ, जिणनाह वदइ
जाणेवि जगगुरु वयण तीहनाण अप्पाण निंदइ
रमच जिणेसर तव भणे, गोयम करिस म खेद।
छेहि जइ आपणे सही, होस्युं तुल्ला भेद ॥ ४४ ॥

भाषा (ढाल पांचमी)

सामीओ ए वीर जिणंद पुनिमचंद जिम उल्लसिय।
विहरि ओए भरहवासंमि वरस बहोत्तर संवसीय।
ठवतो ए कणय पऊमेसु, पायकमलसंघहि सहिया
आविओए नयणाणंद नयर पावापुरि सुरमहिय ॥ ४५ ॥
पेषीओए गोयमसामि देवसमा प्रतिबोध कए
आपणो ए त्रिशलादेवी नंदन पहोतो परमपए
वलतां ए देव आकासि, पेखवि जाणयो जिण समे ए,
तो मुनिय मने विषवाद, नादभेद जिम उपनोए ॥ ४६ ॥
कुण समेये सामिय देख आप कन्हे हुं टालिओए
जाणतो ए तिहुअणनाह, लोक विवहार न पालियो ए।
अति भलुं ए कीधलुंसामि, जाण्युं केवल मागशे ए।
चिंतव्युं ए बालक जेम अहवा केडे लागशे ए ॥ ४७ ॥
हुं किम ए वीर जिणंद, भगते भोलो भोलव्यो ए
आपणोए अविहड नेह नाह न संपे साचव्यो ए
साचो ए एह वीतराग, नेह न जेहने लालिओए,
तिणेसमे ए गोयम चित्त राग विरागे वालिओए ॥ ४८ ॥
आवतुं ए जे उल्लट, रहेतुं रागे साहियुं ए
केवलु ए नाण उत्पन्न गोयम सहेजे उमाहियुं ए
त्रिभुवने ए जयजयकार, केवलि महिमा सुर करेए
गणधरु ए करे वखाण, भवियण भव जिम निस्तरे ए ॥ ४९ ॥

वस्तु

पढम गणहर पढम गणहर, वरिस पचास गिहवासे संवसिस;
तीस वरिस संजम विभूसिय, सिरि केवल नाण,
पुण बार वरस तिहुअण नमसिअ,
राजगही नगरी ठव्यो, बाणुवय वरसाउ,
सामी गोयम गुण-निलो, होस्ये सीवपुर ठाउ ॥ ५० ॥

भाषा (ढाल छठ्ठी)

जिम सहकारे कोइल टहुके, जिम कुसुमहवने परिमल बहके,
जिम चंदन सौगध निधि,
जिमगंगाजल लहेरे लहके, जिम कणयाचल तेजे झलके,
तिम गोयम सोभागनिधि ॥ ५१ ॥

जिम मानससर निवसे हंसा, जिम सुरवर शिरेकणयवतसा,
जिम महुयर राजीव वने,
जिम रयणा-यर रयणे विलसे, जिम अंबर तारागण विकसे,
तिम गोयम गुण केलि रवनि ॥ ५२ ॥

पुनिम दिन (निशि) जिम ससिहर सोहे,
सुरतरु महिमा जिम जग मोहे, पूरब दिसि जिम सहसकरो,
पचानने जिम गिरिवर राजे, नरवइ घरे जिम मयगल गाजे,
तिम जिनसासन मुनि पवरो ॥ ५३ ॥
जिम सुरतरुवर सोहे साखा, जिम उत्ताम मुखे मधुरी भाषा,
जिम वन केतकी महमहे ए,
जिम भूमिपति भूयबल चमके, जिम जिण-मदिर घंटा रणके,
गोयम लब्धे गहगहे ए ॥ ५४ ॥

चिंतामणि करे चडियुं आज, सुरतरु सारे वंछित काज,
कामकुंभ सो वसि हुओ ए,
कामगवी पूरे मन कामी, अष्ट महासिधि आवे धामी,
सामी गोयम अणुसरु ए ॥ ५५ ॥

प्रणवाक्षर पहेलो पभणिजे, माया बीज श्रवण निसुणीजे,
श्रीमुखे (श्रीमति) शोभा संभवे ए,

पंचसयां जिरानाह, समवसरणे प्राकारत्रय,
पेखवि केवल नाण, उपन्नू उज्जोय करे ॥ ४२ ॥
जाणे जिणवि पीयूष, गाजंती घण मेघ जिम
जिणवाणी निसुणेव नाणी हुआ पांचसये ॥ ४३ ॥

वस्तु

इणे अनुक्रमे इणे अनुक्रमेनाण संपन्न, पनरहसयपरिवरिय।
हरिय दुरिय, जिणनाह वदइ
जाणेवि जगगुरु वयण तीहनाण अप्पाण निंदइ।
चरम जिणेसर तव भणे गोयम करिस म खेउ
छेहि जइ आपणे सही, होस्युं तुल्ला बेउ ॥ ४४ ॥

भाषा (ढाल पांचमी)

सामीओखे वीर जिणंद पुनिमचंद जिम उल्लसिय।
विहरि ओए भरहवासंमि वरस बहोत्तर संवसीय।
ठवतो ए कणय पउमेसु पायकमलसंघहि सहिय
आविओए नयणाणंद नयर पावापुरि सुरमहिय ॥ ४५ ॥
पेषीओए गोयमसामि देवसमा प्रतिबोध कए।
आपणो ए त्रिशलादेवी, नंदन पहोतो परमपए।
वलतां ए देव आकासि, पेखवि जाणयौ जिण समे ए,
तो मुनिए मने विषवाद, नादभेद जिम उपनोए ॥ ४६ ॥
कुण समेये सामिय देख आप कन्हे हुं टालिओए।
जाणतो ए तिहुअणनाह, लोक विवहार न पालियो ए।
अति भलुं ए कीधलुंसामि, जाण्युं केवल मागशे ए।
चिंतव्युं ए बालक जेम अहवा केडे लागशे ए ॥ ४७ ॥
हुं किम ए वीर जिणंद, भगते भोलो भोलव्यो ए।
आपणोए अविहड नेह नाह न संपे साचव्यो ए।
साचो ए एह वीतराग, नेह न जेहने लालिओए।
तिणेसमे ए गोयम चित्त राग विरागे वालिओए ॥ ४८ ॥
आवतुं ए जे उल्लट रहेतुं रागे साहियुं ए।
केवलुं ए नाण उत्पन्न, गोयम सहेजे उमाहियुं ए।
त्रिभुवने ए जयजयकार, केवलि महिमा सुर करेए।
गणधरु ए करे वखाण भवियण भव जिम निस्तरे ए ॥ ४९ ॥

वसन्त-विलास फागु

सं० १४००–१४२५ वि०

अज्ञात कवि

परिचय

कई प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि 'वसन्त-विलास-फागु' की रचना 'कन्हड़ दे प्रबन्ध' से पूर्व हो चुकी है। 'कन्हड़ दे प्रबन्ध' का रचनाकाल सं० १५१२ वि० है। अतः इस फागु का समय इससे पूर्व ही मानना चाहिए। कतिपय विद्वानो का मत है कि इस फागु की रचना संवत् १४०० और १४२५ वि० के मध्य हुई होगी।

मंगलाचरण से प्रारम्भ करके कवि वसन्त-ऋतु का वर्णन[1] विस्तार के साथ करता है। इस ऋतु में होनेवाली प्रेमियो की प्रेम-क्रीड़ा[2] का वर्णन है। इस ऋतु में सुसज्जित वनराजि की तुलना कामदेव राजा की नगरी से की गई है। काम राजा है, वसन्त उसका मंत्री, भ्रमरावली उसकी प्रजा, वृक्षावली राजप्रासाद-पंक्ति और उसकी कोमल पत्तियाँ राजध्वजा हैं। इस नगरी में महाराज मदन[3] के आदेश का उल्लंघन करने वाला कोई नहीं। कोयल की मधुर वाणी मानिनी स्त्रियों को मान-त्याग कर प्रेमी से मिलने का आह्वान कर रही है।

फागु की बड़ी विशेषता वियोगिनियों के विरह-वर्णन में पाई जाती है। वसन्त की शोभा से उसकी विरह वेदना किस प्रकार बढ़ती जाती है इसका अत्यन्त मनोहारी वर्णन इस फागु में पाया जाता है।

कवि कहता है कि चम्पक-कली कामदेव के दीपक के समान है और आम्रमंजरी पर गुंजार करनेवाली भ्रमरावली उस धूम-शिखर के समान है

१—वसन्त विलास फागु छंद २–७।

२— ,, ,, ,, ८–१५।

३— ,, ,, ,, १६–२१।

वेइव धुरि अरिहंत नमीजे, विनय पहु उवझाय थुणीजे,
इणे मंत्रे गोयम नमो ए ॥ ४६ ॥

पर परवसता कांइ करीजे देश देशान्तर कांइ भमीजे,
कवरण काजे आयास करो।
प्रह ऊठी गोयम समरीजे काज सवे ततखिण ते सीझे,
नवनिधि विलसे तास घरे ॥ ४७ ॥

चउदहसे (चउदसय) बारोतर वरिसे,
(गोयम गणधर केवल दिवस[1]) खंभ नयर प्रभु पास पसाये
कीयो कवित उपगार परो
आदिही मंगल एह भणीजे परव महोत्सव पहिलो दीजे,
रिद्धि वृद्धि कल्याण करो ॥ ४८ ॥

धन माता जेणे उदरे धरीया, धन पिता जिणकुले अवतरिया,
धन सहगुरु जिणे दीक्षिया ए;
विनयवंत विद्या-भंडार।
जसु गुण पुहवी न लभे पार;
रिद्धि विद्धिकल्याण करो । (वड जिम शाखा विस्तरो)[2] ॥ ४९ ॥

गौतम स्वामीनो रास भणीजे, चउविह संघ रलियायत कीजे,
सयल संघ आणंद करो।
कुंकुम चंदन छरो देवरावो माणक मोतीना चोक पुरावो,
रयण सिंहासण बेसणुं ए ॥ ६० ॥

तिहां बसी गुरु देशना देशे, भविक जीवनां काज सरेसे,
उदयवंत (विजयभद्र) मुनि एम भणे ए।
गौतम स्वामी तणो ए रास, भणतां सुणतां लीलाविलास,
सासय सुख निधि-संपजे ए ॥ ६१ ॥

एह रास जे भणे भणावे वर मयगल लच्छी घर आवे
मन वांछित आशा फले ए ॥ ६२ ॥

---

१ कतिपय प्रतियों में यह अंश नहीं है ।
२ „ „

वसन्तविलास फागु

अज्ञात सं० १४००—१४२५ वि०

पहिलउँ सरसति अरचिसु रचिसु वसतविलासु ।
वीणु धरइ करि दाहिणि वाहणि हंसुलउ जासु ॥ १ ॥

पुहतीय सिवरति समरती हिव रितु तणीय वसंत ।
दहदिसि पसरइं परिमल निरमल थ्या दिशि अंत ॥ २ ॥

वहिनहे गयइ हिमवति वसन्ति लयउ अवतारु ।
अलि मकरदिहिं मुहरिया कुहरिया सवि महकार ॥ ३ ॥

वसततणा गुण गहगह्या महमह्या सवि घनसार ।
त्रिभुवनि जयजयकार पिका रव करइ अपार ॥ ४ ॥

पद्मिनि परिमल बहकइ लहकइ मलयसमीर ।
मयणु जिहा परिपथीय पथीय धाइं अधीर ॥ ५ ॥

मानिनि जनमनक्षोभन शोभन वाउला वाइं ।
निधुवनकेलिक पामीय कामीय अगि सुहाइ ॥ ६ ॥

मुनि जनना मन भेदए छेदए मानिनी मानु ।
कामीय मनह आणदए कदए पथिक पराण ॥ ७ ॥

वनि विरच्या कदलीहर दीहर मडपमाल ।
तलीया तोरण सुदर चदरवाल विशाल ॥ ८ ॥

खेलन वावि सुखालीय जालीय गुउखि विश्रामु ।
मृगमदपूरि कपूरिहिं पूरिहिं जलि अभिराम ॥ ९ ॥

रगभूमी सजकारीय भारीय कुकुम घोल ।
सोवन साकल साधीय वाधीय चपकि दोल ॥ १० ॥

तिहां विलसइ सवि कामुक जामुक हृदयचइ रगि ।
काम जिस्या अलवेसर वेसु रचइ वर अगि ॥ ११ ॥

जो वियोगिनियों के हृदय को मरमीभूत बना कर ऊपर उठ रहा है। इसी प्रकार कलकी के पत्ते कामदेव के शरे (करवत-धार) हैं।

अब विरहिणी की वेदना का वर्णन है। सुखकारी परिधान और आभूषण वियोग काल में असह्य भार के समान प्रतीत होते हैं। उसे चन्द्र दर्शन से पीड़ा और खाद्य पदार्थों से अरुचि उत्पन्न हो जाती है। उसका शरीर क्षीण होता जाता है और उसकी मति डाँवाडोल हो जाती है।[1]

अब विरहिणी नायिका को शुभ शकुन दिखाई पड़ते हैं। उसके मंगलकारी अंग फड़कने लगते हैं और आँगन में कौए की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इससे उसे पति के विदेश से प्रत्यावर्तन की आशा प्रतीत होती है। पति-मिलन की आशा में निमग्न नायिका को सहसा पति-दर्शन होता है और उसके दबे हुए भाव उमड़ पड़ते हैं। वह पति के साथ शृंगार मयी क्रीड़ाओं में संलग्न हो जाती है। अब उसका शरीर प्रफुल्लित हो उठता है।

तदुपरान्त कवि नायिका के शारीरिक सौन्दर्य, प्रसाधन आभूषण आदि आदि विविध शृंगार का वर्णन करता है।[2] फागु की यह भी बड़ी विशेषता है।

उसका मुख कमल के समान शोभायमान है। उसके कानों में रत्न जटित कुण्डल झूल रहे हैं। कंठ में मुक्ताहार सुशोभित है। उसकी सुन्दर वेणी पीठ पर काम की तलवार के समान घूम रही है। उसके सीमन्त में केशर और केश में मोती शोभायमान हो रहे हैं। उसकी नुकीली नाक तिल कुसुम के समान है। उसकी हथेली मंजिष्ठ रंग के समान है। इसी प्रकार नायिका के हस्त, वक्ष नाभि कटि-प्रदेश आदि का सरस वर्णन है।[3] इसके उपरान्त पति-पत्नी की शृंगारी लीलाओं का वर्णन है।

अब नायिका विरह काल की वेदनाओं का वर्णन करती हुई पतिदेव को समासोक्ति के द्वारा उपालम्भ देती है। अन्तिम छन्दों में श्रोताओं के लिए आशीर्वचन है।

१—वसन्त विलास फागु (छंद १८ से ४५ तक)।
२— ” ” (छंद ४९ से ५२ तक)।
३—वसन्त विलास फागु— छंद ५१ से ५८ तक)।

इण परि कोइलि कूजइ पूजइं युवति मनोर ।
विधुर वियोगिनी धूजइ कूजइ मयणकिशोर ॥ २६ ॥

जिम जिम विहसइ वणसइ विणसइ मानिनी मानु ।
यौवन मदिहिं उदच ति ढपति थाइ युवान ॥ २७ ॥

जइ किमइ गजगति चालइ सालइ विरहिणि अंगु ।
वालइ विरहि करालीय वालीय चोलीय अंगु ॥ २८ ॥

घूमइ मधुप सकेसर केसर मुकुल असंख ।
चालइ रतिपति सूरइ पूरइ सुभटि कि शंख ॥ २९ ॥

वउलि विलूला महुअर वहुअ रचइं झणकार ।
मयण रहइ किरि अणुदिण वदिण करइ कइ वार ॥ ३० ॥

चापला तरूयरनी कली नीकली सोवन वानि ।
मार मारग ऊदीपक दीपक कलीय समान ॥ ३१ ॥

वांधइ कामुकि करकसु तरकसु पाडल फूल ।
माहि रच्यां किरि केसर ते सरनिकर अमूल ॥ ३२ ॥

आवुलइ मांजरि लागीय जागीय मधुकरमाल ।
मूंकइ मारु कि विरहिय हीअइ स धूमवराल ॥ ३३ ॥

केसूयकली अति वाकुडी आकुडी मयणची जाणि ।
विरहिणिना इणि कालि ज कालिज काढइ ताणि ॥ ३४ ॥
वीर सुभट कुसुमायुध आयुध शालअशोक ।
किशल जिस्या असि झबकइ झबकइ विरहिणी लोक ॥ ३५ ॥
पथिक भयंकर केतु कि केतुकिदल सुकुमार ।
अवर ते विरहविदारण दारण करवतधार ॥ ३६ ॥

इम देषीय वनसपइ कपइ विरहिणि साथु ।
आसूअ नयण निशा भरइ सामरइ जिम जिम नाथु ॥ ३७ ॥

विरहि करालीय फालीय वालीय चोलीय अगु ।
विषय गणइ तृण तोलइ बोलइ ते वहु भग ॥ ३८ ॥

रहि रहि तोरीय जो इलि कोइलिरयु बहु वास ।
नाहुलउ अजीय न आवइ भावइ मू न विलास ॥ ३९ ॥

अभिनव परि सिणगारीय नारीय मिलीय विससि ।
चंदन भरइ कचोलीय चोलीय मंडनरेमि ॥ १२ ॥

चंदनवन अवगाहीय म्हाइय सरवरि नीर ।
मंदसुरभिहिमसलय दक्षिण वांइ समीर ॥ १३ ॥

नयर निरूपमु ते वनु औवनु तरुणउ युवान ।
वासभुवनि यहिं विहगइ अलसय अलीअल आण ॥ १४ ॥

नव यौवन अभिराम ति रामति करई सुरंगि ।
स्वर्गि त्रिस्या सुर मासुर रासुर रसु रमइ वर भगि ॥ १५ ॥

कामुकजनमनजीवनु तो घनु नगर सुरंग ।
राजु करइ अवर्भगिहि रंगिहिं राउ अनंग ॥ १६ ॥

अलिजन वसइ अनंत रे वसंतु तिहां परधान ।
सम्भर वासनिकेतन केतन किशलसंतान (संतान) ॥ १७ ॥

वनि विरचइ भीनेवनु चंदनु चंदवउ मीतु ।
रति मनइ प्रीति सिउ साहए माइए त्रिभुवन चीतु ॥ १८ ॥

गरूउ मदन महीपति धीपति सहण न जाइ ।
करइ नवी कइ जुगति रे जगति प्रतापु न जाई ॥ १६ ॥

कुसुम सर्ण करि भणइ रे गुणइ रे भमरला माल ।
लपु लावणी नवि चूकइ मू कइ रार सुकुमाल ॥ २० ॥

मयणु ति वयण निरोपए लोपए कोइ न आण ।
मानिनी जनमन हाकए ताकए किरास कृपाण ॥ २१ ॥

इम देपी रिधि कामनी कामिनी किन्नर कंठि ।
नेहगहेली मानिनी मानती मूकइ गठि ॥ ॥

कोइलि आंबुलाडालिहिं आलिहिं करइ निनादु ।
कामवणु करि आइसि आइसि पाडए सादु ॥ २३ ॥

थंभण पिय न पयोहर मोहु रचइ मग मारि ।
मान रचउ त्रिस्या कारण तारणु दीइ विष्यारि ॥ २४ ॥

माहु निठी छिमगामनि सामटि मइलु म वारि ।
मयणु महामड न महीइ सहीइ हणइ प पाणि ॥ २५ ॥

इण परि कोइलि कूजइ पूजइ युवति मनोर ।
विधुर वियोगिनी धूजइ कूजइ मयणकिशोर ॥ २६ ॥

जिम जिम विहंसइ वणसइ विणसइ मानिनी मानु ।
यौवन मदिहिं उदच ति ढपति थाइ युवान ॥ २७ ॥

जइ किमइ गजगति चालइ सालइ विरहिणि अंगु ।
वालइ विरहि करालीय वालीय चोलीय अंगु ॥ २८ ॥

घूमइ मधुप सकेसर केसर मुकुल असंख ।
चालइ रतिपति सूरइ पूरइ सुभटि कि शख ॥ २९ ॥

वउलि विलूला महुअर वहुअ रचइं झणकार ।
मयण रहइ किरि अणुदिण वदिण करइ कइ वार ॥ ३० ॥

चांपला तरूयरनी कली नीकली सोत्रन वानि ।
मार मारग ऊदीपक दीपक कलीय समान ॥ ३१ ॥

वांधइ कामुकि करकसु तरकसु पाडल फूल ।
माहि रच्यां किरि केसर ते सरनिकर अमूल ॥ ३२ ॥

आवुलइ माजरि लागीय जागीय मधुकरमाल ।
मूकइ मारु कि विरहिय हीअइ स धूमवराल ॥ ३३ ॥

केसूयकली अति बाकुडी आकुडी मयणची जाणि ।
विरहिणिना इणि कालि ज कालिज काढइ ताणि ॥ ३४ ॥

वीर सुभट कुसुमायुध आयुध शालअशोक ।
किशल जिस्या असि झबकइ झमकइ विरहिणी लोक ॥ ३५ ॥

पथिक भयंकर केतु कि केतुकिदल सुकुमार ।
अवर ते विरहविदारण दारण करवतधार ॥ ३६ ॥

इम देषीय वनसपइ कपइ विरहिणि साथु ।
आसूअ नयण निशा भरइ सामरइ जिम जिम नाथु ॥ ३७ ॥

विरहि करालीय फालीय वालीय चोलीय अगु ।
विषय गणइ तृण तोलइ वोलइ ते वहु भग ॥ ३८ ॥

रहि रहि तोरीय जो इलि कोइलि२यु बहु वास ।
नाहुलउ अजीय न आवइ भावइ मू न विलास ॥ ३९ ॥

घर वरि हार ते भार मू सयरि सिंगार अंगार ।
चीतु हरइ नवि चंदनु चेतु नही मनोहार ॥ ४० ॥

माइ मूं रूप अनीठउं दीठउं गमइ न चीर ।
भोजनु भासु ऊभीटउ मीटउ सवइ न नीर ॥ ४१ ॥

सकलकला तुम निशाकर स्या कर सयरि संतापु ।
अबला म मारि कलंकिय शंकियरे हिव पाप ॥ ४२ ॥

भमरला छोडि न पाखलि आंखल म्यां बमइ सयर ।
चांदुलो सयर संतापण आपण तो नहीं वयर ॥४३॥

वहिनूए रहइ न मनमथ मनमथतउ दीहराति ।
अंग अनोपम शोषइ पोषइ वयरू अराति ॥ ४४ ॥

कहि सहि मुझ प्रिय वातडी रातडी किमइ न जाइ ।
पोहिलउ मकरनिकेतन चेतु नही मुझ ठाइ ॥ ४५ ॥

सखि मुझ फरकइ जांघडी तां घडी बिहुं लगइ आजु ।
रूप सवे हिव भामिसु पामिसु प्रिय तणउ राजु ॥ ४६ ॥

विरहु सहू तहिं भागलइ कागलउ कुरलउ देखि ।
वायसना गुण वरणए करण ए स्वजीय विशेषि ॥ ४७ ॥

धन धन वायस तूं सर मूं सरवसु तूं देस ।
मोकनि कूर करंबलउ आंरवउ बाइ हूं सवेसु ॥ ४८ ॥

वेसु कपूरनी वासि रे वासि वली सरु पउ ।
सोवन चांच निरूपम रूपम पार्श्वीउ वेउ ॥ ४९ ॥

शकुन विचारि समावीया आवीया तीर्ह वालंम ।
रमि मरि निज प्रिय निरखीय हरिषिय दिइ परिरंभ ॥ ५० ॥

रंगि रमइ मनि हरिसीय सरिसीय निज भरतारि ।
दीसइं ते गयगमणीय नमणीय कुसुमर मारि ॥ ५१ ॥

कामिनी नाहुला नीं सुख तीं मुखि कहण न जाइं ।
पामीय नइ प्रियसंगम अंग मनोहर थाइं ॥ ५२ ॥

पूंप भरी सिरि केतुकि सेत किया सिंगार ।
दीसइं ते गयगमणीय नमणीय कुसुमकार मारि ॥ ५३ ॥

सहजि सलील मदालस आलसीया ती ह अग ।
रासु रमइं अबला बनि लावनिसयरिसु रंग ॥ ५४ ॥

कान कि झलकइं वीज नउ वीजनउ चंद्र कि भालि ।
गल्ल हसइ सकलंक मयंकह बिंबु विशाल ॥ ५५ ॥

मुख आगलि तुं मलिन रे नलिन जई जलि न्हाइ ।
दंतह वीज दिपाडि म दाडिम तु जि तमाहि ॥ ५६ ॥

मणिमय कुंडल कानि रे वानि हसइ हरीयाल ।
पचमु आलति कठि रे कठि मुताहल माल ॥ ५७ ॥

वीणि भणउ कि भुजंगमु जंगमु मदनकृपाण ।
कि रि विषमायुधि प्रकटीय भृकुटीय धणुह समाण ॥ ५८ ॥

सीसु सींदूरिं पूरिय पूरीय मोतीय चगु ।
रापडी जडीय कि माणिकि, जाणिकि फणिमणि चगु ॥ ५९ ॥

तीह मुखि मुनि मन सालए चालए रथ कि अनंगु ।
सूर समान कि कुडल मडल कियां रथ अग ॥ ६० ॥

भमह कि मनमथ धुणहीय गुणहीय वरतणु हार ।
वाण कि नयण रे मोहइ सोहइ सयल ससारु ॥ ६१ ॥

हरिण हरावइ जोतीय मोतीय नां शरि जालि ।
रंगि निरुपम अधम रे अधर किया परवाल ॥ ६२ ॥

तिल कुसुमोपम नाकु रे लाकु रे लीजइ मूठि ।
किशलय कोमल पाणि रे जाणि रे चोल मजीठ ॥ ६३ ॥

वाहुलता अति कोमल कमल मृणाल समान ।
जीपइ उदरि पचानन आनन नहीं उपमानु ॥ ६४ ॥

कुच वि अमीयकलसा पणि थापणि तणीय अनंग ।
तीहंचउ रापणहारु कि हारु ति धवल भुजग ॥ ६५ ॥

नमणि करइ न पयोधर योध र सुरत सग्रामि ।
कचुक त्यजइ सनाहु रे नाहु महाभडु पामि ॥ ६६ ॥

नाभि गंभीर सरोवर सरवरि त्रिवलि तरंग ।
जघन समेखल पीवर चीवर पहिरिरिथि चंग ॥ ६७ ॥

निरुपमपणाइ मिथि तां घडी कांचली उपम न आइ ।
करि कंकण पइ नेउर केउर बांहडीआइ ॥ ६८ ॥

बलविहिं लोचन मींचइ हिंयइ वालिहि धकि ।
धकि हुयाइ प्रिय कर्माव रे रमलकरइ खलकेलि ॥ ६९ ॥

धकि दिइ सहि तालीय तालीय छंदि रास ।
एकि दिइ उपालंभु वालंभरहिं सविलास ॥ ७० ॥

गुरुकलई मुख मचकोडइ माडइ ललवट भंगु ।
घाति स धनुष पयोहर लोहर भिलु सुरंगु ॥ ७१ ॥

पाडल कली अति कूंअली तुं अलीयल म धंधोलि ।
वर्ज गुणवेम ति साचवं काचवं महीउं म रोलि ॥ ७२ ॥

कंटकसंकटि एवडइ केवडइ पइसी म गु ।
त्रयकपणई गुण माणइ जाणइ परिमल रंगु ॥ ७३ ॥

बउलसिरी मद्धुमीभल इ भलपणु अति राज ।
संपति विणु तणु मालती मालती वीसरी भाज ॥ ७४ ॥

भालइ नेह पराणउ आणाउ भलउ सखि गु ।
भलग खित अति नमया इ दमया इ लिइ रसु रंगु ॥ ७५ ॥

भालइ विलसिया विवर रे भमर निहालइ मागु ।
आवरियां इथि निरगुण नीगुण स्युं तुम्ह लागु ॥ ७६ ॥

केसूय गरयु म तुं धरि मूं सिरि मसणु पइठु ।
मालइ विरहि चहुअ वसु भमहु मणी बइठु ॥ ७७ ॥

सखि भसि भलउ न चांपइ चांपइ लिहइ न गंधु ।
रूअउ पोइग लागइ भागइ इस्यु निर्गंधु ॥ ७८ ॥

भमरि भमंतइ गुण करइ भगर कि कोरीउ काइ ।
कमीय रे रांथि परांसडइ वंस विणासइ सोइ ॥ ७९ ॥

मूरष प्रेम सुहांतीय जातीय जईय म चीति ।
विहसीय नवीय निवालीय वालीय मडपि प्रीति ॥ ८० ॥

एक थुड वउल नइ वेरल वेउ लतां नव नेहु ।
भमर विचालइं किस्या मरइ पामर विलसि न वेउ ॥ ८१ ॥

मकरंदि मातीय पदमिनि पदमिनी जिम नव नेहु ।
अवसरी ले रखु मूंकइ चूकइ भमर न देहु ॥ ८२ ॥

भमर पलास कसा बुला आबुला आबिली छांडी ।
कुचभरि फलतकि तरुणीय करुणी स्यु रति माडि ॥ ८३ ॥

इणपरि निज प्रियु रजवइ मुजवयण इणि टाइ ।
धनु धनु ते गुणवत वसतविलासु जि गाइं ॥ ८४ ॥

चर्चरिका

चौबीसों जिनों और सरस्वती को प्रणाम कर अविचल भाव से गुरु की आराधना कर मस्तक हाथ जोड़कर कहता है कि मैं अपने जीवन को सफल करूँगा। धार्मिक जन इसे ध्यान लगाकर सुनें। मैं चर्चरी गाऊँगा। हे माँ तुम मुझे आज्ञा दो जिससे मैं जाकर उज्जयन्त गिरि में त्रिभुवननाथ की वंदना करूं। माँ ने कहा—"रास्ता कठिन है, बहुत से पहाड़ हैं, जमीन पर सोना पड़ेगा। तेरा शरीर धूमिल हो जायगा।' उसने उत्तर दिया—'जो बाल्यावस्था या यौवन में गिरनार नहीं गया उसको अनेक बार घर घर बार के चक्कर लगाने पड़ेंगे। यह देह असार है। मैं उज्जयन्त गिरि में जाकर नेमिकुमार की वन्दना करूँगा। इस प्रकार कहकर सिर पर पोटली रख धार्मिकों के साथ में सम्मिलित हो गया। बढ़वान होता हुआ साबलीज गया। कंकड़ों में पैर घायल हो गए। गर्म-गर्म लू चलने लगी। जो कायर थे वे लौट गए। जो साहसी थे वे आगे बढ़े। वे सहजिगपुर गंगिलपुर अनन्तकोट होते हुए आगे बढ़े। उन्हें सामने गिरनार का पर्वत दिखाई देने लगा। लोग प्रसन्नता से नाचने लगे।

गिरनार की तली तेजपाली स्थान में उन्होंने प्रथम जिनेश्वर की वन्दना की। गजागत जाकर उन्होंने कालमेघ का पूजन किया। मार्ग कठिन था किन्तु सब पर्वत की चोटी पर पहुँचे। फिर शीतल वायु चली। शरीर मानो नवीन सा बन गया। अम्बा ने बड़ी कृपा की।

चर्चरिका

कवि अज्ञात-काल अज्ञात

जिण चउवीस नमेविणु सरसइपय पणमेवि ।
आराहउ गुरु अप्पणउ अविचलु भावु धरेवि ॥ १॥

कर जोडिउ सोलणु भणइ जीविउ सफलु करेसु ।
तुम्हि अवधारहु धंमियउ चच्चरि हउं गाएसु ॥ २

मणि उमाहउ अंमि सुहु मोकल्लि करिउ पसाउ ।
जिम्व जाइवि उज्जितगिरि वदउ तिहुयणनाहु ॥ ३ ॥

नइ विसमी डुगर घणा पूत दुहेलउ मग्गु ।
भूयडियहु सूएसि तुहु दूवलि होसइ अगु ॥ ४ ॥

वालइ जोयणि न गिया अंमि जि तहिं गिरिनारि ।
ते जमंतरि दूत्थिया हिंडहिं परघरवारि ॥ ५ ॥

इअ असारी देहडी अंमि जि विढपइ सारु ।
तिणि कारणि उज्जितगिरि वदउ नेमिकुआरु ॥ ६ ॥

करि करवत्ती कूयडी सिरि पोटली ठवेवी ।
मिलियउ धम्मियसाथडउ उज्जिलमग्गि वहेई ॥ ७ ॥

इह वढवाणइ चउहटइ दीसइ सीहविमाणु ।
रनडुलइ वोलावी अंमुलअग्गेवाणि ॥ ८ ॥

इय वढवाणइ जि हट्टइ हियडउ रइ न करेइ ।
दिवि दिवि वदइ नेमिजिणु चडियउ गिरिसिहरेहिं ॥ ९ ॥

पाइ चहुट्टइ कक्करीउ उन्हालइ लू वाई ।
जे कायर ते वलिया जे साहसिय ते जाइ ॥ १० ॥

साहिलडा सरवरतलिहिं उग्गिउ दवणछोडु ।
उजिलि जते धमिए गुंथिउ नेमिहिं मउडु ॥ ११ ॥

सहलिगपुरि बोलेविणु गंगिलपुरहिं पहुतु ।
माडी फडिजि संदेसडउ मंनु जियोजे पुत्तु ॥ १२ ॥

मइ लसमीचरु बोलियं पेखियि बहु य पलास ।
सउ हियडर्उ निंबरु मिउ मुक्क कुटुंबह आस ॥ १३ ॥

विसमिय दोसहि नइ पणिय डुंगर नत्थि च्छेउ ।
हियडर्उ नेमि समप्पियउ जं भावइ विघ नेउ ॥ १४ ॥

कर्रवदियालं बोलियर्उ अथवपुरू जहिं ठाइं ।
विमउ तहिं आवासडउ हियउ विमहि थाइ ॥ १५ ॥

नालियर्रां डुंगरितहिहिं बहुचोराउलिठाई ।
धम्मियडा बोलिउ गिया अमुलतणइ सहाई ॥ १६ ॥

मालडागवुर्सुनउ अमियडउं वसेइ ।
धम्मिय किपउ वीसामउ सुरधारउंभरहिं ॥ १७ ॥

जो दीसइ वटठु घसउ सो डुंगरु गिरनार ।
जहिं अच्छइ आवासियउ सामिउ नेमिकुमारु ॥ १८ ॥

संगूलसि न मग्गु रहिउ मंनु वइबेह दिट्टु ।
साबइड मंगु पत्तालियं गोवाउलिहिं पइट्टु ॥ १९ ॥

मारुनई वह बोलिउ नावइ धंमिउ लोउ ।
जमिलि दीपउ बोहिमउ सुरटठिय हुउ जोउ ॥ २० ॥

बोइ देखवि अउ गिया सांकलि बोलिवि ।
धंमिय किमउ आवासडउ वंधूसरितलि नेई ॥ २१ ॥

ऊविससमगि बहंता रज्जु लागइ मसु मंगि ।
बलि किजउं तसु धमियह इंदु परसइ समि ॥ २२ ॥

जे मलि मइला पहिमडा ते मइला म भणेजे ।
पावमली जे मइलिया ते मइला इ सुणेजे ॥ २३ ॥

एउ वाडइ लोबउं कोन्उ सलि गिरिनार ।
जं दीसइ बवलपली पर्बयउंकतणपार ॥ २४ ॥

घर पुर देख्ख बवलिया घम बवली दीसंति ।
धंमी सा बवलपली उज्जिलितलि निवसंती ॥ २५ ॥

चउणथली मेलेविणु जउ लागउ गढमग्गि ।
तउ धम्मिउ आणंदियउ हरिसु न माइउ अंगि ॥ २६ ॥

रिसहजिणेसरु वंदियउ गढि आवासु करेवी ।
नाचइ धंमिउ हरिसियउ हियडइ नेमि धरेवी ॥ २७ ॥

गढु वोली जउ चालीयउ तउ मणि पूरिय आस ।
वलि किज्जउ हउं जंवडिय जोयण वूढ पंचास ॥ २८ ॥

टोलह उपरि मागडउ सो लघणउ न जाइ ।
पाउ खिसियउ विसमउ पडइ हिय विअद्धइ थाई ॥ २९ ॥

अचणचाणी नइ वहइ दिट्ठु दमोदरु देउ ।
अजणमिलहि जि अजिया धन्न ति नयणा बेउ ॥ ३० ॥

तरवरुतणइ पलावडे रुद्धउ मागु जवेवि ।
कालमेघु जोहारियउ वऴापदि जाएवी ॥ ३१ ॥

अंबाजवूराइणिहिं वहु वणराइ विचित्त।
अविलिए करवंदिएहिं वंसजालि सुपवित्त ॥ ३२ ॥

नीझरपाणिउ खलहलइ वानर करहि चुकार ।
कोइलसद्द सुहावणउ तहिं डुगरि गिरिनारि ॥ ३३ ॥

जउ मइ दिट्ठी पाजडी उच दिट्ठु चडाऊ ।
तउ धम्मिउ आणंदियउ लद्ध सिवपुरि ठाउ ॥ ३४ ॥

हियडा जघउ जे वहइं ता ऊर्जिति चडेजे ।
पाणिउ पीउ गइंदवइ दुख जलजलि देजे ॥ ३५ ॥

गिरिवाइ झम्झोडियउ पाय थाहर न लहंति ।
कडि त्रोडइ कडि थक्की हियडउ सोसह जंति ॥ ३६ ॥

जाव न धधलि घल्लिया लखुपत्तीपाण ।
ताव कि लब्भहिं चिंतिया हियडा ऊणत्ताण ॥ ३७ ॥

डुगरडा अवो फरिं लग्गउ सीयलि वाउ ।
हूय पुण नवदेहडी अमुलि कियउ पसाऊ ॥ ३८ ॥

———

नल-दवदती रास

(महीराज कवि कृत)

संवत् १५३६ वि०

कवि प्रारम्भ में आदि तीर्थंकर एवं ब्रह्मपुत्री सरस्वती की स्तुति के उपरान्त नल-दमयन्ती की कथा का वर्णन करता है। इस वृहद् रास की सम्पूर्ण छन्द संख्या १२५४ है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से सबसे उत्कृष्ट भाग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। नल-दमयंती के प्रसिद्ध कथानक का उपयोग जैन आचार्यों ने अपने कर्म-सिद्धांत के प्रतिपादन एवं दान-महिमा के वर्णन के लिये किया है। यह एक सुन्दर साहित्यिक कृति है। उद्धृत अंश का सारांश इस प्रकार है—

जब नल अरण्य प्रवेश में दमयन्ती को त्याग कर चला गया तो वह विलाप करने लगी—हे माता, नल के बिना मैं किस प्रकार जीवित रह सकती हूँ। *सद्‌गुणों से पूर्ण विलक्षण मत्स्य-वेधी हमारे पति कहाँ।* प्रियतम प्रियतम पुकारती हुई दमयन्ती दिशा विदिशा भटकने लगी। वह पुकारने लगी कि हे चन्द्र, सूर्य एवं वन के देवता! आप लोगों ने कहीं हमारे पतिदेव को देखा है। इस प्रकार विलाप करती हुई वह अपने दुर्भाग्य का कारण ढूँढ़ती है कि किस अधर्म के कारण मुझे इस भीषण आपदा का सामना करना पड़ा।

जब दमयन्ती ने अपने वस्त्र को देखा तो उस पर रक्ताक्षित अक्षरों में लिखा था कि तू अपने पितृगृह चली जा। तेरा पितृकुल उज्ज्वलशील है। वे लोग पुण्यवान हैं। तू सुविचार शीला है। मन में धैर्य धारण करो। अब दमयंती दुखी होकर पीहर चली और रात-दिन 'नल' नामक दो अक्षरों का जाप करने लगी।

इसके उपरान्त कवि वन्य पशुओं की विभीषिका का वर्णन करता है। जंगली हाथी, सर्प सिंह शूकर, चीता अष्टापद शंबर, शरभ आदि की भयंकर ध्वनि सुनाई पड़ती है। दावानल की ज्वाला प्रज्वलित होती दिखाई पड़ती है। भूत राक्षस और क्षेत्रपाल घूमते दृष्टिगोचर होते हैं। आकाश गामी गन्धर्व और विद्याधर शाकिनी और डाकिनी आदि राक्षस दिखाई पड़ते हैं। योगिनियाँ स्थान-स्थान पर घूमती हैं। इनके मध्य दमयन्ती शील रूपी कवच धारण करके नल' का निरंतर नाम जपती हुई अपने पितृगृह को चली जाती है।

नल-दवदंती रास

महीराज कृत

स० १५३९ वि०

चउपई

मुख पखालेवा गयु प्रीउडउ, आवतु हुसिइ कत रूअडउ ।
वाट जोइ नारी रही तिहां, 'मझमूकीनइ नल गयु किहां ? ॥४३६॥

सुदर दीठउ रूपिइ करी, कोई किंनरी गई हुसिइ अपहरी ।
कत नावइ, घणी वेला थई, नावइ तु कस्यू कारण भई ? ॥४३७॥

मूहनइ सही ए मेहली गयु, आपणपूं निश्चित ज थयु ।
मूकी जावू तुझनइ नवि घटइ, आपणपू हईइ आवटई ॥४३८॥

कमललोचन ते माहरु वाहलउ, भलु कीधु नलजीइ टालउ ।
कोइ जईनइ कतनइ वालु, किम हींडसिइ मोरु जीवनपालु ?' ।४३९॥

राग फालहिरु । जोइ न विमासी०

दवदती तिहा विलाप करइ,
'नल विना किम रहीइ रे माइ ? ।
सगुण सुवेधी सुदर कता, ए दुष
कहिनइ कहीइ रे माइ ?' ॥४४०॥

'प्रीऊ प्रीऊ' करती नारी हींडइ,
दिसि विदिसिइ ते जोती रे ।
दुख धरीनइ नीसासु मेहलइ,
अवला नारी रोती रे ॥ ४४१ ॥

'रहीअ न सकू तुम विण नलजी ।
कहीअ न सकूं तोइ रे ।
माहरइ मनि छइ तूह जि कता ।
तू विण अवर न कोई रे ॥ ४४२ ॥

सिउ अवगुण मुझ दइवइ वसीउ ?
जे मेहीं निराधार रे ।
सिइ ऊवेखी माहरा कंता ।
निषधपुत्र ! सुविचार रे ॥ ४४३ ॥

चंद्रसूरिज यनवेषदा सांभलु !
नलजी वन किहां दीठु रे ? ।
ते कंतानइ मेलवु मझनइ,
मूह स्यूं कंत ज रूठउ रे ॥ ४४४ ॥

सुणि तू जीवनस्वामी !
माहरा मन ताहरूं किम वहिउं रे ? ।
गुण नवि वीसरइ कंता !
ताहरा, मइ तु कोइ न कहिउं रे ? ॥ ४४५ ॥

स्या माटिइ वाहला !
तूंम रीसाणु ? हूं ते नारी तोरी रे ।
तइ छेहु मलु मझनइ आपिउ
यधी कीधी तइ जूरी रे ॥ ४४६ ॥

सी परि करीसि ? किहां हूं जाईसि ?'
'नल नल' कही ते रडइ रे ।
फूटइ हईडूं सीस आफ्रेटइ,
पगि पगि ते नारि आखडइ रे ॥ ४४७ ॥

'कइ मइ कोइ मुनिवर संतापिउ ?
कइ ऊगती वेलि कापी रे ? ।
कइ मइ कहिना भंडार ज लूस्या ?
कइ लीधी वस्तु नापी रे ? ॥ ४४८ ॥

कइ मइ कूडूं आल ज दीधूं ?
कइ मइ छेघा वृक्ष रे ।
कइ मइ कूडकपट ज केलविउं ?
कइ संतापिया वक्ष रे ? ॥ ४४९ ॥

देवगुरुनी मइ निंदा कीधी ?
कहिसिउं कीधु द्रोह रे ? ।

खेदिइ मर्म पीत्र्यारा बोल्या ?
जे मइ पामिउ विच्छोह् रे ।। ४५० ।।

ढाल ।

तुझ ऊपरि मोरी आसडी, किम जासिइ मझ रातडी ।
कहि आगलि करूं रावडी, चरणकमल की दासडी ॥ ४५१ ॥
चचल चपल तोरी आंखडी, जैसी कमला दलची पाखडी ।
तोरी भमहि अछइ अणीआलडी, एहवइ नल जीइ हूं छडी ।।४५२।।
वाहलउ न मिलइ ता आखडी, किसीअ न खाउ सूखडी ।
ते विरहइ नही भूखडी, रग गयु एहनु ऊखडी ॥ ४५३ ॥
जोउ छउं कता ! वातडी, सार करु न अह्मारडी ।
का मेल्ही निराधारडी ? किहा लागइ छइ वारडी ? ॥ ४५४ ॥
जिम मेहनी वाट जोइ मोरडी, कंता ! ताहरी छउ गोरडी ।
मेल्हणवेला नही तोरडी, अवर पुरुषस्यूं कोरडी ।। ४५५ ।।
सी आवी तुम रीसडी ? नारी कणकनी दीवडी ।
किम एकला नावइ नींदडी, पूरव भवनी प्रीतडी ।। ४५६ ।।
काकिमपणउ धरिउं जिम गेडी, ढलवलती मेह्ली जिम दडी ।
सघातिइ हू सीद तेडी ? ताहरी न मेल्हउं हू केडी ॥ ४५७ ॥
तुमसिउ कता ! नही कूडी, नारी सविहुमांहि हूं भूडी ।
जाणज्यो कता ! नही कूडी, कोइ ल्यावइ नलनी शुद्धि रूडी ? ।।४५८।।
प्रकृति थई कता ! अति करडी, स्या माटिइ तूं गयु मरडी ? ।
इम नवि जईइ वाल्हा ! वरडी, वांधी छइ प्रेम गठडी ॥ ४५९ ॥
नल सरखी न मिलइ जोडी, बालापणनी प्रीति त्रोडी ।
कपट करीनइ का मोडी ? आ रानमाहि हू का छोडी ? ।। ४६० ।।
किम तिजी माया एवडी ? मझ हससिइ तेवडतेवडी ।
कटकि वींटी जेवडी, भमरू न मेल्हइ केवडी ।। ४६१ ।।
विरहइ थईअ गहेलडी, जोउं छउं पगला रहिअ खडी ।
सिइ कारणि तुझ रीस चडी ? नलनइ वियोगिइ अतिहि रडी ।।४६२।।

नारी अबला माहरडी, एकली न मेल्हीवइ वापडी ।
बाली यौवनवइ वोरडी, तुम स्यूं नथी परडी ॥ ४६३ ॥
किसीइ वातिइ नवि खाडी, प तुरू कर्इ तु हुइ माडी ।
फूल विना नवि शोभइ वाडी, पति विना न हुइ नारी टाडी ॥४६४॥
कंतस्यू न कीधी वातडी, एणी परणी पूल आडडी' ।
भीमराजानी वेटडी दवदंती वोलइ भालडी ॥ ४६५ ॥
'भली मेहली हूं गुडव गुडी, सुख संभरइ ते घडी घडी ।
घणु नेह सइ पेखाडी सिइ मेहली असुडी ? ॥ ४६६ ॥

ढाल । मनकु था इह वेगड । गुडी

'नल नल' कहिवी नीसरी नवि पेसइ कहइ टामि रे ।
'सिइ रूवेली चूंम गयु ? बलिहारी तुम्ह नामि रे ॥ ४६७ ॥
कहींइ मिलसिइ वालिम ? तेह विण क्षण नवि जाइ रे ।
सइ न परी माया माहरी, पइसूं कहइ तेणइ ठाइ रे ॥ ४६८ ॥
नारी सोधइ दसो दिसि, हाइ नथी जीवन्न रे ।
रानवगडमां मेल्ही गयु, किम रासूं हूं मन रे ? ॥ ४६९ ॥
नान्हपणानु नेहडउ कांइ वीसारिउ नाह रे ?
कठिन कठोरमांहि मूलगु, ताहरु प्रीछिउ माह रे ॥ ४७० ॥
प तु कायर लक्षण साहसीकनूं नही काम रे ।
अपविधि नारीनइ मेल्हीइ बलसूं न लीइ नाम रे ॥ ४७१ ॥
नलजी ! माहरा माहला ! एक ताहरु आधार रे ।
माया सघली वीसारी, कां मेहली निरधार रे ? ॥ ४७२ ॥
कुटंब हुइ पुरुषनूं कंत विना सही फोक रे ।
कुपइ कोई नवि हुइ, अवसरि सहू प लोक रे' ॥ ४७३ ॥
बकइ अक्षर देखीआ वाचिवा लागी तेह रे ।
'तूं हवइ पीहरि जाइजे, सुख हुइ तूंहनइ तेहि रे' ॥ ४७४ ॥
'आवइं कुड मुहर्त् आविउं, नरनी निगु या जाति रे ।
पुरुष मिलानिइ छेद आपइ, ते तु कहीइ कुजाति रे ॥ ४७५ ॥
तूं तु सुजाती जाणीउ, ताहरूं कुल सुवंश रे ।
पुरुषरत्नमां मूलगु, अवगुणनु नही अंश रे ॥ ४७६ ॥

इम मेहली कंता ! नवि जईइ, ताहरु नुहइ आचार रे ।
मूंहनइ वाल्हा ! दोहिलू, तूं तु छइ सुविचार रे ॥ ४७७ ॥
संभाल करु माहरी, मननु छइ विश्राम रे' ।
मंत्र तणी परि ते जपइ, मुखिथू नवि मेल्हइ नाम रे ॥ ४७८ ॥

दूहा

दवदंती ते दुख धरी, चाली पीहरि तेह ।
नल अक्षर मन्त्रनी परिइ राखइ अहनिसि जेह ॥ ४७९ ॥
वाटिइ वनगज फणगर, सीहतणा बोंकार ।
रौद्र अटवी बीहामणी, घूकतणा घूतकार ॥ ४८० ॥
सूअर घरकइ जिहा घणउं, बरकइ चीत्रा अति ।
अष्टापद तिहां जीवडा, बीहवानी नहीं मति ॥ ४८१ ॥
शंबर शरभ नइ कासर, वरु सूअर सीआल ।
दावानल तिहा प्रज्वलइ, यक्ष राक्षस खेत्रपाल ॥ ४८२ ॥
गधर्व विद्याधर खेचर, शाकिनी डाकिनो जेह ।
योगिनी दीसइ ठामि ठामिइ, तेहनु न लाभई छेह ॥ ४८३ ॥
घोर बीभच्छ भयंकरी, सुणीइ महा हुकार ।
वनचरनु कोलाहल घणु, सूर्यकिरण न लगार ॥ ४८४ ॥
ते न पराभवइ तेहनइ, नवि लोपइ ते आण ।
पच पदनूं ध्यान करइ, जोउ शील मंडाण ॥ ४८५ ॥
'नल नल' कहिती ते चालइ, राखिउ हईआ वारि ।
सील सन्नाह पहिरी करी, जाइ दवदती नारि ॥ ४८६ ॥
बोर वाउलीआ गोखरू, चरणि वींधाइ तेह ।
पीउ चित्तिइ न वीसरइ, अधिक वधारइ नेह ॥ ४८७ ॥

द्वितीय खंड

प्राचीन ऐतिहासिक रास

[तेरहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक]

कैमास वध

[१२ वीं शताब्दी]

चन्दबरदाई कृत

[परिचय]

चन्दवरदाई—कृत पृथ्वीराज रासो से ये दो छन्द उद्धृत किए गए हैं। पृथ्वीराज का अमात्य वीर कैमास एक नीतिनिपुण एव निर्भीक राज्य-सचालक अधिकारी था। उसके नीति-नैपुण्य से पृथ्वीराज ने अनेक शत्रु पराजित किए गए थे। पृथ्वीराज को आखेट अधिक प्रिय था। अतः वह प्रायः मृगया के लिए जगलों में घूमा करता और राज्यकार्य कैमास ही सँभालता।

एक बार पृथ्वीराज आखेट के लिए दूर चला गया। उसकी अनुपस्थिति में कैमास ने राजसभा बुलाई। सभा-मडप के सम्मुख ही अन्तःपुर था जिसमें पृथ्वीराज की एक दासी कर्नाटी रहती थी। सभा में बैठे हुए अमात्य कैमास को उसने झरोखे से देखा। अमात्य कैमास की दृष्टि भी उसकी दृष्टि से मिल गई। दोनों एक दूसरे के ऊपर मुग्ध हो गए। कैमास और कर्नाटी दोनों रात्रि में एक दूसरे से मिलना चाहते थे। दासी कर्नाटी को रात्रि में निद्रा नहीं आई और उसने दासी भेजकर अमात्य कैमास को अपने पास बुलाया। कामी कैमास दासी के साथ कर्नाटी के पास चल पड़ा। कैमास महल के मध्य पहुँच कर यह भूल गया कि दासी कर्नाटी के कक्ष के समीप ही पटरानी इञ्छिनी का भवन है। कैमास के वस्त्रों से फैलनी वाली सुगन्धि और पगध्वनि से इञ्छिनी के मन में यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि महाराज तो इस समय आखेट के लिए बाहर गए हैं, हर्म्य में पुरुष सी ध्वनि क्यों। भाद्र की अन्धकारमयी रात्रि में कौंध हुई और उसके प्रकाश से रानी इञ्छिनी ने कर्नाटी के कक्ष में प्रवेश करने वाले कैमास को देख लिया। उसने सद्यः महाराज पृथ्वीराज के पास सन्देश भेजा। राजा रात्रि में ही हर्म्य पहुँच गया और उसने बाण द्वारा अमात्य कैमास का वध कर डाला।

कविता का सारांश

चन्दबरदाई कहने लगा—हे पृथ्वीनरेश, आपने कैमास पर एक बाण छोड़ा किन्तु निशाना चूक जाने से वह बाण उसके वक्षस्थल के समीप ही सनसनाता हुआ निकल गया। हे सोमेश्वर सुत, (उस बाण के चूक जाने पर) आपने दूसरे बाण का संधान करके उसे मार दिया। फिर आपने उसे पृथ्वी में इसलिए गड़वा दिया कि वह अभागा फिर बाहर न निकल सके। जिस प्रकार कृपण अपने धन को गहरे गाड़ देता है उसी प्रकार आपने इसे गाड़ दिया। आपने इसे गहरे इसलिये गड़वा दिया कि जमीन पर गिद्धों के द्वारा नोचे जाने पर इसका सारा भेद खुल न जाय। संक्षेप में मैंने कैमास की अन्तिम घटना का उल्लेख किया।

कैमास-वध

[१२वीं शताब्दी]

(चन्दवरदाई कृत)

इक्कु वाणु पहुवीसु जु पइ कइंवासह मुक्कओं,
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खतरि चुक्कउ।
वाअं करि संधीउं भंमइ सूमेसरनंदण !
एहु सु गडि दाहिमओ ँ खणइ खुदइ सइंभरिवणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह,
न जाणउ चंदवलदिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह ॥

(२)

अगहु म गहि दाहिमओ ँ रिपुराय खयंकरु,
कूडु मंत्रु मम ठवओं एहु ज बूय मिलि जग्गरु।
सहनामा सिक्खवउ जइ सिक्खिविउं बुज्झइं,
जंपइ चंदवलिद्दु मज्झ, परमक्खर सुज्झइ।
पहु पहुविराय सइंभरिधणी सयंभरि सउणइ संभरिसि,
कइंवास विआस विसट्ठविणु मच्छिबंधिबद्धओ ँ मरिसि ॥

जयचन्द प्रबन्ध से उद्धृत

(१)

त्रिण्हि लक्ष तुषार सबल पाखरीअइ जसु हय,
चऊदसइ मयमत्त दंति गज्जंति महामय।
वीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर,
ल्हूसडु अरु बलुयान संख कु जाणइ ताह पर।
छत्तीस लक्ष नराहिवइ विहिविनडिओ ँ हो किम भयउ,
जइचन्द न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूउ कि धरि गयउ ॥

(२)

जइत चंदु चक्कवइ देव तुह दुसह पयाणउ,
धरणि धसवि उद्धसइ पडइ रायह भंगाणओ ँ।

सेसु मणिहिं संकियउ मुक्कु हयरवरि सिरि दंडिग्रो,
गइग्रो सो हरभवणु भूमि जसु भिय वणि मंडिग्रो।
उच्छलीउ रेणु ससमि गय सुकवि म (अ)ल्हु सच्चउं चवइ,
धम्म इंदु विंदु सुयजुमसि सहस नयण किण परि मिलइ॥

यज्ञ-विध्वंस

(पृथ्वीराज रासो)

रास एवं रासान्वयी साहित्य में पृथ्वीराज रासो का सबसे अधिक महत्त्व है। इसका प्रमाण यह है कि अनेक भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानों के चिरकाल से गवेषणा करने पर भी इसकी प्रामाणिकता एव ऐतिहासिकता, इसके रचनाकाल एव प्रतिलिपि काल, इसके भाषा रूप एव काव्य सौष्ठव के सम्बन्ध में अद्यापि विवाद समाप्त नहीं हुआ। इस महाकाव्य की चार प्रकार की हस्तलिखित प्रतिया उपलब्ध हैं। इन प्रतियों को बृहद् रूपान्तर, मध्यम रूपान्तर, लघु रूपान्तर एव लघुतम रूपान्तर का नाम दिया जा सकता है। प्रत्येक रूपान्तर के भी भिन्न-भिन्न सस्करण उपलब्ध हैं। किन्तु अनुमानतः बृहद् रूपान्तर के विविध सस्करणों की श्लोक सख्या २६००० से ४०००० मानी जा सकती है। यह महाकाव्य ६५ से ७० खडों में विभाजित मिलता है। इसकी सबसे प्राचीन प्रति मेवाड़ के ठिकाना-भींडर के सग्रह में है। इसका लिपिकाल स० १७३४ वि० है।

मध्यम रूपान्तर की सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रति लदन स्थित रायल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में है।[१] उसका लिपिकाल स० १६६२ वि० है। उसकी श्लोक-सख्या ११००० के आसपास है। यह ग्रथ ४१ से ४६ खडों में विभक्त है।

लघु रूपान्तर का सबसे प्राचीन लिपिकाल स० १६७५ वि० के आस-पास माना जाता है। इसकी श्लोक सख्या ३५०० से ४००० के अन्तर्गत है। इसकी खड सख्या १६ है।

लघुतम रूपान्तर में न्यूनाधिक १३०० श्लोक हैं। अन्य रूपान्तरों के सदृश यह खडों में विभक्त नहीं है। इसमें 'सयोगिता-हरण', और 'गोरी का युद्ध' ये ही दो प्रसग प्रमुख रूप से वर्णित हैं। आनुषंगिक रूप से निम्न-लिखित प्रसग भी आ गए हैं—

---

१ नरोत्तम स्वामी राजस्थान भारती—भाग ४, अक १

१ मंगलाचरण, पृथ्वीराज के पूर्वजों का उल्लेख (वंशावली), पृथ्वीराज का राज्यासीन होना।

२ जयचन्द का राजसूय यज्ञ और संयोगिता स्वयंवर

३ पृथ्वीराज और चंदवरदाई का कन्नौज प्रस्थान। [कैमासवध इसी के अन्तर्गत आ गया है]

४ पृथ्वीराज का जयचन्द का राजसभा में पहुँचना, संयोगिता हरण, जयचंद की सेना के साथ युद्ध, वीर सामन्तों को खोकर पृथ्वीराज का अपनी राजधानी दिल्ली लौटना।

५ पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी का युद्ध।

६ चंद का गजनी गमन, पृथ्वीराज के शब्दवेधी बाण से गोरी की मृत्यु, पृथ्वीराज और चन्द का परलोक गमन।

लघु रूपान्तरों में युद्धों और पृथ्वीराज के विवाहों की संख्या अल्प है मध्य और बृहद् रूपान्तरों में इनकी संख्या बढ़ती गई है। लघुतम में एक लघु में दो मध्यम में ५ और बृहद् में १५ विवाहों का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार लघुतम रूपान्तर में दो युद्धों का, लघु में पाँच का मध्यम में ४१ का और बृहद् में ५५ युद्धों का वर्णन प्राप्त होता है।

अकबर से पूर्व किसी भी ग्रंथ में पृथ्वीराजरासो का उल्लेख नहीं मिलता। सर्वप्रथम रासो का उल्लेख सं० १७०७ वि० में विरचित जसवंत-उद्योत में मिलता है। अकबरकालीन चरित लेखकों को

रचना-काल

[चौहान वंश के चरित लेखकों को] चन्द का नाम ज्ञात था किन्तु उन्होंने पृथ्वीराजो रासो का कहीं उल्लेख नहीं किया। अकबर के युग में पृथ्वीराज और जयचन्द के जीवन की जनश्रुतियाँ सर्वत्र व्याप्त हो गई थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह द्वितीय ने सं० १७०६ में उस समय तक रचित ग्रंथों का संग्रह करवा दिया और यही रासो का अन्तिम रूप हुआ।'

यहाँ इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि रासो की हस्तलिखित प्रतियों को सुरक्षित रखने तथा उनकी प्रतिलिपि प्रस्तुत कराने का श्रेय जैन आचार्यों को है। जैन संप्रदायों में प्रायः ये प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। अतः यह निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि रास साहित्य की रक्षा जैन मुनियों के द्वारा ही संभव हो सकी।

इस सग्रह में पृथ्वीराज रासो के बीकानेर - सस्करण से 'यज्ञ-विध्वंस' नामक प्रसग उद्धृत किया जाता है। रासो के प्रसिद्ध आलोचक एव इतिहास के मर्मज्ञ डा० दशरथ शर्मा ने इस अश को सब से प्राचीन स्वीकार किया है। उन्होने अल्प परिवर्त्तन के साथ इस उद्धरण का अपभ्रश रूपान्तर प्रस्तुत कर डाला है। यहाँ इसका साराश देने से पाठकों को अर्थ समझने मे सरलता हो जायगी।

कलियुग में कन्नौज का एक शासक था जो धर्म-पथ का अनुयायी था। धर्म में रुचि होने के कारण वह सत्यशील आचरण में रत रहता और यज्ञ किया करता। एक बार उस कन्नौज राज पग (जयचन्द) ने उत्तमोत्तम घोड़ों और हाथियो को राजसूय यज्ञ के निमित्त भेजा। पुराणों के अध्ययन से उसने राजा बलि को अपने राज - परिवार का आदर्श माना। अपनी अश्व सेना पर भरोसा करके उसने पृथ्वीमडल के सम्पूर्ण अभिमानी राजाओं को पराजित किया और अपने प्रधानामात्य से परामर्श किया कि क्या मैं राजसूय यज्ञ करूँ जिसके द्वारा हमें प्रसिद्धि प्राप्त हो।

मत्री ने उत्तर दिया—"महाराज, इस कलियुग में अर्जुन के सदृश कोई नहीं है। आप पुण्य के अनेक कार्य करिए—मन्दिर बनवाइए, प्रतिदिन सोलह प्रकार के दान दीजिए। हे मेरे प्रभु पग (जयचन्द) मेरी शिक्षा मानिए और (तदनुसार) जीवन बिताइए। इस कलियुग में सुग्रीव के समान कोई राजा नहीं (जो राजसूय यज्ञ में आपकी सहायता कर सके)। अपने प्रधानामात्य की शिक्षा की उपेक्षा करके पगराज (जयचन्द) अज्ञान एव तृष्णा के कारण झट बोल उठा—"कितने ही ऐसे राजा हो गए जिन्होंने अपने कोलाहल एव अभिमान से दिल्ली को हिला दिया किन्तु उन्हीं मरे हुए राजाओं को अमर समझना चाहिए जिनका यश अब तक पृथ्वी पर जीवित है।

अत. पगराज (जयचन्द) राजसूय यज्ञ करने लगा जो स्वर्गप्राप्ति का साधन है। उसने सभी राजाओं को साधन है। उसने सभी राजाओं को पराजित किया और उन्हें अपने राजद्वार का सरक्षक उसी प्रकार नियत किया जिस प्रकार किसी माला में मणि ग्रथित किए गए हों। उसे यही सुनकर बड़ा क्लेश होता था कि योगिनीपुर (दिल्ली) के राजा पृथ्वीराज उस माला के एक अंग न बने।

जयचन्द हृदय से पृथ्वीराज के विरुद्ध था। उसने दिल्ली-राज के पास दूत भेजे। वे (दूत) दिल्ली पहुँच कर राजदरबार में उतरे। पृथ्वीराज उनसे

कुछ न बोला। गुरुजनों से विवाद करने में उन्हें संकोच हुआ। अतः गुरु (वयोवृद्ध) गोविन्द राम इस प्रकार बोला—

कलियुग में आज यज्ञ (राजसूय) कौन कर सकता है ? कहा जाता है कि सतयुग में बलिराज ने यज्ञ किया। उसने कीर्ति के लिए तीनों लोक दान कर दिया। त्रेतायुग में राजा रामचन्द्र ने यज्ञ (राजसूय) किया। कहा जाता है कि कुबेर ने उनके दरबार में (धन की) वर्षा की। द्वापर में स्वनाम धन्य युधिष्ठिर ने यज्ञ (राजसूय) किया। उसके पीछे बड़े वीर और (यहाँ तक कि) शत्रु भी सहायता के लिए खड़े रहते। इस कलियुग में राजसूय यज्ञ कौन कर सकता है। इसके विविध विधान के बिगड़ने से लोग (यज्ञ कर्त्ता की) हँसी उड़ाते हैं। तुम अपनी सेना एवं अपने द्रव्य के गर्व में ऐसे अपमानयुक्त वचन बोलते हो मानो तुम्हीं देवता हो। तुम समझते हो कि कोई क्षत्रिय है ही नहीं किन्तु यह पृथ्वी कभी वीर-विहीन नहीं होती। यमुना-तट के इस अरण्य प्रदेश का एक निवासी जयचन्द की प्रभाव राजसत्ता को नहीं स्वीकार करेगा। वह केवल योगिनीपुर (दिल्ली) के शासक पृथ्वीराज को जानता है जो सुरेन्द्र के परिवार में उत्पन्न हुआ है। जिसने शहाबुद्दीन गोरी को तीन बार बांध दिया और वीरराज भीमसेन को पराजित किया। शाकम्भरी देश में सोमेश्वर महाराज का एक चतुर पुत्र है जिसने बल में दानवों को भी अतिक्रम कर लिया है। जब तक उसके स्कन्ध पर सिर है आप किस प्रकार राजसूय यज्ञ कर सकता है ? क्या इस भूतल पर कोई चौहान नहीं है ? सभी (उस चौहान को) सिंह रूप से देखते हैं। और जग में किसी और को अपने भ्रम में राजा नहीं मानते। (इस असम्मान के व्यवहार से) जयचन्द्र के अधीन (राजपूत) उस बुद्धिमान आदमी की तरह सभा से उठकर चल पड़े जो ग्रामीणों के समाज में कुछ समय तक बैठकर उठ जाता है। वे सभी उठकर उसी प्रकार हतप्रभ होकर कबीला चले जिस प्रकार सन्ध्या के आगमन से कमल म्लान हो जाता है।

यज्ञ-विध्वंस

[१२वी शताब्दी]

(चन्दबरदाई कृत)

छन्द पद्धडी[1]

कलि अछ[2] पथ[3] कनउज्ज राउ।
सत सील रत धर धर्म्म चाउ॥
वर अछभूमि हय गय अनग्ग[4]।
परठ्या[5] पंग[6] राजसू जग्ग।
सुद्धिय[7] पुरान बलि वंस वीर।
भुवगोलु[8] लिखित[9] दिख्ये सहीर।
छिति छत्रबध राजन समान।
जित्तिया[10] सयल[11] हयवल प्रधान[12]।

---

१. सोलह मात्रा का छद जिसके अन्त में जगण हो पद्धटिया या पद्धडी कहलाता है।

२. पाठान्तर 'अथ' भी मिलता है।

३. वीकानेर सस्करण में 'पछ' पाठ मिलता है। इसका अर्थ हुआ 'अच्छः पथा यस्य'।

४. अनगु और इसका अपभ्रश रूप अणग्ग (अनग्र्य) भी मिलता है।

५. 'पठ्या' पाठ भी मिलता है। पट्ठविअ (प्रस्थापिताः) भी हो सकता है।

६ पंग नाम जयचन्द का रभामजरी में मिलता है।

७. सोधिग एव सोधिगु पाठ भी मिलता है।

८. पाठान्तर भुवबोलि भी मिलता है।

९. पाठान्तर लिष्यति

१० पाठान्तर जित्तिअ

११. पाठान्तर समल, सवल

१२. ,, प्रमान

पुछ्यो समंत परधान तम्म[1] ।
हम करहि अग्गुजिहि सहहि कम्म ।
उत्तरु द[2] दीय मंत्रिय सुजांन ।
कमगुम्म नहीं अरजुन समानु ।
करि धम्म देव देवर अनेव ।
षोडसा दान दिन देहु देव ।
मो सीख मानि प्रभु पंग जीव ।
कलि अथि[3] महीं राजा सुग्रीव[4] ।
ईंकि पंग राइ मंत्रिय समांन ।
लहु लोम अम्म कुस्यो[5] निधांन[6] ॥

१ गाथा

के के न गए महि मुहु[7],
दिल्ली दिल्लाय दीह होहाम[8] ।
बिहुरंत[9] जासु कित्ती,
तं गया नहि गया हुंति ॥

पद्धरी

पहु[10] पंग राइ राजसू जग्ग ।
आरंभ अंग[11] कीनौ सुरग्ग[12] ॥

---

१ „ तम्म, तत्त
२ तौ
३ पाठान्तर अहि
४ सुग्रीव के स्थान पर सुगीव होता तो छंद के अन्त में जगण ठीक बैठ जाता ।
५ पाठान्तर कुम्यौ
६ „ लही ग्यान
७ पाठान्तर मोहु
८ „ होई हो
९ „ बिप्फुरेता
१ „ हौहु
११ पंगु
१२. „ सुरंगु

जित्तिया राइ सब्ब सिंघवार ।
मेलिया कठ जिमि मुत्तिहार ॥

जुग्गिनिपुरेस सुनि भयौ खेद ।
आवइ[1] न माल मझ हिअ भेद ॥

मुक्कले[2] दूत तब्ब तिह समत्थ[3] ।
उतरे[4] आवि[5] दरबार तत्थ ॥

बुल्यौ न वयन प्रिथीराज ताहि ।
सकल्यौ सिंघ गुरजन निव्याहि[6] ॥

उच्चरिय गरुव गोविन्दराज ।
कलि मध्य जग्ग को करै आज ॥

सतिजुग्ग कहहि बलिराज कीन ।
तिहि किन्ति काज त्रियलोकदीन ॥

त्रेता तु किन्ह रघुनंद राइ ।
कुब्बेर कोपि बरख्यो सुभाइ ॥

धन वर्म्मपूत द्वापर सुनाइ ।
तिहि पछ वीर अरु अरि[7] सहाई ॥

कलि मझि जग्गु को करणजोग ।
विग्गरै बहु विधि हसै लोग ॥

---

१ पाठान्तर अवइ, अवै
२. भविसयत्तकहा में मोकल्ल रूप मिलता है,
३ पाठान्तर रिसाइ
४ ,, उतरहि
५. ,, अग्गि आवि
६ ,, निचाहि
७. पाठान्तर हरि

दक्षदक्ष गठ्य तुम अप्रमान।
पोलहुव[1] पोख देवनि समान॥

तुम्ह आनु नहीं क्षत्रिय हैव कोइ।
निव्वीर पुहमि[2] कबहुं न होइ॥

हम गंगसई[3] बास कालिंदि कूल।
जानहि न राज जैचन्द मूल॥
आनहि तु एक सुग्गिनि पुरेस।
सुरधंद वंस पृथ्वी नरेस[4]॥
तिहु बार साहि बंधिया जेग।
मंजिया भूप[5] मद्धि भीमसेग[6]॥
संमरि सुवेरा सामेस पुत्त।
दानवतिरूप अवतार धुत्त॥
तिहि कंध सीस किमि अम्य होइ।
पृथिमि नहीय अनुमान कोइ।

विक्खर्यहि सब्ब[7] गिहि संपरूप।
मानहि न अम्मि मनि आन भूप॥

आवरइ मंद घटिगो घसिट्ठ।
गामिनी समा सुभि खनउ बिट्ठ[8]॥

फिर चक्किग सब्ब कण्णवज्ज मंम।
भए मलिन कमल जिमि सकलि संम॥

---

१ ,, हेतु
२ ,, पुहुमि
३ , गंगनहि
४ पाठान्तर-अरार्धभ वंस पृथ्वी नरेस
५ , भूव
६ मंजिया भुवपति भीमसेण
७ , बिक्खीयहि
८ , कविट्ठ

समरा रास

अंबदेव

१३७१ वि०

परिचय—

शत्रुजय के शिखर पर स्थित समरा तीर्थ है। आचार्य कहते हैं कि मैं अर्हत की आराधना भक्ति-भरे भावो से करता हूँ। तदुपरात सरस्वती की वदना करता हूँ। जो शरदचद्र के समान निर्मल है, जिसके पद-कमल के प्रसाद से मूर्ख मानव भी ज्ञानी हो जाता है। अब मैं सघपति के पुत्र समरा का चरित्र कहूँगा। यह कानों को सुखदायक है।

भरत और सगर दो चक्रवर्ती अतुल बलशाली राजा हुए जिन्होंने इसका उद्धार किया। फिर प्रचड पाडव ने इस तीर्थ का उद्धार किया। फिर जावड़ी ने इसका उद्धार किया। उसके उपरात बाहड़ादेव ने रक्षा की। अब इस ससार में क्षत्रिय खग नहीं उठाते और साहसियों का साहस समाप्त हो गया। ऐसे समय में समरसिंह ने इस कार्य को सँभाला है। अब उसके चरित्र का वर्णन करूँगा जिसने मरू-भूमि में अमृत की धारा बहाई, जिसने कलियुग में मानो सतयुग का अवतार धारण कर रखा है और अपने बाहुबल से कलियुग को जीत लिया है।

वह ओसवाल कुल का चद्रमा है जिसके समान कोई नहीं। कलियुग के कृष्ण पक्ष में भी यह ससार के लिए चद्रमा है। पालणपुर प्रसिद्ध पुण्य-वानों का स्थान है। उस स्थान पर पल्लविहार नाम का पार्श्वनाथ का मदिर है। पल्हणपुर बड़ा सुदर स्थान है जहाँ हाट-चौहट्ट, मठ-मदिर, वापी-कूप, आराम-घर और पुर घने बने हुए हैं। उपकेशगच्छ में रत्नपभसूरि हुए। उनके शिष्य जक्षदेव उनके शिष्य कक्क सूरि उसका शिष्य सिद्धसूरि। उसके उपरात देव गुप्त सूरि उसके शिष्य सिद्धसूरि द्वितीय उत्पन्न हुए।

उपकेश वश में वेसटह हुए। उनके जिन धर्मधीर आजड़ु उत्पन्न हुए। उनके गोसलु साहु पुत्र हुए। गोसलसाहु के ३ पुत्र—आसधर, देसल और लूणा

हुए। गोसल की स्त्री का नाम मोखी था और उसके पुत्र समरसिंह हुए। गोसल के पुत्र ने अणहिलपुर में वास किया वहाँ अनेक सुंदर मंदिर आराम वापी आदि निर्मित हैं।

उसी स्थान पर अलप खाँ राज्य कर रहा था, जो हिन्दुओं को बहुत मान देता था। देसल का पुत्र उसकी सेवा करता और उसकी सेवा से खान को प्रसन्न कर लिया। मीर मलिक इत्यादि उसका सम्मान करते थे। समरसिंह का बड़ा भाई सहजपाल दक्षिण मंडल देवगिरि में वाणिज्य करता। उसने वहाँ भी पार्श्व जिनेश्वर के २४ मंदिर बनवाए। तीसरा भाई साहान खंम नगरी में रहा। समय का प्रभाव है कि इस तीर्थराज को नष्ट किया गया। समरसिंह ने आदिजिन के उद्धार का निश्चय किया। वह खान से मिला और उसे संतुष्ट किया। उससे तीर्थोद्धार के लिए फरमान की याचना की।

चतुर्थ भाषा

उधर देसल, गुरु के पास पहुँचा और उसके तपोधन की याचना की। वह मदन पंडित को लेकर आरासण पहुँचा वहाँ महिपाल देव राणा राज्य करता था। उसका मंत्री पातक था। उसने अपनी खान (खान) में से मूर्ति के लिए शिला दिलवाई। उसे देखकर शहर लोग प्रसन्न हुए और उन्होंने शिला का पूजन किया। लोग नाचे, खेले और बाजे बजाए गए। इस तरह शिला तिरीसिगम से होती हुई पालिताने पहुँची। उसी जगह पर मूर्ति उत्कीर्ण की गयी। चारों तरफ कुंकुम पत्रिका भेजी गई। कुल देवी अम्बिका का पूजन हुआ। चारों तरफ से लोग एकत्रित हुए। सबसे आगे मुनिवर संघ श्रावक जन थे। वहाँ ऐसी भीड़ थी कि तिल रखने की भी जगह न थी।

पष्ठी भाषा आर सप्तमी भाषा

अलंम्भ शंख की ध्वनि होने लगी। रावत लिंगडिया घोड़े पर चढ़ा था और तलवार धार भी साथ था। आगे सा संघपति साहु देसल था। उसके पीछे धाम साहु था। सारा संघ भभूका होता हुआ चढ़ा। ललित सरोवर के किनारे संघ ने घेरा डाला। शत्रुंजय पहुँचकर उन्होंने प्रतिष्ठा-महोत्सव किया। माघ सुदी १४ को दूर देशांतर के संघ सब वहाँ आकर मिले। ठीक समय पर सिद्धसूरि गुरु ने प्रतिष्ठा की। महान् उत्सव हुआ। याचकों को दान मिला।

नवमी दसवीं-ग्यारहवीं भाषा

सं० १३७१ में सौराष्ट्र में संघ राज्य-माडलिक से मिला। स्थान स्थान पर उत्सव हुआ। रावल महिपाल आदि ने इस सघ का स्वागत किया। गिरनार पर उन्होंने नेमिनाथ की प्रतिष्ठा की। सोमनाथ में सबने सोमेश्वर का पूजन किया। शिव-मदिर में उन्होंने ध्वजा चढाई। अपूर्व उत्सव किया। फिर दीप के देवालय में एव अजहर के सुदर तीर्थ में उन्होंने सुदर वदना की। पिप्पलाली, रोहनपुर, रणपुर, वलवाण और एकेश्वर होता हुआ सघ अणहलपुर वापस आया। वर्धापन हुआ। चैत्र वदी सप्तमी के दिन सब घर पहुँचे।
पापणसूरि के शिष्य अवदेव सूरि ने इसकी रचना की।

समरा रासु

अम्बदेव कृत

स० १३७१ वि०

पहिलउ पणमिउ देव आदीसरु सेतुञसिहरे ।
अनु अरिहंत सव्वे वि आराहउं बहुभतिभरे ॥ १ ॥

तउ सरसति सुमरेवि सारयससहरनिम्मलीय ।
जसु पयकमलपसाय मूरखु माणइ मन रलिय ॥ २ ॥

संघपतिदेसलपुत्तु भणिसु चरिउ समरातणउ ए ।
धम्मिय रोलु निवारि निसुणउ श्रवणि सुहावणउ ए ॥ ३ ॥

भरह सगर दुइ भूप चक्रवति ते हुय अतुलबल ।
पंडव पुहविप्रचंड तीरथु उधरइ अतिसबल ॥ ४ ॥

कालवसेण संजोगु दूसमि सु कुसम तव त्थए ।
समरा सरेसउ सोइ मंत्रि बाहडदेउ ऊपनउ ए ॥ ५ ॥

हिव पुण नवी य बात जिणि दीहाडइ दोहिलए ।
खतिय खग्गु न लिंति साहसियह साहसु गलए ॥ ६ ॥

तिणि दिणि दिनु दिक्खाउ समरसीहि जिणधम्मवणि ।
तसु गुण करउं उद्योउ जिम अंधारइ फटिकमणि ॥ ७ ॥

सारसि अमियपवाही य जिणि वहावी मरुमंडलिहिं ।
किउ कृतयुगअवतारु कलिजुगि जीतउ बाहुबले ॥ ८ ॥

ओसवालकुलि चंदु ऊपनउ पउ समानु नही ।
कलिजुगि काजइ पासि पांडियइं सचराचरिहिं ॥ ९ ॥

पाल्हणपुर सुप्रसीधु पुन्नवंतलोयह निलउ ।
सोहइ पाल्हविहारु पाससुभगु तहिं पुरतिलउ ॥ १० ॥

भास—हाट चहुटा रूअडा ए मढमंदिरह निवेसु त ।
वाविकूव आरामघण घरपुरसरसपएस त ।

उवएसगच्छिह मडणउ ए गुरु रयणप्पहसूरि त ।
धम्मु प्रकासइं तहि नयरे पाउ पणासइ दूरि त ॥ १ ॥

तसु पटलच्छीसिरिमउडो गणहरु जखदेवसूरि त ।
हसवेसि जसु जसु रमए सुरसरीयजलपूरि त ॥ २ ॥

तसु पयकमलमरालुलउ ए कक्कसूरि मुनिराउ त ।
ध्यानधनुषि जिणि भंजियउ ए मयणमल्ल भडिवाउ त ॥ ३ ॥

सिद्धसूरि तसु सीसवरो किम वन्नउं इकजीह त ।
जसु घणदेसण सलहिजए दुहियलोयबप्पीह त ॥ ४ ॥

तसु सीहासणि सोहई ए देवगुप्तसूरि वईठु त ।
उदयाचलि जिम सहसकरो ऊगमतउ जिण दीठु त ॥ ५ ॥

तिह पहुपाटअलकरणु गच्छभारधोरेउ त ।
राजु करइ सजमतणउ ए सिद्धिसूरिगुरु एहु त ॥ ६ ॥

जोइ जसु वाणीकामधेनु सिद्धतवनि विचरेउ त ।
सावइजणमणइच्छिय घण लीलइ सफल करेउ त ॥ ७ ॥

उवएसवसि वेसटह कुलि सपुरिसतणउ अवतारु त ।
वयरागरि कउतिगु किसउ ए नही य ज रतनह पारु त ॥ ८ ॥

पुन्नपुरुषु, ऊपन्नु तहि सलषणु गुणिहि गंभीरु त ।
जणआणदणु नदणु तसो आजडु जिणधमधीरु त ॥ ९ ॥

गोत्रउदयकरु अवयरिउ ए तसु पुत्रु गोसलुसाहु त ।
तसु गेहिणि गुणमत भली य आराहइ नियनाहु त ॥ १० ॥

सघपति आसधरु देसलु लूणउ तिणि जन्म्या ससारि त ।
रतनसिरि भोली लाच्छि भणउ तीहतणी य घरनारि त ॥ ११ ॥

देसलघरि लच्छी य निसुणि भोली भोलिमसार त ।
दानि सीलि लूणाघरणि लाछि भली सुविचार त ॥ १२ ॥

द्वितीय भाषा—रयणकुयि कुक्षि निम्मली य मोखीपुत्तु भाषा ।
सइजउ साहणु समरसीहु बहुपुष्णिहि आया ॥ १

सहूयसलणइ सुविचारचतुर सुविवेक सुजाण ।
रयणपरीक्षा रंजवइ राय मनु राण ॥ २ ॥

तउ देसल नियकुलपईव ए पुत्र सघल ।
रूपवंत मनु सीलवन्त परियाणिय कम्न ॥ ३ ॥

गोसलसुति आषाणु कियउ अणहिलपुरनयरे ।
पुन्न लहइ जिम रयणमाहि नर समुद्रइ लहरे ॥ ४ ॥

चउरासी जिणि चमहटा चउवसहि विहार ।
मढ मंदिर उत्तग चंग मनु पालि पगार ॥ ५ ॥

तहिं भवइ भूपतिहिं सुपख सवत्थविहि पसत्थो ।
विस्वकर्मा विन्नानि करिउ भाइउ नियहत्थो ॥ ६ ॥

अमियसरोवर सहसलिंगु इकु धरणिहिं कुंडलु ।
कित्तिखंभु किरि अवतरेसि मागइ आखंडलु ॥ ७ ॥

अवर वि दीसइ अरथ भग्गु कसिकालि आगलिउ ।
आचारिहिं इह नयरवयइ सचराचरु रंजिउ ॥ ८ ॥

पातसाहि सुरताणमीसु तहिं राजु करेइ ।
अलपखानु हींदूयह लोय घणु मानु सु देइ ॥ ९ ॥

साहु रायदेसलह पुत्तु घसु सेवइ पाय ।
करुणा करी रंजविउ खानु बहु देइ पसाय ॥ १० ॥

मीरि मलिकि मानियइ समरु समरथु पमणीजइ ।
परउवयारियमाहि लीह मसु पहिली य दीजइ ॥ ११ ॥

अठसहोदरि सहजपालि निअ प्रगटिउ सहजू ।
दखयामंडलि देवगिरिहि किउ धम्मह वणिजू ॥ १२ ॥

चउवीसजिणालय जिणु ठविउ सिरिपासजिणिंदो ।
धम्मधुरधर रोपियउ धर धरमह कंदो ॥ १३ ॥

साहणु रहियउ पंमनयरि सायरगभीरे।
पुव्वपुरिसकीरितितरंडु पूरइ परतीरे॥ १४ ॥

तृतीयभाषा – निसुणऊ ए समइप्रभावि तीरथरायह गंजणउ ए।
भवियह ए करुणारावि नीठुरमनु मोहि पडिउ ए।
समरऊ ए साहसधीरु वाहविलग्गउ बहू श्र जण।
वोलई ए असमवीरु दूसमु जीपइ राउतवट ए॥ १ ॥

अभिग्रहू ए लियइ अविलवु जीवियजुव्वणग्राहअलि।
उधरऊ ए आदिजिणविंबु नेमु न मेल्हउ आपणउ ए।
भेटिऊ ए तउ पानपानु सिरु धूणइ गुणि रजियउ ए॥ २ ॥

वीनती ए लागु लउ वानु पूछए पहुता केण कज्जे।
सामिय ए निसुणि अडदासि आसालवणु अम्हतणउ ए।
भइली ए दुनिय निरास ह ज भागो य हींदूअतणी ए।
सामिय ए सोमनयणेहि देपिउ समरा देइ मानु॥ ३ ॥

आपिऊ ए सव्वनयणेहिं फुरमाणु तीरथमाडिवा ए।
अहिदर ए मलिकआएसि दीन्ह ले श्रीमुखि आपण ए।
घतमत ए पानपयेसि किउ रलियाइतु घरि सपत्तो।
पणमई ए जिणहरि राउ समणसंघो तहि वीनविउ ए॥ ४ ॥

सचिहि ए कियउ पसाउ वुद्धि विमासिय वहूयपरे।
सासण ए वर सिणगारु वस्तपालो तेजपालो मन्ते।
दरिसण ए छह दातारु जिणधर्मनयण वे निम्मला ए।
आइसी ए रायसुरताण तिणि आणीय फलही य पवर॥ ५ ॥

दूसम ए तणी य पुणु आण अवसरो कोइ नही तसुतणउ ए।
इह जुग ए नही य वीसासु मनुमात्रे इय किम छरए।
तउ तुहु ए पुन्नप्रकासु करि ऊधरि जिणवरधरमु॥ ६ ॥

चतुर्थभाषा—सघपतिदेसलु हरषियउ अति धरमि सचेतो।
पणमइ सिघसुरिपयकमलो समरागरसहितो।
वीनती अम्हतणी प्रभो अवधारउ एक।
तुम्ह पसाइ सफल किया अम्हि मनोरहनेक॥ १ ॥

सेतुवतीरय कूपरिया कूपमउ माचो ।
एकु तपोधनु आपणउ तुम्हि दियउ सहाउ ।
मरसु पंखिसु आइसु लहवि आरासणि पहुचइ ।
सुगुरवयणु मनमाहि धरिउ गाढउ अति रूयइ ॥ २ ॥

रायरेरा घहि राजु करइ महिपालदेउ राणउ ।
जीवदया जगि जाणिअए जो वीर समराणउ ।
पातउ नामिहि मंत्रिवरो वस्तुतणइ सुरज्ज ।
चंद्रकन्हइ चकोर जिमउ सारइ बहुकज्जे ॥ ३ ॥

राणउ रहियउ आपुणपइं पाणिहि उपकंठे ।
टंकिय घाइइ सूत्रधार मोकइ चउगंठे ।
पल्लही आणिय समरवीरि ए अतिबहुजयणा ।
समुद्र विरोलिउ वासुगिहिं जिम छाधा रयणा ॥ ४ ॥

कुम्भारसि वच्छु हूअउ त्रिसींगमइनइरे ।
पल्लही देपिउ धामियइ रंगु माइ न अहरे ।
अमयपाणि आगलउ करणारसपिघो ।
गोधि मेल्हावइ पइयसुभइ आपइ बहुचिलो ॥ ५ ॥

मोकइ आम्या आउपणउ मविमायणा पूछइ ।
जिम जिम पल्लही पूजिअए तिम तिम कलि धूजइ ।
लोका नाचइ नवतपरे भापरिरसु भमकइ ।
अचरिउ देपिउ धामियइ कह चित्त न चमकइ ॥ ६ ॥

पालीताणइ नयरि संपु पल्लही य चचावइ ।
चासचंद्र मुनि वेगि पवरु कमठाउ करावइ ।
ठि कप्पूरिहि चढीय देह पीरसायरसारिहि ॥ ७ ॥

सामियमूरति प्रकट थिय रूप करिउ संसारे ।
मागरी दीन्ह पभायणी य मनि हरषु न माय ।
देसलऊअइ चरित्रि सहू रसियाइ पाप ॥ ८ ॥

पंचमी भाषा—संघु बहुभतिहिं पाटि चयसारिउ ।
सगनु गणिउ गणधरिहिं विचारिउ ।

पोसहसाल खमासरण देयए ।
सूरिसेयग्ररमुनि सवि समहे ए ॥ १ ॥

घरि बयसवि करी के वि मन्नाविया ।
के वि धम्मिय हरसि धम्मिय धाइया ।
वहुदिसि पाठविय कुंकुम पत्रिया ।
सघु मिलइ वहुभली य सज्जाइया ॥ २ ॥

सुहगुरुसिधसुरिवासि अहिसिंचिउ ।
सघपति कलपतरु अमिय जिम सिंचिउ ।
कुलदेवत सचिया वि भुजि अवतरइ ।
सूहव सेस भरइं तिलकु मंगलु करइं ॥ ३ ॥

पोसवदि सातमि दिवसि सुमुहुत्तिहि ।
आदिजिणु देवालए ठविउ सुहचित्तिहिं ।
धम्मधोरी य धुरि धवल दुइ जुत्तया ।
कुंकुमपिंजरि कामधेनु पुत्ताया ॥ ४ ॥

इदु जिम जयरथि चडिउ संचारए ।
सूहवसिरि सालिथालु निहालए ।
जा किउ हयवरो वसहु रासिउ हूउ ।
कहइ महासिधि सकुनु इहु लद्धउ ।
आगलि मुनिवरसंघु सावयजणा ।
तिलु न थिरइ तिम मिलिय लोय घणा ॥ ५ ॥

मादलवसविणाभुणि वज्जए ।
गुहिरभेरीयरवि अवरो गज्जए ।
नवयपाटणि नवउ रगु अवतारिउ ।
सुषिहि देवालउ सखारी सचारिउ ॥ ६ ॥

घरि बयसवि करि के वि समाहिया ।
समरगुणि रंजिउ विरलउ रहियउ ।
जयतु कान्हु दुइ सघपति चालिया ।
हरिपालो लढुको महाधर दृढ थिया ॥ ७ ॥

षष्ठी भाषा—पाभिय सत्त भसंभ नाविद् काहल बुड्डुडिया ।
घोडे चडइ सम्नाहसार राउत सींगडिया ।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि घाघरिरवु झमकइ ।
सम विसम नवि गणइ कोइ नवि वारिउ थक्कइ ॥ १ ॥

सिजवाला घर धडहडइ वाहिणि बहुवेगि ।
धरणि धडक्कइ रजु ऊडए नवि सूझइ मागो ।
हय हींसइ आरसइ करह वेगि वहइ वाझ ।
साद किया थाहरइ अवरु नवि देइ बुझ ॥ २ ॥
निसि दीवी झलहलहिं जेम ऊगिउ तारायणु ।
पावलपारु न पामियए वेगि वहइ सुखासणु ।
आगेवाणिहि संचरए-संघपति साहुदेसलु ।
बुद्धिवंतु बहुपुंनिवंतु परिकमिहिं सुनिम्मलु ॥ ३ ॥

पाछेवाणिहि सोमसीहु साहुसहजापूतो ।
सांगणुसाहु लूणिगह पूतु सोमसिंहिसुत्तो ।
जोड करी असवारमाहि आपणि समरागरु ।
पडीय हींड बहुगमे कोइ भो संघमसुहंकरु ॥ ४ ॥

मेरीसे पूछियउ पासु कलिकालिहिं सक्को ।
सिरपेमि धाइउ धवलकए संघु आविउ सयलो ।
धधूकउ अतिक्रमिउ धाम लोलियाणइ पहुतो ।
नेमिभुवणि उछवु करिउ पिपलालीय पत्तो ॥ ५ ॥

सप्तमी भाषा—संघिहिं चल्या दीन्हा तहिं नयरपरिसरे ।
अलजउ अंगि न माए दीठउ विमलगिरे ।
पूजिउ परवतराउ पणमिउ पहुमरिहिं ।
देसलु देवए वाये मागणजणपवरिहिं ॥ १ ॥

अमियमिणिखजुराहो मनरंगि करेवि ।
पणमइ सभुअसिहरो सामिउ सुमरेवि ॥ २ ॥
पालीताणइ नयरे संघ मयलि प्रवसु ।
ललितसरोवरतीरे किउ संघनिवासु ।
कागमहाय सहुभाय सहु आवियउ मिलेवि ॥ ३ ॥

सहजउ साहणु तीहि त्रिन्हइ गंगप्रवाह ।
पासु अनइ जिण वीरो वदिउ सरतीरिहिं ।
पषि करइ जलकेलि सरु भरिउ वहुनीरिहि ॥ ४ ॥

सेत्रुजसिहरि चडेवि संघु सामि ऊमाहिउ ।
सुललितजिणगुणगीते जणदेहु रोमचिउ ।
सीयलो वायए वाओ भवदाहु ओल्हावए ।
माडीय नमिय मरुदेवि संतिभुवणि संघु जाए ॥ ५ ॥

जिणविंवइ पूजेवी कवडिजरकु जुहारए ।
अणुपमसरतडि होई पहुता सीहदुवारे ।
तोरणतलि वरसंते घणदाणि संघपत्ते ।
मेटिउ आदिजगनाहो मडिउ पत्रीठमहूछवो ॥ ६ ॥

अष्टमी भाषा—चलउ चलउ सहियडे सेत्रुजि चडिय ए ।
आदिजिणपत्रीठ अम्हि जोइसउं ए ।
माहसुदि चउदसि दूरदेसतर संघमिलिया तहिं अति अवाह ॥ १ ॥

माणिकेमोतिए चउकु सुर पूरइ रतनमइ वेहि सोवन जवारा ।
अशाकवृक्ष अनु आम्र पल्लवदलिहि रितुपते रचियले तोरणमाला ॥२॥

देवकन्या मिलिय धवल मगल दियइ किंनर गायहि जगतगुरो ।
लगनमहूरतु सुरगुरो साधए पत्रीठ करइ सिधसूरिगुरो ॥ ३ ॥

भुवनपतिव्यतरजतिसुरो जयउ जयउ करइ समरि रोपिउ द्रिढु धरमकदो ।
दुदुहि वाजिय देवलोकि तिहुअणु सीचिउ अमियरसे ॥ ४ ॥

देउ महाधज देसलो संघपते ईकोतरु कुल ऊधरए ।
सिहरि चडिउ रंगि रूपि सोवनि धनि वीरि रतनि वृष्टि विरचियले ॥५॥

रूपमय चमर दुइ छत्त मेघाडंवर चामरजुयल अनु दिन्नदुन्नि ।
आदिजिणु पूजिउ सहलकंतिहिं कुसुम जिम कनकमयआभरण ॥ ६ ॥

आरतिउ धरियले भावलमत्तारिहि पुव्वपुरिम सग्गि रंजियले ।
दानमडपि थिउ समर सिरिहिं वरो सोवनसिणगार दियइ याचकजन ॥७॥

भत्ति पाणी य वरमुनि प्रतिलाभिय अच्चारिउ वाहइ दुहियदीण ।
वाविउ सुधम वितु सिद्धखेत्रि इद्रउच्छवु करि ऊतरए ॥ ८ ॥

मोल्लीयनंदणु मलइ महोत्सवि आविउ समरु आवासि गनि । —
सेरइकहराउ तीरयञ्चारु यत नंदव आव रयसिसि गयथि ॥ ९ ॥

नवमी भाषा—संघमाझलु करी चीरि मले माल्हंतडे पूजिय दरिसय पाय।
सुणि सुंदरे पूजिय दरिसय पाय।
सोरठदेस संघु संचरिउ मा० चउंडे रयणि विहारु ॥ १ ॥

आदिमकतु अमरेल्लीयइ माल्हं० आविउ देसलआउ।
अमावेसरु भत सवि मिलए माल्हं० मंडलिकु सोरठराउ ॥ २ ॥

ठामि ठामि उच्छव हुभइ माल्हं० गडि जूनइ संपत्तु।
महिपालदेउ राउलु आवए माल्हं० सामुहउ संघपणुरत्तु ॥ ३ ॥

महिपु समरु बिउ मिलिय सोहइं माल्हं० इदु किरि अनइ गोविंदु।
तेजि अगंमिउ तेजलपुरे मा० पूरिउ संघआणंदु। सुणि० ॥ ४ ॥

बड्याअलीचेत्रप्रवाडि करे माल्हं० वतडटी य गडमाहि।
ऊजिलऊपरि चाडिया ए माल्हं० चउविहसंघइमाहि। सुणि०। —
दामोदरु हरि पंचमउ माल्हं० कालमेघो क्षेत्रपालु। सुणि०।
सुवनरेहा नदी तहिं वहए माल्हं० तउवरतर्ड रम्माल्लु ॥ ५ ॥

पाज चडता धामियइ मा० क्रमि क्रमि सुकृत विलसंति। सुणि०।
झरी य चडियए गिरिकडणि मा० नीचां य गति पोढंति ॥ ६ ॥

पामिउ जादवरायसुवणु मा० त्रिनि प्रदक्षिण देइ।
सिवदेविसुतु भेटिउ करिअ मा० ऊमरिया मडमाहि। सुणि०।
कलस भरेविणु गयंदमए मा० नेमिहिं न्हवणु करेइ।
पूज महाधज देउ करिउ मा० छत्र चमर मेल्हेइ ॥ ७ ॥

अंबाई अवलोयणसिहरे मा० सांबिपज्जूनि चडंति। सुणि०।
सहसारामु मनोहरु ए मा० विहसिय सवि वणराइ। सुणि०।
कोइलसादु सुहावणउ मा० निसुणियइ भमररुंकारु। सुणि० ॥ ८ ॥

नेमिकुमरतपोवनु ए मा० दुटु जिय ठावं न कहंति। सुणि०।
इसइ तीरथि विहुयणतुलमे मा० मिलितिमु दानु दियंति ॥ ९ ॥

समुद्रविजयरायकुलतिलय मा० वीनतडी अवधारि। सुणि०।
भारवीमिसि भवियण मयाइ मा० चतुगतिफेरडउ वारि। सुणि० ॥ १० ॥

जइ जगु एकु मुहु जोइयए मा० त्रिपति न पामियइ तोइ । सुणि० ।
सामलधीर तउं सार करे मा० वलि वलि दरिसणु देजि । सुणि०॥११॥

रलीयरेवयगिरि ऊतरिउ ए मा० समरडो पुरुपप्रधानु ।
घोडउ सीकिरि सांकलिय मा० राउलु दियइ बहुमानु । सुणि० ॥१२॥

दशमी भापा—रितु अवतरियउ तहि जि वसतो सुरहिकुसुमपरिमल पूरंतो,
समरह वाजिय विजयढक्क ।
सागुसेलुसल्लइसच्छाया केसूयकुडयकयत्रनिकाया,
सघसेनु गिरिमाहइ वहए ।
वालीय पूछइ तरुवरनाम वाटइ आवइं नव नव गाम,
नयनीझरणरमाउलइ ॥ १ ॥

देवपटणि देवालउ संघह सरवो सरु पूरावइ
अपूरवपरि जहिं एक हुईअ ।
तहिं आवइ सोमेसरछत्तो गउरवकारणि गरुउ पहूतो
आपणि राणउ मूधराजो ॥ २ ॥

पान फूल कापड बहु दीजइं लूणसमउं कपूरु गणीजइ
जवाधिहि सिरु लिंपियए ।
ताल तिविल तरविरिया वाजइं ठामि ठामि थाकणा करिजइं
पगि पगि पाउल पेषण ए ॥ ३ ॥

माणुस माणुसि हियउं दलिजइ घोडे वाहिणिगाहु करीजइ
हयगय सूझइ नवि जणह ।
दरिसणसउ देवालउ चल्लइ जिणसासणु जगि रंगिहिं मल्हइ
जगतिहिं आव्या सिवभुवणि ॥ ४ ॥

देवसोमेसरदरिसणु करेवी कवडिबारि जलनिहिं जोएवी
प्रियमेलइ सघु ऊतरिउ ।
पहुचंदप्पहपय पणमेवी कुसुमकरंडे पूज रएवी जिणभुवणे
उच्छवु कियउ ॥ ५ ॥

सिवदेउलि महाधज दीधी सेले पंचे वन्नसमिद्धी,
अपूरवु उच्छवु कारविउ ।

षष्ठी भाषा—वाखिय सखइ मर्सम नादि काहल दुदुदु बिया ।
धोडे चडइ सल्लारसार राउत सींगडिया ।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि धाघरिरखु झमकइ ।
सम विसम नवि गणइ कोइ नवि वारिउ थक्कइ ॥ १ ॥

सिजवाला घर धडहडइ वाहिणि बहुवेगि ।
धरणि धडक्कइ रजु ऊडए नवि सूझइ मागो ।
हय हींसइ आरसइ करह वेगि वहइ धइल ।
साद किया थाहरइ अवरु नवि देइ पुल ॥ २ ॥
निसि दीवी झलहलहि जेम ऊगिउ तारायणु ।
पावलपारु न पामिमए वगि वहइ सुखासणु ।
आगेवाणिहि संचरए संघपति साहुदेसलु ।
बुद्धिवंतु बहुपुन्निवंतु परिकमिहिं सुनिम्मलु ॥ ३ ॥

पाटेयाणिहि सोमसीहु साहुसहजापूतो ।
सोगणुसाहु खणिगइ पूतु सोमजिनिजुतो ।
जोड करी असवारमाहि आपखि समरागरु ।
धडीय हींड बहुगमे योइ यो सघमसुइकरु ॥ ४ ॥

मेरीस पूजियउ पासु कलिकालिहिं सकलो ।
सिरपेजि थाइउ धवलकए संघु आविउ सयलो ।
धंधूकउ अविकमिउ ताम खासियाणइ पहुतो ।
नेमिमुवणि वछलु करिउ विपलालीय पत्तो ॥ ५ ॥

सप्तमी भाषा—संघिहिं धडरा दीन्हा वहिं मयरपरिसरे ।
वसइवउ थगि न माए दीठउ विमलगिरे ।
पूजिउ मरवदराउ पणमिउ पहुमरिहिं ।
धमलु देयए दायो मागणजणपरितिहिं ॥ १ ॥

अमियमिगिणिदजुदारो मनरंगि करेवि ।
पणमइ सघुजसिहरा सामिउ सुमरवि ॥ २ ॥
पालीताणइ मयर संघ भयति प्रथमु ।
कलनमयाचरणीर किउ संघनियमु ।
काउमगदाए सहुमाय सहु आवियउ मिलेवि ॥ ३ ॥

सहजउ साहणु तीहि त्रिन्हइ गगप्रवाह ।
पासु अनइ जिण वीरो वदिउ सरतीरिहिं ।
पषि करइ जलकेलि सरु भरिउ बहुनीरिहि ॥ ४ ॥

सेत्रुजसिहरि चडेवि संघु सामि ऊमाहिउ ।
सुललितजिणगुणगीते जणदेहु रोमंचिउ ।
सीयलो वायए वाओ भवदाहु ओल्हावए ।
माडीय नमिय मरुदेवि संतिभुवणि संघु जाए ॥ ५ ॥

जिणबिंबइ पूजेवी कवडिजरकु जुहारए ।
अणुपमसरतडि होई पहुता सीहदुवारे ।
तोरणतलि वरसंते घणदाणि संघपत्ते ।
भेटिउ आदिजगनाहो मडिउ पत्रीठमहूछवो ॥ ६ ॥

अष्टमी भाषा—चलउ चलउ सहियडे सेत्रुजि चडिय ए ।
आदिजिणपत्रीठ अम्हि जोइसउं ए ।
माहसुदि चउदसि दूरदेसंतर सघमिलिया तहिं अति अवाह ॥ १ ॥

माणिकेमोतिए चउकु सुर पूरइ रतनमइ वेहि सोवन जवारा ।
अशाकवृक्ष अनु आम्र पल्लवदलिहि रितुपते रचियले तोरणमाला ॥२॥

देवकन्या मिलिय धवल मगल दियइ किंनर गायहि जगतगुरो ।
लगनमहूरतु सुरगुरो साधए पत्रीठ करइ सिधसूरिगुरो ॥ २ ॥

भुवनपतिव्यंतरजतिसुरो जयउ जयउ करइ समरि रोपिउ द्रिढु धरमकंदो ।
दुदुहि वाजिय देवलाकि तिहुअणु सीचिउ अमियरसे ॥ ४ ॥

देउ महाधज देसलो संघपते ईकोतरु कुल ऊधरए ।
सिहरि चडिउ रंगि रूपि सोवनि धनि वीरि रतनि वृष्टि विरचियले ॥५॥

रूपमय चमर दुइ छत्त मेघाडंबर चामरजुयल अनु दिन्नदुन्नि ।
आदिजिणु पूजिउ सहलकतिहि कुसुम जिम कनकमयआभरण ॥ ६ ॥

आरतिउ धरियले भावलमत्तारिहि पुव्वपुरिम सग्गि रंजियले ।
दानमडपि थिउ समर सिरिहि वरो सोवनसिणगार दियइ याचकजन ॥७॥

भत्ति पाणी य वरमुनि प्रतिलाभिय अच्चारिउ वाहइ दुहियदीण ।
वाविउ सुधम वितु सिद्धखेत्रि इद्रउच्छवु करि ऊतरए ॥ ८ ॥

मोत्तीयनंदणु भलइ महोरसवि भाविउ समरु भावासि गति ।
सेरडकहरडइ तीरभम्झारि पउ नंदउ जाव रविससि गयणि ॥ ९ ॥

नवमी भाषा—संघवाछलु करी घीरि भले माल्हंतडे पूजिय वरिसरा पाय।
सुणि सुंदरे पूजिय वरिसण पाय।
सोरठदेस संघु संचरिउ मा० पउंडे रयणि विहाइ ॥ १ ॥

भाविभकतु भमरेलीमइ माल्हं० भाविउ देसलमाउ ।
भइपेमरु भल जयि मिलए माल्हं० मंडलिकु सोरठराउ ॥ २ ॥

ठामि ठामि उच्छव हुभइ माल्हं० गहि भूनइ सपतु ।
महिपालदेउ रावलु भावए माल्हं० सामुहउ संघभ्गुरसु ॥ ३ ॥

महिपु समरु बिउ मिलिय सोहइ माल्हं० इंदु किरि भनइ गोविंदु ।
तेजि भगंजिउ ठेजलपुरे मा० पूरिउ संघभाणंदु । सुणि० ॥ ४ ॥

वउणायलीचेत्रप्रवाडि करे माल्हं० चलडटी य गडमाहि ।
दुविसिलभ्मरि पासिया प माल्हं० भगल्लिहइसंघइमाहि । सुणि० ।
दामोदरु हरि पंचमउ माल्हं० कालमेघो क्षेत्रपालु । सुणि० ।
सुवनरेहा नदी तहिं वहए माल्हं० दरुवरचयाउं भमालु ॥ ५ ॥

पाज चडंता धामियइ मा० क्रमि क्रमि सुकृत विलसंति । सुणि० ।
ऊची य चडिमए गिरिकडणि मा० नीची य गति पोढंति ॥ ६ ॥

पामिउ जादवरायभुवणु मा० त्रिनि प्रदक्षिण देइ ।
सिवदेविसुतु भेटिउ करिउ मा० छत्तरिया मडमाहि । सुणि० ।
कप्पुस भरेविणु गयंदमए मा० मेमिहिं न्हवणु करेइ ।
पूज महाधज देउ करिउ मा० छत्र चमर मेल्हेइ ॥ ७ ॥

भंबाई भवलोयणसिहरे मा० सांबिपम्मुनि चडंति । सुणि० ।
सहसारामु मनोहरु ए मा० विहसिय सवि वणराइ । सुणि० ।
कोइलसादु सुहावणउ मा० निसुणियइ भमरझंकारु । सुणि० ॥ ८ ॥

नेमिकुमरतपोवनु ए मा० हुदु सिय ठावं न सहंति । सुणि० ।
इसइ तीरथि सिद्धपयाडुलमे मा० निसिदिनु दानु दियंति ॥ ९ ॥

समुदविजयरायकुलतिलय मा० नीमतडी भवधारि । सुणि० ।
भारठीमिसि मनिषया मयइ मा० चडगतिफेरउ वारि । सुणि० ॥ १० ॥

जइ जगु एकु मुहु जोइयए मा० त्रिपति न पामियइ तोइ । सुणि० ।
सामलधीर तउं सार करे मा० वलि वलि दरिसणु देजि । सुणि० ॥११॥

रलीयरेवयगिरि ऊतरिउ ए मा० समरडो पुरुपप्रधानु ।
घोडउ सीकिरि साकलिय मा० राउलु दियइ बहुमानु । सुणि० ॥१२॥

दशमी भाषा—रितु अवतरियउ तहि जि वसंतो सुरहिकुसुमपरिमल पूरंतो,
समरह वाजिय विजयढक्क ।
सागुसेलुसल्लइसच्छाया केसूयकुडयकयंबनिकाया,
संघसेनु गिरिमाहइ वहए ।
वालीय पूछइ तरुवरनाम वाटइ आवइं नव नव गाम,
नयनीभरणरमाउलइ ॥ १ ॥

देवपटणि देवालउ सघह सरवो सरु पूरावइ
अपूरवपरि जहिं एक हुईअ ।
तहिं आवइ सोमेसरछत्तो गउरवकारणि गरुउ पहूतो
आपणि राणउ मूधराजो ॥ २ ॥

पान फूल कापड बहु दीजइं लूणसमउं कपूरु गणीजइ
जबाधिहि सिरु लिंपियए ।
ताल तिविल तरविरिया वाजइं ठामि ठामि थाकणा करिजइं
पगि पगि पाउल पेषण ए ॥ ३ ॥

माणुस माणुसि हियउं दलिजइ घोडे वाहिणिगाहु करीजइ
हयगय सूझइ नवि जणह ।
दरिसणसउ देवालउ चल्लइ जिणसासणु जगि रंगिहिं मल्हइ
जगतिहिं आव्या सिवभुवणि ॥ ४ ॥

देवसोमेसरदरिसणु करेवी कवडिबारि जलनिहिं जोएवी
प्रियमेलइ सघु ऊतरिउ ।
पहुचदप्पहपय पणमेवी कुसुमकरंडे पूज रएवी जिणभुवणे
उच्छवु कियउ ॥ ५ ॥

सिवदेउलि महाधज दीधी सेले पंचे वन्नसमिद्धी,
अपूरवु उच्छवु कारविउ ।

जिनवरधरमि प्रभावन कीधी जयवपताका गयिवलि अवी दीनु,
पयाणउ दीधमणी ।
काढिनारिनिवासयणेवी मंभिक मंवारामि नमेवी दीधि,
वसाउलि आमियउ ए ॥ ६ ॥

एकादशी भाषा—संघु रयणायरतीरि गहगहए गुहिरगंभीरगुणि ।
भाविउ दीवनरिंदु सामुहउ ए सघपतिसघउ सुणि ॥ १ ॥

हरपिउ हरपालु पीवि पहुतउ ए संघु माझविकरे ।
पभणाई दीवह नारि संनह ए आमण उत्तावली ए ।
आउली वाहिन वाहि वगुलइ ए वसावि मिम वेडुली ए ॥ २ ॥

किसउ सुनुन्नपुरिय आइउ ए नयणुलां सफल करउ ।
निवडणा नेत्रि करेसु उत्तारिसु ए कपूरि ऊमारणा ए ।
वेडीय वेडीय छोडि वरिसपऊ ए कीधई वधिपारउ ॥ ३ ॥

सेठ देवाउआदि वहठउ ए संघपति संघसहित ।
लहरि लागई आगासि प्रवहणु ए बाइ विमान जिम ।
जलवटनाटकु जोइ नवरंग ए रास लउडारस ए ॥ ४ ॥

निरुपमु होइ प्रवेसु दीसई ए रुपकला भवलहर ।
विहां अच्छइ कुमरविहार रुमडऊ ए रुमडुला जिणभुवण ।
तीर्थंकर वीह वंदेवि वंदिऊ ए सर्वम्भू आदिजिणु ।
दीठउ वविमअच्छरअमर्मविउ ए मेरुनीहरि घरिउ ।
अपूरवु पेखिउ संघु उत्तारिऊ ए पहुली तहि समुखडा ए ॥ ५ ॥

द्वादशी भाषा—भजमहरनरतीरथिहिं पयाभिउ पासजिणिंदो ।
पूअ प्रभावन तहिं करहिं भविअ ए भविअ ए भविअ सफल सुरंदा॥१॥

गामागरपुरवोरसिली वविउ सेत्रुंजि संपत्तो ।
आदिपुरीपाजह वडिऊ ए वंदिऊ ए वंदिऊ,
ए वंदिऊ ए मरुदेविपूतो ॥ २ ॥

अगरि कपूरिहिं चंदणिहिं मृगमदि मंडणु कीध ।
कुसमीराईकमरसिहिं अंगिहिं ए अंगिहिं ए अंगो अंगि रचीय ।
आइपरुजिहसेवत्रिय पूजिसु नाभिमल्हारो ।

मणुयजनमुफलु पामिऊ ए भरियऊ ए भरियऊ
ए भरियऊ सुकृतभंडारो ॥ ३ ॥

सोहग ऊपरि मंजरिय बीजी य सेत्रुजि उधारि।
ठिय ए समरऊ ए समरऊ ए समरु आविउ गुजरात।
पिपलालीय लोलियणे पुरे राजलोकु रंजेई।
छडे पयाणे सचरए राणपुरे राणपुरे पहुचेई ॥ ४ ॥

वढवाणि·न विलवु किउ जिमिउ करीरे गामि।
मडलि होईउ पाडलए नमियऊ ए नमियऊ
ए नमियऊ नेमि सु जीवतसामि।
सखेसर सफलीयकरणु पूजिउ राणपुरे पासजिणिंदो।
सहजुसाहु तहिं हरपियउ ए देपिऊ ए देपिऊ
ए देपिउ फणिमणिवृंदो ॥ ५ ॥

डुगरि डरिउ न खोहि खलिउ गलिउ न गिरवरि गव्वो।
सघु सुहेलइ आणिउ ए संघपती ए संघपती
ए सघपतिपरिहिं अपुव्वो ॥ ६ ॥

सज्जण सज्जण मिलीय तहिं अंगिहिं अगु लियंते।
मनु विहसइ ऊलटु घणउ ए तोडरू ए तोडरू
ए तोडरू कठि ठवंते ॥ ७ ॥

मन्त्रिपुत्रह मीरह मिलिय अनु ववहारियसार।
सघपति सघु वधावियउ कठिहिं ए कठिहिं ए कठिहि घालिय जयमाल।
तुरियघाटतरवरि य तहिं समरउ करइ प्रवेसु।
अणहिलपुरि वद्धामणउ ए अभिनवु ए अभिनवु
ए अभिनवु पुन्ननिवासो ॥ ८ ॥

सवच्छरि इक्कहत्तरए थापिउ रिसहजिणिंदो।
चैत्रवदि सातमि पहुत घरे नंदऊ ए नदऊ
ए नंदऊ जा रविचदो ॥ ९ ॥

जिनवरधरमि प्रभावन कीमी जयतपताका रचितसि चउी दीनु,
पयाणउ दीवमणी ।
कोडिनारिनिवासयणेवी अंबिक अंबारामि नमेवी दीवि,
वधाउलि आवियउ ए ॥ ६ ॥

एकादशी भाषा—संघु रयणायरतीरि गहगहए गुहिरगंभीरगुणि ।
आविउ दीवनरिंदु सामुहउ ए संघपतिसमउ सुणि ॥ १ ॥

हरषिउ हरपालु कीति पहुतउ ए संघु मालविकरे ।
पमणइं दीवह नारि संभइ ए आयया ऊवावसी ए ।
आडलो वाहिन वाहि वेगुलइ ए वद्धावि प्रिय वेडुली ए ॥ २ ॥

किसउ सुयुन्तपुरिप ओहइ ए नयणुलां सफल करउ ।
निवछया नेत्रि करेसु ऊवारिसू ए कपूरि ऊआरणा ए ।
मेडीय मेडीय ओवि रुलियऊ ए कीर्ति अंबियारो ॥ ३ ॥

सेउ देवालउमाहि वहठउ ए संघपति संघसहिउ ।
लहरि लागइ आगासि प्रवहणु ए जाइ विमान जिम ।
जलवटनाटकु ओइ नवरंग ए रास लउडारस ए ॥ ४ ॥

निम्पमु होइ प्रवेसु दीसइ ए न्यवरूला मवलहर ।
तिहां मण्डइ कुमरविहारु रुमझुठ ए रुमझुला जियाभुवण ।
तीर्थकर ठोह ववेवि वंदिऊ ए सयंभू आदिजिणु ।
दीठउ वणियवच्छराजमंदिरु ए मेरुनीथरि धरिउ ।
अपूरउ पेपिउ संघु ऊवारिऊ ए पहली वाडि समुद्दला ए ॥ ५ ॥

द्वादशी भाषा—अजाहरवरतीरथिहिं पणमिउ पासजिणिंदो ।
पूज प्रभावन वहिं करहिं भजिउ ए भजिउ ए भजिउ सफल मुसंदो॥१॥

गामागरपुरवालिती वलिउ सेतुजि संघचो ।
आदिपुरीपाजइ चढिऊ ए वंदिऊ ए वंदिऊ,
ए वंदिऊ ए मरुदेविपूतो ॥ २ ॥

अगारि कपूरिहिं चंदणिहिं मृगमदि मंदणु कीय ।
कसमीराई कमरसिरिहिं अंगिहिं ए अंगिहिं ए अंगो अंगि रचीय ।
आइयउत्सविइमेवप्रिय पूजिसु नामिमस्हारो ।

मणुयजनमुफलु पामिऊ ए भरियऊ ए भरियऊ
ए भरियऊ मुकृतभडारो ॥ ३ ॥

सोहग ऊपरि मंजरिय बीजी य सेत्रुजि उधारि।
ठिय ए समरऊ ए समरऊ ए समरु आविउ गुजरात।
पिपलालीय लोलियणे पुरे राजलोकु रंजेई।
छडे पयाणे सचरए राणपुरे राणपुरे पहुचेई ॥ ४ ॥

वढवाणिंन विलंबु किउ जिमिउ करीरे गामि।
मडलि होईउ पाडलए नमियऊ ए नमियऊ
ए नमियऊ नेमि सु जीवतसामि।
सखेसर सफलीयकरणु पूजिउ राणपुरे पासजिणिंदो।
सहजुसाहु तहिं हरपियउ ए देपिऊ ए देपिऊ
ए देपिउ फणिमणिवृ दो ॥ ५ ॥

डुगरि डरिउ न खोहि खलिउ गलिउ न गिरवरि गव्वो।
सघु सुहेलइ आणिउ ए सघपती ए संघपती
ए संघपतिपरिहिं अपुव्वो ॥ ६ ॥

सज्जण सज्जण मिलीय तहिं अंगिहिं अगु लियंते।
मनु विहसइ ऊलट्ट घणउ ए तोडरू ए तोडरू
ए तोडरू कठि ठवते ॥ ७ ॥

मत्रिपुत्रह मीरह मिलिय अनु ववहारियसार।
सघपति सघु वधावियउ कंठिहिं ए कठिहिं ए कठिहि घालिय जयमाल।
तुरियवाटतरवरि य तहिं समरउ करइ प्रवेसु।
अणहिलपुरि वद्धामणउ ए अभिनवु ए अभिनवु
ए अभिनवु पुन्ननिवासो ॥ ८ ॥

सवच्छरि इक्कहत्तरए थापिउ रिसहजिणिंदो।
चैत्रवदि सातमि पहुत घरे नंदऊ ए नदऊ
ए नंदऊ जा रविचदो ॥ ९ ॥

पासडसूरिहिं गणहरह नेऊअगच्छनिवासो ।
तसु सीसिहिं अंबदेवसूरिहिं रचियऊ
ए रचियऊ ए रचियऊ समरारासो ।
एहु रासु जो पढइ गुणइ नाचिउ जिणहरि देइ ।
श्रवणि सुणइ सो बयठऊ ए तीरथ ए तीरथ
ए तीरथजात्रफलु लेइ ॥ १० ॥

॥ इति श्री संघपतिसमरसिंहरासः ॥

———

रणमल्ल छन्द

कवि श्रीधरकृत

पन्द्रहवीं शताब्दी

परिचय—

मुसलमानों के आक्रमणकाल में जिन भारतीय योद्धाओं ने देश की संस्कृति और स्वातंत्र्य की रक्षा के लिये प्राणों की बाजी लगा दी वे आदि-कालीन हिन्दी काव्य एवं नाटक के अमर नायक माने गए। उनके शौर्य-वर्णन से कविलेखनी ओजस्विनी बनी और उनके यशश्रवण से जनता उत्साहित हुई। रणमल्ल छन्द ऐसी ही रचना है जिसका अभिनय सम्भवतः वीर सैनिकों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से किया गया होगा।

डा० दशरथ शर्मा का मत है कि ईडर दुर्ग का अधिपति रणमल्ल नामक योद्धा अपने युग का बड़ा ही प्रतापी व्यक्ति था। उसने अनेक बार मुसल-मान आक्रमणकारियों से दुखी जनता की रक्षा की। उसने गुजरात के शासक जफर खारूम और उसके उत्तराधिकारी शम्सुद्दीन दामगानी को पराजित किया। मलिक मुफर्रह जब दामगानी के स्थान पर नियुक्त हुआ तो उसने अपने पूर्वाधिकारियों की पराजय का बदला लेने के निमित्त रणमल्ल पर आक्रमण किया। घोर संग्राम हुआ और उसमें मुफर्रह की हार हुई। कवि कहता है कि सूबेदार मुफर्रह की हार मानो दिल्लीपति की हार थी।

इस युद्ध के कई वर्ष उपरांत सम्भवत. सन् १३९८ ई० में मुजफ्फर शाह-गुजराती ने ईडर पर आक्रमण किया। रणमल्ल ने वीरतापूर्वक उसका सामना किया। कई दिनों तक ईडर का दुर्ग शत्रुओं से घिरा रहा।

"ऐसे अवसरों पर अपने मनोविनोद और शत्रुओं को चिढाने के लिये घिरे सैनिक अनेक प्रेक्षणक और रास[1] किया करते थे। विशेषकर सिपाहियों को जोश दिलाने वाली कृतियाँ ऐसे समय अभिनीत होती होंगी। श्रीधर की कृति शायद इसी १३९८ के घेरे के समय निर्मित हुई हो। वह उस

१—हम्मीर काव्य और कन्हड़ के प्रबन्ध में इसका उल्लेख मिलता है।

समय के उपयुक्त थी। इस वीर गाथा से मस्त होकर सैनिक सोचने लगे होंगे, "हमने वीर रणमल्ल के नेतृत्व में इससे पूर्व अनेक बार मुसलमानों को ईडर के सामने से भगाया है। अब मुफर्रह की बारी है। रणबांकुरे (रणमल्ल) रणमल्ल को युद्ध में कौन जीत सकता है।"

रणमल्लछन्द की कथावस्तु

सुल्तान के पास अरदास पहुँची कि रणमल्ल आपकी आज्ञा और आपके फरमानों की कुछ भी परवाह नहीं करता और शाही खजाना लूट लेता है। वह मोडी पर चढ़कर चारों तरफ धावा करता है। सब थानों के मालिक उससे थर-थर काँपते हैं। रात्रि के समय खंबायत को अँधेरे ही धासका को और प्रातः पाटन को वह लूटता है। मोडासा का मीर रहमान स्वयं ही सरकारी पैसे खर्च करता है। खिदमत वो रणमल्लरी नहीं करता, किन्तु रणमल्ल से भिड़ने की किसी में शक्ति नहीं है।

सुल्तान यह सुनकर हैरान हुआ। उसने सेना तैयार की और खान को फर्मान लिख दिया। मीर मुफर्रह ने अब मसर से मूँछें मोड़ीं। सब साज सामान और युद्ध की सामग्री समेत सेना चली, और शीघ्र ही ईडर की तलहटी में आ पहुँची। मलिक मुफर्रह ने मध्यरात्रि के समय मंत्रणा की और एक दूत रणमल्ल के पास भेजा। वीर रणमल्ल कब पराधीनता स्वीकार कर सकता था। उसने मुसलमानी संदेश को ठुकराते हुए कहा:—

मेरा मस्तक यदि म्लेच्छ के पैरों में लगेगा तो गगनाङ्गण में सूर्य उदय न होगा। चाहे बड़वानल की ज्वाला शान्त हो जाय, मैं म्लेच्छ को कभी कर न दूँगा। छत्तीस कुलों के राजपूतों की सेना सजाकर, मैं हम्मीर के मार्ग का अनुसरण करूँगा। दल-दारुण-अमी जफर खान मेरी तलवार की चोट के सामने भाग निकला। मेरे सामने अड़ो-भड़ भिड़कर शमसुद्दीन भी परास्त हुआ। अपने स्वामी से कहना कि जब वह ईडर पहाड़ की तलहटी में पहुँचेगा तो उसे रणमल्ल के बल का पता लगेगा।

रणमल्ल का उत्तर सुनते ही मलिक ने धमक-दमक कर ईडर पर धावा बोल दिया। प्रजा त्रस्त होकर चिल्लाने लगी—'हे दीन अभयंकर अरिबल दारुण रणमल्ल, म्लेच्छ लोग ब्राह्मणों और बालकों को बंदी कर रहे हैं। उन्होंने हमारे गाँव और घर को नष्ट कर दिए हैं। अनेक स्त्रियों को उन्होंने पतिविहीन किया है। राठौर वीर होकर हमारी रक्षा करो।

ईडरपति रणमल्ल शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर युद्ध में पहुँचा। उधर खवास-खा अपनी सेना सहित ईडर की तलहटी में आया। दसों दिशाओं में मुसलमान ही मुसलमान दिखाई देने लगे। उनके रौद्र शब्द से उत्साहित होकर सेनानायक मुफर्रह ने जोरदार हमला किया। मुगल, बगाली, बडे बडे मलिक सब युद्ध में पहुँचे।

मुसलमानी घुड़सवारों के आक्रमण का रणरसिक रणमल्ल ने करारा उत्तर दिया। उसने मुसलमानी सेना का मथन कर डाला। उसने चारों तर्फ गट, गढी और गिरि गह्वरों पर दृष्टिपात किया, और अपने घोडे पर सवार होकर शीघ्र ही बादशाही सेना में जा पहुँचा। राव रणमल्ल बाज और मुसलमान चिड़ियाँ थे। महायोद्धा रणमल्ल के भुजदड की झपट से भड़क कर हडहड करते वे युद्ध से भाग निकले।

(जिस प्रकार) सोनगिरे साभर-पति कान्हड़ ने गजनी-पति से युद्ध कर सोमनाथ को उसके हाथ से छीन लिया और आदरपूर्वक उसकी पुन. स्थापना की, उसी प्रकार रणमल्ल ने भी सुल्तान का सामना किया। उसने अपना मान न छोड़ा। जिन्हें अपनी वीरता, अपने ऐश्वर्य, और अपने आधकार का गर्व था, ऐसे हजारों मुसलमान योद्धाओं ने रणमल्ल के सामने मुँह में घास लेकर अपनी रक्षा की।"

इतिहास से यह प्रमाणित हो चुका है कि मलिक मुफर्रह ने गुजरात पर सन् १३७७ से सन् १३९१ तक शासन किया। अत. रणमल्ल और मुफर्रह का युद्ध इसी के मध्य हुआ होगा।

इस काव्य से यह भी आभास मिलता है कि रणमल्ल गुजरात प्रदेश के मुसलमानी शासकों पर समय समय पर आक्रमण करता और उनका खजाना लूट लिया करता था। वह शूरवीर और साहसी योद्धा था और हिंदुओं के ऊपर मुसलमानी अत्याचार की घटनाएँ सुनकर प्राणों पर खेल जाया करता था।

रचनाकाल

ऐसा प्रतीत होता है कि इस काव्य की रचना सन् १३९८ ई० के उपरात हुई होगी। इसमें दिल्लीपति के पराभव के लिये दो व्यक्तियों को समर्थ माना गया है, एक शकशल्य रणमल्ल को और दूसरे 'यमतुल्य तिमिर लिंग' अर्थात् तिमूर को, जिसने सन् १३९८ ई० में दिल्ली पर अधिकार कर हजारों निरपराध व्यक्तियों को मरवा डाला था।

भाषा

अपभ्रंश और अवहट्ट काल के उपरांत हिंदी के प्रारंभिक स्वरूप का प्रमुख नमूना इस काव्य में देखने को मिलता है। इसकी ओजपूर्ण भाषा में संज्ञाओं और क्रियाओं के प्राचीन प्रयोग और अरबी फारसी के शब्दों की छटा दिखाई देती है। केवल ७ पदों के इस लघुकाव्य में अनेक विदेशी शब्द इस तथ्य के प्रमाण हैं कि भारतीय कवि विदेशी शब्दों को आत्मसात् करने में कभी संकोच नहीं करते थे। बादशाह, बाजार, अरदास, हराम, माल, आलम, बन्द (बन्दह), फुरमाण (फर्मान) सुरताण (सुल्तान) सुरताणी (सुल्तानी), नेज (नेज़ा) जंग, हल, पंयार खुद, खान, हजब (हाजिब), लसकरि (लश्कर) करिमाद, बखि, निमाज, फौज, मलिक, हल पिगरी, सलाम सिपहार (सालार) आदि अरबी फारसी शब्दों से यह काव्य भरा पड़ा है।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से यह लघु काव्य एक उज्ज्वल रत्न के समान है। विषय के अनुकूल शैली का चयन और रसानुकूल पदयोजना युद्ध वर्णन के योग्य शब्द मैत्री स्थान स्थान पर पाठक एवं श्रोता को मुग्ध कर देती है। भाषा का वेग आद्योपांत ऐसी उद्दाम गति से उछलता चलता है कि किसी स्थल पर एक क्षण के लिये भी शैथिल्य आने नहीं पाता। खरतर गति से बहने वाली पर्वतीय सरिता के समान इस काव्य की भाषा नाद करती हुई उमड़ी चली जाती है। पंद्रहवीं शताब्दी का ऐसा सरस वीर काव्य हमारे साहित्य का शृंगार है।

रणमल्ल छंद

श्रीधर कविकृत

(पन्द्रहवी शताब्दी)

[आर्या]

शंकर गुरु गण नाथान् नत्वा वरवीर छन्द आरम्भे ।
कवयेऽह रणमल्ल प्रतिमल्ल यवनभूपस्य ॥ १ ॥

छत्राधिपमदहर्ता कर्ता कदनस्य समरकर्तृणाम् ।
वीरजयश्रीधर्ता रणमल्लो जयति भूभर्ता ॥ २ ॥

यम सदन प्रति नीताः सीतारमणेन दानवाः स्फीताः ।
अधुना कमधजमल्लो रणमल्लस्तत्र तान् नयति ॥ ३ ॥

हम्मीरेण त्वरित चरितं सुरताणफोजसंहरणम् ।
कुरुत इदानीमेको वरवीरस्त्वेव रणमल्लः ॥ ४ ॥

दिल्लीपतिपरिभूतौ तद् ददृशे दृश्यते च बाहुबलम् ।
शकशल्ये रणमल्ले यमतुल्ये तिमिरलिङ्गे यत् ॥ ५ ॥

कति कारयन्ति भूपा भुवि यूपान् केऽपि वापिकाः कूपान् ।
एको ननु पुनरास्ते रणमल्लो घोरिकारयिता ॥ ६ ॥

यदि न भवति रणमल्लः प्रतिमल्लः पादशाहकटकानाम् ।
विक्रीयन्ते धगडैर्बाजारे गुर्जरा भूपाः ॥ ७ ॥

सुभटशतैरति विकट पटुकरटिघटाभिरुत्कट कटकम् ।
तन्नटयति रणमल्लो रणभुवि का वैरिणां गणना ॥ ८ ॥

अनवरत भरतरसं सरसैः सह रतरसं समं स्त्रीभिः ।
वीररस सह वीरैर्विलासयत्येष रणमल्लः ॥ ९ ॥

खलु कमलागुरुहरणं परवरण समरडम्बरारम्भे ।
शिवशिव रणमल्लोऽयं शकदलमदमर्दनो जयति ॥१०॥

[छप्पय]

सथिरि सहस साहणावइ साथाह गई भरवास पासि सुरताणह ।
कणगरु कास छीप हरि हिन्दू सु रणमल्ल इक नह मन्दू ॥११॥

पुण फुरमाण भाण सुरताणी नहि रणमल्ल गयण रणताणी ।
खिम हम्मीर वीर सिम्मरवइ तिम कमधज्ज मूछ गुडि गुरवइ ॥१२॥

बलाखि पड़ी थिहू पिरि धम्पइ थरथर थाणावार थरि कम्पइ ।
कमधज्ज करि घरि कोइ सहबइ त्रिपहर छुम्ब म छुम्ब ह पबइ ॥१३॥

निशि सम्भाइय नयर तबकइ घूंघलि घूंस पडइ भूलक्कइ ।
प्रहि पुक्कर पडई पट्टणावलि रे रणमल्लघाडि सब सम्भलि ॥१४॥

मुहुकासिया मीर रहमाणी हाम हराम करइ सुरताणी ।
माल हलाल खानखिजमती सु रणमल्ल इक नह लिधी ॥१५॥

इक रणमल्ल राय सुणि आलमि रहित हुई हैराण सुलालम ।
हैसा लाख पन्द गुलावि लखि फुरमाण खान बल्लावि ॥१६॥

हय गय कनक माट वल्लाहिय दहु दिसि षेस असेस पल्लहिय ।
निहुटी माटि कारगह धखि, करु पराण रैयत-रणमल्लि ॥१७॥

ईवर भणी मील सुरताणी पूंफूं मार फिरइ रहमाणी ।
मूगल मेच्छ मुहइ मच्छर भरि हसि हुसियार हुमाइसलाम करि ॥१८॥

[सारसी]

फैंगराइ फूं फूं फार फारक फोज करि फुरमाणिया ।
हुह्हार करकहि करइ शारम्भि करवि करि कम्माणिया ।
फुक्कारि मीर मलिक मुफरव मूछ मरडी मच्छरइ ।
संभरइ शाकसुरताण साहण साहसी सधि सज्झरइ ॥१९॥

[दूहा]

साहस वसि सुरताण दल समुहरि झिम झमकन्त ।
तिम रणमल्लह रोस वसि मूछ सिहरि फुरकन्त ॥२०॥

[सारसी]

फुरफुरहि सण्ण पलाण झल्लरि नवनिफर निरम्बरं ।
भरभरहि भेरि भयह भूंकर भरलि भूरि भयङ्करं ।

दडदडी दडदडकारि दडवड देसि दिसि दिसि दडवडइ ।
सचरइ शकसुरताण साहण साहसी सवि सञ्चरइ ॥२१॥

[दुहु]

साहस वसि सुरताण दल समुहरि जिम दमकन्त ।
तिम तिम ईडर सिहर वरि ढोल गहिर ढमकन्त ॥२२॥

[सारसी]

ढमढमइ ढमढमकार ढ्ढ्कर ढोल ढोली जङ्गिया ।
सुर करहि रणसरणाइ समुहरि सरस रसि समरङ्गिया ।
कलकलहि काहल कोडि कलरवि कुमल कायर थरथरइ ।
सचरइ शकसुरताण साहण साहसी सवि सञ्चरइ ॥२३॥

[दुहा]

जिम जिम लसकर उध्रसइ करी नि बुम्बुक्कार ।
तिम तिम रणमल रोस भरि तोलइ तरल तुखार ॥२४॥

[सारसी]

तुक्खार तार ततार तेजी तरल तिक्ख तुरङ्गमा ।
पक्खरिय पक्खर, पवनपखीपसरि पसरि निरुप्पमा ।
असवार आसुरअस अस लीइ असणिअसुहड ईडरइ ।
सचरइ शकसुरताण साहण साहसी सवि सञ्चरइ ॥२५॥

[चुप्पई]

'हल ऐयार' हकारवि धुज्जइ, भुजबलि सबल मुट्ठि दल घल्लइ ।
गयुखान खुद नगतलि चल्लिअ, शकदल दहु दिसि दिद्ध डहल्लिअ ॥२६॥
मलिक मन्त्र मज्झिम निशि किद्धउ तव हेजब फुरमाण स दिद्धउ ।
ईडरगढि अस्सइ चडि चल्लिउ, जइ रणमल्ल पासि इम वुल्लिउ ॥२७॥
'सिरी फुरमाण धरवि सुरताणी धर दय हाल माल दीवाणी ।
अगर गरास दास सवि छोडिअ करि चाकरी खान कर जोडिअ ॥२८॥
रा असि सरिसु वाहु उब्भारिअ वुल्लइ हठि हेजब हक्कारिअ ।
'मुझ सिर कमल मेच्छपय लगइ, तु गयणङ्गणि भाण न उगइ ॥२९॥

[गिह विलोकिव]

जो अन्नरपुडवलि वरथि रमइ तो कमधज्जकन्ध न धगइ नमइ ।
वरि पडवानल तण झाल शमइ पुण मेच्छ न आपूं वास किमइ ॥२०॥
पुण रणरसबाण करइ अजी गुण सींगणि सजि खन्ति भजी ।
छतीस कुलइ भल करिसु घणूं पय भमिसु रा हम्मीर तणूं ॥२१॥
वल वारुण दफूफरखान जयी मिइ भमाड भमाइ खमारयि ।
हिव पट्टणपक्खरि भरिसु पयं नइ विनडिसु सविरिसहस सयं ॥२२॥
मिई सझरि समसुदीन नवी पडिभगाड मज्झोमलि मिळी ।
जव मयिडसि मुझ रणमल्ल मर्म तव देखिसि सासफरि सरिसु श्रमं ॥२३॥
मम मोडि म मयिड मलिक घणूं हू समरि भिडारण मेच्छ घणु ।
जब ऊठिसि हठि हमन्व रणि तब न गणू त्रण सुलताण तणि ॥२४॥
वल पुखिल म वल्लि मल्लिक कहि म म वरथि सिमुपालिम पूत मुहि ।
जब चम्पिसि इडरसिहरतलं तव पेखिसि मुह रणमल्लबलं ॥२५॥
इय देखवि सवि हेजब्ब गया वहि वल्लि मलिक सलाम किया ।
हिव करिसु घरा रणमल्लमय इम बोल्लइ हठि तोखन्व हयं ॥२६॥
नरकेसरी इडरसिहरघणी जब हेजबमुहि फरियाद सुणी ।
तब चमकि डमकी मलिक फ्री घसि धाडिइ धायइ धूंस धरी ॥२७॥

[छुप्पइ]

पसरइ पयडर बेस मयङ्कर, नर पोकार हि करिहि निरम्बर ।
हयमर वेगि गया इडरवलि सवि रणमल्ल करइ साहसि छुलि ॥२८॥
विसहर भरि तुम्बारव वज्जइ असमर जिम सींगणिगुण गज्जइ ।
बहु बलकाक करइ बाहुब्बल बम्बलि भगइ धरइ भरणी तलि ॥२९॥
'भरियणसारया ? वीन-भमयकर' पयडर वेस थया निम्भय पर ।
धम्मण बाल वन्दि बहु किजइ, भा कमधज ! भार करि सिजइ ॥४०॥

[पञ्च चामर]

रडइ घड भासुर साहसिक सूरइ ।
कठोर घोर घोर छोर पारखिक पूरइ ।

अहङ्ग गाह अङ्ग गाहि गालि वाल किज्जइ ।
विछोहि जोइ तेह नेहि मेच्छ लोडि लिज्जइ ॥४१॥

[दुहु]

जिम जिम कमधज चीतवइ असपति सरिसु विवाद,
तिम तिम योगिनि रुहिररसि रत्ता करइ प्रसाद ॥४२॥

[सारसी]

परसादि वध्धि दिगन्त योगिनि जयजयारव अम्बरि,
उच्छकि छकि दियन्त सिक्खा वीर धीर धरा वरि ।
'दुद्दम्भ मेच्छ विछोह रोह अ खोहि गाहवि किज्जइ,
तू हट्टि उट्टवणीइ हट्टवि, लोह हत्थइ लिज्जइ' ॥४३॥

[दुहु]

जिम जिम लसकर लोहरसि लोडइ, शासन लक्खि ।
ईडरवइ चडसइ चडइ तिम तिम समरि कडक्कि ॥४४॥

[पञ्च चामर]

कडक्कि भूछ भोंछ मेच्छ मल्ल मोलि मुग्गरि ।
चमक्कि चल्लि रणमल्ल भल्ल फेरि सङ्करि ।
धमक्कि धार छोडि धान छण्डि धाडि-धग्गडा ।
पडक्कि वाटि पक्कडन्त मारि मीर मक्कडा ॥४५॥

[चुप्पई]

'हयखुरतलरेणइ रवि छाहिउ, समुद्दर भरि ईडरवइ आइउ ?'
खान खवास खेलि वलि धायु, ईडर अदर दुग्गतल गाह्यु ॥४६॥

दमदमकार ददाम दमकइ, ढमढम ढमढम ढोल ढमकइ ।
तरवर तरवर वेस पहट्टइ, तरतर तुरक पडइ तलहट्टिइ ॥४७॥

विसर विरङ्ग वङ्गरव पसंरइ, रहि रहिमान मनन्तरि समरइ ।
गह गुज्जार—निमाज कराणी हयमर फोज फिरइ सुरताणी ॥४८॥

सत्तिरि-सहस सहिय सिल्लार ह दहु दिसि फिरवी करिपुकार ह ।
सुहडसद्द सम्भलिवि रउद्द ह धसमस धूस करइ मफरद्द ह ॥४९॥

[हाकली]

मरमीमस सेरवषा महाली मूंगल महा मलिक ।
इबर मबर सिक्कारि रणधम्मरि वलि धरमरइ तुरक ।
हब्बरवि मिक्कट वहकटि पलइ, मुल्लाइ विरथ बहुच ।
सुरखाण सरिस सिल्लार सिपाही सवि मिलि समरि पहुच ।५०॥

सलहद्दिइ मेल्लवि वरस सुरची धार सवार धरक ।
सल्लद्दिम असपति असपतिम नायरि सामरषेलि धरक ।
'हल, हल' भिगरी भिगरी' बोलन्ति अ नीरक्खहरि छिन्नन्त ।
रणकन्दलि कलह करइ किलवायण कायर नर रेलन्त ।।५१॥

हेपारवि हयमर हसमसि सुरयवि असवि किपाण कसन्त ।
सरसवि कसाकसि असि तरतर मिसि, असमसि घसमसि असन्त ।
भूमयरसि भड कमधज्ज मडोहडि मुखवसि मिडस भिडन्त ।
रणमल्ल रणाकुल रणि रोसारुण मुख सविधि सुधरन्त ।।५२॥

घसावलि मयवसि मुञ्भकम्माल ह समवमि सोयि सडन्त ।
धारउट धारि धगड धर धसमसि घमसमसि धुम्प पडन्त ।
कमधज्ज स्वपगिरिसिवयण सविता मन्नमल मल्ल मडन्त ।
धुरि धसि धसि धूंस धरइ भगडायणि धर वरि रणइ रडन्त ।।५३॥

[छुप्पइ]

धर कमधज्ज वीर शासन दवि किरि कुरुइ नव लविड धरावलि ।
'असपति सरिखु इक इकरवइ रणि रणमल्ल मूछ झ्रहि सुरवइ ।।५४॥
असुर असाग-भग इकरवसि असपति दल-कोलाहल मग्भसि ।
मग्भय मार सुरदि भनदा छसि हठि उठिर कमधज्ज भुजामसि' ।।५५॥
पक्खरि पखर भिडस भिडन्तु धसि भगाभयण धूंन धरन्तु ।
हणहणि मुणसिम मणइ असंभम लास मिलिड हरि सम्भ तणउभिम ।।५६
दुग्भणरुमम-दफराणानल हयमर हठि हेकवि कोलाहलि ।
रणधाभ्भु रणमल्ल रणाकुल भमिरसि गाद करइ गोरीदलि ।५७॥

[दुमिला]

गारीदल गाहवि रिढ पहुदिमि गलि मडि गिरिगहरि गडियं ।
दणदणि दणन्तउ दुं दुं दप-दप दुहारवि दयमरि पडियं

धडहडतउ धडि कमधज्ज धरातलि धसि धगडायण धूंस धरइ ।
ईडरवइ पराडर वेस सरिसु रणि रामायण रणमल्ल करइ ॥५८॥

रोमञ्चिय रणरसि, राढि डरावण, रहि-रहि बल बोल्लन्त चलि,
पक्खर वर पुट्ठि पवगम पट्ठिय, पुहुतउ पह पतमाहदलि,
असि मारवि रूम्र रणायरि रगडिअ भञ्जइ धगड महा भडया ।
रणमल रणङ्गणि मोडि मिलन्ता मेच्छायण मूगल मिडिया ॥५६॥

मुहु उन्छलि मूञ्छ मुहच्छवि कन्छवि भूमइ भूंछ समुच्छलिया ।
उल्लालवि खग्ग करग्गि निरग्गल गणइ तिणइ दलअग्गलआ ।
अल्लय करि लसकरि लोहि छयच्छत्र छरण्ट करइ छत्तीस छलि ।
रणमल्ल रणङ्गणि राउत विलसइ रवितलि खितिय रोसवलि ॥६०॥

मीचाणउ रा कमधज्ज निरग्गल झडपइ चडवड धगडचिडा ।
भडहड करि सत्तिरिसहस भडक्कइ, कमधजभुज भहवाय झडा ।
खत्तित्तणि खय करि खक्खर खूदिअ खान मान खण्डन्त हुया ।
रणमल्ल भयङ्कर वीरविडारण टोडरमलि टोडर जडिया ॥६१॥

[चुप्पई]

सोनगिरउ कन्हउ सिम्भरवइ वेढि करी गज्जणवइ असुरइ ।
दहुदिसि दुज्जणदल दावट्टिअ सोमनाथ वड हत्थइ झट्टिय ॥६२॥

आदर करि शकर थिर थप्पय अचल राज चहुआण समप्पिय ।
असपति सरिसु साहसिम वक्कइ, सुरटमान रणाल्ल न मुक्कइ ॥६३॥

मरडी मूञ्छ वडी मुहि मण्डइ मेच्छ सरिसु, गह गाह न छण्डइ ।
कसवइ काल किवाण करट्ठि अ जा रणमल्ल रोस वसि उट्ठिय ॥६४॥

पराडर डरइ समरि वाहुव्वलि, खग्ग, ताल जिम, तोलइ करतलि ।
दुल्लउद्दण्ड दुदम्भ दुहण्डइ, इक्क अनेकि मलिक्क विहण्डइ ॥६५॥

[भुजङ्ग प्रयात]

जि बुम्भा अ बुम्भा डलक्कि सलक्कि, जि,वक्कि बहक्कि, लहक्कि चमक्कि ।
जि चङ्गि तुरङ्गि तरङ्गि चडन्ता, रणम्मल्ल दिट्ठेण दीन दडन्ता ॥६६॥

जि मुद्दा-समुद्दा, सदा रुद्द, सदा जि बुम्बाल चुम्बाल बङ्गाल बन्दा ।
जि झुज्झार तुक्खार कम्माल मुक्कि, रणम्मल्ल दिट्ठेण ते ठाम चुक्कि ॥६७॥

राउ जैतसी रौ रासौ

[संवत् १५८७ के आसपास]

जोध-तणै घर जैतसी चका राड़-विभाड़
दुसमण दावटणा दमण वच्छर महां किमाड़

मारवि वीरम मंडली गाहिम गोत्र गोपाळ
दुणि तारणा चौंडे तणौ राउ धा उर रखपाळ

खग जेठी रिणमल जिम सबळां चापण सीम
महां भयंकर मड़ सिहर मड़-भंजण गज भीम

दो मति खोधी दूसरौ वै विधि विक्रमाईत
बळ भंजण बैराइयाँ वड पात्रां वड चीत

नर मोटै सहिस्यै नहीं राउ तणौ कुण रेस
स्यौं दिल्ली सुरताण स्यौं आठ पुहर अहं वेस

जिण जोगिणपुर संमह्यौ साथै साहिम माड़
वेसौ करनाभण तणौ रेड़ मंडै रिम राड़

हुसनाबी ओभाड़ियै रचि मचि आरंभ राम
सूंडासिम सूं खोभियौ वैर वडै परिणाम

खंडहियाँ बांका महां प्रगटी हुवै प्रसिध्ध
राठौड़ां अर मुगलां मडु चूकै भारिध्ध

घर दिल्ली मारू धरा वधि आसम विभाप
नर मीरां मानै नहीं खरा विहेकै चांप

रूप वधै राठौड़ हर जैत न भभी वीर
कुण दिल्ली कुण गजणी हैं-मैं कमण हमीर

मे चाकर मव खंट घर पूट तखत सुरताण
मीधु न मेसी दे सरिम असमंग अमसा माण

कुँवरो जैत कड़ंकिया कलि आंधी धर कज्ज
लाग्रा भलौ पटंतरो भड़ा लहेयी अज्ज
हुवै वि तेजी अेकटा केहो काढ़े कान
अे हिन्दू आराहडों तूं मुगल असमान
वड ग्रह वेउं विरोध में वोलै ऊभौ वाह
रूपक राटौडा तणो रूपक रात मुखांह
जोवै ऊन्हा जैतसी लोह वहता लागि
किलि वे भूठौ किमिरियौ उहो वै वलती आगि
खेडेचा खधार-रा साउ पणै सधराह
पगडो आयौ पेरुअे नीसक नाच नराह
किलिनारो कमधज्ज कहि वड खप्पर वरियाम
मोड़ौ वहिलौ माडिस्यै आयो सद संग्राम
कुवरै अेम कहावियौ निय दिसि जैत नरेस
तो मुहि मानै मूछ तुझ जौ मारा मरु देस
किलव किसाडा कर करै आवै किहा न आउ
अण विठिया जपै उदक रोस चईनो राउ
वेउ वास माल वोलिया विधी न मानी वत्त
मुरधर मारूँ मुग्गला मेल्यौ दल मैमत्त

मोतीदाम

मिलै दल सव्वल मोगर थट्ट
खधार मुगल्ल तणा खड खट्ट
हरद्धि उ वध्ध सलाम अलख्ख
वगुल्लय भूल क बल्ली भख्ख

अजाण अभेद अपरस अरूर
कलंकी कम्म खधार करूर
निबंगी पंग निक्रम्मी नंग
अलूल अजीत समाम अभंग

अरिअण जेम फगरण असाध
अनम्मी ओप तणा सतराध
मिळेति य बिखज वायर मंग
दुरी मुख दायत्र दूत दुर्चट

सयहिदि वेधि ग ठदि त्रिलास
क्रिया अणसूप अ पंचण काल
विना पख भूलण वप्प वदम
विरोध विकासी मामू अम

महा गय केसरि मीर मणास
तणा गुरु ये लग्रि विध्धि त्रिकाल
अदे अण भ्रम्म समाम असीत
हु अंगम दायव वृठ दइल

पखी मुख धामरियास पुगुम
अवस्स अनाहद धात अकम
सरिस्सा हुवै राउ स धीर
मिसे अेक लाख तिसा वस मीर

मरुध्धर ऊपर मारणहार
तणा सुरसाण सुबाण सधार
हुवौ कुंवरौ असि रूढ बलास
सुअप्पति ओभे जैत सुभास

समोभ्रम वावर साह समथ
पसाभ्यव आइ तिलोगिणि बथ
निरक्खे ऊपरि बीकानेर
सबे सुभ मीर चढे समसेर

ओपा-धर बीपण साफर बंग
तुरंगे बीण कसे भड सूंग
पसाक्रम पूया तणा बंगाल
चडे चतुरंग परत्ती चाल

समूहा सेन तणी सुरताण
पछिस्म दिस किया परियाण
वहे दल विम्मल फूटी वच्च
तणा खुरसाण छ खंढ न खत्त

दसे दिस कंपे मंडी दौड
रहच्चण रेण तणी राठौड़
खंधार कटक्क खड़ै खुरसाण
मरुध्धर देस किया मेल्हाण

हुई दल हूकल हालि हमल्ल
ढलक्क्या नेजा आलव ढल्ल
सलाका वाजर चावण सीम
हुआ तसलीम कि हाल्यो हीम

वहे गज थाट विरोलण वाद
महोदधि मेल्ही जाणि म्रजाद
पयाल धडक्क्यौ धूजि पतंग
पड़ै धर पख तणा गयणग्ग

मल्हप्प्यौ जाण कि मेघ मंडाण
भिली रज धूँधलि रूंध्यौ भाण
असख प्रमाण इसी क्यौं आहि
मिरू घण मूमै जंगल मांहि

गहग्गह म्रिध्धणि मंगल गाइ
जोधा धर जीपण खापर जाइ
नरिंद नमंति तणा नव खंड
प्रगट्टिय दाणव सेन प्रचंड

कमध्ध तणी धर कम्मर हीण
करेवा भंग किलिच्चि कुलीण
प्रगटूयउ उत्तर रौ पतिसाह
धरा चमक्क वरस्यौ धाह

हुवती छूंत्र तहम्मह होइ
पहरयौ राउ निलैपलि होइ
मालौ जगमाल चत्रंड विरम्म
जोधो रिणमल्ल संघार सहम्म

इदौ सत ताथ संग्राम सद्रोह
सहि कलि जैत चढावै सोह
भलै भुज भार तणौ वल भोम
वधौ वर लध्ध विलागौ वोम

नमटय्यौ भुज्ज खत्री निरवाण
कडव्व्यौ कोप सभी केवाण
तणी घर वाहर ऊँची ताण
किलिच्छा केसरि भंजण काण

लियै मुखि प्रज्जलियै करि लोह
सही राठौडा चाढण सोह
प्रिथी पति वाहर होइ प्रगट्ट
रिदै रण ताल निलै रणवट्ट

तरस्यौ ताम क सेत्रि सरूप
रचायौ राइ जडाधर रूप
धडे त्रडकंति सनाह सकोप
भिड़े ध्रू भंस्यौ - टोप

हुवतै वेगि हुवौ हलकार
वधै धर वाहर जूह विडार
धसम्मसि धूहड धूणि धराल
कमध्धज कोपि भयकर काल

विचन्नहि राउ कहै वर अस्स
जिसौ जै चीति चढ्यौ तै तस्स
चढ्यौ वड चोट भड़ा हुइ चाल
त्रिविध्धी वेधण तूंग त्रिकाल

विधूंस्यौ देस किया सहि पखि
कमध्ध न दिट्ठा मे छ कटखि
महम्मद मारण मोटिम मल्ल
दंढोलण खिल्लिउ खेकम खल्ल

पछट्ट्यो पाखर जेह पटाय
खराम्यो सेन तणा सुरताण
हलदे गासम हाथौ हाम
कुटाक्ष कीधउ मीर किमाम

सखस्खी जेह सरण्य संघारि
महा रिण कालू तोड्यौ मारि
रायौ जुधि कोइ न पूखी ताह
महा बलि मंगण हार महाह

इसा कमधज्ज विरद्द अपार
महा रिण मेछां मारण हार
दंढोलण खिल्ली हैवै खाण
संकोडिम जेह धका सुरताण

रठवड़ै मंड्यौ गूजर-राव
घड़ा ति सरूप कियौ सिरि घाव
मबाखां पोहां ऊपरि पाव
अड़ावै जैचंद जोध सु आव

इणा पख जैत मुखे तूं आज
सही कुल-दीपक सामि सकाज
वई तई रूधौ मारू देस
विसा ही संभ्रम सुभ्भड नरेस

विरोधण वैरा वैर विहार
सु वाखै सुम्भड पहाधर धार
घठी हिय आहणि भोमि अपार
खड्गो खाफर खोसि संभार

राही खंड साच मनै सपरत्त
विढेस्यौ जैत वरत्ती वत्त
परम्मह सीम उदक्क प्रमाण
खडै दिसि खैंग भडा खुरसाण

तुरंगा सारम वाज्यौ त्राड
झरै झर झंग पडै गुडि झाड
वहै निल वेग उपाडी वग्ग
खडखड़ जोड खडक्के खग्ग

विरत्तौ वेग न काइ विमास
विढेवा राउ खडै वरहास
खुरां रवि फीण उमट्ट्यौ खाणि
लगौडै लागै लाल लंगाणि

पचगा आहु सि धुज्जै पंगु
चलै भ्रग जेम रसाउलि चगु
विडगे वाह्यौ भोमि विचालि
खरी ताइ खोण चढी खुरभालि

इला पुडि ऊधडि घोर अंधार
कियौ मिलि खेहां धूधलिकार
सोहै सिधि जेम करन्न-सुजाउ
जी ऊधूलि हुवतौ राउ

दलां खुरसाण तणा सिर वट्ट
प्रगट्ट्यौ मल्ल सजे है-थट्ट
झलाहल कगल पाखर रोल
घटा हड खैंग रजी धमरोल

हड़व्वड हूक रड़व्वड़ लोह
वदन्न हि राइ चढी वर सोह
भुयकर रूक सजे भुइ डंडि
महामति मेरु अनै ध्रू मंडि

पवंग पवंग पलाण पलाण
विहिस्सां रूढ हुवा वापाण
सुभट्ट सजोड़ा त्रिराड़ सहस्स
संभामि जिके सवि वीस सकस्स

सनाही साथ किया भड़ सेव
सपर कर वीध पवग सतेव
भड़े दल थैस दयो चतुरंग
असंकित ओप सिके अणभंग

महिप्पति मांझी सेन मझारि
चढी वर सोह हुवे असवार
जुड़े सूं संगम ओप जुमाण
धने भ्र, याहर लक्खण आण

करे छतवंत अरिज्जण काइ
जिसौ हणवंत फिलंकी वाइ
विलग्गो चंवरि वाहरि वार
त्रिविक्रम जेम विकस्स्यौ तार

भ्रकुट्टिहि माव जिसी निस मस्सु
चरच्च्यौ आयि रगत्तहि चक्खु
दयौ रवि वारइ आययो सास
बदन्नहि कीधौ तेज विकास

रचे वपुरूप इसौ कर्यौ राइ
जिसौ कोइ आडौ वीरी आइ
मह्यक्कइ ज्योति हसति कपोल
दयौ रग सोहै मुक्खि तंबोल

भराधी चाहर कोप भियान
विरम्मां बेवि दयौ वरदान
मभाड़े रूमा भारवि मस्स
रांणां राउ ओप अनै रियामस्स

टहक्कह रंभ ग्रहग्गह कीर
मिलै रणतालि कमध्धज मीर
निहट्ट निग्रहि वाध्यौ नेत्र
खरा खुरसाण मरुध्धर खेत्र

घडा त्रिहु वेधि वहै बहु घाउ
रमै सुरताण मुहामुहि राउ
सहथ्थहि सूरति वेउं सरीख
सरीखी वसि त्रिहूं कुल सीख

सरीखी सानिध मेरु समाण
सरीखा राउ अनै सुरताण
सरीखा सूक वहै सग्रामि
सरीखा फारक सोहे सामि

सरीखा भूझ तणा सहिनाण
सरीखा राउ अनै सुरिताण
सरीखा फौजां पाखर सेर
सरीखा ढिल्ली वीकानेर

सरीखा खेड़ धरा सुरसाण
सरीखा राउ अनै सुरताण
वरदल वेढि वडै वीवाहि
मिली धण तुभ्भ महारिण माहि

पदम्मिणि आउध जोड़े खाण
रमाडण आवी मारू राण
रहाली रौद्र घडां रिम राह
गहम्मह गात्रि घणै गजगाह

सफुग्गी साथि करै सुरिताण
रमाडण आवी मारू राण
निहस्सै चोपट वाकी नारि
सनाहौ भूझ तणौ सिणगारि

पिड़ेवा चैत किपौ छिया धार
अर्बभम कान्ह छयौ अवधार
परब्बत माछ पुरंदर प्रीत
भिन्हे मुख मूख खिसा रख पीठ

निसे त्रिया रेख हसै भणुहारि
सु मंझ्यौ मध्य कि मेघ मंझारि
रहचय रौद्रं भारू राइ
रचे रथ पाथरि रानी माइ

निरम्मल मोति कवाइ निरीह
वसैविसि सूमै कीमी वीह
पनै सहि प्रेखां ऊपरि प्राण
पीछे ससरी बम्धे बाखाण

निहुरी जैत धुरे नीसाण
झलम्मल होइ पखां सुरसाण
महा मुहि सेन भई भिड़ मस्स
कुलक्कुल हीस हमंके बक्क

समा चढि सीफ मम्मम्मक सार
हुय हयमट्ट हुयौ हलकार
मझमम्झसि मझसि झिले करिमाल
पलम्पलि बीम जिसी परिसाल

झलम्मल होइ भलक्ती लाम
खपे भड़पार मुखे जै राम
गहम्मह पीर ग्रहत्रह नूर
महम्मह घोम महम्मह तूर

मह्म्मह नारद कातिग कोटि
घहहर भैरव चामर मोटि
खहहर डाकिणि डामर मह
गहमह प्रीसो सीबू मह

टहट्टह रभ ग्रहग्ग्रह कीर
मिलै रणतालि कमध्धज मीर
निहट्टा निग्रहि वांध्यौ नेत्र
खरा खुरसाण मरुध्धर खेत्र

घड़ा त्रिहु वेधि वहै वहु घाउ
रमै सुरताण मुहामुहि राउ
सहथ्थहि सूरति वेउ सरीख
सरीखी वंसि विहू कुल सीख

सरीखी सानिध मेरु समाण
सरीखा राउ अनै सुरताण
सरीखा सूक वहै सग्रामि
सरीखा फारक सोहै सामि

सरीखा भूझ तणा सहिनाण
सरीखा राउ अनै सुरिताण
सरीखा फौजा पाखर सेर
सरीखा ढिल्ली वीकानेर

सरीखा खेड धरा सुरसाण
सरीखा राउ अनै सुरताण
वरद्दल वेढि वडै वीवाहि
मिली धण तुम्भ महारिण माहि

पदम्मिणि आउध जोडे खाण
रमाड़ण आवी मारू राण
रहाली रौद्र घडा रिम राह
गहम्मह गात्रि घणौ गजगाह

सफुव्वी साथि करै सुरिताण
रमाडण आवी मारू राण
निहस्सै चोपट वाकी नारि
सनाह्यौ भूझ तणौ सिणगारि

मुगुल्ली कामिणि मेल्हयत माण
रमाडण आवी मारू राण
हवै रिण रुक कवीर असंस
कियौ पुड सम्परि प्रीषणि पस

झरै घण सेन्न तणी सुरसाण
रमाडण आवी मारू राण
रमाडण आइ मिलै गजघट्ट
कमक्कगढ़ मट्ट पथा प्र् पट्ट

हुवै आवट्ट खपै दल वट्ट
संमामि सुमट्ट वहै घज वट्ट
हुवै रिण संग सुझै अणभंग
पड़ै रणभंग पड़ू पख पंग

पड़ै रिण पंग सरीखा संग
त्रुटे हय तंग मचै चौरंग
खिवै रिण हाथि पईव जुआण
खिवे निरवाणि वधै वाखाण

भिड़ै आराण सुझै केवाण
खसै सुरसाण मरुम्पर राण
तणा घर कज्ज वधै वधु रज्ज
धुनै दल भज्ज मिलै कुल लज्ज

ममाहिव सज्ज मिरा पइ पज्ज
रमी म्यूं भाण हुवै रव रज्ज
भिड़ै मड़ मोम पड़ै गजभार
रुडमो ओप कमण्ण संभार

कड़के कंध मड़क्कड़ कास
रुसी पल सोख मचै रिणतास
खिरे अपु छूटे छंड खिरंड
ममे मड़ मोम पड़ै मू बंड

सोहै रिण सूता सूर सनध्ध
तडै धड धारा त्रूटि त्रिविध्ध
धड़ध्धड़ नाचैं साहस धीर
वहै वण लूध विढै वर वीर

कमध्धज मीर रहावै कथ्थ
रुड़ै रण ढाणि भवानीरथ्थ
सवाहा जाध ढुलै ससनाह
गुड़ै गज-थाट हुग्रौ गज-गाह

तणौ घरि त्रेठि पईठा तूंग
थिहू धड धोमर ऊडै वूंग
भ्रसक्कै कूंत वहै हुल धार
खरौ हुइ पूरौ ऊगटि - खार

ढलै ढींचाल तणौ रण ढाणि
पड़ै भ्रू रेणु धिखै पीठाण
मरुध्धर मडण ऊत्तर मोड़
रमै रण मीर अनै राठौड़

विढतै जैत वडै धर वेद
निकंदै मुग्गुल तेणि निकेद
खलक्कै श्रोणी पल्लर खाल
वधै घण लीण हुआौ वरसाल

जुड़तै जैत कमध्धज बाण
घडा खुरसाण उतारै घाण
उलालै आउध खफ्फर ईम
भुजे करि भीड़ै राकस भीम

जुड़े अहिवन्त पईठौ जेणि
तीण घड़ खाफर घाती तेणि
मिलै सिव सद्द मनोहर जख्खु
भवानी खाफर पूरै भख्खु

गड़माड़ नाट गिरह पड़ गम्म
खड़ावग अमू प्रेत विगम्म
मलै मड़ डाइणि भैरव पास
महक्कै भीषणि खावै मास

बिवाणी झंप छरम्मी काल
विहंगम रंभ मिली वेताल
हिली सुरसाण विभाड्यौ हाल
मनाड्यौ मोटौ राउत मास

पुहप्पति वोमहि वूम तुरंग
कियौ कमरौ त्रिणि भांति कुरंग
वडौ वत जीतौ भाउध वाहि
मरम्मर गम्म कियौ मन माहि

नरां सह मामौ पुम्मक नियाव
राठौड़ां रूपक भूहड़ राव
कुमांहि कमम्मम आये सूर
नितप्रति जैव वधै नूर

कवित्त

रहिय्यौ रावी वाहि पाइ सुरसाण तणी भड़
धरत पच्च पर धीर धीर धाव भाज्यौ भड़
रौसूयौ हंस विहंग पाखि पतिसाही पारंभ
सलसाहर सोहियौ मये वीप्यौ महमारंभ
मगमग तुंग करनंग रह रतो वडौ भव सोहियौ
जैतसी जुड़े वसि मम्मम्मू मुगलां दल मयमोहियौ
राउजैतसीरो रासौ संपूर्ण

अकबर प्रतिबोध रास

(जिनचन्द्र सूरि)

रचनाकाल सं० १६२८ वि०

परिचय—

जिनचन्द्र सूरि जिनवर, सरस्वती और सद्‌गुरु को प्रणाम कर रास की रचना करते हैं। वे कहते हैं कि विक्रमपुर, मडोवर, सिन्धु, जैसलमेर, सिरोही जालोर, सोरठ, चम्पानेर आदि स्थानों से अनेक सघ विमल गिरिन्द के दर्शन के लिए गुरु जिणचन्द के साथ चले। गुरु ने अहमदावाद में एक चौमासा किया और दूसरा चौमासा पाटण में व्यतीत किया। वहाँ से संघ खम्भपुरि मे आया। वहाँ से सघ विक्रमपुर (बीकानेर) पहुँचा। वहाँ के राजा रायसिंह थे और उनके प्रधान सचिव बुद्धि के निधान कर्मचन्द थे। वे जैन साधुओं का बड़ा सम्मान करते थे। राजा रायसिंह कर्ण के समान दानवीर थे। उनका तेज सूर्य के समान तप रहा था। वे खरतरगच्छ गुरु के सेवक थे। उनके लड़के अभयकुमार थे जो लाहौर में बादशाह के कर्मचारी बन गए थे। अब कवि अकबर के प्रताप का वर्णन करता है। अकबर का विश्वास पात्र कर्मचन्द उत्तम रीति का आचरण करने वाला था। अकबर ने राज्य-सेवक अभयकुमार को बहुत मान दिया। [मीरमलक खोजा खा ने राय राणा को बहुत मान दिया।] एक बार अकबर ने रायराणा से उनके गुरु का हाल पूछा। उन्होंने गुरु जिनदत्त सूरि के अनुगामी श्री जिनचन्द्रसूरि का गुणगान किया। अकबर यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने गुरुदेव को राजधानी में आमन्त्रित किया। अकबर ने मानसिंह को -गुजरात से गुरु जिनचन्द्रसूरि को बुलाने के लिए भेजा। इस प्रकार आमंत्रित होकर मुनिवर जयसोम, विद्यावर कनक सोम, गुणविनय,समयसुन्दर आदि ३१ मुनिवरो के साथ गुरु जी का सघ जयजयकार करता हुआ अकबर के सामने पहुँचा। 'अकबर ने वन्दना की और गुरु ने मधुर वाणी में इस प्रकार उपदेश-दिया— जो मनुष्य जीवों की हत्या करता है वह पातकी दुर्गति पाता है। इसी प्रकार क्रूर वचन बोलने वाला चोरी करने वाला, पर रमणी के साथ रस-रग करने वाला दुर्गति प्राप्त करता है। लोभ से दुख और सन्तोष से सुख प्राप्त होता

है। कुमार पाल आदि जिन राजाओं ने दया-धर्म का पालन किया उन्होंने सुख प्राप्त किया।' अकबर गुरु उपदेश सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने स्वर्ण, वस्त्र आदि गुरु के सम्मुख रखकर कहा 'हे स्वामी, आप इनमें से अपनी इच्छानुसार वस्तुयें ग्रहण कर लें।" गुरु ने कहा—'हम इन वस्तुओं को लेकर क्या करेंगे ? गुरु का यह निर्लोभ भाव देखकर अकबर बहुत प्रभावित हुआ और उसने गुरुदेव को 'युग प्रधान' की पदवी प्रदान की।

श्री जिनचन्द्रसूरि को जिस समय अकबर ने 'युग प्रधान' की उपाधि से विभूषित किया उस समय बीकानेर (विक्रमपुर) के मंत्रिवर कर्मचन्द्र ने एक महान् उत्सव में दूर दूर से सेवक जन हाथी, घोड़े, रथ पर सवार होकर एवं पैदल यात्रा करते हुए पधारे। ढोल और निशान बजने लगे। जनता माधुर्यमयी मधुर वाणी से श्री जिनचन्द्र सूरि का गुणगान करने लगी। मुक्ताफल भरे थाल याचकों को दान दिए गए।

श्री गुरु ने उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनकी अमृत समान वाणी सुनकर सम्पूर्ण क्लेश दूर हो गया। लाहौर नगर के मध्य में फाल्गुन सुदी द्वादशी को गुरु की सर्वत्र जयजयकार होने लगी। गुरु की (तेज पूर्ण) आकृति देख कर अकबर कहने लगा कि इनका जीवन जगत में धन्य है। इनके समान कोई नहीं। अकबर ने हुक्म किया कि युग-प्रधान जी मुझे जिन धर्म का उपदेश करें और मेरी दुर्मति का निवारण करें। युग प्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि ने उन्हें उपदेश दिया।

चैत्र पूर्णिमा को शाह अकबर ने जिनराज जिनचन्द्र सूरि की वन्दना की और याचकों को दान दिया, और (आशीर्वाद पाकर) सेना लेकर कश्मीर के ऊपर आक्रमण किया। इसके उपरान्त अकबर की सेना के सेनानायकों का वर्णन है।

तदुपरान्त युग-प्रधान को आचार्य पद मिला। उस समय वृहद् रूप से उत्सव समारोह हुआ। मंत्री कर्मचन्द्र ने संघ का सत्कार करके उसको सन्तोष प्रदान किया। याचकों को दान दिया।

यह रास अहमदाबाद में संवत् १६२८ वि में रचा गया। असावरी सामेरी धन्याश्री, सोरठी, देशाख गौडी धन्या श्री, आदि रागों में गाया जाने वाला यह रास कई ऐतिहासिक घटनाओं का परिचायक है।

अकबर प्रतिबोध रास

श्री जिनचन्द्र सूरि कृत

सवत् १६२८ वि०

दोहा:—राग आसावरी

जिनवर जग गुरु मन धरि, गोयम गुरु पणमेसु ।
सरस्वती सद्‌गुरु सानिधइ, श्री गुरु रास रचेसु ॥१॥

वात सुणी जिम जन मुखइ, ते तिम कहिम जगीस ।
अधिको ओछो जो हुवइ, कोप (य ?) करो मत रीस ॥२॥

महावीर पाटइ प्रगट, श्री सोहम गणधार ।
तास पाटि चउसट्ठिमइ, गच्छ खरतर जयकार ॥३॥

सवत सोल बारोत्तरइ, जैसलमेरु मंझार ।
श्री जिन माणिक सूरि ने, थापिउ पाट उदार ॥४॥

मानियो राउल माल दे, गुण गिरुओ गणधार ।
महीयलि जसु यश निरमलो, कोय न लोपइकार ॥५॥

तेजि तपइ जिम दिनमणि, श्री जिन चन्द्र सूरीश ।
सुरपति नरपति मानवी, सेव करइ निश दीश ॥६॥

युग-प्रधान जगि सुरतरू, सूरि सिरोमणि एह ।
श्री जिन शासनि सिरतिलौ, शील सुनिम्मल देह ॥७॥

पूरब पाटण पामियो, खरतर विरुद अभंग ।
सवत सोल सतोतरे, उजवालइ गुरू रंगि ॥८॥

साधु विहारे विहरता, आया गुरु गुजराति ।
करइ चउमासो पाटणे, उच्छव अधिक विख्यात ॥९॥

चालि राग सामेरी—

उच्छव अधिक विख्यात, महीयलि मोटा अवदात ।
पाठक वाचक परिवार, जूथाधिपति जयकार ॥१०॥

इणि अवसरि वावज मोटी मव आयाउ को नर खोटी ।
कुमति जे कीधउ मंघ, ते दुरगति केरउ पंथ ॥११॥

हठवाद भणा तिण कीधा, संघ पाटण नइ जस लीधा ।
कुमति नउ मोडिउ मान, जग मांहि वधारिउ वान ॥१२॥

पेखी हरि सारंग त्रासइ, गुरु नामइ कुमति नासइ ।
पूज्य पाल्या श्रय पद पायउ, मोतीडे नारि वधायउ ॥१३॥

गामागर पुरि विहरंता गुरु अहमदावाद पहुंता ।
तिहां संघ चतुर्विध वंदइ, गुरु दरसण करि चिर नंदइ ॥१४॥

उच्छव आडम्बर कीधउ, धन खरची लाहउ लीधउ ।
गुरु आंणी ल्हाम अनन्द, चउमासि करइ गुणवन्त ॥१५॥

चउमासि सुणइ परमादि, सुहगुरु पहुंता समाधि ।
चउमासि करइ गुरुराम श्री संघ तणइ हितकाम ॥१६॥

खरतर गच्छ गयण दिणंद, अभयादिम देव मुणिंद ।
प्रगाम्या जिण थंभण पास, तागइ मतिसइ उलवास ॥१७॥

श्री जिनचन्द सूरिन्द मेल्हइ प्रभु पास जिणंद ।
श्री जिन कुशल सुरीस, वंधा मन धरि जगीस ॥१८॥

हिव अहमदावाद सुरम्य, जोगीनाथ साह सुधम्म ।
शत्रुंजय मटेवारंगि, तेड्या गुरु वेगि सुचंगि ॥१६॥

मेली सहुसंघ साथि परघल खरचइ निजआथि ।
भाम्या मेटण गिरिराज सघपति सोमजी सिरताज ॥२०॥

राग मल्हार ढाल

पूर्व पच्छिम उत्तरइ, दक्षिण चहुं दिसि जाणि ।
संघ चालिउ शत्रु ज भणी प्रगटी महीमल्लि वाणि ॥२१॥

विक्रमपुर मण्डोवरउ, सिन्धु जेसलमेर ।
सीरोही जालोर मउ, सोरठि चांपानेर ॥२२॥

संघ अनेक तिहां आविया मेटण विमल गिरिन्द ।
कोडवणी संख्या नहीं, साथि गुरु जिनचन्द ॥२३॥

चोर चरड अरि भय हणो, वंदी आदि जिणंद ।
कुशले निज घर आविया, सानिध श्री जिनचद ॥२४॥

पूज्य चउमासो सूरतइ, पहुंता वर्षा कालि ।
सघ सकल हर्षित थयउ, फली मनोरथ मालि ॥२५॥

चली चौमासो गुरु कीयउ, अहमदावादि रसाल ।
अवर चैमासो पाटणे, कीधो मुनि भूपाल ॥२६॥

अनुक्रमि आव्या खम्भपुरि, भेटण पास जिणंद ।
सघ करइ आदर घणउ, करउ चउमासि मुणिद ॥२७॥

राग धन्याश्री० ढालउलालानी

हिव विक्रमपुर ठाम, राजा रायसिंह नाम ।
कर्मचन्द तसु परधान, साचउ बुद्धिनिधान ॥२८॥

ओस महा वश हीर, वच्छावत वड वीर ।
दानइ करण समान, तेजि तपय जिम भांण ॥२९॥

सुन्दर सकल सोभागी, खरतर गच्छ गुरु रागी ।
वड भागी बलवन्त, लघु बंधव जसवन्त ॥३०॥

श्रेणिक अभय कुमार, तासु तणइ अवतार ।
मुहतो मतिवन्त कहियइ, तसु गुण पार न लहियइ ॥३१॥

पिसुण तणइ पग फेर, मुकी वीकम नयर ।
लाहोरि जईय उच्छाहि, सेव्यो श्री पातिशाह ॥३२॥

मोटउ भूपति अकबर, कउण करइ तसु सरभर ।
चिहु खण्ड वरतिय आण, सेवइ नरराय रांण ॥३३॥

अरि गंजण भंजन सिंह, महीयलि जसु जस सीह ।
धरम करम गुण जाण, साचउ ए सुरताण ॥३४॥

बुद्धि महोदधि जाणी, श्रीजी निज मनि आणी ।
कर्मचन्द तेड़ीय पासि, राखइ मन उलासि ॥३५॥

मान महुत तसु दीधउ, मन्त्रि सिरोमणि कीधउ ।
कर्मचन्द शाहि सु प्रीत, चालइ उत्तम रीति ॥३६॥

मीर मलक खोजा खांन, दीवाइ राय राणा मांन ।
मिळीया सकल दीवांणि, साहिब बोलइ मुख वाणि ॥३७॥
मुंहता काहि मुझ मर्म, देव कवण गुरू धर्म ।
मंत्रउ मुझ मन भ्रन्ति, निज मनि करिय एकन्ति ॥३८॥

राग सोरठी दोहा

वस्तुतउ मुहतउ विनवइ, सुणि साहिब मुझ वात ।
देव दया पर जीव ने, ते अरिहंत विख्यात ॥३९॥
क्रोध मान माया तजी, नहीं जसु लोभ लगार ।
उपशम रस में झीलता ते मुझ गुरु अणगार ॥४०॥
शत्रु मित्र दोय सारिखा दान शीयल तप भाव ।
जीव सवन विद्या कीजिय, धर्मइ आणि स्वभाव ॥४१॥
मइ आयया इइ वहुल गुरु, कुण्य तेरइ गुरु पीर ।
मन्त्रि भणइ साहिब सुणउ, इम खरतर गुरु धीर ॥४२॥
जिनदत्त सूरि प्रगट हइ, श्री जिन कुशल मुणिन्द ।
तसु अनुक्रमि हइ सुगण भर श्रीजिनचन्द सुरिंद ॥४३॥
रूपइ मयण हरावित, निरुपम सुन्दर देह ।
सकल विद्यानिधि आगरु, गुण गण रयण सुगेह ॥४४॥
संभलि अकबर हरखियउ कहाँ हइ ते गुरु आज ।
रायनगर लई सांभवइ सांभलि तुं महाराज ॥४५॥

राग धन्या श्री

वात सुणी ए पातिशाह, हरखियउ हीयइ अपार ।
हुकम कियो महुता भणी सेबि गुरु लाय म वार ॥४६॥
मत वार लावइ सुगुरु तेडण मेलि मेरा आदमी ।
अरदास इक साहिब आगइ, करइ मुहतउ सिर नमी ॥४७॥
धप धूप गावि पाव चलिय मगहण हुइ पइसे नहीं ।
गुजराति गुरु हइ हीलि गिरवा, आवि न सकइ अपसही ॥४८॥
चलनउ कहइ मुहता भणी तहउ उसका सीस ।
दुर जण गुरु भइ सुखीया, हित करी बिखा बीस ॥४९॥

हितकरि मूक्या वेगि दुइजण, मानसिंह इहां भेजीय ।
जिम शाहि अकबर तासु दरसणि, देखि नियमन रजीय ॥५०॥

महिमराज वाचक सातठाणे, मुकीया लाहोर भणी ।
मुनि वेग पहुंता शाहि पासइ, देखि हरखिउ नरमणी ॥५१॥

साहि पूछइ वाचक प्रतइं, कव आवइ गुरु सोय ।
जिण दीठइ मन रंजीय, जास नमइ वहुलोय ॥
वहु लोय प्रणमइ जासु पयतलि, जगत्रगुरु हइ ओ वड़ा ।
तव शाहि अकवर सुगरु तेड़ण, वेगि मुंकइ मेवड़ा ॥
चउमासि नयडी अवही आवइ, चालवउ नवि गुरु तणउ ।
तव कहिइ अकवर सुणो मत्री, लाभ द्यउंगउ तसु घणउ ॥५२॥

पतशाहि जण अविया, सुह गुरु तेड़ण काजि ।
रजस कुछ ते नवि करइ, गह गहीयउ गच्छराज ॥
गच्छराज दरसणि वेगि देखि, हेजि हियड़उ हींस ए ।
अति हर्ष आणी साहि जणते, वार वार सलीस ए ॥
सुरताण श्रीजी मंत्रवीजी, लेख तुम्ह पठाविया ।
सिर नामी ते जण कहइ गुरु कुं, शाहि मंत्री वोलाविया ॥५३॥

सुह गुरु कागल वाचिया, निज मन करइ विचार ।
हिव मुझ जावउ तिहा सही, सघ मिलिउ तिण वार ॥
तिणवार मिलियउ संघ सघलो, वइस मन आलोच ए ।
चउमास आवी देश अलगउ, सुगुरु कहउ किम पहुंच ए ॥
समझावि श्रीसघ खंभपुर थी, सुगुरु निज मन दृढ सही ।
मुनिवेग चाल्या शुद्ध नवमी, लाभ वर कारण लही ॥५४॥

राग सामेरी दूहा.—

सुन्दर शकुन हुआ वहु, केता कहु तस नाम ।
मन मनोरथ जिण फलइ, सीझइ वंछित काम ॥५५॥

वदी वउलावी वलइ, हरखइ सघ रसाल ।
भाग्यवली जिणचद गुरु, जाणइ वाल गोपाल ॥५६॥

तेरसि पूज्य पधारिया, अमदावाद मझार ।
पइसारउ करि जस लीयउ, संघ मल्यो सुविचार ॥५७॥

मीर मलक खोजा खान, दीवइ धाय राणा मांन ।
मिलीया सकल दीवाणि, साहिब वोलइ मुझ बाणि ॥३७॥
मुंहता काढि मुझ मर्म, देव कवण गुरु धर्म ।
मंत्रव मुझ मन भ्रन्ति, निज मनि करिय एकन्ति ॥३८॥

राग सोरठी दोहा

बलवउ मुंहतउ विनवइ, सुणि साहब मुझ वात ।
देव दया पर जीव ने, ते अरिहंत विख्यात ॥३९॥
क्रोध मान माया तजी, नहीं अमु लोभ लगार ।
उपशम रस मैं भीलता, ते मुझ गुरु अणगार ॥४०॥
शत्रु मित्र दोय सारिखा ज्ञान शीयल तप भाव ।
जीव जतन जिहां कीजिय, धर्मइ ताणि स्वभाव ॥४१॥
मई आपणा इइ बहुत गुरु, कुण उरइ गुरु पीर ।
मन्त्रि भणइ साहिब सुणउ, हम खरतर गुरु धीर ॥४२॥
जिनदत्त सूरि प्रगट हइ, श्री जिन कुशल मुणिन्द ।
तसु अनुक्रमि हइ सुगण नर श्रीजिनचन्द सुरिंद ॥४३॥
रूपइ मयण हरावित, निरुपम सुन्दर देह ।
सकल विद्यानिधि भार ह, गुण गण रयण सुगेह ॥४४॥
संभलि अकबर हरखियउ कहा हइ ते गुरु आज ।
राजनगर छइ सांप्रइ सांभलि हुं महाराज ॥४५॥

राग धन्या श्री

वात सुणी ए पातिशाह हरखियउ हीयइ अपार ।
हुकम कियो महुता भणी, वेगि गुरु लाय म बार ॥४६॥
मत बार लावइ सुगुरु तेडण भेजि मेरा आदमी ।
अरदास इक साहिब आगइ, करइ मुंहतउ सिर नमी ॥४७॥
अब धूप गाढि पाव चलिय, मवहणा कुछ चइसे नहीं ।
गुजराति गुरु हइ बीति गिठ्या, आवि न सकइ अबसही ॥४८॥
पलवउ कहइ मुहता भणी तकउ उसका सीस ।
हुइ सण गुरु मइ मुकीया, हित करी विधा वीस ॥४९॥

हरि कर रथ रे पायक बहुला विस्तरइ,
कोणी(क) जिम रे गुरु वंदन सघ संचरइ ॥
संचरइ वर नीसांण नेजा, मधुर मादल वज्ज ए ।
पंच शब्द झलरि सख सुस्वर जाणि अबर गज्ज ए ॥
भर भरइ भेरी वलि नफेरी, सुहृव सिर घटकिज ए ।
सुर असुर नर वर नारि किन्नर, देखि दरसण रंज ए ॥६८॥
वर सूहव रे पूठि थकी गुण गावती,
भरि थाली रे मुक्ताफल वधावती ।
जय २ स्वर रे कवियण जण मुख उचरइ,
वर नयरी रे मांहे इम गुरु संचरइ ॥
सचरइ श्रावक साधु साथइ, आदि जिन अभिनंदिया ।
सोवनगिरि श्रीसघ आवउ, उच्छव कर गुरु वंदिया ॥
राय श्रीसुलताण आवी, वदि गुरु पय वीनवइ ।
मुझ कृपा कीजइ वोल दीजइ, करउ पजुसण हिवइ । ६९॥
गुरु जाणि रे आग्रह राजा संघ नउ,
पजुसण रे करइ पूज्य सघ शुभ मनउ ।
अट्ठाही रे पाली जीव दया खरी,
जिनमदिर रे पूजइ श्रावक हितकरी ॥
हितकरिय कहइ गुरु सुणउ नरपति, जीव-हिसा टालीयइ ।
किण पर्व पूनिम दिद्ध मइ तुझ, अभय अविचल पालीयइ ॥
गुरु संघ श्रीजावालपुर नइं वेगि पहुता पारणइ ।
अति उच्छव कियउ साह वन्नइ सुजस लीधो तिणि खिणइ ॥७०॥
मंत्री कर्मचन्द रे करि अरदास सुसाहिनइ ।
फुरमाणा रे मूक्या दुइ जण पूज्य ने ॥
चउमासउ रे पूरउ करिय पधारजो ।
पण किण इक रे पछइ वार म लगाडजो ॥
म लगाडिजो तिहा वार काइ, जहति जाणी अति घणी ।
पारणइ पूज्य विहार कीधउ, जायवा लाहुर भणी ॥
श्रीसघ चउविह सुगुरु साथइ, पातिशाही जण वली ।
गांधर्व भोजक भाट चारण मिला गुणियन मन रली ।.७१॥

हिव चउमासो आवियउ किम हुइ साधु विहार ।
गुरु आलोचइ संघ सुं नावइ चाव विचार ॥५८॥

तिण अवसरि फुरमाणि वलि, आव्या दोय अपार ।
घणुं २ सुखवइ सिख्यो, मत आवउ विहां वार ॥५९॥

वर्षा कारण मत गिणउ लोक तणउ अपवाद ।
निश्चय वहिला आवज्यो, जिम थाइ असवाद ॥६०॥

गुरु कारण सांखी करी, होस्यइ लाभ असंख ।
संघ कहइ हिव आपयउ, कोय करउ मत कंख ॥६१॥

ढाल:गोडी (निंबीयानी) (आंकडी)

परम सोभागी सहगुरु वंदियइ श्रीजिनचंद सूरिन्दो जी ।
मान दीयइ जस अकबर भूपति, चरण नमइ नरवृन्दो जी ॥६२॥

संघ वंदावी गुरुजी पांगुरचा आया म्हेसाणे गामो जी ।
सिधपुर पहुंता खरतर गच्छ धणी, साह चनो तिण ठामो जी ॥

गुरु आडंबर पइसारो कियउ खरचिउ गरथ अपारो जी ।
संघ पाटण मउ वेगि पधारियउ गुरुवंदन अधिकारो जी ॥६३॥

पुण्य पाल्हण पुरि पहुंता शुभ दिनइ, संघ सकल उच्छाहो जी ।
संघ पाटण नउ गुरु वांदी वलिउ लाहिण करिस्यइ लाहो जी ॥६४॥

महुर अथाउ आविउ सिधपुरि, हरखिउ संघ सुखायो जी ।
पाल्हणपुर श्रीपूज्य पधारिया आवियउ राव सुरतायो जी ॥६५॥

सघ तेडी ने रावजी इम भणइ, आपुं हुं असवारो जी ।
तेडि आवउ वेगि मुनिवरु, मत लावउ तुम्ह वारो जी ॥६६॥

श्रीसंघ राय वयण पाल्हणपुरि मइ, तेडी आवइ रंगो जी ।
गामागर पुर सुहगुरु विहरता कहता धर्म सुचंगो जी ॥६७॥

राग वेराड़ी ढाल (इक्वीस ढालियानी)

सीरोही रे आवासउ गुरु नो सही,
नर-नारी रे आवइ सारहा वमही ।

हरि कर रथ रे पायक वहुला विस्तरइ,
कोणी(क) जिम रे गुरु वदन संघ संचरइ ॥

सचरइ वर नीसांण नेजा, मधुर मादल वज्ज ए ।
पंच शब्द झलरि सख सुस्वर जाणि अम्बर गज्ज ए ॥
भर भरइ भेरी वलि नफेरी, सुहव सिर घटकिज्ज ए ।
सुर असुर नर वर नारि किन्नर, देखि दरसण रज ए ॥६८॥

वर सूहव रे पूठि थकी गुण गावती,
भरि थाली रे मुक्ताफल वधावती ।
जय २ स्वर रे कवियण जण मुख उचरइ,
वर नयरी रे मांहे इम गुरु संचरइ ॥

सचरइ श्रावक साधु साथइ, आदि जिन अभिनंदिया ।
सोवनगिरि श्रीसघ आवउ, उच्छव कर गुरु वंदिया ॥
राय श्रीसुलताण आवी, वदि गुरु पय वीनवइ ।
मुझ कृपा कीजइ वोल दीजइ, करउ पजुसण हिवइ । ६९॥

गुरु जाणि रे आग्रह राजा संघ नउ,
पजुसण रे करइ पूज्य सघ शुभ मनउ ।
अट्ठाही रे पाली जीव दया खरी,
जिनमदिर रे पूजइ श्रावक हितकरी ॥

हितकरिय कहइ गुरु सुणउ नरपति, जीव-हिसा टालीयइ ।
किण पर्व पूनिम दिद्ध मइ तुझ, अभय अविचल पालीयइ ॥
गुरु संघ श्रीजावालपुर नइ वेगि पहुता पारणइ ।
अति उच्छव कियउ साह वन्नइ सुजस लीधो तिणि खिणइ ॥७०॥

मत्री कर्मचन्द रे करि अरदास सुसाहिनइ ।
फुरमाणा रे मूक्या दुइ जण पूज्य ने ॥

चउमासउ रे पूरउ करिय पधारजो ।
पण किण इक रे पछइ वार म लगाडजो ॥
म लगाडिजो तिहा वार काइ, जहति जाणी अति घणी ।
पारणइ पूज्य विहार कीधउ, जायवा लाहुर भणी ॥
श्रीसघ चउविह सुगुरु साथइ, पातिशाही जण वली ।
गाधर्व भोजक भाट चारण मिला गुणियन मन रली ॥७१॥

हिय देखरे गाम सरायाउ आवियइ,
भमरायी रे आडपरगि बधावियइ ॥

संघ आवी रे विक्रमपुर नो उमही ।
गुरु वधारे महाजन मयलइ गहगही ॥
गहि गहीय आविय संघ कीधी नयर हुणाडइ गयो ।
श्रीसंघ जेसलमेरु नो तिहां वंदी गुरु हरखित थयो ॥
रोहीठ नयरइ सबल वहु करि, पूज्य श्री पधराविया ।
साह थिरइ मेरइ मुखस आघा, दान वहु दवराविया ॥७२॥

संघ मोटल रे, जोधपुरउ तिहां आवीयउ,
करि आविया रे शासनि शोभ चढावियो ।

प्रभु चोथी रे, नांदी करी थिहुं उचर्यो ।
तिथि बारस रे, मुंकी टाकुर बस चर्यो ॥
बस चर्यो संघइ नयर पाली आडंबर गुरु संचियउ ।
पूज्य बांदिमा तिहां नांदि मांडी दानि दालिद्र खंडियउ ॥
सोवियां मामाई लाम आपी सूरि सोभित निरखिया ।
जिनराज मंदिर देखी सुन्दर, वंदि श्रावक हरखिया ॥७३॥

पीसाइ रे, आनन्द पूज्य पधारीए ।
पइसारउ रे, प्रगट कीयउ कहारीए ॥
सइसारणि रे, आवे बाजा बाजिया ।
गुरु बंदी रे, दान वलइ संघ गाजिया ॥
गाजियउ जिनचंद्रसूरि गच्छपति, वीर शासनि ए वडो ।
कलिकाल गोतम स्वामि समवड, महीय को ए जेवडउ ॥
विहरता मुनिवर वेगि आपइ नयर मोटइ मेडतइ ।
परसरइ आया नयर केरे, छइइ संघ मुंहता प्रतइ ॥७४॥

॥ राग गौड़ी धन्या श्री ॥

कमचन्द कुल सागरे, उदया सुत दीप चन्द ।
भागचन्द मत्रीसर बांधव लिखमीचन्द ॥
इय गय रह पायक मेली बहु जन वृन्द ।
करि सबल दिवाजउ वंदइ श्री जिनचन्द ॥७५॥

पंच शब्दउ झल्लरि, वाजइ ढोल नीसाण ।
भवियण जण गावइ, गुरु गुण मधुरि वाण ।।
तिहा मिलीयो महाजन, दीजइ फोफल दान ।
सुन्दरी सुकलीणी, सूहव करइ गुण गान ।।७६।।

गज डम्बर सबलइ, पूज्य पधार्या जाम ।
मन्त्री लाहिण कीधी, खरची बहुला दाम ।।
याचक जन पोष्या, जग मे राख्यो नाम ।
धन धन ते मानव, करइ जउ उत्तम काम ।।७७।।

व्रत नन्दि महोत्सव, लाभ अधिक तिण ठांण ।
ततखिण पातशाहि, आव्या ले फुरमाण ।।
चाल्या संघ साथइ, पहुता फलवधि ठाणि ।
श्री पास जिणेसर, वद्या त्रिभुवन भाणि ।।७८।।

हिव नगर नागोरउ रइ आया श्री गच्छराज ।
वाजित्र बहु हय गय मेली श्री सघ साज ।।
आवि पद वदी करइ हम उत्तम आज ।
जउ पूज्य पधार्या तउ सरिया सब काज ।।७६।।

मन्त्रीसर वादइ मेहइ मन नइ रङ्ग ।
पइसारो सारउ कीधो अति उच्छरङ्ग ।।
गुरु दरसण देखि वधियो हर्ष कलोल ।
महीयलि जस व्यापिउ आपिउ वर तबोल ।।८०।

गुरु आगम ततखिण प्रगटियो पुन्य पडूर ।
सघ बीकानेरउ आविउ सघ सनूर ।।
त्रिणसइ सिजवाला प्रवहण सइ वलि च्यार ।
धन खरचइ भवियण, भावइ वर नर नारि । ८१।।

अनुक्रम पडिहारइ, राजुलदेसर गामि ।
रस रंग रीणीपुर, पहुता खरतर स्वामि ।।
सघ उच्छव मंडइ आडबर अभिराम ।
सघ आवियो वदण, महिम तणउ तिण ठाम ।।८२।।

लरची धन भरची श्री जिनराय विहार ।
गुरु वाणि सुणि चित्त हरखित संघ अपार ॥
सघ मंत्री सलीमत, पहुंवत महिम मंम्भार ।
पाटणसरसइ वलि कसूर हुयउ जयकार ॥८३॥

लाहुर महाजन वंदन गुरु सुखगीस ।
सनमुख ते आविउ चाली कोस चालीस ।
आया हापाणइ श्रीजिनचन्द सूरीश ।
नर नारी पयवसि सेव करइ निसदीस ॥८४॥

राग गौड़ी दूहा —

वगि वधाउ आवियस, कीयउ मंत्रीसर जांण ।
कम २ पूज्य पधारिया, हापाणइ महिठाण ॥८५॥

दीधी रसना हेम नी कर कंकण के कांण ।
वानिइ वाजित्र लंकियउ सामु दीयउ बहुमान ॥८६॥

पूज्य पधार्या वांदा करि, मेली सब संघात ।
पहुंता श्री गुरु वांदिवा, सफल करइ निज आथ ॥८७॥

वेढी बेरइ आंण करि, कहइ साह नइ मन्त्रीस ।
जे तुम्ह सुगुरु बोलाविया ते आव्या सूरीस ॥८८॥

अकबर वचनो इम भणइ लेवउ ते गणधार ।
दरसण वसु कउ चाहिये जिम हुइ हरप अपार ॥८९॥

राग गौड़ा बाउहानीः—

पंडव मोटा साथ मुनिवर जयसोम,
कनकसोम विद्या वरू ए ।
महिमराज रत्ननिधान वाचक
गुणविनय समयसुन्दर शोभा धरू ए ॥९० ॥
इम मुनिवर हर्षदास गुरु जी परिवर्या
ज्ञान क्रिया गुण शोभता ए ।
संघ चतुर्विध साथ याचक गुणी जण
जय जय वाणी बोलता ए ॥९१॥

पहुता गुरु दीवांण देखी अकबर,
आवइ साम्हा उमही ए ।
वंदी गुरु ना पाय मांहि पधारिया,
सइहथि गुरु नौ कर ग्रही ए ॥९२॥

पहुंता दउढी मांहि, सुहगुरु साह जी
धरमवात रगे करइ ए ।
चिंते श्रीजी देखी ए गुरु सेवता,
पाप ताप दूरइ हरइ ए ॥९३॥

गच्छपति द्ये उपदेश, अकबर आगलि
मधुर स्वर वाणी करी ए ।
जे नर मारइ जीव ते दुख दुरगति,
पामइ पातक आचरी ए ॥९४॥

बोलइ कूड बहुत ते नर मध्यम,
इण परभवि दुख लहइ ए ।
चोरी करम चण्डाल चिहुं गति रोलवइ,
परम पुरुष ते इम कहइ ए ॥९५॥

पर रमणि रस रगि सेवइ जे नर,
दुरगति दुख पावइ वही ए।
लोभ लगी दुखहोय जाणउ भूपति,
सुख सतोप हवइ सही ए ॥९६॥

पंचइ आश्रव ए तजे नर सवरइ,
भवसायर हेला तरइ ए ।
पामद् सुख अनन्त नर वइ सुरपद,
कुमारपाल तणी परइ ए ॥९७।

इम साभलि गुरु वाणि रजिउ नरपति,
श्री गुरु ने आदर करइ ए ।
धण कचन वर कोडि कापड बहु परि,
गुरु आगइ अकबर धरइ ए ॥९८॥

जिण गुरु बहु सुन्दर सामि जो पुण्य पाईये,
सुगुरु कहइ हम क्या करां ए ।
देखि गुरु निरलोभ रंजित अकबर,
बोलइ ए गुरु अणुसरां ए ॥९९॥

श्रीपुज्य श्रीजी होय आव्या बाहिरि,
सुगण दिवांणी ढालीयो ए ।
धरम धुरंधर धीर गिरुओ गुणनिधि,
जैन धर्म को राखीयो ए ॥१००॥

॥ राग धन्याश्री ॥

सफल भयउ मन सपना कायम हम दिन आज ।
गुरु देखी साहि हरखियो, जिम देखी घन गाज ॥१॥
धर्मी मुई वाणी करि आया अब हम पासि ।
पहुंचो तुम निज थानकै, संघमनि पूरी आस ॥२॥
वाजित्र हयगय अम्बर तथा, सुंदरता से परिवार ।
पूज्य उपासरइ पहुंचवउ करि आडम्बर सार ॥३॥
वसतउ गुरुजी हम भयउ, सांभलि तूं महाराय ।
हम दीवान क्या करां साचउ पुन्य सबाय ॥४॥
आमइ अति अकबर करी महोछव सवि परिवार ।
पधारउ श्रावक उपासरइ, आवइ गुरु सुविचार ॥५॥

॥ राग आसावरी ॥

हय गय पायक बहुपरि आगइ, बाजइ गुहिर निसाण ।
भयल भेराव धइ सूहव रंगइ मिलीया नर राय राणा ॥६॥मा०॥
साथ धरीने मधिपण मेटउ, श्रीजिनचन्द्रसूरिन्द ।
मन सुधि मानिय साहि अकबर प्रणमइ खास नरिन्द रे ॥म०॥७॥
श्री संघ वन्दिइ सुगुरु माधर मंत्रीश्वर कर्मचन्द ।
महसारो शाह परवत कीधउ आणिमन आणंद रे ॥८॥मा०॥
उच्छव अधिक उपाश्रय आव्या, श्री गुरु धइ उपदेश ।
अमीय समाणि वांणि सुधोता, भाजइ सयल किलेस रे ॥९॥मा०॥

भरि मुगताफल थाल मनोहर, सूहव सुगुरु वधावइ।
याचक हर्षइ गुरु गुण गाता, दान मान तव पावइ रे ॥१०॥भा०॥

फागुण सुदि बारस दिन पहुंता, लाहुर नयर मझारि।
मनवंछित सहुकेरा फलीया, वरत्या जय जयकार रे ॥११॥भा०॥

दिन प्रति श्रीजी सुं वलि मिलता, वाधिउ अधिक सनेह।
गुरु नी सूरति देखि अकवर, कहइ जग धन धन एह रे ॥१२॥भा०॥

कइ क्रोधी के लोभी कूडे, के मनि धरइ गुमान।
पट् दरशन मइ नयण निहाले, नहीं कोइ एह समान रे ॥१३॥भा०॥
हुकम कीयउ गुरु कुं शाहि अकवर, दउढी महुल पधारउ।
श्री जिनधर्म सुणावी मुझ कु, दुरमति दूरइ वारउ रे ॥१४॥भा०॥

धरम वात (र) गइ नित करता, रजिउ श्री पातिशाहि।
लाभ अधिक हु तुम कु आपीस, सुणि मनि हुयउ उच्छाहि रे ॥१५॥

राग:—धन्याश्री। ढाल: सुणि सुणि जवू नी

अन्य दिवस वलि निज उलट भरइ,
महुरसउ ऐकज गुरु आगे धरइ।

इम धरइ श्री गुरु आगलि तिहाँ अकवर भूपति।
गुरुराज जपइ सुणउ नरवर नवि ग्रहइ ए धन जति॥
ए वाणि सम्भलि शाहि हरष्यो, धन्य धन ए मुनिवरू।
निरलोभ निरमम मोह वरजित रूपि रंजित नरवरू ॥१६॥

तव ते आपिउ धन मुहताभणी,
धरम सुथानिक खरचउ ए गणी।

ए गणीय खरचउ पुन्य संचउ कीयउ हुकम मुहता भणी।
धरम ठामि दीधउ सुजस लीधउ वधी महिमा जग घणी॥
इम चैत्री पूनम दिवस सातिक, साहि हुकम मुहतइ कीयउ।
जिनराज जिनचदसूरि वंदी, दान याचक नइ दीयउ ॥१७॥

सज करी सेना देस साधन भणी,
कास्मीर ऊपर चढ़ीयउ नर मणी।

गुरु मयणीय आमह करीय तेड़या, मानसिंह मुनि परवर्या ।
संघया साथइ राम रंगा, सम्भरा से गुणमयों ॥
वलि मीर मिलक बहुखान खोज साथि कर्मचन्द मंत्रवी ।
सम सेन वाटइ वहइ सुपवइ, न्याय पवजइ सूत्रवी ॥१८॥

श्री गुरु चोखि श्रीजी नितु सुणइ,
धर्म मूर्ति ए धन मन सुइ भणइ ।

शुभ दिनइ रिपु वल दलि भंजी नयर श्रीपुरि ऊतरी ।
सम्मारि तिहाँ दिन आठ पाली देश साधी जयकरी ॥
आवियउ भूपति नयर लाहुर, गुहिर वाजा वाजिया ।
गच्छराज जिनचंदसूरि वेगी गुल वूरइ माजीया ॥१६॥

जिनचन्दसूरि गुरु श्रीजी सुं आवि मिली
एकान्तइ गुण गोठि करइ रली ।

गुण गोठि करतां चित्त धरतां सुणिवि जिनदत्तसूरि चरी ।
हरखियउ अकबर सुगुरु उपरि प्रथम सइ मुख हितकरी ॥
युगप्रधान पदवी दियइगुरु कुं, विविध बाजा बाजिया ।
बहु दान मानइ गुणइ गानइ संघ सवि मन गाजिया ॥२०॥

गच्छपति मति बहु भूपति वीनवइ ।
सुणि अरदास हमारी तुं दिवइ ।

अरदास प्रभु अवधारि मेरी मंत्रि श्रीजी कहइ वली ।
महिमराज ने प्रभु पाटि थापउ एह मुझ मन छइ रली ॥
गुणनिधि रत्ननिधान गणिनई सुपद पाठक आपीयइ ।
शुभ लगन वेला दिवस सइ थिरि इनकुं थापियइ ॥२१॥

नरपति वांणी श्रीगुरु सांभली
कहइ मंइ मानी वातज ए भली ।

ए वात मांनी सुगुरु वांणी लगन शोभन वासरई ।
मोडियउ उच्छव मंत्रि कर्मचन्द मेलि महाजन बहुरई ॥
पातिशाहि सइमुख नाम थापिउ सिंह सम मन भाविया ।
जिनसिंह सूरि सुगुरु थाप्या, सूहवि रंग वधाविया ॥२२॥

आचारज पद श्री गुरु थापिउ
संघ चतुर्विध छाजइ थापियइ ।

व्यापीउ निरमल सुजस महीयलि, सयल श्रीसंघ सुखकरू ।
चिरकाल जिनचंदसूरि जिनसिंह, तपउ जिहा जगि दिनकरू ॥
जयसोम रत्ननिधान पाठ (क), दोय वाचक थापिया ।
गुणविनय सुन्दर, समयसुन्दर, सुगुरु तसु पद आपीया ॥२३॥

धप मप धो धों मादल वाजिया,
तव तसु नादइ अम्बर गाजिया ।
वाजिया ताल कसाल तिवली, भेरि वीणा भूंगली ।
अति हर्ष माचइ पात्र नाचइ, भगति भामिनी सवि मिली ॥
मोतीया थाल भरेवि उलटि, वार वार वधावती ।
इक रास भास उलासि देती, मधुर स्वर गुण गावती ॥२४॥

कर्मचन्द परगट पद ठवणो कीयो,
संघ भगति करि सयण संतोषीयउ ।
सतोपिया जाचक दान देइ, किद्ध कोडि पसाउ ए ।
सग्राम मंत्री तणउ नन्दन, करइ निज मनि भाउ ए ॥
नव ग्राम गइवर दिद्ध अनुक्रमि, रंग धरि मन्त्री वली ।
मागता अश्व प्रधान आप्या, पांचसइ ते सवि मिली ॥२५॥

इण परि लाहुरि उच्छव अति घणा,
कीधा श्री सघ रगि वधावणा ।
इम चोपडा शाख श्रृङ्गार गुणनिधि, साह चांपा कुल तिलउ ।
धन मात चांपल देइ कहीय, जासु नन्दन गुण निलउ ॥
विधि वेद रस शशि मास फागुन, शुक्ल वीज सोहामणी ।
थापी श्री जिनसिंह सूरि, गुरूयउ सघ वधामणी ॥२६॥

राग—धन्याश्री

ढाल—(जीरावल मराडण सामी लहिस जी)

अविहडि लाहुरि नयर वधामणाजी, वाज्या गुहिर निसाण ।
पुरि पुरि जी (२) मत्री बधाऊ मोकल्या जी ॥२७॥

हर्ष धरी श्रीजी श्रीगुरु भणी जी, वगसइ दिवस सुसात ।
वरतइ जी (२) आण हमारी, जा लगइ जी ॥२८॥

मास असाढ़ अठाइ पालवी जी, आदर अभिक अमारी।
सपसइ जी (२) सिखि पुन्समाण सु पाटमी जी ॥१९॥

वरस दिवस, लगि जलघर मूकियाजी, खंभनगर अहिठाणि।
गुरु नइ जी (२) भीजी लाम दीयत बसइ जी ॥२०॥

यइ आसीस दुनी महि मंडलइजी, प्रतिपइ कोडि बरीस।
ए गुरुजी (२) जिण जगिजीव छुड़ाविया जी ॥२१॥

राग—धन्याश्री

ढाल—(कनक कमल पगला ठवइ ए)

प्रगट प्रतापी परगडो ए, सूरि बडो जिणचन्द।
कुमति तमि दूरे टल्या ए, सुन्दर सोहग कन्द ॥२२॥

सदा सुहगुरु नमो ए, यइ अकबर जसु मांन। सदा०। आंकणी।
जिनदत्तसूरि जग जागतउ ए गछने सानिधकार। स०।
श्रीजिनकुशल सूरीसरू ए, वंछित फल दातार ॥स०॥२३॥

रीहड़ वंशइ चंदलउ ए, श्रीवन्त शाह मल्हार। स०।
सिरीयादे उरि हंसलउ ए माणिकसूरि पटधार ॥स०॥२४॥

गुरु ने लाभ हुआ घणां ए, होस्यइ अवर अनन्त। स०।
परम महाविधि विस्तरइ ए, जिहां विहरइ गुणवंत ॥स०॥२५॥

अकबर समवडि राजीयउ ए, अवर न कोई जांण। स०।
गच्छपति मांहि गुणनिलउ ए सूरि वडउ सुरतांण ॥स०॥२६॥

कविजण कहइ गुण केतला ए जसु गुण तेह न पार। स०।
चिरंजीवउ गुरु नरवरू ए, जिन शासन आधार ॥स०॥२७॥

जिहां लगी महीयलि सुर गिरी ए, गयण तपइ शशि सूर। स०।
जिनचन्द सूरि तिहां लगइ प्रतपउ पुण्य पडूर ॥स०॥२८॥

वसु युग रस शशि वच्छरइ ए जेठ वदि तेरस जांणि। स०।
शांति जिनेसर सानिधइ ए, रास चढ्यो परमाणि ॥स०॥२९॥

आग्रह अति श्री संघ नइ ए, अहमदाबाद मंझारि । स० ।
रास रच्यो रलियामणउ ए, भवियण जण सुखकार ।।स०।।४०।।

पढ़इ गु(सु)णइ गुरु गुण रसी ए, पूजइ तास जगीस । स० ।
कर जोड़ी कवियण कहइ, विमल रग मुनि सीस ।।स०।।४१।।

इति श्री युगप्रधान जिनचन्द्र सूरीश्वर रास समाप्तामिति । लिखितं लब्धिकल्लोल मुनिभिः श्री स्तम्भ तीर्थे, पं० लक्ष्मीप्रमोद मुनि वाच्यमानं चिरं नंद्यात् यावच्चन्द्र दिवाकरौ । श्रीरस्तु ।

युगप्रधान निर्वाण रास

कवि समयप्रमोद कृत

(संवत् १६७२ वि)

परिचय—

इस रास में युगप्रधान मुनि जिनचन्द्रसूरि के देशोपकारक गुणों के वर्णन के अन्त में उनके निर्वाण का विवरण मिलता है। कवि गुणनिधान गुरु के चरणों को नमस्कार करके युगप्रधान के निर्वाण की महिमा का वर्णन करता है।

युगप्रधान का पद जिस समय गुरु को अर्पित किया गया उस समय मंत्री कर्मचन्द ने सवा करोड़ रुपया दान में व्यय किया। राजा और राणा की मंडली श्री जिनचन्द्रसूरि का पुण्य शब्द उच्चारण करती। महामुनीश्वरों के मुकुटमणि, दर्शनीय व्यक्तियों में श्रेष्ठ चौरासी गच्छों में शिरोमणि और सुल्तान के समान (जैन धर्मावलम्बियों पर) शासन करते थे। अकबर के समान शाह सलीम (जहाँगीर) भी आपका सम्मान करते।

एकबार बादशाह सलीम ने जैन साधुओं पर कोप किया, क्योंकि कुछ दरबारियों ने बादशाह से जैन साधुओं की निन्दा की थी। वह किसी जैन साधु के सिर पर पगड़ी बाँध देता किसी को जंगल में भेज देता किसी को मशक देकर भिश्ती बना देता। बादशाह के आदेशों से जैन साधुओं में खलबली मच गई। सबने जिनचन्द्रसूरि से इस भय निवारण के लिए युक्ति निकालने का निवेदन किया। कितने हिन्दू नष्ट कर दिए गए, कितने पहाड़ों पर निर्मित दुर्गों में जाकर छिप गए।

आचार्य जिनचन्द्रसूरि गुजरात से चलकर उग्रसेन पुर (आगरे) पहुँचे। राजदरबार में उनका दर्शन करते ही बादशाह का क्रोध जाता रहा। बादशाह ने पूछा कि आप इतनी दूर से क्यों पधारे?

आचार्य ने कहा कि बादशाह को आशीर्वाद देने आया हूँ। बादशाह के पूछने पर आचार्य ने कहा कि बादशाह का आदेश हो जाए तो जैन मुनि

बन्धन से मुक्त हो जाएँ। बादशाह की आज्ञा से जैन मुनियों को अभयदान मिला और आचार्य का सर्वत्र यश-गान होने लगा।

वहाँ से मुनिवर मेड़ते आए। वहाँ उन्होंने चौमासा किया। मंदोवर देश में बीलाड़ा (बेनातट) नामक नगर सुख सम्पदा से परिपूर्ण था। उस नगर में खरतर सघ का प्रधान स्थान था। यहाँ की जनता के अनुरोध से आचार्य ने चौमासा किया। उस चोमासे मे श्री सघ में अत्यन्त उत्साह रहा। पूज्य आचार्य नित्य उपदेश (देशना) किया करते। संवत् १६७० के आसौज (आश्विन) मास में गुरुवर ने सुरसम्पदा का वरण किया। उन्होंने चिर-समाधि लगाई। कवि कहता है कि जो लोग समाधि द्वारा ससार की लीला समाप्त करते हैं उनकी सेवा देवगण करते हैं।

निर्वाण प्राप्त होने पर उनके शरीर को पवित्र गगाजल से प्रक्षालित किया गया। सघ ने उनके शरीर पर चोवा-चन्दन और अरगजा का लेप किया, अबीर लगाई गई। नाना प्रकार के वाद्य वजने लगे। (मानो) देवता और मुनि उन्हे देखने आए।

उस अनुपम पुरुष के निर्वाण प्राप्त होने से सर्वत्र हाहाकार मच गया। ऐसा प्रतीत होता था मानो दीपक बुझ गया। सबके मुख से 'पूज्य गुरुदेव' की ध्वनि सुनाई पड़ती। सघ-साधु इस प्रकार विलाप करने लगे – 'हे खरतर-गच्छ के चन्द्र, हे जिण शासन-स्वामी, हे सुन्दर सुख सागर, हे गौरव के भडार, हे मर्यादा-महोदधि, हे शरणागत पालक, हे राजा के समान भाग्यशाली।'

इस प्रकार विलाप करने वाले दर्शकों के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। मृत शरीर को बाणगगानदी के किनारे लाया गया। चिता प्रज्वलित की गई। उसमें घृत और चन्दन डालकर शरीर का दाह-सस्कार किया गया।

युगप्रधान निर्वाण रास

कवि समय प्रमोद कृत

(सं० १६७०)

दोहा राग (आसावरी)

गुणनिधान गुरु[1] पाय नमि, वाग वाणि अनुसार (आधारि) ।
युगप्रधान निर्वाण नी, महिमा कहिसुं विचार ॥ १ ॥

युगप्रधान जंगम यति गिरुआ गुणे गम्भीर ।
श्री जिनचन्द्र सुरिन्दवर, धुरि धोरी ध्रम धीर ॥ २ ॥

संवत् पनर पंचाणूअइ, रीहड़ कुलि अवतार ।
श्रीवन्त सिरिया दे घरेउ[2] सुत सुरताण कुमार ॥ ३ ॥

संवत सोल चडोत्तरइ, श्री जिनमाणिक सूरि ।
सइ हथि संयम आदर्यउ, मोटइ महुत पडूरि ॥ ४ ॥

महिपति जेसलमेर नइ, थाप्या राज्य माल ।
संवत सोल बारोत्तरइ, राजु थपाइ सिर साज ॥ ५ ॥

ढाल (१) राग धन्यासिरि

(करजोड़ी आगल रही पहली ढाल)

आज बधावो संघ मइं दिन दिन चढते[3] वानइ रे ।
पूज्य प्रताप वाधइ[4] घणौ दुरजन कीधा कानइ रे ॥ ६ ॥ आ०

सुविहित पथ उजवालियउ, पूज्य परिहरइ परिग्रह माया रे ।
इम विहारइ विहरतां पूज्य गुजर देसइ आया रे ॥ ७ ॥

खिपिमठीयां सुं तिहां चचउ, भवि मूठी पायी चाल्री रे ।
पूज्य खरतर पक्ष कुमतिया परगट गास्यउ नासी रे ॥ ८ ॥ आ० ॥

---

१ गौतम २ देवीमइ ३ चापइ ४ वधइ

पूज्य तणी महिमा सुणी, मन्मान्या अकबर शाहइ रे।
युगप्रधान पद आपियउ, सहु लाहउर उच्छाहइ रे॥ ६ ॥ आ० ॥

कोडि सवा धन खरचियउ, मंत्रि क्रमचन्द जी भूपालइ रे।
आचारिज पद तिहां थयउ, सवत सोल अडतालइ[1] रे ॥१०॥आ०॥

संवत सोलसइ बावनइ; पुज्य पंच नदी (सिंधु) साधी रे।
जित कासी जय पामियउ, करि गोतम ज्यु सिधि वाधी रे ॥११॥आ०॥

राजा राणा मडली, एतउ आइ नमें निज भावइ रे।
श्रीजिनचदसूरिसरु, पुज्य सुशब्द नित २ पावइ रे ॥१२॥आ०॥

संइ[2] हथि करि जे दीखिया, पूज्य शीश तणा परिवारो रे।
ते आगम नइ अर्थे भर्या, मोटी[3] पदवीधर सुविचारो रे ॥१३॥आ०॥

जोगी, सोम, शिवा समा, पूज्य कीधा सघवी साचा रे।
ए अवदात सुगुरु तणा, जाणि माणिक हीरा जाचा रे ॥१४॥आ०॥

॥ दोहा सोरठी ॥

महा मुणीश्वर मुकुट मणि, दरसणिया दीवाण।
च्यारि असी गच्छि सेहरो, शासण नउ सुरताण ॥१५॥

अतिशय आगर आदि लगि, भूट कहु[4] तउ नेम।
जिम अकबर सनमानिउ, तिम वलि शाहि सलेम ॥१६॥

ढाल (जतनी)

पातिसाहि सलेम सटोप, कियउ दरसणिया सु कोप।
ए कामणगारा कामी, दरबार थी दूरि हरामी ॥१७॥

एकन्न कुं पाग वधावउ, एकन्न कुं नाश्रास[5] अणावउ।
एकन कूं देशवटौ जङ्गल दीजै, एकन कू पखाली कीजइ ॥१८॥

---

१ इस रासकी २ प्रतियें नाहटा जी के पास हैं जिनमें ऐसा ही लिखा है। मुद्रित "गणधर सार्ध शतक" में भी इसी प्रकार है। किन्तु पट्टावलि आदि में सर्वत्र स० १६४६ ही लिखा है।

२ आप तणाइ ३ वलि ४ कथु ५।

ए शाहि हुकम सांभलिया बहु कोप (कउप) मकी बजमलिया ।
सजमान मिली सघवना, दरहास करइ गुरु चवना ॥१९॥

के नासि हींदू[1] पूंठि पडीयां, केइ मइवासइ जइ चडीया ।
केइ भंगस माहे पइठा, केइ दौडि गुफा मांहिं (आइ) पइठा ॥२०॥

जे ना सत पचने मल्ल्या, ते पाधि भाखसी घाल्या ।
पाखी नै जन्तन पाल्या, जमरीगा जमरउं छाल्या ॥२१॥

इम सांभलि शासन हीला, जिणचंद सुरीश सुशीला ।
गुजराति धरा थी पधारइ, जिन शासन मान वधारइ ॥२२॥

अति आसति वसि गुरु आखी, असुरां भय दूरइ नाखी ।
उग्रसेनपुरइ पउधारइ, पुन्य शाहि तणइ दरबारइ ॥२३॥

पुन्य देखि दीदारइं मिलिया, पातिशाह तणा कोप गलीया ।
गुजराति धरा क्युं आए, पातिशाहि गुरु फरमाए ॥२४॥

पातिशाहि कुं देख आशीशा, इम आप शाहि जगीशा ।
काहे पाया दुक्ख शरीर, आओ अरज करउ गुरु पीर ॥२५॥

एक शाहि हुकम अब पावां, दरियावां बंधि[2] छुडावां ।
पतिशाहि समरात करीवाइं दरशावियां पूर्ट (दूलउ) दीआइं ॥२६॥

पतिशाहि हुंदउ जे रूठा पूज्यभाग मसाइ अति तूठा ।
आउ बिचरउ देश हमारे तुम्ह फिरतां कोइ न वारइ ॥२७॥

धन धन खरतरगच्छ राया दर्शनियां दुख[3] छुडाया ।
पूज्य सुजरा करि जगि छाया फिरि सहरि मेडतइ[4] आया ॥२८॥

दूहा (धन्यासिरि)

श्रावक श्राविका[5] बहु परइ, भगति करइ सविशेष ।
भाव धरै गुरुराज भी गौतम समवड़ देखि ॥२९॥

धरमाधारित धर्म गुरु, धरम तणउ आधार ।
दिन चउमासउ जिहां करइ ते निगुणी सुविचार ॥३०॥

---

१ हिंदु २ बंध ३ दंड, ४ मेड़तानगर, ५ श्राविका,

ढाल (राग—धवल धन्यासिरी, चिन्तामणिपासपूजियें)

देश मंडोवर दीपतउ, तिहा वीलाडा नामौ रे।
नगर वसै विवहारिया, सुख सपद अभिरामौ रे ॥३१॥ दे० ॥

धोरी धवल जिसा[1] तिहा, खरतर सघ प्रधानो रे।
कुल दीपक कटारिया, जिहां घरि वहु धन धानो रे ॥३२॥दे०॥

पंच मिली आलोचिया, इहा पूज्य करे चौमासो रे।
जन्म जीवित सफलउ हुवइ, सयणा पूजइ आसो रे ॥३३॥दे०॥

इम मिली सघ तिहा थकी, आवइ तुज्य दिदारइ रे।
महिमा वधारइ मेडतै, पूज्य वन्दी जन्म समारइ रे ॥३४॥दे०॥

युगवर गुरु पउधारीयइ, संघ करइ अरदासो रे।
नयर विलाड़इ रग सु, पूज्यजी करउ चौमासो रे ॥३५॥दे०॥

इम सुणि पूज्य पधारिया, विलाड़इ रंगरोल रे।
सघमहोत्सव माडियउ, दीजै तुरत तंबोल रे ॥३६॥दे० ॥

दोहा (राग गौडी)

पूज्य चउमासौ आवियउ[2], श्री संघ हर्ष उत्साह।
विविध करइ परभावना, ल्ये लक्ष्मी नौ[3] लाह ॥३७॥

पूज्य दियइ नित्य देशना, श्रीसघ सुणइ वखाण।
पाखी पोसहिता जिमइ, धन जीवित सुप्रमाण ॥३८॥

विधि सु तप सिद्धान्त ना, साधु वहइ उपधान।
पूज्य पजूसण पडिकमै, जगम युगहप्रधान ॥३९॥

सवत सोलेसित्तरइ, आसू मास उदार।
सुर सपद सुह गुरु वरी, ते कहिसु अधिकार ॥४०॥

(ढाल भावना री चदलियानी)

नाणैं (नइ) निहालइ हो पूज्य जी आउखउ रे, तेड़ी सघ प्रधान।
जुगवर आपै हो रूड़ी सीखड़ी रे, सुणिज्यो 'पुण्य-प्रधान" ॥४१॥ना०॥

---

१ जिहाँ रहै। २ गइउ, ३ रो

गुरुकुल वासे हो वसिज्यो चेलड़ा रे, मत लोपज्यो गुरु कार ।
सार धनइ वलि संयम पालिज्यो रे, सूधौ साधु आचार ॥४२॥ना०॥

संघ सहु नै धमलाभ कागलइ रे, लिखिज्यौ वेरा विशेष ।
गच्छ धुरा जिनसिंहसूरिनिर्वाहिस्यै रे, करिज्यो तसु आदेश ॥४३॥ना०॥

साधु भणी इम सीख दे पूजजी रे, अरिहन्त सिद्ध सुसाखि ।
संमुख अणसण पूज्य श्री उच्चरइ रे, आसू पहिले पाखि ॥४४॥ना०॥

जीव चउरासि लाख (रासि) खामिनै रे, कञ्चन तृण सम चित्त ।
ममता नै वलि माया मोसउ परिहरी रे, इमनिज पाप निकंद ॥४५॥ना०॥

धयर कुमार जिम अणसण ऊजलउ रे, पाली पहुर विचार ।
सुख मे समाधे ध्यानै परम लइ रे, पहुंचइ सरग मझार ॥४६॥ना०॥

इन्द्र तणी तिहां अपछर ओलगइ रे, सेव करइ सुर वृन्द ।
साधु तणउ धर्म सूधौ पालियो रे, तिणा फलिया ते आणंद ॥४७॥ना०॥

दोहा (राग गौडी)

गंगोदक पावन अछइ, पूज्य पसाओ अंग ।
ओवाचन्दन अरगजा संघ लगावइ रंग ॥४८॥

वाजा वाजइ बन मिलइ, पार विहूणा पात्र ।
सुर नर आवै देखवा पूज्य तणउ शुभ गात्र ॥४९॥

वेरा वणावी साधु नव भूपि सयल शरीर ।
वैसाडी पालखियइ, उपरि वहुत अबीर ॥५०॥

ढाल राग-गउडी (श्रेणिक मनि अचरिज भयउ एहनी)

हाहाकार जगत हुयउ मोटो पुरुष असमानो रे ।
लइ अलवी विमासियउ दीवइ सिर्स मूलमाणउ रे ॥५१॥

पुण्य पुण्य मुखि उच्चरइ नयणि नीर नवि मायइ रे ।
सद्गुरु स्री स्री (?सा)लइ सोभरइ हियइ तिल तिल थायइ रे ॥५२॥पु०॥

संघ साधु इम विलविलइ हा ! खरतर गच्छि चंदउ रे ।
हा ! जिणशासण सामियां हा ! परताप दिणंदउ रे ॥५३॥पु०॥

हा ! सुन्दर सुख सागरु, हा ! मोटिम भंडारउ रे ।
हा ! रीहड कुल सेहरउ, हा ! गिरुवा गणधारउ रे ॥५४॥पु०॥

हा ! मरजाद महोदधि, हा ! शरणागत पाल रे ।
हा ! धरणीधर धीरमा, हा ! नरपति सम भाल रे ॥५५॥पु०॥

बहु वन सोहइ भूमिका, वाणगंगा नइ तीर रे ।
आरोगी किसणागरइ, वाजाइ सुरभि समीर रे ॥५६॥पु०॥

बावना चंदन ठवी, सुरहा तेल नी धार रे ।
घृत विश्वानरतर पिनइ, कीधउ तनु सस्कार रे ॥५७॥पु०॥

वेश्वानर केहनउ सगउ, पणि अतिसय सयोग ।
नवि दाझी पुज्य मुहपत्ति, देखइ सघला लोग रे ॥५८॥पु०॥

पुरुष रत्न विरहइ करी, साधि मरवउ न थावइ रे ।
शान्तिनाथ समरण करी, सघ सहु घर आवइ रे ॥५९॥पु०॥

राग धन्यासिरी

(सुविचारी हो प्राणी निज मन थिर करि जोय)

ढालः—

सुविंचारी हो पूज्यजी, तुम्ह विनु घडी रे छः मास ।
दरसण दिखाड़उ आपणउ हो, सेवक पूजइ आस ॥६०॥ सुवि०

एकरसउ पउधारियइ हो, दीजइ दरशण रसाल ।
संघ उमाहु अति घणउ हो, वदन चरण त्रिकाल ॥६१॥ सुवि०

वाल्हेसर रलियामणा हो, जे जगि साचा मीत ।
तिण थी पागरउ पूज्यजी रे, मो मनि ए परतीत ॥६२॥ सुवि०

इणि भवि भवे भवान्तरइ हो, तु साहिब सिरताज ।
मातु पिता तु देवता हो, तु गिरुआ गच्छराज ॥६३॥ सुवि०

पूज्य चरण नित चरचतां हो, वन्दत वछित जोइ ।
अलिअ विघन अलगा टरइ हो, पगि २ सपत होइ ॥६४॥ सुवि०

शातिनाथ सुपसाउलइ हो, जिनदत्त कुशल सूरिन्द ।
तिम जुगवर गुरु सानिधइ हो, सघ सयल आणंद ॥६५॥ सुवि०

मीठा गुण मीपूष्प ना हो, सेहमी साकर द्राख ।
रंभक फूल इहां व (न?) ही हो, पन्ना सुरिख साख ॥६६॥ सुवि०
तासु पाटि महिमागरु हो, सोहग सुरतरु कन्द ।
सूर्य खेम पवती कत्था हो, श्री जिनसिंह सुरींद ॥६७॥ सुवि०
हो युगवर, नामइ जय जय कार ।
वंश वधावइ चोपड़ा हो, दिन दिन अधिकउ वान ।
पाटोधर पुहवी तिलउ हो, चिर नन्दउ श्रीमान् ॥६८॥ सुवि०
युगवर गुरु गुण गांवतां हो, नव नव रंग विनोद ।
पहुतुं[1] आस्या फलइ हा जंपइ "समयप्रमोद" ॥६९॥ सुवि०

॥ इति युगप्रधान जिनचन्द सूरि निर्वाणगीतं ॥

---

१ दूसरी हस्तलिखित प्रति में त्रुटित है।

जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक रास

कवि सारमूर्त्ति कृत

(रचनाकाल अज्ञात)

(सम्भवतः १७ वीं शताब्दी का प्रारम्भ)

परिचय—

श्री जिनकुशलसूरि पृथ्वी-मडल मे विचरण करते हुए देरावर नामक स्थान पर पहुँचे। [जिस समय "जिनकुशल सूरि" नाम की प्रतिष्ठा की गई उस समय अनेक देशों के सघ विराजमान थे। उस समय २४०० साध्वी एवं ७०० साधुओं को आमन्त्रित किया गया]

देरावर पहुँच जाने पर व्रत-ग्रहण, माला-ग्रहण, पद-स्थापन आदि धर्मकृत्य होने लगे। सूरि जी ने अपने जीवन के अन्तिम क्षण को सन्निकट आते देख तरुणप्रभ आचार्य को अपने पद (स्थापन) की शिक्षा दी और सघ का कार्य सम्पन्न कर परलोक को प्रस्थान किया। सिन्धु देश के राणु नगर के श्रावक पुनचन्द के पुत्र हरिपाल इसी समय देरावर पहुँचे और उन्होंने तरुणप्रभाचार्यसे युग-प्रधान के महोत्सव के लिए आज्ञा माँगी। कोने-कोने में स्थित सघों को कुकुम पत्रों द्वारा आमन्त्रित किया गया।

जिनकुशल सूरि के स्वर्गवास के उपरान्त जिनपद्म सूरि को युग-प्रधान के पद पर आसीन करने के लिए बडे समारोह के साथ महोत्सव किया गया। "प्रसिद्ध खीमड कुल के लक्ष्मीधर के पुत्र आम्बाशाह की पत्नी की कुक्षि-सरोवर से उत्पन्न राजहस के सदृश पद्मसूरि जी को सवत् १३८६ ज्येष्ठ शुक्ला षष्ठी सोमवार को ध्वजा, पताका, तोरण वदनमालादि से अलकृत आदीश्वर जिनालय में नान्दी स्थापन विधिसह श्री सरस्वती कठाभरण तरुण प्रभाचार्य ने जिनकुशल सूरि के पद पर स्थापित कर जिनपद्म सूरि नाम प्रसिद्ध किया।"

उस महोत्सव में चतुर्दिक् जयजयकार की ध्वनि सुनाई पड़ी। स्त्रियाँ आनन्दोल्लास से नृत्य करने लगीं। शाह हरिपाल ने गुरु-भक्ति के साथ युग-प्रधान-पद का महोत्सव बडे धूम धाम से आयोजित किया। पाटण सघ ने इस उपलक्ष्य में आप को (बालधवल) कुर्चाल सरस्वती विरुद प्रदान किया।

———

जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक रास

कवि सारमूर्ति मुनि कृत

सुरवर रिसह जिणिंद पाय, अनुसर सुयदेवी ।
सुगुरु राय जिणचन्दसूरि गुरु चरण नमेवी ॥
अमिय सरिसु जिणपदम सूरि, पय ठवणह रासु ।
सवणंजलि दुम्हि पिअउ भविय, लहु सिद्धिहि वासु ॥ १ ॥

वीर जिण्य भर चरण धीर, सोहम्म गणिंदु ।
जंबूस्वामी तह पभव-सूरि, जिण नयणाणंदु ॥
सिज्जंभव जसभद्दु, भव समूय विचार ।
भद्दबाहु सिरि थूलभद्द, गुणमणि रयणायरू ॥ २ ॥

इणि अनुक्रमि वदयउ वद्धमाणु, पुणु जिणेसर सूरी ।
तासु सीस जिणचन्द सूरि, अभिय गुण भूरी ॥
तासु पयासिउ अभय सूरि, थंभणपुरि मंडणु ।
जिणवल्लह सूरि पावपेर, दुखावल खंडणु ॥ ३ ॥

तउ जिणदत्त अइमुनामि, उवसम्म पणासइ ।
ज्वयंतु जिणचन्द सूरि, सावय आसासय ॥
बाइ गय कंठीर सरिसु जिणपति अइसरू ।
सूरि जिणेसर जुग पहाणु गुरु सिद्धासरु ॥ ४ ॥

जिणपबोह पडिबोह करणि भमिया गणधारू ।
निरूवम जिणचन्द सूरि संघ मण वंछिय कारू ॥
उदयउ तसु पट्टि नयल भवा संपतु मयंकु ।
सूरि मउड चूडामणेसु जिण कुशल मुणिंदु ॥ ५ ॥

महि मण्डल विहरन्तु सुपरि, आयउ देराउरि ।
तत्थ विहिय पय गहरण माल पय ठवण विविह परि ।
निय आऊ पज्जतु सुगुर जिणकुसलु मुणेइ ।
निय पय सिरउ समम्म सुपरि आयरिह देइ ॥ ६ ॥

॥ घत्ता ॥

जेम दिनमणि जेम दिनमणि, धरणि पयडेय ।
तव तेय दिप्पंत तेम सूरि मउडु, जिण कुशल गणहरू ।
दढ छंद लखण सहिउ, पाव रोर मिछत्त तम हरू ।
चन्द गच्छ उज्जोय करु, महि मंडलि मुणि राउ ।
अणुदिणु सो नर नमउ तुम्हि, जो तिहुपति वखाउ ॥ ७ ॥

सिंधु देसि राणु नयरे, कंचण रयण निहाणु ।
तहि रीहडु सावय हुउं, पुनचन्दु चन्द समाणु ॥ ८ ॥

तसु नंदणु उछव धवलो, विहि सयह सजुत्तु ।
साहु राय हरिपाल वरो, देराउरि संपत्तु ॥ ९ ॥

सिरि तरुणप्पहु आयरिउ, नाण चरण आधारु ।
सु पहुचन्दि पुण विन्नवए, कर जोड़वि हरिपालु ॥ १० ॥

पय ठवणुछव जुगवरह, काराविसु वहु रंगि ।
ताम सुगुरु आइसु दियए, निसुणवि हरिसिउ अगि ॥११॥

कुकुवत्रिय पाट ठवण, दस दिसिसघ हरेसु ।
सयल सघु मिलि आवियउ, वछरि करइ पवेसु ॥१२॥

पुहवि पयडु खीमड कुलहि, लखमीधरु सुविचारु ।
तसु नन्दण आवउ पवरो, दीण दुहिय साधारु ॥१३॥

तासु घरणि कीकी उयरे, गायहुसु अवयरिउ ।
त पदमसूरि कुल कमलु रवे, वहु गुण विद्या भरिउ ॥१४॥

विक्कम निव सवछरिण, तेरह सइ नऊ एहिं ।
जिट्ठि मासि सिय छट्ठि तहिं, सुहदिणि ससिवारेहिं ॥१५॥

आदि जिणेसर वर भुवणि, ठविय नन्दि सुविसाल ।
धय पडाग तोरण कलिय, चउदिसि वदुरवाल ॥१६॥

सिरि तरुणप्पह सूरि वरो, सरसइ कंठाभरणु ।
सुगुरु वयणि पट्टहि ठविउ, पदमसूरि ति मुणिरयणु ॥१७॥

जुगपहाणु जिणपदम सूरे, नामु ठविउ सुपवित्त ।
आणदिय सुर नर रमणि, जय जयकार करति ॥१८॥

॥ घत्ता ॥

मिलिउ दसदिसि मिलिउ दस दिसि, संघ अपारू।
वेराउरि वर नयरि पुर सरि गज्जंति अंबरु
नच्चंतिय वर रमणि ठामि ठामि पिक्खणय सुंदर
पय ठवणु छवि जुगवरह विहसिउ मम्माण लोउ।
जय जय सद्दहु समुच्छलिउ विहुयणि हुयउ पमोउ ॥१६॥

धन्नु सुवासरु आजु, धन्नु एसु मुहुत्त वरो।
अभिनव पुनम चन्दु, महिमंडलि उदयउ सुगुरु ॥२०॥

तिहुयणि जय जय कारू, पूरिउ महियलु तूर रवे।
पणु परिसइ वसुधार, नर नारिय अइ यणिहि परे ॥२१॥

संघ महिम गुरु पूय, गुरुयार्यविहि कारवय।
साहम्मिय पणु रंगि सम्माणाइ नव नविय परे ॥२२॥

वर वत्थामरणेय पूरिय मग्गय दीण जण।
पवणइ भुवणु असेण, उपरि साह हरिपाल जिह्म ॥२३॥

नाचइ अमकीय बाल, पंच सबद बाजहि सुपरे।
घरि घरि मंगलचार, घरि घरि गूडिय उत्तबिय ॥२४॥

चइयउ कलि अकलंकु, पाट बिसाऊ जिणकुसल सूरे।
जिण सासणि मार्यंड जयवन्तउ जिणपदम सूरे ॥२५॥

जिम तारायणि चन्दु, सहस नयणु धरिमु सुराइ।
चिंतामणि रयणाह तिम सुहगुरु गुरुयइ गुणइ ॥२६॥

नवरस देसण वाणि सवणंजलि जे नर पियहि।
मणुय जम्मु संसारि, सहलउ किउ इत्यु कलि तिहि ॥२७॥

जाम गयण ससि सूर, धरणि जाम थिरु मेरु गिरि।
तिहि संघह संजुत्तु, ताम जयउ जिणपदम सूरे ॥२८॥

इहु पय ठवणाह रासु भाव भगति जे नर दियहि।
ताह होइ सिव बास "सारमुत्ति" मुणि इम भणइ ॥२९॥

॥ इति श्रीजिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक रास ॥

विजय तिलक सूरि रास

पंडित दर्शन, विजय कृत

[रचनाकाल-प्रथम अधिकार संवत् १६७९ वि०]

परिचय—

यह रास ऐतिहासिकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी माना जाता है। यद्यपि वाह्य रूप से इसमें केवल एक जैन आचार्य की जीवनी ही झलकती है किन्तु विचारपूर्वक अध्ययन करने से इसमें सत्रहवीं शताब्दी के जैन समाज की स्थिति का सम्यकरूप से विवेचन पाया जाता है। इस ग्रथ में राजाओं के जीवन-मरण की तिथियाँ अथवा उनके युद्धों का लेखा-जोखा नहीं है। इसमें तो शासन पर प्रभाव डालने वाले विद्वान् महापुरुषों का जीवनचरित्र, शास्त्र विषयक गहन चर्चा, और धार्मिक विषयों पर गम्भीर चिन्तन पाया जाता है।

रास नायक

यद्यपि ग्रन्थ के नामकरण से इसके नायक विजयतिलकसूरि प्रतीत होते हैं तथापि वास्तव में इस ग्रंथ का मूल विषय है विजय पक्ष और सागर-पक्ष। विजय तिलक सूरि का जीवनचरित्र तो इसमें गौण वन जाता है। विजय पक्ष के नायक तो हैं गच्छाधिराज श्री विजयदान सूरि और सागर-पक्ष के नायक हैं उपाध्याय धर्मसागर। उसके उपरान्त एक पक्ष के गच्छ-नायक जगद्गुरु श्री हीर विजय सूरि हैं और दूसरे पक्ष के उपाध्याय धर्म-सागर।

रास सार

यह रास दो अधिकारों में विभक्त है। दोनों अधिकारों का रचना काल पृथक् पृथक् मिलता है। प्रथम अधिकार सं० १६७९ मार्गशीर्ष वदी ८ रविवार को पूर्ण हुआ था और द्वितीय अधिकार स० १६९७ पौप सुदी रविवार को। इस रास में बादशाह जहाँगीर के साथ आचार्य के मिलन का वर्णन पाया जाता है। एक स्थान पर जहाँगीर श्री भानुचन्द जी से कहता है—

हमारे पुत्र शहरयार को आप हमेशा धर्म की तालीम दीजिए, जैसे

पहले हमारे पिता आपके पास सुनते थे। भानुचन्द्र जी! आप पर हमारा स्नेह बहुत है। आप, मेरे लायक अगर कोई काम हो तो कहिए।

इस बात से ज्ञात होता है कि उस समय जैन मुनियों में आचार्य पद के लिए परस्पर विवाद होता था और निर्णय के लिए बादशाह के पास अभियोग पहुँचता।

यह एक विस्तृत काव्य है जिसके प्रथम अधिकार में १५१७ छंद हैं और द्वितीय अधिकार में २२२। इस संकलन में प्रथम अधिकार के प्रारम्भ के कतिपय छंद उद्धृत किए जाते हैं।

विजय तिलक सूरि रास

पं० दर्शन विजय

(सं० १६८६ वि०)

ढाल, राग गोडी

श्री विजयतिलक सूरि पूरण गुण गभीर,
तस रास रचंतां वाधई हइयडइ हीर। ४३

पांच कारण मिलीयां नाम तणा अभिराम,
तेणाई करी देसिउँ रासतणु ते नाम। ४४

पहेलु ए कारण विजयदान सूरीशि,
निज पाटिं थाप्या हीर विजय सूरीश। ४५

तेणी वार कहिउँ एक वचन सूणो सावधान,
जेनहइ पद आपो तेहनइं देई बहुमान ४६

ए विजयनी शाषा जयकारी जगि जाणी,
पद देयो तेहनु विजय नाम मनि आणी। ४७

बीजुं ए कारण हीर विजय सूरी धोरी,
अकबर प्रतिबोधि जयवरीओ गुण ओरी। ४८

कारण वली त्रीजु गच्छपति श्री विजय सेन,
त्रिणिसइं भट जीपी जय वरीओ स्ववशेन। ४९

कारण ए चोथु विजयनइ नित जयकारी,
श्री विजयतिलक सूरि हूओ तपागच्छ धारी। ५०

हवई तिसुणो कारण पाचमु कहु विस्तार,
सागरिं जव लोपी गच्छ पर पर सार। ५१

तव गच्छपति पहेलो सागर मतनोवासी,
उथापी तेहनइ कीधो अतिहिं उदासी। ५२

गुरु पाट परपर दीपावी जय पाम्यो,
तेणइं अधिकारिं रास नयो ए काम्यो । ५३
तेह मार्टि देसिउं पहनुं अविहिं उदार,
नाम अनोपम सुणयो सदा विजय जयकार । ५४

॥ दूहा ॥

श्री विजयतिलक सूरी तणो रास विजय जयकार,
एक मनां सहु सांभलो नवनव रस दातार । ५५
विजयदान सूरि हीरगुरु श्रेसिंगमी गुरुराज,
तास गुणावली गायसिउं सापीसिउं सविकाज । ५६
विजयतिलक सूरी तणां मात पिता सस ठाम,
दीप्या सूरीपद थकी कीधां जेजे काम । ५७
विजयनो जय जेथी थयो विजयनइ सुखदातार,
विजयतिलक सूरी तणो रास विजय जयकार । ५८

॥ ढाल ॥

राग देशाप: चोपई ।

लाप एक जोअण वाटलुं थालतणी परि सोहइ भलुं
असंख्य दीपोदधि बींटीओ सघला मध्यि सो थापीओ । ५९
मांमिं जंबूदीव उदार तेह मध्य मेरु पर्वत सार,
लाप जोअण तेहनो विस्तार ऊँचपणाई थकी धुराकार । ६०
कांचनवन चोपई अतिघणुं थानक असम महोच्छवतणुं,
अनंत अनंती चउवीसीइं जिनना ते देवी हींसीइं । ६१
तेथी दष्यण दिसि अणुंसरी भरत षेत्र तेहनुं सुणोचरी,
पांचसई जोअण अधिक छवीस छकला उपरि अधिक अगीस । ६२
वचि वैताढ्य बिहुं पासे थक्यो भरत भाग बहें थकिसे थक्यो
उपरि नमि विनमि षेचरा दष्यिण उत्तरश्रेणि पतिवरा । ६३
तेथी दष्यिणि पासइं थकी त्रिगिणिक भूमिकी तिहाँ सांभली,
गग सिंधु मध्य बिहुं पासि ते मांहि मध्य षंड निवासी । ६४

मध्य पडमांहि आरजि देश माढा पंचवीस अति सुविसेस,
तेहमा सोरठ देस सुचग ते मांहि गुजर देस सुरग । ६५

तिहां कणि वसुधा भूपण भलुं घणु वपाण करीय केतलुं,
सुरपुर सरपी सोह धरत वीसलनयर अति सोहंत । ६६

धणकण कचण जण वहु भरिउं गढमढ मदिर अति अलंकरिउं,
वन वाडी सरोवर अभिराम हाट श्रेणि चोरासी नाम । ६७

अति उंचा श्री जिन प्रासाद मेरु सिपरसिउं मांडइ वाद,
मनोहर मोटी वहु पोसाल श्रावक धरम करइ सुदयाल । ६८

वहु श्रीवत तणइ घर वारि अंगणि कुमर अमर अणुंसारि,
विविह परिक्रीडा ते करइ वोलिं माय तायनां मन हरइ । ६९

सपत भूमि सोहई आवासि देपत अमर हूआ उदास,
अह्म विमान सोभा अही धरी जाणे तिहांथी आणी हरी । ७०

कनक कलसमय तोरणचग वचि वचि मोती रचना रग,
गोषि गोपिं वहु कोरणी जोता जन मोह्या ते भणी । ७१

वयटी सारी सोल सिंगार गोषि गोषिचन्द्रवदनी नारि,
अधोमुख थई जोवइ तेह भूतलि लोक चिंतइ मनि अेह । ७२

शतचंद्र दीसइ नभतल निकलंक सोहइ अतिनिरमलं,
जन जाता जोता आकासि नारी वयटी देपि आवासि । ७३

थानकि थानकि मिलिआ थोक निरषइ नाट नाटिक वहुलोक,
के नाचइ के गाइ गीत केइ कथा कही रींझवई चीत । ७४

कहिं कणि पंच शब्द निघोष कही सरणाई सुणत होइ तोष,
कहीं मादल भुगल कसाल कही कणि सोहिवि गीत रसाल । ७५

के वयठा करई धरम विचार दानदीइ वहु के दातार,
के निसुणइ गायननां गीत के मन वात करई मिली मीत । ७६

माहोमांहिं के हास्य टकोल केई करइ नित वहु रग-रोल,
के खेलावइ चपल तुरंग मल्ल मिलिआ छेटइ अग । ७७

के रथ जोतरी वाहइ वादि के मीढा झूझई उनमादि,
के उद्यानि केलवइ कला के त्राणी वाणु नासइ वेगला । ७८

के शरमइ आयुष छत्रीस के सरोवरि पेखइ निसदीस,
प्रेम अनेक परि करइ विनोद धरतइ तेणइ नयरि प्रमोद। ७९

साहि अकबर केरइ तिहां राज मेणइ हीरलंदी साभित काज,
सुखी लोक सवे तिहां वसइं अवरां नगर लोकनइं हसइ। ८०

जिम प्रसाद भणइ वंक जननइ नही सदा अपंक,
मार पडइं तिहां चोवी सिला पणि ते पुरजननइ नही कदा। ८१

परवि महवा होइ सूरनइं विरह पाप तणो भविजीवनइं,
बंधन जिहां केसि पामीइ के वली दोहतां गाइ दामीइ। ८२

दुरव्यसने देसोटो जिहां शोक नही को जाणइ तिहां
इत्यादिक गुण भरइ अनेक बीसलनयर वसइ सविवेक। ८३

तिहां श्रावक सूधो जाणीइ तेहमां एकवीस गुण वखाणीइ,
अति गुणवंत ते साह देव जी बहु जन तास करइ सेवजी। ८४

आराधइ एक अरिहंत देव साचा गुरुनी करइ नित सेव
जिनभाषित मति धरम ते धरइ श्रेम निजजनमसफल ते करइ। ८५

सुख संसार तणां भोगवइ श्रेम दिन सुखीआ ते योगवइ,
जिनधर्मवंत वनिता धरि सती धर्मवती नामिं गुण निधी। ८६

सती सिरोमणि जेहनी थोड सामी वचन पालइ निसदीह,
धरम करम दहां साचवइ कठिण करम सघलां पाचवइ। ८७

निपुण पणइ धरइ चोसठि कला पालइ सील तप करइ निरमला,
नाह संघातिं विलसइ भोग जाणे इंद्र इंद्राणी योग। ८८

श्रेक दिन सुख भरि सूती नारि देखइ सुपन ते सेवि मझारि,
जाणुं अमर कुमर भूपजी तस अनुभावि आयु रूपजी। ८९

वली वरस के वोल्या पछी वली एक सुपन लहइ सा लच्छी,
तस अनुभावि पूरइ कामजी जनम्यो पुत्र नामिं रामजी। ९०

विहुय भणावी कीधा जाण सीख्या सघलां कला विनाण,
जाणइ लिखित गणितनां मान नीतिशास्त्र सामुद्रिक जाण। ९१

आठ वरस वोल्या श्री जोइ सयलकला तणइ सीखी सोइ,
हवइ निसुणो संयमनी वात पंभायति नगरी विख्यात। ९२

विवहारी कोटीधज घणा लपेसिरीतणा नही मणा,
सहसधरा लहीइ लच्य गणा पार नही विवहारी तणा । ९३

सघवी उदयकरण गुण घणा बिंब भराव्या वहु जिन तणा,
जिन प्रासाद कराव्या भला भला उपाश्रय वली केतला । ९४

बिंब प्रतिष्टा करावी भली अेम कहावति कहीइ केतली,
सघवी तिलक हवु कइवार संघ पहराव्या कही कइवार । ९५

लाज घणी वहइ सहू कोइ उदयकरण मोटो जग सोइ,
जेह तणी लषिमीनो पार कुणी न जाणे अेक लगार । ९६

वली निसुणो सोनी तेजपाल धुरथी धरम करइ सुविशाल,
जिन मंदिर जिन बिंब पोसाल घरची द्रव्य कर्या सुरशाल । ९७

साधु भगति सामी सतोष सात षेत्र तणो वली पोष,
विमलाचलि श्री ऋषभ जिणंद मूल प्रासाद तणो आणद । ९८

जीरणोद्धार कर्यो जेणइ रगि घरच्या लाघ सवा जेणइ चंगि,
निज रुपइआ धरमह ठामि वावरी नइं सारीउं निज काम । ९९

पारषि राजिआ वजीआ जोडि धन उपराजिउ जेणइ वहु कोडि,
धरमवंत षरचइ धनघणु धरमठामि ते पोतातणुं, १००

गाम घणें जिन मदिर कीध निजलषिमीनो लाहो लीध,
मकवल मसिरु कथीयातणा चंद्रोदय अति सोहामणा । १०१

उपासिरइं जिन मंदिर तेह मुंक्या हइयडइ आणी नेह,
एक दिन मनोरथ एक उतपन्न जो घरि वछित धन उतपन्न । १०२

तो जिनबिंब प्रतिष्टा भली कीजइ सपद करी मोकली,
श्रीगुरुहीरविजय सूरि राय तस आदेसिं मन उच्छाय । १०३

पधराव्या आचारयराय विजयसेन सूरि कीध पसाय,
देस नगर पुर गामहतणा तेडाव्या सघ आव्या घणा । १०४

शुभ दिवसिं तपगच्छनो राय करइ प्रतिष्ठा शिवसुखदाय,
संघ पहरावइ बहुबहु भाति जे आव्या हुता षभाति । १०५

वीसलनगरनो सघ सुजाण तेहमाहिं देवजी साह प्रधान,
निसुणी श्री गुरुनो उपदेस मनि वयराग हूओ सुविसेस । १०६

जाणी भवनुं अथिर स्वरूप दुरगति मांहि पडयानो कूप,
ए संसार असारो लही संयमनी मति हइयडइ सही। १०७

मिली कुटुंब सहू करइ विचार लेवुं आपि संयम सार,
माहमास सवि कीधां दूरि वसीआं उपशमरसभरपूरि। १०८

कइ कथा श्री तपगच्छराज कहइ गुरुजी आप साधे काज,
तारो भवसायर आज दिआ निज शिष्या शिवसुख काज। १०९

श्री विजयसेन सूरी सिर हाथि लीइ संयम कुटुंब सहू साथि,
साह देवजी साथि निज नारि जयवंती नामि सुविचारि। ११०

तस नंदन पहलो रूपजी लीस्यो रुपि मनमथ भूपजी
रामजी लघु बंधव तस जोडि विद्या गुणवंत नही कसी खोडि। १११

ग्यारह वरस लेइ संयमसार पालइ शुद्धं निरतीचार,
बिहु बंधव करइ गुरुनी सेव एक आणी शिवसुख हेव। ११२

विनयवंत आणी गुरुराय तास भणावा करइ उपाय
विद्या सकल भणइ ते जाम वड बंधव रत्नविजय नाम। ११३

दैवयोगि पूरण थइ आय पुहुतो पूरव करम पसाय
रामविजय तेहनो लघु भाय ज्ञानवंतमा अतिहिं सोहाय। ११४

ते गुरु तेहनइ बहु यप करी विद्या भणावी सघली परी
नीति शास्त्र व्याकरण प्रमाण चिंतामणि पंडित विनाण। ११५

जोतिष छंद भनइ सिद्धांत प्रकरण साहित्य नइ वेदांत,
इत्यादिक शास्त्रना सवि भेद भणइ भणावइ नही उच्छेद, ११६

समता रस भरीओ गुरु बहु वयरागी आचार जया सहू
योग्य आणी गुरु निज मनि तास पंडित पद दीधुं उल्लासि, ११७

इणइ निसुणो सूरी पदवी वरो ते अवदात कहुं छइ भलो
सोभलयो सहू मन थिर करी आचारजि पदनुं कहुं चरी ११८

॥ ढाल ॥

राग मल्हार

संवत् सोलसतरोतरइं निसुणो अवदात रे,
श्री विजयदानसूरीसिरु जगमांहि विख्यात रे,
भाव धरे भवि सहू सांभलो ॥ आंचली ॥ ११९

श्री विजयदानसूरि गछपति आचारजि गुरुहीर रे,
वाचक त्रिणि तेहनइं हवा बहु पंडित धीर रे। वात० १२०

आचारजि हीर नी धर्मसागर उवजाय रे,
श्रीराजविमल वाचक वरु जस रूप सुखदाय रे। वात० १२१

एकठा त्रिणि साथि भणइ करइ विद्या अभ्यास रे,
शास्त्र सवे भणइ भावसिउं ज्ञानइ लील विलास रे। वात० १२२

परम प्रीत त्रिणि एकठां शास्त्र भणी हूआ सुजाण रे,
पणि कोइ करम छूटइ नही करमि जाण अजाण रे। वात० १२३

शास्त्र तेहज गुरु एककइ भणइ अरथ विचार रे,
पणि मति भेद ते करमथी होइ सुख दुखकार रे। वात० १२४

अेणइ अधिकार एक वातडी निसुणो भवि तेह रे,
नारद परवत वसुनृप भणइ अेकठा तेह रे। वात० १२५

बामण क्षीरकदंबक उपाध्यायनइं पासिरे,
शास्त्र सवे तिहा अभ्यसइ मनतणइ ओहोलासिरे। वात० १२६

एक दिन अध्ययन करावता आकासि हूई देववाणि रे,
एक जीव स्वर्गगामी सुणो दोय जीव जाणि रे। वात० १२७

पाठक सुणि मनि चितवइ जोउं एह वीचार रे;
अडद पीठइ करी कूकडा दीधा तेहनइ करि सार रे। वात० १२८

जिहा कोइ पुरुष देषइ नही तिहा हणयो तुमे एह रे
अेम कही छात्र त्रिणि मोकल्या गया पर्वत वनि तेह रे। वात० १२९

गिरि गुहा जइ मन चिंतवइ इहा देषइ नही कोय रे;
पणि परमेसिर देषस्ये अेम नारद चिंतवइ सोय रे। वात० १३०

तो सही ए नही मारवा गुरुतणी एहवी वाणि रे,
पाछो आणी दीओ गुरु करिं का कीधु वचन अप्रमाणि रे। वा० १३१

सीस कहइ गुरुजी सघलइ सही परमपुरुषनुं ज्ञान रे,
जीव हिंसा फल जाणतो हुं किम थाउ अज्ञान रे। वात० १३२

पर्वत वसुनृप आवीया करी बेहू जीवना घात रे,
गिरि गुहामध्य पयसी तिहां दीधी एहनइ लात रे। वात० १३३

सांभली गुरु मनि चिंतवइ नरगगामी ए बीय होय रे,
नारद स्वर्गगामी सही शुभाशुभ अध्यवसि होय रे । वाव० । १३४

वेद भाख्यो जीवमां पशु कीधुं कुपात्रि वीद्यादान रे
पर्वत वसुनइ भणावतां मिं कीधुं पाप निदान रे । वाव० १३५

नारद बीजइ बहुगुणी विद्यायोग विशेसरे,
पढनइ अध्ययन करावतां शुभ सुत करइ क्लेस रे । वाव० १३६

खेम उदासीन भावि थयो न भणावइ ते छात्ररे,
वेद वर कर्म साधन करी पावन करइ निज गात्र रे । वाव० १३७

देवयोगि ते परबत गुरु परलोकिं पहुतरे,
नारद बसु नृप थरि गया रापइ परवतयां सुत रे । वाव० १३८

राज्य बयठो वसुराजीओ कहवाय सत्यवादी रे,
परबत ठामि निज तातनइं छात्र भणावइ आदामादिरे । वाव० १३९

अरथ कहइ अज रावतनो छागिं होमज कीजइरे,
वेदइ अवसरि नारद मनिइ आवी कानज दीजइ रे । वाव० १४०

निसुणी वयण परवतवणुं वलती आखिओ तिहांहि रे,
कहइ रे बंधव तुं ए सिरे कहइ विं सांभलिउं कि्हांहिरे । वाव० १४१

आपणइ गुरिं भणावतां अरथ नवि कह्यो ओम रे,
अज कहीइ त्रिणि वरसतणां व्रीहि सांभलिउं खेम रे । वाव० १४२

परबत कहइ हुं सही कहइ कदाग्रह करइ बेहरे,
पण नखिउं तेवइ तिहां कीमनउं साधीओ वसुनृप तेहरे । वाव० १४३

साच कहइ परबत प्रति सउं हुं कीधुं हुं बोलइ रे,
पणि मनि मानइ ते परबत थयो परबत वोलइ रे । वाव० १४४

घटिका छायिमां मही करी गुरुणी पासि दरबारि रे,
देपी नृप सादमो आवीओ थयो हरख अपार रे । वाव० १४५

नरपति पूछइ गुरुणी प्रति किम पधार्यां तुमे आज रे,
गुरुणी भणइ सुणि राजीआ पुत्रदान सवा काजि रे । वाव० १४६

एह वचन तुमे सुं कह्यो परबत सरिषा शुभ पूतरे,
कुम्यपी पणि मथी भावमी वह बोवइ प्रसूत रे । वाव० १४७

नारद साथिं कलहो करइ अज सबद अधिकारि रे;
जीहनिष्कासन पण वक्युं तेणें हूउ मुझ दुषकार रे। वात० १४८

साषीओ तेणइ तुझनइ कर्यो तु तो बोलइ सत्य वाच रे,
पूत्र जीवन हवइ तुझ थकी घोलये तु कूड साच रे। वात० १४९

मातजी तुम वचने सही बोलीस कूड वली साच रे,
घरे पधारो मन थिर करी वसुनृपि कीधुं ए काच रे। वात० १५०

तव ते बेहू वढता गया न्याय करवा नृप पासि रे;
अज सबदिं गुरिं स्युं कहिउं साचुं बोलिं सुख वास रे। वात० १५१

मात वचन थकी वसु नृप पूरइ कूडीय सापि रे,
तव सुर सीपामण दीइ गयो नरगिं ते भापि रे। वात० १५२

नारद मुनि तिहा जय वरिओ दयावंतमां लीह रे,
परवर्ति यमनि वरतावीआ गयो नरगि अबीह रे। वात० १५३

करमवसिं मति भेदते हूआ अनंत अपार रे;
धरम सागर तिम ते जूओ मति भेद विचार रे। वात० १५४

धरमसागर ते पंडित लगइं कर्यो नवो एक ग्रथरे,
नामथी कुमतकुदालडो मांडियो अभिनवो पंथरे। वात० १५५

आप वषाण करइ घणुं निंदइ परतणो धर्म्म रे,
एम अनेक विपरीतपणु ग्रथमाहिं घणा मर्म रे। वात० १५६

माडी तेणइ तेह परुपणा सुणी गछपति रायरे,
वीसलनयरिं विजयदान सूरि आवी करइ उपाय रे। वात० १५७

पाणी आणी कहइ श्री गुरु ग्रंथ बोलवो एह रे,
नयर वहु सघनी साषिसिउ ग्रंथ बोलिओ तेह रे। वात० १५४

श्री गुरु आण लही सही सूरचंद पंन्यास रे,
हाथसिउ ग्रंथ जलि बोलिओ राषी परंपरा अंस रे। वात० १५९

ग्रंथ बोली सागर कहनइ लिघुं लिखित तस एक रे,
नवि एह ग्रंथ परुपणा नवि धरवी धरी टेकरे। वात० १६०

श्री विजयदान सूरि गछपति कहइ तेह प्रमाण रे,
तेहनी आण विण जे कहइ तेह जाणो अप्रमाण रे। वात १६१

धर्मसागर वाचक वली रामनगर मां आवी रे,
महिमा गछनइ आयरजिओ वली वात हलावी रे । वात० १६२

मांडी ते ग्रंथ परुपणा करी भावक हाथि रे,
कलेस करइ गुरु सीसस्युं गछपति मुनि साथि रे । वात० १६३

राजविमल वाचक तिहां आवी पूछइ गछराज रे,
तुम्हे कहो कसीय परुपणा नवि गणी धस आजरे । वात० १६४

वाच कहइ जिम गुरु कहइ श्री विजयदान सूरिंद रे,
ते कहइ तिम पणि कहुं बीजुं छइ सवि दंदरे । वात० १६५

कहइ गछो सागर जे कहइ न मानो तो तुम वाचो रे,
तो तिहांथी बंधु वालीया पाछलि पायक छालइ रे । वात० १६६

पायक नर ते मावरि गया वाचक बोलकइ पुहुता रे,
पुण्यथी विघन विलय गयुं भया साधू संयूता रे । वात० १६७

॥ ढाल ॥

चोपई

गुरु आराधक मुनि जे हवा ते गछइ काढिआ पुरि ह्वा
वहिरिया माय ते वासी पडिआं पणी परि मुनिवरनइं
कर्म नडिआं १६८

वाली वात चिहुं दिसि विख्यात विजयदान सूरि सुणी अवदात
राधिनपुरी पुहुता आठाय तेड्या पंडित सवे सुजाण । १६९

करी विचार पत्रिका लखी गच्छ बाहिरि ते कीधा वली,
कहइ गच्छनायक कों छइ अस्यो चीठी लेइ तिहां जाई धस्यो १७०

सभा मांहि जइ चीठी दीइ साहस धरीनइं मनि नवि बीहइ,
एक मुनिवर ते निसुणी वात कहइ चाठी वाचो अम तात । १७१

लेइ चीठी नई वास्यो वह राजनगरि जइ पुहुतो तेह,
सभा मांहि जइ ऊभो रहिओ गुरु संदेसो तेणइ कहिओ । १७२

चीठी आपीनइं एम कहइ धना धना गच्छ बाहिरि रहइ,
एम कही पाछा वगता भरइ गछो कहइ कोई छइरे धरइ । १७३

धाओ धाओ धींगानइं धरो मारो मारी पूरो करो,
तिम धाया जिम जिमना दूत किहा जाइ तु रे अवधूत । १७४

साहो साहो कहता सहु द्रोड्या पाछलि सुभट ते वहु,
हाथे न लागो ते अणगार सुभट फिरई तिहा घरघर वारि १७५

मुनि नाठो श्रावक घरि गयो श्रावकिइं तस घरमा ग्रहिओ,
रापी दिन थि घरमा तास राति काढी मुंकयो नास । १७६

कुसलिं पुहुतो श्रीगुरु पासि वात सुणी दीधी सावासि,
सागरगच्छ वाहिरि जे कीध काढया जाणया जगत्र प्रसिद्ध १७७

आहार न पामइ श्रावक घरे सागर कहइ गल्लानइं सरे,
अन्न विण दोहिला थाइ तदा लाज गइ सागरनी सदा १७८

एहवइ सकलचद उवझाय आव्या अमदावादि सुठाय,
कहइ सागर नइ का एम करो गच्छ नायक कहण मनि धरो । १७९

अमदावादथी वीजइ गामि नही पामो अन्न पाणी ठाम,
ते माटिं गुरु कहणिं रहो ते कहइ ते हइयडामा वहो १८०

कहइ हवइ हु किम जाउं तिहा ते मुझनइं सग्रहइ हवइ किहा
जो तुमे वात ए हाथे धरो तो सही एहज उद्यम करो । १८१

तो श्री सकलचद उवझाय सागर तेडि राधिनपुरि जाय,
जइ ऊभा रहीया वारणइ गुरुनइ जाण करो एम भणइ । १८२

गुरु कहइ एहनु नहीं अह्म काज एहनइं कहीइं न वलइ लाज,
सकलचद वाचक एम भणइ शिष्य कहइ ते श्री गुरु सुणइ । १८३

छोरु होय कछोरु कदा माय वाप सासेवउं सदा,
करस्यइ हवइ जे तुमे आसि दीओ सागरनइ गच्छमांहि लीओ १८४

कहण लोपइ जो हवइ तुम तणु तो एहनइ सीस देयो घणु,
सुणी वीनती कहइ गच्छनाह जो आववो करो उमाह । १८५

तो लिषी आपो जे अह्मे कहउ पूरवसूरि वयण सद्दहु,
एहवउं जो लिषी आपो तुह्मे तो अगीकरु तुम नइ अह्मे १८६

ते वर्म्म सागर जे गुरु कहइ पटो लषइ नइ मनि सद्दहइ,
जे जे मिच्छादुक्कड दीआ वोल लषावी सघला लीया । १८७

तृतीय खंड

राम कृष्ण रास

[पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक]

रासमहस्र पदी

नरसी मेहता

(पंद्रहवीं शताब्दी)

परिचय—

नरसिंह मेहता का जन्म वि० १४६६—७१ के मध्य माना जाता है। शोध के आधार पर यही मत अभी तक प्रामाणिक समझा जाता है। इनके पिता का नाम कृष्ण दामोदर, पितामह का नाम विष्णुदास, माता का दयाकोर और भ्राता का वशीधर था। नरसिंह मेहता के एक काका (चाचा) का नाम पर्वतदास था जो बडे ही विष्णु-भक्त थे। उन्होंने भक्ति सबधी अनेक पदों की रचना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि बालक नरसिंह को अपने काका के सपर्क में रहने से काव्यरचना में रुचि उत्पन्न हुई और भक्ति-भावना से उनका हृदय क्रमशः प्लावित होने लगा।

ग्यारहवें वर्ष की अवस्था में नरसिंह मेहता का विवाह हो गया। नरसिंह मेहता ८ वर्ष की अवस्था से सत साधुओं की टोली में स्त्री का वेश बनाकर नाचा करते थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बाल्यकाल से ही साधु महात्माओं के सपर्क में रहने की इसकी रुचि बन गई थी।

तपश्चर्या

नरसिंह ने २७ वर्ष की अवस्था में चैत्र सुदी सप्तमी सोमवार को तपश्चर्या प्रारभ की। कहा जाता है कि महादेव जी ने प्रसन्न होकर इन्हें दर्शन दिया। तदुपरांत इन्होंने द्वारका जी में कृष्ण जी की उपासना की और इस तथ्य को भक्तों के समुख बलपूर्वक रखा कि उमापति रमापति में कोई भेद नहीं।

सतसाधु-मडलियों में रासलीला के समय नरसिंह स्त्री-वेश धारण कर लीला किया करते थे। इस प्रकार रासलीला के प्रति इनका मन प्रारभ से ही आकर्षित था। सत्रहवें वर्ष की अवस्था से इनका मन भक्तिभाव से पूर्ण रीति से भरने लगा और कीर्तन में ये प्रायः निमग्न रहते थे। इनकी वाणी में

रास सहस्र पदी

नरसिंह मेहता कृत

[१५ वीं शताब्दी]

पद १ लं-राग मलहार

कामनी सर्व टोले मली, मांडयो वृंदावन रास;
बावना चंदन छांटयां, रमे माधव पास । १

रासक्रीडा रमे माननी गुण गाए गोविंद
कोकीला कंठे स्वर करे स्थिर थइ रह्यो चंद । २

काळ वाल्या सर्व कामनी, साहे सकळ शणगार
हार हैयाना खेहेकतां झमझमना झमकार । ३

पक्षवटवाली पटोलडी गोरी शामली नारी,
कुंडलाकार करी रही, मध्ये मायया मोरारी । ४

त्रिभुवन परयो पासवा, थाय ध्रमध्रमकार।[1]
पगतणा महार वाजी रह्या काय न लहे पार । ५

राग कोय फना शुणे नहीं, बोले मुखथी वाणी।
रोहीणी पति रहे स्थिर खटमासी रात्री वहाणी । ६

ब्रह्म शारदा आवे थइ देवा ओयछे रग।
नाद निरघाप वाजी रह्या ताली ताल मृदंग । ७

मुनि जन मन विमासी रह्या धन धन कृष्णावतार,
नरसैंयाना स्वामि सुगम प्रगटीया ते निरधार । ८

१—धमधमकार

पद २ जुं

वंद्रावनमा मानुनी, मध्ये मोहन राजे;
कंठे परस्पर बाहुडली, धून नेपूर वाजे । १

एक एक आगे आलापती, एक नाचती रंगे,
एक मधुरे स्वर गाइने, ताल आपे रगे । २

एक आलिंगन लई उर धरे, भीडे भामनी भावे;
श्रमजल वदने झलकता, शामा शाम सोहावे । ३

मरकलडा करीने कृष्णने, भला भाव जणावे,
थै थै थै करे प्रेमे, उरना हार हुलावे । ४

कामी कृष्ण त्या सचरे, नाद निगमनो थाय,
मडल माहे मलपता, वहालो वासली वाय । ५

हार कुसुमना पहेर्या,
चुवा चदन चरचीया, वाध्यो प्रेम रसाल । ६

ताली देता तारुणी, झांझरनो झमकार ,
कटि किंकणी रणझणे, घुघरीना घमकार । ७

धनरे धन ए सुदरी, धन शामलवान ,
नरसैंयो त्या दीवी धरी रह्यो, करे हरिनु गान । ८

पद ३ जु

लीला माहे ललवतो, कृष्ण कामनीने सगे ,
वद्रावन माहे मलपतो, वाध्यो महारस रगे । १

मनमथे मान मुकावीयुं, करी रमण रसाल ,
नाचतां नेह झड लागी रही, गाय गोपी गोपाल । २

प्रेमदा पियुने अग मली, करे प्रेम रसपान ;
वहालाने वहाले रीझव्यो, मुकी मनथकी मान । ३

करसु करग्रही कामनी, करे कृष्ण शुं वात ,
आनद अगे उलट्यो, रमे नवी नवी भात । ४

जे जे शब्द सुरी नर करे, वरसे कुसुम अपार ,
नरसैंयो सुखी लेहेरमां, ज्या करे कृष्ण विहार । ५

पद ४ थुं

वृंदावनमां विट्ठलो, वाहे वेण्य रसाल
तेम तेम वारुणी स्वर करे, ताली मेळवे ताल । १

रासमंडल मध्ये महावली, मस्तके मुगट अपार
एक एकने कंठे बाहुडी, नाचे नेह भरी नार । २

उर पर चोळी चळकती, सोहे सुंदरी मास
बीरने बरणा सुंदरी रमे मामका राष । ३

चतुरां चंपकवरणा, गुंथे प्रेमनुं हार
मरकलां करीने मानती आरोपे नंद कुमार । ४

अंगो अंगे भली रही, वारे
तनमन प्राणरूप कीधां सहाजे पूरणां शामसुजाण । ५

फरेरे भमरी प्रबल प्रेमना, चमके घुघरी पाय
उर पर हार शोहे घणा उल्लट अंग न माय ।
जेहना चरणमां जे चवे पुरे तेनी आश
मानती मोहन रंग रमे धन धन आसु मास । ७

धन धन आ अवतार सहुं, धन धन गोकुल नार
नरसैंया ना स्वामि धन तमो, धन धन ए विहार । ८

पद ५ मुं

शरद सोहामणों चांदलो रे, ने सोहामणी नार रे।
केलि करंती कृष्णसुं, करे थै थै कार रे । १

एक आगल आवी करी करे सन्मुख शानरे।
रस मांहे रीझवे नाचने, मेळे वारुणी तानरे । २

अंबर अंगे झलकतां, भामनी नेणे नेह जणावे रे।
भमरी देतां भामनी, शिश मुगट शोहावे रे । ३

मरकलां मनसुं करे, देतां अन्योन्य ताली रे।
प्रेमदाने प्रेम अति उलस्यो, कृष्ण वदन निहाळी रे । ४

ताल मृदंग धून अति घणी उलस्या अंबर गाजे रे।
गान करीने अगगवीए, झीणां झांझर वाजे रे । ५

धन रे रमत रस चढ़ी, वाध्यो अती आनंद रे ;
मांहो मांहे मलपतां, वचमां गोपी गोविंद रे । ६

धन धन लीला कृष्णनी, जोतां हैये हर्ष न माय रे ;
. .. .। ७

ब्रह्मा इंद्र आनदे दइ, कहे धन्य नारी ने नाथ रे ,
नरसैंयाने करुणा करी, मह्यो कृष्णजीये हाथ रे । ८

पद ६ हु

प्रेम प्रबल शु प्रेमदा, करे कृष्ण शुं केल रे ,
वंद्रावन रलीयामणु, वाधी रगनी रेल रे । १

रणभण रणभण रणभणे, द्रमके पगतणा प्रहार रे ,
नाचता नाचता नारने, वाध्यो हर्ष अपार रे । २

सोल कला शशीयर थयो, जाणे उघ्यो भाण रे ,
मंडल माहे माननी गाए, मधुरी मधुरी वाण रे । ३

हलवे आवी कृष्णने, अबला उरपर दाबे रे ,
कठे वलगी कामनी, अतर काइ न राखे रे । ४

पूरण प्रीत पाम्या सौ, सुदरी ने शाम रे ,
मन गमतो रही महालतो, कीधो पूरण काम रे । ५

भामणा लईने नाथना, जोबनमाती नार रे ,
नेणे नेण मेलावीने, अरपे कुसुमना हार रे । ६

वेधाणी वश वाजता, शुद्ध न रही अंग रे ,
महारस माहे भीलता, गोपी ने गोविंद रे । ७

.... ,
नरसैंयो नेणे निहाली, करतो गोविंद गान रे । ८

पद ७ मु—राग गोढी

छानी केम रहु, वन वेणु वाजे ;
साभलतां अगे, अनग जागे । १

कानतो कुंडल, पाउले पाली ।
प्रेहनी पेषी, गोपी वन वाली । २

प्रेह नीछराए, सिद्धलो पामी
भक्तवत्सल मस्यो, नरसैंयो स्वामी । ३

पद ८ मुं—राग सामेरी

झांझरी झमकंते, शामा झणुगटडो वाले रे
करकमलेशु मान करीने, नारी नाम निहाले रे ।
सेजडीए रंग रमतां शामा वहालाने वशकीधो रे
सुरत संग्रामे सम्मुख थइने आनंद रूप दीधो र । २

विविध विलास करंती कामा कंठे बाहुलडी वाली रे;
नरसैंयाथा स्वामिने संगम, मेहेलो अधर टाली रे । ३

पद ९ मुं

झांझरीयां झमकवे, छटकवे बाहुली छोडे रे।
मान करीने सम्मुख शामा, शणगटडो संकोडे रे । १

वाद करीने वहाला साथे, छटके देवी ताली रे,
हसतेशु हइ उरपर आयो कंठे बाहुलडी वाली रे । २

मनगमतु महाले मोहनशु, माननी मानने वारी रे
नरसैंया नो स्वामी रीझवीयो, सुंदर सेज समारी रे ३

पद १ मुं

झांझर झमके ने खलके चुडी वहालाशु रमता रे;
पीन पयोधर उरपर राखी अधर अमृतरसपीतां रे । १

मखवट टीली ने झलझा झमुके नेणे कायल सार्यु रे,
मारो वहालो साथे सुवे तन मन उपर वारुं रे । २

मा वम रेणी महारस मोह वहालो वश कीधा रे;
नरसैंयाचो स्वामि मनमोहन महारी सेजे शोहीया रे । ३

पद ११ मुं०

झांझर झमके ताली देतां, शामलीयाने संगे रे,
मरकलडोकरी वदन निहाले, उलट वाध्यों अंगे रे। १

सकल सणगार थयो मनगमतो, वहालो प्रेमे जोवेरे,
मलपं तो हिंडे मदिरमां, तेम तेम मनडुं मोहेरे। २

मे वहालाने सरवस सोंप्यु, अवर न जाणुं कांइ रे,
नरसैंयाचो स्वामी सन्मुख, वहाले लीधुं सांई रे। ३

पद १२ मु०

झांझरीयां झमकते पियुने, तारुणी ताली देती रे,
मरकलडो करी मोह मचकोडे, माननी मान धरेती रे। १

सेज समारी शामलीयाशु, भावे भामनी भावे.रे,
वहाला केरुं वदन निहाली, नारी नेण नचावे रे। २

महारस झीले प्रेमदा प्रेमे, शणगटडो सकोडे रे,
भणे नरसैंयो सांइडु लेवा, हलवे आलस मोडे रे। ३

पद १३ मु०

झामझरीया ने झमके रे, ठमके नेपूरीया वाजे रे,
शामलियाने सगम रमता, माननी मच्छर छाजे रे। १

लटके बाहु लो, डावे, रामा, हंस तणी गत चाले रे,
मोही रही सुदर वर जोतां, मदभरी माननी महाले रे। २

राखडली झलकती दीसे, गोफणले घुघरडी घमके रे,
भणे नरसैंयो नलवट टीली, काने झाल झबुके रे। ३

पद १४ मु०

झामझरीया जमकाकी कामा, कठे वाहुडली वाली रे,
अधर अमृतरसपान करता, उरनो अतर टाली रे। १

माननी माती पियु रग राती, आनदे अग ओपे रे,
मगन थइ मोहननी साथे, शामा सरवस सोंपे रे। २

उछरघो अंग अनंग अति भारी, सारी परे मुख लीधुं रे,
नरसैंयाचो स्वामि भोगवतां काम कामनी सिध्युं रे। ३

पद १५ मुं०

झांझरीयां झमकावती, गोरी गजगति चाले रे,
मरकलडो करी वहाला सन्मुख, शणगटडो वाले रे। १
जडीत्र बिराज झाळीझाळी, काने झाल झळकती रे,
भामनी भाव धरीने पियुशुं चंचल नेणे ओवी रे। २
क्षीरांबर सोहे अंग अबला, मांहे चंपावरणी चोळी रे,
नरसैंयाचो स्वामी उर पर लीधो, कंठे बाहुलडी घाली रे। ३

पद १६ मुं

झांझरीयांने झमकेरे, शामा सेजडीए आवरे,
नेपुरीयांने रणके ठमके, लटके बाहुलो'बावरे। १
शिरपर सोहे राखलडी आगे पुत्र पनोतीरे
नेणे नेया सभार्यां शामा, त्यांके अनोपम मातीरे। २
हलवे आवी उरपर लीधो, कामनीकंठ विलागीरे,
नरसैंयाचा स्वामिया संग रमतां नेणा नेट मड लागीरे। ३

पद १७ मुं

झांझरने झमके झणके, ताळ्यो ताली दवीरे,
आनंद आप्यो अबला अंगे, शामलीयो उर धरवीरे। १
प्रेम भरी पातळीया साथे रेणी रसमां रमतीरे
वहाला केरं वदन निहाळी मरकलडे मन हरतीरे। २
चंचल मेणे निरखुं चोरी सेजे रमतां वीतीरे,
नरसैंयाचा स्वामिने संगम रजनी रंग भर वीतीरे। ३

पद १८ मुं

झांझरीयां झमकार करे रे वीछुवा वागे वादे रे,
बाहुडी केरां कंकण खलके बोलंती मर मादे रे। १

राखलडी रत्नमे ओपे, वेणी विशाली ढलके रे,
आछु अंबर शिरपर ओढी, शेष नाग जेम सलके रे। २

हंसागमनी हंसगति चाले, चरण तले चीर चापे रे,
उरमंडल पर अवला सोहे, मुनीजनना मन कापे रे। ३

सकल शणगार सोहे शामाने, शामतणे रंग राती रे,
नरसैंयाचा स्वामीने मलवा, निशा अेकलडी जाती रे। ४

पद १९ मु०

झाझरने नादे रे, नारी, नरवरनी चाले रे;
आलस मोडे अग सकोडे, ते अबोडो वाले रे। १

प्रेम घणो पुरुषोत्तमशु, मलवा शामलनी सजे रे,
सकल शणगार करीने, आवी साइडा लेती रे। २

रमता रमता अतिरस वाध्यो, करता अधर रस पान रे,
नरसैंयाचो स्वामी उरपर लीधो, तजीने अभिमान रे। १

पद २० मु०

झाझरीया झमकावती, आवे सेजडीए रमवा रे,
शामलीयाशु स्नेह घणो ते, अधर अमृत रस पीवा रे। १

जोवन माती मधुरु गाती, नेपुरीया ठमकावे रे,
मुख अभिमान धरे मृगानेणी वहालाने मनभावे रे, २

पीन पयोधर कशण कशीने, हलवे आलिंगनलेती रे,
नरसैंया चा स्वामि सगम रमता, मरकलडे मन हरती रे। ३

पद २१ मुं०

झाझरीया झमके रे, गोरी गजगती चाले रे,
मान घणु मन माहे धरी ने, जइ सहीयर माहे महाले रे। १

जडीत्र विशाल जालीआली, झाल झबुके कान रे,
शामलीयाशु सगम करवा, मुख धरती अभिमान रे। २

पितांबर पटोली पहेरी, माहे चपावरणी चोली रे,
नरसैंया चा स्वामिने मलवा, चाली भम्म भोली रे। ३

पद २१ मुं

मांझरीया ने झमके, अबला आलिंगन लेवी रे;
उरपर राखी रहे वहालो, नेणो नेणा मेळवी रे। १
हास्य करे हसवेशुं बोले, पियुने प्रेम जणावे रे,
सेजडीये शामळीया साथे, रमतां रूडी भावे रे। २
शान करीने रणगट माले मरकलडे मन मोहे रे।
वहाला कंठे बाहु धरीने, उरपर मोहे सोयेरे। ३
वहालाशुं विलसंती शामा, रंगभी रसमां मावी रे
नरसैंयाना स्वामिचे संगम, अधर अमृत रस पावी रे। ४

पद २२ मुं

मांझरीयानो झमकारे, शोहे शामळीयाने संगे रे;
मारम रेणी अमृत वेणी कसट वाध्यो अंगे रे। १
कसकसणी कांचळडी छब र, लटके मुक्ताहार रे,
निसोंवर थोपे अबळाने, शोभतो शणगार रे। २
प्रेम भरी सुख भरी भामनि वहाले सेजडीये सुख आप्युं रे,
नरसैंयाना स्वामि संगम रमतां शामाचे सरवस साप्युं रे। ३

पद २४ मुं

पहेरी नारी ने मोगवी लेने हे मांझरनो झमकार रे।
कस्तूरी काजळशुं मेळी मांह अंजन नो अधिकार रे। १
वीछीआ वाजे ने नेह आवे, नेपुरनी झण वाजे रे,
केशपाश कुसुमे अति गुंथी, पुष्प भरंती वाळे रे। २
नेणे नेह जणावे सकळ शिरोमणी भावे रे,
नरसयाना स्वामिनं संगम, रसे मीन नमावे रे। ३

पद २५ मुं

त्रासुके त्रिभुवन मोया मुनिवर मोह्या रे;
रूप स्वरूप कह्युं नव जाये जाणे ईश्वरी माया रे। १

निलवट कुंकुम पीयल पीली, माहे मृगमदनी टीली रे;
आंखलडी अणीयल, पाखलडी लीला लाड घेली रे । २

चचल नेण चोदृश चाले, मांहे मदन चालो रे;
नरसैंया चा स्वामि कहुं तमने, सुदरी वदन निहालो रे । ३

पद २६ मु०

मुख जोता अभीमान धरीने, शणगटडो वाले रें,
अडपडीयाली आंखडली रे, कुच उपर पालव हाले रे । १

मुख तंबोले भर्यां अति शोहे, कटीकोमलता भावे रे,
पितांबर पहेरी ने चाले, इद्रासन डोलावे रे । २

मुनिजनकेरां मान छंडावे, सेजे सुरगी भावे रे,
नरसैंयाचा स्वामिने मलवा, हसती संगम आवे रे । ३

पद २७ मु ०

चमकंती चालेरे चतुरां, झांझरनो झमकार रे,
कामनी काम भरी भुज भीडे, सगम नंदकुमार रे । १

मछराली महाले मोहनशुं, भजतां भाव जणावे रे,
मरकलडेशु मोह मचकोडी, नारी नेण नचावे रे । २

सेजडीए शामलीयो पामी, वामी वेदना भारी रे,
नरसैंयाचो स्वामि रेणी सघली, राख्यो उरपर धारी रे । ३

पद २८ मु ०

चपावरणी चोली चतुरा, नवरंगी काली रे,
मरकलडो करी मोहनसाथे, तारुणी देती ताली रे । १

सानकरी शामलोया सन्मुख, अवला उरपर लेती रे,
अधर अमृत रस पीय करीने, भामनी भुज भरी भेटी रे । २

सुदर स्नेह सगम आव्यो, भावे रङ्ग भरी रमतां रे,
नरसैंयाचो स्वामि भले मलीयो, सुख पामी साइडु लेता रे । ३

पद २९ मुं

शामळीया कर कंठ धरीने, वनिता विलसे रे
वंद्रावनमां जुवती, जोवन जोई सुंदर दीसे रे । १

क्षणुंएक वहालो वेण बजावे क्षणुंएक मधुरे गायरे.
शामा साथे स्नेह धरीने मीठ हृदया मांहे रे । २

भोग करे भोगी भूधरमा नहीं कोइ एने तोले रे
भणे नरसैंयो धन भत लीला, निगम निरंतर खोले रे । ३

पद १ मुं०

मरकलडे मोहीरे सखी, हुं मारगडे जातां रे,
शामळीये महारो पालव, झाल्यो साथे मीडतां रे । १

दीसंतो नानडीयो सुंदर, क्षणुं जोवनमां थाये रे:
माननीयां ने मोह पमाडे, मधुरे मधुरे गाये रे । २

मनमां जाणुं ए वहाला शुं निशदिन रंग भरी रमीये रे
नरसैंआनो स्वामी परधर राखु, क्षणुं अळगो नव टळीये रे । ३

पद ११ मुं

नेण सोहागी शामळीयो तुने प्रेमभरी बोलाव रे
हळवेशु आलिंगन लेतां नेणे नेह जणावे रे । १

कंठे बाहुलडी धाली वहालो हुं साथे परवरीया रे;
धाली धाली वदन निहाळु आनंदे उर धरीया रे । २

विविध विलास कीम महारे, वहाले वृंद्रावन मांझार रे
भणे नरसैंयो ए रसलीला जाणे व्रजनी नार रे । ३

पद १२ मु

हे वहालो वन सखीरे मोरी शामळीयो आवे रे,
रंगभर रमतां सजनी, मनतो नेह जणावे रे । १

समामसो शणगार करीने पहेरी पटोळी सार रे,
जेम जेम रीझे तेम तेम महालुं संगाम नंदकुमार रे । २

क्षणुं आंगणे क्षणु मंदिर माहे, पियुजी विना न सोहाय रे.
नरसैंयाचा स्वामी शुं रमतां, नर दुर्लभ ते मारे वश थाय रे। ३

पद ३३ मु०

प्रेम धरी शणगार करु रे, शामलीयाने भावे रे,
पहेरी पटोली चोली चलके, वहालो उरपर धरावे रे। १

भरजोवनमां कामघेहेली; मोहन मलवा जाती रे,
मारगडे मरकलडो करीने, दरपण माहे जोती रे। २

सन्मुख आवे सुंदर वरने, हशी कर दीधी ताली रे,
नरसैंयाचो स्वामि नेणे निरखी, कठे वाहुडली वाली रे। ३

पद ३४ मु०

रुसणलां रमता लीजे, ते रुडेरा भावे रे,
पियुशुं प्रेम घणोरे वेहनी मनमथ मान छडावे रे। १

ताणाताण न कीजे वहालाशु, मन हलकतु करीये रे
अंतरथी अलगुं नव कीजे, एणीपेरे रंगभर रमीये रे। २

आलिगन लीजे रे घाढुं, जेम वहालो मन रीझे रे,
नरसैंयाचा स्वामीशुं रमता, माननी मान न कीजे रे। ३

पद ३५ मु०

शामलीया शुं ताली देतां, झांझरीवां झमके रे,
हलवेशु आलिंगन आपु, वाहुलडीने लटके रे। १

नीलांवर चोली अती चलके, माहे नानाविध भातरे;
रसमा रातो महारो वहालो, रमता रसाली वात रे। २

हु महारा वहालाजी साथे, मान निवारी महाली रे;
भणे नरसैंयो मरकलडे शुं, कठे वाहुडली वाली रे। ३

पद ३६ मु०

उरपर चोली चलकती, मांहे पहेरण पटोली सार रे,
सुदरवरने संगम आपी, शोभंतो शणगार रे। १

नाके मोती निर्मलां सोहे, नेणे काजल सारुं रे,
वहाला साथे वात करता, मोही रह्युं मन महारु रे। २

कृप उपर कर वाह्यो वहालो, आप गुणद्य भलीयो रे।
भणे नरसैंयो महारो मनोरथ, वहाले पूरण करीयो रे। ३

पद १७ मु

पेर प्रीछी पातलीया तहारी नेण निहाली चाले रे,
हु मोकलडी मारग मांहे, कर भरणु निहाले रे। १

पीन पयोधर मेहुवो मारे नारंगडे नख लागे रे;
नयणी महारी खरी भदेखी, साचा उसर मागे रे। २

आलिंगन तो आपुं महारा वहालो, जो ममणु अंतर टालो रे।
नरसैंयाचा स्वामी महारा उरपर निशदिन आवी, महालो रे। ३

पद १८ मु

ओरडीयामां देखीने वहाले आशकडो कीधो रे,
मुखे मरकलडो करीने वहाले, अधरतणो रस पीधो रे। १

एकवार संवरथी वातो वहाले, करमही पालव ताण्यो रे।
आलिंगन दीधुं महारे वहाले सेज सुरंगी माण्या रे। २

सर्व अंगे सुख पामी बाइ रे हृदयाभ्यंतर लीधी रे,
नरसैंयाचा स्वामी भले मलीयो आप सरीखडी कीधी रे। ३

पद १९ मु

आज सखी शामळीये सुणद्य स्नान करीने जोयुं,
मारगडे मरकडो कीधो त्यां महारुं मन मोह्यु। १

सही समाणि-साथे हुंती तहेमां हुने बोलावी,
वंद्रावनमां प्रेम भरी वहाले सोहंडुं दीधुं आवी। २

दुरिजन सघलो भडक वाले ए तो एमज करती,
भणे नरसैंयो लमणां मेहेली, कृष्णसंगे रंग रमती। ३

पद ४ मुं

धुंघटडामां गर्व भरेली मरकलडो करती,
शामळीयाने संगम रमवा नाना भाव धरती। १

गोफणडे घुघरडी घमके, राखलडी रसनाली
मलपट टीली ने नेण समार्यां दरपण मांहे नीहाली।

शामलीयानी सेजे आवे, रमझम करती रामा,
नरसैंयाचो स्वामी उरपर लीधो, केल करंती कामा। ३

पद ४१ मु०

घुघटडो वाली गोरीने, सोहे संगम रमतां,
शामलीया शुं स्नेह धरती, शामा सगम रमता। १

कसकसती काचलली उरपर, लटके नवरस हार,
नीलांबर पहेर्युं मनगमतु, सकल करुस शणगार। २

चतुरा चित्त चतुरवर चरणे, विनय करी विलसती,
नरसैंयाचा स्वामी शु रमता, रजनी रंगे वीती। ३

पद ४२ मु०

घुघटडो गजगमनि वाले, झाझरने झमके,
वहालाने वश करती शामा, टीलडीने टमके। १

मोतीए माग भरावी मनगमती, आजी आख अणीआली,
वहाला साथे वहाल धरीने, कंठे वाहुडली वाली। २

मन तणा मनोरथ पुरीया, प्रेमे पियुजी पामी,
नरसैंयाचो स्वामि रङ्गे रमीयो, ब्रेडु वेदना वामी। ३

पद ४३ मु०

वासलडी वाहीरे वहाले, मारगडे जाता,
अगोअगे विंधाणी हु, मरकलडो करतां। १

आघो आवी शामलीये, महारी लटके वाहुडी झाली,
महीनी गोली धरणे ढोली, कठे वाहुडली वाली। २

अधर अमरत रसपान करता, अगो अगे भलीयो,
भणे नरसैंयो महारस माहे, आवी अढलक ढलियो। ३

पद ४४ मु०

आवी अढलक ढलीयो जोनी, मोहन मारग माहे,
महारे प्राण जीवन धन वहालो, राख्या हृदया माहे। १

मन्दीरमां पधरावो प्रमे मोतीए चोक पुरावुं
दीवडीओ झळवाळी मुकं, मंगल गान करावुं । २

धन धन रेणी आजनी म्हारे, नंद कुंवर शुं रमतां
भणे नरसैंयो धन आ जोबन, व्हाला शुं अनुभवतां । ३

पद ४५ मु०

अनुभव शुं अमे अंतर टाळी, शामळीयाने संगे,
हळवाशुं हुं हरपर राखी, सांइडां लशुं हेते । १

नलवट टीली ने नाके केशर, झलक झबुके काने,
सकळ शणगार करी अंग आपुं, सगम शामळ्याने । २

व्हाला साथे वात करतां मनमां मोद न माय
नरसैंयाना स्वामि मुखडीठे, आंखी भूख न भाय । ३

पद ४६ मु

नेण भरी भरी जोतां व्हालो रीझवशुं रसमांहे
मरकलडो करी व्हाला साथे, मोही रही मन मांहे । १

सेज समारुं कुसुम लइने, प्रेमल पूरण आणुं,
व्हाला साथे व्हाल धरीने, रेणी रंग भरी माणुं । २

मन गमतो हुं मबको करीने वरपथ मांहे जोऊं
भणे नरसैंया भ्रगुटी भावे, व्हालाजु मन मोहुं । ३

पद ४७ मु

भ्रगुटी भाव करीने व्हालो म्हारा हरपर राखुं,
सर्वस सोंपी शामळीयाने विनय वचन मुख भाखुं । १

अंतरगतनी जाणे व्हालो प्रेम होय तो आवे,
नेण नेण निहाळी व्हालो, माननी मान छंडावे । २

पळ पळ आलिंगन लेतां व्हालो अंतर ताप समावे,
भणे नरसैंयो संगम स्वादे भण वेल्यो घर आवे । ३

पद ४८ मु

भण वेल्यो आवे मारे व्हालो मरामरातो उर धारे रे
मानगलो तई माप धरीने मननी मान निवारे रे । १

नीली पटोली अगे महारे, चोली चंपावरणी रे,
सुद्र वरने कंठे वलगु, रसमा जाय्ये रेणी रे। २

भोगीने भोगवता रङ्ग वाध्यो, सेज सुरंगी सोहे रे,
भणे नरसैंयो शामलीयो, ते महालतो मन मोहे रे। ३

पद ४६ मु०

मोही रही मंदिरमा महाले, शामलीयो सुकुमार रे,
प्रेम धरी उर माहे आणु, महारो प्राण आधार रे। १

रेणी रङ्ग भरी भोगवता, करती अमृत पान रे;
नेणे नेणा नेह भड लागी, कठे विलागी कहान रे। २

सुखनी सीमा शामलीयो, महारो, सुजन्ले भीडी रहीएरे,
नरसयाचा स्वामिशु रमतां, सही सपराणा जैए रे। ३

पद ५० मु०

सपराणी कीधी रे वहाले, सैयरने देखता रे,
ताली देता चितडु लागु, मोही रही मुख जोतां रे। १

कर उपर कर धरी मारो वहालो, वद्रावन परवरीयो रे,
हास्ये करीने शामलीयाने, में महारे उर धरीयो रे। २

रङ्ग भर रमता रमता वहालो, मुख उपर मुख करता रे,
भणे नरसैंयो महारो मोहन, दर्पण मांहे जोतां रे। ३

पद ५१ मु०

दरपण माहे जोइ महारे वहाले, मुख मरकलडो कीधां रे,
कठ विलागी कहानजीने, अधर अमृत रस पीधो रे। १

मन गम तुमहालु मोहनशु, टाली अतर डरनो रे,
हु सोहागण कीधी महारे वहाले, पूर्यो मनोरथ मननो रे। २

शा शा सुख कहुं शामलीयानां, प्रगट्यो प्रेम अपार रे,
भणे नरसैंयो धन आ जोबन, धन महारो शणगार रे। ३

पद ५२ मुं

शणगारे सोहंती रे हुं शामळीयाने संगे रे;
नेणे नेण मेळावी वहालो, मीन्यो अंगो अंगे रे। १

चोळी चंच कसबरी कसी, पहेरी नीली पटोळी रे;
अधर अमृत रस पीवा कारण कंठे बाहुलडी वाळी रे। २

साथी पेठे सुंदरवर साथे, सांखां देती माणुं रे;
नरसैंयाचा स्वामीने संगम, नाना भाव वखाणुं रे। ३

पद ५३ मुं राग मालव

आ जोनी आ केनुं पगलुं, पगले पद्म धणु पंखाण
पगला पासे बीजुं पगलुं तेरे सोहागण नौतम वाण। आ जोनी० १

पूरण भाग्य छे जुवती केरां जे गई वहालाने संगे;
एकलडी अधर रस पीशे, रजनी ते रमशे रंगे। आ जोनी० २

अळवळती आकळती चाले देह दशा गई भूली;
नीरखे हरि आव्या आ वनमां, जो जो कमोदनी फुली। आ जोनी ३

पूछे कुंज लताद्रुमवेली, क्यांइ दीठो नंदकुमार;
कुसुमनी शाखा फुली रही, अभिषेक कीधो निरधार। आ जोनी० ४

नयणे नीर ने पंथ निहाळे कान काम सुख बोले वाण
वाली चतुरां सखा मळीने, वनमां खोळे नंदनो लाल। आ जोनी० ५

जोतां जोतां वनमां आव्यो, दीठी एक साहेली;
शृंगारनां आभरण जो जो गयो एकलडी मेली। आ जोनी० ६

न दीठा नाथ गोपी पाछां आव्यां जळ जमुनाने नीर;
वाल लीला कीधी ते वारे, प्रगट्या हलधर वीर। आ जोनी० ७

रास आरंभ्यो सर्व शामा मळी, सुरी नर जे जे कीधो;
गोपीमां हुं तो नरसैंयो, प्रेम सुधारस पीधो। आ जोनी० ८

पद ५४ मुं राग रामकली अथवा पंमीरी

पंथडा निहाळती रे, आवी पीतांबर पगलां;
मदन रस घेलडी रे, भरती लडसडतां डगलां। पंथडो० १

चतुरां चालती रे, जाणे वन आटी हरणी;
शुध वुद्ध वीसरी रे, वहाला ते तारी करणी। पंथडो० २

शामा शामने रे, हींडे मारगडे जोती,
नेणे नीर झरे रे, चतुरा चीर वडे लहोती। पंथडो० ३

शामा सहु मली रे, कीधो एक विचार;
चालो सखी त्या जइएरे, ज्यां रमता नंदकुमार। पंथडो० ४

चाल्या चाल्या त्या गया रे, आव्यां जमुनाजीने तीर;
आ आही हरी बेंसतारे, जमता करमलडो खीर। पंथडो० ५

आ आही वहाता वांसली रे, गोपी सहुको गातां गीत,
ते केम वीसरे रे. वहाला पूरव जनमनी प्रीत। पथडो० ६

पुछी यु द्रुमनेरे, क्याइ मारा नाथतणो उपदेश,
श्रम तजी गयो रे, धूरत धावली आलो वेश। पंथडो० ७

जतने जालव्युं रे, जोवन भुदर भेट करेश,
जो हरी नहीं मले रे, महारा पापी प्राण तजेश। पंथडो० ८

आणे आणे मारगडे रे, आव्यां लखचोराशी वार,
मनखा देह भलोरे, जेणे पाम्या नंदकुमार। पंथडो० ९

सरोवर पुछ्युं रे, क्याइ नट नागर केरी भाल,
नरसैंयाचा स्वामि मल्यो रे, दीनोनाथ दयाल। पंथडो० १०

पद ५५ मु० प्रभात

कोण रस उलट्यो, तीर जमुना अठे,
वाजा वाजे बहु जुथे,
घाहे कठे धरी, गाय प्रेमे करी,
मेलवता नेणने, मान राचे। कोण० १

कोहोने को नव लहे, नाथने उर ग्रहे,
अधरामृत रस पान करता,
सरवने श्यामलो, सम्मुख शोभतो,
अलव शु अगना, रुदया धरता, कोण०। २

रमण रस माठयों वनमाहे ;
नरसैंयो नीरखतां, रंग रस मग्न थयो,
कृष्ण लीलाथया गुण गाए. कोण० । ३

पद ५६ मुं० रागमाल काळेरो गावी

माबेरे मामणडा लेवी आनंद सागर शामळियोरे ;
लटके पहने हुं लोमाणी, प्राणजीवन ए मानवीयोरे । १

मरकलडो करी सामुं जोयुं, मने मोह पमाडेरे.
अंगोअंगे आनंद वाघो, धम धम कहया मीडेरे । २

केम करी अळगो थाये, (एवी) मोहन मनमां पेठोरे ;
मणे नरसैंया अधर सद्धुधी लाग्यो हुं ने मीठोरे । ३

पद ५७ मुं राग आशावरी ।

माबेरे अमवी महारो वहालो, रङ्ग रेल रस वाधोरे
कंठे विलागी कहानजीने, अधर अमृतरस पीधोरे । १

मुख बसे भाव धरीने, अवळाशुं अंग आपीरे ;
संगम रसतां शामळी याने, सर्व सहि हुं साथीरे । २

कंद्रप कोट सरीखो पीयो, पीयांतो महानवीयोरे
मणे नरसैंयो प्रेम पूरवतां मळियामांहे मळीयारे । ३

पद ५८ मुं

मावे मळवा मनोरथ सीफ्यो, अंतर कंद्रप कोट सरीखो सुंदर.
मोही रही कृष्ण कृष्ण मुख वातो प्रगट परमेश्वर माव मेट करतां १

रीमवीया सेमडीये शामा वहालाने वश कीघो;
मणे नरसैंयो रजनी सघली, मोबनलो लाले हरी लीधो । २

पद ५९ मुं राग मालव

मुख पद्म मरती मरती मामनी करती अधर रस पान रे.
ताल दइ दइ मावे नाचे सन्मुख करती तान रे । १

पाल्यो काछ कसी कामनी मूरत सोहे नेपूरनी घुमी थाये रे।
घुघरडीने घमके गोरी गर्व मरी गोपी गामे रे । २

करशुं नेण नेण शुं सुंदर, रसे रमे सुंदर वरने शामा रे;
भणे नरसैंयो रस रंग भकुले, वहालो महाले वनमां रे। ३

पद ६० मु०

भोगवीए भामणडां लेइ, सेजडीये शामलियो रे;
मान तजीने उरपे लीजे, प्रेमे शुं पातलियो रे। १

अतर टालीने अनुभवीये, तो वहालो वश थाये रे,
सारी पेठे शणगार करीने, लीजीए ह्रदीया मांहे रे। २

सुदर वर शु सांइडुं देइने, एक थइने रहीये रे,
नरसैंयाचा स्वामी शुं रमता, वात रसाली कहीए रे। ३

पद ६१ मु० राग मल्हार

लीला मांहे टलवल्यो, कृष्ण कामिनीने सगे रे,
वृन्दावनमां मलपंतो, वाधो (ध्यो) महारस रंगे रे। १

मनमथे मान मूकावीउं, करी रमण रसाल रे,
नाचता नेह जड लागी रही, गाए गोपी गोवाल रे। २

प्रेमदा पीउने अंग मली, करे प्रेम रस पान रे,
वहाला ने वहालें रीझव्यो, मूकी मन थकी मान रे। ३

करशु ' करग्रही कामनी, करे कृष्ण शु वात रे,
आनद अगे उलस्यो, रमे नवी नवी भातरे। ४

जय जय शब्द सुरीनर करे, वरसे कुसुम अपार रे,
नरसैंयो सुख लहेर माहे, ज्या करे कृष्ण विहार रे। ५

पद ६२ मुं०

लडसडती लहेका करे रे, मोरलीए मन हरती रे;
नयणे नीर वहे नेह जणावे, चंचल नयणे जोती रे। १

सुदरी सदा सुकोमल दीसे, मेदनी धमकती चाले रे,
डगले डगले देही नमावे, कामी जनने साले रे। २

मारगडे मरकलडो करती, सेज सझुणी भावे रे,
नरसैंयाचा स्वामीने मलवा, हसती संगम भावे रे । १

पद ६१ मु

लटलटकीने लटके चाले मुख मधुरं मधुरं बोले रे, -
अनेक सुंदरी सुंदरी दीसे, पण नहीं कोय एहने तोले रे । १

सकल शणगार कीधा मन गमता नाके बेसर सोहे रे,
नाना भाव धरीने जोये मुनीजनना मन मोहे रे । २

भ्रांभर भ्रमके ने हार हुलावे, काने भ्राल भलुके रे,
नरसैंयाना स्वामीने वहाली, ते क्षण अलगी न मुंके रे । ३

पद ६४ मु

साहेलडीने सान करीने वहालो वृन्दावन चाल्यो रे,
मूगधा चूगर्ड जोवी दीपेने वाहले हार है पाली चाल्यो रे । १

रास मंडल रच्यो राधावर पीतांवर पलवट वाली रे,
मन मन कामनी हरया मीडे, मध्य रह्यो वनमाली रे । २

गोपी मांहे गोप वपू भावे, केशव कोयथे न कलाणो रे,
भ्रूकी घरा प्रहारे अतिकंपी, मोमी मार मराणो रे । ३

अति आनंदे भ्रलट आपदा, मांहे मदननो चालो रे,
नरसैंयाचो स्वामी मले मल्यो, प अपवाद थी टालो रे । ४

पद ६५ मु राग धनाश्री

वरवन देव वघामीनु, मारो वहालोजी मलशे आज
करशु ते वलहामी वातडी हसी हसी लोपशु लाज । १

मधको ते मांडीने हिंडशु, वहो माहरो मारा नाथ,
नाके नकवेसर शोभशे भलके एशु हाथ । २

मोती पटोली पहेरण मांहे नाना विधनी भात,
ब्रह्मादिकने स्वप्न दुर्लभ, तं शु रमशु ते सघली रात । ३

सांइडां ते लेशुं हसी हसी ने, करशुं ते रंग विलास,
नरसैंयाचो स्वामी मले, पहोती ते मनडानी आश। ४

पद ६६ मु० राग आशावरी

भजशुं रे अमे भाव धरीने, सेजडीए शामलीयो रे,
अम हृदया सरसो भीडी राखु, प्रेमधरी पातलीयो रे। १

सैयर सघली देखतां हुं, सफराणी थाउं रे,
महारा रे मोहन शुं रमवा, रमझम करती जाउं रे। २

महारो वहालो छे अति रसीयो, मोहन मीटडी मांहेरे,
भणे नरसैंयो अतस न लावे, जम वासलडी वाहेरे। ३

पद ६७ मु०

भजती रे भामनी वाहले, वाहलो वाहले भजतो रे,
एक एक ने आलिंगन आपी, शामा माहे शोहंतो रे। १

कृष्ण कामनी क्रीडां करतां, उलट अंगे न माये रे;
प्रगटी प्रीत परस्पर जल माहे, मोही रही मन मांहे रे। २

तृप्त न पामे हरी शुं रमता, मुखडु निहाली निहाली रे,
नरसैंयाचो स्वामी आनंदो, आनंदी अबला वाली रे। ३

पद ६८ मु० राग सामेरी

थैइ थैइकार करेछे कामा, वृंदावन मोझार रे,
ताल मृदंग वेणा वंस वाजे, नेपुरनो झमकार रे। थैइ० १

मधुरुं गान करंती गोपी, गोविंदजीने सगे रे,
भुज उपर भुज धरी परस्पर, नृत्य करे अति रगे रे। थैइ० २

आनंद सागर लहेरी झकोले, मगन थई सहु नारी रे,
नरसैंयाचा स्वामी सग रमता, देहदशा विसारी रे। थैइ० ३

पद ६९ मु० राग मालव

दिवटीओरे दिवटीओ नरसैंयो हरिनो दिवटी ओ
पूर्ण प्रीत धरी मन मांहे, ता रसना ए रस भरीओ । नरसैंयो० १

जुवती जूथ जोवन रंगराती मंडलमां महालती रे,
एक नाचे एक तान मेळावे, मधुरुं मधुरुं गाती रे । नरसैंयो० २

मन्मथनुं भोगवतां भामनी, करे नेणना चाळा रे
नरसैंयाम्नुं पुरुषपणुं रे, आव्युं गयुं तेणी वेळा रे । नरसैंओ० ३

पद ७ मु

दीठडो नाथ में तो चाईरे रासमां रमीया मांहेरे
पयो भमरडु कुड करीने वाला वृदावन मांहेरे । १

रमतां रमतां महारस वाघ्यो, कीधुं अंतर ध्यान रे
व्याकुल थइ अमे कांइ नव सुझे, रही नही सुद्ध बुद्ध शान रे । २

अनेक उपाय करीकरी थाकां नाथ न दीठो नयणे रे
अमे अबला थइ कांइ नव चाले काहन काहन कहुं वयणे रे । ३

पूरण प्रीत धरी मनमांहे, आव्या अंतरयामी रे,
नरसैंयाना स्वामी रस पूरण, जुवती प्राणने पामी रे । ४

पद ७१ मु

घूंघटडो गोरीनो, सोहे संगम रमती रे,
महाशान वश करवा कारण शामा साम करंती रे । १

शामळीया शु स्नेह धरंती, ते शामा करे शृंगार रे,
कसमसती कांसळडी उपर, लटके नवरस हार रे । २

नीलांबर पहेयु मनगमतुं, सकल कीधा शृंगार रे,
नरसैंयाओ स्वामी भले मळीयो रासे कीधो विहार रे । ३

पद ७२ मु

थेइ थेइ करे, अगणित अंगना, गोपी गोपी मध्येशोहे काहान,
झांझर नेपुर कटीतटी कींकणी ताल मृदंग रस एक तान । थेइ० १

नाचता नाचतां छेल छंदे भर्यो, सप्त स्वर धुनते गगन चाली,
लटकेलटका करे, नाथने उरधरे, परस्पर बाहोडी कंठवाली। थेइ० २

प्रगट भावे भजे, पुरण पुरुषोत्तम, जेहनुं महामुनि धरता ध्यान,
भणे नरसैंया विहाररस विस्तर्यो, गोविंद गोपीमलीकरतांगान। थे० ३

पद ७३ मुं०

आनंद भरी आलिंगन लेती शामली यो ते सरवस गोपी,
रेणी रंगभर रमता, शामलीया रंगराती। १

प्रेम धरी प्राणजीवन ने, वालि वालि उर पर लेती,
आनंद उलटो अग न भायो, जम जम वहालो सामुजोवे,
भणे नरसैंयो सुखनी सीमा, माननीनुं मन मोहे। २

पद ७४ मुं०

दीपकडो लइश मा रे चांदलिया, स्थिर थै रहेजे आज,
वाहलोजी विलस्यो हु साथे, लोपी सघली लाज। १

सोंप्युं अग शामलिया साथे, करवा केलि विलास,
रखे ज्योत तु झाखी करतो, पीउडे माज्यु हास। २

अनेक उपाय करी करी वाहलो, आणो मंदिर माहे,
नरसैंयाचो स्वामी कहु तुजने, रखे क्षणु अलगो तु थाये। ३

पद ७५ मुं०

वृन्दावन मांहे विलसे वीनता, मधुरु मधुरु गाय रे;
कठ परस्पर बांहोलडीने, श्यामा सम सोहाय रे। वृन्दा० १

अधर अमृत रस पान करी ने वहाले भीडी अगे रे
आलिघन चुम्बन परिरंभन, वाध्यो रतिरस रगे रे। वृन्दा० २

छेल पणे छे, छोछ न भाले, मुख मरकलडो करती रे,
भोली भामनी कांइ न समझे, मोहन सगे रमती रे। वृन्दा० ३

चपलपणु चतुरानु देखी, रह्यो नाथ निहाली रे,
भणे नरसैंयो सुख सागरमां, झीले अबला बाली रे। ४

पद ७६ मुं

वृन्दावनमां रमत मांडी, गोपी गोविंद साथे रे
हास्य विनोद परस्पर करतां, ताली देछे हाथे रे । १

पीतांबर पटोली पेहरी, कंठे एकावल हार रे,
वींछीयाने टमका वाले झांझरना झमकार रे । २

सोल सहस्र गोपी ने माधव एक एक वीचमां नाचे रे,
अमर नारिय देख्यां उभा, चरण रेणने जाचे रे । ३

नाना भात पटोली पेहरी घोली सुंदर दीसे रे,
मोहन मस्तक मुगट बीराजे, जोइ जोइ ने मनडां हीसे रे । ४

शीरपर सोहे राखलडी रे, काने कुंडल झलके रे,
खेल रच्यो राधावर रमता मुनि जननां मन ढलके रे । ५

धन धन कृष्ण लीला जयवर्यो पुष्प वृष्टि त्यां थाय रे,
ईश कृपाथी जमोनरसैंयो लेमा दीवेटीओ पसाय रे । ६

पद ७७ मुं राग मालव

वृन्दावनमां रच्यो रे मंडलो नाचे गोपीने गोवाल,
ताल पखाज रबाब वांसली, तान मेलावे नंदनोलाल । १

सुंदर रात शरद पुनमनी सुंदर उदियो नभ में चंद,
सुंदर गोपी कंचन माला, वच्चे मरकत मणि गोविंद । २

झलके कुंडल राखडीओ रे ललके उर मोती माला
रमझम रमझम नेपुर वाजे, मरकलडां करती बाला । ३

हरख्या त्यां सुरी नर मुनीजन पुष्प वधावे भरी पसारियो,
जय जयदेव जशोदानंदन नरसैंयो त्यां दीवटीयो । ४

पद ७८ मुं

वृंदावन मांहे रमत मांडी गोपी गोविंद साथे रे,
पीतांबरनी पछवट वाली शामा साही हाथे रे । वृं० १

झांझर झमके ने घुघरी घमके, नेपुरनो झमकार रे,
एक एक गोपी वीच वीच माधव, आनंद वाध्यो अपार रे । वृं० २

मोहन मुस्तक मुगट वीराजे, ते जोतां मन मोहे रे,
गोरी शीर राखलडी झलके, काने कुडल सोहे रे । वृं० ३

खेल मच्यो राधावर रुडो, उलट अगे न माय रे,
धन धन कृष्णलीला रस प्रगट्यो, पुष्प वृष्टि त्यां थायरे । वृं० ४

अमर आशीश दे उपरथी, चरण रेणने जाचे रे,
नाना भात विलास जो ईने, मन माहे अति राचे रे । वृं० ५

सुरिनर मुनि मन मांहे विचारे, पार न पाये कोय रे;
उमीया इश कृपा थी उभो, नरसैंयो रंग जोय रे । वृ० ६

पद ७६ मु० राग मालव

वृन्दावनमा माननी मोहन, रंगभर रसमा रमता रे;
कठे परस्पर वाहुलडी घाली, अधर सुधारस पीतां रे । १

शामलियाने सन्मुख शामा, थेइ थेइ गान ओचरता रे,
वाजां वाजे नादे नाचे, गमता गान करंता रे २

काने कुडल मुगट महामणि, शोभा कही न आवे रे,
भणे नरसैंयो आनंधो हरि, भामनी माहे भावे रे । ३

पद ८० मु०

वाणी वले वोले वलवंत वाली, रस माहे रढीयाली रे,
शामलीयाना रंग माहे राती, कंठे वाहुलडी घाली रे । १

जोवन मातीज मलता जुवती, जीवनने अनुभवती रे,
सुदरवरनु वदन सुकोमल, चहान पामे जोती रे । २

शामलीयो ने शामा सगे, झीलता नव नंदाय रे,
नरसैंयाचो स्वामी भोगवे त्या, फूल्या अगे न माय रे । ३

पद ८१ मु०

वाटडी जोड नाथ नाहली, संगम रमवा माटे जात में वाली रे, व०
पहेलु अमशु प्रीतकरीने, तोशु मेलो विसारी रे । व०
मननी वात ते कोने कहीए, अमने वेदना भारी रे । व०
आगे अमने वपैडो सारे, अमे अवला केम रहीए । व०
नरसैंयाचो स्वामी विना वाई रे, धीरज केटलुं धरीए रे । व०

पद ८२ मु• राग सोमेरी

वाजे वाजे नेपुरियोनीं, मझको रे वाजे,
मदमाति नार न लाजे, पने सकल शणगार छाजे,
एने मदन महा मद गाजे, नेपुरियानो रमको ने झमकोरे। वाजे०

कोण सोहागण सांवरी रे आवी वेळा अर्धरात रे
नेपुरियाने रमके ने झमके, घायली मदन संगातेरे। नेपु० १

पूरण पुन्या ते लाडली सणा रे, जे सेजे सुंदरवर पामी रे,
अनंगवर्णु अभिमान वतायुं, सो नरसैंयानो स्वामी रे। नेपु० २

पद ८३ मु•—राग केदारो

वागी वन वांसळी, मावे अमर घरी प्रगटीया नारनो नेह आवी,
अबळा आनंदवधु अंग फुली रही, धनधन नाम एम बदत वाणी। वागी० १

व्योम शशी सगनमां बींटयो चांदणी स्यमाहरि बींटायो सकल गोपी,
वालीवली वारखे,श्याम मुखथी, मन धनमन बन लाज रहा लोपी। वागी० २

कानवाली सुभग कृष्ण को वामणो, सजमया सवल ते संग श्याम,
नरसैंयानाथे सनाम करी सुंदरी,मलीमली विलसती कृष्ण कामा। वागी० ३

पद ८४ मु

वहालोजी आलिंगन सरखो नयण भरी भरी निरखो
जोई जोई मन हरखो वालोजी० १

सकल विध रिझवीं वाइंरे, मूल उपरे मूल मुकीर्द वाला,
ए ए विषमा अमे कोइ नव जाणुं कहो सखी अमृत कोण पीउछा, वाला० २

जहां जोनुं तहां स्नेह समजाशां, अमने अलगो मेलो
नरसैंयाना स्वामीजारो योवना, अणतेड्यो आवे वहालो, वालोजी० ३

पद ८५ मु

वहाल धरीने वहाला लावे, रंगमां रमती रेखीरे,
प्रेम धरीने पातलियाशुं बोले अमृत वेणीरे। १

ताल पखाज ने वाजां विधविध जाजे अंबर गाजेरे,
शामलिया ने शामा नाचे, वांसलडी मधुरी वाजेरे। २

एक एकने आलिंगन आपे, वाहले भुजवले भीडीरे,
भणे नरसैंयो धन ए लीला, धन ए जुवती जोडीरे । ३

पद ८६ मु० राग मलहार

वृंदावनमा माननी, मध्ये मोहन राजे,
कठे परस्पर वाहडी, धून नेपूर वाजे । १

एक एक आगें आलोपती, एक नाचती रगे,
एक मधुरे स्वर गाईने, ताली ताल तुरगे । २

एक आलिंगन लई उरधरी, भीडे भामनी भावे,
श्रमजल वदने झलकता, शामा शाम सोहावे । ३

मरकलडा करी कृष्णने, भला भाव जणावे,
थै थै थै करे वलियो, ऊरना हार हुलावे । ४

काला कृष्ण त्यां संचर्या, नाद निर्घोष थाये,
मडप माहे मलपता, वाहलो वासली वाहे । ५

हार कुसुमना अतिघणा, कठ आरोपे हार नार,
चूआ चंदन चरचीआ, वाध्यो प्रेम रसाल । ६

ताली देतां तारुणी, झांझरनो झमकार,
करी रह्यो किंकणी रणझणे, घुघरी घमकार । ७

धनरे धन ए सुदरी, धन शामलवान,
नरसैंयो त्या दीवी धरी रह्यो, करे हरिनु गान । ८

पद ८७ मु० राग सामेरी

वृदावनमा नाचे नरहरि, राधाशु परवरीओरे,
पीतावरनी काछनी काछे, मोर मुगट शिरधरीओरे । वृं० १

पीतावरनी पटोली पहेरी, कंठे मोतीनो हाररे,
कटी मेखला सोहे सहुने, घुघरीनो घमकाररे । वृं० २

झाझर नेपूर खलके कांबी, कठे परस्पर हाथरे,
वारवार मुख चुम्बन दीसे, आलिंगे गोपीनाथरे । वृं० ३

ताल परवाज वेणा रस महुवर, विधविध वाजां वाजेरे,
थै थैकार करे त्या उभा, नादे अबर गाजेरे । वृं० ४

प्रेम धरीने पालव धार्यो, हरिशुं हास्य करंतीरे,
नखशट टीलीने नयन समार्यो, माल अनोपम मातीरे। धृ० ५

नार नीर्वोप उलट अति वाध्यो पुष्प वृष्टि त्यां थायेरे,
लोट पोट त्यां थयो नरसैंयो, शंभुजी तेरो पसायरे। धृ० ६

पद ८८ मुं

वदन सोहामणां, शामशामा वर्गां रास रमत रमे वन माहे।
नाभ बाथे भरे, अधर चुंबन करे, प्रगटीयुं प्रेम सुख कह्यु न आये। वदन० १

चरणने प्रहारे धरणी प्रम भमी रही, घुघराना घमकारा थाये।
तथा थेइ थेइ करे, ताल करणी धरे, मदन भरी मानतीगीत गाये। वदन० २

अमथल विंदु ने, सुभग अंबर शीर, कंचुकी बंध ते शीथल सोहे।
भयो नरसैंयो, रंग रस उलट्यो, ऊपर कुसुमनी वृष्टि होय। वदन० ३

पद ८९ मुं

आज अमुलखडुं परम सोहामणुं रंग भर्यो नाथ रंग रास रमतो।
कंठ बांहे धरी स्वर करे सुंदरी मध रख्यो मोहन गान करतो। आ० १

कटी पकरी करी मनख भमरी करे, करतले कामनी मही रे काहनो।
वाजे रासी मगट, शीर, शोभती लटक चालवा नेपुर कलां (?) रमत
थाने। आ० २

मदभरी माननी, लीलसती कामनी सुखभरी नाथ ने बाथ भरतां।
वदन निरखी रह्यां प्रेमे आतुरस्यां अधर अमृत रस पान करतां। आ० ३

सबल शामा संग शोभतो शामळो कुमकुम रात्रीयो बांहे मीडी।
नरसैंयो नाथ रस रेलमां, झीलतो, अतिघणी शोभती जुगल जोडी।
आज० ४

पद ९१ मुं

आज वृंदावन आनंद सागर, शामळीयो रंग रास रमे।
नटवर वेशे वेण बजावे, गोपीने मन गोवालो गमे। आज० १

एक एक गोपी साथे माधव कर ग्रही मंडळी माहे भमे
ताता थे थाये तान मिलाव राग रागणी मांहे घूमे। आज० २

सोल कलानो शशीएर, उडगण सहित ब्रह्माड भमे,
धीर समीरे जमना तीरे, त्रिविध तनना ताप समे। ३

हरख्या सुरनर देव मुनीश्वर, पुष्प वृष्टि करी चरणे नमे,
भणे नरसैंयो धन्य वृजनारी, एने काजे गोपी देह दमे। आज० ४

पद ६२ मु ०

आज वहाले सुरतसमे प्रीत मांडी, क्षणुए न थाये अलगो छांडी रे स०
धन धन आजनी रजनी बाइ रे, रमता न जाणी जाती रे,
प्रेम धरीने कठे विलस्यो, उर उपर लीधी ताणी रे। स०
विविधे विलास कीधो माहरे वाहले, अमृतनी परे पीधी रे,
नरसैंयाच्या स्वामीशु रमता, मगनमती वात की धीरे। स० आ०

पद ६३ मु ० राव माल कालेरो गोडी

आज सोहागण कीधी माहरे वाहले, महारा उरपर धरता रे,
शु करशे नणदी नसकारी, दुरीजन हींडे लवता रे। १
शोभंता शणगार करीने, चोली उपर चलकती रे,
प्रेम धरीने पियुजी अगे, भुजबल भीडी मलती रे। २
रीझवीओ सुदरवर महारो, रमी रेणी रसमा रग रे,
भणे नरसैंया प्रीत बधाणी, शामलिया ने सगे रे।

पद ६४ मु ० राग मालव

मंडलमा माहलतो वाहलो, नाचे नारी सगे रे,
तेम तेम वाजा वादे वाजे, वेण वगाडे उमगे रे। १
एक आलापे एक दे ताली, एक लइ ताल वजाडे रे,
एक मरकलडा करी कामनी, भजता भाव देखाडे रे। २
जूवती जूथज मल्यो सोहे, लीलाए तरवरीओ रे,
भणे नरसैंयो धन धन वनमा, प्रेमदा शु परवरीओ रे।

पद ६५ मु ० राग धनाश्री

प्रेमदा प्रेम भराणी रे, पीउने विलशे वाहल सगे रे,
वाहले वाहलो अवियो, भीडो अगो अगे रे। १
दर्पण कर कामनि ने, सारे, कटे विलागी कहान रे,
प्रेमे शु शामलिया ने, खवरावे खाते पान रे। २

थाली थाली करे थारणा पद्दाली कंठे हार रे,
नेखे नेणां रस भर्यां, हैये हर्ख थपार रे। १

घरशु घर भीडी रही सेजडीए वाम्यां रंग रे;
नरसैंयाचा स्वामी सु रमता, फुली अंगा अंग रे।

पद ६६ मु राग आरगबो

पोकरा बहने साहे पगलाने खोले रे
व्रजबाली रावे गोपी, जेम बहाके बोले रे। पो० १

प्रेहनी विभाणी गोपी, मली टोले टोले रे;
कृष्णाहुं कृष्णाहुं, कृष्णाहुं तन्मय थै बोले रे। पो० २

कोइ तमी वांसली वाखे गाई गाई डोले रे,
को कहे मैं काली नाग नाथ्या पर्वत न सांस रे। पो० ३

कोइ तो दान मिपेथी, महीनां मार डोले रे,
प्रेम प्रेम मग्न थइ रंग रस रोले रे। पो० ४

कृष्ण तो छलीने बेठो, हृदयाने खोले रे;
प्रगट्यो नरसैंयानो नाम, रीझी माथ भोले रे। पो० ५

पद ६७ मुं राग मालव

प्रेमे प्रेमदा पीउनी संगे हरखे हास्य करती रे,
मरकलडो देखीने मोती, हरखे घर घर भरती रे। १

कृष्ण कामनी जेम खेम नाचे वाजा वाजे भारी रे
त्रिभुवन मां भुली थांथली, गांधर्वनी गति हारी रे। २

जय जय सुरी नर मुनीजन बोले, सुध वीनता अंग भूली रे;
कृष्ण कृपायी नरसैंयो त्यां लीला मां रह्यो झूली रे। ३

पद ६८ मुं

पर्ड रे जोई तो पीउजी, पंथ आडो थाये रे
मन थणु करी राखीये माहरां नयणा आये रे १

सुंदर वदन दीठ्य पछी कोथे न रहवाय रे
शोभा शाम घरगमां नयणां गोता खाये रे। २

नयणा चूतां पाछा वल्या, घुंघट न सोहाये रे,
नरसैयो लहेर समुद्रमा, नर कोइक नाहे रे । ३

पद ९९ मु०

मान करे पातलीया साथे, आनद अगे वाधो रे,
केलकरे कामानिश्रो कोके, शामलियो वश कीधो रे ।
मन गमतो माणे मोहनने, आव्या जुमना तीर रे,
वाली वाली करे वारणा, उपर शाम शरीर रे । २
सकल शणगार करीने, अगे, पहेर्या नौतम चीर रे,
भणे नरसैयो मदगल मातो, वलभद्र केरो वीर रे । ३

पद १०० मु०

मारो वहालोजी वगाडे रुडी वासलडी, कहोजी केम रहीये,
हु तो भूली पडी वनमाह, एकलडा केम रहीये । मारो० १
मने घरमा घडी न सोहाय ढुढुं सारी कुज गली,
मने मल्योरे नरसैंयानो नाथ, रमाडया रासवली । मारो० २

पद १०१ मु०

प्राणनो प्राण ते, आज मुजने मल्यो, तेणे करी मारे रुदे वर्ष वाधे,
पीयुतणी सेजते, कुसुम सुत्रे रचि, नवी नवी भातनो संग साधे० १
नेणे अजनकरी, नरसैंया श्रीहरि, प्रेमेशुं आवीने सांइ लीधु,
अधुर चुबन करी, कुच पर करधरी, स्नेहसु शामले गुह्य कीधु० २
धन धन आजनी, रातडी कृष्णजी, साथे रमी गोपी लाज राखी;
नरसैंयाच्या स्वामी, धनाए वश आणियो, शुकरे सासुडी अधिक कोपी ३

पद १०२ जु०

प्राणजीवन महारे हुंयामां, ढोल ददामा वाहुरे,
मदिर महारे मोहन हालंतो, देखी भामणे जाउंरे । प्राण० १
सइयर सघली आवो मदिर, नदकुवरने हालोरे,
घणा दिवसनी आरत हुती, अगे तमारे टालोरे । प्राण० २

प्रेम धरीने पासव वाये, हरिशुं हास्य करंतीरे,
नखवट टीलीने नयन समार्यां, नाके अनोपम मातीरे । पू० १

नार नीर्चोप क्षट अति वाध्यो, पुष्प वृष्टि त्यां मायेरे,
लोट पोट त्या थयो नरसैंयो, शंभुनी वेयो वसायरे । पू० ६

पद ८८ मु

वदन सोहामणो, शामशामा वण्यां रास रमत रसे वन मांहे,
नाय वाथे भरे, अधर चुंबन करे, मगटीयुं प्रेम सुख कह्यु न जाये । वदन० १

चरणने प्रहारे धरणी भ्रम भ्रमी रही, घुघराना धमकारा थाय,
तता थेइ थेइ करे ताल तरुणी धरे, मदन भरी माननीगीत गाये । वदन० २

भ्रमजल बिंदु ने सुभग अंबर शीर, कंचुकी बंध ते शीथल सोहे,
थयो नरसैंयो रंग रस लक्ष्यो, ऊपर कुसुमनी वृष्टि होय । वदन० ३

पद ८९ मु

आज अजुआलुं, परम सोहामणुं, रंग मयों नाथ रंग रास रमतो,
कंठ बांहे धरी स्वर करे सुंदरी मघ रह्यो मोहन गान करतो । आ० १

कटी पकरी करी प्रबल भमरी करे, कलकले कामनी मही रे कानने,
वाये शशी मगद, शीर, शोभती खटक वाजतां नेपुर कर्णां (?) रम्य
वाने । आ० २

मदभरी माननी, चीलसती कामनी सुखभरी नाथ ने बाथ भरतो ।
वदन निरखी रह्यां प्रेमे आतुरथ्यां, अधर अमृत रस पान करतो । आ० ३

सबल शामा संग शोभतो शामलो, कुंजबन रासीयो मांहे मीडी,
नरसैंयो नाथ रस रेलमां भीलसतो, अतिघणी शोभती जुगल जोडी ।
आज० ४

पद ९० मुं

आज वृंदावन आनंद सागर शामलीयो रंग रास रमे,
नटवर वेशे वेण बजावे गोपीने मन गोवालो गमे । आज० १

एक एक गोपी साथे माधव कर ग्रही मंडली माहे भमे,
ताता थे थाये तान मिलावे, युग रागणी मांहे घूमे । आज० २

सोल कलानो शशीएर, उडगण सहित ब्रह्मांड भमे,
धीर समीरे जमना तीरे, त्रिविध तनना ताप समे। ३

हरख्या सुरनर देव मुनीश्वर, पुष्प वृष्टि करी चरणे नमे,
भणे नरसैंयो धन्य वृजनारी, एने काजे गोपी देह दमे। आज० ४

पद ६२ मु०

आज वहाले सुरतसमे प्रीत मांडी, क्षणुंए न थाये अलगो छांडी रे स०
धन धन आजनी रजनी बाइ रे, रमतां न जाणी जाती रे,
प्रेम धरीने कठे विलस्यो, उर उपर लीधी ताणी रे। स०
विविधे विलास कीधो माहरे वाहले, अमृतनी परे पीधी रे,
नरसैंयाच्या स्वामीशु रमता, मगनमती वात की धीरे। स० आ०

पद ६३ मु० राव माल कालेरो गोडी

आज सोहागण कीधी माहरे वाहले, महारा उरपर धरता रे,
शुं करशे नणदी नसकारी, दुरीजन हींडे लवता रे। १
शोभंता शणगार करीने, चोली उपर चलकती रे,
प्रेम धरीने पियुजी अगे, भुजबल भीडी मलती रे। २
रीझवीओ सुदरवर महारो, रमी रेणी रसमा रंग रे,
भणे नरसैंया प्रीत बधाणी, शामलिया ने सगे रे।

पद ६४ मु० राग मालव

मंडलमा माहलतो वाहलो, नाचे नारी सगे रे,
तेम तेम वाजा वादे वाजे, वेण वगाडे उमगे रे। १
एक आलापे एक दे ताली, एक लइ ताल वजाडे रे,
एक मरकलडा करी कामनी, भजता भाव देखाडे रे। २
जूवती जूथज मल्यो सोहे, लीलाए तरवरीओ रे,
भणे नरसैंयो धन धन वनमा, प्रेमदा शु परवरीओ रे।

पद ६५ मु० राग धनाश्री

प्रेमदा प्रेम भराणी रे, पीउने विलशे वाहल संगे रे,
वाहले वाहलो अवियो, भीडो अगो अगे रे। १
दर्पण कर कामनि ने, सारे, कटे विलागी कहान रे,
प्रेमे शु शामलिया ने, खवरावे खाते पान रे। २

पद ८२ मु० राग सामेरी

बाजे बाजे नपुरियांनीं, झमको रे बाजे,
मदमाति मार न लाजे, एने सकल शणगार छाजे,
एने मदन महा मद गाजे, नेपुरियानो रमका ने झमकोरे। बाजे०

कोण सोहागण साचरी रे, आवी वेळा अर्धरात रे
नपुरियांने रमके ने झमके, चालती मदन संगाथेरे। नेपु० १

पूरण पुन्या वे वारुणी वणा रे, जे सेजे सुंदरवर पामी रे,
अनंगवर्णुं अभिमान वतायुं, सो नरसैंयानो स्वामी रे। नेपु० २

पद ८३ मु –राग केदारो

वागी वन वासळी, नाचे अमर भरी प्रगटीया नारनो नेह जाग्यो,
अबळा आनंदव्युं अंग फुली रही, धनधन नाथ एम वदत वाग्यो। वागी० १

प्रेम रासी सगनमां वींट्यो चाद्रणी स्यमहरि वींटायो सकल गोपी,
वळीवळी वारणे,नाथ जुवती, जन तनमन धन साहु रह्या सोंपी। वागी २

काछवाळी सुभग कृष्ण को कामणो, सजभया सबळ ते संग श्याम,
नरसैंनाथे सनाथ करी सुंदरी मळीमळी विलसती कृष्ण कामा। वागी० ३

पद ८४ मु०

वहालोजी आलिंगन करजो, नयण भरी भरी निरखो,
जोई जोई मन हरखो वालोजी १

सकल विश्व रिझवंतो वाईरे मूख उपरे मूख मुकीने वाला,
ए ए विपया ममे कोइ नव माएणुं, कहो सखी अमृत कोणे पीउंबा, वालो० २

ज्यां जीतुं त्यां स्नेह समजाशो, अमने अलगो मेलो
नरसैंयाना स्वामीजाशो योवना अयातेव्या आवे वहालो, वालोजी० ३

पद ८५ मु

वहाल करीने वहाला साथे रंगमां रमती रेवीरे,
प्रेम करीने पाणझिमारुं बोले अमृत वेणीरे। १

ताल पखाज न वाजो विधविध वाजे भंवर गाजरे,
शामळिया ने रामा नाचे बोलत्ती मधुरी वाजेरे। २

एक एकने आलिंगन आपे, वाहले भुजवले भीडीरे,
भणे नरसैंयो धन ए लीला, धन ए जुवती जोडीरे । ३

पद ८६ मु० राग मलहार

वृंदावनमां माननी, मध्ये मोहन राजे,
कंठे परस्पर वाहडी, धून नेपूर वाजे । १

एक एक आगें आलोपती, एक नाचती रंगे,
एक मधुरे स्वर गाईने, तालीं ताल तुरंगे । २

एक आलिंगन लई उरधरी, भीडे भामनी भावे,
श्रमजल वदने झलकता, शामा शाम सोहावे । ३

मरकलडा करी कृष्णने, भला भाव जणावे,
थै थै थै करे वलियो, ऊरना हार हुलावे । ४

काला कृष्ण त्यां संचर्यां, नाद निर्घोष थाये,
मंडप माहे मलपता, वाहलो वासली वाहे । ५

हार कुसुमना अतिघणा, कंठ आरोपे हार नार,
चूआ चंदन चरचीआ, वाध्यो प्रेम रसाल । ६

ताली देतां तारुणी, झाम्झरनो झमकार,
करी रह्यो किंकणी रणझणे, घुघरी घमकार । ७

धनरे धन ए सुंदरी, धन शामलवान,
नरसैंयो त्यां दीवी धरी रह्यो, करे हरिनु गान । ८

पद ८७ मु० गग सामेरी

वृंदावनमा नाचे नरहरि, राधाशु परवरीओरे,
पीतांबरनी काछनी काछे, मोर मुगट शिरधरीओरे । वृं० १

पीतांबरनी पटोली पहेरी, कंठे मोतीनो हाररे,
कटी मेखला सोहे सहुने, घुघरीनो घमकाररे । वृं० २

झाम्झर नेपूर खलके कावी, कंठे परस्पर हाथरे,
वारवार मुख चुम्बन दीसे, आलिंगे गोपीनाथरे । वृं० ३

ताल परवाज वेणा रस महुवर, विधविध वाजा वाजेरे,
थै थैकार करे त्यां उभा, नादे अंबर गाजेरे । वृं० ४

पद ८२ मु • राग कामेरी

वाजे वाजे नेपुरियानों, झमको रे वाजे,
मदमाति नार न लाजे, पने सकल शणगार छाजे,
पने मदन महा मद गाजे, नेपुरियानो रमको ने झमकोरे। वाजे•

कोण सोहागण सांवरी रे आवी वेला अर्धरात रे
नपुरियांने रमके ने झमके, पालवी मदन संगातरे। नेपु० १

पूरण पुन्या ते नारुणी तथा रे, जे सेजे सुंदरवर पामी रे,
मर्तगतणुं अभिमान टलायुं, सो नरसैंयानो स्वामी रे। नेपु० २

पद ८३ मु —राग केदारा

वागी वन वासली, माथे अधर धरी प्रगटीआ मारनो नेह आणी,
अबला आनंदहा अंग फुली रही, धनधन नाथ एम वदत वाणी। वागी० १

व्योम शशी मगनमां थींच्यो चांदणी स्यमहरि वींटायो सकल गोपी,
वलीवली वारणे,जाय जुवती जन तन्मन धन साथु रखा सोंपी। वागी २

कालवाली सुभग कृष्ण को कामणो, सजयया सबल ते संग श्याम
नरसैंयानाथे सनाथ करी सुंदरी मलीमली बिलसती कृष्ण कामा। वागी० ३

पद ८४ मु

वहालोजी आलिंगन सरखो, नयण भरी भरी निरखो,
सांई जोई मन हरखो वालोजी० १

सकल विश्व शिखांतां वाईरे, मूल उपरे मूल मुकीयें लाला
प म विषया अमे कांइ नव जाणुं, कहो सखी अमूल कोयो पीउला, वाला० २

ज्यां सीतुं त्यां स्नेह समधारो, अमने अलगो मेलो
नरसैंयाना स्वामीजारो योवना, अणतेड्यो आवे वहालो वालोजी० ३

पद ८५ मु

वहाल धरीने वहाला साथे रंगमां रमती रेयांरे,
प्रेम भरीने पातलियाशुं, बोले अमृत वेयांरे। १

ताल पखाज ने वाजां विधविध, आगे भ्रमर गाजरे,
शामलियो ने शामा साथे, वांसलडी मधुरी वाजरे। २

शीखे गाय ने सामले रे, हरि राधानो रास,
ते नर वैकुंठ पामशे, एम कहे नरसैंयो दास । वहाला अमने० ६

पद १०५ मु

अधर अमृत रस चाखुं रदया भीतर भीडीने राखुं रे, टेक ।
अग अनंग व्याप्यो रे सजनी, पीउ विना कोण समावे,
अलज थई हुं पीउ मुख जोवा, प्रेम धरी घरं आवे रे । रदया० १

अबलानी आरत जाणी महा रे वहाले, हसता हसता आव्या,
नरसैयाचा स्वामी मन मनाव्युं, भामनीने मन भाव्या रे । रदया० २

पद १०६ ठ्ठु

ओ वाजे वृंदावन मोरली, गोविंद गोपी रास रमे,
केशव श्याम गौर वरण गोपी, भली अनोपम भात भजे । ओ वाजे० १
अजवाली रात झघारे जाए, नवरस नाटक नाथ रच्यो,
थेई थेईकार करे रसे गोपी, रगतणो त्या अखाडो मच्यो । ओ वाजे० २
शणगटडे द्वे फुमत फरके वली नयण कटाक्ष कर खध धरी,
ताली दई दई हसे हसावे, नाचे नचावे रङ्ग भरी । ओ वाजे० ३
श्रमजलकण मुख अंग अलसण, अतिरस सार विनोदक्ष्यो,
शीतल जल लईने आरोग्या चरण तलासे नरसैं यो । ओ वाजे० ४

पद १०७ मु

अग नमावे आनंद वाध्यो, बोले जयजयकार रे,
प्रेमे भराणी पालव ताणे, पामी प्राण आधार रे । अग० १
सुदरवर शामलीया साथे, तारुणी देती ताली रे,
अलवेशु आलिंगन आपी, वश कीधा वनमाली रे । अंग० २
रमता रमता महारस वाध्यो, प्रेमदा छाटे पाणी रे,
नरसैंयाचो स्वामी रीझव्यो, बोली मधुरी वाणी रे । अंग० ३

पद० १०८ मु राग-सामेरी

आणी वाटडीए गया वनमाली रे, बाई मारी बहेनडीआ,
कोणे दीठडो होय तो देखाडो रे, सखी साहेलडीआ १
मेहेरामण न दीठडे जाए प्राण रे, बाई मारी बहेनडीआ,
एने पाओले पद्म ऐधाणरे, सखी साहेलीआ टेक । २

मुखनी सीमा शी कहुंहुं, वहाले सहामु जोयेरे,
नेण भरी नीरख्युं उर्मी, त्यां महारुं मन मोहेरे । माण० ३

मुगता फलना हार करीने, वहाला कंठे घालुरे,
सकल शणगार करी शामलियाने, मारे मंदिर महालुरे । माण० ४

मुक्ताफलना घेरणा बंधावुं कुसुमे नाथ वधावुरे,
भणे नरसैंया मनमां फुली, मंगलगान करावुरे । माण० ५

पद १ १ ३ मुं

पधोंचे हैये हींमतवान, प्रीत होये तो भाटीरे,
मंदकुंवरशुं रंगभरी रमवां, लज्जा मेहेलो लोपीरे । पधोंचे० १

शामलीयासु साहडुं लीजे तनमन उरपर वारीरे,
शणगार सकल करीने अंगे राखुं उरपर धारीरे । पधोंचे० २

तो वहालो वश थाये बहेनी, कुटुंब कलहने टालोरे,
भणे नरसैंयो नीरभे थइने, वहाला साथे महालोरे । पधोंचे० ३

पद १ ४ मुं—राग मारु

अमने रास रमाड वहाला, मधुरो वंस बजाड वहाला,
थै थै नाच नचाड वहाला वैकुंठथी वृंदावन रुडुं,
ते अमने देखाड वहाला । टेक०

जादव जमुनां कांठडेरे, नाच्यो वेणु रसाल,
नादनी मोही गोपीका टेवे, रोता मेल्या बाल, वहाला । अमने० १

एक अंजन करती आखडी रे, वसन कर्यां परिधान,
अवलां त अम्बर पहेरियां, नेपुरीयो घाल्यां काम वहाला अमने० २

सन्मुख जइ उभी रही रे नमयौं नीरख्या नाथ,
तन मन धन सह सोंपीयां, गोपी हरिएं झोल्या हाथ वहाला अमने ३

वृंदा ते वन रलीयामणु रे शरद पुनममी रात,
ललित त्रिभंगी शोभा बनी त्यां बीसे नवली भात । वहाला आमने० ४

एक हरिसु ताली देय रे बीसी कुंकुम रोल
हरि राधा ज्यां रास रमे त्यां मन मा माव मकोल । वहाला अमने ५

नयणा चूतां पाछा वल्या, घुंघट न सोहाये रे,
नरसयो लहेर समुद्रमां, नर कोइक नाहे रे । ३

पद ९९ मु०

मान करे पातलीया साथे, आनद अगे वाधो रे,
केलकरे कामानिओ कोके, शामलियो वश कीधो रे ।
मन गमतो माणे मोहनने, आव्या जुमना तीर रे,
वाली वाली करे वारणा, उपर शाम शरीर रे । २
सकल शणगार करीने, अंगे, पहेर्या नौतम चीर रे,
भणे नरसैयो मदगल मातो, वलभद्र केरो वीर रे। ३

पद १०० मु०

मारो वहालोजी वगाडे रुडी वांसलडी, कहोजी केम रहीये,
हु तो भूली पडी वनमांह, एकलडा केम रहीये । मारो० १
मने घरमा घडी न सोहाय. ढुढु सारी कुज गली,
मने मल्योरे नरसैंयानो नाथ, रमाडया रासवली । मारो० २

पद १०१ मु०

प्राणनो प्राण ते, आज मुजने मल्यो, तेणे करी मारे रुदे वर्ष वाधे,
पीयुतणी सेजते, कुसुम सुत्रे रचि, नवी नवी भातनो संग साधे० १
नेणे अजनकरी, नरसैंया श्रीहरि, प्रेमेशुं आवीने सांइ लीधु,
अधुर चुंबन करी, कुच पर करधरी, स्नेहसु शामले गुह्य कीधु० २
धन धन आजनी, रातडी कृष्णजी, साथे रमी गोपी लाज राखी,
नरसैंयाच्या स्वामी, धनाए वश आणियो, शुकरे सासुडी अधिक कोपी ३

पद १०२ जु०

प्राणजीवन महारे हुंयामां, ढोल ददामा वाहुरे,
मदिर महारे मोहन हालंतो, देखी भामणे जाउंरे । प्राण० १
सइयर सवली आवो मदिर, नदकुवरने हालोरे,
घणा दिवसनी आरत हुंती, अगे तमारे टालोरे । प्राण० २

वाळी वाळी करे मारग्या बदाली कंठे हार रे.
नेणो नेणां रस मर्मा, हैये हर्ख अपार रे। १

करशु कर मीळी रही सेजडीए वाध्यो रंग रे.
नरसैंयाचा स्वामी शु रमेता, फुली अंगो अंग रे।

पद ९६ मु राग मरगबो

पोढश पहने सोडे पगलांने सोले रे
प्रेमवाळी रात गापी, अम दहाडे बोले रे। पो० १

प्रेहनी पिवायी गोपी, मळी टोले टोले रे।
कृष्णाई कृष्णाई, कृष्णाई तन्मय थै बोले रे। पो० २

कोइ थमी वांसळी वाये गाई गाई डोले रे।
को कहे में काळी नाग नाथ्यो, पर्वत ने तोले रे। पो० ३

कोइ तो दान मिषेवी, मही नां माट ढोले रे।
प्रेम प्रेम मग्न थई रंग रस रोले रे। पो० ४

कृष्ण तो हसीने बेठो हइयाने ओले रे।
प्रगट्यो नरसैंयानो नाथ, रीझी भाव मोले रे। पो० ५

पद ९७ मुं राग मालव

प्रेमे प्रमदा पीउनी संगे हरखे हास्य करती रे।
मरकलडां देखीने मोती, हलवे घर घर भरती रे। १

कृष्ण कामनी अेम अेम नाचे, वाजा वाजे भारी रे।
त्रिभुवन मां धुमी सांपडी, गोधर्वनी गति हारी रे। २

जय जय सुरी नर मुनीजन बोले, सुध वीसरां अंग भूली रे.
कृष्ण कृपायी नरसैंयो त्यां लीला मां रमो झूली रे। ३

पद ९८ मु

पर्ने रे जोई तो पीउडी, पंथ भाळो भाये रे
मन घणु करी राखीये माहरा नयणां जाय रे १

सुंदर बदन दीठा पछी कोणे न रहेवाये रे
शोभा शाम सरामां नयणा गोता खाये रे। २

शीखे गाय ने सांभले रे, हरि राधानो रास,
ते नर वैकुंठ पामशे, एम कहे नरसैंयो दास । वहाला अमने० ६

पद १०५ मु

अधर अमृत रस चाखुं रदया भीतर भीडीने राखुं रे, टेक ।
अंग अनंग व्याप्यो रे सजनी, पीउ विना कोण समावे,
अलज थई हुं पीउ मुख जोवा, प्रेम धरी घेर आवे रे । रदया० १

अबलानी आरत जाणी मह्या रे वहाले, हसता हसता आव्या,
नरसैंयाचा स्वामी मन मनाव्युं, भामनीने मन भाव्या रे । रदया० २

पद १०६ ठ्ठु

ओ वाजे वृंदावन मोरली, गोविंद गोपी रास रमे,
केशव श्याम गौर वरण गोपी, भली अनोपम भात भजे । ओ वाजे० १
अजवाली रात मघारे जाए, नवरस नाटक नाथ रच्यो,
थेई थेईकार करे रसे गोपी, रगतणो त्या अखाडो मच्यो । ओ वाजे० २
शणगटडे हूं फुमत फरके वली नयण कटाक्ष कर खध धरी,
ताली दई दई हसे हसावे, नाचे नचावे रङ्ग भरी । ओ वाजे० ३
श्रमजलकण मुख अंग अलसणा, अतिरस सार विनोदक्ष्यो,
शीतल जल लईने आरोग्या चरण तलासे नरसैं यो । ओ वाजे० ४

पद १०७ मु

अग नमावे आनद वाध्यो, वोले जयजयकार रे,
प्रेमे भराणी पालव ताणे, पामी प्राण आधार रे । अग० १
सुदरवर शामलीया साथे, तारुणी देती ताली रे,
अलवेशु आलिंगन आपी, वश कीधा वनमाली रे । अंग० २
रमता रमता महारस वाध्यो, प्रेमदा छांटे पाणी रे,
नरसैंयाचो स्वामी रीझ्यो, वोली मधुरी वाणी रे । अंग० ३

पद० १०८ मु राग-सामेरी

आणी वाटडीए गया वनमाली रे, वाई मारी वहेनडीआ,
कोणे दीटडो होय तो देखाडो रे, सखी साहेलडीआ १
मेहेरामण न दीठडे जाए प्राण रे, वाई मारी वहेनडीआ,
एने पाओले पद्म ऐधाणरे, सखी साहेलीआ टेक । २

सुखनी सीमा शी कहुंहुं, वहाला सहामु जोयेरे,
नेण भरी नीरखुं वर्मा, त्यां महारं मन मोहेरे । प्राण० १

मुगता फलना हार करीने, वहाला कंठे घालुरे,
सकल शणगार करी शामलियाने, मारे मंदिर महालुरे । प्राण० ४

मुक्ताफलना चेरया वंधावुं कुसुमे नाथ वधावुरे,
भणे नरसैंया मनमां फुली, मंगलगान करावुरे । प्राण० ५

पद १०१ मुं

पहोंचे हैये हींमतवान, मीत होये जो भाटीरे,
नंदकुंवरसु रंगभरी रमतां, लज्या मेहेलो लोपीरे । पहोंचे० १

शामलीयासु साहइं लीजे तनमन धरपर वारीरे,
शणगार सकल करीने अंगे रासुं धरपर धारीरे । पहोंचे० २

तो वहालो वश थाये बहेनी, कुंकुम कलहने टालोरे,
भणे नरसैंयो नीरखे थइने, वहाला सामे महालोरे । पहोंचे० ३

पद १०४ मुं–राग भाव

अमने रास रमाड वहाला, मधुरो वेस वजाड वहाला,
थै थै नाच नचाड वहाला, वैकुंठनी वृंदावन रुडु,
ते अमने देखाड वहाला । टेक०

माधव जमुनां कांठडेरे, चाल्यो वेण रसाल,
माइनी मोडी गोपीका तेणे रोता मेल्या बाल, वहाला । अमने० १

एक अंजन करती चाली रे, वसन कर्यां परिधान,
अवलां त अम्बर पहेरियां नेपुरीयां धार्यां कान वहाला, अमने० २

सन्मुख आइ ऊभी रही रे नयणे नीरख्या नाथ,
तन मन धन सह सोंपीयां, गोपी हरिशुं झाल्या हाथ वहाला अमने ३

वृंदा ते वन रलीयामणु रे, शरद पुनमनी रात,
ललित त्रिभंगी शोभा घनी रथ दीसे नवली भात । वहाला अमने० ४

एक हरिसु ताली देय रे, बीजी कुंकुम राल,
हरि राधा त्यां रास रम सोल्ड कला नाद भलकाल । वहाला अमने० ५

मधुर मधुर स्वरे श्यामने गमतुं, गोपी प्रेमे गाये रे,
त्यमत्यम वहालो वेण वजाडे, उलट अंग न माये रे, सुंदरी० ३

आलिंगन आनंदे देतां, शामलीयो ने श्यामा रे,
नरसैंयो रस मग्न थयो, त्यां केलि करती कामा रे। सुंदरी० ४

पद ११२ मु०

लाडकडी लडसडती चाले, माग सहुरे सोहेरे,
पाओले नेपुर रणझण वाजे नवजोबन भरी मोहेरे, लाड० १

नागघोली चरणी चंपावर्णी, नीलवटे टीलडी झलकेरे,
नाग नगोदर झाल झुलणा, वच्चे मोतीशर ललकेरे। लाड० २

रातावाते ने आडके शरनी, पेरण पटोली लीनीरे,
नरसैंयाचा स्वामीने वहाली, रुदेआ अंतरे लीधीरे। लाड० ३

पद ११३ मु०

भाव भरे भजता वहालाने, सुखसागर झीलतां रे,
माननी मोहन महारस गाता, अंगोअगे खीलता रे। भाव० १

प्रेमदा प्रेम भराणी पीउने, उरमांरे रीझवतारे,
वारे वारे वहालाजीपे उलटीरे, उरमारे मीलवतांरे। भाव० २

कठे परस्पर बाहो डलोरे, क्षणक्षण दर्पण माहे जोतीरे,
माहो माहे मरकलडेसु, अधुर सुधारस पीतीरे। भाव० ३

मान तजीने माण्यो मोहन, उरथी अलगो न करतीरे,
नरसैंयाच्या स्वामीचे संगम, रेणी रगे वीतीरे भाव० ४

पद ११४ मु० राग मालव

भावेरे भामनी भोगवता, शामलियाने सगेरे।
आलापे अबला नारी रे, उमग बाध्यो अगे रे। भावे० १

करसु कर, उरसु उर, फरती पलवटडी ते वाली रे,
नेह झड लागी उदार अबला, वश कीधो वनमाली रे, भावे० २

धनधन जूवती वन ए जीवनजी, वृंदावनमा महाले रे,
धन धन नरसैंयो नेण सोहागी, रङ्ग रेल रस निहाले रे। भावे० ३

वृंदावन मांहे रास रमतां चतुभुजे थया मीचावी रे
अंतरध्यान थया धरणीधर, गयो बीठल मुने वाही रे । वाई० ३
गोपी कहे गीरी तरुवर बाहरु, सज थाओ श्रीज नारी रे,
गुणनिधान गिरिधर ने बोहरु, मही रमन करो मोरारी रे । वाई० ४
सोल शणगार सखी ने श्यामा वने नाके छे निरमल मोती रे,
कनक दीवी कर साहीने सुंदरी, वने हींडे बनबन जोती रे । वाई० ५
पुछती हिंडे कल्पद्रुम वेली तरुवर तास तमाल रे
हरिहरि करती नयणां जल भरती, कोये दीठडो नंदजीनो लाल रे ।
वाई० ६
वलवलती विनता देखीने, आवीया अंतर स्वामी रे,
मल्ले मल्यो नरसैंयानो स्वामी, गोपी आनंद पामी रे । सखी० ७

पद १ ० मु

सोहागण कीधी महारे वहाले मरकलडो करी जोयु रे,
ममभरीने उरपर लीधी, मारुं मन पणे मोह्यु रे । सो० १
सोव्रण पाट बेसारी वहालो मोतीए थाल वधार्युं रे,
वाली वाली वदन निहाली आरती अगर उवारुं रे । सो० २
नाना विधनां भोजन भावे, धुप करैया लार्यु रे,
सुंदर साकर माहे भेलुं (आनंदे) आनंदे आरोगावु रे । सो० ३
सकल शणगार सजीने अंगे रसभर करीने आवुं रे,
मल्ले नरसैंयो सेज समारी, रमतां दही मावु रे । सो० ४

पद ११ मु

सजनी स्नेह तो मले अनुभवीए, जो होय वहालाजीशु साचुं रे,
चतुर हाय तो मनमां वीचारे मूरख बोले छे काचुं रे । स० १
मूढा दखीने जो गुण थइए, तो अनुभव रस आवे रे,
ज्ञान विवक थकी हरी अलगा, चतुरपणे वश थाये रे । स० २
स्नेह तणी पेय काइक आया सौने अजाया जाये रे,
नरसैंयाना स्वामी स्नेहपणा रस पीतां त्रप न थाये रे । स० ३

पद १११ मुं

सुंदरी शामलीयानी साथे मयणे नयण मीलाय रे,
भुज उपर भुज धरी प्रेमशु, मारुंतां मन भाय रे । सुंदरी० १
कटीमगतहा कींक्ण ने नादे, कांझर नेपुर रणझणे र
फरतां फरतां मुकट मनोहर, शीश रागरत्नो मस्तक रे । सुंदरी० २

पद ११८ मुं० राग सामग्री

वांसली वाहे रे वाहे रे, मधुर गाये कह्वान,
सप्त सुरने शब्द नानाविध, राग रागणी ने तान ।

इहां तता थइरे, इहां ननन नही रे, १

इहां मांहो मांहे रे, माननी राखे रंग,
गणण गणणण उपांग वागे, दे ताली वगाडे शंख मृदग २

इहां रमझम रमझमरे, इहां झांझर झमकेरे,
इहां ठमठम ठमकेरे, इहां वींछीडा चमकेरे । ३

इहां धमधम धमकेरे, कर्म झत्रूके झाल,
एकने दे आलिंगन, चाले मधुरी चाल । ४

अनिहांरे वृंदावन रास रच्योरे, रास रच्योरे, मरकडा करेवाली,
कोटि कलश शशीअरनी शोभा, उगो अजुआली । ५

अनिहारे सुरपति मोही रह्या, मोही रह्या, भक्ति थई रह्यां देव विमान,
नृत नाचे रभा पुष्प वृष्टि होये, जयजय जगत निधान। ६

अनिहारे रेण अधिक थई अधिक थई, प्रगट न होये भाण,
नरसैंयाचो स्वामी रास रमे, त्यां मुनि जने मेल्या ध्यान ७

पद ११६ मु० राग सामेरी

साखी–कुंज भुवन खोजती प्रीतेरे, खोजत मदन गोपाल,
प्राणनाथ पावे नहि तातें, व्याकुल भइ वृजबाल । १

चाल चालता ते व्याकुल भइ व्रजवाला, ढुढती फिरे श्याम तमाला,
जाय बुझत चपक जाइ, काहु देखो नंदजी को राइ । २

साखी–पीय सग एकांत रस, विलसत राधा नार,
कध चडावन को कहो, तातें तजी गयेजु मोरार ।

चाल—ताते तजी गयेजु मोरारी, लाल आय संग ते टारी,
त्या ओर सखी सब आई, क्याइ देख्यो मोहन राइ । ४
में तो मन कीधो मेरी बाई, तातें तजी गये कनाइ । ५

पद ११५ मुं०

लोचन माळीगारा रे जेणे काढीने लीधा म्हारा प्राण
एवो रखो शामळियो सुखागार, कांइ कीधुंछे विनाण रे । लो० १

गण पधारीने वाण महेलमुंरे मारयुं छे अभिमान,
वाळावेषी वेषारे लागी रे, वेषारे मूकने कीधी सान रे । लो० २

अमे बहु भार्ड त्यां नव कहयु रे, भेद न आण्युं कांइ,
एकवार एकांते मळीनेरे, मीडीने लेशुं सांई रे । लो० ३

वेना मनमां कपट नहिरे, ते जाणे रस मांही,
भणे नरसैंयो मुक्ति हुआ निर्मळरे ते रस आणे चाली रे । लो० ४

पद ११६ मुं०

वांसलडी वाही म्हारे वहाले, मंदिरमां न रहेवाये रे,
व्याकुळ थईने वहालाने, जोवा शुंकरुं उपायेरे । वांस० १

जळ जमुनानां भरवा जाऊं त्यां शामळियो होये रे,
वचन मिठाली हरयुं मनमो प्रेम करीने मुख जोयेरे । वांस० २

शान करीने हुं सांचरुं, पावलीयो पाछळ आवेरे
भणे नरसैंयो मारे वहालो, प्रेमे ताप समावेरे । वांस० ३

पद ११७ मुं राग मालव

प्रेंदा ते वनमां वेण वजाडी, गोपी विह्वळ कीधांरे
घर आव्यो ते वचन पाछवा, चित्त हरिने लीधांरे । प्रेंदा० १

एक तो अंग मूकीने वधायी, पीधी मांग सिंदूर रे,
मुखवीनो मुख मळीने, चाली साहेर नहीं पूर रे । प्रेंदा० २

पीतांबर पटोली पहेरी कंठे एकावन हार रे,
वींछीआने ठमके चाली, नेपूरनो झमकार रे । प्रेंदा० ३

रत्न जडित राखडी ऋषि रुडी झळक झळुके कानेरे
राता दांत अधरसु ओपे, गाती गारे गान रे । प्रेंदा० ४

हवे आव्यो हरिनी पासे वृंदावन मोझार रे,
नरसैंयाचा स्वामी मुख दीठे, उलट अंग अपार रे । प्रेंदा० ५

वहाला साथे वात करता, मनमा मोद न माय रे,
नरसैंयाचा स्वामी मुख दीठे, जोता तृप्त न थाय रे । अनु० ३

पद १२३ मु०

धन जोडी धन धन लीला, धन धन रेणी रुडी रे,
धन धन वहालो उर पर महाले, भावे भामनी भीडी रे । धन० १
धन धन वाजां वागे वादे, धन धन ताली वाहे रे,
धन धन व्रद्रावननी शोभा, धन धन मधुरुं गाये रे । धन० २
धन धन धरती उपर नाचे, सुख सागर शामलियो रे,
धन नरसैंयो कृष्ण कृपा थी, हरी लीला मां रसीओ रे । धन० ३

पद १२४ मु०

धन धन रास दहाडो आजनो, धन धन मंदिर महारु रे,
मसमसतो मलपतो मोहन, आवे सरवस वारु रे । धन० १
धनधन नेणा महाराने, धन नीरखु मारो नाथ रे,
धसमसती जई उर पर लीधो, भीडयो भुजधरी वाथ रे । धन० २
मोतीये चोक पुंरावरे प्रेमे, हुं फूली मंगल गाउ रे,
नरसैंयाचा स्वामीनुं मुख, जोती तृप्त न थाउ रे । धन० ३

पद १२५ मु०

धन धन दहाडो आजनो, मने प्रेम घणो मारा नाथ नो । १
मारे मीले मेलावो जेमक्यो, वहालो आवी आलिंगन दै रह्यो । २
सकल शणगार सजी करी, हूं तो विलसु वहालो उर धरी । ३
शामलियो सहेज सोहावतो, वहालो भोग करे मन भावतो । ४
नरसैंयाच्यो स्वामी अती उदार, र गभर रयणी करे विहार । ५

पद १२६ मु०

धन धन रे तुं दीवडा मारा, प्रगटे जोत अपार रे,
सेजडीये शामलिये वीलसु, धरी शोभंतो शणगार रे । धन० १
प्रेम भराणी पीयुजी साथे, मन माहे हरख न माय रे,
भुजवले भीडो भावशुं, ते सुख कह्यु नव जाये रे । धन० २

साखी-कृष्ण चरित्र गोपी करे, धील से राधा नार।
एक भई त्यां पूतना, एक भईजु गोपाल लाल,
एक मई जु गोपाल लालरी, येयो दुष्ट पूतना मारी। ६

चाल—एक भेख मुकुंद कोकिनो, तेगे तृणावत हरि लीनो,
एक भेख दामोदर धारी, तेगे जमला अर्जुन तारी। ७

साखी—प्रेम प्रीत हरि लीनके आवे धनके पास,
मुदित भई त्यां मामनी गुण गावे नरसैयोदास—

पद १२० मुं

पहली नारीने मोगली लेने, झांझरनो झमकार रे,
कस्तुरी कामलमु भेली मांहे अञ्जननो अधिकार रे। प०१

बींछीया बाजे ने नेह आवे नपुरनी झरण बाजे रे,
केशपाश कुसुमे अति गुथी, पुष्प झरती चाले रे। प० २

नेये नेह जगावे सकल शिरोमणी भावे रे
नरसैयाचा स्वामी ने संगम रमे मीट नमावे रे। प० ३

पद १२१ मुं०

हुं अपराधी कीधीरे बहाले सैयरने देखतां रे
वाली वेरां विवडुं कार्युं मोही रही मुख जोतां रे। हु १

कर उपर कर धरी महारो वहालो, चंद्रावन परवरीयो रे,
हास्य करी ने शामलीया ने, में महारे घर धरीयो रे। हु २

र गभर रमतां रमतां,बहालो, मुख उपर मुख करतो रे,
मयो नरसैंयो महारो मोहन दर्पण मांहे जोतो रे। हु ३

पद १२२ मुं०

अनुभवशुं भमे भवर ढाली, शामलियाने सेवे रे
अलवेशुं हु वरमे रली, सोहर्या सेशुं हवे रे। अनु० १

नखपट टीली मे नाके केशर, मलस मखुके काने रे
सकल शणगार करी अंग अपु संगम शामल बाने रे। अनु० २

अमर कोटी तेत्रीश उभां, त्यां ब्रह्म इंद्र संधातरे,
जय जयकार करीने, पुष्प वृष्टि करे खांत रे ४

धन धन गोपी धन लीलां, धन जे रसमां महाले रे,
उमिया वरनी वांहे वलग्यो, नरसैं दीवी झाले रे। ५

पद १३० मु० राग मालव

जेम जेम म वहालो वेण वजाडे, तेम तेम नाचे नारी रे,
सखे सादे गाये गोपी, रीझवीओ मोरारी रे। जेम० १

रुमझुम रुमझुम नेपुर वाजे, वादे वेणा वाहे रे
ताल मेलावे महारस माती, माननी मोद न माये रे। जेम० २

सन्मुख थईने शामलियो ते अवला आगल नाचेरे,
सुरीनर मुनीजन ध्यान न आवे, वह्मा ए पद जाचेरे। जेम० ३

तेत व्रज वनिता नदकुवरशुं, एक थइ अनुभवतारे,
भणे नरसैंयो सर्वश सोंपी, गोविदने वश करतारे। जमे० ४

पद १३१ मु०

जेम जेम कामनी कृष्ण साथे रमे, तेम तेम आनंद अंगन माये,
घुघरी घमके ने राखडी जलहले, नेउुर वींछीया ठमके पाये। जे०

चचल नेण ते हाल्या करे, मरकलडो करी राचे मनमांहे,
प्रेम रसे प्रीतरी अधुर चुम्बन करी, विठला बाहुडी कंठे सांहे। जे०

तालसु ताल ते मेलवे सुंदरी, कर साही कृष्णजी संगे नाचे,
भणे नरसैंयो नीरखी सुख पामीयो,धन जेजे धन सुरकेशव जाचे। जे०

पद १३२ मु०

रमतां रगे रात विहाणी, वहालो उरपर महाल्योरे,
हु मुहारु अग आपी रही रे, क्षणुं अलगो न टाल्योरे। रम० १

नर भ थइ शामलियो पामी, (वामी) वेदना भारी वामीरे,
मलपती हीडुं मंदिरमा, शु करशे सासु स्वामीरे। रम० २

परणयानुं होये ते सहु कोये जाणे, साचवणनु शु करीयेरे,
नरसैंयाच्यो स्वामा उरपर राखी, आनदे अनुभवीयेरे। रम० ३

रास विलास माहारस मोलुं, नंदकुंवर रही पाखो रे,
भयो नरसैंयो सुर समागम, वरथी अंतर टाळो रे। धन० ३

पद १२७ मु

धन धन वहालो विलसे सहेजे धन धन कंठे वळगी रहे से। टेक
धन धन मारो मान लखीने, मारा पीयु ने सरवस सोंपी रे,
सुरत समागम माहारस पाम्यो, मननी लज्जा लोपी रे। धन० १
जे जे मनोरथ करती हुती, मनोरथ ते ते पामी रे,
महारा वरपर महाले मोहन, ए नारसैंयानो स्वामी रे। धन० २

पद १२८ मु

धन धन धन धन कहि पाश साथ ललंक
धन धन एहनु वदन मयंक। १
धन धन धन एहनां नेणां कुरंग,
धन धन वेणी भावे भोयंग। २
धन धन अधर अमृत रसे ठरता,
धन धन एहेनी मुखनी चपलता। ३
धन धन गजगति नेपुर छंदा,
धन धन हरि संगे विलसे प्रेमदा। ४
धन धन वर हर महाले मुरारी,
नरसैंयाना स्वामि पे आवे पलहारी। ५

पद १२९ मु राग मालव

धन धन रे वृंदावननी शोभा धन धन मास रे,
धन धन कृष्णवधी जे क्रीडा धन गोपी रसे रास रे। धन० १
शणगटवामां तान कर दी माननी मोह उपजावे रे,
मलावे थक मोडे मति मानसा, नेणे नेह जगावे रे। धन० २
कंठे कोकिला शब्द आकरे मीठम तान उपजावे रे,
मान धइने मोह पमाडे गांधर्व गान कराये रे। धन ३

वहाला साथे वात करता, मनमा मोद न माय रे,
नरसैंयाचा स्वामी मुख दीठे, जोतां तृप्त न थाय रे । अनु० ३

पद १२३ मुं०

धन जोडी धन धन लीला, धन धन रेणी रुडी रे,
धन धन वहालो उर पर महाले, भावे भामनी भीडी रे । धन० १
धन धन वाजां वागे वादे, धन धन ताली वाहे रे,
धन धन व्रन्द्रावनी शोभा, धन धन मधुरु गाये रे । धन० २
धन धन धरती उपर नाचे, सुख सागर शामलियां रे,
धन नरसैंयो कृष्ण कृपा थी, हरी लीला मां रसीओ रे । धन० ३

पद १२४ मु ०

धन धन रास दहाडो आजनो, धन धन मदिर महारु रे,
मसमसतो मलपतो मोहन, आवे सरवस वारु रे । धन० १
धनधन नेणां महाराने, धन नीरखुं मारो नाथ रे,
धसमसती जई उर पर लीधो, भीडयो भुजधरी वाथ रे । धन० २
मोतीये चोक पुरावरे प्रेमे, हुं फूली मगल गाउ रे,
नरसैंयाचा स्वामीनुं मुख, जोती तृप्त न थाउ रे । धन० ३

पद १२५ मु ०

धन धन दहाडो आजनो, मने प्रेम घणो मारा नाथ नो । १
मारे मीले मेलावो जेमक्यो, वहालो आवी आलिंगन दै रह्यो । २
सकल शणगार सजी करी, हू तो विलसु वहालो उर धरी । ३
शामलियो सहेज सोहावतो, वहालो भोग करे मन भावतो । ४
नरसैंयाच्यो स्वामी अती उदार, रंगभर रयणी करे विहार । ५

पद १२६ मुं०

धन धन रे तु दीवडा मारा, प्रगटे जोत अपार रे,
सेजडीये शामलिये वीलसु, धरी शोभंतो शणगार रे । धन० १
प्रेम भराणी पीयुजी साथे, मन मांहे हरख न माय रे,
भुजव्रले भीडो भावशु, ते सुख कह्यु नव जाये रे । धन० २

साखी—कृष्ण चरित्र गोपी करे, प्रीत से राधा नार।
एक भई त्यां पूतना, एक भईजु गोपाल जाल,
एक भई सु गोपाल ब्रह्मचारी, तेणे दुष्ट पूतना मारी। ६

चाल—एक मेला मुकुंद कोकिनो, तेणे तृणावत हरि लीनो,
एक मेला दामोदर धारी, तेणे जमला अर्जुन तारी। ७

साखी—प्रेम प्रीत हरि कीनके आवे उनके पास,
मुदित भई त्यां भामनी गुण गावे नरसैंयोदास—

पद १२० मुं

पहमी नारीने मोगवी लेने, झांझरनो झमकार रे,
कस्तुरी काजलसु मेली मांहे अंजननो अधिकार रे। प०   १

चींछीआ वाजे ने नेह आवे, नेपुरनी झण वाजे रे,
केशपाश कुसुमे अति गुमी पुष्प झरती वाजे रे। प०   २

नेणे नेह नचावे सकल शिरोमणी मावे रे
नरसैंयाचा स्वामी ने संगम, रमे मीठ नमावे रे। प०   ३

पद १२१ मुं

हुं अपराधी कीधीरे, वहाले सैयरने देखतां रे,
वाली देतां विरहुं साम्मुं मोही रही मुख जोतां रे। हु   १

कर उपर कर धरी महारो वहालो, वृंदावन परवरीयो रे,
हास्य करी ने शामलीया ने में महारे उर धरीयो रे। हु   २

रंगभर रमतां रमतां, वहालो, मुख उपर मुख करतो रे,
मणे नरसैंयो महारो मोहन दर्पण मांहे जोतो रे। हु   ३

पद १२२ मुं

अनुभवशुं अमे अंतर टाली, शामलियाने सेजे रे,
अलबेशं हुं उरपे राखी साहेबो लेशुं हवे रे। अनु०   १

ललवट टीली मे नाके केशर, झलल झलुके काने रे
सकल शणगार करी अंग अपु संगम शामल वाने रे। अनु०   २

अमर कोटी तेत्रीश उभां, त्यां ब्रह्म इंद्र सधातरे;
जय जयकार करीने, पुष्प वृष्टि करे खांत रे ४

धन धन गोपी धन लीलां, धन जे रसमां महाले रे,
उमिया वरनी बांहे वलग्यो, नरसैं दीवी झाले रे। ५

पद १३० मु० राग मालव

जेम जेम म वहालो वेण वजाडे, तेम तेम नाचे नारी रे,
सखे सादे गाये गोपी, रीझवीओ मोरारी रे। जेम० १

रुमझुम रुमझुम नेपुर वाजे, वादे वेणा वाहे रे
ताल मेलावे महारस माती, मानती मोद न माये रे। जेम० २

सन्मुख थईने शामलियो ते अबला आगल नाचेरे,
सुरीनर मुनीजन ध्यान न आवे, वह्मा ए पद जाचेरे। जेम० ३

तेत व्रज वनिता नंदकुवरशुं, एक थइ अनुभवतांरे,
भणे नरसैंयो सर्वश सोंपी, गोविदने वश करतांरे। जमे० ४

पद १३१ मु०

जेम जेम कामनी कृष्ण साथे रमे, तेम तेम आनंद अंगन माये,
घुघरी घमके ने राखडी जलहले, नेउर वींछीया ठमके पाये। जे०

चचल नेण ते हाल्या करे, मरकलडो करी राचे मनमांहे,
प्रेम रसे प्रीतरी अधुर चुंबन करी, विठला बाहुडी कंठे साहे। जे०

तालसु ताल ते मेलवे सुंदरी, कर साही कृष्णजी संगे नाचे,
भणे नरसैंयो नीरखी सुख पामीयो,धन जेजे धन सुरकेशव जाचे। जे०

पद १३२ मु०

रमता रगे रात विहाणी, वहालो उरपर महाल्योरे,
हु सुहारु अग आपी रही रे, क्षणुं अलगो न टाल्योरे। रम० १

नर भ थइ शामलियो पामी, (वामी) वेदना भारी वामीरे,
मलपंती हीडुं मंदिरमा, शु करशे सासु स्वामीरे। रम० २

परण्यानुं होये ते सहु कोये जाणे, साचवणनु शुं करीयेरे,
नरसैंयाच्यो स्वामा उरपर राखी, आनदे अनुभवीयेरे। रम० ३

रास विलास माहारस मीलुं नंदकुंवर रही माचो रे,
मध्ये नरसैंयो सुर समागम, करथी अंबर टालो रे। धन० १

पद १२७ मु •

धन धन महाश्री विलसे सहेजे धन धन कंठे मलगी रहे रे। टेक
धन धन मारो मान हरीने, मारा पीयु ने सरवस सोंपी रे,
सुरत समागम माहारस वाध्यो, मननी लज्जा लोपी रे। धन० १

जे जे मनोरथ करथी हुती, मनोरथ ते ते पामी रे,
महारा धरपर महाले मोहन ते नारसैंयानो स्वामी रे। धन० २

पद १९८ मु •

धन धन धन धन कहि बाल सब लाक
धन धन पझु वदन मयंक। १

धन धन धन पझुनो नेणां कुरंग,
धन धन वंकी भाव भारंग। २

धन धन अधर अमृत रसे टरता,
धन धन काहेनी सुखनी चपलता। ३

धन धन गजगति नेपुर छंदा,
धन धन हरि संगे विलसे प्रेमदा। ४

धन धन वर हर महाले मुरारी,
नरसैंयाना स्वामि पे जाउं बलहारी। ५

पद १९९ मु राग मालव

धन धन रे वृंदावननी शोभा धन धन आसो मास रे,
धन धन कृष्णतणी ते क्रीडा धन गोपी रसे रास रे। धन० १

स्फटिकमां साम कर ली, मामनी मोह उपजावे रे,
चालवे अंक माडे चवि भवरा नेवे नेह जगावे रे। धन० २

कंठे कोकिला शब्द बोलरे मीठम तान उपजावे रे,
मग्न थईने मोह पमाडे गोपवे गाम हरावे रे। धन ३

अमर कोटी तेत्रीश उभां, त्यां ब्रह्म इंद्र संधातरे,
जय जयकार करीने, पुष्प वृष्टि करे ख्यात रे ४

धन धन गोपी धन लीलां, धन जे रसमां महाले रे,
उमिया वरनी वांहे वलग्यो, नरसैं दीवी झाले रे। ५

पद १३० मुं० राग मालव

जेम जेम म वहालो वेण वजाडे, तेम तेम नाचे नारी रे,
सखे सादे गाये गोपी, रीझवीओ मोरारी रे। जेम० १

रुमझुम रुमझुम नेपुर वाजे, वादे वेणा वाहे रे,
ताल मेलावे महारस माती, माननी मोद न माये रे। जेम० २

सन्मुख थईने शामलियो ते अबला आगल नाचेरे,
सुरीनर मुनीजन ध्यान न आवे, बह्मा ए पद जाचेरे। जेम० ३

तेत व्रज वनिता नंदकुंवरशुं, एक थइ अनुभवतांरे,
भणे नरसैंयो सर्वश सोंपी, गोविंदने वश करतांरे। जमे० ४

पद १३१ मु०

जेम जेम कामनी कृष्ण साथे रमे, तेम तेम आनंद अंगन माये,
घुघरी घमके ने राखडी जलहले, नेपुर वींछीया ठमके पाये। जे०

चंचल नेण ते हाल्या करे, मरकलडो करी राचे मनमांहे,
प्रेम रसे प्रीतरी अधुर चुंबन करी, विठला बाहुडी कंठे साहे। जे०

तालसु ताल ते मेलवे सुंदरी, कर साही कृष्णजी संगे नाचे,
भणे नरसैंयो नीरखी सुख पामीयो,धन जेजे धन सुरकेशव जाचे। जे०

पद १३२ मु०

रमतां रगे रात विहाणी, वहालो उरपर महाल्योरे,
हु मुहारुं अग आपी रही रे, क्षणुं अलगो न टाल्योरे। रम० १

नर भ थइ शामलियो पामी, (वामी) वेदना भारी वामीरे,
मलपती हींडु मंदिरमा, शु करशे सासु स्वामीरे। रम० २

परणयानुं होये ते सहु कोये जाणे, साचवणनु शु करीयेरे,
नरसैंयाच्यो स्वामी उरपर राखी, आनदे अनुभवीयेरे। रम० ३

पद ११३ मुं०

रमवा रड्डु ओ लागे, जो मान सखीने मलीयेरे,
शामलियाने वरपर राखी, मावघरीने मलीयेरे । रम० १

म्हारो वहालो छे महा रसीयो, रसमांहे रीझवीयेरे,
अंबर टाली आलिंगन लेतां, मिने करी वश करीयेरे । रम०
भामणा लइने वहाला केरां, कंठे विलागी रहीयेरे,
नरसैंयाचा स्वामीचे संगम, वात रसीली करीयेरे । रम० ३

पद ११४ मुं

रमझम रमझम नेपूर वाजे, तालीने वली तालरे,
नाचंतो शामलियो शामा वाध्यो रंग रसालरे, रम० १

झाल झबूके रावलडी हामे, मोर मुगट शिर सोहेरे,
थै थै तहां करती के सुंदरी, मरकलडे मन मोहेरे । रम० २
कोटीकला त्यां प्रगट्यो शशीयर, आयो दिनकर लग्योरे,
मळे नरसैंयो महारस लीधो, माननीमा मद्य पड्डीयोरे । रम० ३

पद ११५ मुं

रसीक शिरोमणी शामलीओ वृंदावनमां रच्यो रास रे,
गोपी प्रत प्रत रूप घरीने कीधो रंग विलासरे रसीक० १
पूरण प्रेम प्रहवाये लीधे, महा भाग्यवंत व्रजनारी रे,
वाहोलडी कंठेय भराणी विलसे नवल विहारी रे । रसीक० २
ए लीला सुख कह्यु न आवे पार न पामे कोई रे
नित्य नवलो आनंद होवे त्यां नरसैंयो रंग जोई रे । रसीक० ३

पद ११६ मु

रास रमे राधावर रुडो श्यामलडीनी संगेरे,
मान मुकावया कारण कामा अनंग धरती अंगे रे । रास० १
मिनवा वृंद मंडलमां मोहे मोहन मदन मोरारी रे,
एक नाचे एक गान करे त्यां उमंग भरी व्रजनारी रे रास० २

श्यामा श्रवणे झाल झबुके, श्यामने कुडल कान रे,
झांझर नेपुर रमझम वाजे, वेण वजाडे कहान रे । रास० ३

आलिंगन देता दामोदर, अवला अंग हुल्लास रे,
भणे नरसैंयो मयक मोह्यो, थकीत रह्यो खटमास रे । रास० ४

पद १३७ मु०

रास विलास रमे राधावर, जुगम जुगम गोपी वच्चे कहान,
कंठ भुजा उर उपर करधरी, आलिंगन चुंबन रसपान । रास० १

कोकीला कठ अलापती कामनी, माहे मधुरा राग ने तान,
मोरली उपर सगीत वाजे, वली पोते दे सुर वंधान । रास० २

त्रुट्या हार वसन वपु वीसर्या, जाणो जोगेश्वर धर्यु ध्यान,
नरसैंयाचा स्वामीने जोता, व्याकुल थयो तजु अभिमान । रास० ३

पद १३८ मु०

रङ्ग भरीरे घणी रजनी वेहाणी, हु विलसी वहाला सगेरे,
नाना भाव धरी घाली वाथे, भीडी अगो अगे रे । रंग० १

विविध कुसुमनी सेज समारी, परिमल पूरण काम रे,
उर उपर राखी रही रसियौ, पामी सुदरु धाम रे । रंग० २

नेणे नेण मेलावे वहालो, तेम तेम हरख न माये रे,
दीपकने आजु आलडे मारे, वाहुडी कटे सोहाये रे । संग० ३

दरपण माहे निहालतो, वहालो, चुंबन दे वारवार रे,
पीयुजी प्रेमे पामीया मारो, जीवण प्राण आधार रे । रंग० ४

वहालोजी वहालापे वहालो, अतिशे एहनु ध्यान रे,
भणो नरसैयो ए लीलानु करतो निशदीन गान रे । रंग० ५

पद १३९ मु०

रणझणें नेपुर, नाचता नारना, कऋणी घून ते मध्य थाओ,
चरण अती चालवे, अगवाले घणु, त्यम त्यम वाहालोजी वेणुं वाओ ।
रणझणे० १

प्रेमे प्रेमदा रमे पीयुने मन गमे, नयणां भरी नाथनुं वदन नीरखे,
करविरो कर ग्रही, कुंडलाकारमां, मरकलाकरे मर्गुं मन हरखे।
रणझणो० १

युवती योवन भरी नाथने उरधरी, अधरअमृत रस पान करतां
रामा सहु रस भरी, अंग सुध विसरी, मधुर मधुर स्वरे गान करतां।
रणझणे० ३

धनो धन एम, भ्रमर सहु उपरे मेघ को नवलाहे रमया केरो
नरसैंयो चरणानी, रेणमां भीलतो, यो शामले सन्मुख हाथ फेर्यो।
रणझणो० ४

पद १४ मुं

झीणाखों झांझर वाजे वृंदावन, आनंद न माये गोपीयांचे मनवा,
घीठला वाहुडी कंठे अन्योअन्य, नाचे गोपी ने गाये गोविंद।
झीणाखो० १

ताल मृदंग मोवरने वांसली नाचे नाचे हसीने गोपी गाये,
अमर अंत्रिक्षथी मोह पामी रह्या, प्रेमे पुष्पनी वृष्टि थाय। झीणाखों० २

मस्तक फुमको रातडी ललकडे, युगल जोडी रमे वन मांहे,
निरखतां निरखतां निमेष मसे नहि,बनो अन्य आदव राये। झीणाखों० ३

कृष्ण ने कामनी मध्य माधव भळी नाद निरघोष रस रह्यारे जामी,
नरसैंयाच्यो स्वामी सकल व्यापी रह्यो अनेक लीला करे गरुडगामी।
झीणाखों० ४

पद १४१ मुं

झळकम झोलकरी, झळकम झोलकरी रे वहालो वरा करशुंरे
अनेक हावभाव करीने, हसवे चरप धरशु रे। झळकम १

शणगार शोभतो करीने ताली दइ दइ हसशुं रे,
कांतलडी बांधीने आपण, वाटे वेणा वहाशुं रे। झळकम० २

कंकण्या धुम घघरडी घमके, वरपण सह धरशु रे,
नरसैंयाचो स्वामि नाचतो आपण भामणलाई जाशु रे। झळकम० ३

पद १४२ मुं०

झांझरने झमके रे, गोपी गज गमनी चाले,
मान घणुं मनमा धरीने रे, जइ सैयरशुं माहले । झां० १

जाडीत्र विशाल जोलीयां रे, आली झाल झबुके रे कान,
शामलीयासुं संग करे रे वा अंग धरी अभिमान । झा० २

पोपट भात पटोली पहेरी रे, चापा वर्णी रे चीली,
नरसैंयाचा स्वामीने मलवा रे, चाली रवारण भोली । झा० ३

पद १४३ मुं०

झांझरीया घडाव्यां महारे वहाले, रमझम करती हींडु रे,
वदन निहाली वहालाकेरु, शणगटडो संकोडुं रे । झाझ० १

घणा दिवसनुं मनमा होतुं, पीयुसु करवा वात रे,
चोली पहरु चंपा वर्णी चीर जाणे पत्रनी भात रे । झाझ० २

शामलियासु साइडु लेवा, सन्मुख सेजे आवी रे,
हास्य करी रुदेयासु भीडी, प्रेम धरी बोलावी रे । ३

धनधन रेणी आजनी रुडी गइ, महारा वहालजीसुं वरमता रे,
नरसैंयाचो स्वामी उरपर लीधो, शुकरे दुरीजन लवता रे । झाझ० ४

पद १४४ मुं०

झांझरीया झमकार करे, रवी छंदा वाजे रे,
वाहोडीयाचां केवल ककण, बोलता नादे रे । झाझ० १

हसागमनि हंसगत चाले, चरणतले चीर चांपे रे,
उरमडल उर उपरे सोहे, मुनिजनना मन मापे रे । झाझ० २

राखलडी रतनाली सोहे, वेणे वासग नाग छलके रे,
आछु अबर शीरपर ओढे, शेष नाग जेम सलके रे । झांझ० ३

सर्व शणगार सोहे शामाने, रामा रंगभेर रमती रे,
नरसैंयाचा स्वामीने, मलवानी, शीकले भमती रे । झांझ० ४

पद ११३ मुं

रमतां रस्तु जो लागे, जो मान सखीने मळीयेरे,
शामळियाने उरपर राखी, मावधरीने मळीयेरे । रम० १

महारो वहालो छे महा रसीयो, रसमांहे रीझवीयेरे,
अंतर टाळी आलिंगन लेतां, बिने करी वश करीयेरे । रम०
मामण्यो छाभे वहाला केरां, कंठे विलागी रहीयेरे,
नरसैंयाचा स्वामीचे संगम, वात रसीली करीयेरे । रम० २

पद ११४ मुं

रमझम रमझम नेपूर बाजे, तालीने वली तालरे,
नाचंतो शामळियो शामा, बाध्यो रंग रसालरे, रम० १

झमझम झबूके रासलडी हावे, मोर मुगट शिर सोहेरे,
थै थै वहां करती कै सुंदरी, मरकलडे मन मोहेरे । रम० २

कोटीकला त्यां प्रगट्यो शशीयर आव्यो दिनकर थम्यारे,
मळ्यो नरसैंयो महारस मीले माननीमां महा मळीयोरे । रम० ३

पद ११५ मुं

रसीक शिरोमणी शामळीओ, वृंदावनमां रच्यो रास रे
गोपी प्रत प्रत रूप धरीने कीधो रंग विलासरे, रसीक० १

पूरण प्रेम प्रह्लावे मीले महा भाग्यवंत व्रजनारी रे,
वाहोलडी कंठेम भरावी विलसे नवल विहारी रे । रसीक० २

ए लीला सुख कह्युं न आवे, पार न पामे कोई रे,
नित्य नवलो आनंद होये त्यां नरसैंयो रंग जोई रे । रसीक० ३

पद ११६ मुं

रास रमे राधावर रुडो श्यामसखीनी संगेरे,
मान मुकाववा कारण कामा, अनंग धरती अंगे रे । रास० १

पिमवा वृंद मंडळमां सोहे मोहन मदन मोरारी रे,
एक नाचे एक गान करे त्यां, उमंग भरी व्रजनारी रे रास० २

श्यामा श्रवणे झाल झबुके, श्यामने कुंडल कान रे,
झांझर नेपुर रमझम वाजे, वेण वजाडे कहान रे। रास० ३

आलिंगन देता दामोदर, अबला अंग हुल्लास रे,
भणे नरसैंयो मयंक मोह्यो, थकीत रह्यो खटमास रे। रास० ४

पद १३७ मु०

रास विलास रमे राधावर, जुगम जुगम गोपी वच्चे कहान,
कठ भुजा उर उपर करधरी, आलिंगन चुंबन रसपान। रास० १

कोकीला कंठ अलापती कामनी, माहे मधुरा राग ने तान,
मोरली उपर सगीत वाजे, वली पोते दे सुर बधान। रास० २

त्रुट्या हार वसन वपु वीसर्या, जाणो जोगेश्वर धर्युं ध्यान,
नरसैंयाचा स्वामीने जोता, व्याकुल थयो तजु अभिमान। रास० ३

पद १३८ मु०

रङ्ग भरीरे घणी रजनी वेहाणी, हु विलसी वहाला सगेरे,
नाना भाव धरी घाली बाथे, भीडी अगो अगे रे। रंग० १

विविध कुसुमनी सेज समारी, परिमल पूरण काम रे,
उर उपर राखी रही रसियो, पासी सुदरु धाम रे। रंग० २

नेणे नेण मेलावे वहालो, तेम तेम हरख न माये रे,
दीपकने आजु आलडे मारे, वाहुडी कटे सोहाये रे। रग० ३

दरपण मांहे निहालतो, वहालो, चुंबन दे वारवार रे,
पीयुजी प्रेमे पामीया मारो, जीवण प्राण आधार रे। रग० ४

वहालोजी वहालापे वहालो, अतिशे एहनु ध्यान रे,
भणो नरसैयो ए लीलानु करतो निशदीन गान रे। रंग० ५

पद १३९ मु०

रणझणे नेपुर, नाचता नारना, कझणी धून ते मध्य थाओं,
चरण अती चालवे, अगवाले घणु, त्यम त्यम वाहालोजी वेणुं वाओ।
रणझणे० १

प्रेमे प्रेमदा रमे, पीयुने मन गमे, नयणां भरी नाथनुं वदन नीरखे,
करविरो कर ग्रही कुंडलाकारमां, मरकलाकरे भणुं मंन हरखे।
रयामरयो० १

युवती जोवन भरी नाथने नरधरी, अधरअमृत रस पान करतां
रामा सहु रस भरी, अंग शुभ विसरी, मधुर मधुर स्वरे गान करता।
रयामरयो० ३

धनरे धन एम, भमर सहु उचरे भेद को नवलहे रमण केरो,
नरसैंयो चरणनी, रेणमां मीलको, जो शामने सन्मुख हाथ फेर्यो।
रयामरयो० ४

पद १४ मुं

झीणाझीं झांझर वाजे वृंदावन, आनंद न माये गोपीयांचे मनदा,
थीठडा पाहुडी कंठे अन्योअन्य, नाचे गोपी ने गाये गोविंद।
झीणाझीं० १

ताल मृदंग मोहरजे वांसली नाचे, नाचे हसीने गोपी गाये,
अमर मंत्रिअधी मोह पामी रह्या, प्रेमे पुष्पनी वृष्टि थाय। झीणाझीं० २

मस्तक कुमको रालडी झलहले, जुगल जोडी रमे वन मांहे,
निरखतां निरखतां निमेष मले नहि,धनरे धन्य जादव राये। झीणाझीं० ३

कृष्ण ने कामनी मध्य माधव मली, नाद निरघोष रस रह्यारे जामी,
नरसैंयाच्यो स्वामी सकल व्यापी रह्यो अनेक लीला करे गरुडगामी।
झीणाझीं० ४

पद १४१ मुं

झमकम झोलकरी, झमकम झेलकरी रे वहालो वश करशुं रे
अनेक हावभाव करीने हलवे चरण धरशुं रे। झमकम १

शणगार शोभंतो करीने, ताली दई दई हसशुं रे,
भोजलडी भांजीने आपण, वाहे वेणा वहाशुं रे। झमकम० २

कंकण धून घघरडी घमके, हरपशुं सह भरशुं रे,
नरसैंयाचो स्वामि मानतो आपण मामणलडे जाशुं रे। झमकम० ३

पद १४२ मु०

झांझरने झमके रे, गोपी गज गमनी चाले,
मान घणुं मनमां धरीने रे, जइ सैयरशुं माहले । झां० १

जाडीत्र विशाल जोलोयां रे, आली झाल झबुके रे कान,
शामलीयासुं संग करें रे वा अग धरी अभिमान । झा० २

पोपट भात पटोली पहेरी रे, चांपा वर्णी रे चीली,
नरसैंयाचा स्वामीने मलवा रे, चाली रवारण भोली । झा० ३

पद १४३ मुं०

झांझरीया घडाव्यां महारे वहाले, रमझम करती हीडु रे,
वदन निहाली वहालाकेरु, शणगटडो सकोडु रे । झाझ० १

वणा दिवसनुं मनमां होतु, पीयुसु करवा वात रे,
चोली पहरु चंपा वर्णी चीर जाणे पत्रनी भात रे । झांझ० २

शामलियासु साइडु लेवा, सन्मुख सेजे आवी रे,
हास्य करी रुदेयासु भीडी, प्रेम धरी बोलावी रे । ३

धनधन रेणी आजनी रुडी गइ, महारा वहालजीसुं तरमता रे,
नरसैंयाचो स्वामी उरपर लीधो, शुंकरे दुरीजन लवता रे । झाझ० ४

पद १४४ मु०

झाझरीया झमकार करे, रवी छंदा वाजे रे,
वाहोडीयाचा केवल ककण, बोलता नादे रे । झाझ० १

हसागमनि हसगत चाले, चरणतले चीर चांपे रे,
उरमडल उर उपरे सोहे, मुनिजनना मन मापे रे । झाझ० २

राखलडी रतनाली सोहे, वेणे वासग नाग छलके रे,
आछू अबर शीरपर ओढे, शेष नाग जेम सलके रे । झांझ० ३

सर्व शणगार सोहे शामाने, रामा रंगभेर रमती रे,
नरसैंयाचा स्वामीने, मलवानी, शीकले भमती रे । झांझ० ४

पद १४५ मुं

मधरावे मोहनजी मोद्या मानुनी सामे रे
नाना भातरमे महारसीयो, हसी हसी भीडे बाथे रे। मध० १

धरदय पयो वारुणी संग भरती, पाये नपुरनो भरणकार रे,
भांभर नादे वांह बोलावे, रीभवीया मोरार रे। मध० २

मधुर अमृत रसपान करवां, श्यामलजी संग भाष रे,
नरसैंयाचा स्वामीशु मलवा भामनी भेद बणावे रे। मध०

पद १४६ मुं राग सामेरी

मध रात्रिए मधुरी रे, वहालेजी ए वांसलडी वाही रे,
कामिनी काम धहेली थइने सौ वृंदावन धाइ रे। मध० १

सासु नणंदनी लाजलडी ते भूरण बने सखीयों रे,
रमणी रास रमवा कारण, वाइ धावनने भलीया रे। २

नयणी भरी निरख्या लक्ष्मीवर, आनंद अबला पामी रे
नरसैंयाचो स्वामी वृंदावनमां केल करी महाकामी रे। मध० ३

पद १४७ मुं राग आशावरी

महारे वहाले वेणु वगाडी आकुल व्याकुल थाई रे,
मंदिर मांहे में न रहेवाये केम करी जोवा जाउ रे। महारे० १

हुं वेलाथी मधुरी नादे अनग लक्ष्यो अंगे रे,
नेण भरी निरखु शामलियो सांइदा लीजे संगे रे। महारे० २

मारुं मन मोह्यु पयो वहाले वीठल विना न सोहाये रे
भयो नरसैंयो धन ते नारी रास्यो रुदिया मांहे रे। महारे० ३

पद १४८ मुं

महारा वहालाजीमां कुसुमनो भार नहीं रे
ते कारण मने भरो ने सजनी। टेक १

सात सागर ने नव खंड पृथ्वी शीखर मुल मोटे,
परवत सदैव वहालो उरपरि राखुं भ्रमर कमल सम होये रे। स०म०

दिव्य वस्त्र में शीरपर ओढ्युं, ते मने दुस्तर थाये रे;
जेटले मारो वहालोजी संगम आवे, कुच उपर चित्त चलावे रे।
सजनी० म० ३

ताचा गुण लक्ष्मीवर जाणे, जेणे आ सृष्ट निपाइ रे,
नरसैंयाचो स्वामी भले मलीयो, सुख करो गोकुल राइ रे। स०म० ४

पद १४९ मु०

गोपी आवीरे आवीरे, वहालानुं मुख जोवा,
अद्भुत खेल रच्यो पुरुषोत्तम, माननीना मन मोहवा। गोपी० १

राती चुडी करे कामनीयां, रातां चरण चुदडीआं,
राती आड करी कुंकुमनी, ते तले राती टीलडीया। गोपी० २

राता फूल कलेवरे कमखे, राती चोली हृदे भली,
राता तंबोल ओपे मुखे अबला, तव नरसैं त्रिकमने त्रियारेमली।
गोपी० ३

पद १५० मु०—राग मालव

झमझम नादे नेपूर वाजे, झांझरना झमकार रे,
ताल मृदंगनी धूनी थाये, कटी ककण झणकार रे। झम० १

एक वेणा एक महुअर वाहे, कामनी केल करंतां रे,
शिरपर सोहे राखलडी रे, झलके झमरी देतां रे। झम० २

काने कुंडल मुगट महामणि, शोभा कही न आवे रे,
भण नरसैंयो आनद्यो हरि, भामनी मोहे भावे रे। झम० ३

पद १५१ मु०

झाझरनो झमकार मनोहर, रग जाम्यो महाजम रयणी रे,
त्रिकमने तालीदे तारुणी, चतुर चपल मृग नयणी रे। झां० १

वीठुलने वश करवा कारण, नाना भाव धरती रे,
नयन कटाक्षे मोह उपजावे, मुख मरकलडा करती रे। झा० २

प्रेमे प्रेमना रमे, पीयुने मन गमे, नयणां भरी नाथनुं वदन नीरखे,
करविरो कर ग्रही कुंडलाकारमां, मरकलाकरे मणुं मंन हरखे। रयामलो० २

सुबती योवन भरी, नाथने उरधरी, अधरअमृत रस पान करतां
रामा सहु रस भरी, अंग सुध विसरी, मधुर मधुर स्वरे गान करतां। रयामलो० ३

घनो घन घम, भमर सहु स्वरे मेद को नवलहे रमण केरो,
नरसैंयो वरणानी, रेणमां महेलतो, थो शामले सन्मुख हाथ फेर्यो। रयामलो० ४

पद १४० मुं०

झीणाझीं झांझर बाजे वृंदावन, आनंद न माये गोपीयांचे मनवा,
वीठला बाहुडी कंठे अन्योअन्य, नाचे गोपी ने गाये गोविंद। झीणाझीं० १

ताल मृदंग मोहरने बांसली नाचे नाचे हसीने गोपी गाये,
अमर अंतिक्षमी मोह पामी रहा प्रेमे पुष्पनी वृष्टि थाय। झीणाझीं० २

मस्तक फुमको लालकी लहलहे, जुगल जोडी रमे वन मोहे,
निरखतो निरखतां निमेष मले नहि अनी अन्य आहव रापे। झीणाझीं० ३

कृष्ण ने कामनी मध्य माधव मली, भाव निरधाप रस रह्यारे जामी,
नरसैंयाच्यो स्वामी सकल व्यापी रमी अनेक लीला करे गरुडगामी। झीणाझीं० ४

पद १४१ मुं

झमकम झोलकरी, झमकम झोलकरी रे वहालो वश करही रे,
अनेक हावभाव करीने, हलवे चरण धरही रे। झमकम १

शणगार शोभतो करीने, ताली दई दई हसही रे
आलसडी थावीने आपण, वाले वेणा वहाही रे। झमकम० २

कंकण धून घमरी घमके, दरपण हार धरही रे,
नरसैंयाचो स्वामि मावंतो, आपण भामगमने जाही रे। झमकम० ३

पद १४२ मुं०

झांझरने झमके रे, गोपी गज गमनी चाले,
मान घणुं मनमां धरीने रे, जइ सैयरशुं माहले । झां० १

जाडीत्र विशाल जोलोयां रे, आली झाल झबुके रे कान,
शामलीयासुं संग करें रे वा अंग धरी अभिमान । झां० २

पोपट भात पटोली पहेरी रे, चांपा वर्णी रे चोली,
नरसैंयाचा स्वामीने मलवा रे, चाली रवारण भोली । झा० ३

पद १४३ मुं०

झांझरीयां घडाव्या म्हारे वहाले, रमझम करती हींडु रे,
वदन निहाली वहालाकेरु, शणगटडो संकोडु रे । झाझ० १

घणा दिवसनुं मनमा होतु, पीयुसु करवा वात रे,
चोली पहरु चंपा वर्णी चीर जाणे पत्रनी भात रे । झाझ० २

शामलियासु सांइडु लेवा, सन्मुख सेजे आवी रे,
हास्य करी हदेयासु भीडी, प्रेम धरी बोलावी रे । ३

धनधन रेणी आजनी रुडी गइ, महारा वहालजीसुं तरमता रे,
नरसैंयाचो स्वामी उरपर लीधो, शुंकरे दुरीजन लवतां रे । झाझ० ४

पद १४४ मुं०

झांझरीया झमकार करे, रवी छदा वाजे रे,
वाहोडीयाचां केवल कंकण, वोलता नादे रे । झांझ० १

हसागमनि हसगत चाले, चरणतले चीर चापे रे,
उरमडल उर उपरे सोहे, मुनिजनना मन मापे रे । झाझ० २

राखलडी रतनाली सोहे, वेणे वासग नाग छलके रे,
आछु अबर शीरपर ओढे, शेष नाग जेम सलके रे । झाझ० ३

सर्व शणगार सोहे शामाने, रामा रंगभेर रमती रे,
नरसैंयाचा स्वामीने, मलवानी, शीकले भमती रे । झाझ० ४

पद १४५ मुं

मधराते मोहनजी मोह्या, माननी साथे रे,
माना मातरसे महारसीया हसी हसी मीडे बाथे रे । मध० १

सरण पछे वाजणी बग भरवी, पाये नपुरनो झणकार रे,
झांझर माहे वांह डोलावे, टीमनीया मोरार रे । मध० २

मधुर अमृत रसपान करतां, श्यामजी संग भावे रे,
नरसैंयाचा स्वामीशुं मळवा मामनी भेद बणावे रे । मध०

पद १४६ मु राग सामेरी

मध रात्रिए मधुरी रे महाखेली ए वांसळडी वाही रे,
कामिनी काम घहेली थईने, सौ वृंदावन आई रे । मध० १

सासु मणदनी लाजतजी ने मूपण अगे सजीयां रे,
रमणी रास रमवा कारण, जइ वावनने मळीया रे । २

नयणी भरी निरख्या लक्ष्मीवर, आनंद अबला पामी रे
नरसैंयाचो स्वामी वृंदावनमां क्रीडा करी महाकामी रे । मध० ३

पद १४७ मु राग आशावरी

महारे बहाले वेणु वगाडी व्याकुल व्याकुल थाउं रे
मंदिर मांहे मैं न रहेवाये केम करी जोवा जाउं रे । महारे० १

हुं नबायी मधुरी नादे अनंग व्यापयो अंगे रे,
मेघ भरी निरखु शामलियो, सांइडा लीधे संगे रे । महारे० २

मारुं मन मोहु पर्यो वहाले पीडा विना न सोहाये रे
मळ्यो नरसैंयो धन ते नारी, रास्यो रुदिया मांहे रे । महारे० ३

पद १४८ मुं

महारा वहालाजीमा कुसुमनो भार नहीं रे;
ए कारण मने कह्यो मे सजनी । टेक १

साम सागर मे नव लेउ पुष्पी शीतर मुख मांहे।
पटका महेत बहालो उरपरि राखुं भ्रमर कमल सम होये रे । स०म०

दिव्य वस्त्र में शीरपर ओढ्युं, ते मने दुस्तर थाये रे;
जेटले मारो वहालोजी संगम आवे, कुच उपर चित्त चलावे रे।
सजनी० म० ३

ताचा गुण लक्ष्मीवर जाणे, जेणे आ सृष्ट्र निपाइ रे,
नरसैंयाचो स्वामी भले मलीयो, सुख करो गोकुल राइ रे। स०म० ४

पद १४६ मु०

गोपी आवीरे आवीरे, वहालानुं मुख जोवा,
अद्भुत खेल रच्यो पुरुषोत्तम, माननीना मन मोहवा। गोपी० १

राती चुडी करे कामनीयां, राता चरण चुदडीआ,
राती आड करी कुंकुमनी, ते तले राती टीलडीयां। गोपी० २

राता फूल कलेवरे कमखे, राती चोली हृदे भली,
रातां तंबोल ओपे मुखे अबला, तव नरसैं त्रिकमने त्रियारेमली।
गोपी० ३

पद १५० मु०—राग मालव

झमझम नादे नेपूर वाजे, झांझरना झमकार रे,
ताल मृदंगनी धूनी थाओ, कटी कंकण झणकार रे। झम० १

एक वेणा एक महुअर वाहे, कामनी केल करंता रे,
शिरपर सोहे राखलडी रे, झलके झमरी देता रे। झम० २

काने कुंडल मुगट महामणि, शोभा कही न आवे रे,
भण नरसैंयो आनद्यो हरि, भामनी मोहे भावे रे। झम० ३

पद १५१ मु०

झाझरनो झमकार मनोहर, रग जाम्यो महाजम रयणी रे,
त्रिकमने तालीदे तारुणी, चतुर चपल मृग नयणी रे। झां० १

वीट्ठलने वश करवा कारण, नाना भाव धरती रे,
नयन कटाक्षे मोह उपजावे, मुख मरकलडा करती रे। झां० २

गोपी नेह करे गोविंद शुं तन मन धन सौ सौंपी रे,
भणे नरसैंयो गति न पामुं जो हो गोविंद गोपी रे । म्हा० १

पद १५१ मुं

हलवे हाथ्यु हरिमुख जोवां वेंधी वांसलडी नादे रे,
केमकरी थहागो मरए पथी वहालो गाये सखे सादे रे । हल० १

जो घर आवुं तो हरिहैये, सुतां स्वप्ने आवे रे,
प्रीत बंधायी पालवीयासु, दीठावना न सोहावे रे । हल० २

मूकी लाज में म्हारा मननी, शामलिया संगे राची रे
भणे नरसैंयो दुरीमन मांहे हीडुं हुं मलपाती रे । हल० ३

पद १५२ मुं०

हरिवना रही न शकुं मारी आली, वहाले नेण बाण्यो वींधुं रे,
चित्त चतुरसुजे चोरीने लीधुं, काहानकीए कामण कीधुं रे । हरि० १

मन मारुं महावलीयुं बांधुं वहाले बेण त्रिभंगी वाह्यो रे,
सुमन्त्र त्रट तरोवरनी छाया, वहाला रास रमी गुणगायो रे । हरि० २

धन वृंदावन धन धन गोपी जेणे नंद कुंवर वश कीधो रे,
नरसैंयाचा स्वामीशुं मलीने, अमर अमृत रस पीधो रे । हरि० ३

पद १५४ मुं राग रामग्री

हां हां रे हरीवेण वाहरे वाहरे, रामग्री गाईरे हरिवेण वाईरे
गोपीजन सुरपति सहु छांडी जोवाने धाईरे, हरिवेण वाईरे । हरि० १

हां हां रे नेपुर कानधर्यां झुंबख पहेर्यां पाये,
सेंथे काजल नयने सिंदुर, एवा विप्रीत वेश धाये रे । हरि० २

हां हां रे रजनी शरदतणी रास रमे वाली,
वच वनमाली मे दे कर ताली, वांहोलडी वाली रे । हरि० ३

हां हां रे माननीने मानधर्यां, आव्यो मन अहंकार,
अंतरध्यान थया हरि तत्क्षण भी वृंदावन मोझार रे । हरि० ४

हां हां रे कामनीने ग्हान मल्यां जो छोडया अभिमान,
नरसैंयाचा स्वामी संगे रमतां, सुरपति थाय निरान रे । हरि० ५

पद १५५ मु०

चुंदडीनो रंग जोईने, गोपी चटकशुं चाली रे,
सेजडीए शामलीओ शोहे, कंठे वाहुलडी घाली रे । चुं० १
रमके चमके चालतां, कृष्णने मन भाली रे,
सोल शणगार सार्या सुदरी, ए मुख छे रंग रसाली रे । चु० २
सुगंध गंध सुरासुर भीनी, मुख तबोले बोले रे,
जोबन आव्युं तेवारे, मदन संतापे अतोले रे । चुं० ३
.... कहोनी कइ पेर कीजे रे,
नरसैंयाचा स्वामीचे सगम, तन मन धन सोंपीजे रे । चुंदडी० ४

पद १५६ मु०

हां हां रे वांसली वाई रे, मधुरु गाये काहान,
स्वर शब्द नाना विधना, रागरागणीना गान । वासली० १
हां हां रे मांहे मांहे रे, माननी राखे रंग,
धुणुणुणुणुणुणु उपांग वाजे, ताल निशान मृदग । वांसली० २
हा हां रे वींछीआ ठमके रे, काने भमूके माल,
एक एक ने दे आलिंगन, चाले मधुरी चाल । वांसली० ३
हा हां रे वृंदावन रास राच्यो, गोपी घूमे मरकलडां वाली,
सोल कला शशीयर शोभे, नभमे करते अजुवाली । वांसली० ४
हा हां रे सुरपति मोहि रह्या, तेहना थभी रह्या रे विमान,
नर्तनाटारभ पुष्प वृष्टि होए, जय जय श्री भगवान । वांसली० ५
हा हा रे रजनी अधिक वधी, प्रगट न होय भाण,
नरसैंयाचा स्वामीनी शोभा जोवा, मुनिवरे मुक्या ध्यान । वासली० ६

पद १५८ मु०

तृप्त थइ हरिनु मुख जोतां, हरखी मदिरिया मांहे रे,
मन गमतो मचको करीने, भीडु रुदीया मांहे रे । १
शाशा भाव धरु पीयु साथे, सुदर सेज समारी रे,
नद कुंवर सुदिरवर विलसु, तन मन उपर वारी रे । २
दीवडीए अजवालुं मंदिर, कुकुम रोल करावु रे,
भणे नरसैंयो शामलियाने, मोतीये लइ वधावुं रे । ३

पद १५९ मुं

तन मन धन मारी वहाला उपर रजनी रंग भेर रमशुं रे।
निरभे थइने शामळी ने कंठे बांहोलडी धरशुं रे। तन० १

सारी पेठे शणगार करीने जे कहेशो ते करशुं रे
भाव भरी भामणडां लइने रसमांहे रीझवशुं रे। तन० २

मारो वहालो छे अत्यंत भोगी, भली पेरे भोगवशुं रे,
भखे भरसैंयो दै आलिंगन, अधर अमृत रस पीशुं रे। तन०

रासलीला

(श्री हितहरिवंश कृत)

१६ वीं शताब्दी

परिचय—

व्रज में रास को अभिनेय बनाने का श्रेय वल्लभाचार्य एव श्री हितहरिवंश-जी को दिया जाता है। सम्भवत. रास के अभिनय की परम्परा कालचक्र के कारण विलीन सी हो गई थी। और इन दोनों महात्माओं ने इसे पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया। इन महात्माओं ने स्वय रासपदो की रचना की और अपने शिष्यों को रासपद-रचना एव उनके अभिनय के लिए प्रोत्साहित किया।

श्री हितहरिवंश के रास की कथावस्तु क्रमबद्ध नहीं प्रतीत होती। सम्भवत. उनका ध्यान घटना के आरोहावरोह की ओर उतना नहीं था जितना राधा और कृष्ण की मनोदशा के दिग्दर्शन की ओर। रासलीला के प्रारम्भ में एक सखी राधिकाजी को कृष्ण के साथ सखियों के नर्त्तन की सूचना देती है। वह नर्त्तक कृष्ण की अनुपम शोभा के वर्णन द्वारा राधा के मन में रास की लालसा उद्दीप्त करती है। वह कृष्ण के वेणुवादन की ओर राधिका का ध्यान आकर्षित करती है।

राधिका के प्रस्थान का वर्णन कवि छोड़ गया है। पदों से प्रतीत होता है कि राधिका कृष्ण के पास पहुँचती हैं और रास में सम्मिलित होती हैं। उन दोनों का नर्त्तन देखकर ललितादिक सखिया मुग्ध हो जाती हैं। कृष्ण रासलीला करते हुए एक बार स्वत स्त्री वन जाते हैं। राधा-कृष्ण के रास नर्त्तन का वर्णन कवि मधुर पदों और कोमल शब्दों के मध्यम से व्रज की उस मनोहारी शैली में करता है जो भारत के दूरस्थ भागों से आनेवाले यात्रियों को आकर्षित प्रतीत होती है। संस्कृत श्लोकों के साथ व्रज की मधुर भाषा के मध्य सगीत का जो स्रोत फूट पड़ता है वह दूरागत यात्रियों को शीतलता प्रदान करता है।

———

रासलीला

(श्री हितहरिवंश कृत)

१६ वीं शताब्दी

राग बिलावलि

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान,
रास रच्यौ श्याम तट कलिंद नंदिनी ।
निर्तत जुवती समूह राग रंग अति कुतूह,
बाजत रसमूल मुरलिका अनंदिनी ॥ १ ॥

वंशीवट निकट जहाँ परम रमनि भूमि तहाँ,
सकल सुखद मलय बहै वायु मंदिनी ।
जाती ईषद विकाश कानन अतिसै सुवास,
राका निशि शरद मास विमल चंदिनी ॥ २ ॥

नर वाहन प्रभु निहार लोचन भरि घोष नारि,
नखशिख सौन्दर्य काम दुख निकंदिनी ।
विलसहि भुजग्रीव मेलि भामिनि सुख सिंधु झेलि,
नव निकुंज श्याम केलि जगत बंदिनी ॥ ३ ॥

(२) राग आसावरी

खेलत रास रसिक ब्रज मंडन । जुवतिन अंश दिये भुज दंडन ॥१॥
शरद विमल नभ चंद विराजै । मधुर मधुर मुरली कल बाजै ॥२॥
अति राजत घनश्याम तमाला । कंचन बेलि बनी ब्रजबाला ॥३॥
बाजत ताल मृदंग उपंगा । गान मथत मन कोटि अनंगा ॥४॥
भूषन बहुत विविध रंग सारी । अंग सुघंग दिखावत नारी ॥५॥
बरषत कुसुम मुदित सुर जोषा । सुनियत दिवि दुंदुभि कलघोषा ॥६॥
जै श्रीहितहरिवंश मगन मन श्यामा । राधारमन सकल सुख धामा ॥७॥

राग धनाश्री

मोहन लाल के रसमाती ।।
वधु गुपति गोवति कत मोसौं प्रथम नेह सकुचाती ।।१।।
देखि संभार पीतपट ऊपर कहाँ चुनरी राती ।।
टूटी लर लटकत मो तिनकी नख विधु अंकित छाती ।।२।।
अधर बिंब खंडित मषि मंडित गंड चलति अरुझाती ।।
अरुण नैन घूमत आलस जुत कुसुम गलित लटपाती ।।३।।
आजु रहसि मोहन सब लूटी विविध आपनी थाती ।
जै श्रीहितहरिवंश बचन सुनि भामिनि भवन चली मुसिकाती ।।४।।

तेरे नैन करत दोऊ चारी ।
अति कुलकात समात नहीं कहूँ मिले हैं कुंजविहारी ।।१।।
बिथुरी माँग कुसुम गिरि गिरि परै लटकि रही लट न्यारी ।
उर नख रेख प्रगट देखियत है कहा दुरावत प्यारी ।।२।।
परी है पीक सुभग गंडनि पर अधरनि रंग सुकुवारी ।।
जै श्रीहितहरिवंश रसिकनी भामिनि आलस अंग अंग भारी ।।

आजु गोपाल रास रस खेलत पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी ।
शरद विमल नभ चंद विराजत रोचक त्रिविध समीर री सजनी ।।१।।
चंपक बकुल मालती मुकलित मत्त मुदित पिक कीर री सजनी ।
देसी सुधंग राग रंग नीको ब्रज जुवतिन की भीर री सजनी ।।२।।
मघवा मुदित निसान बजायो व्रत छाड्यौ मुनि धीर री सजनी ।
जै श्रीहितहरिवंश मगन मन श्यामा हरत मदन घन पीर री सजनी ।।३।।

मोहनी मदनगोपाल की बांसुरी ।।
माधुरी श्रवणपुट सुनत सुनि राधिके,
करत रति राज के ताप को नासुरी ।। १ ।।
शरद राका रजनि विपिन वृंदा सजनि,
अनिल अति मंद शीतल सहित बासुरी ।।
परम पावन पुलिन भृङ्ग सेवत नलिन,
कल्पतरु तीर बलबीर कृत रासु री ।। २ ।।

सकल मंडल भली तुम जु हरि सौं मिली,
बनी वर बनित उपमा कहौं कासु री ॥
तुम जु कंचनतनी लाल मर्कत मनी,
उभै कल हंस हरिवंश बलि दासु री ॥ ३ ॥

राग सारंग

आज बन नीको रास बनायो ॥
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट मोहन बेनु बजायो ॥१॥
कल कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो ॥
जुवतिनु मंडल मध्य श्याम घन सारंग राग जमायो ॥२॥
ताल मृदंग उपंग मुरज डफ मिलि रस सिन्धु बढ़ायो ॥
विविध विशद वृषभान नंदनी अंग सुघंग दिखायौ ॥३॥
अभिनय निपुन लटकि लट लोचन भृकुटि अनंग नचायौ ॥
ताताथेई ताथेई धरति नौतन गति पति ब्रजराज रिझायो ॥४॥
सकल उदार नृपति चूड़ामणि सुख वारिद बरषायौ ॥
परिरंभन चुम्बन आलिंगन उचित जुवति जन पायो ॥५॥
बरषत कुसुम मुदित नभ नाइक इंद्र निसान बजायो ।
जै श्रीहितहरिवंश रसिक राधापति जस वितान जग छायौ ॥६॥

राग गौरी

मोहन रास हुलासिनो रूलहु ॥
सुनहु न सखी सहित ललितादिक निरखि निरखि नैननि किन फूलहु ॥१॥
अति कल मधुर महा मोहन धुनि उपजत हंस सुता के कूलहु ॥
थेई थेई वचन मिथुन मुख निसरत सुनि सुनि देह दशा किन भूलहु ॥२॥
मृदु पदन्यास उठत कुमकुम रज अद्भुत बहत समीर दुकूलहु ॥
कबहुँ श्याम श्यामा दसनांचल कचकुचहार छुवत भुज मूलहु ॥३॥
अति लावण्य रूप अभिनय गुन नाहिन कोटि काम समतूलहु ॥
भृकुटी विलास हाँस रस बरषत जै श्रीहितहरिवंश प्रेमरस झूलहु ॥४॥

॥ छंद ॥ चार ॥ त्रिभगी ॥

मोहन मदन त्रिभंगी ॥ मोहन मुनि मन रंगी ॥
मोहन मुनि सघन प्रगट परमानंद गुन गंभीर गुपाला ॥
शीश किरीट श्रवन मणि कुंडल उर मंडित बनमाला ॥
पीताम्बर तन धात विचित्रित कल किंकिणि कटि चंगी ॥
नखमणि तरणि चरण सरसीरुह मोहन मदन त्रिभगी ॥१॥

मोहन वेनु वजावै ॥ इहि रव नारि वुलावै ॥
आईं व्रजनारि सुनत बशी रव गृहपति बंधु विसारे ॥
दरशन मदन गुपाल मनोहर मनसिज ताप निवारे ॥
हरपित बदन बंक अवलोकनि सरस मधुर धुनि गावै ।
मधुमय श्याम समान अधर धरे मोहन वेनु बजावै ॥२॥

रास रच्यो वन माही ॥ विमल कमल तरु छाँही ॥
विमल कलप तरु तीर सुपेसल शरदरैन वर चदा ॥
शीतल मद सुगंध पवन बहै तहाँ खेलत नंद नंदा ॥
अद्भुत ताल मृदंग मनोहर किंकिनि शब्द कराही ॥
यमुना पुलिन रसिक रस सागर रास रच्यौ वन माही ॥३॥

देखत मधुकर केली ॥ मोहे खग मृग वेली ॥
मोहे मृग धेनु सहित सुर सुदर प्रेम मगन पट छूटे ॥
उडगन चकित थकित शशि मडल कोटि मदन मन लूटे ॥
अधर पान परिरंभन अतिरस आनंद मगन सहेली ॥
जै श्रीहितहरिवंश रसिक सचु पावत देखत मधुकर केली ॥४॥

राग कल्याण

रास में रसिक मोहन वने भामिनी ।
सुभग पावन पुलिन सरस सौरभ,
नलिन मत्त मधुकर निकर शरद की जामिनी ॥१॥
त्रिविधि रोचक पवन ताप दिनमनि दवन,
तहाँ ठाढ़े रँवन सग सत कामिनी ॥
ताल वीना मृदंग सरस नाचत,
सुधंग एकते एक सगीत की स्वामिनी ॥२॥

राग रागनि जमी विपिन बरषत अमी,
अधर बिंबनि रमी मुरली अभिरामनी ॥
लाग कट्टर उरप सप्त सुर सौं सुलप लैत,
सुंदर सुघर राधिका नामिनी ॥३॥

तत थेई थेई करत गतिव नौतन,
भरत पलटि डगमग हरति मत्त गज गामिनि ॥
भाइ नवरंग धरी बरसि राजत खरी बने
कल हंस हरिवंश घन दामिनी ॥४॥

स्याम सग राधिका रास मंडल बनी ।

बीच नंदलाल ब्रजबाल चंपक बरन ज्यौं
घन तड़ित बिच कनक मर्कत मनी ॥१॥

लेत गति मान तत थेई हस्तक भेद
सरिगम पधनिध सप्त सुर नंदनी ।
निर्त्य रस पहिर पट नील प्रगटित छबी,
बदन जनौ जलद में मकर की चंदनी ॥२॥

राग रागिनी तान मान संगीत मत,
थकित राकेश नभ शरद की जामिनी ॥
जै श्री हित हरिवंश प्रभु हंस कटि केहरि
दूरिकृत मदन मद मत्त गज गामिनी ॥३॥

[श्री हित चतुरासी जी से उद्धृत]

रास के स्फुट पद

(विविध कवि)

१६ वीं शताब्दी

परिचय—

मध्यकालमें वैष्णव धर्म का प्रचार करने के लिए अनेक सन्त महात्माओं ने कृष्ण की रासलीला का वर्णन किया है। इस स्थान पर गोविन्ददास, राधामोहन, बलरामदास, चडीदास, ज्ञानदास, रामानन्द, उद्धवदास आदि कतिपय महात्माओं की प्रमुख रचनाओं को उद्धृत किया जा रहा है। इन महात्माओं ने श्रीमद्भागवत को आधार मान कर राधाकृष्ण की रासलीला का चित्र मौलिक रीति से चित्रित किया है। मौज में आने पर रास की छटा जो स्वरूप इनकी आँखों के सम्मुख आया भक्तों को उसी का परिचय कराने के लिए इन्होंने शब्दों में उसे बाँध कर रख दिया। सूरदास नददास प्रभृति भक्तों ने रास वर्णन में प्रायः एक क्रम का ध्यान रखा है किन्तु उक्त कवियों ने कभी राधाकृष्ण मिलन का वर्णन किया है तो उसके आगे ही मुरली ध्वनि से मुग्ध होकर गोपिकाओं के गृहत्याग का। इस प्रकार पूर्वापर की सगति की उपेक्षा करते हुए इन महात्माओं ने स्फुट पदों मे अपने इङ्गत भावों को अभिव्यक्त किया है।

इन महात्माओं ने रासवर्णन में इसका सर्वथा ध्यान रखा है। प्रत्येक पद की स्वर लहरी में माधुर्य भाव इस के सदृश तैरता चलता हैं। इनके विचार और वाणी में अत्यन्त सरलता पाई जाती है। यद्यपि ये महात्मा मक्त-कवि के साथ साथ आत्मज्ञानी भी थे। इन्होंने कहीं तो भक्ति-समन्वित पदों की रचना की है तो कहीं ब्रह्मज्ञान की ओर सकेत कर दिया है। इनका उद्देश्य न तो केवल काव्यरचना करना था और न नितान्त ब्रह्मज्ञान निरूपण। भक्तों की कल्याण भावना के वशीभूत ये आत्मज्ञानी महात्मा सरस पदों की रचना करते और उनका स्वत गान कर अथवा निपुण गायक से उनको श्रवण कर प्रसन्न होते। रास-मडलियाँ उनके प्रसिद्ध पदों को

अभिनय का आधार बनातीं। इस प्रकार दूर देश के विविध भाषा भाषी यात्री तीर्थों में रास का अभिनय देखकर अलौकिक रस का आनन्द लूटते। इन भक्त कवियों को इसी बात से परम सन्तोष होता और अपनी काव्यरचना के प्रयास को सफल मानते।

इन स्फुट पदों में प्रायः पूर्वी भारत के सन्त महात्माओं की रचनाएँ संगृहीत हैं। इनकी भाषा में पूर्वीपन का प्राधान्य है। बंगाल में प्रचलित शब्दों और मुहावरों का भी इन रचनाओं में दर्शन होता है। इन पदों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये स्वतंत्र महात्मा भाषा के प्रयोग में देशकाल की सीमाओं से मुक्त थे। इनकी भाषा उस काल की राष्ट्रभाषा थी। प्रत्येक भाषाभाषी अपनी शक्ति के अनुसार इन पदों से अर्थ निकाल कर आनन्द का अनुभव करता।

इन कवियों का संक्षिप्त परिचय भूमिका में दिया जा रहा है।

रास के स्फुट पद

(विविध कवि)

१६ वीं शताब्दी

रासलीला—

अथ रासो यथा—

हरिर्नवघनाकृतिः प्रतिवधूद्वयं मध्यत—
स्तदंशविलसद्भुजो भ्रमति चित्रमेकोऽप्यसौ ।
वधूश्च तड़िदुज्ज्वला प्रतिहरिद्वयं मध्यतः
सखीकृतकराम्बुजा नटति पश्य रासोत्सवे ॥

["उज्ज्वल नीलमणिः"]

कृष्ण जिनि नवघन तड़ित येन गोपीगण
तड़ितेर माझे जलधर ।
तड़ित मेघेर माझे सम सख्या ह्या साजे
रासलीला बड़ मनोहर ॥

[उज्ज्वलचन्द्रिका]

महारास

तूड़ि—रूपक

वृन्दावन-लीला गोरार मनेते पड़िल ।
यमुनार भाव सुरधुनी ये धरिल ॥
फूल-वन देखि वृन्दावनेर समान ।
सहचर गण गोपीगण अनुमान ॥
खोल करताल गोरा सूमेलि करिया ।
तार माझे नाचे गोरा जय जय दिया ॥
वासुदेव घोष ताहे करये विलास ।
रास-रस गोरा चाँद करिला प्रकास ॥

बेहाग—माढा कावोयाली

भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

बेहाग—माढा काओयाली

माढा

रूप देखि आपनार
कृष्णेर हय चमत्कार
आस्वादिते मने उठे काम ॥

बेहाग—चमताल

शारद-चन्द पवन मन्द
विपिने भरल कुसुम गन्ध
फुल्ल मल्लिका मालति यूथि
मत्त-मधुकर-भोरणि ।
हेरत राति ऐछन भाति
श्याम मोहन मदने माति
मुरली-गान पंचम तान
कुलवती-चित-चोरणि ॥
सुनत गोपी प्रेम रोपि
मनहिं मनहिं आपनि सोंपि
ताँहि चलत याँहि बोलत
मुरलिक कल लोलनि ।
बिसरि गेह निजहुँ देह
एक नयने काजर रेह
बाहे रंजित कङ्कण एकु
एकु कुण्डल डोलनि ॥
शिथिल-छन्द निविक बन्ध
बेगे धाओत युवती वृन्द
खसत वसन रसन चोलि
गलित वेणि लोलनि ॥

ततहिँ वेलि सखिनि मेलि
केहू काहूक पथे ना चलि
ऐछे मिलल गोकुल चन्द
गोविन्द दास गाहनि ॥

मल्लार वेहाग—दूठुकी

विपिन मिलल गोपनारी
हेरि हसत मुरली धारी
निरखि वयन पूछत वात
प्रेम सिन्धु गाहनि ।

पूछत सवक गमन-क्षेम
कहत कीये करव प्रेम
व्रजक सवहुँ कुशल वात
काहे कुटिल चाहनि ॥

हेरि ऐछन रजनी घोर
तेजि तरुणी पतिक कोर
कैछे पाओोलि कानन ओर
थोर नहत काहिनी ।

गलित-ललित-कवरी-वन्ध
काहे धाओॉत युवती वृन्द
मन्दिर किये पड़ल द्वन्द्व
वेढ़ल विपथ-वाहिनी ॥

कीये शारद चॉदनी राति
निकुंजे भरल कुसुम पाँति
हेरत श्याम भ्रमरा-भाति
वूझि आओोलि साहनि ।

एतहुँ कहत ना कह कोई
काहे राखत मनहि गोई
इहहि आन नहई कोई
गोविन्द दास गायनि ॥

बेहाग—तेओट

गेहन बचन कहल सब कान।
ब्रज-रमणीगण सजल-नयान ॥
दुरल सबहुँ मनोरथ-सरणि।
अवनत आनन नले क्षिसु धरणि ॥
आकुल अन्तर गदगद कहई।
अकरुण-बचन-विशिख नाहि सहइ ॥
शुन शुन सुकपट श्यामर-चन्द।
कैछे कहसि मुहु इह अनुबन्ध ॥
माँगसि कुलशील मूरखिक साने।
किङ्करिगण अनु कैसे घरि आने ॥
अब कहु कपट धरमयुत बोल।
धार्मिक हरये कुमारि-निचोल ॥
ताहे सौंपिल जीउ सूधा रस पाव।
सूधा पद छोड़ि अब को काहाँ जाव ॥
एतहु कहल जब युवती मेल।
सुनि नन्द नन्दन हरषित भेल ॥
करि परसाद ताहिँ करये विलास।
आनन्दे निरखये गोविन्द दास ॥

केदार मिश्र कामोद—मध्यम दशकुशी

काश्चन मणिगणे जनु निरमाओल
रमणी-मंडल साज।
माझहि माझ महा मरकत-मणि
श्यामर नटवर राज ॥
धनि धनि, अपरूप रासविहार।
थीर बिजुरि सञे चंचल जलधर
रस बरिखये अनिवार ॥ध्रु॥
कत कत चान्द तिमिर पर विलसइ
तिमिरहुँ कत कत चान्दे।
कनक-लताए तमालहुँ कत कत
दुहुँ दुहुँ तनु तनु बान्धे ॥

कत कत पद्मिनि पञ्चम गाओ त
मधुकर धरु श्रुति-भाप ।
मधुकर मेलि कत पद्मिनि गाओ त
मुगधल गोविन्ददास ॥

वेहाग—जपताल

नागर सबे (सङ्गे) नाचत कत
यूथे यूथे अङ्गना ।
चौदिग घेरि सखिगण मेलि
ठमकि ठमकि चलना ॥
झनन झनन नूपुर वोलन
किङ्किणी किणि कलना ।
गोविन्द-मोहिनी राइ रङ्गिणि
नाचत कत शोभना ॥

विहगड़ा—बृहत् जपताल ओ पटताल

व्रजाङ्गना सङ्गे रङ्गे नाचे नन्दलाला ।
मेघचक्र माझे येन विद्युतेर माला ॥
रक्त कण्टी सुमध्यमा सकल योषित ।
देखिया यादवानन्द पाइलेन प्रीत ॥
नाचिते नाचिते केह श्रमयुत हइया ।
आवेशे कृष्णेर अङ्गे पड़े मूरछिया ॥
ताहार सादरे कृष्ण करेन सम्भाषण ।
वदन वदन-शशी करिया मिलन ॥
ये मन वालक लइया खेले निज छाय ।
ते मति आपन रङ्गे रङ्गी यदुराय ॥

श्रीराग जपताल

मधुर वृन्दा-विपिन माधव ॥
विहरे माधवी सङ्गिया

दुहु गुण दुहु गाओये सुललित
चलत नर्त्तक-भङ्गिया ॥

भमए युगल पर देइ परस्पर
नओ ल किशलय तोड़िया ।
दोलुक भुज दुहु काम्पे सोहइ
चुम्बइ मुख-शशि मोड़िया ॥

तखि मकरन्द—पाइ पेइल
मुखर मधुकर-पाँतिया ।
मत्त कोकिल मङ्गल गायत
नाचत शिखि कुल मातिया ॥

सकल सखिगण कुसुम वरिषण
करत आनन्द मोरिया ।
दास गिरिधर कबहु हेरब—
काँपि शामर-गोरिया ॥

बेहाग—मध्यम दशकुशी

रास अवसाने अवश भेल अङ्ग ।
बैठल दुहुँ जन रभस-तरंग ॥

श्रमभरे दुहुँ अङ्गे घाम बहि जाय ।
किङ्करिगण करु चामरेर बाय ॥

पैठल सबहुँ यमुना-जल माह ।
पानि-समरे दुहुँ करु अवगाह ॥

नाभि मगन जले मयजली केल ।
दुहुँ दुहुँ मेलि करइ जल खेल ॥

कण्ठ मगन जल कयल पयान ।
पुनये नाह तब सबहुँ पयान ॥

ऐसे चले कानु राइ लइ गेल ।
यो अभिलाष करल दुहुँ भेल ॥

जल सचे उठि तव मुछइ शरीर ।
जनु विधु-मण्डित यामुन तीर ॥
रास विलास करि पानि-विलास ।
दास अनन्तक पूरल आश ॥

केदार—लोफा

केलि समाधि उठल दुहुँ तीरहि
वसन भूषण परि अङ्ग ।
रतन मन्दिर माहा वैठल दुहुँ जन
करु वन-भोजन रङ्ग ॥
आनन्दे को करु ओर ।
विविध मिठाई क्षीर वहु वनफल
भुञ्जइ नन्द किशोर ॥ ध्रु ॥
नागर-शेषे लेइ सव रङ्गिनि
भोजन करु रस पुञ्ज ।
भोजन समाधि ताम्बूल सभे खाओल
शूतलि निज निज कुञ्ज ॥
ललितानन्द कुञ्ज यमुना-तट
शूतल युगल किशोर ।
दास 'नरोत्तम करतहि सेवन
अलस नयन हेरि भोर ॥

नृत्य रास (१)

केदार मिश्र कामोद—मध्यम दशकुसी

नाचत गौर रासरस अन्तर
गति अति ललित त्रिभङ्गी
वरज-समाज रमणिगण यैछन
तैछन अभिनय-रङ्गी ॥

देख देख नवद्वीप माझ ।
गाओत गाओत मधुर मधुर गाव
माझहि वर द्विजराज ॥ ध्रु ॥
ता ता त्रिमि त्रिमि मृदङ्ग वाजत
झुनु झुनु नूपुर रसाल ।
रबाब बीन बाजे सर-मंडल
सुमिलित करु करताल ॥
ए हेन आनन्द न हेरि त्रिभुवन
निरुपम प्रेम विलास ।
सो सुख सिन्धु परश किये पामर
कह राधामोहन दास ॥

सूहि—समताल

गोरा नाचे प्रेम विनोदिया ।
अखिल भुवनपति विहरे नदिया ॥
थिग थिथिग नाहि जाने नाचिते नाचिते ।
चाँदमुखे हरि बले काँदिते काँदिते ॥
गोलोकेर प्रेमधन जीवे बिलाइया ।
संकीर्तने नाचे गोरा हरि बोल बलिया ॥
रसे भर भर डर डर मुखे मृदु हास ।
सो रसे वञ्चित भेल बलराम दास ॥

वेहाग—जतताल

शारद पूर्णिमा निरमल राति
उजोर सकल बन ।
मल्लिका मालती विकशित तथि
मातल भ्रमरगण ॥
तरुकुल-डाल फुल भरि भाल
सौरभे पूरित ताय ।
देखिया से शोभा जगमनलोभा
मुदित नागरराय ॥

निधुवने आछे रतन-वेदिका
मणि माणिक्येते बाँधा ।
फटिकेर तरु शोभियाछे चारु
तहाते हीरार छाँदा ॥
चारि पाशे साजे प्रवाल मुकुता
गाँथनि आटनि कत ।
ताहाते वेड़िया कुञ्ज कुटिर
निरमाण शत शत ॥
नेतेर पताका उड़िछे उपरे
कि तार कहिव शोभा ।
अति रम्य स्थल देव अगोचर
कि कहिव तार आभा ॥
माणिकेर घटा किरणेर छटा
एमति मण्डप-घर ।
चण्डीदास बले अति अपरूप
नाहिक ताहार पर ॥

केदार--मध्यम एकताला

एके से मोहन यमुनार कूल,
आरे से केलि-कदम्बमूल,
आरे से विविध फुटल फुल
आरे से शारद यामिनी ।
भ्रमर भ्रमरी करत राव,
पिक कुहु कुहु करत गाव,
संगिनी रंगिनी मधुर बोलनी,
विविध राग गायनी ॥
वयस किशोर मोहन ठाम,
निरखि मूरछि पड़त काम,
सजल - जलद - श्याम - धाम,
पियल-वसन-दामिनी ।

श्यामल धवल कालिम गोरी,
विविध बसन बनि किशोरी,
नाचत गावों त रस विभोरी,
सबहुँ बरज-कामिनी ॥
बीणा कपिनाश पिनाक मास,
सप्त सुर बाजत ताल,
ए स्वर-मयङ्क मन्दिरा डफ,
मेलि कछुँ गायनी ॥
नुपुर घुघुर मधुर बोल,
झनन ननन नटन लोल,
हासि हासि केहु करत कोल
मालि मालि बोलनि ।
बलराम दास पढ़त ताल,
गावों त मधुर अति रसाल
शुनत शुनत जगत भमत,
हृदय-पुलकि दोलनि ॥

बेहाग—झपताल

देख रि सखि श्याम चन्द
इन्दु बदनि राधिका ।
विविध यन्त्र युवति वृन्द
गावों ये राग-मालिका ॥
मन्द पवन कुञ्ज भवन
कुसुम गन्ध माधुरी ।
मदन-राज नय समाज
भ्रमत भ्रमर चातुरी ॥
तरल ताल गति दुलाल
नाचे नटिनि नटन शूर ।

प्राणनाथ धरत हात
राइ ताहे अधिक पूर ॥
अंगे अगे परशे भोर
केहुँ रहत काहुँक कोर ।
ज्ञानदास कहत रास
यैछन जलदे विजुरि जोर ॥

धानसी—जपताल

नव नायरि नव नायर
नौतुन नव नेहा ।
आँखे आँखे निमिखे निमिखे
विछुरल निज देहा ॥
नौतुन गण नौतुन वन
नौतुन सखि गाने ।
ता दिग् दिग् ता दिग् दिग्
थो दिग् दिग् थो दिग् दिग्
ताल फुकारइ वामे ।
नौतुन रस केलि रभस
नौतुन गति ताले ।
द्रिमि धो द्रिमि थो द्रिमि द्रिमि
वाओ़त सखि भाले ॥
चञ्चल मणि कुण्डल चल
चञ्चल पट वास ।
दोहें दोहा-कर धरिया नाचत
हेरत अनन्त दास ॥

वेहाग—लोफाताल

वाजत ताल रवाव पाखोआज
नाचत युगल किशोर ।
अग हेलाहेलि नयन ढुलाढुलि
दुहुँ दोहाँ मुख हेरि भोर ॥

चौदिगे सखि मेलि गाओ त बाओ त
करहि करहि कर जोर।
नवघन परे जनु उदित सतावली
दुहुँ रूप अमिक उजोर॥
बीण उपाग मुरज सर-मण्डल
बाजत भोरहि थोर।
अनन्तदास-पहुँ राइ-मुख निरखइ
येछन चान्द चकोर॥

'कानाड़ा मिश्र चपताल-मध्यम चामाली'

चाँदवदनी नाचत देखि॥
ता था थे इ थे इ तिनिकिटि तिनिकिटि मधुँ
त्रिग त्रिग त्रिग त्रिग त्रिग त्रिग त्रिग
थे इ टमि टमि टमिकि टमिकि टमि
ताक ताक गदि गदि गदि गदि गदि गदि गदि गदि
दथा दिमिता ताता थे इ तिनिकिटि मध्र॥ध्रु।
ना हबे भूपधेर ध्वनि ना नाचिबे थिर
द्रुतगति चरणे ना वाजिबे मञ्जीर॥
विषम संकट छाड़े चामाइय चाँशी।
घन झंकेर माझे नाच द्रुम्मिन प्रेयसी॥
हारिले तोमार सखो तेरार काँचली।
मिनिले तोमारे दिप माहन मुरली॥
येमन बलेन श्यामनागर तेमनि नाचेन राइ।
मुरली लुकान श्याम चारि दिके चाइ॥
सबाइ बले राइयेर जय नागर हारिले।
दुःखिनि कहिछे गोपी मयचली हासाले॥

वराग मिश्र धानशी—काओयालि ताल

(चारे) धनि टमकि टमकि चलि जाय।
चारु वदने मृदु मधुरिम हासत

वेशर दुलिछे नासाय ॥
नूपुर रुनु भुनु झुनुरु झुनुर झुनु
झुनुरे झुनरे झंकार ।
दु बाहु युगले (धनिर) वलया शोभित
(धनिर) गले दोले गजमोतिहार ॥
ललित नितम्बे लम्बित वेणी
फणिमणि येन शोभा पाय ।
चरणे नूपुर पुन कंकण कन कन
कटितटे किंकिणी वाय ॥
बाजे यत यन्त्र सुतन्त्र मधुर स्वरे
निधुवनशब्दे मातायं ।
केलि कुतूहले श्रीरास-मण्डले
केहु गाय केहु वा वाजाय ॥
सखिगण सगे रगे रसरंगिणी
चारि पाशे नाचिया वेड़ाय ।
आध घुङटा दिठि उलटि पालटि
अनिमिखे पिया मुख चाय ॥
देखिया रसिकवर विदग्ध नागर
बाहु पसारिया धाय ।
भुजे भुजे आकर्षण विनोद बन्धने
विनोदिनी विनोद माताय ॥
कनक कमल माझे नील-उत्पल साजे
मेघे येन विजुरि खेलाय ।
दुहुँक रूपेर सीमा नाहि देखि उपमा
वसु रामानन्द गुण गाय ॥
कानाड़ा मिश्र झपताल—मध्यम धामाली
श्याम तोमारे नाचते हवे ।
दिगे दा भिने केटा थोर लाग भिग भाँ ॥
उड़ ताडा थोइ भनुर भनुर भनु
भनु भनु भनु भनु ।

घोइ घोइ घोइ गिड़ गिड़ गिड़
गिड़ गिड़ गिड़ गिड़ ॥
गिड़ विषा दिमिता साना योरि काठा भर्जे ॥ ध्रु ॥
ना नड़िवे गराङ सुराङ नूपुरेर कड़ाइ ।
ना नड़िवे वनमाला मुक्तिर पड़ाइ ॥
ना नड़िवे क्षुद्र घण्टि मकरेर कुण्डल ।
ना नड़िवे नासार मोति नयनेर पल ॥
ललिता बाजाये वीणा विशाखा मृदंग ।
सुचित्रा बाय सप्तस्वरा राइ देखे रंग ॥
तुंगविद्या कपिनास धम्बुरा रंगदेवी ।
इन्दुरेखा पिनाक बाय मन्दिरा सुदेवी ॥
चञ्चट बाजे घरि हार वनमाली ।
चूड़ा बाँशी कड़े सब देव करताली ॥
यदि किन राइके दिव चामरा सब दासी ।
नहले कारागारे राखिव दुखिनी दुनि हासि ॥

लोहिनी — कवताल

नाच श्याम सुखमय ।
देखि, छाले माने केमन आनोदय ॥
प तो घाटे माठे दान साधानय ।
एखाने गाइते बाजाते आने गोपीसमुदाय ॥
एकबार नाच हे श्याम फिरि फिरि ।
संगे संगे नाचब मोरा चाँद-वदन हरि ॥

लाहिनी वेहाग—इकत् कवताल

नाचत नागर काम
विधुमुखि फिरि फिरि हेरत बयान ॥ ध्रु ॥
बाजत कत कत यन्त्र रसाल ।
गावत सहचरी देयत ताल ॥

चौदिके वेढ़ल नटिनीसमाज।
तार माझे शोभित नटवरराज॥

पदतले ताल धरणीपर धरि।
नाचत संगे निशक मुरारी॥

हासि ललिता करे लइब डम्ब।
विकट ताल तब करिल आरम्भ॥

हासि कमलमुखी कहे शुन कान।
इये परे पदगति करह सन्धान॥

माति मदन-मदे मदन गोपाल।
विकट ताल पर नाचत भाल।

रिझि देयल धनि निज मति माल॥
सुखभरे शेखर कहे भालि भाल।

वेहाग-मल्लार—वृहत् झपताल

आजु श्याम रास-रम-रंगिया
नव युवराज युवति संगिया॥ ध्रु॥

चञ्चल-गति चरणे चलत
संगीत सुरंगिया।
नाचे मनोहर-गति अंगभंगिया॥

वीण अधिक विविध यन्त्र
वाओये उपंगिया।

मधुर ता ता थै थै थै
वोलत मृदंगिया॥

कानु लपत सुर मोहन
लाल मंजिर मानरि।

रुचिरताता थैया थैया थैया
गाओत सुर तान रि॥

वृषभानु-नन्दिनि किशोरि गोरि
गाओत अनुपाम रि।

शिवराम आनन्दे नाहिक ओर
हेरत रास धामरि ॥

'शाहिनी मिश्र बेहाग-झपताल

राधा श्याम नाचे रे मनु अंक पातिया ।
जलधर श्याम एकि अनुपाम
थिर बिजुरि वामे राखिया ॥
थगु थगु थगुता रंगे अंगे अलेपा
झलमथि झलमलिया ।
मंजीर मूक ए बड़ि कौतुक
किंकिणी किनकिनिया ॥
नाचे यदुवीर थिर करि शिर
कुण्डल मृदु दोलनिया ।
माधव गाने सुरकुल 'वाखाने
मुनि जन मन मोहनिया ॥
अंसे अंसे दुहुँ विनिहित-बाहु
हास दामिनी दमनीया ।
अंग भंग करि श्री रासबिहारी
गोविंददास हेरे मातिया ॥

बेहाग झपताल

नाचत नव नन्ददुलाल
रसवती करि संगे ।
रबाब खवाब बीणा कपिनास
बाजत कत रंगे ॥
कोइ गायत कोइ बायत
कोइ धरत ताले ।
सखिगण मिलि नाचइ गाओइ
मोहित मन्दलाले ॥
एक नाचिछे शारी माचिछे
बसिया तरूर डाले।

कपोत कपोती दुजने मिलिया धारिछे कवड़ ताले
फुलेर उपरे भ्रमरा नाचिछे
भ्रमरी नाचिछे संगे।
मधुकर यत नाचे कत शत
मधु दिये तारा रंगे॥
यमुना नाचिछे तरंगेर छले
ताहाते मकर-मीने।
जलचर पाखी नाचिया वुलिछे
नाहि जाने राति दिने॥
उर्द्धे नाचिछे यत देवगण
होइया आनन्दचित।
गन्धर्व किन्नर नाचिया नाचिया
गाइछे मधुर गीत॥
ब्रह्मा नाचिछे सावित्री सहिते
पुलके पूरित अंग।
वृषेर उपरे नाचे महेश्वर
पार्वती करि सग॥
मिहिर नाचिछे स्व-पत्नी सहिते
रोहिणी सहिते चान्दे।
यत देवगणे आनन्दे नाचिछे
हिया थिर नाहि वान्धे॥
सुरासुर आदि आनन्दे नाचिछे
पाताले नागेरसने
कूर्मेरसने अनत नाचिछे
अति आनन्दित मने॥
सुमेरु सहिते पृथिवी नाचिछे
वलिछे भालि रे भालि।
गोवर्धन गिरि आनन्दे नाचिछे
यार तटे रास केलि॥

ए सब नाचन देखिया मगन
बहिछे आनन्दधारा।
नित्यानन्द दास नाचन देखिया
नाचिछे बाउल पारा॥

महारा बरताल

अतिशय नटन परिश्रम भै गेल
घामे विथल तनु-वास
नृत्त समाधि राइ कानु बैठल
परल रमणी चाउ पास॥
आनके कहने ना जाय।
चामर करे कोइ बीजन बीजइ
कोइ बारि लेइ धाय॥ ध्रु॥
चरण पाखालइ ताम्बूल जोगायइ
कोइ मुछायइ घाम।
पेखल दुहुँ तनु शीतल करल कनु
कुवलय चम्पक दाम॥
आर सहचरिगण बहुविध सेवने
श्रमजल करलहि दूर
आनन्द-सायरे दुहुँ मुख हेरइते
उद्धवदास हिया पूर

नृत्यरास (२)

मायूर-मध्यम दशकुशी

देख देख गोरा-नट रंग।
कीर्तन मंगल महारास-मयङ्गल
उपजिल पुरब प्रसंग॥
माझे पहुँ नित्यानन्द ठाकुर अद्वैतचन्द्र
श्रीनिवास मुकुन्द मुरारि।
रामानन्द वक्रेश्वर आर यत सहचर
प्रेम सिन्धु आनन्द लहरी॥

ता ता थै थै मृदंग वाजइ
झनर झनर करताल ।
तन तन ताम्बुर वीणा सुमधुर
वाजत यन्त्र रसाल ॥
ठाकुर पण्डित गाय गोविन्द आनन्दे वाय
नाचे गोरा गदाधर सगे ।
द्रिमिकि द्रिमिकि थैया ता थैया ता थैया थैया
वाजत मोहन मृदगे ॥
कीर्तन मण्डल— शोभा अपरूप भेल
चौदिके भकत करू गाने ।
तीरे तीरे शोभन श्रीवृन्दावन
जाह्नवी श्रीयमुना जाने ॥
पुरुवक लालस विलास रास-रस
सोइ सब सखिगण सग ।
ए कविशेखर होयल फॉपर
ना बुझिया गोरांग रंग ॥

वेहाग—जरताल

रमणी मोहन विलसिते मन
मरमे हइल पुनि ।
गिया वृन्दावने वसिला यतने
रमिते वरज-धनि ॥
मधुर मुरली पूरे वनमाली
राधा राधा करि गान ।
एकाकी गभीर वनेर भितर
वाजाय कतेक तान ॥
अमिया-निछनि बाजिछे सघने
मधुर मुरली-गीत ।
अविचल कुल— रमणी सकल
शुनिया हरल चित ॥

भवने आइया   रहिल परिया
    अन्तरे नाचिछे बाँशी।
आइस आइस वलि   डाकये मुरली
    येन मेल सुखराशि॥
आनन्दे अवशा   पुलक मानसे
    सुकुमारी धनि राबे।
गृह-कम यत   हैल विसरित
    सकल करिल बाधे॥
राइयर समेत   यतेक रमणी
    कहये मधुर बाणी।
ओइ ओइ शुन   किबा बाजे तान
    केमन करये प्राणी॥
सहिते ना पारि   मुरलीर ध्वनि
    पशिल हियार माझे।
यरज-सरणी   हइल बावरी
    हरिल कुलेर लाजे॥
केह पति सने   आछिल शयने
    त्यजिया ताहार संग।
केह वा आछिल   सखीर सहित
    कहिते रभस रंग॥
केह वा आछिल   गुरु-आवर्तने
    गुलावे राखि वेसालि।
त्यजि आवर्तन   हइ आनमन
    पेलने से गेल चलि॥
केह शिशु लइया   कोलेते करिया
    दुग्ध कराये पान।
शिशु फेलि भूमे   चलि गेल भ्रमे
    शुनि मुरलीर गान॥
केह वा आछिल   शयन करिया
    नयने आछिल निंद।

येन केह आसि चोराइ लइल
नयने कादिया सिंघ ॥
केह वा आछिल रन्धन करिते
तेमति चलिया गेल।
कृष्ण मुखी हइया मुरली शुनिया
सब विसरित भेल ॥
सकल रमणी धाइल अमनि
केह काहो नाहि माने।
यमुनार कूले कदम्बेरि मूले
मिलल श्यामेर सने ॥
व्रजनारीगणे देखिया तखने
हासिया नागर-राय।
रास-विलसन करिल रचन
द्विज चण्डीदासे गाय ॥

केदार—मध्यम दशकुसी

व्रजरमणीगण हेरि हरषित मन
नागर नटवर-राज।
नटन-विलास— उलसहि निमगन
चौदिगे रमणी समाज ॥
यूथे यूथे मिलि करे कर धराधरि
मण्डली रचिया सुठान।
बाजत वीण उपाग पाखाओज
माझहि माझ राधा कान ॥
शरद सुधाकर गगनहिं निरमल
कानने कुसुम विकाश।
कोकिल भ्रमर गाओये अति सुस्वर
अमल कमल परकाश ॥
हेरि हेरि फिरि फिरि बाहु धराधरि
नाचत रगिणी मेलि।

ज्ञानदास कहे   नागर रसमय
करे कत कौतुक कलि ॥

धानश्री-तेओट

करे कर मण्डित मण्डलिमाझ ।
नाचत नागरी नागर राज ॥
थाअत कत, कत यन्त्र सुतान ।
कत कत राग मान करु गान ॥
द्रिगिदा द्रिगिदा द्रिगि दाद्रिगि दाद्रिगि द्रिगि
थे थे थे थे झुनुर झुनुर झुनु—
झुनु झुनु झुनिया ।
कंकण कन कन किंकिणी किनि किनि
किनि रे किनि रे किनि किनिया ॥
कत कत भंगभग करु कम्प ।
पलये परये सुमलिर झंप ॥
कंकण किंकिणी मलया निसान ।
अपरूप नाचत राधा कान ॥
जनु नव जलधर बिजुरिक भाति ।
कह माधव दुहुँ पलन काँति ॥

धानश्री-बड़ दशकोशी

राधा श्याम नाचे रे
नाचे रासरसे मातिया ।
राधा श्याम दुहुँ मेलि
नाचे कर धराधरि
रास रसरंगे रंगिया ॥
नाचे जलधर श्याम श्याम
थिर बिजुरि वाम
नाचे कत भंगभंगिया ।
धुगु धुगु धा—
भंगभंगे धले पा

नाचे दुहुँ मृदु मृदु हासिया ॥
कंकण कन कन झंकन झन झन
किंकिणी किनि किनिया ।
दुहुँ मुख दुहुँ हेरे दुहुँ नाचे आनन्द भरे
दुहुँ रसे दुहु मातिया ॥
चौदिके सखिगण आनन्दे मगन
नाचे तारा वदन हेरिया ।
माझे नाचे राधा-श्याम शोभा अति अनुपाम
कत यन्त्र बाजे सुरंगिया ॥
चौदिके सखिर ठाट ऐछन चांदेर नाट
नाचे तारा ठाम ठमकिया ।
कंकन झकन नुपूर बाजन
आभरण झलमलिया ॥
विनोदिनी रंगे विनोदिनी संगे
नाचे दोहे चिबुक धरिया ।
मृदु मृदु हासनि दुहुँ बंकिम चाहनि
हेरि हेरे आनन्दे भासिया ॥
माझे नाचे राधा-श्याम चौदिके गोपिनी ठाम
से आनन्द कहने ना जाय ।
मधुर श्री वृन्दावने रासलीला कुन्जवने
ज्ञानदास हेरिया जुड़ाय ॥

करुणा वराडि मध्यम एकताला

कदम्ब-तरुर डाल झूमे नामियाछे भाल
फुल फुटियाछे सारि सारि ।
परिमले समीरण भरल श्री वृन्दावन
केलि करे भ्रमरा भ्रमरी ॥
राइ कानु विलसइ रंगे ।
किवा रूप लावनि वैदगधि धनि धनि
मणिमय आभरण अंगे ॥ ध्रु ॥

राधार दक्षिण कर   धरि प्रिय गिरिधर
मधुर मधुर चलि आय ।
आगे पाछे सखिगण   करे फूल बरिषण
कोनो सखि चामर ढुलाय ॥
परागे धूसर स्थल   चन्द्र-करे सुशीतल
मणिमय वेदीर उपरे ।
राइ-कानु-कर जोड़ि   नृत करे फिरि फिरि
परशे पुलके तनु भरे ॥
मृगमद चन्दन   करे करि सखिगण
बरिखये फूल गन्धराजे ।
श्रम-जल विन्दु विन्दु   शोभा करे मुख इन्दु
अधरे मुरली नाहि बाजे ॥
हास विलास रस   सकल मधुर भाष
नरोत्तम मनोरथ भरु ।
दुहुँक विचित्र वेश   कुसुमे रचित केश
लोचने मोहने लीला करु ॥

शोहर-समताल

आज रसेर बादर निशि ।
प्रेमे भासल सब वृन्दावन वासी ॥
श्याम घन बरिखये प्रेमसुधा-धार ।
कोर रंगिणी राधा बिजुरी संचार ॥
प्रेमे पिछल पथ गमन सुबंक ।
मृगमद-चन्दन कुंकुम भेल पंक ॥
दिगविदिग नाहि प्रेमेर पाथार ।
डुबल नरोत्तम ना जाने साँतार ॥

पराग वसताल

घड अपरूप   देखिलुँ सजनी
नयली कुञ्जेर माझ ।
इन्द्रनील-मणि   कतेक जड़ित
हियार उपरे साज ॥

कुसुम शयने मिलित नयने
उलसित अरविन्द ।
श्याम सोहागिनी कोरे घुमायलि
चाँदेर उपरे चान्द ॥
कुंज कुसुमित सुधाकरम्बित
ताहे पिककुल गान ।
मदनेर बाणे दौंहे अगेयान
विधिर कि निरमाण ॥
मन्द मलयज पवन वह मृदु
ओ सुख को करू अन्त ।
सरबस धन दौंहार दुँहु जन
कहये राय वसन्त ॥

केदार-जपताल

रास जागरणे निकुंज-भवने
आलुया अलस-भरे ।
शुतलि किशोरी आपना पासरि
पराण नाथेर कोरे ।
सखि, हेर देखसिया वा ।
निद जाय धनी ओ चाँदवदनी
श्याम-अगे दिया पा ॥ ध्रु ॥
नागरेर बाहु करिया शिथान
विथान वसन भूषा ।
निशासे दुलिछे रतन-वेशर
हासिखानि ताहे मिशा ॥
परिहास कारि निते चाहे हरि
साहस ना हय मने ।

धीरे धीरे बोल   ना करिह रोल
ज्ञानदास रस भयो ॥

घमुर

(भमनि) राइ घुमाइल ।
श्याम बँधुयार कोरे
भमनि राइ घुमाइल ॥

श्रीराम यशोरसायन-रास

केशराज मुनीन्द्रकृत

(सं० १६८३ वि०)

परिचय—

प्राय जैन मुनियों ने रास के लिये तीर्थों तीर्थंकरो एव जैन आचार्यों के जीवनचरित्र को ही कथा का आधार बनाया है, किन्तु केशराज मुनीन्द्र ने मर्यादा पुरुषोत्तम रामको अपना कथानायक स्वीकार किया है। मुनीन्द्र ने राम की प्राय. समस्त लीलाओं का वर्णन रासशैली में बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ किया है। उन्होंने इस रास को अधिकारों में विभाजित किया है।

श्री राम यशोरसायन रास एक विशाल ग्रथ है। इस स्थल पर उस ग्रथ के केवल द्वितीय एव तृतीय अधिकार से सीतापहरण अश उद्धृत किया जा रहा है। मुनीन्द्र की गणना के अनुसार माघ कृष्णा अष्टमी को सीतापहरण हुआ। जब रावण सीताजी को विमान में अपहृत कर लका की ओर भागा जा रहा था तब सीता विलाप सुनकर जटायू रावण से युद्ध करने को प्रस्तुत हुआ। आक्रोश में भरकर वह रावण का शरीर विदीर्ण करने लगा।

केशराज जी एक स्थल पर रामलक्ष्मण के सवाद द्वारा सीता को अटवी में अकेली छोड़ने और उनकी अनुपस्थिति में राम के मूर्च्छित होने का सकेत करते हैं। राम चेतनावस्था में आने पर पशु पत्ती एव वनदेवी से सीता का पता पूछते हैं। तदुपरान्त खर और विराध नामक राक्षसों का वर्णन आता है।

अब राम किष्किधा नगरी में पहुँचते हैं और सुग्रीव के साथ मैत्री करते हैं। ढाल ३४ में महारानी तारा का विशद वर्णन है।

रावण जब सीताहरण कर लका पहुँचता है तो वहाँ रानी मन्दोदरी उसे विविध प्रकार से समझाकर सीता को लौटाने का परामर्श देती है किंतु रावण उनकी एक नहीं सुनता। इसके उपरान्त विभीषण का वर्णन है। वह अत्यत व्याकुलहृदय वाली सीताजी के समीप पहुँचकर उन्हें आश्वासन

देता है।[कवि विभीषण के चरित्र की भूरि भूरि प्रशंसा करता है। वह विभी-
षण को कुल का भूषण घोषित करता है।

आगे चलकर सीता के शोध का विवरण मिलता है। कपिराज हनुमान का लंकागमन और सीताजी की खोज का विशद वर्णन है। कथा का क्रम प्रायः रामचरित मानस से मिलता जुलता है। इसकी शैली लोककाव्य की शैली है। एक स्थान पर ४५ छन्दों में निरन्तर प्रत्येक चरण के अन्त में 'हो' का प्रयोग मिलता है। चाह हो कराह हो सुनाह हो, पाह हो, चाह हो, उछाह हो, पिछवाह हो, लहाह हो अधिकाह हो, होह हो, काचो हो, साचो हो, माखु हो, राखु हो इत्यादि पद इस बात के साक्षी हैं कि इस रास में जनकाव्य शैली का पूर्णरीति से निर्वाह पाया जाता है।

श्रीराम यशोरसायन-रास

केशराज मुनीन्द्रकृत

सं० १६८३ वि०

माघ वदि ८ दिने सीताअपहरणम् ।

तांम जटायू पंखीओरे, जाइ मिलीयो धाय,
रोस भरी नख अकुशेरे, तास विलूरे काय । जी० ३०

वरज्यो पिण माने नहीरे, ताम सुरीसाणो राय,
कापी नाखी पाखडीरे, पड्यो धरती आय । जी० ३१

शक न माने कोइनीरे, बयठो जाय विमान,
एह मनोरथ माहिरोरे, पूर्यो श्री भगवान । जी० ३२

हा ! सुसरा दशरथजीरे, जनक जनक कहे तात,
हा ! लक्ष्मण हा ! रामजीरे, हा ! भामडल भ्रात । जी० ३३

सिंचाणो जिम चिडकलीरे, वायस बलिने जेम,
ए कोई मुझने गहीरे, लेई जावे एम । जी० ३४

आवो कोई उतावलोरे, शूरो जे ससार,
राक्षसथा राखी लीयोरे, करती जाय पुकार । जी० ३५

अर्कजहीनो जाइयोरे रत्नजटी खग एक,
रोज सुणी सीतातणोरे, मनमाहि करे विवेक । जी० ३६

भगनी भामडल तणीरे, रामचद्रनी नारी,
रावण जी छल केलवीरे, लेइ चालिओ अपहारि । जी० ३७

भामडलना पक्षथकीरे, रत्नजटी तरवारि,
सवही साम्हों हुवोरे, रावणजी तिहिवारि । जी० ३८

मूलकाणो मनमें घणोरे, करे किसुं ए रंक,

३९

पक्ष विहूणो पंखीयोरे, होवे तिम प देखि
छोटा मोटाशुं मळयारे, पावे दुःख विशेषि । श्री० ४०

जंबूद्वीपे कृंगिरेरे, गीरलो गीरलो वेह
करतो अधिका करतोरे, आयो धरती छेह । श्री० ४१

आपूण में मझोलमेंरे सायर उपरि मांह
करे घणुं सम जावणीरे समजावीने सांह । श्री० ४२

भूचर खेचर राजीयारे मयसुनमें हम पाय;
श्रद्धुं त्रिभुवनो धणीरे, इंद्र आप गुण गाय । श्री ४३

करि थापुं पटरागिनीरे, महिमा अधिक वधाय
रोवे मति रहे रंगमेंरे सुखमें दुःख न समाय । श्री० ४४

करषा कोपिओषो छणोरे देव किसे सुणसाय
मागहीया विण रामनरे वीभी गयस छगाय । श्री० ४५

कागळने कंचनसधणीरे माखा भखी न देखाय,
सरखांने सरखो मिल्यारे आपे सहुनी दाय । श्री० ४६

मानो मुभने पखिपयोरे, होइ रहुं सुम दास
सुभ मान्या साहु मानसीरे, आणी तुम्हारी आस । श्री० ४७

निसर न संधी सा करेरे दिह न अपूटो आत
अक्षर होना ध्यानधीरे, आणी रही अति भाव । श्री० ४८

विंधियो मनमथ बाणसुं रे. भारति अति मनमांहि
स्ठीने पग लागीयारे, विपही विह्वल प्रांहि । श्री० ४९

लंपट सखावे घणुरे, वा कां न करे प्राण
अपयश्चर्लती मारिनारे, पहिली छे पच्चखाण । श्री० ५०

सीता पग कांपी लीयोरे, छिविओ नहीं शिरवास,
परपुरषाने आभडयारे, आये शील विखास । श्री ५१

देवसनी ध्यम सारिस्वीरे पतिव्रता कहिवाय,
होय अपूठी वावसुं रे, आपे अलग सुखाय । श्री० ५२

सीता वस कोशो घणुरे रे निर्लज्ज मरश
सुभ आयपायी वादरीरे, विणठी वात पिरोय । श्री० ५३

सारणादिक तो घणारे, मत्री ने सामत;
साम्हा आव्यासादरारे, प्रभुने शिर नामत । जी० ५४
नगरीनी शोभा करीरे, उच्छवनो अधिकार,
नार निरुपम लावीयारे, मुख मुख जयजयकार । जी० ५५
लकाथी दिशी पूर्व्वेरे, देव रमण उद्यान,
रक्ताशोक तले जइरे, वयसावि सा आण । जी० ५६
राम अने लक्ष्मण तणी रे, जब लग न लहु खेम,
तब लग मुझने छे सही रे, भोजन केरो नेम । जी० ५७
रखवाली तो त्रिजटा रे, आरक्षक परिवार,
मूकी मंदिर आवी यो रे, लोग घणों छे लार । जी० ५८
ढाल भली वत्तीममी रे, रावन ने चित चाव,
केशराज ऋषिजी कहे रे, आगे लावन साव । जी० ५९

इति श्री ढाल बत्रीशमा राम यशोरमायने द्वितीयोधिकार

श्री रामयशोरसायन-राम

तृतीय अधिकार

दुहा

वाग वाणी वरदायनी, कविजन केरी माय,
मया करीने मुझभणी, सुमति दीज्यो सुखदाय । १
राम चली उतावला, आया लखमण पास,
रण रंगे रमतो खरो, दीठो सो उल्लास । २
राम प्रतें लखमण कहे, तुम तो कीयो अकाज,
अटवी माहि एकली, सीता मूकी आज । ३
राम कहे तें तेडियो, हु आयो अवधार,
सो कहे में नवि तेडिया, ए परपच विचार । ४
फिरि जाओ उतावला, मति को विणसे काम,
पीछे थी हुं आवीयो जीतियो छु संग्राम । ५
वेगि वेगि वाटें वही, राम पधारे जाम
निजर न देखे जानकी, मूर्छाणा प्रभु ताम । ६

ढाल, ११ मी पखी कोइ भाल तमाकू का—ए देशी।

श्रीरामे नारि गमाइ हो, दुखदउ दुंबक मांसव वन मैं।

सा नवि दिये दिखाइ हो, श्रीरामे नारि गमाइ हो। १

संग्या पामी अंतरजामी, आगैं आवी धाइ हो

पांख विहूणो पंखी पडीयो दीठो उपरी आवी हो। श्री० २

पंखीडे दीठे नर कोइ मारी लीधा खाइ हो,

पूछि दुर्वारा पापी पुरुषें, नाख्या छे ए धाइ हो। श्री० ३

श्रावक आणी आणी सहाइ, प्रभु उपगार कराइ हो,

श्रीनवकार भवार, अनोपम, दीधों तास सुणाइ हो। श्री० ४

मंत्र प्रसावे स्वर्ग चतुर्थे, सुरजी पदवी पाइ हो

संगतथी पंखी उधरीयो संगतथी सुख थाइ हो। श्री० ५

ऊंचो देखे नीचो देखे पास न कांई सखाइ हो।

लपण आणी आसा आणी भाइ रहे पिछताइ हो। श्री० ६

लखमण साथे खर खेंचर सो मोटे वाम लडाइहो,

त्रिशिर अनुभाइ खर राखी, आप करे अधिकाइ हो। श्री ७

रथ बयसीने लखमण साथे झूझवाणी विधिठाइ हो

लखमण धीरे मारि नोख्यो, पहिली पद बजाइ हो। श्री ८

लंका पयालां केरो स्वामी चन्द्रोदय सुत सोइ हो

नामें विराध सबल दल साजी आवी सहाइ होइ हो। श्री० ९

सेवक सोइ आवो आवे काम पडया नहि कांचो हो,

लखमण साथे विराध वदे रे, सेवक हुं हुं साचो हो। श्री० १

छाप हणीने लंका लीधी रीस भयोंप आगें हो

स्वामी कारज वैर बापनो अगसांहि वस आगे हो। श्री० ११

तुम्ह आगें ए कीट पतंगा, सूरजपणोहुं भासुं हो

दिशा आदेशा विदेशा नसाओ रथ अलयायल रासुं हो। श्री० १२

इपव हसी लखमणजी बोले, सुरे सहाप शूरा हो,

आप वली बलवंत कहावे, परकाज नित्य अपूरा हो। श्री ११

बेठो अंभव राम नरेसर कुशिल सब प्रतिपाल हो।

देसे तुम्हने राज तुम्हारो, रामचंद्र कृपाल हो। श्री० १४

देखी विराध विरोधी खरतो, बोली यो रोस प्रकाशी हो,
शबूक हसा साहिज एहने, उवरीयो वनवासी हो। श्री० १५

लखमण कहे खर मति भूंके नदन त्रिसरो भाइ हो,
उणही पथे तोहि चलावु, तोरे सुमित्रा माइ हो। श्री० १६

मारिओ के मारिओ मे मूरख, जीभतणी सुभटाइ हो,
करि प्रगटो प्रोढो पखपाती, लीजे तास बोलाइ हो। श्री० १७

एम कहंतो नट जिमनाचे, वाणे अबर छाई हो,
वाण खुर प्रेखर शिर छेदे, अवर रह्या मुहवाइ हो। श्री० १८

दूषण दल लेईने दोड्यो, ते पिण मारी लीधो हो,
अपूण कीधु आपस मार्यो, अवरासुं जस न दीधो हो। श्री० १९

लेइ साथ विराध वदीतो, उमग्यो उमग्यो आवे हो,
एतले वामो नेत्र फरुकीओ, ताम असाता पावे हो। श्री० २०

अलगाथी दीठो अलवेसर, अटवीमाहि भमतो हो,
नारी वियोगी जोगी जेहवो, आरतिमाहि रमंतो हो। श्री० २१

लही विखवाद विचार विशेषे, एतो में धुर जाणी हो,
अटवी में एकाकी वसता, राम गमावी राणी हो। श्री० २२

लखमण आगें आवी उभो, राम न साम्हो जोवे हो,
विरह साल ए अवसरि साले, नमने साम्हो होवे हो। श्री० २३

पानपान करिके वन शोध्यो, नारी नयणे नावी हो,
वनदेवी तुम्हो वनवासिनी, दिओ छो क्युं न वतावी हो। श्री० २४

तुम्ह भरोसे नारी मूकी, हु तो काम सिधायो हो,
काम न कीधो नारी गमावी, जग अपजस बोलायो हो। श्री० २५

भाइ भरते राग मूकीयो, त्रिय रखवाली कामे हो,
आयोथो सो एक न हूई, उंछु दीठो रामे हो। श्री० २६

राजभार देवा नवि दीधो, धन है केकयी माता हो,
नारि न राखि शक्यो नर निसतो, तो किम राज्य रखाता हो। श्री० २७

एम कहेतो राम नरेसर, धरणी पडीओ धमकाइ हो,
राम दुःखे पशु-पखी दुःखीया, उभा आगे आइ हो। श्री० २८

लक्ष्मणजी कर शीतल थाइ, वाले भावी भागे हो
आप करोछे कार्य किसुंए, सहुने मूंडुं लागे हो। भी० २९

माई तुम्हारो हुं जीती भाव्यो खरनो नंद निकंदी हो।
वचन-सुधारस सुं सिंचायो, अहे संग्या आनंदी हो। भी० ३०

देखे लक्ष्मण उमो भागे उठी मिलीयो सांई हो।
आपे दो मिलि त्रिया नरखाणी, हरखाणी उमामाइ हो। भी० ३१

आदरसुं सां मंत्री भासे प्रभु ए आरति भाणो हो।
नाव मेद करीने किया एक सीता खोमी आणो हो। भी० ३२

तहना प्राण संघाते सीता, मयगी पाछी भाणुं हो
तो तो लक्ष्मण नाम हमारुं, नहीं तो झूठ थयाणुं हो। भी० ३३

वीर विराध अरो दिव मिलीयो आयो वोल थाट हो।
लंक पधारो प्रभु थिर थायो, वचन पाछे जिम थाट हो। भी० ३४

सीता खबर करेवा कारण भट भाकलीया भारी हो।
वीर विराध घणुं मलकलीया, अवसर सेवा प्यारी हो। भी० ३५

सुभट सहु पृथ्वी फिरि आया सीता खबर न पामी हो।
अनोमुखा उमा प्रभु आगे पवलावे तव स्वामी हो। भी० ३६

दोष न काइ सेवक जनना थयानो अधिकारी हो
प्रभुनुं हयाये कारिज न सरे, सुदशा काम सुधारी हो। भी० ३७

वीर विराध प्रभुपगि लागि अरज करे अनुरागी हो।
पार्यायाणी दाडु दह दिशि, कारिज करें लागी हो। भी० ३८

वीर वीराध सबल दल सार्थे राम सुलक्षमण दोइ हा
लंक पयालें भावी आया, खबर लह सहु कोइ हो। भी० ३९

खरनो नंदन शंबूक भाइ सुंद नरेसर आप हो।
सान्हो आवी स्नेत महावी, हाथी मद्यां शर-चाप हो। भी० ४०

वीर वीराध शिपें सहुवें धाई वेरल पाछे हो।
किहां हयथी कां रथ पायक लाग-वचन संभाले हो। भी० ४१

राम सुलक्ष्मण देखी सनमुख, सूर्पनखा सुत लेइ हो।
रावण पासे पधारी पापणि, परनी पाहव करेइ हो। ४२

वीर विराध तिहां थिर थाप्यो, आरति सघली टाले हो,
मोटानी मोटी मति मोटी, मोटो बोलिओ पाले हो। श्री० ४३
राम सुलक्षमण खरने महिले, वसीया आप विराजे हो,
युवराजा जिय वीर विराधज, सुद घरें सुख साजे हो। श्री० ४४
ढाल भली ए तीनतीसमी, वीर विराध वधायो हो,
केशराज ऋषिराज कहेरे, राज गयो वोहोडयां हो। श्री० ४५

दुहा

प्रतारिणी विद्या महा, हेमवत गिरि जाय,
साहस गत साधी सही, तब्बही आयो धाय। १
पुरी केकिंधा आवीयो, करि सरिओ सुविलास,
गति-मति-वाणी विचारवे, बीजो रवि आकाश। २
तारानो अभिलाषीयो, आतुर थयो अपार,
रुप धरे सुग्रीवनो, न करे काइ विचार। ३
क्रीडा करवा कारणे, वनमे गयो सुग्रीव,
ए घरमें चलि आवीयो, अवर लही अतीव। ४
तामवणी घर आवीयो, रोकाणा दरवारि,
घरमें छे सुग्रीवजी, वात पडी सुविचारि। ५
दो सुग्रीव विचार ता, वालितणो तो पूत,
काकी घर ताला जडे, राखेवा घरसूत। ६
चद्ररश्मि रलीयामणो, युवराजा जयवत,
वाली वीरनो जाइयो, अबल प्रवल नहि अत। ७
आवीने उभो रह्यो, आगो कोइ न जाय,
खेदी वाहिर काढीयो, वलीयाथी इमथाय। ८

ढाल ३४ मी सुरतकी देशी

तारा परतख मोहनी, तारा अधिक रसाल,
तारा सुग्रीव सोहनी हो, तारा अति सुविशाल,
तारा तारारूप अनूपतारा, तारा मोह्या भूपतारा,
तारा हो मोहनवेलि तारा, तारा कोमल-केलि तारा। १
चवदा अक्षोहणीनो धणी, राजा श्रीसुग्रीव,
पार नहीं प्रभुता तणो हो, साहिब आप सदीव तारा। २

मकण लांगे मारीयें, साचा जूठा कोइ।
ग्यान बिना निश्चय नहीं हो लोगांथी सुं होइ तारा। ३

साचो मिलसे साचने, जूठो जूठे जोइ।
जूठवती अन बचसी हो अइ मुसतावे कोइ तारा। ४

हंस अने बग सअखा लागां एक प्रसंस
क्षीर नीरने पारखे हो बगबग हंसहि हंस तारा। ५

काच अने मणिरू मारिसा, लोगा एकहि वाच।
पिया पारखीयां आगलें हो मणि मणि काचहि काच तारा। ६

काग अने तो कोकिला वरणे एक सोहाग
मास बसंत विराजीया हो, पिक पिक कागहि काग तारा। ७

मंत्रीने पंचां मिली नेवडीयो ए न्याय
साव साव अणोहणी हो दोई पक्षे थाय तारा। ८

दोइ जणो आप आपमें, साचां देव सहाय
जूठो नासी जायसी हो, सहुने आवी दाय तारा। ९

क्षेत कूहार्यो मोकलो, ऊमा होइ आय
लोग अक्ष्या आयापणा हो म्हारो तो न मिटाय तारा १०

लागे ना भाइ मारिने भाइ ए दो ताई।
कोइ मरो कोइ जीवो हो, लोगां लागे कोइ। तारा। ११

तब दोइ सुग्रीवजी लडिया राम समाचि,
लाँति न रामी लेख दुवे हो तोहि न मिटी रावी दाय तारा। १२

दोइ तो समतोल जी दोइ विद्यावंत
दोइ खेचर तो सरा हा दोइ ता मममंत तारा। १३

हाथीसुं हाथी अडे सिंह साथ तो सिंह।
सापें साप मिटे नहीं हो शूरें शूर अवीह तारा। १४

सुग्रीवें सभारीयो हनुमंत आयो चालि
शूग्रे सुग्रीव कूटीये हो, म शके म्हाको टालि तारा १५

सुग्रीव चितवुं चितवे साचो ए तो लोच।
केहने तजे केह ने भजे हो लोगां ए आलोच तारा। १६

चालि हुता पक्षवंतजी जग जस जाचो जार।
सोचो हुवा अपमी हो मदन रह गया मोर तारा। १७

चंद्ररश्मि वलीयो घणो, मरदमे मरदान,
खवर न लाधे एतली हो, कुण निज कुण छे आन तारा । १८

दशकंधर छे दीपतो, लंपटि मांहि गिणाय,
वात सुण्या हणी रोइने हो, तारा लीयें वोलाय तारा । १९

एतादृश सकट पड्या, काम समारण हार,
खरथो सोरामे हण्यो हो, करता पर उपगार तारा । २०

शरण ग्रहू श्रीरामनो, लखमणसुं अभिराम,
जेम विराध निवाजीयो, सारेसे हम काम तारा । २१

लक पयाला छे सही, आज लगें उइश,
वोलाव्या आवे सही हो, कारज विसवावीस तारा । २२

दूतज छानो मोकल्यो, वीर विराधहि पास,
वात जणावी विस्तारी हो, पाया सा उल्हास तारा । २३

वेगा आवो वेगसु, आवी करो अरदास,
काम तुम्हारो सारसे हो, देसे अरिने त्रास तारा । २४

संतोषाणो स्वामिजी, निसुण्यो वचन अलोल,
वलते छाट अमीतणी हो, अरतिमांहि अमोल तारा । २५

साहण वाहण सामटा, चालि गयो सुग्रीव,
आगें धरी विराधने हो, आरतिवत अतीव तारा । २६

चरण कमल प्रभुना नमि, भाखी मननी वात,
परदुःख कायरनो सही हो, बिरुद अछे विख्यात तारा । २७

हम तुम्हने छे सारिखो, अवला दुःख अपार,
हमारो तुम भाजस्यो हो, थारो श्री करतार तारा । २८

अेह सुणाता वातजी, गहवरीयो राजान,
परदुःख थी दुःख आपणो हो, साले साल समान तारा । २९

दु.ख हीया में सॅवरी, सुग्रीवहि सतोष,
दीधो देव दया करी हो, कीधो सुखनो पोप तारा । ३०

वीर विराध कहे सही, आपाने एकाज,
करिवो छे उतावलो हो, न कीया पावा लाज तारा । ३१

२७

कपिपति मारखे कामथी, आपो करिवा एह
सुसवा होइ सोषस्युं हो सह परसी ने छेह तारा। ३२

द्वीप अने परद्वीपनी, शुद्धि अर्णाव आप
तो तो साचो आखियो हो, शूर राजा छे बाप तारा। ३३

प्रभुजी चाली आवीया, पुरि किष्किंधा देखि,
आयो मलका अभिनवि हो, पायो सुख विशेषि तारा। ३४

बीयो बोलावी छीयो हमो आवी खेव
पोइ अवसा नवि आणीये, हो साथ न मूकीई हेत तारा। ३५

वज्रावर्तोअ नामथी धनुष चढोवीया देव
दिशा गइ टंकारथी हो, प्रगट थयो सवसेष तारा। ३६

लंपट पर नारी तणा, बीर्य मोहिला भीठ
जग सघलो अवलोकयां हो तुम्ह सम अवर न दीठ तारा। ३७

एक बाणई मारीया साहस गति संतान,
एक थपटें सिंघने हो हरिण लहे अवसान तारा। ३८

बीर विराधतणीपरें थिर माप्यो कपिनाथ,
साचो करि सहू देखता हो मांणी मिलीयो साथ तारा। ३९

प्रयोदश कन्या भली राम प्रतें आपंत
प्रीति रीति काढी करी हा कपिपति सो आपंत तारा। ४०

राम कहे कपिराजीया तुम्ह वाचा संभाल,
परयोवानी पालसी हो पहिली सीता चाल तारा। ४१

हास भली चडश्रीसमी, कपिपति कांम समारि,
कंशराज क्षयिणी कहे हो अब शोधीजें नारि तारा। ४२

दुहा

रावयान घर शोवखो आज पधिमो अवधारि,
खरनी सुणी सुखावणी हो मांक्षि मिलि बहु नारि। १
दिवस विचारां आंतरे, सूर्पणखा ने सुंदर,
लंका नगरी आवीयो वरसे आंसु बुंद। २
सुपनखा सुहामणी करती अधिक विलाप
गावण न गमे लागि क, दीन वदे अति आप। ३

कत हरायो कुमर हरायो, हणीय देवर दोय,
खेचर चवद हजारनो, हता एकसुं होय । ४

लक पियालें आवीया, आरया रोस अगाध,
राक जेम हम काढीया, वसीयो वीर विराध । ५

वंधव तुम्ह वेठा थका, वरते ए अन्याय,
धरती दिन थोडो विषे, जातिहि दिखाय । ६

एक सुवर्णों सांवलो, वीजो पीले वान,
वनवासी छे भोलडा, पिण नही केहने मान । ७

वसवा भाणेजा भणी, वास अनेरो हेरि,
सगो सगें आवे सही, कोइक दिनाके फेरि । ८

ए सघली श्रवणे सुणी, वोले वीर विवेक,
घरटीरा फेरा घणा, पिण घरटानो एक । ९

पंखाली कीडीतणो, मुवांने दिन जात;
मारि करिसु पाधरा, और चलावो वात । १०

वात नहीं वतका नही, राग नहीं नहि रग,
राज काज भावे नहीं, होइ रहिओ विरग । ११

नींद नहीं लीला नहीं, फूल नही तबोल,
भोजन पाणी पिण नहीं, सुणया न भावे बोल । १२

हासि नहीं रामति नहीं, नही भोगनो जोग,
माणस मुवा सारिखो, होइ रह्यो तसु सोग । १३

खायो पडीओ खाटले, पडिओ रहे नरनाथ,
मूग मूग वोले नहीं, आरति करे सहु साथ । १४

ढाल. ३५ मी मेरे मन अयसी आयवणी—ए देशी,
थारा चित्त में काइ वसी, मदोदरीमा दोपति पेखी,
पूछे वात हसी था । १

पखवाडे अधारे आये, घटतो जाय शशी,
तेज हेज प्रताप प्रखीणो शोभा लाज खीसी था । २

सुस अछे तुम्ह मुझ गलाना, न कहो जिसीहि तिसी,
आरति अतिही उदासपणाथी, मति तु जाय चीसी-था ३

रावण मारने सुणी मंदोदरी चित्तमें आणी घुमी,
सीता सुरती मास मधीप हियामांहि सुमी थां । ४

घुमुंघु विन राति घणेरो, न राई समझ करी,
जो हुं सुजने काढे देवी मेवा प्रीति करी थां । ५

त्रिपनी पीडाये पीडाणी, तरही उठि चली,
देवरमण उद्याने आवी देवी एक सती-था । ६

हुं मंदोदरी हुं रीसुमोदरी मोटे नाम वडी,
रावण राणयामांहि वखाणी, वनितामांहि वडी-था ७

मोली कां मरमांणी छे तुं रावण साथ रमी,
माणस भवना लाहो लीजे हुं हुं दास समी थां । ८

सीता तुं धन तुं धन थारे, मामे अधिक रति
राजा रावणने चित्त आवी मेल्ही अवर छती थां । ९

भूचर राम तपस्वी ते तो, सेवक मात्र सही,
नृपति उचित पति क्यों पामें करमें तीरें कही थां १०

मन खीचीने मोन रही थी नोची सही लगाही
तुं तो सतीयां मांहि वखाणी एवी हीन कही-थां । ११

किहां जम्बूक किहां सिंह सनूरां गरुड किहांरे कही।
किहां तुम्ह पति किहां तुम्ह पति लंपट लाज नहीरे तहीं था।
तुं नारी धन धन तुम्ह ठाकुर सिरिखी जोडी मिली
पति लंपट परकी पटराणी दूतीमांहि मिली-थां । १२

थांरु मुंहडो नहीं देखणो तुमसुं वात किसी,
अलगी जा आंख्यां आगें थी, मयली लेस नसी । १४

पससे रावणजी पग आपो शीव धमण धमी
शीतल वचनांथी समझावे आपें उपसमी-थां । १५

मंदोदरी रांणी तुम्ह आगें किंकर मांहि गिणी,
हुं तुम्ह दास सरीखो केही मासुं अवर मणी-थो । १६

निभर निहालो उत्तर पालो हालो वात घणी
पालो दोडया हुंस न पूगे, हं असवार तणी । १७

हाइ अपूठी सीता बोले, सांभल लंक धणी,

काल दृष्टिसुं हुं देखेसुं, जा घरि टालि अणी-थां । १८
धिग धिग तुज ए आस्या माथे थारी कोत वणी,
जीवित राम सुलक्ष्मण हुं छु अही माथेरे मणी-थां । १६

वार वार वचन आकोसे, न तजे राय रली,
हाक लीयोरे हरीलो होवे, श्वान न जाये टली । २०

सीतानी तो अरति अधिकी, न शक्यो शूर खमी,
आथमीयो अलगो होवाने, व्यापी आण तमी-था । २१

रावणने उपजी ए अधिकी, कुमति तणी ए मति,
उपसर्गा करावे अधिका, सीदावेरे सती था । २२

फेतकारी करती फेरे, घू घू धूक करे,
वृश्चिक वृक फिरे क्रंदता, निसत नररे डरे-था । २३

पुच्छाटोप सुव्याघ्र विशेषे, उतु अन्योन्य लडे,
फू फूता फण करता, परगट, माहोमाहि अडे-था । २४

पुच्छा छोट सुव्याघ्र विशेषे, सिंह सवलते फिरे,
साकनीया सहार करती, मुद्द विस्फोट करे था । २५

भूत पिसाच वेयाल वदीता, हठसु हास हसे,
डाकिणी भूतनी मयली देवी, काती हाथ वसे-थां । २६

उलल्लता दुरललित, अति जमकाय धरे,
रावण एह विकुर्वण, करिनइ, आगे आणी सरे-था । २७

परमेष्ठी पाचे मन ध्याती सीता खेत (खे) खरे,
जानकी (जानकै) पियु करती, रावण, साम्ही पग न भरे थां । २८

रावण तो निज नियम भाजे, सीता सत न चले,
पाकाने नही भूत पराभव, काचानेरे छले-था । २९

डाल भली ए पाचती समी, धन्य जो टेक ग्रहे,
केशराज ग्रही तो साची, सीता ज्यु निवहे-था ३०

—दुहा—

विभीषण निशिनी चरी, निसुणी लोगा माहि,
सीता पासे आवीओ, करण दिलासा प्रॉहि । १

कपिपति माल्ये कामनी, आपां करिवो एह
सुसतो होइ सोधस्युं हो अइ धरती ने छेह तारा । ३२
द्वीप बने परखोपनी शुद्धि मयाउ आप
तो तो सावो आखियो हो शूर राजा छे वाप तारा । ३३
प्रभुजी चाली आवीया, पुरि किंकिधा देखि,
आवे वसका अभिनवि हो, पाया सुख विशेषि तारा । ३४
वीजो योसावी ध्रीयो रुमा आवी सेव
दोइ सबरा नवि आवीये हो नाथ न भूलहि देव तारा । ३५
वज्रावर्त्तोज नामथी, धनुष चढोवीआ देव
विद्या गइ टंकारथी हो, प्रगट थमो ततखेव तारा । ३६
कपट पर नारी हणा, वीडा मांहिला धीठ,
जग सघला अवलोकिया हो, तुम्ह सम अवर न दीठ तारा । ३७
एक बाणसुं मारीयो साहस गति सेतांन,
एक थपेटें सिंघने हो, हरिण हवे अवसान तारा । ३८
वीर विराधनराणीपरें थिर थाप्यो कपिनाथ,
सावो करि सहु देखतो हो आंणी मिलीयो साथ तारा । ३९
त्रयोदश कन्या भली राम प्रतें आपंत
प्रीति रीति कार्जा करी हो कपिपति तो थापंत तारा । ४०
राम कहे कपिरायीया तुम्ह थाया संभाल,
परणोपानी पाउली हो पहिली सीता थाल तारा । ४१
हाथ भली चउ भीसमी कपिपति कॉम समारि,
केशराज ऋषिजी कहे हो, अब शोधीजें नारि तारा । ४२

दुहा

रावणने घरे रोयणो थाम पटिमा थपधारि,
धरमी सुणी सुणावणी हो आणि मिलि बहु नारि । १
विषम विपारां भोतर, सूर्पणखा न सुंद,
लंका नगरी आवीयो वरसे आसु बुंद । २
सुपनखा सुहामणी करती अधिक विलाप,
रावण न गम लागि क दीन वरे कवि थाप । ३

कत हणयो कुमर हणयो, हणीय देवर दोय,
खेचर चवद हजारनो, हता एकसुं होय । ४

लंक पियाले आवीया, आणया रास अगाध,
रांक जेम हम काढीया, वसीयो वीर विराध । ५

वधव तुम्ह वेठा थका, वरते ए अन्याय,
घरती दिन थोडो विषे, जातिहि दिखाय । ६

एक सुवर्णे सावलो, वीजो पीले वान,
वनवासी छे भोलडा, पिण नहीं केहने मांन । ७

वसवा भाणेजा भणी, वास अनेरो हेरि,
सगो सर्गे आवे सही, कोइक दिनाके फेरि । ८

ए सघली श्रवणे सुणी, वोले वीर विवेक,
घरटीरा फेरा घणा, पिण घरटानो एक । ९

पखाली कीडीतणो, मुवाने दिन जात,
मारि करिसु पाधरा, और चलावो वात । १०

वात नहीं वतका नहीं, राग नहीं नहि रग,
राज काज भावे नहीं, होइ रहिओ विरग । ११

नींद नहीं लीला नहीं, फूल नहीं तवोल,
भोजन पाणी पिण नहीं, सुणया न भावे वोल । १२

हासि नहीं रामति नहीं, नहीं भोगनो जोग,
माणस मुवा सारिखो, होइ रह्यो तसु सोग । १३

खायो पडीओ खाटले, पडिओ रहे नरनाथ,
मूग मूंग वोले नहीं, आरति करे सहु साथ । १४

ढाल. ३५ मी मेरे मन अयसी आयवणी—ए देशी,
थारा चित्त में काइ वसी, मदोदरीमा दोषति पेखी,
पूछे वात हसी था । १

पखवाडें अधारे आये, घटतो जाय शशी,
तेज हेज प्रताप प्रखीणो शोभा लाज खीसी था । २

सुस अछे तुम्ह मुम गलाना, न कहो जिसीहि तिसी,
आरति अतिही उदासपणाथी, मति तु जाय चीसी-था ३

रावण मारे सुणी मंदोदरी चित्तमें आणी खुमी,
सीता सुरवी मान मदीप, हियामांहि खुमी थां । ४

धुंधुंधु दिन रावि पयोरो न शकुं समम करी,
तो हुं मुजने पाछे देवी मेलो प्रीति खरी-थां । ५

प्रियनी पीडाये पीडाणी, तबही उठि घसी,
देवरमण उधाने आवी देवी एक ससी-था । ६

हुं मंदोदरी छुं रीझुमोदरी मोटे नाम पडी,
रावण रांयमांमांहि वखाणी, वनितामांहि वडी-थां ७

मोसी को मरमोणी छे हुं रावण साथ रमी,
माणस मवनो लाहो लीजे, हुं छुं दास समी थां । ८

सीता तुं धन तु धन थारे, मारे अधिक रति
राजा रावणने चित्त आवी मेल्ही अवर सती थां । ९

भूचर राम तपस्वी ए तो, संचक मात्र सही,
उपधि उचित पति क्यो पार्मे करमें तोरैं कही-था १०

मन लोभीने मोन रही थी नोषी सही नगाही
हुं तो सवीयां मांहि वखाणी, थवी हीन सही-थां । ११

किहां अम्बूक किहां सिंह समूरो गरुड किहांरे भाही,
किहां मुम पति किहां तुम पति संपट साज महीरे वही थां ।
हुं मारी घन घन तुम टाकुर, सिरिखी जोडी मिली
पति संपट परकी पन्रार्णी भूमीमांहि मिली-थां । १२

थोरु मुंहडो नहीं देखवा मुजसुं बात किसी,
व्यसणी का भांस्यां आगें थी, मयमली क्षेम मसी । १४

एतले रावणजी पण आयो शीत प्रमण पमी
शीवल वचनोमी समजावे आपें उपसमी-थां । १५

मंदोदरी रोणी सुम आगें, किंकर सांहि गिणी,
हुं तुम दास सरीखो फेवी मार्ग अवर मणी-थां । १६

निभर निहालो उत्तर वालो टालो मान धणी,
पापी दोखया हुंस न पूरो, ए असवार तणी । १७

हार अपूठी सीता बोले सांभल लंक धणी,

काल दृष्टिसुं हु देखेसुं, जा घरि टालि अणी-था । १८
धिग धिग तुज ए आस्था माथे थारी कोत घणी,
जीवित राम सुलक्ष्मण हु छुं अही माथेरे मणी-थां । १६

वार वार वचन आक्रोसे, न तजे राय रली,
हाक लीयोरे हरीलो होवे, श्वान न जाये टली । २०

सीतानी तो अरति अधिकी, न शक्यो शूर खमी,
आथमीयो अलगो होवाने, व्यापी आण तमी-था । २१

रावणने उपजी ए अधिकी, कुमति तणी ए मति,
उपसर्गा करावे अधिका, सीदावेरे सती-था । २२

फेतकारी करती फेरे, घू घू धूक करे,
वृश्चिक वृक फिरे क्रदता, निसत नररे डरे-था । २३

पुच्छाटोप सुव्याघ्र विशेषे, उतु अन्योन्य लडे;
फू फूता फण करता, परगट, माहोमांहि अडे-थां । २४

पुच्छा छोट सुव्याघ्र विशेषे, सिंह सबलते फिरे,
साकनीयां सहार करती, मुह विस्फोट करे थां । २५

भूत पिसाच वेयाल वदीता, हठसु हास हसे,
डाकिणी भूतनी मयली देवी, काती हाथ घसे-थां । २६

उलझता दुरललित, अति जमकाय धरे,
रावण एह विकुर्वण, करिनद्द, आगे आणी सरे-था । २७

परमेष्टी पाचे मन ध्याती सीता स्वेत (खे) खरे,
जानकी (जानकै) पियु करती, रावण, साम्ही पग न भरे थां २८

रावण तो निज नियम भाजे, सीता सत न चले,
पाकाने नही भूत पराभव, काचानेरे छले-था । २६

ढाल भली ए पाचती समी, धन्य जो टेक ग्रहे,
केशराज ग्रही तो साची, सीता ज्यु निवहे-था ३०

—दुहा—

विभीषण निशिनी चरी, निसुणी लोगा माहि,
सीता पासे आवीओ, करण दिलासा प्राँहि । १

सहोदर समझाविया वात सुणेवा वीर
छे परनारी परांग मुख, साहसवंत सधीर । २

पाइखी ! तुम्हे कथया छो किहांथी भाव्या चाखि।
इहां तुम्हे भावया कुपे भाखो शका टालि । ३

घूघट खींची भधोमुखी जाणी पूर्ये प्रधीया;
सत्यवती साची सखी, थाणी यहे भदीया । ४

ढाल ३६मी, एक दिवस रुकमणि हरिसाथे-ए देशी०

सीता राम निर्शकपणेरे, भासे भारु वाणीरे,
विमीपण कुलकेरा मृपणा, निसुणो भमृत आणीरे-सी । १

चनक पिता भामण्डल भाई राम-स्रीया हुं वखाणीरे,
दशरथनी कुलवहू वदीतो सतीयोमें भधिकाणीरे सी । २

राम नरेसर लक्ष्मण देवर, तीजी हुंतो रांणीरे,
दंडकारण्ये मांहि भावी, वामतणी थितिठांणीरे-सी । ३

सूरहास भसि वरु वाश वस्त्रिमो भधिके पाणीरे,
लक्ष्मणजी सीताये लीधो ज्योति घणी प्रगटांणीरे-सी । ४

करवा परीक्षा वेगें वाहे वंशनी जाल कपाणीरे,
शंबूकनो तव शिर छेदाणो मनसा भति पिछताणीरे-सी । ५

खांडो देखी राघव भाखे, तें न करी भलीइपाणीरे,
बिचा साधित (साधन) विण भपराधें मारियो एवे प्राणीरे । ६

पाछे पूजा मोजन पाणी भांणीने घमकाणीरे,
घड मस्तक बे सूर्दा दीठा सास धणुं भकुलांणीरे-सी । ७

पग भनुसारें चाली भायी रावणसुं रीसाणीरे
संपटिनी भाशय नवी पूरी मनसा भति पिछताणीरे-सी ८

खरदूषण खिरि सार्थे भावी भागि थइ रिसाणीरे,
सिंह नाद संकेत कीयाथी लक्ष्मणसुं मंडाणीरे-सी । ९

लंकाडइ लंकापति भयया वात कही भति तांणीरे,
सिंहनादना भेद लगावी पहुं इहां भांणीरे-सी । १०

प न्रा मस्तक कापवाने हुं कातीरेक कढांणीरे,
लंका नगरी वासमाँमें दुबल दुबलसी लाणीरे-सी । ११

तेज प्रताप पराक्रम, पीलण, हु घरमडी घाणीरे,
पगी आवीछु रावण केरे, एकाने दुःख खाणीरे-सी । १२

श्रवण सुणे पिण रीस न आणी रागीनी नहि नाणीरे,
आगि सतेजी छे अति अधिकी, जल आगे उल्हाणीरे-सी । १३

एम सुणी लछुरवव जपे, वाइ मति भरमाणीरे,
एको वलती गाडर घरमें, घाले कुण अग्यानीरे-सी । १४

पर रमणी नेकाली नागिणी, के विष वेलि ममाणीरे,
जालवताइ जब तब जोवो, क्युहि नहि अति ताणीरे । १५

सपद तरुनी एक कुहाडी, आपदनी नीसाणीरे,
आप सनीनो छे दु खदाई, मति दिइ एह रीसाणीरे-सी । १६

लाख कहु के कोडि कहु लुम्ध, अ तता वस्तु विराणीरे,
आजकाल दिन च्यारामाहि, एनो वात दिखाणीरे-सी । १७

हु म्हारो श्रोलभो टालुं, राखो कीर्ति पुराणीरे,
लोक कहेसे कोइ न हु तोरे, रावणके आगे वाणीरे-सी । १८

राम सुलक्ष्मण दोमुही वलीया, अनमी नाडि नमाणीरे,
सीताने हु देइ आउ, जिम रहे प्रीति थपाणीरे-सी । १९

ढाल भली (ए तो) छत्तीसमी, राये एक न मानीरे,
केशराज ऋषि रावणकेरी, वेला आणी जणाणीरे-सी । २०

दुहा

रावण हूवो रातडो, वदे विभीषण वीर,
ग्रही वस्तु किम छोडीये, जब लग रहे शरीर । १

राम सुलक्ष्मण भीलडा, वनहिमाहि वास,
साहण वाहण कोनहो, आपहि फिरे उदास, । २

साहण वाहण माहिरे, विद्यानो अति जोर,
श्रो स्यु करिसे बापडा, काइ मचावे सोर । ३

आज नहीं तो कालही, काल नहीं तो मास,
मास नहीं तो वरसमे, आप हि करिसे आस । ४

एहवामांहि वासना उवे आवे सी पासि
छल बल कोइ केलवी, वस्तुं परहा टालि । ५

ढाल ३७मी, सयणा परिहरियें अहकार-ए देशी ।

पहिलीयोमें सांभलीरे, रामत्रीयाथी थाव
होसे रावणनी सहीरे, वही मिलसे थाव,
बिभीषण वाव विचारे ५६ ।

सत्य वचन ज्ञानीतणारे, कोइ नहीं संदेह-वि । १

में तो कीयोयो पणारे, भा छोडी उपक्रमे
दशरथ जीवतो उवर्योरे, बीरोछे गज घम-वि । २

मापीनो बलछे घणारे, नटसे कोडि प्रकार,
सीताने सबतां थकरि, पासस लोगां बार वि । ३

सुणवो ही सुख नहींरे, बिभीषणनो बोल
देखे तो देखे नहींरे, कामी एतो निटोल वि । ४

पुष्पक नाम विमानसेरे, सीता लेइ आप
क्रीडा करिवा चालीयोरे, टाल्यो न टले पाप वि । ५

देखावे अति रुयडारे, रत्नमयी गिरिराज
नंदनवननी ओपमारे, देखावे वन साज वि । ६

सरनी तट करि सोहतीरे हंस केरा साज
केलघरा काम्यां घणारे, देवे रमा राम वि । ७

मंदिर विविध प्रकारनारे सेवधणी वरसोम
मन्त्रे मन्त्रपणो भलोरे, भाखि विषमसुख खोम-वि । ८

संपद सालस लागीयारे केलवणीनी कोडि
करि देखावे अति घणीरे, सेव करे नहि खोडी-वि । ९

हंस तजीने हंसलीरे, कदही बंछे काग
राम तजी सीता सतारे नहीं अवरांसुं लाग-वि । १०

ताम अपूर्व आणीयारे, वृक्ष असोकहि हेठि
मूकी रावण मानिनीरे, प पिण काठी बंठि वि । ११

विभीषण चित्त चितवेरे, होइ रहिओ मयमंत,
शीख न कोई सरदहेरे, आयो दीसे अंत-वि । १२

मंत्रीसर बोलावीयारे, विभीषण तिहिवार,
करे मसूरति मद्द मिलीरे, उपजियो ए अविचार-वि । १३

मोह तणे मदि मातीयोरे, कोइ न माने कार,
हूओ हरायो हाथीयोरे, केम करीजे सार-वि । १४

आयो दीसे आसनोरे, रावण काल विणास,
कोइ रुप करमें करीरे, कीजे भोग विलास-वि । १५

मति उठावे मनथकीरे, ते माटे मत्रीश,
जोर न लागे माहिरोरे, कान न माडे ईश-वि । १६

मिथ्या मतिनो मोहियोरे, जिन मतिनो आदेश,
माने नहीं प्रभु आपणोरे, कीजे काइ कलेस-वि । १७

हनुमतने कपि राजीयोरे, आदि मिल्या नृप आप,
धरम पखे पखीया थयारे, मेलिहओ रावण राय-वि । १८

राम अने लक्ष्मण थकीरे, रावणनो सहार,
ग्यानी वचने छे सहीरे, साचवीयें विवहार-वि । १९

जोति पहिली सोचीयेरे, तो काइक सुख पाय,
मदिर लाग्या वारथीरे, काढयो काइ न जाय-वि । २०

भय तो उपजसी सहीरे, सासो नहिय लिगार,
जेहनी आणी कामिनीरे, ते तो आवणहार-वि । २१

जेहनुतरीयो प्राहुणोरे, ते तो जोवे वाट,
खोटो नाणो आपणोरे, कीधा काइ उचाट-वि । २२

लंका नगरी अति सजीरे, ढील न कीधी रच,
अन्नपान ने इंधणारे, मेल्हे वहूलो सच-वि । २३

कोट ओटना कागुरारे, पोलि अने पागार,
सगलोही समरावीयोरे, गोला यत्र अपार-वि । २४

विद्यातो आशालिकारे, तेहनो प्रवर प्राकार,
देवहि पाछा उसरेंरे, लघता दुरवार-वि । २५

इण रचनाये लंका सजीरे, कील न करी है सिंगार,
हिवे भवियण तुम्हे सांभलोरे, श्रीराघव अधिकार वि । २६

राघव विरहे वियोगी योरे, आरति वंत उदास
अन्न पांनि भावे नहिरे, ले लांबा निसास वि । २७

लक्ष्मण सार्ये बोलीयारे, कीस पडेछे पह
आशा दिन दश धीरानीरे, पाछे सजसी देह वि । २८

दुखीयो अधिक सवावसारे, सुखीया मुसखो होय
तिसीयो आवे सरोवरें रे, साम्हो नाय सर सोय-वि । २९

कीलो वानर राजीयोरे, सुखमांहि दिन जाय
पर दुखीयो दुखीयो नहींरे, वाता वडा न थायन-वि । ३०

एम सुणीने ऊठीयोरे, हाथ मही सर चाप
धमधमता अति चालीयारे, होठडसंतो आप-वि । ३१

कंपावे धरती भणीरे, कंपावे गिरि सीस
पृष्ठ ज्वालो नांखतोरे, कोपियो विसवावीस-वि । ३२

आया वसि दरबार मेंरे, सलसलीयो सुग्रीव
धुजंतो पगे लागीयोरे, सारे सेव अतीव-वि । ३३

बोलेभो देइ आकारोरे, शुद्ध नहि तुजमाहि
तुं घरमें सुख भोगवेरे, प्रभु सेवे तरु छांहि वि । ३४

वासर जाये वरस सोरे, अगुणी राति गिणाय
दुखमें बीवक बीतीयारे, तोही न समजे काय-वि । ३५

गुण वब फूटां वैंघनरे, संभारे नहीं कोय
आरति तो अति आंकलीरे, आप थकी लुंजोय-वि । ३६

महेनत भारीय भणीरे, खेचर दोइ प्रकार,
भूमिवणा को भोमियारे, सगले तुम्ह पयसार-वि । ३७

बाघा पाखो आपणीरे, काम करो वसि चाय
नहीं साह सगविनी परेंरे, दिर्ह परभव पहुंचाय-वि । ३८

देव दयाल दया करोरे, हूं तो छुं तुम्ह दास
एम कहीने आवीयोरे, श्रीराघवनी पास-वि । ३९

पगि लागीने वीनवेरे, वेगो काम कराउ,
खुस कराउ चामनीरे, डरण तोही न थाउ-वि । ४०

कामीने तो कामिनीरे, कहियें प्राण समान,
उवालीने आपतारे, आप्या तुम्ह मुज प्राण-वि । ४१

जो तो हु छुं जीवतोरे, जे जूवो कीधु काम,
शुद्ध करु सीतातणीरे, तो साचो मुजनाम-वि । ४२

संभाह्या भड सामठारे सूरामाहि सूर,
सीता सोधण चालीयारे, जिम पाणीना पूर-वि । ४३

गिरि-नदीने सायरुरे- द्वीपादिक सहु ठाम,
पुर पुर पाटण सोधीयारे, नगर नगर ने गाम-वि । ४४

हरण सुणी सीतातणोरे, भामडल आवत,
भाई तो भगिनीतणोरे, गाढो दु ख पावत-वि । ४५

विरविराध पधारी योरे, लेइ निज परिवार,
सेवक सेवा साचवेरे, माने अति उपगार-वि । ४६

कपिपति दोडीले चालीरे, कवूद्वीप पहूत,
रत्न जटी तस देखवेरे, आरतीयो अद्भूत-वि । ४७

दशकधरे मुज मारिवारे, मोकलियो कपिराज,
मुजने मारी जायसेरे, उपजीओ अधिक अकाज-वि । ४८

कपिराजा तव वोलीयोरे, गाढो होई गरम,
तु मुजने किउं (नवी) उटीउ रे, विनयवडो जिनधरम-वि । ४९

थाक चढि पगि चालवेरे, सो तो बयसि विमान,
आपा इच्छायें फिरारे, न ऊठिऊ कोइ गुमान-वि । ५०

सो भाखे स्वामी सुणोरे, इशासु अभिमान
काइ न करे पाधरोरे, कारण ए छे आन-वि । ५१

रावण सीता अपहरीरे, में माडियो सग्राम,
विद्या सघली अपहरीरे, पडियो होइ निकाम-वि । ५२

पख विहूणो पखीयोरे, उडी न शके जेय,
विद्या विण विघाधरुरे, जाणेवो प्रभु एम-वि । ५३

एतलामांहि आसना सवे आवे सी चालि
छल बल कोइ केलनी देसु परहा टालि । ५

ढाल ३७मी, सयणा परिहरियें अहंकार-ए देशी ।

पहिलीयीमें सोमलीरे, रामनीयाथी घात
होसे रावणनी सहीरे, एही मिलेछे वात,
विभीषण वात विचारे ए६ ।

सत्य वचन जानीवणारे, कोई नहीं संदेह-वि । १

मैं तो कीधोयो घणारे, आ छोडी उपक्रम
दशरथ जीवतो सयरोंरे, वीरोछे गज धर्म-वि । २

भावीनो बलछे घणोरे, नटसे कोडि प्रकार,
सीताने रावणां थकरि, पालमे आगां चार-वि । ३

सुणवो ही सुणे नहीरे, विभीषणनो बोल
देखे तो देखे नहीरे कामी पवो निटोल वि । ४

पुष्पक नाम विमानमेंरे, सीता लेइ आप
क्रीडा करिवा चालीयोरे, टाल्या न टले पाप-वि । ५

देखावे अति रुवडारे, रत्नमयी गिरिरांज
नंदनवननी ओपमारे देखावे वन साज वि । ६

तटनी तट करि सोहसीरे हंस केरा साद
केलघरा काम्यां घणारे, देखे रसराज-वि । ७

मंदिर विविध प्रकारनारे सेवणी वरसोम
मत्रे भत्रपणो मलोरे, आधि विषयसुख छाम वि । ८

लंपट लालच लागीयोरे, केलवणीनी कोडि
करि देखाव अति घणीरे, लेत सरे नहि सोडी-वि । ६

हंस समीन हंसलीरे, कदही बंठे काग
राम तणी सीता सणोरे, नहीं अपरासुं लाग-वि । १०

राम अपूठो आवीयारे, पूछ अशोकहि हेठि
मूकी रावण मानिनीरे, न पिया काठी पठि-वि । ११

पगि लागीने वीनवेरे, वेगो काम कराउ,
खुस कराउं चामनीरे, उरण तोही न थाउ-वि । ४०

कामीने तो कामिनीरे, कहियें प्राण समान,
उवालीने आपतारे, आप्या तुम्ह मुज प्राण-वि । ४१

जो तो हु ं छु जीवतोरे, जे जूवो कीधु काम,
शुद्ध करु सीतातणीरे, तो साचो मुजनाम-वि । ४२

सभाह्या भड सामठारे सूरामाहि सूर,
सीता सोधण चालीयारे, जिम पाणीना पूर-वि । ४३

गिरि-नदीने सायरुरे- द्वीपादिक सहु ठाम,
पुर पुर पाटण सोधीयारे, नगर नगर ने गाम-वि । ४४

हरण सुणी सीतातणोरे, भामडल आवत,
भाई तो भगिनीतणोरे, गाढो दु ख पावत-वि । ४५

विरविराध पधारी योरे, लेइ निज परिवार,
सेवक सेवा साचवेरे, माने अति उपगार-वि । ४६

कपिपति तोडीले चालीरे, कवूद्वीप पहूत,
रत्न जटी तस देखवेरे, आरतीयो अद्भूत-वि । ४७

दृशकधरे मुज मारिवारे, मोकलियो कपिराज,
मुजने मारी जायसेरे, उपजीओ अधिक अकाज-वि । ४८

कपिराजा तव बोलीयोरे, गाढो होई गरम,
तु ं मुजने किउ (नवी) उटीउ रे, विनयवडो जिनधरम-वि । ४९

थाक चढि पगि चालवेरे, सो तो वयसि विमान,
आपा इच्छायें फिरारे, न ऊठिऊ कोइ गुमान-वि । ५०

सो भाखे स्वामी सुणोरे, इशासु अभिमान,
काइ न करे पाधरोरे, कारण ए छे आन-वि । ५१

रावण सीता अपहरीरे, में माडियो सग्राम,
विद्या सघली अपहरीरे, पडियो होइ निकाम-वि । ५२

पख विहूणो पखीयोरे, उडी न शके जेय,
विद्या विण विधाधरुरे, जाणेवो प्रभु एम-वि । ५३

इण रचनाये लंका सजीरे, डील न करी हे सिगार,
हिवे भवियण तुम्हे सांभलोरे, श्रीराघव अधिकार-वि । २६

राघव विरहे वियोगी थोरे, आरति वन उवास
अन्न पांनि मावे नहिरे, ले सांशा निसास वि । २७

लक्ष्मण साथें वोलीयारे, वील पवेले पह
आशा दिन दश वीशनीरे, पाछे वजसी देह वि । २८

दुखीयो अधिक ववावखोरे, सुखीयो सुसवो होय
विसीयो आये सरोवरें रे, साम्हो नाव सर सोय-वि । २६

डीलो वानर राजीयोरे, सुखमांहि दिन जाय
पर दुखीयो दुखीयो नहींरे, वाता वडा न थाय-वि । ३०

एम सुणीने उठीयोरे, हाथ मही सर चाप
धमधमता अवि चालीयारे, होठडसंतो आप-वि । ३१

कंपावे धरती घणीरे, कंपाव गिरि सीस
दृष्ट ववाली गोंगवोरे, कोपियों विसवावीस-वि । ३२

आया अति दरबार मेंरे, खलभलीयो सुग्रीव
धुजवो पगे लागीयोरे, सारे सेव अतीव-वि । ३३

बोलीयो देह आकारोरे, याद नहि सुगमाहि
तुं घरमें सुख मोगवरे, प्रमु सेवे वरु मांहि वि । ३४

वासर जाये वरस सारे छगुणी रात्ति गियाय
सुखमें बीतक वीतीयोरे, ताही न समजे काय-वि । ३५

गु पड फूटा वेघनरे, संमारे नहीं कोय
आरति तो अति आवहींरे, आप थकी लुंजोय-वि । ३६

म्हेनत थारीए घणीरे, खेचर वोड प्रकार,
भूमिवणा हो मोमियारे, मगले तुम्ह पयसार-वि । ३७

पाचा पाले थापणीरे, काम करो अति थाय
नहीं साह सगतिनी परेंरे, दिन परमव पहुंचाय-वि । ३८

देव दयाल दया करारे, हूं तो छु तुम्ह दास
एम कहीने आवीयारे, श्रीराघवनी पास वि । ३६

जांबवान भाखे भलोरे, उपाडे भुज पाणि,
कोटी शिलाने साहसीरे, रावण हंता जांणि-वि । ६८
साधु वचन में साभल्योरे, ए अति रुडी रीति,
सहुने शिला उपाडतारे, उपजे अति परतीति-वि । ६९
लक्ष्मण भाखे ए भलीरे, वयसे विमाने देव,
विद्याबलें विद्याधररे, आइ गया ततखेव-वि । ७०
जेम लता तिम ते शिलारे, देखाडी उपाडि,
पुष्पवृष्टि हूइ भलीरे, सुजस चढिओ लेलाडि-वि । ७१
भलू भलू कहे देवतारे, प्रत्यय पामी जाम,
सहू कोइ अणंदीयारे, पाछा आया ताम-वि । ७२
वृद्ध पुरष परमारथीरे, वात विचारे एक,
पहिली दूतज मोकलोरे, जाणण हार विवेक-वि । ७३
वातांमें समजावीयांरे, पाछी आपे (वा) वाल,
दोइ घरेहें वधामणांरे, वाधे नहीं जजाल-वि । ७४
दूत महाबल आगलोरे, मोकलीये सुप्रमाण,
लंका तो साजी सुणीरे कीधा अतिहि मडाण-वि । ७५
ढाल भली सैती समीरे, कीधी दूतनी थाप,
केशराज ऋषिजी कहेरे, जहेनो प्रबल प्रताप-वि । ७६

दुहा

राक्षस कुल सायर दिखें, अमृत उपजिओ एक,
विभीषण मति आगलो, जाणें विनय-विवेक । १
दूत धूत जाये धसी, विभीषणने पास,
भय मांनी राक्षस तणो, पाछो नावे नास । २
सीता छोडावा तणी, रावणसु अरदास,
करे लघु भाई भली, मानेसे प्रभु तास । ३
देव जोगे मानी नहीं, पाछी वात विशेप,
सर्व जणावे आपने, लीधी मान नरेश । ४

राम समीपें आणीयोरे, मोंढी कहे विरतंत
रावण सीतान आहरे, नाठो आप तुरंत-वि । ५४

राणी आथ रोवतीरे, करती अधिक विलाप
राम राम श्रीरामनोरे एकही जिहां आप-वि । ५५

लखमण लखणवंतनोरे, कं मार्मंडल भ्रात
नाम अर्पंती आयवीरे, मैं निसुणी ए वात-वि । ५६

हुं हूतो तब बाहरुरे, करतो अति आक्रोस
विद्या सघली अपहरीरे, रावण कीधो रोस वि । ५७

समाचार सोहामणारे सीताजीना पामी
परम महासुख ऊपनोरे, माणे त्रिभुवन सामि-वि । ५८

रत्नजटी विद्याधररे, कंठे लगाइ छीप
तुं म्हारे वालेसररे, खबर मली तें दीध-वि । ५९

जिम जिम पूछे वातडीरे तिमतिम ऊपजे राग
वारंवार विरोधीयेरे रागीनो ए माग-वि । ६०

समाचार सगा तणारे, सांभलतां संतोष
मिलवा मैं ओछो नहीरे, प्रेम तणो अति पोष वि । ६१

पूछे प्रभु सुग्रीवनेरे लंका केती दूरी
आलसुयां अलगी खरीरे, उद्यमवंत हजूरि वि । ६२

लंकानो धणी जिनुरे धणी रावण तेज
आगलगें अधिको अछरे, सूरज तेज सहेज-वि । ६३

राम कहे सो आणीयेरे, तेजपणो संसार,
कायर कपट करी खरीरे लेइ गयो मुझनार-वि । ६४

लखमण निजरो टाहररे सो रायां राखान
देखेवी दिन च्यारमेंरे, ए छोडाए भयदान-वि । ६५

लखमण भाखे सचरोरे, रावण तोडे स्वान
सुना घरमें पेसीयारे फिटि एहना अभिमान-वि । ६६

क्षत्रिने छल मलि कहियारे क्षत्रीनो पक्ष तंत
सोइ साचो मानवोरे, देखी जे मित्र भेत-वि । ६७

रास एवं रासान्वयी काव्य

परिशिष्ट

सुग्रीवे सुसतो कीयो अपराध सहु सत्य
हनुमत तव बोलावीयो, आणी अति समरत्थ। ५

पगे लागी ऊभो रहियो, प्रभु करे प्रसाद
सुत सम बीजो को नहीं थारो जग जसवाद। ६

दशकंधर लेई गयो, लंका नगरी मांहि
सीता छे तम शुद्ध तो तुमथी आवे प्रांहि। ७
हनुमत भाखे स्वामिजी, मया करी कपिराय,
ते माटे हुं तेडीयो, वानर घणा कहाय। ८

गव गवाक्ष शरभम गवय जांबवान नल लीन
द्विविद मंद मावन भलो अंगदमें दश लीन। ९

इत्यादिक तो छे घणा वानर अति अभिराम
छोहणी संख्या पूरणी, मांहि म्हारुं नाम। १०

पिण हुं कारज पवली करे सोभलो राय
लंका राक्षस द्वीपसु आणुं इहां उछाय। ११

रावण लोग हरामणो माइभासुं बांधि
आणुं प्रभुने आगलें कोउइ वंछा साधि। १२

कहो ता हणुं कुटंबसुं कुलनो कंद निकंद
सत्यवती सीता सती, आणुं धरि आनंद। १३

राम कहे साचो सहु थारा वचन विचार,
तेम कहे तिम ही करे, नहि संदेह लिगार। १४

एक वार तो जायके, आणो खबर अबार,
वरय पछीछे पारके करते कोण प्रकार। १५

रास एवं रासान्वयी काव्य

परिशिष्ट

श्री जिनदत्त विरचित उपदेश रसायन रास

[अर्थ]

१—हे भद्र पुरुषो ! (उपात्य और अत्य रूपा) पार्श्व और वीर जिन तीर्थकारो को निर्मल अध्यवसाय से नमस्कार करो। इस प्रकार तुम पाप से मुक्त हो जाओगे। केवल गृह-व्यवहार में ही न लगे रहो। क्षण क्षण गलती हुई आयु को भी देखो।

२—प्राप्त किये हुये मनुष्य-जन्म को मत खोओ। ससार रूपी सागर में पडे हुये (तुम) अपने आप को पार लगाओ। अपने आप को राग-द्वेषो को मत सौंपो और इस प्रकार अपने आपको सब दोषों का घर मत बनाओ।

३—जो दुर्लभ मनुष्य-जन्म तुमने प्राप्त किया है उसे सुनिश्चित रूप से सफल करो। वह शुभ-गुरु के दर्शनो के बिना किसी प्रकार भी शीघ्र सफल नहीं हो सकता।

४—सुगुरु वही है जो सत्य बोलता है। जिससे परनिंदा का समूह नष्ट हो जाता है, जो सब जीवों की अपनी ही तरह रक्षा करता है, और जो पूछने पर मोक्ष का मार्ग बतला देता है।

५—जो जिन भगवान् के वचनों को यथावत् जानता है। द्रव्य, क्षेत्र तथा काल को भी ठीक ठीक जानता है। जो उपसर्ग तथा अपवाद को (शिष्यों से) करवाता है तथा उन्मार्ग से जाते हुये मनुष्यों को रोकता है। अर्थात् लोक-प्रवाह के साथ जाते हुए मनुष्य को सावधान करता है।

६—यह द्रव्य रूपी सरिता अथवा लोक-प्रवाह रूपी सरिता विषम (महा अनर्थकारिणी) कुगुरु की वाणी रूपी पर्वत से निस्सृत है तथा कुख्यात है। जिसके पास सद्गुरु रूपी जलपोत नहीं है वह उसके प्रवाह में पड़कर बह जाता है और कष्ट पाता है।

गुरु गिरि—गुरु रूपी पर्वत।
कुप्रतिष्ठिता—पृथ्वी पर प्रतिष्ठित।

७—यह (सरिता) बहुत मूर्खों से युक्त तथा दुस्तर है जो निरुत्तर (तरने

में असमर्थ) होते हैं वे इसे कैसे तरेंगे। शक्तिमान् (शोभनोत्तरण) ही इसे तर सकते हैं और वे (इस प्रकार) उत्तरोत्तर सुख को प्राप्त करते हैं।

जड़=मूर्ख, जल।
निस्तर=विचार विकल, तरने की सामर्थ्य से विहीन।
उत्तरोत्तर=क्रमशः, तरते तरते।

८—गुरु रूपी नौका पुण्यविहीन जनों के द्वारा प्राप्त नहीं की जाती। इसमें (लोक प्रमाद) पड़ा हुआ मनुष्य बह जाता है। जब वह नदी संसार रूपी सागर में प्रविष्ट हो जाती है तब सुखों की आशा भी नष्ट हो जाती है।

९—उसमें पड़े हुये मनुष्य भयानक ग्राहों के द्वारा खाये जाते हैं और अहंकारी कुगुरुओं की दंष्ट्राओं (दाढ़ों अर्थात् कठोर उत्सूत्रों के वचनों से) छिन्न भिन्न जाते हैं। उनमें फिर अपने पराये का ज्ञान नहीं रहता वे फिर स्वयं मूर्च्छावस्था में होने के कारण स्वाभाविक सुख रूपी लक्ष्मी को भी नहीं मानते।

कुग्राहैः=कुत्सित स्वामी जनों से ग्राह।
मद (क) र=मद से भरे हुये मकर।

१०—यदि कोई परोपकार रसिक दयालु उन हतचेतन मनुष्यों को देख कर सहानुभूति से द्रवीभूत होकर गुरु रूपी नौका लाता भी है तो वे उस पर चढ़ना नहीं चाहते।

११—यदि कोई परोपकार रसिक उन (दुर्जनों) को बलात् गुरु रूपी पोत पर रख भी देता है तो वे अधीर होकर रोने लगते हैं और (फिर रज्जु (रस्सी, सहारा) देने से वे रोते हैं तथा फिर उसी (पाप रूपी) विष्ठा में लिप्त हो जाते हैं।

१२—क्या यह कातर पुरुष धर्म को धारण कर सकता है ? और फिर गुण को आदर ग्रहण कर सकता है ? उसके सुख के लिये यह परोपकारी व्यक्ति क्या निर्माण का अनुष्ठान उसके हृदय में करा सकता है ? अतः क्या वह सम्यक् चरित्र का पालन कर सकता है ? अर्थात् नहीं।

धर्म=(१) धर्म (२) धनु।
गुण=(१) गुण (२) जीव।
सुहृत्त=(१) परोपकारी (२) शास्त्रकार।
निर्माण=(१) मोक्ष (२) निश्चित बाण (ठीक लक्ष्य)।

मोक्ष=(१) मोक्ष (२) प्रक्षेप ।

राधा=(१) सम्यक् चरित्र (२) चक्राष्टक के ऊपर की पाचालिका ।

१३—जो (मन चक्षु आदि से) हिनहिनाते घोडे के समान चपल है जो कुमार्ग का अनुसरण करता है और सन्मार्ग पर नहीं लगता तथा (लोकाचार के) प्रबल झकोरे में वह जाता है उसका सुनिर्वृत्ति से सङ्गम कैसे होगा ।

१४—नाना प्रकार के श्रावकों के द्वारा उसका भक्षण किया जाता है और विशालकाय कोमल पापोपदेशक कुत्तों के द्वारा छेदा जाता है। वह व्याघ्र के समान भयानक कुसर्पों के भय से (सन्मार्ग पर नहीं लगता और) पाप के गर्त में गिरता चला जाता है। और उसके कारण वह अस्थि-पञ्जर मात्र ही अवशेष रह जाता है। (अर्थात् उसके मनुष्य शरीर का कोई सदुपयोग नहीं हो पाता ।)

१५—वह इस जन्म को निरर्थक करता है और फिर अपने माथे पर हाथ मारता है (अर्थात् पछताता है)। उसने अच्छे कुल में जन्म लेकर भी सद्गुणों का प्रदर्शन नहीं किया ।

१६—यदि वह सौ वर्ष भी जीवित रहता है तब भी वह केवल पाप को ही सचित करता है। यदि कदाचित् वह जिन दीक्षा भी प्राप्त करता है तो (स्वभाववश) अपने निद्य कर्मों को नहीं छोड़ता ।

१७—वह व्यक्ति मोहासक्त लोगों के आगे अहकारवश गरजता है और धर्म के लक्षण तथा तर्क के विचार में लगता है। दयावश ऐसा कहता है कि मैं जिनागम की कारिका कर सकता हूँ तथा सब शास्त्रों का सम्यक् विचार करता हूँ ।

१८—वह आधे महीने अथवा चतुर्मास के बाह्य विधानों को दिखाता हुआ भी मानो आभ्यतर मल को बाहर धारण करता हो। श्रावक को प्रतिक्रमण नहीं करना चाहिए। साधुओं को भी स्तुति आदि कार्य करणीय है। वह वदनक आदि का भी पालन करता है।

१९—लेकिन वह उसके वास्तविक अर्थ को नहीं जानता और फिर भी लोक प्रवाह में ही पड़ा रहता है। यदि उन ऋचाओं के (अशुद्ध) अर्थ पर कोई उसे रोकता है तो उसे डडा लेकर मारने दौड़ता है ।

२०—धार्मिक जन शास्त्र के अनुकूल विचार करते हैं परंतु वह उन धार्मिकों को शास्त्र से विरोधी करता है और (इस प्रकार) वह ऋचाओं के वास्तविक अर्थ को नष्ट कर देता है।

२१—जो ऋचाओं के वास्तविक अर्थ को जानता है वह ईर्ष्या नहीं करता परंतु वह (प्रतिनिविष्ट चित्त वाला व्यक्ति) जब तक जीवित रहता है तब तक ईर्ष्या द्वेष नहीं छोड़ता। यदि शुद्ध धर्म में कोई विरला लगता भी है तो वह (लोकप्रवाह पतित) संघ से चांडाल की तरह पृथक कर दिया जाता है।

२२—उस (शुद्ध धर्मग्राही) व्यक्ति में पद पद पर छिद्र ढूंढे जाते हैं और शांत होने पर भी उसके कार्य में बाधा दी जाती है। और श्रावक लोग कुत्तों की तरह उनके पीछे लग जाते हैं (उसे कष्ट देते हैं) तथा धार्मिक जनों के छिद्र खोजा करते हैं।

२३—वे विधि चैत्य-गृह में अविधि करके उसे अपने अधिकार में करने के अनेक उपाय करते हैं। यदि विधि जिन गृह में अविधि आरंभ हो जाती है तो वह ऐसा ही अनुपयुक्त होता है जैसा घी में सत्तू मिलाना।

२४—यदि निर्विवेकी लोभी राजे दुष्ट काल के माहात्म्य से उन अविधि-कारियों को ही चैत्य गृहों को (पूजा के लिये) सौंप देते हैं तो धार्मिक जन विधि के बिना कलह नहीं करते, क्योंकि वे सभी (अविधिकारी) दंड लेकर मारने आते हैं।

२५—नित्य देव-पद-भक्त पंचपरमेष्ठि मंत्र का स्मरण करने वाले सज्जनों से शासन देवता स्वयं ही प्रसन्न हो जाते हैं तथा उनके सभी धार्मिक कार्यों को साध देते हैं।

२६—धार्मिक धर्म कार्यों को साधते हुये विपक्षी दल को युद्ध में मारते भी हैं तो भी उनका धर्म नष्ट नहीं होता और वे शाश्वत मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

२७—श्रावक विधि-धर्म के अधिकारी होते हैं और वे दीर्घ काल तक संसार की विषय वासनाओं का सेवन नहीं करते। युक्त गुरु के द्वारा रोके जाने के कारण वे कभी अविधि नहीं करते। तथा जिन परिग्रह स्थित देवता को धारण नहीं करते।

२८—यदि फूल मूल्य देकर प्राप्त हो सकते हों तो क्या कुएँ के समीप वाटिका नहीं लगाई जाती ? अर्थात् लगाई जाती है। उसी प्रकार यदि जिन धन संग्रह हो गया हो तो क्या उसकी वृद्धि के लिए स्थायी रहने वाले गृह हाट आदि का निर्माण नहीं करना चाहिए ? अर्थात् करना उचित है।

२९—यदि कोई मरता हुआ व्यक्ति (ऋण मोक्ष के लिए) घर आदि दे देता है तो लभ्य द्रव्य की भाँति उसे ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति गृहादि देता है तो भी ग्रहण कर लिया जाता है। उस घर के भाड़े से जिन देवता की पूजा की जाती है।

३०—यदि श्रावक (जैन गृहस्थ) धर्मार्थ दान कर रहे हो तो उन्हें धर्म कार्य में विघ्न न करके उत्साहित करते हैं। दान-प्रवृत्त-रत गृहस्थ के (वृत्ति व्यवच्छेदकारि) व्यवहार को त्यागकर क्रोध लोभादि कषाय से पीड़ित नहीं होते।

३१—शिष्ट श्रावक इस प्रकार का धर्म कहते हैं जिससे वे मृत्यु के उपरान्त सुरनायक होते हैं और जो लोग चैत्र और आश्विन में अष्टाह्निक (शाश्वतयात्रा) करते हैं उनके अहित नष्ट हो जाते हैं।

३२—जैसे (देवेंद्र) जन्म कल्याणादि पृष्ठ पर अष्टाह्निक करते हैं श्रावक भी यथाशक्ति उसी प्रकार करते हैं। छोटी (नर्तकी) चैत्यगृह में नाचती है तथा बड़ी (युवती) नर्तकी सुगुरु के वचनों से उसके (सुगुरु) पास ले जाई जाती है।

३३—जो वीरांगना नवयौवना होती है वह श्रावकों को (धर्माध्यवसाय से) गिराने लगती है उसके लिये श्रावक पुत्र में चित्त विश्लेष हो जाता है और जैसे जैसे दिन बीतते जाते हैं वे धर्म से च्युत होते चले जाते हैं।

३४—बहुत से लोग रागांध होकर उसको (वारांगना) निहारते हैं और जिन मुख कमल को बहुत कम लोग चाहते हैं। जो लोग जिन भवन में सुख (चित्तशांति) के लिये आए थे वे तीक्ष्ण कटाक्षों के आघात से मर जाते हैं।

३५—राग (भैरव, मेघादि) विरुद्ध नहीं गाये जाते, और (जिन गुणों को) हृदय में धारण करते हुए लोगों के द्वारा जिन गुण ही गाये जाते हैं। ढोल आदि भी अनुपयुक्त रीति से नहीं बजाये जाते केवल लड़-

में असमर्थ) होते हैं वे इसे कैसे तरेंगे। शक्तिमान् (शोमनोत्तरस) ही इसे तर सकते हैं और वे (इस प्रकार) उत्तरोत्तर सुख को प्राप्त करते हैं।

मह=मूले बल।
निरुत्तर=विचार विकल, तरने की सामर्थ्य से विहीन।
उत्तरोत्तर=क्रमशः, तरते तरते।

८—गुरु रूपी नौका पुण्यविहीन जनों के द्वारा प्राप्त नहीं की जाती। इसमें (लोक प्रवाह) पड़ा हुआ मनुष्य बह जाता है। जब वह नदी संसार रूपी सागर में प्रविष्ट हो जाती है तब सुखों की वार्ता भी नष्ट हो जाती है।

९—उसमें पड़े हुये मनुष्य भयानक ग्राहों के द्वारा खाये जाते हैं और अहंकारी कुगुरुओं की दंष्ट्राओं (दाढ़ों अर्थात् कठोर उस्तुओं के वचनों से) से भिद जाते हैं। उन्हें फिर अपने पराये का ज्ञान नहीं रहता वे फिर स्वयं सुखावस्था में होने के कारण स्वर्गादिक सुख रूपी लक्ष्मी को भी नहीं मानते।

कुग्राह=कुत्सित लोभी जनों से ग्राह।
मद (क) रु=मई से भरे हुये मकर।

१०—यदि कोई परोपकार रसिक दयालु उन हतचेतन मनुष्यों को देख कर सहानुभूति से द्रवीभूत होकर गुरु रूपी नौका लाता भी है तो वे उस पर चढ़ना नहीं चाहते।

११—यदि कोई परोपकार रसिक उन (दुर्जनों) को बलात् गुरु रूपी पोत पर रख भी देता है तो वे अधीर होकर रोने लगते हैं और [फिर कच्छा (रस्सी, सहारा) देने से वे रोते हैं तथा फिर उसी (पाप रूपी) विषय में लिप्त हो जाते हैं।

१२—क्या वह कायर पुरुष धर्म को धारण कर सकता है? और फिर गुण को आदर ग्रहण कर सकता है? उसके सुख के लिये वह परोपकारी व्यक्ति क्या निर्माण का अनुष्ठान उसके हृदय में करा सकता है? अतः क्या वह सम्यक चरित्र का पालन कर सकता है? अर्थात् नहीं।

धम=(१) धम (२) धनु।
गुण=(१) गुण (२) जीव।
सुरत्न=(१) परोपकारी (२) शोभनकर।
निर्माण=(१) मोक्ष (२) निश्चित बाण (ठीक लक्ष्य)।

मोक्ष=(१) मोक्ष (२) प्रक्षेप ।
राधा=(१) सम्यक् चरित्र (२) चक्राष्टक के ऊपर की पाचालिका ।

१३—जो (मन चक्षु आदि से) हिनहिनाते घोडे के समान चपल है जो कुमार्ग का अनुसरण करता है और सन्मार्ग पर नहीं लगता तथा (लोकाचार के) प्रबल झकोरे मे वह जाता है उसका सुनिर्वृत्ति से सङ्गम कैसे होगा ।

१४—नाना प्रकार के श्रावकों के द्वारा उसका भक्षण किया जाता है और विशालकाय कोमल पापोपदेशक कुचों के द्वारा छेदा जाता है । वह व्याघ्र के समान भयानक कुसर्षो के भय से (सन्मार्ग पर नहीं लगता और) पाप के गर्त में गिरता चला जाता है । और उसके कारण वह अस्थि-पजर मात्र ही अवशेष रह जाता है । (अर्थात् उसके मनुष्य शरीर का कोई सदुपयोग नहीं हो पाता ।)

१५—वह इस जन्म को निरर्थक करता है और फिर अपने माथे पर हाथ मारता है (अर्थात् पछताता है) । उसने अच्छे कुल में जन्म लेकर भी सद्गुणों का प्रदर्शन नहीं किया ।

१६—यदि वह सौ वर्ष भी जीवित रहता है तब भी वह केवल पाप को ही सचित करता है । यदि कदाचित् वह जिन दीक्षा भी प्राप्त करता है तो (स्वभाववश) अपने निद्य कर्मों को नहीं छोड़ता ।

१७—वह व्यक्ति मोहासक्त लोगों के आगे अहकारवश गरजता है और धर्म के लक्षण तथा तर्क के विचार में लगता है । दयावश ऐसा कहता है कि मैं जिनागम की कारिका कर सकता हूँ तथा सब शास्त्रों का सम्यक् विचार करता हूँ ।

१८—वह आधे महीने अथवा चतुर्मास के बाह्य विधानों को दिखाता हुआ भी मानो आभ्यतर मल को बाहर धारण करता हो । श्रावक को प्रतिक्रमण नहीं करना चाहिए । साधुओं को भी स्तुति आदि कार्य करणीय है । वह वदनक आदि का भी पालन करता है ।

१९—लेकिन वह उसके वास्तविक अर्थ को नहीं जानता और फिर भी लोक प्रवाह में ही पड़ा रहता है । यदि उन ऋचाओं के (अशुद्ध) अर्थ पर कोई उसे रोकता है तो उसे डडा लेकर मारने दौड़ता है ।

२०—धार्मिक जन शास्त्र के अनुकूल विचार करते हैं परंतु वह उन धार्मिकों का शास्त्र से विरोध करता है और (इस प्रकार) वह आचार्यों के वास्तविक अर्थ को नष्ट कर देता है।

२१—जो आचार्यों के वास्तविक अर्थ को जानता है वह ईर्ष्या नहीं करता परंतु वह (प्रतिनिषिद्ध चित्त वाला व्यक्ति) जब तक जीवित रहता है तब तक ईर्ष्या द्वेष नहीं छोड़ता। यदि शुद्ध धर्म में कोई विरला लगता भी है तो वह (लोकप्रवाह पतित) संघ से चांडाल की तरह पृथक् कर दिया जाता है।

२२—उस (शुद्ध धर्मग्राही) व्यक्ति में पद पद पर छिद्र ढूँढे जाते हैं और शांत होने पर भी उसके कार्य में बाधा दी जाती है। और श्रावक लोग कुत्तों की तरह उनके पीछे लग जाते हैं (उसे कष्ट देते हैं) तथा धार्मिक जनों के छिद्र खोजा करते हैं।

२३—वे विधि चैत्य-गृह में अविधि करके उसे अपने अधिकार में करने के अनेक उपाय करते हैं। यदि विधि जिन गृह में अविधि आरंभ हो जाती है तो वह ऐसा ही अनुपयुक्त होता है जैसा घी में सत्तू मिलाना।

२४—यदि निर्विवेकी लोभी राजे कुछ काल के माहात्म्य से उन अविधि-कारियों को ही चैत्य गृहों को (पूजा के लिए) सौंप देते हैं तो धार्मिक जन विधि के बिना कलह नहीं करते, क्योंकि वे सभी (अविधिकारी) डंडे लेकर मारने आते हैं।

२५—नित्य देव-पद-भक्त पंचपरमेष्ठि मंत्र का स्मरण करने वाले सज्जनों से शासन देवता स्वयं ही प्रसन्न हो जाते हैं तथा उनके सभी धार्मिक कार्यों को साध देते हैं।

२६—धार्मिक धर्म कार्यों को साधते हुये विपक्षी दल को युद्ध में मारते भी हैं तो भी उनका धर्म नष्ट नहीं होता और वे शाश्वत मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

२७—श्रावक विधि-धर्म के अधिकारी होते हैं और वे दीर्घ काल तक संसार की विषय वासनाओं का सेवन नहीं करते। मुख्य गुरु के द्वारा रोके जाने के कारण वे कभी अविधि नहीं करते। तथा जिन परिग्रह स्थित वेश्या को धारण नहीं करते।

२८—यदि फूल मूल्य देकर प्राप्त हो सकते हों तो क्या कुएँ के समीप वाटिका नहीं लगाई जातीं ? अर्थात् लगाई जाती है। उसी प्रकार यदि जिन धन सग्रह हो गया हो तो क्या उसकी वृद्धि के लिए स्थायी रहने वाले गृह हाट आदि का निर्माण नहीं करना चाहिए ? अर्थात् करना उचित है।

२९—यदि कोई मरता हुआ व्यक्ति (ऋण मोक्ष के लिए) घर आदि दे देता है तो लभ्य द्रव्य की भाँति उसे ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति गृहादि देता है तो भी ग्रहण कर लिया जाता है। उस घर के भाडे से जिन देवता की पूजा की जाती है।

३०—यदि श्रावक (जैन गृहस्थ) धर्मार्थ दान कर रहे हों तो उन्हें धर्म कार्य में विघ्न न करके उत्साहित करते हैं। दान-प्रवृत्त-रत गृहस्थ के (वृत्ति व्यवच्छेदकारि) व्यवहार को त्यागकर क्रोध लोभादि कषाय से पीड़ित नहीं होते।

३१—शिष्ट श्रावक इस प्रकार का धर्म कहते हैं जिससे वे मृत्यु के उपरान्त सुरनायक होते हैं और जो लोग चैत्र और आश्विन में अष्टाह्निक (शाश्वतयात्रा) करते हैं उनके अहित नष्ट हो जाते हैं।

३२—जैसे (देवेंद्र) जन्म कल्याणादि पृष्ठ पर अष्टाह्निक करते हैं श्रावक भी यथाशक्ति उसी प्रकार करते हैं। छोटी (नर्तकी) चैत्यगृह में नाचती है तथा बड़ी (युवती) नर्तकी सुगुरु के वचनों से उसके (सुगुरु) पास ले जाई जाती है।

३३—जो वीरागना नवयौवना होती है वह श्रावकों को (धर्माध्यवसाय से) गिराने लगती है उसके लिये श्रावक पुत्र में चित्त विश्लेष हो जाता है और जैसे जैसे दिन बीतते जाते हैं वे धर्म से च्युत होते चले जाते हैं।

३४—बहुत से लोग रागाध होकर उसको (वारागना) निहारते हैं और जिन मुख कमल को बहुत कम लोग चाहते हैं। जो लोग जिन भवन में सुख (चित्तशाति) के लिये आए थे वे तीक्ष्ण कटाक्षों के आघात से मर जाते हैं।

३५—राग (भैरव, मेघादि) विरुद्ध नहीं गाये जाते, और (जिन गुणों को) हृदय में धारण करते हुए लोगों के द्वारा जिन गुण ही गाये जाते हैं। ढोल आदि भी अनुपयुक्त रीति से नहीं बजाये जाते केवल लकु-

युधिष्ठठादि प्रादि रोल (भुति कटुत्व के कारण) नहीं बजाये जाते (अर्थात् उनके मरण में शोक गीत नहीं गाये जाते)।

१६—उचित स्तुति एवं स्तोत्र पाठ पढ़े जाते हैं जो (जिन) सिद्धांतों के अनुकूल होते हैं। रात्रि में (कीटादि हरण के भय से) तालरास भी नहीं होता और दिन में पुरुषों के साथ लगुडरास भी होता है।

१७—धार्मिक नाटक (नृत्य पर आधृत) खेले जाते हैं और उन (नाटकों) में सगर, भरत आदि के निष्क्रमण तथा चक्रवर्ती बलदेव आदि के चरित कहे जाते हैं।

१८—नृत्य के अंत में संन्यास (दीक्षा) के लिये जाना पड़ता है। चैत्य गृह में हास्य, क्रीडा, हुड्डुर (=शर्त) आदि वर्जित हैं। स्त्रियाँ पुरुषों के साथ केलि नहीं करतीं। रात्रि में युवति-प्रवेश भी निषिद्ध है और स्नान और नंदि (जैन आगम विशेष) की प्रतिष्ठा भी नहीं की जाती।

१६—गुणी लोग माघमाला जलक्रीडा आंदोलन को भी अयुक्त समझ कर नहीं करते। सूर्यास्त के बाद बलि नहीं चढ़ते तथा जिन-गृह में गृह-कार्य नहीं करते।

बलि=अन्न अक्ष आदि
गृह-कार्य=वाणिज्य आदि

४०—वे सूरि विधि जिनगृह में व्याख्यान देते हैं तथा उत्सूत्रों को न जाने देते और न उपदेश देते हैं। वे नंदि प्रतिष्ठा के भी अधिकारी होते हैं तथा अन्य (उत्सूत्रों के प्रचारक) सूरियों का बहिष्कार कर देते हैं।

सूरि=आचार्य उत्सूत्र=सिद्धांत-विरुद्ध

४१—(भाग्यवान् लोग) एक बार एक ही युग प्रधान व्यक्ति को गुरु मानते हैं जिसका भी जिन भगवान् प्रवचन कार्यों में भेद वर्णन करते हैं उस (युगप्रधान) के मस्तक पर गुणों का समूह अवस्थित होता है तथा प्रधान प्रवचन कार्यों को साधता है।

लग्ग=प्रधान

४२—वह युग प्रधान (लौकिक व्यवहार के) छद्म में रहते हुए भी सब कुछ जानता है वह जिन गुरु सिद्धांतों के प्रसाद से भव्य होता है।

(नैसर्गिक सातिशय प्रज्ञावान् होने के कारण)। वह भविष्य-द्रष्टा होता है, अतः अनुचित मार्ग पर नहीं चलता। वह जानता है कि जो (लिखा) है वह अन्यथा नहीं होगा, उसका नाश अवश्य होगा।

४३—जो जिन प्रवचन में आस्थावान् होता है उसके पद की चिंता इन्द्र भी व्यग्र होकर करने लगता है। (ऐसे) जिसका मन क्रोधादि कषाय वृत्तियों से पीड़ित नहीं होता उसकी देवता भी स्तुति किया करते हैं।

४४—जिसके मन में सदा सद्‌गुरु की वाणी निवास करती है, जिसका चित्त तत्त्वार्थ चिंतन में प्रवेश कर जाता है (अर्थात् रम जाता है)। जिसको न्याय से कोई नहीं जीत सकता है और जो लोक-निंदा के भय से डरता नहीं।

४५—जिसके जीवन चरित को सुनकर गुणियों का हृदय चमत्कृत हो जाता है जो ईर्ष्या वश उसके चरित प्रकाश को नहीं सह सकता वह स्वयं को छिपा लेता है। जिसकी चिंता स्वयं देवता किया करते हैं ऐसे अत्यंत गुणी मनुष्य के ही समान हृदय वाले (प्रभु के) सेवक बहुत कम होते हैं।

४६—जिसे रात दिन यही चिंता रहती है कि कहीं किसी स्थान पर पुष्ट जिन प्रवचन तो नहीं हो रहा है। घूमते हुये मुदित श्रावक (यत्र तत्र) पर्याप्त मात्रा में दिखाई देते हैं परंतु जो ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा करते हैं ऐसे बहुत कम होते हैं।

४७—उन्मार्गगामी श्रावक पद पद पर उसमें छिद्रों को खोजते रहते हैं और उसके असद् और अशोभन दु:खों को खोज खोजकर लाते हैं। परंतु वह धर्म के प्रसाद से सब स्थानों पर त्राण पा जाता है और सर्वत्र शुभ कार्यों में लगा रहता है।

४८—फिर भी वह सद्वृत्ति वाला सज्जन उन दुष्टाशयों से रुष्ट नहीं होता। वह अपनी क्षमाशीलता को नहीं छोड़ता और न उन्हें दूषित करता है। यदि वे आते हैं तो वह उनसे बोलता है और उनसे युक्त (अर्थात् मीठी) वाणी बोलकर संतुष्ट होता है।

४९—अपने आप बहुत विद्वान् बुद्धिमान् आदि होने पर भी गर्व नहीं करता तथा दूसरों के छोटे से गुणों को भी देखकर उनका बढ़ा चढ़ाकर

श्रयन करता है। (और सोचता है कि) यदि ये मवसागर तर जायें तो मैं नित्य जाकर उनका अनुवर्तन करूँ।

५०—युग प्रधान गुरु ये (उपयुक्त) बातें सोचता है और शुद्ध चित्त वाला व्यक्ति उसके मूल में स्थित होने पर भी (अर्थात् उसके आश्रय में होते हुए भी) उसकी जड़ काटता है (अर्थात् उसकी निंदा करता है। इसी कारण (मुग्ध धार्मिक) लोग लोकवार्ता (शुद्ध गुरु की वार्ता) से भग्न (अविधि सेवी) हो गये हैं और (उसके वचनों से मुग्ध होकर) वे न उसके (शास्त्र रूप का) दर्शन करते और न अपना परलोक देखते।

५१—इस गुरु का वर्णन बहुत से लोगों ने किया है परंतु हमारा संघ इन्हें नहीं मानता। हम सब कैसे इस (भ्रम) गुरु के पीछे लगें? अन्य (अविधि सेवी मूल धार्मिक बुद्धि वाले) लोगों की तरह कैसे अपने सद्गुरु को छोड़ें?

५२—पारतंत्र्य विधि विषयों से विमुक्त होकर ही पथभ्रष्ट मनुष्य ऐसा करता है। ऐसा मनुष्य विधि धार्मिकों के साथ कलह करता है तथा इह लोक और परलोक दोनों में ही स्वयं को ठगता है।

५३—(यद्यपि यह स्वयं को ठगता है) तथापि (अविवेकी होने के कारण) अधीन होकर धार्मिकों के साथ विवाद करता हुआ (युक्त) विधियों को न सह सकने के कारण छूटता नहीं। (वह मूल यह नहीं जानता कि) जो जिनोक्त विधि है क्या वह (इस प्रकार) विवाद करने से टूटती है?

५४—भगवान् दुःप्रसभ सूरि ने जो अंतिम चरण कहा है वह विधि के बिना निश्चित कैसे होगा? क्योंकि (दुःप्रसभनाम) के एक ही सूरि हैं (आश्रय) है साध्वी सत्यश्री नाम वाली है। एक ही देशवती नागिल नाम का श्रावक है तथा एक ही फल्गुश्री नाम की साध्वी देश विरता श्राविका है।

५५—फिर भी वीर का तीर्थ क्या प्रभूत साधु आदि उपलक्षणों से टूटेगा? (अर्थात् नहीं)। वहाँ भी सब विधि ही है। क्योंकि ज्ञान दर्शन चारित्र गुणों से युक्त चाहा सा समूह भी जिनों के द्वारा संघ कहा जाता है। (यद्यपि यह सत्य नहीं है तथापि संघ जिन विधियों के विशाल समूह को कहा जाता है)

५६—(वह तो) द्रव्य, क्षेत्र, काल भी स्थिति से होता है (लेकिन) वह गुणियों में ईर्ष्या द्वेष भाव उत्पन्न नहीं करता। गुणविहीन लोगों का समूह भी सघ कहा जाता है जो लोकप्रवाह रूपी नदी (की धारा) में बहता है।

५७—युक्त तथा उपयुक्त का विचार (सदसदविवेक) जिसको अच्छा नहीं लगता जिसको जो अच्छा लगता है वह वही कह देता है ऐसे समूह को भी अविवेकी जन सघ कहते हैं परतु गीतार्थ के अनुसार वह सघ कैसे माना जाय ?

५८—ऐसे लोगों के द्वारा बिना कारण के भी सद् सिद्धातों का निषेध किया जाता है और वदना आदि करने के प्रसिद्ध गीतार्थ क्या कारण के बिना ही नित्य मिलते हैं तथा पदवदन करते हैं ? (अर्थात् नहीं)

५९—(लोक प्रवाह में पतित लोग) असघ को सघ प्रकाशित करते हैं और जो (वास्तविक) सघ है उससे दूर से ही भागते हैं। रागाध मोही युवती के देह में चद्र कुन्द आदि की लक्षणा करते हैं।

६०—और वेष मात्र ही प्रमाण है ऐसा सोचकर दर्शन रागाध निरीक्षण करते हैं। जो वस्तु नहीं है उसे भी विशेष रूप से देखते हैं (जैसे असघ में सघत्व नहीं है तथापि उसमें एक विशेष पदार्थ देखते हैं)। वे विपरीत दृष्टि वाले कल्याणकारी स्वर्गिक सुखों को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं कर कर सकते और प्रत्यक्ष की तो बात ही क्या ?

६१—वे लोभाभिभूत लोग सद्धर्म से सबध रखने वाले कार्यों के लिए मुहरें या सोने के सिक्के ग्रहण करते हैं। आपस में झगड़ा करते हैं और सग्रहीत धन को सत्कार्य के लिए नहीं देते। वे विधि धर्म की महती निंदा करते हुए लोक के मध्य में कलह करते रहते हैं।

६२—जिन प्रवचन से अत्यत अप्रभावित होने के कारण सम्यक्त्व की वार्ता जिन्होंने नष्ट कर दी है, वे देव, द्रव्य को (विचार रहते हुए भी) नष्ट कर देते हैं। घर में धन होते हुए माँगने पर भी वे सद्धर्म के लिए नहीं देते।

६३—पुत्र और पुत्रियों का विवाह योग्य गृहस्थ परिवार में किया जाता है अर्थात् पुत्रियों को समान धर्मगृह में दिया जाता है। विषम धर्मावलंबी

सुविहितादि आदि ढोल (मुनि व्हुत्व के कारण) नहीं बजाये जाते (अर्थात् उनके मरण में शोक गीत नहीं गाये जाते)।

३६—उचित स्तुति एवं स्तोत्र पाठ पढ़े जाते हैं जो (जिन) सिद्धांतों के अनुकूल होते हैं। रात्रि में (कीटादि हत्या के भय से) तालरास भी नहीं होता और दिन में पुरुषों के साथ लगुडरास भी होता है।

३७—धार्मिक नाटक (नृत्य पर आधृत) खेले जाते हैं और उन (नाटकों) में सगर, भरत आदि के निष्क्रमण तथा चक्रवर्ती बलदेव आदि के चरित कहे जाते हैं।

३८—नृत्य के अंत में संन्यास (दीक्षा) के लिये जाना पड़ता है। चैत्य गृह में हास्य, क्रीड़ा, हुडुर (=दर्प) आदि वर्जित हैं। स्त्रियाँ पुरुषों के साथ केलि नहीं करतीं। रात्रि में युवति प्रवेश भी निषिद्ध है और स्नान और नंदि (जैन आगम विशेष) की प्रतिष्ठा भी नहीं की जाती।

३९—गुणी लोग मालमाला जलक्रीड़ा आंदोलन को भी अयुक्त समझ-कर नहीं करते। सूर्यास्त के बाद बलि नहीं करते तथा जिन-गृह में गृह-कार्य नहीं करते।

बलि=अन्न धान्य आदि
गृह-कार्य=वाणिज्य आदि

४०—वे सूरि विधि जिनगृह में व्याख्यान देते हैं तथा उत्सूत्रों को न आने देते और न उपदेश देते हैं। वे नंदि प्रतिष्ठा के भी अधिकारी होते हैं तथा अन्य (उत्सूत्रों के प्रचारक) सूरियों का बहिष्कार कर देते हैं।

सूरि=आचार्य उत्सूत्र=सिद्धांत-विरुद्ध

४१—(श्रद्धावान् लोग) एक बार एक ही युग-प्रधान व्यक्ति को गुरु मानते हैं जिसको भी जिन भगवान् प्रवचन भावों में श्रेष्ठ वर्णन करते हैं उस (युगप्रधान) के मस्तक पर गुणों का समूह अवस्थित होता है तथा प्रधान प्रवचन भावों को जानता है।

श्रेष्ठ=प्रधान

४२—वह युग प्रधान (लौकिक व्यवहार के) वश में रहते हुए भी उस युग जानता है वह जिन गुरु सिद्धांतों के प्रसाद से भव्य होता है।

(नैसर्गिक सातिशय प्रज्ञावान् होने के कारण)। वह भविष्य-द्रष्टा होता है, अतः अनुचित मार्ग पर नहीं चलता। वह जानता है कि जो (लिखा) है वह अन्यथा नहीं होगा, उसका नाश अवश्य होगा।

४३—जो जिन प्रवचन में आस्थावान् होता है उसके पद की चिंता इन्द्र भी व्यग्र होकर करने लगता है। (ऐसे) जिसका मन क्रोधादि कषाय वृत्तियों से पीड़ित नहीं होता उसकी देवता भी स्तुति किया करते हैं।

४४—जिसके मन में सदा सद्गुरु की वाणी निवास करती है, जिसका चित्त तत्त्वार्थ चिंतन में प्रवेश कर जाता है (अर्थात् रम जाता है)। जिसको न्याय से कोई नहीं जीत सकता है और जो लोक-निंदा के भय से डरता नहीं।

४५—जिसके जीवन चरित को सुनकर गुणियों का हृदय चमत्कृत हो जाता है जो ईर्ष्या वश उसके चरित प्रकाश को नहीं सह सकता वह स्वय को छिपा लेता है। जिसकी चिंता स्वय देवता किया करते हैं ऐसे अत्यत गुणी मनुष्य के ही समान हृदय वाले (प्रभु के) सेवक बहुत कम होते हैं।

४६—जिसे रात दिन यही चिंता रहती है कि कहीं किसी स्थान पर पुष्ट जिन प्रवचन तो नहीं हो रहा है। घूमते हुये मुडित श्रावक (यत्र तत्र) पर्याप्त मात्रा में दिखाई देते हैं परतु जो ऐसे व्यक्ति की प्रशसा करते हैं ऐसे वहुत कम होते हैं।

४७—उन्मार्गगामी श्रावक पद पद पर उसमें छिद्रों को खोजते रहते हैं और उसके असद् और अशोभन दु:खों को खोज खोजकर लाते हैं। परतु वह धर्म के प्रसाद से सब स्थानों पर त्राण पा जाता है और सर्वत्र शुभ कार्यों में लगा रहता है।

४८—फिर भी वह सद्वृत्ति वाला सज्जन उन दुष्टाशयों से रुष्ट नहीं होता। वह अपनी क्षमाशीलता को नहीं छोड़ता और न उन्हें दूपित करता है। यदि वे आते हैं तो वह उनसे बोलता है और उनसे युक्त (अर्थात् मीठी) वाणी बोलकर सतुष्ट होता है।

४९—अपने आप बहुत विद्वान् बुद्धिमान् आदि होने पर भी गर्व नहीं करता तथा दूसरों के छोटे से गुणों को भी देखकर उनका बढा चढाकर

वखान करता है। (और सोचता है कि) यदि ये भवसागर तर जावें तो मैं नित्य सादर उनका अनुवर्तन करूँ।

५०—युग प्रधान गुरु ये (उपर्युक्त) बातें सोचता है और दुष्ट चित्त वाला व्यक्ति उसके मूल में स्थित होने पर भी (अर्थात् उसके आश्रम में होते हुए भी) उसकी जड़ काटता है (अर्थात् उसकी निंदा करता है। इसी कारण (मुग्ध धार्मिक) लोग लोकवार्ता (दुष्ट गुरु की वार्ता) से भ्रम (अविधि सेवी) हो गये हैं और (उसके वचनों से मुग्ध होकर) वे न उसके (शास्त्र रूप का) बखान करते और न अपना परलोक देखते।

५१—इस गुरु का वर्णन बहुत से लोगों ने किया है परंतु हमारा संघ इन्हें नहीं मानता। हम तब कैसे इस (भ्रम) गुरु के पीछे लगें? अन्य (अविधि सेवी मूल धार्मिक वृत्ति वाले) लोगों की तरह कैसे अपने सद्गुरु को छोड़ें?

५२—पारतंत्र्य विधि विषयों से विमुक्त होकर ही पथभ्रष्ट मनुष्य ऐसा करता है। ऐसा मनुष्य विधि धार्मिकों के साथ कलह करता है तथा इह लोक और परलोक दोनों में ही स्वयं को ठगता है।

५३—(यद्यपि वह स्वयं को ठगता है) तथापि (अविवेकी होने के कारण) अधीन होकर धार्मिकों के साथ विवाद करता हुआ (मुक्त) विधियों को न सह सकने के कारण रुकता नहीं। (वह मूर्ख यह नहीं जानता कि) जो विनाश्य विधि है क्या वह (इस प्रकार) विवाद करने से टूटती है?

५४—भगवान् दुःप्रसभ सूरि ने जो अंतिम धारणा कहा है वह विधि के बिना निश्चित कैसे होगा? क्योंकि (दुःप्रसभनाम) के एक ही सूरि हैं (आश्रम) है साध्वी सत्यश्री नाम वाली है। एक ही देशव्रती नागिल नाम का श्रावक है तथा एक ही फल्गुश्री नाम की साध्वी देश विरता श्राविका है।

५५—फिर भी वीर का तीर्थ क्या प्रभूत साधु आदि उपलब्धियों से टूटेगा? (अर्थात् नहीं)। वहाँ भी सर्वत्र विधि ही है। क्योंकि ज्ञान दर्शन चारित्र गुणों से युक्त थोड़ा सा समूह भी जिनों के द्वारा संघ कहा जाता है। (यद्यपि यह सत्य नहीं है तथापि संघ जिन विधियों के विशाल समूह को कहा जाता है)

५६—(वह तो) द्रव्य, क्षेत्र, काल भी स्थिति से होता है (लेकिन) वह गुणियों में ईर्ष्या द्वेष भाव उत्पन्न नहीं करता। गुणविहीन लोगों का समूह भी संघ कहा जाता है जो लोकप्रवाह रूपी नदी (की धारा) में बहता है।

५७—युक्त तथा उपयुक्त का विचार (सदसदविवेक) जिसको अच्छा नहीं लगता जिसको जो अच्छा लगता है वह वही कह देता है ऐसे समूह को भी अविवेकी जन सघ कहते हैं परतु गीतार्थ के अनुसार वह सघ कैसे माना जाय ?

५८—ऐसे लोगों के द्वारा बिना कारण के भी सद् सिद्धातों का निषेध किया जाता है और वदना आदि करने के प्रसिद्ध गीतार्थ क्या कारण के बिना ही नित्य मिलते हैं तथा पदवदन करते हैं ? (अर्थात् नहीं)

५६—(लोक प्रवाह में पतित लोग) असघ को सघ प्रकाशित करते हैं और जो (वास्तविक) सघ है उससे दूर से ही भागते हैं। रागाध मोही युवती के देह में चद्र कुन्द आदि की लक्षणा करते हैं।

६०—और वेष मात्र ही प्रमाण है ऐसा सोचकर दर्शन रागांध निरीक्षण करते हैं। जो वस्तु नहीं है उसे भी विशेष रूप से देखते हैं (जैसे असघ में सघत्व नहीं है तथापि उसमें एक विशेष पदार्थ देखते हैं)। वे विपरीत दृष्टि वाले कल्याणकारी स्वर्गिक सुखों को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं कर कर सकते और प्रत्यक्ष की तो बात ही क्या ?

६१—वे लोभाभिभूत लोग सद्धर्म से सबंध रखने वाले कार्यों के लिए मुहरें या सोने के सिक्के ग्रहण करते हैं। आपस में झगड़ा करते हैं और सग्रहीत धन को सत्कार्य के लिए नहीं देते। वे विधि धर्म की महती निंदा करते हुए लोक के मध्य में कलह करते रहते हैं।

६२—जिन प्रवचन से अत्यत अप्रभावित होने के कारण सम्यक्त्व की वार्ता जिन्होंने नष्ट कर दी है, वे देव, द्रव्य को (विचार रहते हुए भी) नष्ट कर देते हैं। घर में धन होते हुए माँगने पर भी वे सद्धर्म के लिए नहीं देते।

६३—पुत्र और पुत्रियों का विवाह योग्य गृहस्थ परिवार में किया जाता है अर्थात् पुत्रियों को समान धर्मगृह में दिया जाता है। विषम धर्मावलबी

गृह में यदि विवाह किया जाय तो उनके संसर्ग से निश्चय रूप से सम्यक्त्व प्राप्ति में बाधा होती है।

६४—थोड़े से धन से संसार के सभी निंदित काम संपादित होते हैं, (वही धन) जब विविध पर्याय में प्रयुक्त होता है तो आत्मा निवृत्ति को प्राप्त होता है।

६५—जिन स्थानों में श्रावक निवास करते हैं, उनमें विहारार्थ साधु साध्वि और श्राविकाएँ आती हैं और वे (श्रावक) अपने पापों का नाश करने के लिए उन्हें भात, वस्त्र, प्रासुक जल आसन और निवास स्थान देते हैं।

प्रासुक—शुद्ध, जीव रहित

६६—वे साधु आदि कालोचित विधि के अनुसार वहाँ (श्रावकों के द्वारा दिए उचित स्थान) पर निवास करते हैं और अपने आप तथा दूसरों (श्रावकादिकों को) को विधिमार्ग पर स्थापित करते हैं। जिन, गुरु, देवता आदि की सेवा सुश्रूषा आदि के नियमों का पालन करते हैं और सैद्धांतिक वचनों को स्मरण करते हैं।

६७—श्रावक अनेक व्यक्तिवाले अपने कुटुंब का निर्वाह करता है और धर्म के अवसर पर देवता और साधु आदि के लिए दान करता है। वह सम्यक्त्व रूपी जलांजलि देता हुआ संसार में भ्रमण करता हुआ अपनी मति का निर्विघ्न नहीं करता।

६८—जो धार्मिक धन रहित अपने बंधु बांधवों का ही भक्त और अन्य सद्दृष्टि प्रधान श्रावकों से विरक्त है। (वह उपर्युक्त काम नहीं करता) क्योंकि जो जैन शासन में प्रतिपन्न होते हैं वे सभी परस्पर स्नेह भाव से रहते हैं।

६९—उस मनुष्य को सम्यक्त्व कैसे प्राप्त हो सकता है जो तीर्थंकरों के वचनों का अनुसरण नहीं करता। जो श्राविका तीन चार दिनों तक शुद्धि की रक्षा करती हुई जैन तीर्थंकरों का अनुसरण करती है वह शुभाविकाओं की गणना में आती है।

नोट—शुद्धि—चार मृत सूतक रजस्वला जनन भू, विहा, मद तथा आदानादि में सात शुद्धि होती है।

७०—स्वेच्छापूर्वक युक्ति (रक्षा) के कारण गृह धर्म की आपत्ति निश्चय पूर्वक स्वय ही हट जाती है। क्षुति-भग होने से देवता तथा विधि अनुकूल-गामी शासन देवता (गो मुख आदि) दुर्विधि होने पर उस गृह को छोड़ देते हैं।

७१—जो श्राविका अतिक्रमण (अर्थात् क्षुति-रक्षा) और वन्दना आदि में आकुल रहती है और असन्दिग्ध भाव से (जिन वचनों को) चित्त में धारण करती है। मन में नमस्कार भी करती है, उसको शुभ सम्यक्त्व भी शोभा देता है।

७२—जो श्रावक दूसरे श्रावक का छिद्रान्वेषण करता है, उसके साथ युद्ध करता है तथा धन के मद से बकवास करता है, अपने झूठ को भी सत्य घोषित करता है वह किसी प्रकार भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

७३—जो विकृत वचनों को कहता है लेकिन उन्हें छोड़ता नहीं, दूसरा यदि सत्य भी कह रहा हो उसका भी खण्डन करता है तथा सदैव आठ (जात्यादि) मद स्थानों में वर्तमान रहता है। वह सद्दृष्टि तो क्या शिष्ट भी नहीं हो सकता।

७४—जो दूसरों को व्यसन में डालने में जरा भी शङ्का नहीं करता और जो दूसरे के मन तथा भार्या को लेने की आकाक्षा करता है, और अधिक सग्रह के पाप में लीन है ऐसे व्यक्ति को सम्यक्त्व दूर से ही त्याग देता है।

७५—जो (समदृष्टि, कोमलालापादि) सिद्धात एव युक्तियों से अपने घर को चलाना नहीं जानता, वह स्वय को धोखा देने वाला है। क्योंकि कोई भी सामान्य व्यक्ति पीठ पीछे लोभादि पूरित मन से सघन परिवार में रहता है।

७६—कुटुम्ब वाले पुरुष के स्वरूप को जान कर लोग उसका अनुवर्तन करते हैं। कोई दान से तथा कोई मधुर वचन से उसकी बातों को ग्रहण करते हैं। कोई भय से सहारा ग्रहण कर लेता है। सबसे अधिक गुणों से युक्त तथा ज्येष्ठ व्यक्ति ही कुटुम्ब का अधिकारी होता है।

७७—जो असत्य भाषण करने वाले दुष्टों का विश्वास नहीं करता और जो असमर्थ के ऊपर दया करता है जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरो को निशाना नहीं बनाता। जो बिना कारण दूसरों की दान-सामग्री का उपयोग नहीं करता।

७८—माता पिता मित्र धर्मानुसारी होने पर भी शुद्ध धर्म विषय के अभिमुख होने के कारण पुण्य-भाजन माने जाते हैं। (लेकिन) जो माता-पिता दोषदर्शी होते हैं उनका अनुसरण करने पर भी वे अलभ्य भाषण ही करते हैं तथा रोकने पर भी नहीं रुक सकते।

७९—(कभी कभी) उन (मित्र धर्म वाले) को भी (प्रयत्न पूर्वक) भोजन वस्त्रादि देकर अनुनय करना ही पड़ता है। (कभी कभी) गुरु वचन बोलने वालों पर भी रोष नहीं किया जाता (स्वयं क्षमाशील होने के कारण)। तथा (स्वयं विवेकी होने के कारण) उनके साथ विवाद भी नहीं किया जाता।

८०—(उपदेश का फल कहा गया है)—इस प्रकार के जिनदत्त कथित इह लोक तथा परलोक के सुखकारी रसायन को जो भव्य रूपी प्राणि पीते हैं वे सब अजर तथा अमर हो जाते हैं।

चर्चरी

(अर्थ)

१—त्रिभुवन स्वामी, शिवगतिगामी जिनेश्वर धर्मनाथ के शशि-सदृश निर्मल पाद-कमलों को नमस्कार करके गुणीगणों में दुर्लभ युगप्रवरागम श्री जिनवल्लभ सूरि के यथास्थित (सत्य) गुणों की स्तुति करता हूँ। अर्थात् इस चर्चरी मे अपने गुरुदेव श्री जिनवल्लभ सूरि के गुणों का गान करता हूँ।

२—जो जिनवल्लभ सूरी अनन्त गुणवाला (निरभिमानी) एव षट्दर्शन के प्रमाण को अपने नाम के समान जानने वाला है। उससे भिन्न कोई भी पुरुष (अनेक) प्रमाणों को नहीं जानता। अर्थात् दर्शन प्रमाणों के जानने में जो अद्वितीय है। जो जैन धर्म की निन्दा करने वाले जैनेतर रूपी गजेंद्रों को विदीर्ण करने में पचमुख (सिंह) है। उन (पचमुख) जिनवल्लभ के गुण वर्णन करने में एक मुख वाला कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है।

३—जो जिनवल्लभ व्याकरण शास्त्र के ज्ञाता एव महाकाव्यादि के विधान को जानने वाले हैं जो अपशब्द एव शुद्ध शब्द के विचारक हैं। जो सुलक्षणों (विद्वानों) के तिलक हैं। जो छद शास्त्र के सम्यक् अभिप्राय के साथ व्याख्याता हैं, जो सुमुनियों को मान्य हैं, जो गुरु (श्रेष्ठ गुण वाला) लघु (अल्प गुण वाला) को पहचान कर उसके योग्य कार्य में नियुक्त करने वाले हैं, जो मानवहितकारी है उसकी विजय हो।

टिप्पणी—सुयतिमतः के दो अर्थ हैं—(१) यतिविराम को अच्छी तरह जानने वाला। (२) अच्छे यति से मान्य।

नरहित में भी श्लेष है—(१) नगण और रगण विशिष्ट। (२) जन कल्याण।

४—जो जिनवल्लभ भवरस से परिपूर्ण अपूर्व काव्य को रचनेवाला है; और प्रसिद्धि-प्राप्त कवियों के द्वारा पूजित है, जो सुरगुरु बृहस्पति की बुद्धि को भी जीतने वाले शुभगुरु हैं, उसको जो अज्ञ नहीं जानता वही माघ कवि की प्रशसा करता है।

५—जब तक लोगों ने जिनवल्लभ का नाम नहीं सुना था तब तक वे कालिदास को ही कवि मानते थे। जो कवि लोग स्वयं चित्र (अर्थात् चित्र काव्य को भी अपूर्ण जानते थे) है वे भी मूर्खों से चित्र कविराज कहे जाते थे।

६—सुकवियों में विशिष्ट पद प्राप्त वाक्पति राज कवि भी आचार्य जिन वल्लभ के आगे कोई कीर्ति नहीं प्राप्त कर सकते। [वाक्पति ने केवल प्राकृत भाषा में गौड़ वधादि प्रबंध काव्यों की रचना की है। किंतु आचार्य जिन-वल्लभ का अधिकार संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश कई भाषाओं पर था]। अपर कवि—बाण मयूर प्रभृति—उस जिनवल्लभ के विनेय (शिष्यों) के समान उसकी प्रशंसा करते हैं और उसके काव्यामृत के प्रति लुब्ध होकर नित्य उसको नमस्कार करते हैं।

टिप्पणी—विनेय शिक्षा देने योग्य शिष्य।

७—जिसके द्वारा विरचित नाना चित्र (काव्य) शीघ्र मन का हर लेते हैं उसका दुर्लभ दर्शन पुण्य के बिना किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। जिसने (जिन भगवान की आराधना में) विविध स्तुति-स्तोत्रों से युक्त अनेक चित्रों (काव्यों) की रचना की है, उसके पद कमलों को जो नमस्कार करते हैं वे ही पुण्यात्मा हैं।

८—जो जिन वचन के सिद्धान्तों को जानता है। जिसके नाम को सुनकर भविष्य में लोग सम्मुख होंगे। जिसने विधि विषय के सहित पारतंत्र्य (अपनी इच्छानुसार नहीं प्रत्युत शास्त्रानुसार या गुरु आदेश के अनुसार) पालन किया है उसके ऐसे जिनवल्लभ के प्रसृत यश को कोई रोक नहीं सकता। अर्थात् जिनवल्लभ के सदृश दूसरा कोई नहीं।

टिप्पणी—विधि—आज्ञा—जिन आज्ञा।
विषय—मिथ्यात्वादि का परिहार—जिन प्रतिमादि अथवा आचार उल्लंघन का परिहार।

पारतंत्र्य—गुरु आज्ञा के अनुसार।

९—जो (मुक्ति के) सूत्र को जानता है उसकी शिक्षा देता है, जो विधि के अनुसार स्वयं कार्य करता हुआ दूसरों से भी तदनुरूप कार्य कराता है। जो जिन भगवान् के द्वारा कथित कल्याणकारी मार्ग लोगों को दिखाता है। जो निज एवं पर संबंधी पूर्व अर्जित पापों को नष्ट कर देता है और जिसके दर्शन न पाने के कारण गुणी व्यक्ति भी बड़ा कष्ट पाते हैं।

१०—जिसने लोक प्रवाह (प्रवर्तित) अविधि-प्रवृत्त-चैत्यादि का निषेध कर के, पारतन्त्र्य (गुरु आदर्श के द्वारा) के साथ विधि-विषय प्रवर्तित किया। वर्धमान जिनतीर्थ के बनाए हुए अविच्छिन्न प्रवाह से आए हुए दुःसघ और सुसघ के भेद को जिसने दिखाया। [कालातर में वर्धमान जिन कृत धर्म दुसघ का रूप धारण कर रहा था। किंतु जिनवल्लभ ने पुनः उसे अविच्छिन्न मार्ग पर लगाया।]

११—जो उत्सूत्रों (जैन आगम के विरुद्ध) की प्रजल्पना करते हैं उनको वह दूर से ही त्याग देता है। और जो सुज्ञान-सद्ज्ञान साधु क्रियाओं का आचरण करता है। जो गड्डुरिका प्रवाहगामी प्रवृत्ति (भेड़ चाल) को त्याग कर अपने पूर्व आचार्यों का (उनके द्वारा उपदिष्ट शुद्ध मार्ग के प्रकाशन द्वारा) स्मरण करता है।

१२—चैत्य गृहों में उन गीत-वाद्यों, प्रेक्षण स्तुति स्तोत्रो, क्रीड़ा कौतुकों को वर्जित मानना चाहिए जिन्हें विरहाङ्क हरिभद्रसूरि ने त्याज्य कहा है। क्योंकि ऐसे निषिद्ध कार्य करने से भगवान् की आज्ञा का उल्लघन होता है।

अशातना—धर्म विरुद्ध आचार (अनाचार) भगवान की आज्ञा के उल्लघन के कारण अवज्ञा।

१३—(यदि विरहाक ने निषिद्ध किया है तो लोग क्यों करते हैं ?) इन प्रश्न का उत्तर देते हुए कवि कहता है। लोक प्रवाह में प्रवृत्त (धर्मार्थी) कुतूहल में प्रेम रखने वाले, सशय से रहित, (निश्चित दोषभाव वाले) अपनी बुद्धि से भ्रष्ट, बहुजन प्राथित धर्मार्थी भी स्पष्ट दोष वाले जैन सिद्धात विरुद्ध गीतादि को करते हैं।

१४—जिन्होंने युगप्रवर आगम का मनन किया है वे हरिभद्र प्रभु दुष्ट सिद्धातों के प्रति हर्ता है और मुक्तिमार्ग के प्रकाशक है लोक में प्रतापी युग प्रधान सिद्धात वाले श्री जिन वल्लभ ने विधि पथ को प्रकट कर दिया है। वे जिन वल्लभ सामान्य के लिए दुर्लभ हैं।

१५—श्री जिनवल्लभ ने वह विधि चैत्यगृह बनाया, जिसको आयतन, अनिश्राचैत्य, एव कृतनिर्वृत्तिनयन कहते हैं। पुनः उन चैत्यगृहादि में उस कल्याणकारी विधि को बता दिया जिसको सुनकर जिन-वचन-निपुण जन प्रसन्न हो जाते हैं।

टिप्पणी—

आयतन—ज्ञानादिप्राप्ति का स्थान [आयं तमोतीति आयतन]
अनिश्रा चैत्य—वह चैत्य जो साधुओं के अधीन नहीं किंतु आगमोक्त नीति से ही व्यवहार वाला है।

कृतनिर्वृत्तिनयन—जिसमें निवृत्ति का दर्शन होता हो।

१६—(विधि की व्याख्या करते हुए कहते हैं) जहाँ जैन सिद्धांतों के विरुद्ध करने वाले लोगों का आचार सुविधि प्रकाशक अर्थात् शोभन विधि के देखने वालों के द्वारा नहीं दृश्यमान होता। जहाँ रात्रि में स्नान और प्रतिष्ठा नहीं होती और जहाँ साधु-साध्वी एवं युवतियों का प्रवेश रात्रि में नहीं होता। जहाँ विलासिनियों (वेश्याओं) का नृत्य नहीं होता।

१७—जिस विधि जिन गृह में ऐसा अधिकारी स्वाध्य है जो जाति और ज्ञाति भेद का दुराग्रह नहीं करता, जो जिन सिद्धांत को मानने वाले हैं जो निंदित कर्म को नहीं करने वाले हैं और जो धार्मिक व्यक्तियों को पीड़ित नहीं करनेवाले है और जिनके निर्मल हृदय में शुद्ध धर्म का निवास है।

शुद्ध धम का लक्षण—देवद्रव्य का उपभोग दुःखदाई है, इस प्रकार विचार करना शुद्ध धम है।

१८—जिस चैत्यगृह में तीन चार मत्त श्रावकों के निरीक्षण में द्रव्य-व्यय किया जाता है जहाँ रात्रि में नंदि कराकर कोई भी व्रत ग्रहण नहीं करता और सूर्य के अस्त हो जाने पर जिन प्रतिमा के सामने बलि समर्पित करते हुए नहीं देखा जाता। और जहाँ लोगों के सो जाने पर बाजा नहीं बजाया जाता।

१६—जिस चैत्य में रात्रि वेला में रथ भ्रमण कभी भी नहीं कराया जाता, और जहाँ लगुडरास को करते हुए पुरुष भी रोके जाते हैं। जहाँ जलक्रीडा नहीं होती और देवताओं का आंदोलन (झूला) भी नहीं होता। जहाँ माघ मास में प्रतिमा की (स्नानादि के उपरांत) माला रोपण नहीं किया जाता। (किंतु अष्टाह्निका के लिए यह निषिद्ध नहीं है)

२ —जिस चैत्यगृह में श्रावक जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा नहीं करते। जहाँ स्वच्छंद वचन कहने वाले व्यक्ति मोक्ष मार्ग मनुष्यों से प्रयास नहीं

होते। जहाँ उत्सूत्र व्यक्तियों का वचन सुनने में नहीं आता। जहाँ जिन और आचार्य के अयुक्त गान नहीं गाया जाता।

२१—जहाँ शुद्ध आचार वाले श्रावक तांबूल न तो भक्षण करते और न ग्रहण करते। जहाँ उपानह (जूता) को धारण नहीं करते जहाँ भोजन नहीं है और अनुचित उपवेशन (बैठना) नहीं है। जहाँ हथियारों के सहित प्रवेश नहीं होता और जहाँ दुष्ट जल्पना (गाली इत्यादि) नहीं होती।

२२—जहाँ हास्य, हुड्डा, क्रीडा एवं रोष का कारण नहीं होता, जहाँ अपना धन केवल यश के निमित्त नहीं दिया जाता। जहाँ बहुत अनुचित आचरण करने वाले संसर्ग में नहीं लाए जाते। [नट-विट आदि अनुचित आचरण करने वाले प्राणियों का प्रवेश निषिद्ध है।] कारण यह है कि वे स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करने लगते हैं। अतः उनका संसर्ग निषिद्ध है।

२३— जहाँ संक्रांति अथवा ग्रहण के दिनों में स्नान दान, पूजा आदि कृत्य नहीं होता। जहाँ माघ मास में विष्णु, शिव आदि के समान जिन प्रतिमा के संमुख मंडल बनाकर लाल पुष्प चंदन आदि से अर्चना नहीं होती। जहाँ श्रावकों के सिर पर आवेष्ठन (पगड़ी आदि) नहीं दिखाई पड़ता। जहाँ स्नान करने वालों को छोड़कर अन्य कोई विशेष अलंकार धारण नहीं करते और जहाँ वे गृह-व्यवहार का चिंतन नहीं करते।

२४—जहाँ मलिन वस्त्रधारी जिनवर की पूजा नहीं करते। जहाँ स्नानादि से पवित्र श्राविका भी जिन प्रतिमा को स्पर्श नहीं करता। जहाँ एक बार किसी जिनवर की उतारी हुई आरती दूसरे जिनवर को नहीं प्रयुक्त होती।

२५—जहाँ केवल पुष्प निर्माल्य होता है किंतु बिना काटा हुआ वनफल, रत्नजटित अलंकार, निर्मल वस्त्र निर्माल्य नहीं बनते। जहाँ यतियों को यह ममत्व नहीं कि यह देव-प्रतिमा हमारी है। जहाँ यतियों का निवास नहीं। जहाँ गुरुदर्शित आचार का लोप नहीं है।

गुरुदर्शित आचार—दशविध आशातना परिहार

२६—जहाँ सुश्रावक पूछे जाने पर गुरु के साक्षात् प्रतीयमान [साक्षात् अनुभव में आनेवाले] सत्य शुभ लक्षणों का वर्णन करते हैं। जहाँ एक

सुभावक के कहने पर भी निश्चयपूर्वक अच्छे कार्य किए जाते हैं। किंतु शास्त्र-सिद्धांत-विरुद्ध कार्य अनेक लोगों के कहने पर भी नहीं किए जाते।

२७—जहाँ आत्मस्तुति एवं परनिंदा नहीं होती। जहाँ सद्गुण की प्रशंसा एवं दुर्गुण की निंदा होती है। जहाँ सद्वस्तु का विचार करने में भयभीत नहीं हुआ जाता। जहाँ जिन वचन के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जाता।

२८—इस तरह अनेक प्रकार के उत्सूत्र (शास्त्रविरुद्ध वचन) का जिसने निषेध किया और विधि जिन गृह में निषिद्ध आचरणों को प्रशस्तियों में लिखकर निदर्शित किया वह युगप्रधान सुगुरु जिनवल्लभ क्यों न मान्य हो, जिसके सम्यक् ज्ञान का वर्णन विद्वान् करते हैं।

२९—यहाँ (चैत्य गृह में) जो अल्प मात्र भी शास्त्रविरुद्ध बातों का कथन करता है उसके अनंत परिणाम को भी सर्वज्ञ भगवान् दिखा देते हैं। जो लोग निरंतर शास्त्रविरुद्ध बातें किया करते हैं उनको अनेक जन्म तक भोगने के लिये दुःख प्राप्त होते हैं।

३०—जो निर्दय व्यक्ति अपने को श्रुतरूपी निकष पर बिना परीक्षण किए अपनी बुद्धि से अहंकारी बनकर लोकप्रवाह में प्रवृत्त नाम मात्र से अच्छे आचरण वाला बनकर, परस्पर मत्सर से अपने गुणों को दिखलाते हुए अन्य व्यक्तियों की निंदा द्वारा अपने को जिन के समान पूजित मानते हैं।

संसार के प्रवाह में बहने वाले (उक्त प्रकार के) व्यक्तियों की कोई गणना नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति संसार सागर में गिरते हैं। एक भी उससे पार नहीं उतर सकते। पृथ्वी में जो संसार के प्रवाह के विरुद्ध चलते हैं वे अल्पसंख्यक हैं और वे अवश्य ही सिद्ध त्रिपुर के स्वामी बन जाते हैं।

३१—आगम और आचरण के अविरुद्ध गुणवानों के कथित वचनों को कहने वाला यही विधि गृह में रहता है वह आयतन ही है क्योंकि वहाँ जाने वाले सज्जनों को मुक्ति क्या सुख रत्न शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

३२—रागद्वेषादिकों से प्रेरित होकर उनके मत की भावना करके कुछ श्रावक जिन मंदिर बनवा देते हैं। किंतु उस निश्राचैत्य को अपवाद रूप से आयतन कहते हैं। उस निश्राचैत्य में विधि और पर्वों पर कारणवशात् कभी कभी वंदना की जाती है।

३४—जहाँ साधु वेशधारी देवद्रव्य के द्वारा बनाए गए मठ में रहते हैं और विविध प्रकार से अविनय का आचरण करते हैं उस मंदिर को निशीथ सूत्र में साधर्मिक स्थली कहा गया है। जो लोग वंदना के लिये वहाँ जाते हैं वे सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करते।

निशीथ—प्रायश्चित निर्णय करने के लिये सूत्र (छेद सूत्रों में)

३५—ओघनियुक्ति एवं आवश्यक सूत्रों के प्रकरण में उसे अनायतन बताया गया है। यदि कोई व्यक्ति उसे अत्यंत संकोच के साथ बता भी देता है तो भी श्रावकों को कारण के रहते हुए भी न वहाँ जाना चाहिए और न वहाँ रहने वाले वेशधारियों को वंदन करना चाहिए।

३६—यदि वहाँ जाकर मठाधीशों को प्रणाम कर गुणगणों की वृद्धि होती तो वहाँ जाना युक्त था परंतु यदि वहाँ जाने और नमस्कार करने से पाप ही मिलता है तो वहाँ जाना तथा नमस्कार करना दोनों ही गुणवानों के द्वारा वर्जित हैं।

३७—(गमन का दोष बताते हुए कहते हैं)

उत्सूत्र प्रजल्पक (शास्त्रविरुद्ध बात कहने वाले) बस्तियों में भी रहते हैं और लोकरंजन के लिए दुष्कर (अकरणीय-क्रियाओं का आचरण करते हैं। वे सम्यक्त्व - विहीन होते हैं और क्षुद्र व्यक्तियों के द्वारा सेवित होते हैं। ऐसे (उत्सूत्र प्रजल्पक) लोगों के साथ सद्गुणी दर्शन को भी नहीं जाते।

३८—पहला विधि चैत्य बताया गया, जहाँ सामान्य रूप से जाया जा सकता है। दूसरा निश्राकृत चैत्य बताया गया जहाँ अपवाद से जाया जा सकता है। तीसरा अनायतन बताया गया जहाँ वेशधारी रहते हैं। वहाँ शास्त्र के द्वारा भी धार्मिक लोगों का जाना निषिद्ध बताया गया है।

३९—विद्वान् बिना कारण के वहाँ (निश्राकृत चैत्य में) गमन नहीं करते। इस प्रकार उक्त तीन प्रकार के चैत्यों के अस्तित्व का जो प्रतिपादन करता है वह साधु भी माना जाता है। जो दो प्रकार के चैत्यों का प्रतिपादन करता है वह तिरस्कृत होता है। उसके द्वारा भोला संसार ठगा जाता है।

टिप्पणी—

आयतन—ज्ञानादिप्राप्ति का स्थान [आयं तनोतीति आयतन]
अनिश्रा चैत्य—यह चैत्य जो साधुओं के अधीन नहीं किंतु आगमोक्त नीति से ही व्यवहार वाला है।

कृतनिर्वृत्तिनयन—जिसमें निवृत्ति का दर्शन होता हो।

१६—(विधि की व्याख्या करते हुए कहते हैं) जहाँ जैन सिद्धांतों के विरुद्ध कहने वाले लोगों का आचार सुविधि प्रलोकक अर्थात् शास्त्र विधि के देखने वालों के द्वारा नहीं दृश्यमान होता। जहाँ रात्रि में स्नान और प्रतिष्ठा नहीं होती और जहाँ साधु-साध्वी एवं युवतियों का प्रवेश रात्रि में नहीं होता। जहाँ विलासिनियों (वेश्याओं) का नृत्य नहीं होता।

१७—जिस विधि जिन गृह में ऐसा अधिकारी श्लाघ्य है जो जाति और ज्ञाति भेद का दुराग्रह नहीं करता, जो जिन सिद्धांत को मानने वाले हैं, जो निंदित कर्म को नहीं करने वाले हैं और जो धार्मिक व्यक्तियों को पीड़ित नहीं करनेवाले हैं और जिनके निर्मल हृदय में शुद्ध धर्म का निवास है।

शुद्ध धर्म का लक्षण—देवद्रव्य का उपभोग दुःखदाई है इस प्रकार विचार करना शुद्ध धर्म है।

१८—जिस चैत्यगृह में तीन चार मध्य श्रावकों के निरीक्षण में द्रव्य व्यय किया जाता है। जहाँ रात्रि में नंदि कराकर कोई भी व्रत ग्रहण नहीं करता और सूर्य के अस्त हो जाने पर जिन प्रतिमा के सामने बलि समर्पित करते हुए नहीं देखा जाता। और जहाँ लोगों के सो जाने पर बाजा नहीं बजाया जाता।

१९—जिस चैत्य में रात्रि बेला में रथ भ्रमण कभी भी नहीं कराया जाता और जहाँ लगुडरास को करते हुए पुरुष भी रोके जाते हैं। जहाँ जलक्रीड़ा नहीं होती और देवताओं का आंदोलन (झूला) भी नहीं होता। जहाँ माघ मास में प्रतिमा की (स्नानादि के उपरांत) माला रोपण नहीं किया जाता। (किंतु अष्टाह्निका के लिए यह निषिद्ध नहीं है)

२ —जिस चैत्यगृह में श्रावक जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा नहीं करते। जहाँ उत्सूत्र वचन कहने वाले व्यक्ति मोक्ष मार्ग मनुष्यों से प्रशंसा नहीं

होते। जहाँ उत्सूत्र व्यक्तियों का वचन सुनने में नहीं आता। जहाँ जिन और आचार्य के अयुक्त गान नहीं गाया जाता।

२१—जहाँ शुद्ध आचार वाले श्रावक तांबूल न तो भक्षण करते और न ग्रहण करते। जहाँ उपानह (जूता) को धारण नहीं करते जहाँ भोजन नहीं है और अनुचित उपवेशन (बैठना) नहीं है। जहाँ हथियारों के सहित प्रवेश नहीं होता और जहाँ दुष्ट जल्पना (गाली इत्यादि) नहीं होती।

२२—जहाँ हास्य, हुड्डा, क्रीडा एवं रोष का कारण नहीं होता, जहाँ अपना धन केवल यश के निमित्त नहीं दिया जाता। जहाँ बहुत अनुचित आचरण करने वाले संसर्ग में नहीं लाए जाते। [नट-विट आदि अनुचित आचरण करने वाले प्राणियों का प्रवेश निषिद्ध है।] कारण यह है कि वे स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करने लगते हैं। अतः उनका संसर्ग निषिद्ध है।

२३— जहाँ संक्रांति अथवा ग्रहण के दिनों में स्नान दान, पूजा आदि कृत्य नहीं होता। जहाँ माघ मास में विष्णु, शिव आदि के समान जिन प्रतिमा के संमुख मंडल बनाकर लाल पुष्प चंदन आदि से अर्चना नहीं होती। जहाँ श्रावकों के सिर पर आवेष्ठन (पगड़ी आदि) नहीं दिखाई पड़ता। जहाँ स्नान करने वालों को छोड़कर अन्य कोई विशेष अलंकार धारण नहीं करते और जहाँ वे गृह-व्यवहार का चिंतन नहीं करते।

२४—जहाँ मलिन वस्त्रधारी जिनवर की पूजा नहीं करते। जहाँ स्नानादि से पवित्र श्राविका भी जिन प्रतिमा को स्पर्श नहीं करता। जहाँ एक बार किसी जिनवर की उतारी हुई आरती दूसरे जिनवर को नहीं प्रयुक्त होती।

२५—जहाँ केवल पुष्प निर्माल्य होता है किंतु बिना काटा हुआ बनफल, रत्नजटित अलंकार, निर्मल वस्त्र निर्माल्य नहीं बनते। जहाँ यतियों को यह ममत्व नहीं कि यह देव-प्रतिमा हमारी है। जहाँ यतियों का निवास नहीं। जहाँ गुरुदर्शित आचार का लोप नहीं है।

गुरुदर्शित आचार—दशविध आशातना परिहार

२६—जहाँ सुश्रावक पूछे जाने पर गुरु के साक्षात् प्रतीयमान [साक्षात् अनुभव में आनेवाले] सत्य शुभ लक्षणों का वर्णन करते हैं। जहाँ एक

सुश्रावक के कहने पर भी निश्चयपूर्वक अच्छे कार्य किए जाते हैं। किंतु शास्त्र-सिद्धांत विरुद्ध काम अनेक लोगों के कहने पर भी नहीं किए जाते।

२७—जहाँ आत्मस्तुति एवं परनिंदा नहीं होती। जहाँ सद्गुणों की प्रशंसा एवं दुर्गुणों की निंदा होती है। जहाँ सद्वस्तु का विचार करने में भयभीत नहीं हुआ जाता। जहाँ जिन-वचन के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जाता।

२८—इस तरह अनेक प्रकार के उत्सूत्र (शास्त्रविरुद्ध वचन) का जिसने निषेध किया और विधि जिन गृह में निषिद्ध आचरणों को सु-प्रशस्तियों में लिखकर निर्दर्शित किया वह युगप्रधान सुगुरु जिनवल्लभ क्यों न मान्य हो, जिसके सम्यक् ज्ञान का वर्णन विद्वान् करते हैं।

२९—यहाँ (चैत्य गृह में) जो अल्प मात्र भी शास्त्रविरुद्ध बातों का कथन करता है उसके अत्यल्प परिणाम को भी सर्वज्ञ भगवान् दिखा देते हैं। जो लोग निरंतर शास्त्रविरुद्ध बातें किया करते हैं उनको अनेक जन्म तक भोगने के लिए दुःख प्राप्त होते हैं।

३०—जो निर्दय व्यक्ति अपने को श्रुतरूपी निकष पर बिना परीक्षण किए अपनी बुद्धि से अधिकारी बनकर लोकप्रवाह में प्रवृत्त नाम मात्र से अच्छे आचरण वाला बनकर, परस्पर मत्सर से अपने गुणों को दिखलाते हुए अन्य व्यक्तियों की निंदा द्वारा अपने को जिन के समान पूजित मानते हैं।

संसार के प्रवाह में बहने वाले (उक्त प्रकार के) व्यक्तियों की कोई गणना नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति संसार सागर में गिरते हैं। एक भी उससे पार नहीं उतर सकते। पृथ्वी में जो संसार के प्रवाह के विरुद्ध चलते हैं वे प्रशंसनीय हैं और वे अवश्य ही सिद्ध त्रिपुर के स्वामी बन जाते हैं।

३२—आगम और आचरण के अविरुद्ध गुणवानों के कथित वचनों को करने वाला यहीं जिस गृह में रहता है वह आयतन ही है क्योंकि वहाँ जाने वाले सज्जनों को मुक्ति तथा सुख रूप शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

३३—गतानुगतिकों से प्रेरित होकर उनके मत की अवज्ञा करके कुछ श्रावक जिन मंदिर बनवा देते हैं। किंतु उस निश्राचैत्य को अपवाद रूप से आयतन करते हैं। उस निश्राचैत्य में तिथि और पर्वों पर कारणवशात् कभी कभी वंदना की जाती है।

३४—जहाँ साधु वेशधारी देवद्रव्य के द्वारा बनाए गए मठ में रहते हैं ौर विविध प्रकार से अविनय का आचरण करते हैं उस मंदिर को निशीथ ूत्र में साधर्मिक स्थली कहा गया है। जो लोग वंदना के लिये वहाँ जाते हैं सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करते।

निशीथ—प्रायश्चित्त निर्णय करने के लिये सूत्र (छेद सूत्रों में)

३५—ओघनियुक्ति एवं आवश्यक सूत्रों के प्रकरण में उसे अनायतन बताया गया है। यदि कोई व्यक्ति उसे अत्यंत संकोच के साथ बता भी देता है तो भी श्रावकों को कारण के रहते हुए भी न वहाँ जाना चाहिए और न वहाँ रहने वाले वेशधारियों को वंदन करना चाहिए।

३६—यदि वहाँ जाकर मठाधीशों को प्रणाम कर गुणगणों की वृद्धि होती तो वहाँ जाना युक्त था परंतु यदि वहाँ जाने और नमस्कार करने से पाप ही मिलता है तो वहाँ जाना तथा नमस्कार करना दोनों ही गुणवानों के द्वारा वर्जित हैं।

३७—(गमन का दोष बताते हुए कहते हैं)

उत्सूत्र प्रजल्पक (शास्त्रविरुद्ध बात कहने वाले) बस्तियों में भी रहते हैं और लोकरंजन के लिए दुष्कर (अकरणीय-क्रियाओं का आचरण करते हैं। वे सम्यक्त्व - विहीन होते हैं और क्षुद्र व्यक्तियों के द्वारा सेवित होते हैं। ऐसे (उत्सूत्र प्रजल्पक) लोगों के साथ सद्गुणी दर्शन को भी नहीं जाते।

३८—पहला विधि चैत्य बताया गया, जहाँ सामान्य रूप से जाया जा सकता है। दूसरा निश्राकृत चैत्य बताया गया जहाँ अपवाद से जाया जा सकता है। तीसरा अनायतन बताया गया जहाँ वेशधारी रहते हैं। वहाँ शास्त्र के द्वारा भी धार्मिक लोगों का जाना निषिद्ध बताया गया है।

३९—विद्वान् बिना कारण के वहाँ (निश्राकृत चैत्य में) गमन नहीं करते। इस प्रकार उक्त तीन प्रकार के चैत्यों के अस्तित्व का जो प्रतिपादन करता है वह साधु भी माना जाता है। जो दो प्रकार के चैत्यों का प्रतिपादन करता है वह तिरस्कृत होता है। उसके द्वारा भोला संसार ठगा जाता है।

४०—इस प्रकार पुण्यहीनों के लिये दुर्लभ मोक्ष रूपी लक्ष्मी के वल्लभ श्री जिनवल्लभ सूरि ने तीन प्रकार के चैत्य बताए हैं। सूत्रविरुद्ध बातों का खंडन और सूत्रसंमत बातों का प्रतिपादन करते हुए मानो इस सन्मति (महावीर—प्रच्छी बुद्धिवाला) ने नए जिन शासन को प्रदर्शित किया है।

४१—भगवान् के वचन मेघ के समान अत्यंत विस्तृत हैं। श्री जिन-वल्लभ उनमें से एक ही बात को कहते हैं। व्यक्ति जितनी बातें जानता है उतनी कह भी नहीं सकता, चाहे वह स्वयं इंद्र ही हो। उनके चरणों के भक्त और उनके वचनों के अनुयायी के प्राणियों सातों भयों का अंत हो जाता है—यह निश्चित है।

सप्तभय—१ इहलोक भय, २ परलोक भय ३ अकस्मात् भय ४ आजीव भय ५ मरण भय ६ अग्नि भय ७ लोक भय।

४२—जिसके मुख में समस्त विद्यायें एक साथ विराजती रहती हैं। मिथ्या-दृष्टि भी जिसका किंकर भाव से वंदन करती है। स्थान स्थान पर जिन्होंने विधि मार्ग का भी (सरस चित्त से परमात्मा का ध्यान करके) स्पष्ट विवेचन किया है।

४३—पुण्यवश मनुष्य रूपी भ्रमर उसके पदपंकजों के शुद्धज्ञान रूपी मधु का पान करके अमर हो जाता है तथा स्वस्थमना होकर सब शुभ शास्त्रों का जान जाता है। हे मित्र, बोलो। ऐसे अनुपम (जिनवल्लभ) की तुलना किसके साथ की जाती है? (अर्थात् किसी के साथ नहीं) वह तो अनुपम है।

४४—वर्द्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि हुए। उनके शिष्य युगप्रवर जिनचंद्र सूरि हुए। तथा नवांगवृत्ति के रचयिता और शुभ सामुद्रिक लक्षणों से युक्त श्री अभयदेव सूरि उनके (जिनचंद्र सूरि के) पदकमलों के भ्रमर हुए।

नवांग वृत्ति—जैन आगमों का विभाजन निम्नलिखित रीति से हुआ है—११ अंग १२ उपांग ४ मूल ४ छेद आवश्यक सूत्र १ पाइण्णा (प्रकीर्णक)।

अभयदेव सूरि ने ११ अंगों में से प्रथम आचारांग और सूत्र कृतांग को

छोड़कर शेष ६ अंगसूत्रों पर टीका लिखी है। इसलिये वे नवागी टीकाकार कहे जाते हैं।

४५—उनके शिष्य श्री जिनवल्लभ पुण्यरहित जनों को दुर्लभ हैं। अहो, (आश्चर्य की बात है कि) मैं उनके गुणों के अत को नहीं जानता। यह (थोड़ा बहुत) भी मैं उनके गुणों के स्वाभाविक सक्रमण से (दूरस्थित होने पर भी) जान गया हूँ क्योंकि उन्होंने मुझे शुद्धधर्म के मार्ग पर स्थापित किया है।

४६—(शोक की बात है कि) प्रभूत काल तक भवसागर में भ्रमण करने पर भी मैं सुगुरु (जिनवल्लभ सूरि) रूपी रत्न को नहीं पा सकता। इसी कारण ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं हुआ। सर्वत्र अपमान ही हुआ। कहीं भी परलोक के लिये हितकारी वस्तु प्राप्त नहीं हुई।

४७—इस प्रकार जिनदत्त सूरि ने सिद्धाततः परमार्थ के ज्ञाता साधारण जनों के लिये दुर्लभ युगप्रवर श्री जिनवल्लभ सूरि की गुणस्तुति बहुमान पूर्वक की। इस प्रकार उन्होंने भगवान् के द्वारा प्रदर्शित महान् एव निरुपम पद को प्राप्त किया।

———

श्री संदेश रासक प्रथमः प्रक्रमः

(अर्थ)

हे बुध जनो ! यह संसार का रचयिता आप लोगों का कल्याण करे, जिसने समुद्र पृथ्वी पर्वत वृक्ष तथा आकाश में तारागण आदि संपूर्ण सृष्टि की रचना की है ॥ १ ॥

हे नागरिको ! उस स्रष्टा (सिरजनहार) को नमस्कार करो, जिसे मनुष्य देव, विद्याधर (देवविशेष) तथा आकाश में सूर्य और चंद्रमा आदिकाल से ही नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

कवि अपने देश का वर्णन करता है—पश्चिम दिशा में प्राचीन काल से प्रसिद्ध म्लेच्छ नामक एक प्रधान देश है। वहाँ मीरसेन नामक एक 'आरद्द' जुलाहा पैदा हुआ ॥ ३ ॥

उस मीरसेन का कुल में कमल के समान अब्दुल रहमान नाम का लब्धप्रतिष्ठ पुत्र पैदा हुआ, जो प्राकृत काव्य तथा गायन में अति निपुण था। उसने संदेशरासक नामक ग्रन्थ की रचना की ॥ ४ ॥

तीनों लोक में जिन्होंने छंदशास्त्र की रचना की उसे निर्दिष्ट किया, शोधन किया तथा विस्तारित किया (फैलाया) ऐसे शब्दशास्त्र में कुशल, चतुर कवियों को नमस्कार है ॥ ५ ॥

अपभ्रंश संस्कृत प्राकृत, पैशाची आदि भाषाओं के द्वारा जिन्होंने सुंदर काव्यों की रचना की है तथा लक्षण सुंदर अलंकारों से जिसे विभूषित किया है ऐसे सत्कवियों के पश्चात् मेरा, शब्दशास्त्रादि से रहित लक्षण तथा छंदादि से विहीन मेरे सदृश कुकवि की कौन प्रशंसा करेगा अर्थात् कोई भी नहीं ॥ ६ ७ ॥

अथवा इति उपायांतर (मन्यंतर) से कहते हैं कि मेरे ऐसे कुकवि की रचना से भी कोई हानि नहीं। क्योंकि यदि चंद्रमा रात्रि में उदित होता है तो क्या रात्रि में घरों में प्रकाश के लिये दीपक नहीं जलाते। (यहाँ कवि ने

प्राचीन कवियों को चद्र तथा अपने को दीपक बनाकर विनम्रता प्रकट की है) ॥ ८ ॥

यदि कोयल आम्रवृक्ष के शिखर पर अपनी काकली से मन को हर लेती है तो क्या कौए घरों के छज्जों पर बैठ कर अपना कर्कश शब्द न सुनाएँ अर्थात् कौन उन्हें रोक सकता है ॥ ९ ॥

पल्लव के समान कोमल हाथों से बजाने से यदि वीणा के शब्द अधिक मधुर होते हैं तो मर्दल करट बाजे का‥ ‥‥विशेष शब्द स्त्रियों की क्रीड़ा में न सुना जाए ? अपितु अवश्य सुना जाए ॥ १० ॥

यदि मतगज (मदोन्मत्त हाथी) को कमलदल के गध के समान मद झरता है तथा ऐरावत (इद्र का हाथी) मदोन्मत्त होता है तो क्या शेष हाथी मतवाले न होवें ? अपितु अवश्य होवें ॥ ११ ॥

यदि अनेक प्रकार के सुगधपूर्ण पुष्पो से युक्त पारिजात इद्र के नदनवन में प्रफुल्लित होता है तो क्या शेष वृक्ष विकसित न हों ? अपितु अवश्य विकसित हों ॥ १२ ॥

तीनों लोकों में प्रसिद्ध प्रभावशालिनी गंगा नदी यदि समुद्र से मिलने जाती है तो क्या शेष नदियाँ न जाएँ । अपितु अवश्य जाएँ ॥ १३ ॥

यदि निर्मल सरोवर में सूर्योदय के समय कमलिनी विकसित होती है तो क्या वृत्ति (वृत) में लगी हुई तुंबिनी लता विकसित न होवे ? अर्थात् विकसित होवे ॥ १४ ॥

यदि भरतमुनि के भाव तथा छदों के अनुकूल, नये सुमधुर शब्दों से युक्त चंग (वाद्यविशेष) के ताल पर कोई नायिका नृत्य करती है तो कोई ग्रामीण वधू ताली के शब्द पर न नाचे ? अपितु नाचे ॥ १५ ॥

यदि प्रचुर मात्रा के दूध में पकती हुई चावल की खीर अधिक उचलती है तो क्या धान्यकण तथा तुष (भूसी) युक्त रबड़ी पकते समय थोड़ा शब्द भी न करे ॥ १६ ॥

अपनी काव्य - रचना के प्रति कवि अपने को उत्साहित करता है— जिसके काव्य में जो शक्ति हो उसे लज्जारहित होकर प्रदर्शित किया जाए ।

यदि चतुर्मुख ब्रह्मा ने चारों वेदों की रचना की तो क्या अन्य कवि काव्य रचना न करें ? अपितु अवश्य करें ॥ १७ ॥

काव्य-रचना के लिये अपने को प्रोत्साहित कर कवि अपने ग्रंथ की थोड़ी रमणीयता के विषय में नम्रता के साथ निवेदन करता है—हे कविजन ! त्रिभुवन में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे आप लोगों ने देखा, जाना तथा सुना न हो। आप लोगों द्वारा रचित सुंदर बंधान युक्त सरस छंदों को सुनकर मेरे ऐसे मूर्ख द्वारा रचित लालित्यहीन काव्य को कौन सुनेगा ? अपितु कोई नहीं। तो आगे काव्य-रचना की प्रवृत्ति क्यों है ? इसे दृष्टांत द्वारा कहते हैं—जैसे युवावस्था को प्राप्त कोई दरिद्र किंतु चतुर व्यक्ति नायवल्ली के पत्तों को न पाने पर पर्वतों पर प्राप्त होने वाले शतपत्रिका का आस्वादन करता है वैसे ही मेरे काव्यों को भी लोग पढ़ेंगे ॥ १८ ॥

तदनंतर अपने ग्रंथ को श्रवण कराने के लिये कवि पंडित जनों से नम्रतापूर्वक निवेदन करता है—हे बुधजन ! स्नेह करके अपने कवित्व के प्रभाव से पांडित्य का विस्तार कर इस संसार में एक मूर्ख जुलाहे द्वारा कौतुहल के साथ सरल भाव से रचित 'संदेशरासक' नामक काव्य को शांतिपूर्वक सुनें ॥ १९ ॥

इसके अनंतर कवि ग्रंथ पढ़ने वालों से निवेदन करता है—जो कोई भी अज्ञानवान् प्रसंगवश इस ग्रंथ को पढ़ेगा उसका हाथ पकड़ कर कहता हूँ। जो लोग पंडितों और मूर्खों का अंतर जानते हैं, उनके आगे यह ग्रंथ नहीं पढ़ना चाहिए, क्योंकि वे महान् पंडित हैं ॥ २० ॥

इसका कारण बतलाते हैं—पंडित जन मम रचित काव्य में मन नहीं लगायेंगे। अज्ञानतावश मूर्ख भी उसमें प्रवेश नहीं पायेंगे। पर जो न मूर्ख हैं और न पंडित हैं अपितु मध्यस्थ हैं, उनके आगे यह ग्रंथ सदा ही पठनीय है ॥ २१ ॥

ग्रंथ का गुण बताते हैं—हे सहृदय जनो ! सुनिए—यह ग्रंथ अनुरागियों के लिए रतिगृह तुल्य कामुकों के लिए मनोहर मदन-मनस्वी के लिए पथ-प्रकाशक विरहियों के लिये कामदेव, रसिकों के लिये रससंजीवनी तुल्य है ॥ २२ ॥

अत्यंत स्नेह से कहा हुआ प्रेमपूर्ण यह ग्रंथ भक्तों के लिये अमृत तुल्य

है, तथा इसका अर्थ वही चतुर व्यक्ति जान सकता है, जो सुरति क्रीड़ा में अत्यंत निपुण हो, दूसरा नहीं ॥ २३ ॥

द्वितीयः प्रक्रमः

(अर्थ)

अब कथा का स्वरूप निरूपण करते हैं—

विक्रमपुर से कोई श्रेष्ठ नायिका जिसके कुच दृढ, स्थूल एव उन्नत हैं, भौंरी के मध्यभाग के समान कटिवाली, राजहंस के समान गतिशालिनी, विरह के कारण उदास मुखवाली, आँखों से अश्रुधारा बहाती हुई, परदेश गए पति को देख रही है। स्वर्ण वर्ण का उसका शरीर इस प्रकार श्यामता को प्राप्त हो गया है मानो ताराधिपति चद्रमा पूर्ण रूप से राहु से ग्रस्त हो ॥ २४ ॥

उसकी विरह-दशा का वर्णन करते हैं—आँखें मलती है; दु.ख से रोती है, केशपाश (जूड़ा) खुला है, मुख खोलकर जंभाई लेती है, अग मरोड़ती है, विरह की ज्वाला में उत्तप्त होने के कारण गर्म श्वास लेती है, उँगलियाँ चटकाती है। इस प्रकार मुग्धावस्था को प्राप्त, विलाप करती हुई, पृथ्वी पर इधर उधर चक्कर काटती हुई उस विरहिणी ने नगर के मध्य भाग को छोड़ कर किनारे ही घूमते हुए एक थके पथिक को देखा ॥ २५ ॥

उस पथिक को देखकर उसने क्या किया इसे आभणक छंद द्वारा कहते हैं—उस पथिक को देखकर पति के लिये उत्कंठित विरहिणी ने धीरे-धीरे चलना छोड़कर जब तक उत्सुक गति से चली, तब तक मनोहर चाल से चलते हुए चपल रमण भाव के कारण उसकी कमर से मधुर शब्द करती हुई रसना (तगड़ी, करधनी) छूट गई ॥ २६ ॥

उस सौभाग्यवती ने जब तक तगड़ी को गाँठ में बाँधा, तब तक मोतियों से भरी हुई मोटी लड़ों वाली वह नवसर हार लता टूट गई। तदनंतर कुछ मुक्ताफलों (मोतियों) को इकट्ठा कर और उत्सुकतावश कुछ को छोड़कर चली, तब तक नूपुर में पाँव फँस जाने के कारण गिर पड़ी ॥ २७ ॥

जब तक वह रमणी गिर कर उठी और लजाती हुई चली (घूमी) तब तक शिर पर का ओढने का श्वेत वस्त्र दूर हट गया। तथापि उसे ठीक सँवारकर, पथिक को प्राप्त करने की इच्छावाली वह विरहिणी जब तक

आगे बढ़ी, तब तक चोली के फट जाने के कारण छिद्र में से कुच दिखाई देने लगे ॥ २८ ॥

विशाल नेत्रों वाली वह विरहिणी लज्जित होती हुई अपने हाथों से कुचों को ढँककर करुणा और विलास के साथ गद्गद् वचन बोलती हुई उस पथिक के समीप गई।

हाथों से कुचों का आच्छादन ऐसा लगता था मानों दो स्वर्ण कलश दो नील कमलों से ढँके हुए हैं क्योंकि विरहावस्था में बार बार काजल भरे आँखों के आँसू पोंछने के कारण उसके दोनों हाथ साँवले पड़ गये थे ॥२९॥

उस रमणी ने क्या कहा— "क्षण भर स्थिर होकर ठहरो ठहरो। मन में विचारो। जो कुछ कहती हूँ उसको दोनों कानों से सुनो। क्षण भर के लिए हृदय को कारुणिक बनाओ।" उसके इन वाक्यों को सुनकर पथिक आश्चर्यचकित होकर, न क्रम से पीछे लौट सका और न आगे बढ़ सका। अर्थात् क्षुब्ध होकर उसी रूप में खड़ा रहा ॥१ ॥

विधाता ने कामदेव के समान रूपवती निर्मित किया है उसको देखकर पथिक ने आठ गाथाओं में कहा ॥११॥

देवी का वर्णन चरण से तथा नारी का वर्णन शिर से किया जाता है। इसलिए कहा गया है—उस रमणी के बाल अत्यंत घुँघराले नदियों में जल की लहर के समान वक्र तथा कालिमा की अधिकता से भौरों के समूह के समान शोभा दे रहे हैं ॥१२॥

उसका मुख सूर्य के प्रतिबिंब के समान शोभा दे रहा था। सूर्य से मुख चंद्र की उपमा इसलिए दी गई है कि रात्रि के अंधकार को दूर करने वाला अमृत बरसाने वाला निष्कलंक, संपूर्ण चंद्रमा, सूर्य से उपमित होता है ॥१३॥

उसके अनुरागपूर्ण कमल के समान विशाल दोनों नेत्र शोभा दे रहे थे। सिरीष कुसुम के पुंज के समान, अनार के पुष्प के गुच्छों के समान उसके दोनों कपोल शोभा दे रहे थे ॥१४॥

उसकी दोनों भुजाएँ अमरसर में उत्पन्न कमल दंड के समान शोभा दे रही थीं। वे पयसर में उत्पन्न स्वर्ण कमल के भूमि में रहने वाले दंड के

समान कोमल शोभित हो रही थीं। दोनों भुजाओं में जो कर कमल थे, वे दो भागों में बँटे कमल के समान ज्ञात होते थे ॥३५॥

उस नायिका के दोनों कुच स्वजनखल के समान शोभा दे रहें हैं। खल की उपमा का स्वरूप बताते हैं—दोनों कुच (स्तन) कठोर तथा सदा उन्नत रहते हैं। कोई सतान न होने के कारण मुखरहित (चूचुक विहीन) हैं। परस्पर इतने सघन हैं कि स्वजन के समान प्रतीत होते हैं तथा दोनों ही अगों को आश्वासन देते ज्ञात होते हैं ॥३६॥

उसकी नाभि पहाड़ी नदी के आवर्त (भौंरी) के समान गहरी दिखाई देती है तथा उसका मध्य भाग सासारिक सुख के समान तुच्छ दिखाई देता एव कठिनता से दृष्टिगोचर होता है। अथवा चचल गति में हरिण के पद के समान है ॥३७॥

कालंभरी कदली स्तम को जीतने वाली उसकी दोनों जाँघें अत्यत शोभा दे रही हैं। तथा वे दोनों गोल गोल हैं, बहुत लबी भी नहीं हैं, अतएव अत्यत मनोहर, रसीली दोनों जाँघें शोभायमान हैं ॥३८॥

उस नायिका के चरणों की अँगुलियाँ पद्मराग मणि के खड के समान शोभा दे रही हैं। तथा उन अँगुलियों के ऊपर नख, पद्मराग मणि के ऊपर रखे स्फटिक मणि के समान सुशोभित होते हैं। और उन अँगुलियों में कोमल बाल टूटे हुए कमल दड के तंतु के समान शोभा दे रहे है ॥३९॥

विधाता ने पार्वती की सृष्टि कर, उसके अगों के समान, अपितु उससे भी बढकर इस नायिका की रचना की है। पर कौन कवि इस विषय में दोष देगा कि ब्रह्मा ने पुनरुक्त दोष के समान वैसी ही सृष्टि की है ॥४०॥

गाथा सुनकर तदनतर राजहस की चाल से चरण के अँगूठे से पृथ्वी को कुरेदती हुई, लज्जित होती हुई उस सुवर्णांगी नायिका ने उस पथिक से पूछा—हे पथिक ! कहाँ जाओगे ? तथा कहाँ से आ रहे हो ? ॥४१॥

हे कमलनयने ! हे चद्रमुखी !! नागर (चतुर) जनों से भरा पूरा, सफेद ऊँची चहारदीवारी (परकोटा) से तथा तीन नगरों से सुशोभित 'सामोरु' नाम का नगर है। वहाँ कोई भी मूर्ख नहीं दिखाई देता, सभी लोग पडित हैं ॥४२॥

यदि चतुर जनों के साथ उस नगर में भीतर घूमें तो मनोहर छंद में मधुर प्राकृत सुनाई देगा। कहीं चतुर्वेदी वेदपाठ करते दिखाई देंगे। कहीं अनेक स्थानों में निबद्ध रासक का प्रारम्भ होता सुनाई देगा ॥४३॥

कहीं सदयवत्स की कथा, कहीं नल का आख्यान तथा कहीं अनेक प्रकार के विनोद से परिपूर्ण भारत (महाभारत) की कथा सुनाई देगी। तथा कहीं कहीं त्यागी श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा रामायण की कथा सुनाई पड़ेगी ॥४४॥

कोई बाँसुरी, वीणा काहल, मृदंगादि के शब्द सुनाते हैं। कहीं प्राकृत शब्दों में रचे गीत सुनाई पड़ते हैं। कहीं मनोहारी ऊँचे स्तनों वाली नर्तकियाँ 'चल चल' करती हुई घूमती हैं ॥ ४५॥

कहीं लोग अनेक प्रकार के मद नदियों द्वारा आनंदित होते हैं। कहीं वेश्याओं के घर में प्रवेश करते हुए रागहीन व्यक्ति भी मूर्छित हो जाते हैं। उनके सम्मोहन का ढंग बतलाते हैं—कई वेश्यायें मदोन्मत्त होकर मतवाले हाथी के समान घूमती हैं। कुछ रत्नजटित ताडङ्क नामक आभूषण से मधुर शब्द करती हुई भ्रमण करती हैं ॥४६॥

कोई ऐसी घूमती दिखाई देती है जिसे देखकर आश्चर्य होता है कि इसके घने ऊँचे स्तनों के भार से कमर (कटि) टूट क्यों नहीं जाती। दूसरी कोई किसी के साथ काजल लगे तिरछे नेत्रों से कुछ हँसती है ॥४७॥

दूसरी कोई चतुर रमणी अपने कपोलों (गाल) पर पूर्ण चंद्र को स्थित समझकर निर्मल हास्य करती हुई घूमती है। किसी के मदनगृह रूप कुचस्थल कस्तूरी-लेप से सुशोभित हैं। किसी के ललाट पर सुंदर तिलक शोभा दे रहा है ॥४८॥

किसी के कठोर स्तन-शिखर पर हार प्रवेश न पाने के कारण लहरा रहा है। किसी की नाभि गहरी होने के कारण कुंडलाकार दिखाई दे रही है। तथा त्रिवली तरंग के प्रसंग में मंडलित की तरह सुशोभित है ॥४९॥

कोई स्तनभार की गुरुता के कारण कठिनाई से गहन करती है। उसके चलते समय जूते का चम चम शब्द अत्यंत शिथिलता के साथ सुनाई पड़ता है। किसी दूसरी कामिनी के मधुर शब्द करते समय उसके हीरे के समान दाँत नागवल्ली दल के समान लाल शोभा देते हैं ॥५०॥

किसी दूसरी श्रेष्ठ रमणी के देखते समय ओष्ठ, कमल के समान हाथ और दोनों भुजाएँ समान शोभा देती हैं। यहाँ कमल के भ्रम का कारण बतलाते हैं—और, उसके ओष्ठ कमल के पत्ते के समान, हाथ कमल के समान, सरल दोनों भुजाएँ कमलदंड के समान प्रतीत होती हैं। दूसरी नायिका के हाथों की अँगुलियों के नख उज्ज्वल शोभा दे रहे हैं। किसी अन्य नायिका के दोनों कपोल अनार के फूलों के समान प्रतीत होते हैं ॥५१॥

किसी नायिका की तनी हुई दोनों भौंहें चिकनी शोभा दे रही हैं। मानो कामदेव ने किसी के हनन के लिए धनुष चढ़ाया है। किसी दूसरी रमणी के दोनों नूपुरों के घने शब्द सुनाई पड़ रहे हैं। एक अन्य की रत्नजड़ा मेखला (तगड़ी) के रुनझुन मधुर शब्द श्रवणगोचर हो रहे हैं ॥५२॥

क्रीड़ा करती हुई किन्हीं नायिकाओं के जूतों के मधुर शब्द ऐसे सुनाई पड़ते हैं, मानो नये शरद् ऋतु के आगमन में सारसों के मधुर शब्द हो रहे हैं। किसी का मधुर पचम स्वर इस प्रकार शोभा दे रहा है मानो देव दर्शन में तुबरु का शब्द गुञ्जित हो ॥५३॥

इस प्रकार वहाँ एक एक का रूप दर्शन करने से मार्ग में जाने वाले पथिकों के पाँव, नागवल्ली दलों के आस्वादन से, मुक्त (गिरे) रस से स्खलित (फिसल) हो जाते हैं। यदि कोई बाहर घूमने के लिये निकलता भी है तो अनेक प्रकार के उद्यान देखकर संसार को ही भूल जाता है ॥५४॥

अब वनस्पतियों के नाम गिनाते हैं।

टिप्पणी—वृक्षों के नामों का उल्लेख होने के कारण अर्थ लिखना अनावश्यक समझा गया। भूमिका में इसकी विशेषता की ओर संकेत किया जायगा।

हे चंद्रमुखी! हे कमलनयने! अन्य भी जो वृक्ष हैं, उनके नाम कौन गिन सकता है? सभी वृक्ष इतने घने स्थित हैं कि उनकी छाया में दस योजन (४० कोस) तक जाया जा सकता है ॥६४॥

हे मृगाक्षी! 'सामोरूपुर' में तपनतीर्थ (सूर्य कुंड) प्रसिद्ध है। चारों दिशाओं में उसकी प्रसिद्धि है। उसका मूल स्थान इतना प्रसिद्ध है कि सभी नर, देव जानते हैं। वहाँ से मैं लेखवाहक, प्रभु की आज्ञा से स्तंभतीर्थ को जा रहा हूँ ॥६५॥

आगे बढ़ी, तब तक चोली के फट जाने के कारण छिद्र में से कुच दिखाई देने लगे ॥ २८ ॥

विशाल नेत्रों वाली वह विरहिणी लज्जित होती हुई अपने हाथों से कुचों को ढँककर करुणा और विलास के साथ गद्‌गद् वचन बोलती हुई उस पथिक के समीप गई।

हाथों से कुचों का आच्छादन ऐसा लगता था मानों दो स्वर्ण कलश दो नीले कमलों से ढँके हुए हैं क्योंकि विरहावस्था में बार बार काजल भरे आँखों के आँसू पोंछने के कारण उसके दोनों हाथ साँवले पड़ गये थे ॥२६॥

उस रमणी ने क्या कहा— 'क्षण भर स्थिर होकर ठहरो ठहरो। मन में विचारो। जो कुछ कहती हूँ उसको दोनों कानों से सुनो। क्षण भर के लिए हृदय को कारुणिक बनाओ।' उसके इन वाक्यों को सुनकर पथिक आश्चर्यचकित होकर, न क्रम से पीछे लौट सका और न आगे बढ़ सका। अर्थात् क्षुब्ध होकर उसी रूप में खड़ा रहा ॥१ ॥

विधाता ने कामदेव के समान रूपवती निर्मित किया है उसको देखकर पथिक ने आठ गाथाओं में कहा ॥११॥

देवी का वर्णन चरण से तथा नारी का वर्णन सिर से किया जाता है। इसलिए कहा गया है—उस रमणी के बाल अत्यंत घुँघराले नदियों में जल की लहर के समान वक्र तथा कालिमा की अधिकता से भौंरों के समूह के समान शोभा दे रहे हैं ॥१२॥

उसका मुख सूप के प्रतिबिंब के समान शोभा दे रहा था। सूर्य से मुख चाँद की उपमा इसलिए दी गई है कि रात्रि के अंधकार को दूर करने वाला अमृत बरसाने वाला, निष्कलंक, संपूर्ण चंद्रमा, सूर्य से उपमित होता है ॥१३॥

उसके अनुरागपूर्ण कमल के समान विशाल दोनों नेत्र शोभा दे रहे थे। पिंडीर कुसुम के पुंज के समान अनार के पुष्प के गुच्छों के समान उसके दोनों कपोल शोभा दे रहे थे ॥१४॥

उसकी दोनों भुजाएँ अमरसर में उत्पन्न कमल दंड के समान शोभा दे रही थीं। वे पयधर में उत्पन्न स्वर्ण कमल के भूमि में रहने वाले दंड के

समान कोमल शोभित हो रही थीं। दोनों भुजाओं में जो कर कमल थे, वे दो भागों में बँटे कमल के समान ज्ञात होते थे ॥३५॥

उस नायिका के दोनों कुच स्वजनखल के समान शोभा दे रहे हैं। खल की उपमा का स्वरूप बताते हैं—दोनों कुच (स्तन) कठोर तथा सदा उन्नत रहते हैं। कोई सतान न होने के कारण मुखरहित (चूचुक विहीन) हैं। परस्पर इतने सघन हैं कि स्वजन के समान प्रतीत होते हैं तथा दोनों ही अगों को आश्वासन देते ज्ञात होते हैं ॥३६॥

उसकी नाभि पहाड़ी नदी के आवर्त (भौंरी) के समान गहरी दिखाई देती है तथा उसका मध्य भाग सासारिक सुख के समान तुच्छ दिखाई देता एव कठिनता से दृष्टिगोचर होता है। अथवा चचल गति में हरिण के पद के समान है ॥३७॥

लालवरी कदली स्तभ को जीतने वाली उसकी दोनों जाँघें अत्यत शोभा दे रही हैं। तथा वे दोनों गोल गोल हैं, बहुत लबी भी नहीं हैं, अतएव अत्यत मनोहर, रसीली दोनों जाँघें शोभायमान हैं ॥३८॥

उस नायिका के चरणों की अँगुलियाँ पद्मराग मणि के खड के समान शोभा दे रही हैं। तथा उन अँगुलियों के ऊपर नख, पद्मराग मणि के ऊपर रखे स्फटिक मणि के समान सुशोभित होते हैं। और उन अँगुलियों में कोमल बाल टूटे हुए कमल दड के तंतु के समान शोभा दे रहे हैं ॥३९॥

विधाता ने पार्वती की सृष्टि कर, उसके अगों के समान, अपितु उससे भी बढकर इस नायिका की रचना की है। पर कौन कवि इस विषय में दोष देगा कि ब्रह्मा ने पुनरुक्त दोष के समान वैसी ही सृष्टि की है ॥४०॥

गाथा सुनकर तदनतर राजहस की चाल से चरण के अँगूठे से पृथ्वी को कुरेदती हुई, लज्जित होती हुई उस सुवर्णांगी नायिका ने उस पथिक से पूछा—हे पथिक ! कहाँ जाओगे ? तथा कहाँ से आ रहे हो ? ॥४१॥

हे कमलनयने ! हे चद्रमुखी !! नागर (चतुर) जनों से भरा पूरा, सफेद ऊँची चहारदीवारी (परकोटा) से तथा तीन नगरों से सुशोभित 'सामोरु' नाम का नगर है। वहाँ कोई भी मूर्ख नहीं दिखाई देता, सभी लोग पंडित हैं ॥४२॥

यदि चतुर जनों के साथ उस नगर में भीतर घूमें तो मनोहर छंद में मधुर प्राकृत सुनाई देगा। कहीं चतुर्वेदी वेदपाठ करते दिखाई देंगे। कहीं अनेक रूपों में निबद्ध रासक का भाष्य होता सुनाई देगा ॥४३॥

कहीं सदयवत्स की कथा, कहीं नल का आख्यान तथा कहीं अनेक प्रकार के विनोद से परिपूर्ण भारत (महाभारत) की कथा सुनाई देगी। तथा कहीं कहीं त्यागी श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा रामायण की कथा सुनाई पड़ेगी ॥४४॥

कोई बाँसुरी, वीणा काहल, मृदंगादि के शब्द सुनाते हैं। कहीं प्राकृत बद्धों में रचे गीत सुनाई पड़ते हैं। कहीं मनोहारी ऊँचे स्तनों वाली नवकियाँ चल चल' करती हुई घूमती हैं ॥ ४५॥

वहाँ लोग अनेक प्रकार के नट नटियों द्वारा आनंदित होते हैं। वहाँ वेश्याओं के घर में प्रवेश करते हुए रागहीन व्यक्ति भी मूर्च्छित हो जाते हैं। उनके सम्मोहन का ढंग बतलाते हैं—कई वेश्यायें मदोन्मत्ता होकर मतवाले हाथी के समान घूमती हैं। कुछ रत्नजटित ताडङ्क नामक आभूषण से मधुर शब्द करती हुई भ्रमण करती हैं ॥४६॥

कोई ऐसी घूमती दिखाई देती है जिसे देखकर आश्चर्य होता है कि इसके घने ऊँचे स्तनों के भार से कमर (कटि) टूट क्यों नहीं जाती। दूसरी कोई किसी के साथ काजल लगे तिरछे नैनों से कुछ हँसती है ॥४७॥

दूसरी कोई चतुर रमणी अपने कपोलों (गाल) पर सूर्य, चन्द्र को स्थित समझकर निर्मल हास्य करती हुई घूमती है। किसी के मदनगृह का कुचस्थल कस्तूरी-लेप से सुशोभित है। किसी के ललाट पर सुंदर तिलक शोभा दे रहा है ॥४८॥

किसी के कठोर स्तन-शिखर पर हार प्रवेश न पाने के कारण लटक रहा है। किसी की नाभि गहरी होने के कारण कुंडलाकार दिखाई दे रही है। तथा त्रिवली तरंग के प्रसंग में मंडलित की तरह सुशोभित है ॥४९॥

कोई रमणभार को मोटापा के कारण कठिनाई से सहन करती है। उसके चलते समय नूपुरों का चम चम शब्द अत्यंत शिथिलता के साथ सुनाई पड़ता है। किसी दूसरी कामिनी के मधुर शब्द करते समय उसके हीरे के समान दाँत नागवल्ली दल के समान लाल शोभा देते हैं ॥५० ॥

किसी दूसरी श्रेष्ठ रमणी के हँसते समय ओष्ठ, कमल के समान हाथ और दोनों भुजाएँ समान शोभा देती हैं। यहाँ कमल के भ्रम का कारण बतलाते हैं—जैसे, उसके ओष्ठ कमल के पत्ते के समान, हाथ कमल के समान, सरल दोनों भुजाएँ कमलदण्ड के समान प्रतीत होती हैं। दूसरी नायिका के हाथों की अँगुलियों के नख उज्ज्वल शोभा दे रहे हैं। किसी अन्य नायिका के दोनों कपोल अनार के फूलों के समान प्रतीत होते हैं ॥५१॥

किसी नायिका की तनी हुई दोनों भौंहें चिकनी शोभा दे रही हैं। मानो कामदेव ने किसी के हनन के लिए धनुष चढाया है। किसी दूसरी रमणी के दोनों नूपुरों के घने शब्द सुनाई पड़ रहे हैं। एक अन्य की रत्नजड़ी मेखला (तगड़ी) के रुनझुन मधुर शब्द श्रवणगोचर हो रहे हैं ॥५२॥

क्रीड़ा करती हुई किन्हीं नायिकाओं के जूतों के मधुर शब्द ऐसे सुनाई पड़ते हैं, मानो नये शरद् ऋतु के आगमन में सारसों के मधुर शब्द हो रहे हैं। किसी का मधुर पंचम स्वर इस प्रकार शोभा दे रहा है मानो देव दर्शन में तुंबरु का शब्द सुसज्जित हो ॥५३॥

इस प्रकार वहाँ एक एक का रूप दर्शन करने से मार्ग में जाने वाले पथिकों के पाँव, नागवल्ली दलों के आस्वादन से, मुक्त (गिरे) रस से स्खलित (फिसल) हो जाते हैं। यदि कोई बाहर घूमने के लिये निकलता भी है तो अनेक प्रकार के उद्यान देखकर संसार को ही भूल जाता है ॥५४॥

अब वनस्पतियों के नाम गिनाते हैं।

टिप्पणी—वृक्षों के नामों का उल्लेख होने के कारण अर्थ लिखना अनावश्यक समझा गया। भूमिका में इसको विशेषता की ओर संकेत किया जायगा।

हे चंद्रमुखी! हे कमलनयने! अन्य भी जो वृक्ष हैं, उनके नाम कौन गिन सकता है? सभी वृक्ष इतने घने स्थित हैं कि उनकी छाया में दस योजन (४० कोस) तक जाया जा सकता है ॥६४॥

हे मृगाक्षी! 'सामोरूपुर' में तपनतीर्थ (सूर्य कुंड) प्रसिद्ध है। चारों दिशाओं में उसकी प्रसिद्धि है। उसका मूल स्थान इतना प्रसिद्ध है कि सभी नर, देव जानते हैं। वहाँ से मैं लेखवाहक, प्रभु की आज्ञा से स्तंभतीर्थ को जा रहा हूँ ॥६५॥

वह चंद्रमुखी, कमलाक्षी पथिक के वचनों को सुनकर लंबी साँस लेकर हाथ की अँगुलियों को तोड़ती हुई, गद्‌गद कंठ होकर, वायु के वेग से काँपती हुई कदली के समान बहुत देर तक थरथराती रही ॥६६॥

आधे क्षण रोकर आँखें मसलकर उस रमणी ने कहा—हे पथिक! 'स्तंभतीर्थ' के नाम से मेरा शरीर कंपित हो रहा है। वहाँ विरही बनाने वाले मेरे पति विराजमान हैं। उनके बिना बहुत दिनों से अकेली समय काट रही हूँ। किंतु वे निर्दयी अब तक नहीं आए ॥६७॥

हे पथिक! यदि दया करके आधे क्षण बैठो तब प्रिय के लिये कुछ शब्दों में एक छोटा सा संदेश निवेदन करूँ। पथिक ने कहा—हे सुवर्णांगी! कहो, रोने से क्या होगा। हे घबराती हुई हरिणी के समान नेत्र वाली बाले! तुम अत्यंत दुःखी दिखाई देती हो ॥६८॥

इसके बाद वह अपने जीवन धारण करने पर लज्जा प्रकट करती हुई बोली—पति के विदेश जाने पर विरहाग्नि से जब मैं राख की ढेरी न हो गई तो उनके लिये निष्ठुर मन से संदेश क्यों दूँ ॥६९॥

उक्त अर्थ को ही दृढ़ करती हुई बोली—जिसके प्रवास (परदेश गमन) करने पर भी मैं ...। तथा जिसके वियोग में मैं मरी नहीं, अतएव उसे संदेश देने में मुझे लज्जा आ रही है ॥७०॥

हे पथिक! लज्जा करके यदि चुप रह जाती हूँ तो जीवित नहीं रह सकती। अतः प्रिय के प्रति एक कहानी सुनाती हूँ। हाथ पकड़कर प्रिय को मनाना ॥७१॥

उससे पति के प्रति कहा—हे नाथ! तुम्हारे विरह के प्रहार से चूर्ण हुए मेरे ये अंग इसलिए नष्ट नहीं हो पाते हैं कि 'आज' 'कल' के संघटन (मेल) रूपी औषधि का प्रभाव इन्हें जीवित रखे है ॥७२॥

उस वस्तु की रक्षा करती हुई पति के लिये आशीः रूप में कहा—हमारे प्राणपति के अंग न जलें इस भय से उच्छ्‌वास (दुःख भरी लंबी साँस) नहीं लेती हूँ। इसके पश्चात् आशीष का स्वरूप बतलाती है। जैसे मैं पति द्वारा त्यागी गई हूँ वैसे वह यम के द्वारा त्यागे जाएँ ॥७३॥

हे पथिक! इस कहानी को सुनाकर पति को मनाना। और पाँच दोहों को अत्यंत नम्रता के साथ कहना ॥७४॥

तेरा मरना भी दोषयुक्त है। इस विषय में कहा—हे स्वामिन्! हृदय में विराजमान तुम्हें छोड़कर, तुम्हारे विरह की अग्नि में संतप्त होकर यदि स्वर्ग में भी जाऊँगी तो उचित न होगा, क्योंकि मैं तुम्हारी सहचरी जो ठहरी ॥७५॥

स्त्री के पतिविषयक विरहजन्य कष्ट में पति का ही दोष है, इस विषय में उस रमणी ने कहा—हे कांत! यदि हमारे हृदय में तुम्हारे रहने पर भी विरह शरीर को पीड़ित करता है, तो इसमें तुम्हें ही लज्जा आनी चाहिए। क्योंकि सत्पुरुषों को, दूसरों को पीड़ित करना, मरने से भी अधिक मानना चाहिए ॥७६॥

पति की निंदा करती हुई कहती है—तुम्हारे पौरुष पूर्ण होने पर भी, तुम्हारे भारी पराभव को क्या मैं नहीं सहन करती, अपितु अवश्य सहती हूँ। क्योंकि जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया है, वे ही अंग विरह से जल रहे हैं ॥७७॥

पुनः पति के पौरुष को प्रकट करती हुई कहती है—विरह रूप शत्रु के भयंकर प्रहार से मेरा शरीर घायल हो गया है, पर हृदय नहीं फटा। कारण यह है कि मेरे हृदय में सामर्थ्यवान् तुम जो दिखाई पड़े। दूसरा कोई कारण नहीं है ॥७८॥

अपनी असमर्थता तथा पति का सामर्थ्य बतलाती है—विरह के कारण मुझमें सामर्थ्य नहीं है अतः विलाप करती हुई पड़ी हूँ। क्योंकि गोपालों का 'फूत्कार' ही प्रमाण है, कारण यह है कि गौओं को गोपालक ही घुमाते हैं दूसरे नहीं ॥७९॥

हे पथिक! विस्तारपूर्वक संदेश कहने में मैं असमर्थ हूँ किंतु हे पथिक! प्रिय से कहना कि एक ही कंकण में दोनों हाथ आ जाते हैं ॥८०॥

हे पथिक! लंबा चौड़ा संदेश मुझसे नहीं कहा जा रहा है। पर इतना अवश्य कह देना कि कनिष्ठिका अँगुली की अँगूठी बाँह में आ जाती है ॥८१॥

उस समय शीघ्र जाने के इच्छुक पथिक ने उक्त दोनों दोहों को सुनकर कहा—हे चतुर रमणी! इसके अनंतर जो कुछ और कहना हो, कहो। मुझे कठिन मार्ग पर जाना है ॥८२॥

यदि चतुर जनों के साथ उस नगर में भीतर घूमें तो मनोहर छंद में मधुर प्राकृत सुनाई देगा। कहीं चतुर्वेदी वेदपाठ करते दिखाई देंगे। कहीं अनेक रूपों में निबद्ध रासक का प्रबन्ध होता सुनाई देगा ॥४३॥

कहीं सुदयवत्स की कथा कहीं नल का आख्यान तथा कहीं अनेक प्रकार के विनोद से परिपूर्ण भारत (महाभारत) की कथा सुनाई देगी। तथा कहीं कहीं त्यागी भेष भावकों द्वारा रामायण की कथा सुनाई पड़ेगी ॥४४॥

कोई बाँसुरी, वीणा काहल, मृदंगादि के शब्द सुनाते हैं। कहीं प्राकृत शब्दों में रचे गीत सुनाई पड़ते हैं। कहीं मनोहारी ऊँचे स्तनों वाली नवतियाँ 'चल चल' करती हुई घूमती हैं ॥४५॥

कहीं लोग अनेक प्रकार के नट नटियों द्वारा आनंदित होते हैं। कहीं वेश्याओं के घर में प्रवेश करते हुए रागहीन व्यक्ति भी मूर्छित हो जाते हैं। उनके सम्मोहन का ढंग बतलाते हैं—कई वेश्यायें मदान्मत्त होकर मतवाले हाथी के समान घूमती हैं। कुछ रत्नजटित ताडङ्क नामक आभूषण से मधुर शब्द करती हुई भ्रमण करती हैं ॥४६॥

कोई ऐसी घूमती दिखाई देती है जिसे देखकर आश्चर्य होता है कि इसके घने ऊँचे स्तनों के भार से कमर (कटि) टूट क्यों नहीं जाती। दूसरी कोई किसी के साथ बाकस लग तिरछे नेत्रों से कुछ हँसती है ॥४७॥

दूसरी कोई चतुर रमणी अपने कपोलों (गाल) पर दर्प, चांद को स्थित समझकर निर्मल हास्य करती हुई घूमती है। किसी के मदनगढ़ रूप कुचस्थल कस्तूरी-लेप से सुशोभित हैं। किसी के ललाट पर सुंदर तिलक शोभा दे रहा है ॥४८॥

किसी के कठोर स्तन-शिखर पर हार प्रवेश न पाने के कारण लहरा रहा है। किसी की नाभि गहरी होने के कारण कुंडलाकार दिखाई दे रही है। तथा त्रिवली तरंग के प्रसंग में मंडलित की तरह सुशोभित है ॥४९॥

कोई स्तनभार की भारिता के कारण कठिनाई से वहन करती है। उसके चलते समय नूपुरों का झम झम शब्द अत्यंत शिथिलता के साथ सुनाई पड़ता है। किसी दूसरी कामिनी के मधुर शब्द करते समय उसके हीरे के समान दाँत नागवल्ली दल के समान लाल शोभा देते हैं ॥५०॥

किसी दूसरी श्रेष्ठ रमणी के हँसते समय ओष्ठ, कमल के समान हाथ और दोनों भुजाएँ समान शोभा देती हैं। यहाँ कमल के भ्रम का कारण बतलाते हैं—जैसे, उसके ओष्ठ कमल के पत्ते के समान, हाथ कमल के समान, सरल दोनों भुजाएँ कमलदण्ड के समान प्रतीत होती हैं। दूसरी नायिका के हाथों की अँगुलियों के नख उज्ज्वल शोभा दे रहे हैं। किसी अन्य नायिका के दोनों कपोल अनार के फूलों के समान प्रतीत होते हैं ॥५१॥

किसी नायिका की तनी हुई दोनों भौंहें चिकनी शोभा दे रही हैं। मानो कामदेव ने किसी के हनन के लिए धनुष चढाया है। किसी दूसरी रमणी के दोनों नूपुरों के घने शब्द सुनाई पड़ रहे हैं। एक अन्य की रत्नजड़ी मेखला (तगड़ी) के रुनझुन मधुर शब्द श्रवणगोचर हो रहे हैं ॥५२॥

क्रीड़ा करती हुई किन्हीं नायिकाओं के जूतों के मधुर शब्द ऐसे सुनाई पड़ते हैं, मानो नये शरद् ऋतु के आगमन में सारसों के मधुर शब्द हो रहे हैं। किसी का मधुर पचम स्वर इस प्रकार शोभा दे रहा है मानो देव दर्शन में तुम्बरु का शब्द सुलज्जित हो ॥५३॥

इस प्रकार वहाँ एक एक का रूप दर्शन करने से मार्ग में जाने वाले पथिकों के पाँव, नागवल्ली दलों के आस्वादन से, मुक्त (गिरे) रस से स्खलित (फिसल) हो जाते हैं। यदि कोई बाहर घूमने के लिये निकलता भी है तो अनेक प्रकार के उद्यान देखकर ससार को ही भूल जाता है ॥५४॥

अब वनस्पतियों के नाम गिनाते हैं।

टिप्पणी—वृक्षों के नामों का उल्लेख होने के कारण अर्थ लिखना अनावश्यक समझा गया। भूमिका में इसकी विशेषता की ओर सकेत किया जायगा।

हे चद्रमुखी! हे कमलनयने! अन्य भी जो वृक्ष हैं, उनके नाम कौन गिन सकता है? सभी वृक्ष इतने घने स्थित हैं कि उनकी छाया में दस योजन (४० कोस) तक जाया जा सकता है ॥६४॥

हे मृगाक्षी! 'सामोरूपुर' में तपनतीर्थ (सूर्य कुड) प्रसिद्ध है। चारों दिशाओं में उसकी प्रसिद्धि है। उसका मूल स्थान इतना प्रसिद्ध है कि सभी नर, देव जानते हैं। वहाँ से मैं लेखवाहक, प्रभु की आज्ञा से स्तभतीर्थ को जा रहा हूँ ॥६५॥

वह चंद्रमुखी, कमलाक्षी पथिक के वचनों को सुनकर लंबी साँस लेकर हाथ की अँगुलियों को ताड़ती हुई गद्‌गद कंठ होकर वायु के वेग से काँपती हुई कदली के समान बहुत देर तक थरथराती रही ॥६६॥

आधे घड़ी रोकर आँखें मलकर उस रमणी ने कहा—हे पथिक! खंभतीर्थ' के नाम से मेरा शरीर जर्जरित हो रहा है। वहाँ विरही बनाने वाले मेरे पति विराजमान हैं। उनके बिना बहुत दिनों से अकेली समय काट रही हूँ। किंतु वे निर्दयी अब तक नहीं आए ॥६७॥

हे पथिक! यदि दया करके आधे क्षण बैठो तब प्रिय के लिये कुछ शब्दों में एक छोटा सा संदेश निवेदन करूँ। पथिक ने कहा—हे सुवर्णांगी! कहो, रोने से क्या होगा। हे घबराती हुई हरिणी के समान नेत्र वाली वाले! तुम अत्यंत दुःखी दिखाई देती हो ॥६८॥

इसके बाद वह अपने जीवन धारण करने पर लज्जा प्रकट करती हुई बोली—पति के विदेश जाने पर विरहाग्नि से जब मैं राख की ढेरी न हो गई, तो उनके लिये निष्ठुर मन से संदेश क्यों दूँ ॥६९॥

उक्त अर्थ को ही दृढ़ करती हुई बोली—जिसके प्रवास (परदेश गमन) करने पर भी मैं ...। तथा जिसके वियोग में मैं मरी नहीं, अतएव उसे संदेश देने में मुझे लज्जा आ रही है ॥७०॥

हे पथिक! लज्जा करके यदि चुप रह जाती हूँ, तो जीवित नहीं रह सकती। अतः प्रिय के प्रति एक कहानी सुनाती हूँ। हाथ पकड़कर प्रिय को मनाना ॥७१॥

उसने पति के प्रति कहा—हे नाथ! तुम्हारे विरह के प्रहार से चूर्ण हुए मेरे ये अंग इसलिए नष्ट नहीं हो पाते हैं कि 'आज' 'कल' के संघटन (मेल) रूपी औषधि का प्रभाव इन्हें जीवित रखे है ॥७२॥

उस वस्तु की रक्षा करती हुई पति के लिये आशीः रूप में कहा—हमारे प्राणपति के अंग में जो इस भय से उच्छ्‌वास (दुःख भरी लंबी साँस) नहीं लेती हूँ। इसके पश्चात् आशीष का स्वरूप बतलाती है। जैसे मैं पति द्वारा त्यागी गई हूँ वैसे वह यम के द्वारा त्यागे जाएँ ॥७३॥

हे पथिक! इस कहानी को सुनाकर पति को मनाना। और पाँव दोनों को अत्यंत नम्रता के साथ कहना ॥७४॥

मेरा मरना भी दोषयुक्त है। इस विषय में कहा—हे स्वामिन्! हृदय में विराजमान तुम्हें छोड़कर, तुम्हारे विरह की अग्नि मे सतप्त होकर यदि स्वर्ग में भी जाऊँगी तो उचित न होगा, क्योंकि मैं तुम्हारी सहचरी जो ठहरी ॥७५॥

स्त्री के पतिविषयक विरहजन्य कष्ट में पति का ही दोष है, इस विषय में उस रमणी ने कहा—हे कात! यदि हमारे हृदय मे तुम्हारे रहने पर भी विरह शरीर को पीड़ित करता है, तो इसमें तुम्हें ही लज्जा आनी चाहिए। क्योंकि सत्पुरुषों को, दूसरों को पीड़ित करना, मरने से भी अधिक मानना चाहिए ॥७६॥

पति की निंदा करती हुई कहती है—तुम्हारे पौरुष पूर्ण होने पर भी, तुम्हारे भारी पराभव को क्या मैं नहीं सहन करती, अपितु अवश्य सहती हूँ। क्योंकि जिन अगों के साथ तुमने विलास किया है, वे ही अग विरह से जल रहे हैं ॥७७॥

पुनः पति के पौरुष को प्रकट करती हुई कहती है—विरह रूप शत्रु के भयकर प्रहार से मेरा शरीर घायल हो गया है, पर हृदय नहीं फटा। कारण यह है कि मेरे हृदय में सामर्थ्यवान् तुम जो दिखाई पड़े। दूसरा कोई कारण नहीं है ॥७८॥

अपनी असमर्थता तथा पति का सामर्थ्य बतलाती है—विरह के कारण मुझमें सामर्थ्य नहीं है अतः विलाप करती हुई पड़ी हूँ। क्योंकि गोपालों का 'पूत्कार' ही प्रमाण है, कारण यह है कि गौओं को गोपालक ही घुमाते हैं दूसरे नहीं ॥७९॥

हे पथिक! विस्तारपूर्वक सदेश कहने में मैं असमर्थ हूँ किंतु हे पथिक! प्रिय से कहना कि एक ही ककण में दोनों हाथ आ जाते हैं ॥८०॥

हे पथिक! लबा चौड़ा सदेश मुझसे नहीं कहा जा रहा है। पर इतना अवश्य कह देना कि कनिष्ठिका अँगुली की अँगूठी बाँह में आ जाती है ॥८१॥

उस समय शीघ्र जाने के इच्छुक पथिक ने उक्त दोनों दोहों को सुनकर कहा—हे चतुर रमणी! इसके अनतर जो कुछ और कहना हो, कहो। मुझे कठिन मार्ग पर जाना है ॥८२॥

पथिक के वचन को सुनकर कामदेव के बाण से पीड़ित, शिकारी के बाण से उन्मुक्त हरिणी की स्थिति वाली उस विरहिणी ने लंबी उष्ण (गर्म) साँस ली। तथा लंबी साँस लेती हुई, अपनी आँखों से आँसू बरसाती हुई उस रमणी ने यह कहानी सुनाई ॥८३॥

दोनों नेत्रों से लगातार अश्रुप्रवाह के विषय में कहती है—मेरे ये युग नेत्र लगातार आँसू बहाने में तनिक भी नहीं होते। तो क्या विरहाग्नि शांत हुई ? इसका उत्तर देती है—खांडव वन की ज्वाला की तरह विरह की ज्वाला अधिक धधक रही है। जब अर्जुन खांडव वन को जलाने के लिये प्रेरित हुए, तब एक विद्यामृत आकर उस अग्नि को शांत करने के लिये प्रवृत्त हुआ पर अर्जुन ने उसी समय वहाँ विद्युत संबंधी आग फेंका जिससे और भी आग प्रज्वलित हो उठी ॥८४॥

इस कहानी को सुनाकर अत्यंत करुणा और दुःख से भरी हुई उस व्याकुल मृगनयनी ने पथिक के आगे कहा—कठिन निश्वास रूप जो रत उसके सुख की आशा में विघ्न डालने वाले उस मेरे कठोर हृदय प्रिय के लिए यो पद कहना ॥८५॥

हे पथिक ! हे कापालिक (योगिन्) ! मैं तुम्हारे विरह में कापालिनी (योगिनी) हो गई हूँ। क्योंकि तुम्हारे स्मरणरूप समाधि में विषम मोह उपस्थित हो जाता है। यहाँ मोह मूर्च्छा तथा स्नेह दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। उस समय से क्षण भर के लिये भी कपाल बायें हाथ से दूर नहीं होता है। (कपाल भिक्षा पात्र तथा मस्तक दोनों अर्थों में है।) तथा शय्यासन नहीं छोड़ती हूँ। पलंग का गया' योगियों के योग का एक उपकरण (सामग्री) है ॥८६॥

हे पथिक ! उस मेरे प्रिय से कहना कि हे निशाचर ! (निशा में विचरण करने वाले) तुम्हारी वह भोली भाली भिया तुम्हारे विरह में निशाचरी राक्षसी हो गई है। क्योंकि उसका तेज दत हो गया है अंग कृश पड़ गए हैं बाल बिखरे हुए हैं मुख की कांति मलिन पड़ गई है। उसकी सारी दशा ही विपरीत हो गई है। कुंकुम और सोने के समान कांति कालिमायुक्त हो गई है ॥८७॥

हे पथिक ! तुम अत्यंत कार्य व्याकुल प्रतीत होते हो। मैं लिखकर संदेश देने में असमर्थ हूँ। अतः तुम कृपा करके मेरे प्रिय से ये बातें कह देना। ८८॥

विरहाग्नि की अधिकता को दो पदों में कहती है—हे पथिक। मेरे प्रिय से कहना कि मेरी ऐसी मान्यता है कि विरहाग्नि की उत्पत्ति बड़वानल से हुई है। क्योंकि घनी अश्रुधारा से सिक्त होने (भीगने) पर भी वह अधिक प्रज्ज्वलित होती है ॥८६॥

हे पथिक। प्रिय से कहना कि लबी और ऊष्ण (गर्म) श्वासों से शुष्कता को प्राप्त होने वाली वह विशालनयना विरहाग्नि के बढने से और अधिक कष्ट पा रही है, यही नहीं, दोनों नेत्रों से सदा आँसू झरने पर भी वह तनिक भी सिंचन का अनुभव नहीं कर पाती ॥६०॥

पथिक ने कहा—हे चद्रमुखी! मुझे जाने दो, अथवा हे मृगनयने! जो कुछ भी कहना हो मुझसे कहो। तब उस विरहिणी ने कहा—हे पथिक! कहती हूँ, अथवा क्या मै नहीं कहूँगी? कहूँगी, पर उससे कहने से क्या, जिस कठोर हृदय ने मेरी ऐसी दशा कर दी है ॥६१॥

जिन्होंने धन के लोभ में विरह के गड्ढे में गिराकर मुझे अकेली छोड़ दिया है। सदेश तो लबा हो गया और तुम जाने को उत्सुक हो। किंतु प्रिय के लिये एक गाथा और कहती हूँ ॥६२॥

पहले के सुखों को स्मरण करती हुई दुःख के साथ कहती है—कि जहाँ पहले मिलन क्षण में हम दोनों के बीच हार तक को प्रवेश नहीं मिलता था वहाँ आज समुद्र, नदी, पर्वत, वृक्ष, दुर्गादि का अतर हो गया है ॥६३॥

विरहिणियों के विरह में भी कभी कभी थोडे सुख की सभावना रहती है—जो कोई स्त्रियाँ अपने पति से मिलने की उत्कठा में विरह से व्याकुल होकर, प्रिय का असग (साथ) प्राप्त कर, उस सग में व्याकुल हो जाती हैं, वे स्वप्न के अनतर सुखकर शरीर स्पर्श, आलिंगन, अवलोकन, चुबन, दतक्षत और सुरत का अनुभव करती हैं। हे पथिक! उस कठोर से इस प्रकार कहना—तुम मेरी अवस्था सुनो, जिस समय तुम परदेश गए, उस समय से मुझे नींद ही नहीं आ रही है, फिर स्वप्न में मिलन की क्या सभावना?—"जब ग्राम ही नहीं तो फिर उसकी सीमा कहाँ?" इस न्याय से ॥६४॥

सब कुछ छिन जाने पर अपनी किकर्तव्यविमूढता का वर्णन करती है—प्रिय के विरह में समागम की सूचना के लिये रात दिन कष्ट पाती हुई, अपने

अंगों को बिलकुल सुखाती हुई आँसू बहाती हुई उसने कहा कि हे पथिक ! अपने निष्ठुर पति के लिए क्या कहूँ ? किन्तु तुम तो ऐसा कहना— 'कि तुम को हृदय में धारण करके भावना के वश से देख कर, मोहवश क्षण भर उसने कहा कि मेरे स्वामी के "चक्कर" (रूप) नामक वस्तु को विरह नाम का चोर नित्य चुराकर ले जाता है। तो हे प्रिय ! बताओ किसकी शरण में जाऊँ" ॥६५॥

यह डोमिलक (एक छंद) कह कर वह चंद्रमुखी, कमल के समान नेत्रों वाली रमणी निर्निमेष होकर निस्पंद हो गई। न तो कुछ कहती है और न किसी दूसरे व्यक्ति को देखती है। भित्ति (दीवार) पर चित्रलिखित के समान प्रतीत होती है ॥६६॥

उच्छ्वास और भ्रम में उसकी दबाँस रुक गई है, मुख पर रोदन परिलक्षित है। कामदेव के बाण से बिंध गई है, ऐसी स्थिति में प्रिय समागम के सुख का स्मरण करके, थोड़ी तिरछी चंचल आँखों से उसने पथिक को देखा, मानों निर्भीक हरिणी से वह गुप्त शब्द द्वारा देखा गया हो ॥६७॥

अब पथिक की सज्जनता का वर्णन करते हैं—पथिक ने कहा—धैर्य धारण करो। क्षण भर के लिये आश्वस्त होओ। यही पकड़कर अपने चीर मुख को पोंछ डाला। पथिक के वचन को सुनकर विरह के भार से टूटे हृदय वाली उस रमणी ने लज्जित होकर अपने कपड़े के अंचल से मुख पोंछ लिया ॥६८॥

अपनी इस प्रकार से असमर्थता प्रकट करती है—हे पथिक ! कामदेव के सामने मेरा बल कुछ काम नहीं कर पाता। क्योंकि कामदेव के समान रूपवान मेरा प्रिय अकारण (किसी दोष के बिना भी) अनुरक्त होते हुए भी विरक्त हो गया है। इसीलिए दूसरे के कष्ट का अनुभव नहीं कर रहा है अतः उस निस्नेह (कठोर) के लिए एक मालिनीवृत्त में संदेश कहना ॥ ६६ ॥

अपनी अज्ञानता का वर्णन करती है—आज भी सुरत काल के अन्त में मैं अपने हृदय को सुखरहित मानती हूँ। हा हे सुभग ! जो प्रेम मये रंग के स्नेह को धारण करता था उससे एक कलश (घड़ा) भर कर रखूँगी। क्योंकि विरक्त हृदय का उस घड़े में डाल कर स्वस्थता का अनुभव करूँगी ॥१ ॥

यदि वस्त्र रंगविहीन हो जाता है तो पुनः रँग लेते हैं। मन शरीर स्नेह (तेल) रहित, रूखा हो जाता है तो तेल मर्दन कर चिकना बना लेते हैं, तथा नव द्रव्य हार जाते हैं तो जीत कर पुन प्राप्त कर लेते हैं; किंतु हे पथिक ! प्रिय के विरक्त हृदय को कैसे बदला जा सकता है ॥१०१॥

पथिक ने कहा—हे विशालनयने ! मन मे धैर्य धारण करो, मार्ग पर ही चलो। आँखों से बहते हुए आँसू को रोको। पथिक अनेक कार्य करने विदेश जाते हैं, वहाँ घूमते हैं। अपने कार्य के सिद्ध न होने पर, हे सुदरी ! घबराते नहीं ॥१०२॥

और वे विदेश में भ्रमण करते हुए कामदेव के बाण से पीड़ित होकर अपनी स्त्रियों को स्मरण करते हुए विरह के वशीभूत रहते हैं। दिन रात अपनी प्रियतमाओं के शोक के भार को सहने में असमर्थ होते हैं। जिस प्रकार तुम लोग वियोग में कष्ट पाती हो वैसे ही प्रवासी भी विरह में क्षीण होते हैं ॥१०३॥

इस वचन को सुनकर उस विशाल नयना, मदनोत्सुका ने 'आडिल्ला' छद में कहा।

'सदेश रासक' नामक इस ग्रथ के भाव को सूचित करती हुई कहती है—यदि प्रियतम का मेरे प्रति स्नेह नहीं है, इसको मै देशज 'ताक' की तर्कना करती हूँ। तो भी हे पथिक ! मेरे प्रिय के लिये सदेश कहो। (यहाँ प्राकृत होने के कारण सबध कारक के स्थान पर सप्रदान कारक का प्रयोग हुआ है।)

दूसरे पद्म में—जो विरहाग्नि मेरे भीतर है, वह नाक तक है। दूसरा अर्थ 'नक्तान्त' दिन रात हृदय जला रही है ॥१०४॥

हे पथिक ! मैं कामदेव शरविद्ध-होने के कारण विस्तार से सदेश कहने में असमर्थ हूँ। पर मेरी इस सारी दशा को प्रियतम से कहना। रात दिन मेरे शरीर में कष्ट रहता है। तुम्हारे विरह में रात को नींद नहीं आती है। इतनी शिथिलता आ गई है कि रास्ता चलना भी कठिन है ॥१०५॥

जूडे में पुष्पों का शृगार नहीं करती हूँ। आँखों में धारण किया काजल आँसू के कारण गालों पर बह रहा है। प्रियतम के आगमन की आशा से जो

मांस मेरे शरीर पर चढ़ा है उसके विरह की ज्वाला से भस्म होकर (सूख कर) गुगुना सीधा हो रहा है ॥१ ६॥

आगमन की आशा रूपी जल से सिंची हुई और विरह की आग से जलती हुई भी रही हूँ, मरी नहीं किंतु धधकती हुई आग के समान पड़ी हूँ। इसके पश्चात् मन में धैर्य धारण कर, दोनों आँखों को स्वच्छ कर प्रसन्न होकर कहा ॥१ ७॥

हे प्रिय ! मेरा हृदय सुनार (स्वर्णकार) के समान है। जिस प्रकार सुनार अभीष्ट काम की इच्छा से सोने को आग में तपा कर जल से सींचता है वैसे ही मैं शरीर रूपी स्वर्ण को प्रिय के विरह रूपी आग से तपा कर पुनः मिलन की आशा रूपी जल से सींच रही हूँ ॥१ ८॥

पथिक ने कहा—मेरी यात्रा के समय रो रो कर अमंगल (अपशकुन) मत करो। आँसुओं को रोको। तब रमणी ने कहा—हे पथिक ! तुम्हारी मनोकामना सफल हो। आज तुम्हारी यात्रा होवे। मैं नहीं रोऊँगी। विर हाग्नि के धुएँ की अधिकता से आँखों में आँसू आ जाते हैं ॥१ ६॥

पथिक ने कहा—हे विशालनयने ! शीघ्र कुछ कहो। सूर्य अस्त होने वाला है। दया करके मुझे छोड़ो। रमणी ने कहा—तुम्हारा बारंबार कल्याण हो। मेरे प्रिय से एक 'अडिल्ल' और एक 'चूडिलक' कहना ॥११ ॥

मेरा शरीर लम्बे गर्म श्वासों से (दीर्घोष्णों से) सूख रहा है। आँसुओं की इतनी झड़ी लगी है, पर वह सूखता नहीं यही महान् आश्चर्य है। मेरा हृदय दो दीपों के बीच पड़ा है अर्थात् धन्य हो गया है। मानों पतंग दीपक के बीच में गिरा है, वह भी मर रहा है ॥१११॥

विरहावस्था में सभी समय कष्टदायक होते हैं इस विषय में कह रही है—सूर्य के उत्तरायण होने पर दिन बड़े होते हैं रातें छोटी होती हैं। दक्षिणायन में रातें बड़ी होती हैं दिन छोटे होते हैं। जहाँ दोनों बढ़ते हैं वहाँ मानों यह चौथा विरहायन उत्पन्न हुआ है। दोनों के अभाव में बाधा मुक्तापन होना चाहिए ॥११२॥

हे पथिक ! दिन बीत गया। यात्रा स्थगित करो। रात बिता कर फिर दिन में जाना। पथिक ने कहा—(हे कास आदि नाली सुंदरी !) हे

रविवावरे। सूर्य प्रातःकाल से ही बहुत तपने लगता है। मुझे अत्यत आवश्यक कार्य से जाना है। फिर उस विरहिणी ने कहा—यदि यहाँ नहीं ठहरते हो, हे पथिक। यदि जाते ही हो, तो एक 'चूडिल्लक', 'खडहडक' और 'गाथा' मेरे प्रियतम से कह देना ॥११३॥

हे पथिक! मेरे प्रिय से जाकर कहना कि तुम्हारे प्रवास में विरहाग्नि का फल प्राप्त हो गया है। वह यह कि चिरंजीवी वर मिल गया है, एक भी दिन वर्ष के समान हो गया है ॥११४॥

यद्यपि प्रिय वियोग में मेरा हृदय विह्वल हो गया है, यद्यपि मेरे अग कामबाण से अत्यत आहत हो गए हैं, यद्यपि आँखों से कपोलों पर निरतर अश्रुप्रवाह होता रहता है, यद्यपि मन में कामदेव नित्य उद्दीप्त होता रहता है, तो भी मैं जी रही हूँ ॥११५॥

हे पथिक! रात्रि में निश्चिंतता और नींद कैसे आयेगी? क्योंकि अपने प्रिय के वियोग में विरहिणियाँ किसी प्रकार कुछ दिन जीवित रह जाती हैं, यही आश्चर्य है ॥११६॥

पथिक ने कहा—हे सुवर्णांगी। जो कुछ आपने कहा तथा जो कुछ मैंने देखा वह सब अच्छी तरह विशेष रूप से कहूँगा। हे कमलनयने! लौटो, अपने घर जाओ। मैं अपना रास्ता लेता हूँ। मेरे गमन में रुकावट न डालो। पूर्व दिशा में अँधेरा फैल रहा है। सूर्यास्त हो गया है। रात कष्ट से बीतेगी। मेरा मार्ग दुर्गम तथा डरावना है ॥११७॥

पथिक के वचन को सुनकर प्रियतम के वियोग के कारण उस तन्वगी ने एक दीर्घ उच्छ्वास छोड़ा। उस समय कपोल पर जो कोई अश्रुबिंदु रहता है वह ऐसा लगता है मानों विद्रुम समूह के ऊपर मोती शोभा दे रहा हो। इसके बाद प्रिय के प्रवास से दुःखी होकर रोने लगी और विलाप करती हुई पथिक से कहने लगी—हे पथिक! एक 'रकचक' और 'द्विपदी' मेरे प्रियतम से कहना ॥११८॥

मेरा हृदय ही 'रत्नाकर' है। वह तुम्हारे कठिन विरहरूपी मदराचल से नित्य मथन किया जाता है। मथन करके सुखरूपी रत्न निकाला गया है ॥ ११९ ॥

अंगों को बिलकुल सुखाती हुई आँसू बहाती हुई उसने कहा कि हे पथिक ! अपने निर्दय पति के लिए क्या कहूँ ? किंतु तुम तो ऐसा कहना—"कि तुम को हृदय में धारण करके भावना के बल से देख कर, मोहवश क्षण भर उसने कहा कि मेरे स्वामी के "बक्कर" (रूप) नामक वस्तु को विरह नाम का चोर नित्य चुराकर के खाता है। तो हे प्रिय ! बताओ किसकी शरण में जाऊँ' ॥९५॥

यह डोमिलक (एक छंद) कह कर वह चंद्रमुखी, कमल के समान नेत्रों वाली रमणी निर्निमेष होकर निस्पंद हो गई। न तो कुछ कहती है और न किसी दूसरे व्यक्ति को देखती है। भित्ति (दीवार) पर चित्रलिखित के समान प्रतीत होती है ॥९६॥

उच्छ्वास और भ्रम में उसकी साँस रुक गई है, मुख पर रोदन परिलक्षित है। कामदेव के बाण से बिंध गई है ऐसी स्थिति में प्रिय समागम के सुख का स्मरण करके, भोली तिरछी चंचल आँखों से उसने पथिक को देखा मानों निर्भीक हरिणी से वह गुरु शब्द द्वारा देखा गया हो ॥९७॥

अब पथिक की सज्जनता का वर्णन करते हैं—पथिक ने कहा—धैर्य धारण करो। क्षण भर के लिये आश्वस्त होओ। पटी पकड़कर अपने चंद्रमुख को धो डालो। पथिक के वचन को सुनकर विरह के भार से टूटे हृदय वाली उस रमणी ने लज्जित होकर अपने कपड़े के अंचल से मुख पोंछ लिया ॥९८॥

अपनी सब प्रकार से असमर्थता प्रकट करती है—हे पथिक ! कामदेव के सामने मेरा बल कुछ काम नहीं कर पाता। क्योंकि कामदेव के समान रूपवान मेरा प्रिय अकारण (किसी दोष के बिना भी) अनुरक्त होते हुए भी विरक्त हो गया है। इसीलिए दूसरे के कष्ट का अनुमान नहीं कर रहा है अतः उस निस्पृह (कठोर) के लिए एक मालिनीवृत्त में संदेश कहना ॥ ९९ ॥

अपनी अज्ञानता का वर्णन करती है—प्राण भी सुरत काल के अन्त में मैं अपने हृदय को सुखरहित मानती हूँ। तो हे सुभग ! जो प्रेम मय रस के स्नेह को उत्पन्न करता था उससे एक कलश (घड़ा) भर कर रखूँगी। क्योंकि विरक्त हृदय को उस घड़े में डाल कर स्वस्थता का अनुभव करूँगी ॥१ ॥

यदि वस्त्र रंगविहीन हो जाता है तो पुनः रँग लेते हैं। जब शरीर स्नेह (तेल) रहित, रूखा हो जाता है तो तैल मर्दन कर चिकना बना लेते हैं, तथा जब द्रव्य हार जाते हैं तो जीत कर पुनः प्राप्त कर लेते हैं; किंतु हे पथिक! प्रिय के विरक्त हृदय को कैसे बदला जा सकता है ॥१०१॥

पथिक ने कहा—हे विशालनयने! मन में धैर्य धारण करो, मार्ग पर ही चलो। आँखों से बहते हुए आँसू को रोको। पथिक अनेक कार्य करने विदेश जाते हैं, वहाँ घूमते हैं। अपने कार्य के सिद्ध न होने पर, हे सुंदरी! घबराते नहीं ॥१०२॥

और वे विदेश में भ्रमण करते हुए कामदेव के बाण से पीड़ित होकर अपनी स्त्रियों को स्मरण करते हुए विरह के वशीभूत रहते हैं। दिन रात अपनी प्रियतमाओं के शोक के भार को सहने में असमर्थ होते हैं। जिस प्रकार तुम लोग वियोग में कष्ट पाती हो वैसे ही प्रवासी भी विरह में क्षीण होते हैं ॥१०३॥

इस वचन को सुनकर उस विशाल नयना, मदनोत्सुका ने 'आडिल्ला' छंद में कहा।

'संदेश रासक' नामक इस ग्रंथ के भाव को सूचित करती हुई कहती है—यदि प्रियतम का मेरे प्रति स्नेह नहीं है, इसको मैं देशज 'ताक' की तर्कना करती हूँ। तो भी हे पथिक! मेरे प्रिय के लिये संदेश कहो। (यहाँ प्राकृत होने के कारण संबंध कारक के स्थान पर संप्रदान कारक का प्रयोग हुआ है।)

दूसरे पक्ष में—जो विरहाग्नि मेरे भीतर है, वह नाक तक है। दूसरा अर्थ 'नक्तान्त' दिन रात हृदय जला रही है ॥१०४॥

हे पथिक! मैं कामदेव शरविद्ध-होने के कारण विस्तार से संदेश कहने में असमर्थ हूँ। पर मेरी इस सारी दशा को प्रियतम से कहना। रात दिन मेरे शरीर में कष्ट रहता है। तुम्हारे विरह में रात को नींद नहीं आती है। इतनी शिथिलता आ गई है कि रास्ता चलना भी कठिन है ॥१०५॥

जूड़े में पुष्पों का शृंगार नहीं करती हूँ। आँखों में धारण किया काजल आँसू के कारण गालों पर बह रहा है। प्रियतम के आगमन की आशा से जो

मांस मेरे शरीर पर चढ़ा है उसके विरह की ज्वाला से भस्म होकर (सूख कर) दुगुना क्षीण हो रहा है ॥१०६॥

आगमन की आशा रूपी जल से सिंची हुई और विरह की आग से जलती हुई भी रही हूँ, मरी नहीं किन्तु धधकती हुई आग के समान पड़ी हूँ। इसके पश्चात् मन में धैर्य धारण कर, दोनों आँखों का स्पर्श कर प्रसन्न होकर कहा ॥१०७॥

हे प्रिय ! मेरा हृदय सुनार (स्वर्णकार) के समान है। जिस प्रकार सुनार अभीष्ट लाभ की इच्छा से सोने को आग में तपा कर जल से सींचता है वैसे ही मैं शरीर रूपी स्वर्ण को प्रिय के विरह रूपी आग से तपा कर पुनः मिलन की आशा रूपी जल से सींच रही हूँ ॥१०८॥

पथिक ने कहा—मेरी यात्रा के समय रो रो कर अमंगल (अपशकुन) मत करो। आँसुओं को रोको। तब रमणी ने कहा—हे पथिक ! तुम्हारी मनोकामना सफल हो। आज तुम्हारी यात्रा होवे। मैं नहीं रोऊँगी। फिर हानि के दुःख की अधिकता से आँखों में आँसू आ जाते हैं ॥१०९॥

पथिक ने कहा—हे विशालनयने ! शीघ्र कुछ कहो। सूर्य अस्त होने वाला है। दया करके मुझे छोड़ो। रमणी ने कहा—तुम्हारा बारंबार कल्याण हो। मेरे प्रिय से एक 'गाहिल्ल' और एक 'चूडिल्ल' कहना ॥११०॥

मेरा शरीर लंबे गर्म श्वासों से (दीर्घोष्णश्वासों से) धुल रहा है। आँसुओं की इतनी झड़ी लगी है, पर वह बुझती नहीं यही महान् आश्चर्य है। मेरा हृदय तो होली के बीच पड़ा है अर्थात् शून्य हो गया है। मानो पतंग दीपक के बीच में गिरा है वह भी मर रहा है ॥१११॥

विरहावस्था में सभी समय कष्टदायक होते हैं इस विषय में कह रही है—सूर्य के उत्तरायण होने पर दिन बड़े होते हैं रातें छोटी होती हैं। दक्षिणायन में रात बड़ी होती है दिन छोटे होते हैं। यहाँ दोनों अवस्थाएँ हैं यहाँ मानो यह तीसरा विरहायन उत्पन्न हुआ है। रा[illegible] के अभाव में चौथा [illegible] होना चाहिए ॥११२॥

हे पथिक ! दिन बीत गया। [illegible] यात्रा स्थगित करो। रात बिता कर फिर दिन में जाना। पथिक ने कहा—(हे बाल भाव वाली सुंदरी !) हे

निशाचरे। सूर्य प्रातःकाल मे ही बहुत तपने लगता है। मुझे अत्यंत आवश्यक कार्य से जाना है। फिर उस विरहिणी ने कहा—यदि यहाँ नहीं ठहरते हो, हे पथिक! यदि जाते ही हो, तो एक 'चूडिल्लक', 'खडहडक' और 'गाथा' मेरे प्रियतम से कह देना ॥११३॥

हे पथिक! मेरे प्रिय से जाकर कहना कि तुम्हारे प्रवास में विरहाग्नि का फल प्राप्त हो गया है। वह यह कि चिरंजीवी वर मिल गया है, एक भी दिन वर्ष के समान हो गया है ॥११४॥

यद्यपि प्रिय वियोग में मेरा हृदय विह्वल हो गया है, यद्यपि मेरे अग कामवाण से अत्यत आहत हो गए हैं, यद्यपि आँखों से कपोलों पर निरतर अश्रुप्रवाह होता रहता है, यद्यपि मन में कामदेव नित्य उद्दीप्त होता रहता है, तो भी मैं जी रही हूँ ॥११५॥

हे पथिक! रात्रि में निश्चितता और नींद कैसे आयेगी? क्योंकि अपने प्रिय के वियोग में विरहिणियाँ किसी प्रकार कुछ दिन जीवित रह जाती हैं, यही आश्चर्य है ॥११६॥

पथिक ने कहा—हे सुवर्णांगी! जो कुछ आपने कहा तथा जो कुछ मैंने देखा वह सब अच्छी तरह विशेष रूप से कहूँगा। हे कमलनयने! लौटो, अपने घर जाओ। मैं अपना रास्ता लेता हूँ। मेरे गमन में रुकावट न डालो। पूर्व दिशा में अँधेरा फैल रहा है। सूर्यास्त हो गया है। रात कष्ट से बीतेगी। मेरा मार्ग दुर्गम तथा डरावना है ॥११७॥

पथिक के वचन को सुनकर प्रियतम के वियोग के कारण उस तन्वगी ने एक दीर्घ उच्छ्वास छोड़ा। उस समय कपोल पर जो कोई अश्रुबिंदु रहता है वह ऐसा लगता है मानों विद्रुम समूह के ऊपर मोती शोभा दे रहा हो। इसके बाद प्रिय के प्रवास से दुःखी होकर रोने लगी और विलाप करती हुई पथिक से कहने लगी—हे पथिक! एक 'रुकथक' और 'द्विपदी' मेरे प्रियतम से कहना ॥११८॥

मेरा हृदय ही 'रत्नाकर' है। वह तुम्हारे कठिन विरहरूपी मदराचल से नित्य मथन किया जाता है। मथन करके सुखरूपी रत्न निकाला गया है ॥ ११९ ॥

कामदेव के प्रभावपूर्ण समीरण से प्रज्वलित विरहानल मुझे परलोक-गमन के लिये प्रेरित कर रहा है। यह विरहाग्नि-दृष्टि स्फुलिंग (चिनगारी) से पूर्ण है। मेरे हृदय में तीव्रता से स्फुरित हो रही है, जल रही है। ज्वाल-पूर्ण है। मैं मृत्यु को नहीं प्राप्त हो रही हूँ अतः मुझे शंकित कर रही है, बढ़ रही है और जल रही है। पर यह आश्चर्य है कि तुम्हारी उत्कंठा से सरोरुह बढ़ रहा है। अग्नि में कमल कैसे बढ़ सकता है? तो यहाँ सरोरुह रवास अर्थ में प्रयुक्त है ॥१२१॥

स्कंध और द्विपदी को सुनकर पथिक रोमांचित हो गया। पर प्रेम नहीं गया। पथिक मन में अनुरक्त हो गया। और उस विरहिणी से कहा—सुनो, क्षण भर शांत होओ। हे चंद्रानने! कुछ पूछता हूँ, स्पष्ट बतलाओ ॥१२१॥

नए बादलों में से निकले चंद्रमा के समान तुम्हारा मुख निर्मल है। जैसे रात्रि में प्रत्यक्ष चंद्रमा अमृत बरसाते शोभा देता है। तुम्हारा यह चंद्रवत् मुख किस दिन से विरहाग्नि में तप कर काला पड़ गया है ॥१२२॥

यह बताओ कि किस दिन से कज्जलयुक्त मुक्त मदोन्मत्त नेत्रों से निरंतर आँसू बहा रही हो। कदली के समान कोमल अंगों को सुखा रही हो। हंस के समान लीलायुक्त चाल को छोड़कर कब से सीधी (सरल) चाल अपना लिया है ॥१२३॥

हे चंचलनयने! कितने दिनों से इस प्रकार दुःख में अपने अंगों को सुखा रही हो। दुःसह विरह रूपी आरे से अपने अंगों को क्यों काट रही हो? कामदेव के तीक्ष्ण बाणों से कब से तुम्हारा मन हना जा रहा है? हे सुंदरी! बताओ तुम्हारे प्रियतम ने कब से प्रवास किया है ॥१२४॥

पथिक के वचन को सुनकर उस विशालनयना ने गाथा पढ़कर कहा ॥१२५॥

हे पथिक! सुनो मेरे प्रिय के प्रवास का दिन पूछने से क्या लाभ? उसी दिन से तो सुख त्याग कर दुःख का पट्टा प्राप्त किया है ॥१२६॥

तो बताओ, वियोग की ज्वाला में जलाने वाले उस दिवस के स्मरण से क्या जिस दिन प्राण पथ में ही वे चले गए। अतः उस दिन का नाम भी न लो ॥१२७॥

रविबाघरे ! सूर्य प्रातःकाल से ही बहुत तपने लगता है। मुझे अत्यंत आवश्यक कार्य से जाना है। फिर उस विरहिणी ने कहा—यदि यहाँ नहीं ठहरते हो, हे पथिक ! यदि जाते ही हो, तो एक 'चूडिल्लक', 'खडहडक' और 'गाथा' मेरे प्रियतम से कह देना ॥११३॥

हे पथिक ! मेरे प्रिय से जाकर कहना कि तुम्हारे प्रवास में विरहाग्नि का फल प्राप्त हो गया है। वह यह कि चिरंजीवी वर मिल गया है, एक भी दिन वर्ष के समान हो गया है ॥११४॥

यद्यपि प्रिय वियोग में मेरा हृदय विह्वल हो गया है, यद्यपि मेरे अग कामबाण से अत्यत आहत हो गए हैं, यद्यपि आँखों से कपोलों पर निरतर अश्रुप्रवाह होता रहता है, यद्यपि मन में कामदेव नित्य उद्दीप्त होता रहता है, तो भी मैं जी रही हूँ ॥११५॥

हे पथिक ! रात्रि में निश्चिंतता और नींद कैसे आयेगी ? क्योंकि अपने प्रिय के वियोग में विरहिणियाँ किसी प्रकार कुछ दिन जीवित रह जाती हैं, यही आश्चर्य है ॥११६॥

पथिक ने कहा—हे सुवर्णांगी ! जो कुछ आपने कहा तथा जो कुछ मैंने देखा वह सब अच्छी तरह विशेष रूप से कहूँगा। हे कमलनयने ! लौटो, अपने घर जाओ। मैं अपना रास्ता लेता हूँ। मेरे गमन में रुकावट न डालो। पूर्व दिशा में अँधेरा फैल रहा है। सूर्यास्त हो गया है। रात कष्ट से बीतेगी। मेरा मार्ग दुर्गम तथा डरावना है ॥११७॥

पथिक के वचन को सुनकर प्रियतम के वियोग के कारण उस तन्वगी ने एक दीर्घ उच्छ्वास छोड़ा। उस समय कपोल पर जो कोई अश्रुबिंदु रहता है वह ऐसा लगता है मानों विद्रुम समूह के ऊपर मोती शोभा दे रहा हो। इसके बाद प्रिय के प्रवास से दुःखी होकर रोने लगी और विलाप करती हुई पथिक से कहने लगी—हे पथिक ! एक 'स्कधक' और 'द्विपदी' मेरे प्रियतम से कहना ॥११८॥

मेरा हृदय ही 'रत्नाकर' है। वह तुम्हारे कठिन विरहरूपी मंदराचल से नित्य मथन किया जाता है। मथन करके सुखरूपी रत्न निकाला गया है ॥ ११९ ॥

कामदेव के समानपूर्ण समीरण से प्रज्वलित विरहानल मुझे परलोक-गमन के लिये प्रेरित कर रहा है। यह विरहाग्नि-रूपी स्फुलिंग (चिनगारी) से पूर्ण है। मेरे हृदय में तीव्रता से स्फुरित हो रही है, जल रही है। दुःख-पूर्ण है। मैं मृत्यु को नहीं प्राप्त हो रही हूँ अतः मुझे लज्जित कर रही है, बढ़ रही है और जल रही है। पर यह आश्चर्य है कि तुम्हारी उत्कंठा से सरोरुह बढ़ रहा है। अग्नि में कमल कैसे बढ़ सकता है? तो यहाँ सरोरुह प्रवास अर्थ में प्रयुक्त है ॥१२ ॥

स्नेह और विपदी को सुनकर पथिक रोमांचित हो गया। पर प्रेम नहीं गया। पथिक मन में अनुरक्त हो गया। और उस विरहिणी से कहा—सुनो, क्या मर शांत होगा। हे चंद्रानन! कुछ पूछता हूँ रह बतलाना ॥१२१॥

नए बादलों में से निकले चंद्रमा के समान तुम्हारा मुख निर्मल है। कैसे रात्रि में प्रत्यक्ष चंद्रमा अमृत बरसाते शोभा देता है। तुम्हारा यह चंद्रवत् मुख किस दिन से विरहाग्नि में तप कर काला पड़ गया है ॥१२२॥

यह बताओ कि किस दिन से कज्जलयुक्त मुक्त महोन्मत्त नेत्रों से निरंतर आँसू बहा रही हो। कदली के समान कोमल अंगों को सुखा रही हो। हंस के समान लीलायुक्त चाल को छोड़कर कब से सीधी (सरल) चाल अपना लिया है ॥१२३॥

हे चंचलनयने! कितने दिनों से इस प्रकार दुःख में अपने अंगों को सुखा रही हो। दुःसह विरह रूपी आरे से अपने अंगों को क्यों काट रही हो? कामदेव के तीक्ष्ण बाणों से कब से तुम्हारा मन हना जा रहा है? हे सुंदरी! बताओ तुम्हारे प्रियतम ने कब से प्रवास किया है ॥१२४॥

पथिक के वचन को सुनकर उस विशालनयना ने गाथा पढ़कर कहा ॥१२५॥

हे पथिक! सुनो, मेरे प्रिय के प्रवास का दिन पूछने से क्या लाभ? उसी दिन से तो सुख त्याग कर दुःख का पट्टा प्राप्त किया है ॥१२६॥

तो बताओ वियोग की ज्वाला में जलाने वाले उस दिवस के स्मरण से क्या? जिस दिन आये क्षण में ही वे चले गये। अतः उस दिन का नाम भी न लो ॥१२७॥

जिस दिन से मेरे प्रियतम गए हैं उस दिन से मेरी सारी इच्छाएँ ही समाप्त हो गई हैं। हे पथिक ! वह दिन मुझे निश्चय ही काल के समान लग रहा है ॥१२८॥

जिस ग्रीष्म ऋतु में मुझे छोड़कर प्रिय गए, वह ग्रीष्म भयकर वैश्वानर (अग्नि) से जले। जिस ग्रीष्म से मैं सूखती जा रही हूँ वह मलयागिरि के पवन से सूखे ॥१२९॥

तृतीयः प्रक्रमः

यहाँ ग्रीष्म ऋतु का वर्णन किया गया है—हे पथिक ! नए ग्रीष्म ऋतु के आगमन के समय मेरे प्रियतम ने प्रवास किया। उसी समय परिहास के साथ नमस्कार करके सुख भी चला गया। अर्थात् तभी से सुख का सर्वथा अभाव है। उसके पश्चात् लौट कर विरह की अग्नि से तप्त शरीर वाली मैं विह्वल मन से घर आ गई ॥१३०॥

तथा दुःख और सुखों के अभाव को सहती हुई मुझ कामोद्दीप्ता को मलयगिरि का पवन और दुःखदायी हो गया। सूर्य की किरणें विषम ज्वाला से पृथ्वी के वन-तृणों को जलाती हुई मुझे उत्तप्त कर रही हैं ॥१३१॥

अथवा ग्रीष्म के कारण चचल आकाश यमराज की जिह्वा के समान लहलहा रहा है। ताप से सूखती हुई पृथ्वी 'तड़', 'तड़' शब्द कर रही है। तेज का भार सहा नहीं जा रहा है। अत्यत गर्म वायु ('लू') चल रही है। शरीर को तपाने वाला वात्याचक्र (बवडर) विरहिणियों के अग को स्पर्श कर तपा रहा है ॥१३२॥

नए बादलों को देखकर उत्कंठित चातक (पपीहा) 'प्रिय प्रिय' (पी पी) शब्द बोल रहे थे। नदियों में जल-प्रवाह बहुत सुंदर ढग से प्रवाहित हो रहा था। छः पदों में आम का वर्णन है—फलों के भार से झुका हुआ आम का वन अत्यत शोभा दे रहा है। तथा जहाँ हाथी के कान के समान वायु से हिलाए गए आम के पत्तों में आम्रमजरी के सुगध से उत्कंठित शुकों (तोतों) के जोड़े पख फैलाए शोभा दे रहे हैं। और वहाँ से करुणा भरी ध्वनि निकल रही है। उस करुण ध्वनि को सुनकर मैं निराधार हो गई हूँ। हे पथिक ! मानो सबको आनदित करने वाले प्रियतम से मैं वचित हो गई हूँ ॥१३३–१३४॥

शीतलता के लिये हरिचंदन का वक्षस्थल पर लेप करती हूँ किंतु वह भी सर्पों के सेवन के कारण स्तनों को तप्त रहा है। तथा अनेक प्रकार से विलाप करती हुई शीतलता के लिये हरिलता एवं कुसुमलता को हृदय पर धारण करती हूँ पर वे भी उष्णता पैदा करती हैं, अतः मृत्यु की शंका से मैं भयभीत हो गई हूँ ॥११५॥

रात्रि में शय्या पर शरीर को सुख देने के लिये जो कमल के पत्ते बिछाती हूँ वे गुनगुनी पीड़ा देने वाले प्रतीत होते हैं। इस प्रकार बिखरे से उठती हुई और निर्बलता के कारण वहीं ही गिरती हुई लज्जित होकर गद्गद कंठ से 'बल्लभ' और 'दीपक' (छंद विशेष) पढ़ती है ॥११६॥

कमल सूर्य की किरणों से विकसित हैं और विरहियों को तापकारक हैं अतः मुझे तप्त कर रहे हैं। चंद्रमा की किरणें विष के साथ उत्पन्न होने के कारण पीड़ा देती हैं तथा जलाती हैं। चंदन नागों के दांतों से डसा गया है अतः हमारे अंगों को पीड़ित कर रहा है। हार काँटों के बीच के फूलों से गूँथा गया है अतः अंगों में चुभ रहा है। कमल, चंद्र, चंदन, रत्नादि शीतल कहे जाते हैं पर विरहाग्नि-ज्वाला किसी से शांत नहीं होती, अपितु अंगों को और अधिक पीड़ित करती है ॥११७॥

विरहिणी का शरीर कपूर चंदन के प्रलेप से शीतल होता है"—यह मिथ्या सिद्ध हुआ। फिर विरह की ज्वाला प्रियतम से ही अच्छी तरह शांत हो सकती है ॥११८॥

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन समाप्त

(वर्षा वर्णन)

अब वर्षाऋतु का वर्णन करते हैं—अत्यंत उत्तप्त कष्टदायक ग्रीष्म मैंने मर मरकर बिताया। इसके पश्चात् वर्षाऋतु आई पर वह गृह पति आया नहीं। घनघोर अंधकार है आकाश में जल के भार से झुके हुए मेघ नाद के साथ गरज रहे हैं ॥ ११९ ॥

मदमीत कामकामी बिजली आकाश में प्रकाशित होकर ज्वाला के समान प्रकट होकर भूमि भाग को स्पर्श कर लेती है। चातक (पपीहे) वन में चारों ओर घूम रहे हैं तथा आकाश में मद मेघों के साथ गरजता हुआ वर्षा का दृश्य दे रहा है ॥ १२० ॥

ग्रीष्म ऋतु के तीक्ष्ण ताप से उत्तप्त सूर्य की किरणें जल शोषण कर पुन. इतनी भयकर वृष्टि करती हैं कि जल नदियों में समा नहीं पाता। क्योंकि "सूर्य अपनी एक सहस्र किरणों से जल शोषण करता है।" तथा रास्ते में प्रवासी पथिकों ने जल से भींगने के भय से जूते हाथ में ले लिए हैं। आकाश में बिजली के द्वारा करल पगदडक दिखाई देता है अन्यथा नहीं ॥ १४१ ॥

नदियों में ऊँची ऊँची भयकर लहरें उठ रही हैं, नदी को पार करना दुस्तर है, उनमें गर्जना हो रही है। दिशाएँ स्थिर हो गई हैं। यदि आवश्यक कार्य आ पड़ता है तो नौका से यात्रा करते हैं न कि घोड़े से ॥ १४२ ॥

(क्षेपक) जैसे स्त्री प्रियतम - सगम के समय अपने अगों में चदन का प्रलेप करती है, लज्जावश शरीर को ढकती है, आँखों को बंद कर लेती है, अधकार की अभिलाषा करती है, कुसुभी रग का वस्त्र धारण करती है, वैसे ही पृथ्वी, मेघ रूपी पति के आगमन के समय विभिन्न चेष्टाएँ करती है ॥ १४३ ॥

जल का किनारा छोड़ कर बगुले वृक्षों के शिखर पर विराजमान हैं, मयूर ताडव नृत्य करके ऊँचे पर्वत - शिखरों पर शब्द कर रहे हैं। जल में सालूर (मेढक) कर्कश शब्द कर रहे हैं। कोकिल आम के शिखरों पर बैठ कर कलकल शब्द कर रही है ॥ १४४ ॥

सर्प दसों दिशाओं में घने रूप में मार्ग रोके हुए हैं। विषैले जल-सर्पों से मार्ग रुँधा हुआ है। जल की लहरों से पाडल दल विनष्ट हो गए हैं। हस पर्वत की चोटी पर करुण स्वर से 'ह' शब्द करते हुए रो रहे हैं ॥ १४५ ॥

मच्छरों के भय से गायें पृथ्वी पर स्थित हैं। गोपागनाएँ मधुर गीत गा रही हैं। हरीतिमा से भरी हुई पृथ्वी कदब के फूलों से सुगधित है। कामदेव ने अपने प्रभाव से अग भंग कर दिया है ॥ १४६ ॥

रात्रि में कष्ट देने वाली शय्या में एकाकी करवटें बदल बदल मैंने निद्रा बिताई। सरोवर में कमलों के बीच में भ्रमर-पक्ति सकुचित हो गई है। मैंने टकटकी लगाकर रात्रि में जागरण किया। इस प्रकार नींद न आने के

कारण किसी प्रकार रात्रि बिताती हुई उस विरहिणी ने वस्तुक, गाथा और दोधक के द्वारा पथिक से कहा ॥ १४७ ॥

हे पथिक ! काले बादलों से दसों दिशाओं में आकाश ढका हुआ है। आकाश में घना छाया हुआ काला बादल गरज रहा है। आकाश में बिजली तड़तड़ शब्द कर रही है। मेंढकों के कर्कश टर्र टर्र शब्दों को कोई भी सहने में असमर्थ है। घने बादलों की निरंतर वर्षा को हे पथिक ! किस प्रकार सहूँ ? तथा आम्रवृक्ष के शिखर पर बैठी हुई कोकिल सुस्वर स्वर बोल रही है ॥ १४८ ॥

हे पथिक ! मैंने ग्रीष्म ऋतु तो किसी प्रकार बिता दिया। वर्षा काल में मेघों के घिरे रहने पर भी मेरे हृदय में विरहाग्नि और भी तप रही है यही बहुत आश्चर्य है ॥ १४९ ॥

जलबिंदु से उत्पन्न गुण (धागा) युक्त मुक्ताहार क्या लज्जित नहीं होते ? क्योंकि हे पथिक ! मेरे दोनों स्तन स्थूल अश्रु बिंदुओं से तप हो रहे हैं, पर लज्जित नहीं होते, क्यों ये स्तब्ध हो गए हैं। स्तब्ध व्यक्ति के वश में भी सज्जनों को दुःख और लज्जा नहीं होती ॥ १५ ॥

यह दोधक पढ़कर वह विरहिणी व्याकुल हो गई। इस प्रकार मोह मग्न होकर चिरप्रवासी प्रियतम को मैंने स्वप्न में देखा। वचन कह कर पथिक से आग्रहपूर्वक हाथ जोड़कर कहा कि हे पथिक ! इस प्रकार प्रियतम से कहना ॥ १५१ ॥

हे प्रियतम ! क्या उत्तम कुल में उत्पन्न व्यक्ति के लिए यह उचित है कि तड़तड़ शब्द करती हुई बिजली से युक्त, काले मेघों से छाये इस विषम समय में प्रियतमा को छोड़कर चल गए हैं। यह उचित नहीं है ॥ १५२ ॥

हे प्रिय ! नई मेघमाला से संपन्न, इंद्रधनुष से रंजित दिशाओं से युक्त घने बादलों में छिपे चंद्रमा के कारण यह वर्षा ऋतु दुःसह हो रही है ॥ १५३ ॥

अनुराग के कारण कंठ के रुँध जाने से स्वप्न में जागकर जब मैं देखती हूँ कि कहाँ मैं और कहाँ मेरे प्रिय ? यह जानकर भी मैं मृत्यु को नहीं प्राप्त हुई तो मानती हूँ कि मैं पत्थर की बनी हूँ। यदि जीव इस शरीर से नहीं निकल पाया तो मैं मानती हूँ कि यह पाप से ग्रस्त है। मेरा हृदय इसमें

भीषण कष्ट में भी नहीं फटा तो मैं मानती हूँ कि वज्र से रचित है ॥ १५४ ॥

धीमे शब्द में मड्डूक के समान करुण स्वर करती हुई रात्रि के पिछले पहर में यह दोधक मैंने पढा ॥ १५५ ॥

हे यामिनि ! जो तुम्हें कहना है वह तीनों लोक में भी नहीं समा सकता। दुःख में तुम चौगुनी लबी हो गई। सुख में तो चरण भर में ही बीत जाती हो ॥ १५६ ॥

वर्षा-वर्णन समाप्त

(शरद् वर्णन)

इस प्रकार विलाप करती हुई अनुराग से गीत गाती हुई, प्राकृत पढती हुई रमणी ने वर्षाऋतु को किसी प्रकार बिताया। जिस ऋतु में रात्रि अत्यत रमणीक होती है वह रात्रि मेरे लिये करपत्रक (आरे) के समान कष्टदायक हो रही है ॥ १५७ ॥

इस प्रकार प्रिय के आगमन की आशा में जीवित रहती हुई प्रातः शय्या त्याग कर विरह को दूर करने वाले प्रिय को स्मरण कर जागते हुए रात बिताई ॥ १५८ ॥

प्रियतम दक्षिण दिशा में गए हैं अतः दक्षिण मार्ग को भक्तिपूर्वक देखते हुए उस विरहिणी ने अगस्त्य ऋषि को शीघ्र देख लिया। इससे विदित हुआ कि वर्षा की समाप्ति है, पर परदेश में स्थित मेरे प्रिय अनुरक्त होकर आये नहीं ॥१५९॥

बगुले आकाश को चीरते हुए चले गए। रात्रि में मनोहर तारागण दिखाई देने लगे। सर्प पाताल में निवास करने चले गए। चद्र की ज्योत्स्ना (चाँदनी) निर्मल हो गई ॥१६०॥

तालाबों में कमलों से जल सुशोभित है। नदियों में लहरें शोभा पा रही हैं। नए तडागों की जो शोभा ग्रीष्म ने हर लिया था वह शरद् ऋतु में और भी विकसित हो उठी ॥१६१॥

कमलकद से उत्कंठित होकर तथा उनके रस को पीकर इस मनोहर

कलकल शब्द कर रहे हैं। कमलों से भुवन भर गया है। जलप्रवाह अब अपने ही स्थान में प्रवाहित हो रहा है अर्थात् जल अपनी सीमा में स्वस्थान में ही बँध कर गिर रहा है ॥१६२॥

धुले हुए स्वच्छ शंख के समान कास (घास विशेष) के श्वेत फूलों से तालाबों के किनारे शोभा दे रहे हैं। निर्मल जल वाले तालाबों के किनारे पक्षियों की पंक्ति बैठी हुई शोभा दे रही है ॥१६३॥

शरद् ऋतु में जल निर्मल हो गया है अतः उसमें प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जल में मिट्टी का अंश नीचे बैठ गया है। विरह के कारण क्रौंच पक्षी के शब्द मुझसे सहे नहीं जाते। हंसिनी के आने जाने से मैं मर रही हूँ ॥१६४॥

सारस सरस शब्द कर रहे हैं। तब मैंने कहा—हे सारसि ! जल क्षीण हो जाने पर तथा पुगुफ्रों के प्रकाशित होने पर क्यों मेरे पुराने दुःख को स्मरण करा रही हो ॥१६५॥

हे सारसि ! निष्ठुर करुण शब्द को मन में ही रखो। विरहिणी स्त्री तुम्हारे शब्दों को सुन और भी दुःखी हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक क्षण करुण पुकार कर रही हूँ परंतु कोई भी धैर्य नहीं बँधाता ॥१६६॥

जिन स्त्रियों के समीप प्रियतम घर में विराजमान हैं वे अनेक प्रकार के अलंकारों से विभूषित होकर गलियों में रास रचाती हुई घूम रही हैं ॥१६७॥

गौओं के बाँधने के स्थान में (गोष्ठ में), घुड़सालों में स्त्रियाँ ललाट पर सुंदर तिलक लगाकर, कुंकुम चंदन से शरीर को रचा कर, क्रीड़ा पात्र को हाथ में लेकर सुमधुर गीत गाती हुई गुरुभक्ति सहित धूप देती हैं। उस क्रीड़ापात्र को देख कर मैं उद्विग्न हो गई हूँ क्योंकि मेरी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई ॥१६८–१६९॥

इस कारण से दिशाएँ अधिक विचित्र दिखाई दे रही हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है मानों आग में झोंक दी गई हूँ। मन में विरह की ज्वालाएँ प्रज्वलित हो रही हैं। भ्रमर पंक्ति ने यह 'नंदिनी' गाथा पढ़ी ॥१७०॥

कहीं रसाद के कमल दंड को खाने से मनोहर गले वाले हंस और चकवे

जल में मधुर शब्द बोल रहे हैं। चमत्कृत करने वाली चाल से चल रहे हैं। मानो शरद् ऋतु की शोभा नूपुर के मधुर क्षीण स्वर के समान है ॥१७१॥

आश्विन मास में पैर के फिसलने के कारण भयकर बनी हुई महानदियों में सारस शब्द करके ऐसे दुःख पैदा करते हैं मानों इम पक्षियों के रुदन के बहाने वे नदियाँ ही रो रही हैं ॥१७२॥

शरद् ऋतु में चद्रमा की ज्योत्स्ना से रात्रि में श्वेत भवन और ऊँचे परकोटे अत्यत मनोहर लग रहे हैं। वैसे ही प्रियतम के बिना शय्या पर करवटें बदल बदल कर यम के प्रहार के समान कष्ट पा रही हूँ ॥१७३॥

(कातिक वर्णन) जिन कामिनियों के प्रियतम सग में विराजमान हैं वे तडागों के किनारे घूमती हुई उसके किनारे की शोभा बढा रही हैं। बालक तथा युवक खेलते हुए दिखाई दे रहे हैं। प्रत्येक गृह में पटह नामक वाद्य बज रहे हैं ॥१७४॥

बच्चे चक्राकार (गोलाकार) खडे होकर बाजे बजाते हुए गलियों में घूम रहे हैं। तरुणियों के साथ मे शय्या शोभा दे रही है। प्रत्येक घर में लिपी पुती रेखा शोभा दे रही है ॥१७५॥

रात्रि में दीपमालिका में दीप दान किये जा रहे हैं। नए चद्रमा की रेखा के समान दीपक हाथ में गृहीत हैं। अच्छे प्रकाश वाले दीपकों से घर सुशोभित हैं। उत्तम अजन की शलाकाएँ आँखों में लगाते हैं ॥१७६॥

अनेक प्रकार के काले वस्त्रों तथा अनेक प्रकार की घनी, टेढी पत्र वल्लरियों से सुसज्जित स्त्रियाँ शोभा दे रही हैं। कस्तूरी से वक्षस्थल तथा दोनो उठे चक्राकार स्तन रचित हैं ॥१७७॥

सारे अगों में चदन युक्त कुकुम पुता हुआ है, मानों कामदेव ने बाणों के द्वारा विष-प्रेक्षप किया है। सिर पर फूल सजाये गए हैं, मानो काले बादलों में चद्रमा अवस्थित है ॥१७८॥

कर्पूर से पुते मुख पर नागवल्ली दल इस प्रकार शोभा दे रहे हैं मानो प्रातःकाल सूर्योदय हुआ हो। रहस के व्याज से प्रसाधन (शृगार) किये गए हैं। शय्या पर किंकिणी (तगडी, करधनी, मेखला) के मधुर शब्द सुनाई पड़ते हैं ॥१७९॥

इस प्रकार कुछ भाग्यशालिनियाँ क्रीड़ा कर रही हैं। मैं व्याकुल होकर किसी प्रकार रात्रि बिता रही हूँ। घर घर में गीत गाये जा रहे हैं। मेरे ऊपर सारे कष्ट एक ही साथ आ पड़े हैं ॥१८॥

हे पथिक ! फिर भी बहुत दिनों से परदेश गए प्रिय को अपने मन में स्मरण कर पहक के समान ही सर्वोत्तम कुआ काम कर आँखों से अधिक मात्रा में आँसू बहाते हुए मैंने 'अडिल्ला' और 'वस्तुक' पढ़ा ॥१८१॥

रात्रि में आधे पहर भी मुझे नींद नहीं आ पाती। प्रिय की कथा में तल्लीन रहने पर भी आनंद नहीं मिलता। आधे क्षण भी मेरा मन रति की ओर नहीं जाता, काम से तपी हुई, बिंधी हुई मैं नहीं तड़प रही हूँ ? अपितु तड़प रही हूँ ॥१८२॥

हे पथिक ! क्या उस देश में चंद्र की ज्योत्स्ना (चाँदनी) रात्रि में निर्मल रूप में प्रस्फुरित नहीं होती ? उस देश में कमलों के फलों का आस्वादन करने वाले राजहंस कलरव नहीं करते ? अथवा सुललित भाषा में प्राकृत कोई भी नहीं बोलता ? क्या कोयल पंचम स्वर में कूकती नहीं ? प्रातःकाल विकसित पुष्पों में से परिमल नहीं बिखरता ? अथवा मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि हे पथिक ! मेरे प्रियतम नीरस हो गए हैं क्योंकि वे शरद् काल में भी घर का स्मरण नहीं कर रहे हैं ॥१८३॥

(हेमंत वर्णन)

सुगंध से परिपूर्ण शरद् ऋतु इस प्रकार बीत गई किंतु हे पथिक ! अति दुष्ट पति ने घर का स्मरण नहीं किया। इस प्रकार करुणा की दशा में पड़ी हुई काम के बाणों से बिंधकर मैंने बक के समान धवल (उज्ज्वल) घरों को देखा ॥१८४॥

हे पथिक ! विरहाग्नि से तड़ तड़ शब्द करते हुए मेरे सारे अंग जल गए। कामदेव ने अपने धनुष से कड़कड़ाते हुए बाण छोड़े। इस प्रकार शय्या में दुःख से पीड़ित मुझ विरहिणी के पास वह मनोहर पर कठोर प्रियतम, जो दूसरे स्थान में घूमता रहा, नहीं आया ॥१८५॥

प्रिय के लिए उत्कंठित होकर वह विरहिणी चारों दिशाओं में देख रही है। तभी शीतलता युक्त हेमंत कुशलतापूर्वक आ पहुँचा। पृथ्वी पर शीतल

चन्दन का अब आदर नहीं रहा। सारे कमलदल शय्या से हटा दिए गए ॥१८६॥

कामिनियाँ हेमंतागम के कारण कर्पूर और चंदन नहीं पीस रही हैं। अधर (नीचे का ओष्ठ) और कपोल के अलंकरण में मदन का समिश्रण दिखाई देने लगा है। चंदन रहित कुंकुम का लेप शरीर में करने लगी हैं। कस्तूरी युक्त चंपा का तेल सेवन करने लगी हैं ॥१८७॥

जातीफल के साथ कर्पूर का लेप अब नहीं होता। पूगीफल (सुपारी) केतकी के पुष्पों से सुवासित नहीं किए जाते। कामिनियाँ भवन के ऊपरी भाग को छोड़कर रात्रि में ढके हुए स्थानों में पलँग बिछा कर सोने लगी हैं ॥१८८॥

अग्नि में अगर (सुगंधित काष्ठ) जलाने लगे हैं। शरीर में कुंकुम का प्रलेप सुखद लगने लगा है। गाढालिंगन आनंददायक हो गया है। अन्य ऋतुओं के दिनों की तुलना में हेमंतकालिक दिन बहुत छोटे हो गए हैं, किंतु मुझ एकाकिनी के लिये तो यह समय ब्रह्मयुग का समय हो गया है, ऐसा प्रतीत होता है ॥१८९॥

हे पथिक ! घर में एकाकिनी, नींद न आने के कारण विलाप करती हुई, मैंने रात्रि में एक लंबा 'वस्तुक' पढ़ा ॥१९०॥

हे निरक्षर ! लंबे ऊष्ण उच्छ्वासों के कारण रात्रि भी लंबी हो गई है। हे तस्कर ! निर्दय !! तुम्हें सदैव स्मरण करने के कारण निद्रा नहीं आती। हे धृष्ट ! अंगों में तुम्हारा करस्पर्श न पा सकने के कारण मेरे अंग हेमंत के प्रभाव से हेम के समान सूख गए हैं। हे कांत ! इस प्रकार हेमंत में विलाप करती हुई मुझको यदि अच्छी तरह से धीरज नहीं देते हो, तो हे मूर्ख ! खल !! पापिन् !!! मुझे मरी हुई जान कर आकर क्या करोगे ? ॥१९१॥

(शिशिर वर्णन)

हे पथिक ! इस प्रकार मैंने कष्ट सहकर हेमंत ऋतु को बिताया। तब तक शिशिर ऋतु का आगमन हुआ। धूर्तनाथ मेरे प्रियतम दूर ही रहे। प्रखर कठोर पवन से आहत होकर आकाश में 'झखड' नामक झंझावात (तेज हवा) उठा। उससे प्रभावित होकर सारे वृक्षों के पत्ते नीचे गिर गए ॥ १९२ ॥

छाया, पुष्प, फलरहित वृक्षों पर से पक्षिगण भी इधर उधर चले गए।

कलकल शब्द कर रहे हैं। कमलों से भुवन भर गया है। जलप्रवाह अब अपने ही स्थान में प्रवाहित हो रहा है अर्थात् जल अपनी सीमा में स्वस्थान में ही बँध कर गिर रहा है ॥१६२॥

फूले हुए स्वच्छ हंस के समान काश (घास विशेष) के श्वेत फूलों से तालाबों के किनारे शोभा दे रहे हैं। निर्मल जल वाले तालाबों के किनारे पक्षियों की पंक्ति बैठी हुई शोभा दे रही है ॥१६३॥

शरद् ऋतु में जल निर्मल हो गया है अतः उसमें प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जल में मिट्टी का अंश नीचे बैठ गया है। विरह के कारण क्रौंच पक्षी के शब्द मुझसे सहे नहीं जाते। हंसिनी के आने जाने से मैं मर रही हूँ ॥१६४॥

सारस सरस शब्द कर रहे हैं। तब मैंने कहा—हे सारसि! जल क्षीण हो जाने पर तथा कुमुदों के प्रफुल्लित होने पर क्यों मेरे पुराने दुःख को स्मरण करा रही हो ॥१६५॥

हे सारसि! निष्ठुर करुण शब्द को मन में ही रखो। विरहिणी भी तुम्हारे शब्दों को सुन और भी दुःखी हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक के समक्ष करुण पुकार कर रही हूँ परंतु कोई भी धैर्य नहीं बँधाता ॥१६६॥

जिन स्त्रियों के समीप प्रियतम घर में विराजमान हैं वे अनेक प्रकार के वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर गलियों में रास रचाती हुई घूम रही हैं ॥१६७॥

गौओं के बाँधने के स्थान में (गोष्ठ में), युवतियों में स्त्रियाँ ललाट पर सुंदर तिलक लगाकर, कुंकुम चंदन से शरीर को रचा कर, क्रीड़ा पात्र का हाथ में लेकर सुमधुर गीत गाती हुई गुरुभक्ति सहित धूप देती हैं। उस क्रीड़ापात्र को देख कर मैं उद्विग्न हो गई हूँ क्योंकि मेरी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई ॥१६८–१६९॥

इस कारण से दिशाएँ अधिक विचित्र दिखाई दे रही हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है मानों आग में झोंक दी गई हूँ। मन में विरह की ज्वालाएँ प्रज्वलित हो रही हैं। भ्रमर पंक्ति ने यह 'नंदिनी' गाथा पढ़ी ॥१७० ॥

कसैले स्वाद के कमल दंड को खाने से मनोहर गले वाले हंस और बगुले

जल में मधुर शब्द बोल रहे हैं। चमत्कृत करने वाली चाल से चल रहे हैं। मानो शरद् ऋतु की शोभा नूपुर के मधुर वीणा स्वर के समान है ॥१७१॥

आश्विन मास में पैर के फिसलने के कारण भयकर बनी हुई महानदियों में सारस शब्द करके ऐसे दुःख पैदा करते हैं मानों इन पक्षियों के रुदन के बहाने वे नदियाँ ही रो रही हैं ॥१७२॥

शरद् ऋतु में चद्रमा की ज्योत्स्ना से रात्रि में श्वेत भवन और ऊँचे परकोटे अत्यंत मनोहर लग रहे हैं। वैसे ही प्रियतम के बिना शय्या पर करवटें बदल बदल कर यम के प्रहार के समान कष्ट पा रही हूँ ॥१७३॥

(कातिक वर्णन) जिन कामिनियों के प्रियतम सग में विराजमान हैं वे तटागों के किनारे घूमती हुई उसके किनारे की शोभा बढा रही हैं। बालक तथा युवक खेलते हुए दिखाई दे रहे हैं। प्रत्येक गृह में पटह नामक वाद्य बज रहे हैं ॥१७४॥

बच्चे चक्राकार (गोलाकार) खडे होकर बाजे बजाते हुए गलियों मे घूम रहे हैं। तरुणियों के साथ मे शय्या शोभा दे रही है। प्रत्येक घर मे लिपी पुती रेखा शोभा दे रही है ॥१७५॥

रात्रि में दीपमालिका में दीप दान किये जा रहे हैं। नए चद्रमा की रेखा के समान दीपक हाथ में गृहीत हैं। अच्छे प्रकाश वाले दीपकों से घर सुशोभित हैं। उत्तम अजन की शलाकाएँ आँखों में लगाते हैं ॥१७६॥

अनेक प्रकार के काले वस्त्रों तथा अनेक प्रकार की घनी, टेढी पत्र वल्लरियों से सुसज्जित स्त्रियाँ शोभा दे रही हैं। कस्तूरी से वक्षस्थल तथा दोनों उठे चक्राकार स्तन रचित हैं ॥१७७॥

सारे अगों में चदन युक्त कुकुम पुता हुआ है, मानों कामदेव ने बाणों के द्वारा विष-प्रक्षेप किया है। सिर पर फूल सजाये गए हैं, मानो काले बादलों में चद्रमा अवस्थित है ॥१७८॥

कर्पूर से पुते मुख पर नागवल्ली दल इस प्रकार शोभा दे रहे हैं मानो प्रातःकाल सूर्योदय हुआ हो। रहस के व्याज से प्रसाधन (शृगार) किये गए हैं। शय्या पर किंकिणी (तगड़ी, करधनी, मेखला) के मधुर शब्द सुनाई पड़ते हैं ॥१७९॥

इस प्रकार कुछ भाग्यशालिनियाँ क्रीड़ा कर रही हैं। मैं व्याकुल होकर किसी प्रकार रात्रि बिता रही हूँ। घर घर में गीत गाये जा रहे हैं। मेरे ऊपर सार कष्ट एक ही साथ आ गये हैं ॥१८०॥

हे पथिक ! फिर भी बहुत दिनों से परदेश गए प्रिय को अपने मन में स्मरण कर पहले के समान ही सूर्योदय हुआ जान कर आँखों से अधिक मात्रा में आँसू बहाते हुए मैंने 'अडिल्ला' और 'वत्थुक' पढ़ा ॥१८१॥

रात्रि में आधे पहर भी मुझे नींद नहीं आ पाती। प्रिय की कथा में तल्लीन रहने पर भी आनंद नहीं मिलता। आधे क्षण भी मेरा मन रति की ओर नहीं जाता, काम से तपी हुई, सिंची हुई मैं नहीं तड़प रही हूँ ? अपितु तड़प रही हूँ ॥१८२॥

हे पथिक ! क्या उस देश में चंद्र की ज्योत्स्ना (चाँदनी) रात्रि में निर्मल रूप में प्रस्फुटित नहीं होती ? उस देश में कमलों के फलों का आस्वादन करने वाले राजहंस कलरव नहीं करते ? अथवा सुललित भाषा में प्राकृत कोई भी नहीं बोलता ? क्या कोयल पंचम स्वर में कूकती नहीं ? प्रातःकाल विकसित पुष्पों में से परिमल नहीं बिखरते ? अथवा मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि हे पथिक ! मेरे प्रियतम नीरस हो गए हैं क्योंकि वे शरद् काल में भी घर का स्मरण नहीं कर रहे हैं ॥१८३॥

(हेमंत वर्णन)

सुगंध से परिपूर्ण शरद् ऋतु इस प्रकार बीत गई किंतु हे पथिक ! अति मूढ़ पति ने घर का स्मरण नहीं किया। इस प्रकार करुणा की दशा में पड़ी हुई काम के बाणों से बिधकर मैंने बक के समान धवल (उजले) घरों को देखा ॥१८४॥

हे पथिक ! विरहाग्नि से तड़ तड़ शब्द करते हुए मेरे सारे अंग जल गए। कामदेव ने अपने धनुष से कड़कड़ाते हुए बाण छोड़े। इस प्रकार शय्या में दुःख से पीड़ित मुझ विरहिणी के पास वह मनोहर पर कठोर प्रियतम, जो दूसरे ग्राम में घूमता रहा नहीं आया ॥१८५॥

प्रिय के लिये उत्कंठित होकर वह विरहिणी चारों दिशाओं में देख रही है। तभी शीतलता युक्त हेमंत कुशलतापूर्वक आ पहुँचा। पृथ्वी पर शीतल

जन का अब आदर नहीं रहा। सारे कमलदल शय्या से हटा दिए गए ॥१८६॥

कामिनियाँ हेमतागम के कारण कर्पूर और चंदन नहीं पीस रही हैं। अधर (नीचे का ओष्ठ) और कपोल के अलकरण में मदन का समिश्रण दिखाई देने लगा है। चदन रहित कुंकुम का लेप शरीर में करने लगी हैं। कस्तूरी युक्त चपा का तेल सेवन करने लगी हैं ॥१८७॥

जातीफल के साथ कर्पूर का लेप अब नहीं होता। पूगीफल (सुपारी) केतकी के पुष्पों से सुवासित नहीं किए जाते। कामिनियाँ भवन के ऊपरी भाग को छोड़कर रात्रि में ढके हुए स्थानों में पलँग बिछा कर सोने लगी हैं ॥१८८॥

अग्नि में अगर (सुगधित काष्ठ) जलाने लगे हैं। शरीर में कुकुम का प्रलेप सुखद लगने लगा है। गाढालिगन आनददायक हो गया है। अन्य ऋतुओं के दिनों की तुलना में हेमतकालिक दिन बहुत छोटे हो गए हैं, किंतु मुझ एकाकिनी के लिये तो यह समय ब्रह्मयुग का समय हो गया है, ऐसा प्रतीत होता है ॥१८६॥

हे पथिक ! घर में एकाकिनी, नींद न आने के कारण विलाप करती हुई, मैंने रात्रि में एक लबा 'वस्तुक' पढा ॥१६०॥

हे निरच्चर ! लबे ऊष्ण उच्छ्वासों के कारण रात्रि भी लबी हो गई है। हे तस्कर ! निर्दय !! तुम्हें सदैव स्मरण करने के कारण निद्रा नहीं आती। हे धृष्ट ! अगों में तुम्हारा करस्पर्श न पा सकने के कारण मेरे अंग हेमत के प्रभाव से हेम के समान सूख गए हैं। हे कात ! इस प्रकार हेमत में विलाप करती हुई मुझको यदि अच्छी तरह से धीरज नहीं देते हो, तो हे मूर्ख ! खल !! पापिन् !!! मुझे मरी हुई जान कर आकर क्या करोगे ? ॥१६१॥

(शिशिर वर्णन)

हे पथिक ! इस प्रकार मैंने कष्ट सहकर हेमत ऋतु को बिताया। तब तक शिशिर ऋतु का आगमन हुआ। धूर्तनाथ मेरे प्रियतम दूर ही रहे। प्रखर कठोर पवन से आहत होकर आकाश में 'झखड' नामक झझावात (तेज हवा) उठा। उससे प्रभावित होकर सारे वृक्षों के पत्ते नीचे गिर गए ॥ १६२ ॥

छाया, पुष्प, फलरहित वृक्षों पर से पक्षिगण भी इधर उधर चले गए।

दिशायें कुहरे तथा अन्धकार से व्याप्त रहने लगी हैं। शीत के भय से पथिक भी यात्रा स्थगित कर दिए उद्यानों में पुष्परहित होकर भाड़ भंखाड़ के समान दिखाई दे रहे हैं ॥ १६३ ॥

क्रीड़ागृहों में नायिकायें अपने प्रियतमों को छोड़कर शीत के भय से अग्नि का आश्रय ले रही हैं। भवन के भीतर आच्छादित स्थानों में रमणियाँ क्रीड़ा का आनंद ले रही हैं। कोई भी उद्यान के वृक्षों के नीचे सोती नहीं ॥ १६४ ॥

रसिक पथिक गंधयुक्त अनेक प्रकार के गन्ने का रस पीते हैं। कुंद ऋतुओं में सुंदर शय्या में कोई ऊँचे स्तनवाली स्त्रियाँ अपने बिस्तरे पर लेटती हैं ॥ १६५ ॥

कुछ स्त्रियाँ वसंत ऋतु में माघ शुक्ल पंचमी के दिन दान देती हैं। अपने प्रियतम के साथ केलि के लिये शय्या पर जाती हैं। इस समय प्रेम से अभिभूत केवल अकेली मैंने अपने प्रिय के पास मनोदूत को भेजा है ॥ १६६ ॥

हे पथिक! यह मैं जानती हूँ कि यह मनोदूत प्रिय को लाकर मुझे संतोष देगा। मैं यह नहीं जानती कि यह खल, धूर्त मनोदूत मुझको भी छोड़ देगा। प्रिय नहीं आए, इस दूत को प्रदत्त कर वहीं स्थित हैं। पर यह सत्य है कि मेरा हृदय दुःख के भार से अत्यधिक भरा हुआ है ॥ १६७ ॥

प्रिय समागम की इच्छा करती हुई मैंने भूख भी गँवा दिया। हे पथिक! गुना का बदतुक मैंने रोते हुए पढ़ा ॥ १६८ ॥

अपने घने दुःख को जानकर मैंने अपने मन को प्रिय के समीप भेज दिया। प्रिय को तो मन लाया नहीं अपितु वह भी वहीं रम गया। इस प्रकार सूने हृदय के समान भ्रमण करती हुई मैंने रात बिताकर सवेरा किया। पश्चिमशिन पाप किया। अतः अवश्य मन में पश्चात्ताप हुआ। मैंने हृदय दे दिया पर प्रिय को न प्राप्त कर सकी। वह उपमा कहाँ किसके समान रहे? इस पर कहा—गदमी शृंगार के लिए गए देखो दामों कानों से हाथ पा लेगी ॥ १६६ ॥

शिशिर वर्णन समाप्त

(वसंत वर्णन)

शिशिर व्यतीत हुआ, वसंत का आगमन हुआ। विरहियों की मदनाग्नि को प्रज्ज्वलित कर मलयगिरि के चदन की सुगंध से युक्त पवन तेजी से बहने लगा ॥ २०० ॥

केतकी सुदर ढंग से विकसित हो गई। पाठांतर—हे पथिक ! जो वसत लोगों के शरीर को सकुचित करता है वही प्रगट रूप में सुख देने लगा। दसो दिशाएँ रमणीक हो गई। नये नये पुष्प और पत्ते अनेक वेश में दिखाई देने लगे। रति विशेष से नूतन तड़ाग अत्यंत शोभायुक्त हो गए ॥ २०१ ॥

सखियों के साथ मिलकर स्त्रियाँ नित्य गीत गा रही हैं और अनेक प्रकार के शृगारिक रगों जैसे सभी रंग के पुष्पों और वस्त्रों से तथा घने मनोहर चूर्णों से अपने शरीर को चित्रित करती हैं ॥ २०२ ॥

सुगधित पदार्थों से चारो ओर 'मँह' 'मँह' हो रहा है। प्रतीत होता है कि सूर्य ने शिशिर ऋतु का शोक त्याग दिया है। उसे देखकर सखियों के मध्य में मैंने 'लफोढक' पढा ॥ २०३ ॥

अति दुःसह ग्रीष्म ऋतु बीत गई। वर्षा भी विकलता के साथ बिता दी। शरद् ऋतु अत्यत कष्ट से व्यतीत हुई। हेमत आया और गया। शिशिर, जिसका स्पर्श भी अत्यत दुःखदायी था, वह भी प्रिय का स्मरण करते किसी प्रकार बिता दिया ॥२०४॥

तरुवर अपने नये किसलय रूपी हाथों के द्वारा वसत लक्ष्मी का स्वागत कर रहे हैं। प्रत्येक वन में केतकी की कलिका के रस और गध के लोभी भौंरे गुंजार कर रहे हैं ॥२०५॥

केतकी के परस्पर मिले हुए घने काँटों से भौंरे बिंध रहे हैं, तथापि मधु का रसास्वादन कर रहे हैं, तीक्ष्ण कटकाग्रों से कष्ट अनुभव नहीं करते। रसिक जन रस के लोभ में शरीर दे डालते हैं, प्रेम के मोह में पाप नहीं गिनते ॥२०६॥

इस प्रकार वसत ऋतु को देखकर मन में आश्चर्य हुआ। हे पथिक ! सुनो, रमणीक रूप कह रही हूँ ॥२०७॥

प्रज्ज्वलत विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला में कामदेव भी गरजता हुआ व्याकुल

इस प्रकार कुछ मानवशालिनियाँ क्रीड़ा कर रही हैं। मैं व्याकुल होकर किसी प्रकार रात्रि बिता रही हूँ। घर घर में गीत गाये जा रहे हैं। मेरे ऊपर सारे कष्ट एक ही साथ आ पड़े हैं ॥१८ ॥

हे पथिक ! फिर भी बहुत दिनों से परदेश गए प्रिय को अपने मन में स्मरण कर पड़क के समान ही सूर्योदय हुआ जान कर आँखों से अधिक मात्रा में आँसू बहाते हुए मैंने 'अविरला' और 'वड़ढक' पढ़ा ॥१८१॥

रात्रि में आधे पहर भी मुझे नींद नहीं आ पाती। प्रिय की कथा में तल्लीन रहने पर भी आनंद नहीं मिलता। आधे क्षण भी मेरा मन रति की ओर नहीं जाता, काम से तपी हुई, छिपी हुई मैं नहीं तड़प रही हूँ ? अपितु तड़प रही हूँ ॥१८२॥

हे पथिक ! क्या उस देश में चंद्र की ज्योत्स्ना (चाँदनी) रात्रि में निर्मल रूप में प्रस्फुटित नहीं होती ? उस देश में कमलों के फलों का आस्वादन करने वाले राजहंस कलरव नहीं करते ? अथवा मुकलित भाषा में प्राकृत कोई भी नहीं बोलता ? क्या कोमल पंचम स्वर में कूकती नहीं ? प्रातःकाल विकसित पुष्पों में से परिमल नहीं बिखरते ? अथवा मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि हे पथिक ! मेरे प्रियतम नीरस हो गए हैं क्योंकि वे शरद् काल में भी घर का स्मरण नहीं कर रहे हैं ॥१८३॥

(हेमंत वर्णन)

सुगंध से परिपूर्ण शरद् ऋतु इस प्रकार बीत गई किंतु हे पथिक ! अति धृष्ट पति ने घर का स्मरण नहीं किया। इस प्रकार करुणा की दशा में पड़ी हुई, काम के बाणों से बिधकर मैंने बक के समान धवल (उजले) घरों को देखा ॥१८४॥

हे पथिक ! विरहाग्नि से तड़ तड़ शब्द करते हुए मेरे सारे अंग जल गए। कामदेव ने अपनी धनुष से कड़कड़ाते हुए बाण छोड़े। इस प्रकार शय्या में दुःख से पीड़ित मुझ विरहिणी के पास वह मनोहर पर कठोर प्रियतम, जा दूसरे स्थान में घूमता रहा, नहीं आया ॥१८५॥

प्रिय के लिये उत्कंठित होकर वह विरहिणी भारी दिशाओं में देख रही है। तभी शीतलता युक्त हेमंत कुशलतापूर्वक आ पहुँचा। पृथ्वी पर शीतल

चन का अब आदर नहीं रहा। सारे कमलदल शय्या से हटा दिए गए ॥१८६॥

कामिनियाँ हेमतागम के कारण कर्पूर और चंदन नहीं पीस रही हैं। अधर (नीचे का ओष्ठ) और कपोल के अलकरण में मदन का समिश्रण दिखाई देने लगा है। चदन रहित कुकुम का लेप शरीर में करने लगी हैं। कस्तूरी युक्त चपा का तेल सेवन करने लगी हैं ॥१८७॥

जातीफल के साथ कर्पूर का लेप अब नहीं होता। पूगीफल (सुपारी) केतकी के पुष्पों से सुवासित नहीं किए जाते। कामिनियाँ भवन के ऊपरी भाग को छोड़कर रात्रि में ढके हुए स्थानों में पलँग बिछा कर सोने लगी हैं ॥१८८॥

अग्नि में अगर (सुगधित काष्ठ) जलाने लगे हैं। शरीर में कुकुम का प्रलेप सुखद लगने लगा है। गाढालिंगन आनददायक हो गया है। अन्य ऋतुओं के दिनों की तुलना में हेमतकालिक दिन बहुत छोटे हो गए हैं, किंतु मुझ एकाकिनी के लिये तो यह समय त्रेतायुग का समय हो गया है, ऐसा प्रतीत होता है ॥१८९॥

हे पथिक ! घर में एकाकिनी, नींद न आने के कारण विलाप करती हुई, मैंने रात्रि में एक लबा 'वस्तुक' पढा ॥१९०॥

हे निरक्षर ! लबे ऊष्ण उच्छ्वासों के कारण रात्रि भी लबी हो गई है। हे तस्कर ! निर्दय !! तुम्हें सदैव स्मरण करने के कारण निद्रा नहीं आती। हे धृष्ट ! अगों में तुम्हारा करस्पर्श न पा सकने के कारण मेरे अंग हेमत के प्रभाव से हेम के समान सूख गए हैं। हे कात ! इस प्रकार हेमत में विलाप करती हुई मुझको यदि अच्छी तरह से धीरज नहीं देते हो, तो हे मूर्ख ! खल !! पापिन् !!! मुझे मरी हुई जान कर आकर क्या करोगे ? ॥१९१॥

(शिशिर वर्णन)

हे पथिक ! इस प्रकार मैंने कष्ट सहकर हेमत ऋतु को बिताया। तब तक शिशिर ऋतु का आगमन हुआ। धूर्तनाथ मेरे प्रियतम दूर ही रहे। प्रखर कठोर पवन से आहत होकर आकाश में 'झखड' नामक झझावात (तेज हवा) उठा। उससे प्रभावित होकर सारे वृक्षों के पत्ते नीचे गिर गए ॥ १९२ ॥

छाया, पुष्प, फलरहित वृक्षों पर से पक्षिगण भी इधर उधर चले गए।

दिशायें कुहरे तथा अन्धकार से व्याप्त रहने लगी हैं। शीत के भय से पथिक भी यात्रा स्थगित कर दिए उद्यानों में पुष्परहित होकर मृत्यु संसार के समान दिखाई दे रहे हैं॥ १६३॥

क्रीड़ागृहों में नायिकाएँ अपने प्रियतमों को छोड़कर शीत के भय से अग्नि का आश्रय ले रही हैं। भवन के भीतर आच्छादित स्थानों में रम स्त्रियाँ क्रीड़ा का आनन्द ले रही हैं। कोई भी उद्यान के वृक्षों के नीचे सोती नहीं॥ १६४॥

रसिक पथिक गंधयुक्त अनेक प्रकार के गन्ने का रस पीते हैं। कुछ चतुर्थों में सुंदर वय में कोई ऊँचे स्तनवाली स्त्रियाँ अपने बिस्तरे पर लेटती हैं॥ १६५॥

कुछ स्त्रियाँ वसंत ऋतु में माघ शुक्ल पंचमी के दिन दान देती हैं। अपने प्रियतम के साथ केलि के लिये शय्या पर जाती हैं। इस समय प्रेम से अभिभूत केवल अकेली मैंने अपने प्रिय के पास मनोदूत को भेजा है॥ १६६॥

हे पथिक! यह मैं जानती हूँ कि वह मनोदूत प्रिय को लाकर मुझे संतोष देगा। मैं यह नहीं जानती कि वह खल, दुष्ट मनोदूत मुझको भी छोड़ देगा। प्रिय नहीं आए, इस दूत को ग्रहण कर वहीं स्थित है। पर यह सत्य है कि मेरा हृदय दुःख के भार से अत्यधिक भरा हुआ है॥ १६७॥

प्रिय समागम की इच्छा करती हुए मैंने मूल भी गँवा दिया। हे पथिक! सुना था वस्तुक मैंने रोते हुए पढ़ा॥ १६८॥

अपने घने दुःख का जानकर मैंने अपने मन को प्रिय के समीप भेज दिया। प्रिय को तो मन लाया नहीं अपितु वह भी वहीं ही रम गया। इस प्रकार सूने हृदय के समान भ्रमण करती हुई मैंने रात बिताकर सवेरा किया। अनिश्चित कार्य किया। अतः अवश्य मन में पश्चाताप हुआ। मैंने हृदय दे दिया पर प्रिय को न प्राप्त कर सकी। यह उपमा कहो किसके समान हुई? इस पर कहा—गई थी शृंगार के लिए गई, देखो दोनों कानों से हाथ धो बैठी॥ १६९॥

शिशिर वर्णन समाप्त

(वसंत वर्णन)

शिशिर व्यतीत हुआ, वसंत का आगमन हुआ। विरहियों की मदनाग्नि को प्रज्ज्वलित कर मलयगिरि के चदन की सुगध से युक्त पवन तेजी से वहने लगा ॥ २०० ॥

केतकी सुदर ढंग से विकसित हो गई। पाठातर—हे पथिक! जो वसत लोगों के शरीर को सकुचित करता है वही प्रगट रूप में सुख देने लगा। दसो दिशाएँ रमणीक हो गई। नये नये पुष्प और पत्ते अनेक वेश में दिखाई देने लगे। रति विशेष से नूतन तड़ाग अत्यंत शोभायुक्त हो गए॥ २०१ ॥

सखियों के साथ मिलकर स्त्रियाँ नित्य गीत गा रही हैं और अनेक प्रकार के शृगारिक रगों जैसे सभी रंग के पुष्पों और वस्त्रों से तथा घने मनोहर चूर्णों से अपने शरीर को चित्रित करती हैं॥ २०२ ॥

सुगधित पदार्थों से चारो ओर 'मॅह' 'मॅह' हो रहा है। प्रतीत होता है कि सूर्य ने शिशिर ऋतु का शोक त्याग दिया है। उसे देखकर सखियों के मध्य में मैंने 'लकोडक' पढा॥ २०३ ॥

अति दु.सह ग्रीष्म ऋतु बीत गई। वर्षा भी विकलता के साथ बिता दी। शरद् ऋतु अत्यत कष्ट से व्यतीत हुई। हेमत आया और गया। शिशिर, जिसका स्पर्श भी अत्यत दुःखदायी था, वह भी प्रिय का स्मरण करते किसी प्रकार बिता दिया ॥२०४॥

तरुवर अपने नये किसलय रूपी हाथों के द्वारा वसत लक्ष्मी का स्वागत कर रहे हैं। प्रत्येक वन में केतकी की कलिका के रस और गध के लोभी भौंरे गुजार कर रहे हैं ॥२०५॥

केतकी के परस्पर मिले हुए घने काँटों से भौंरे बिंध रहे हैं, तथापि मधु का रसास्वादन कर रहे हैं, तीक्ष्ण कटकाग्रों से कष्ट अनुभव नहीं करते। रसिक जन रस के लोभ में शरीर दे डालते हैं, प्रेम के मोह में पाप नहीं गिनते ॥२०६॥

इस प्रकार वसत ऋतु को देखकर मन में आश्चर्य हुआ। हे पथिक! सुनो, रमणीक रूप कह रही हूँ ॥२०७॥

प्रज्ज्वलत विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला में कामदेव भी गरजता हुआ व्याकुल

हो गया है। दुस्तर, दुःसह वियोग को सहकर भयभीत हो किसी प्रकार मैं जीवित हूँ, पर मुझे यही चिंता है कि मेरे स्नेह से तनिक भी न पीड़ित होकर मेरा प्रिय स्तंभतीर्थ में निर्भय रूप में वाणिज्य कर रहा है ॥२०८॥

पलाश (ढाक) का पुष्प घने काले और लाल रंग का हो गया है। अतः प्रतीत होता है पलाश प्रत्यक्ष रूप में (पल=मांस—अश=अशन अर्थात् मांसभक्षी) राक्षस हो गया है। वर्षाकालिक पवन दुःसह हो गया है। सुखदायक अंजन कष्टकारक हो गया है॥२०९॥

मद मंजरियों के गिरे हुए पराग से पृथ्वी पीली होकर अधिक ताप दे रही है। शीतल पवन पृथ्वी को शीतल करता हुआ बह रहा है पर, शीतलता नहीं मिल रही है, मानों क्या वह ताप बिखेर रहा है ? ॥२१०॥

लोक में जिसका नाम 'अशोक' प्रसिद्ध है, वह मिथ्या है। क्योंकि अशोक आधे क्षण के लिए भी मेरा शोक नहीं हरता। काम पीड़ा से संतप्त मुझको मेरे प्रिय ही अभय दे सकते हैं—न कि सहकार (आम) के डाली पर वृक्ष ॥२११॥

हे पथिक ! छिद्र (अवसर) पाकर विरह और भी भयंकर रूप में बढ़ गया। मयूर तांडव नृत्य कर अपना मर्मभेदी शब्द सुनाने और नाचकर वृक्ष की शाखा पर दिखाई देने लगे। हे पथिक ! जो 'गाथा' मैंने पढ़ी उसे सुनो ॥२१२॥

हे दूत ! नाटकीय मयूरों से प्रसन्न होकर मयूरी मिल रही है जिसे देख कर मेरा कष्ट और भी बढ़ जाता है। अथवा तुम्हारा वर्षा हो जाने पर विरहिणियों की प्रसन्नता देखकर मैं पीड़ित हो रही हूँ। आकाश में फैले हुए नये बादलों से बादलों की भ्रांति कर और भी कष्ट पा रही हूँ ॥२१३॥

इस 'गाथा' को पढ़कर धीरे पुरुष को मन में धारण किए हुए विरहाग्नि की ज्वाला से प्रज्वलित, कामबाण से जर्जरित वह रमणी रोती हुई उठी ॥२१४॥

इस वर्षंत ऋतु में एक एक क्षण यम के कालपाश (बंधन) के समान दुस्सह हो रहा है। सुंदर पुष्पों से दसों दिशायें सुशोभित हैं। आकाश में आम्र मंजरियाँ घने रूप में विकसित हैं। नई नई मंजरी की कोंपलें इस ऋतु में निकली हुई हैं ॥२१५॥

इस समय अनेक प्रकार से अभिनय के साथ गान हो रहे हैं। सुरक्तक वृक्ष का शिखर विकसित होने से अत्यत मनोहर लग रहा है। भौरे सरस मनोहर शब्द गुंजार रहे हैं ॥२१६॥

वसत में तोते आकाश में मडलाकार उड़ते हुए चक्कर लगा रहे और करुणायुक्त ध्वनि में चहचहा रहे हैं। ऐसे कोमल समय में मदन के वश में होकर कष्टपूर्वक जीवन धारण करते हैं ॥२१७॥

जल रहित मेघ शरीर को और भी संतप्त कर रहे हैं। कोयल के कलरव को कैसे सहन कर सकती हूँ ? रमणियाँ गलियों में घूम रही हैं। तूर्य (मुँह से बजानेवाला वाद्य) के मधुर शब्द से त्रिभुवन बहरा हो रहा है अर्थात् चारो ओर उसका शब्द फैला हुआ है ॥२१८॥

बाजार के मार्ग (प्रसिद्ध मार्ग) में गायन, नृत्य तथा ताल ध्वनि करके अपूर्व वसंत काल नृत्य कर रहा है। घने हारों तथा शब्दायमान किंकिणी और मेखलाओं को धारण किए हुए रमणियाँ 'रुनझुन' शब्द कर रही हैं ॥२१९॥

नवयुवतियाँ किलकारी मार रही हैं। पति की आकाक्षा से मैंने इस 'गाथा' का पाठ किया अथवा पढी हुई गाथा सुनकर मैं प्रिय के लिए उत्कठित हो गई ॥२२०॥

ऐसे वसत समय में दिन में बादल तथा रसोत्कठित लोभ को देखकर कामदेव मेरे हृदय में अधिकतर बाण समूह फेंक रहा है ॥२२१॥

ग्रंथ का उपसहार करते हुए कह रही है कि हे पथिक ! मैंने गहरे दुःख से युक्त, मदनाग्नि तथा विरह से लिप्त होकर कुछ अनुचित वचन कहे, तो कठोरता त्यागकर, नम्रता के साथ शीघ्र कहना। इस प्रकार कहना, जिससे प्रियतम कुपित न होवे। ऐसा कहना, जो युक्त (उचित) लगे। इस प्रकार कहकर वर की अभिलाषिणी रमणी ने आशीष देकर पथिक को विदा किया ॥२२२॥

वह विशालनयना जब पथिक को भेजकर अति शीघ्रता से चली तब उसने दक्षिण दिशा की ओर देखा। उसी समय समीप में ही मार्ग में उसने प्रियतम को देखा। तुरत आनदित हो गई। आशीर्वचन—ग्रंथ रचयिता की उक्ति है—जैसे उस विरहिणी का किंचित महान् कार्य आधे क्षण में ही सिद्ध

हो गया, वैसे ही इस ग्रंथ के पढ़ने और सुननेवालों के भी कार्य शीघ्र सिद्ध होवें। अनादि अनंत परम पुरुष की जय हो ॥२२३॥

श्री संदेश रासक समाप्त।

टिप्पणी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने संदेश रासक के प्रचलित अर्थों में सुधार का सुझाव दिया है। अवचूरिका और टिप्पनक के अर्थों में यथावत् परिवर्तन करने का परामर्श देते हुए उन्होंने अपना सुझाव निम्नलिखित रूप में दिया है—

प्रथम प्रक्रम, छंद ४

आरद के दो अर्थ (१) (यह आगत) और (२) (संतुवाप) है इस प्रकार श्लेष बन जाता है।

प्रथम प्रक्रम, छंद १४

वाडि विलग्गा = वाड़े पर लगी हुई (तुंबिनी लता)।

प्रथम प्रक्रम छंद १५

गाममहिली = गाँव की मुग्धा।

चंगिमा = चंग का अर्थ है चारु या सुंदर।

नवरंग चंगिमा = नवीन अनुराग से मनोहर बनी हुई।

प्रथम प्रक्रम छंद १७–१८

चउमुहेण = अपभ्रंश का प्रसिद्ध कवि चउमुह।

तिहुयण = त्रिभुवन नामक कवि।

द्वितीय प्रक्रम छंद २४

पहु=पथ } पथ चाहती हुई।
निअ=आहना

हीरह के स्थान पर दमहर होना चाहिए जिसका अर्थ है दमघर अर्थात् दमा का आहरण करनेवाला दमनीर।

द्वितीय प्रक्रम, छंद २५

धरणादि छिरंतु = धरती का चरणों से छूता हुआ। अर्थात् पथिक इतनी द्रुत गति से जा रहा है कि धरती को पैरों से छू छूकर निकल जाता हुआ दिखाई दे रहा है।

द्वितीय प्रक्रम, छंद २६

सञ्झविय=नर्यस्त अर्थात् उत्क्षिप्त ।

द्वितीय प्रक्रम, छंद ३१

पहियणिहि=पहिय+णिहि,

णिहि का अर्थ है स्नेही अथवा रागयुक्त

द्वितीय प्रक्रम, छंद ३२

अइकुढिलमाइ=अति कुटिलत्वे ।

बिवि = बि + वि > वीअ + वि > द्वितीयोऽपि=दूसरा भी ।

द्वितीय प्रक्रम, छंद ४४

आयण्णहिं (आइन्निहिं ?) अर्थात् सुनते हैं ।

द्वितीय प्रक्रम, छंद ४६

परिघोलिर=चक्करदार फिरता हुआ ।

द्वितीय प्रक्रम, छंद ४७

णिवडम्मर = (डम्भर=ऊभर) अर्थात् निपट उभरे हुए । शुद्ध पाठ—

कवि केण सम < हसइ नियइ मइ कोइणिहि

निअइ (स० निकृति)=कपट

मइ (स० मति)

कोइणि (कोपिनी)

अर्थ—कोई (तरुणी) किसी व्यक्ति के साथ, उन कनरारी तिरछी आँखों से, जिनमें बनावटी कोप का भाव है, हँस-हँसकर बातें कर रही है ।

टिप्पणी—डा० हरिवल्लभ भयाणी द्विवेदी जी के अर्थ से कहीं कहीं सहमत हैं पर कहीं कहीं चमत्कार लाने के लिए अर्थ का अत्यधिक तनाव मानते हैं ।

———

हो गया है। सुन्दर, दुःसह वियोग को सहकर भयभीत हो किसी प्रकार मैं जीवित हूँ पर मुझे यही चिन्ता है कि मेरे स्नेह से तनिक भी न पीड़ित होकर मेरा प्रिय स्तंभतीर्थ में निमग्न रूप में वाणिज्य कर रहा है ॥२०८॥

पलाश (ढाक) का पुष्प घने काले और लाल रंग का हो गया है। अतः प्रतीत होता है पलाश प्रत्यक्ष रूप में (पल=मांस—अश=अशन अर्थात् मांसभक्षी) राक्षस हो गया है। वसंतकालिक पवन दुःखद हो गया है। सुखदायक चंदन कष्टकारक हो गया है ॥२०९॥

मद मंजरियों के गिरे हुए पराग से पृथ्वी पीली होकर अधिक ताप दे रही है। शीतल पवन पृथ्वी को शीतल करता हुआ बह रहा है पर, शीतलता नहीं मिल रही है, मानों क्या वह ताप बिखेर रहा है ? ॥२१०॥

लोक में जिसका नाम 'अशोक' प्रसिद्ध है, वह मिथ्या है। क्योंकि अशोक आधे क्षण के लिए भी मेरा शोक नहीं हरता। काम पीड़ा से संतप्त मुझको मेरे प्रिय ही आश्रय दे सकते हैं—न कि सहकार (आम) के वृक्ष ॥२११॥

हे पथिक ! छिद्र (अवसर) पाकर विरह और भी भयंकर रूप में बढ़ गया। मयूर ताण्डव नृत्य कर अपना मर्मभेदी शब्द सुनाने और माकंद वृक्ष की शाखा पर दिखाई देने लगे। हे पथिक ! जो 'गाथा' मैंने पढ़ी उसे सुनो ॥२१२॥

हे दूत ! नाटकीय मयूरों से प्रसन्न होकर मयूरी मिल रही है जिसे देखकर मेरा कष्ट और भी बढ़ जाता है। अथवा तुम्हारा वर्षा हो जाने पर फिर टिटिवियों की प्रसन्नता देखकर मैं पीड़ित हो रही हूँ। आकाश में फैले हुए नये बादलों से बगलों की भ्रांति कर और भी कष्ट पा रही हूँ ॥२१३॥

इस 'गाथा' को पढ़कर धीर्य दुःख को मन में धारण किए हुए फिर हाग्नि की ज्वाला से प्रज्वलित, कामबाण से जर्जरित वह रमणी रोती हुई उठी ॥२१४॥

इस वर्षा ऋतु में एक एक क्षण यम के कालपाश (बंधन) के समान दुःसह हो रहा है। सुंदर पुष्पों से सभी दिशाएँ सुशोभित हैं। आकाश में आम्र मंजरियाँ घने रूप में विकसित हैं। नई नई मंजरी की कोंपलें इस ऋतु में निकली हुई हैं ॥२१५॥

इस समय अनेक प्रकार से अभिनय के साथ गान हो रहे हैं। सुरक्तक वृक्ष का शिखर विकसित होने से अत्यंत मनोहर लग रहा है। भौंरे सरस मनोहर शब्द गुंजार रहे हैं ॥२१६॥

वसंत में तोते आकाश में मंडलाकार उड़ते हुए चक्कर लगा रहे और करुणायुक्त ध्वनि में चहचहा रहे हैं। ऐसे कोमल समय में मदन के वश में होकर कष्टपूर्वक जीवन धारण करते हैं ॥२१७॥

जल रहित मेघ शरीर को और भी संतप्त कर रहे हैं। कोयल के कलरव को कैसे सहन कर सकती हूँ? रमणियाँ गलियों में घूम रही हैं। तूर्य (मुँह से बजानेवाला वाद्य) के मधुर शब्द से त्रिभुवन बहरा हो रहा है अर्थात् चारो ओर उसका शब्द फैला हुआ है ॥२१८॥

बाजार के मार्ग (प्रसिद्ध मार्ग) में गायन, नृत्य तथा ताल ध्वनि करके अपूर्व वसंत काल नृत्य कर रहा है। घने हारों तथा शब्दायमान किंकिणी और मेखलाओं को धारण किए हुए रमणियाँ 'रुनझुन' शब्द कर रही हैं ॥२१९॥

नवयुवतियाँ किलकारी मार रही हैं। पति की आकांक्षा से मैंने इस 'गाथा' का पाठ किया अथवा पढी हुई गाथा सुनकर मैं प्रिय के लिए उत्कंठित हो गई ॥२२०॥

ऐसे वसंत समय में दिन में बादल तथा रसोत्कंठित लोभ को देखकर कामदेव मेरे हृदय में अधिकतर बाण समूह फेंक रहा है ॥२२१॥

ग्रंथ का उपसंहार करते हुए कह रही है कि हे पथिक! मैंने गहरे दुःख से युक्त, मदनाग्नि तथा विरह से लिप्त होकर कुछ अनुचित वचन कहे, तो कठोरता त्यागकर, नम्रता के साथ शीघ्र कहना। इस प्रकार कहना, जिससे प्रियतम कुपित न होवे। ऐसा कहना, जो युक्त (उचित) लगे। इस प्रकार कहकर वर की अभिलाषिणी रमणी ने आशीष देकर पथिक को विदा किया ॥२२२॥

वह विशालनयना जब पथिक को भेजकर अति शीघ्रता से चली तब उसने दक्षिण दिशा की ओर देखा। उसी समय समीप में ही मार्ग में उसने प्रियतम को देखा। तुरंत आनंदित हो गई। आशीर्वचन—ग्रंथ रचयिता की उक्ति है—जैसे उस विरहिणी का किंचित महान् कार्य आधे क्षण में ही सिद्ध

भरतेश्वर बाहुबलि रास

१—ऋषि जिनेश्वर के चरणों को प्रणाम करके स्वामिनी सरस्वती को मन में स्मरण करके गुरु-चरणों को निरंतर नमस्कार करता हूँ।

२—भरत नरेंद्र का चरित्र जो युग युग से वसुधावलय में विदित है और जिसमें दोनों बांधवों का बारह वर्ष का युद्ध (वर्णित) हुआ है।

३—मैं रास छंद में (उस चरित्र का) वर्णन करता हूँ जो जनमन को हरनेवाला और मन को आनंदित करनेवाला है। हे भव्य जन, उसे मनोनिवेशपूर्वक सुनो।

४—जंबू द्वीप में अयोध्यापुरी नगर है। (वहाँ) धनकण, कंचन और रत्नप्रवर (इतने अधिक) हैं। और क्या पूछते हो वह तो स्वर्गपुरी ही थी।

५—(उस अयोध्या नगरी में) ऋषि जिनेश्वर राज्य करते हैं। वे पाप रूपी अंधकार और भय को हरण करने के लिए सूर्य हैं। उनका तेज सूर्य किरण के समान तपता है।

६—राजा ऋषभेश्वर के दो रानियाँ थीं जिनका नाम सुनंदा देवी और सुमंगला देवी था। उन्होंने रूपरेखा और प्रेम में रति (कामदेव की स्त्री) को जीत लिया था।

७—सुनंदा ने दो बेटियों को जन्म दिया जिन्होंने त्रिभुवन के मन को आनंदित किया। सुमंगला देवी से भरत उत्पन्न हुए।

८—देवी सुनंदा के पुत्र बाहुबलि हुए जो अपनी भ्रकुटि से महामद वाली भूप को तोड़ (मोड़) डालते थे। वीरधर कुमारों की तो बात ही क्या।

९—तिरासी लाख पूर्व (जैन काल गणना) ऋषभदेव ने राज्य के द्वारा पृथ्वी को प्रकाशित कर दिया और युग युग के लिए मार्ग दिखा दिया।

१०—भरतेश्वर ने अयोध्यापुरी की स्थापना की और बाहुबलि को तक्षशिला (का राज्य) सौंपा गया। शेष अट्ठानवे लड़के (अपने) नगर में रह गए।

[ऋषभदेव ने अपना साम्राज्य अपने सौ लड़कों में बाँट दिया। भरत को अयोध्या, बाहुबलि को तक्षशिला, शेष को अन्य स्थानों का अधिकारी बनाकर वैराग्य धारण किया।]

११—[आगम में वर्णन मिलता है कि ऋषभ जी ने दान के लिए बड़ी सपत्ति प्रदान की पर कोई भिक्षुक ही नहीं मिला। नियम यह है कि तीर्थंकर दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष तक सोने का दान करते हैं।]

विषय-विरक्त अत्यत सयमशील जिनवर ने दान दिया। सुर, असुर और मनुष्यों ने इनकी सेवा की।

१२—परम पतालपुरी (स्थान विशेष) में केवलज्ञानी को ससार स्वय प्रमाण बन गया।

[अर्थात् परम पतालपुरी में एक ऐसे ज्ञानी हुए जिनको सारा ससार प्रमाण रूप से मानता था।]

इस बात का ज्ञान भरतेश्वर को हुआ।

१३—एक दिन आयुधशाला में चक्ररत्न प्रगट हुआ। अरिगण पर आतक और आपत्ति आ गिरी। भरत प्रसन्न होकर विमर्श करने लगा।

१४—मैं धरामडल राज्य से धन्य हूँ। आज मेरे पिता प्रथम जिनवर हुए। केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी ने उन्हें अलकृत किया।

१५—(भरतेश्वर सोचने लगा) प्रथम मैं तातपाद को प्रणाम करू। उन्होंने राजऋद्धि रूपी राजत्व फल प्राप्त किया। (पिता के पद को प्रणाम करके) तब चक्ररत्न का अनुसरण करूँ।

वस्तु

१६—गजवर गभीर गर्जन करते हुए चले। घोड़ों का समूह चलता हुआ रोषपूर्ण (हो), हूँफता हुआ हिनहिनाता है। अपनी दादी मरुदेवी (ऋषभदेव की माता) को साथ ले सिर पर मणिमुकुट धारण कर भरतेश्वर नरेंद्र जब हाथी पर चढे तब मेरु पर्वत भय से भरकर विचलित हो उठा। प्रथम

जिनेंद्र भगवान् ऋषभदेव के दरबार में दरबारी देवताओं के सहित जिनवर को प्रणाम करते हैं।

[कहा जाता है कि मरुदेवी ने भी अपने पुत्र ऋषभ को देखने की इच्छा प्रकट की और भरतेश्वर उन्हें साथ लेकर प्रथम जिनेंद्र ऋषभदेव के पास पहुँचे।]

[भरत ने अभिवादन करते हुए कहा]

१७—प्रथम जिनवर ऋषभदेव के पैरों को प्रणाम करता हूँ। आनंद के साथ उत्सव मनाते हुए वे बार बार चक्ररत्न की पूजा करते हैं। गजवेशारी गड़गड़ा रहे हैं। उन हाथियों की गड़गड़ाहट गंभीर मही की गरज अथवा मेघगर्जन के समान है। निशाण की चोट और तूर्यरव से आकाश बधिर हो रहा है। अनुराग से अधिक रोमांचित करनेवाले भरतेश्वर पर चक्ररत्न प्रकट हो गया।

[इति वस्तु]

ठवणी १

१८—पूर्व दिशा में प्रभात उदय हुआ। प्रथम चक्र भासित हुआ। धरातल धुल गया और थरथरा उठा। पर्वतों का समूह चल पड़ा।

टिप्पणी—चक्ररत्न के दर्शन के उपरांत भरत को चक्रवर्ती राज्य की अभिलाषा हुई। अतः वह अन्य राजाओं को जीतने के लिए अभियान कर रहा है।]

१९—धुजवली भरत नरेंद्र ने तदुपरांत (इस प्रकार) प्रयाण किया, जैसे शत्रुदलन का सिंह (दृढ़) पड़ता है। भरत नरेंद्र तो पृथ्वी तल पर दूसरा इंद्र ही था।

२०—युद्धक्षेत्र में सेनापति और सामंत के साथ (सेना) चलने से (रणभेरी) बजी। महीधर मंडलीक अनेक गुणों से भरकते हुए मिले।

२१—क्रम से पुष्ट श्रेष्ठ हाथी गड़गड़ा रहे हैं। [उनका चलना ऐसा प्रतीत होता है] मानो गिरिशृंग चल पड़े हों। वे अपने दुर्दर्प को दिखाते और अंग अंग को मोड़ते चलते हैं।

२२—वे (हाथी) गिरि-शिखरों को बार बार तोड़ते हैं और वृक्षों की डालों को भग कर देते हैं। वे अकुश के वश नहीं आते और अपार क्रीड़ा (शरारत) करते हैं।

२३—लरावर तोखारी घोडे हींस (अभिलाषा) से भरे शीघ्रता करते हुए हिनहिना रहे हैं। (अपने) सवार को मनोनुकूल आगे ले चलने के लिए खुरों से (पृथ्वी को) खोद रहे हैं।

२४—[घोड़ों की तीव्र गति का वर्णन करते हुए कवि कहता है।] जीन कसे ये पखवाले घोडे हैं अथवा पक्षी हैं जो उड़ते उड़ते जा रहे हैं। ये हाँफते, तलपते, ससते, धँसते, दौड़ते (और) अनिच्छा से (रथों में अथवा जीन कसने को) जुड़ते हैं।

जकार्या=जकार=अनिच्छा से (गुजराती इगलिश कोश)

२५—स्फुट फेनाकुल विकट घोडे उल्लसित होते और शरीर हिलाते हैं। चचल तातारी घोडे तेज में सूर्य के घोड़ों के समान देदीप्यमान हो रहे हैं।

२६—ढोल नगाड़ों की घमघमाहट से पृथ्वी गूँज उठी। रथों ने रास्ते को जैसे रूँघ रखा था। घोड़ों के ठट्ट के ठट्ट स्थिर भाव से रव करते हुए (मार्ग में) गहन वनों को भी कुछ नहीं समझते।

२७—चमर चिह्न और ध्वजाएँ लहलहा रही हैं। मतवाले हाथी मार्ग को रोक लेते हैं अथवा मार्ग से हटकर अन्यत्र चले जाते हैं। वे इतने वेग से जा रहे हैं कि पेदल (सैनिक) उनके साथ लग नहीं पाते।

मेल्हहिं=रोकना, छोड़ना

२८—दु सह पैदल सेना का समूह दौड़ता हुआ दसो दिशाओं में फैल गया। और सैनिक शत्रु जनों के अग अग पर अनेक वज्र का प्रहार करते हैं।

२९—वे (इधर उधर) देखते हैं और तड़पते हैं और ताल ठोंकते हैं। बार बार ताल हनकर कहते हैं कि आगे कोई भट नहीं है जो सामने जूझ सके।

३०—दसो दिशाओं में (शत्रु का नाश करनेवाले) सैनिक सचरण करते हैं और अपार खच्चर (युद्ध-सामग्री) ढो रहे हैं। सेना की सख्या का कोई अत नहीं। कोई किसी का सुधि-सार प्राप्त नहीं कर पाता।

मेसर=खच्चर। दप्प मदिय मे मेसर घोड़ा।—गिरिधर

११—न माइ से माई मिल पाता है न बेटा बाप से मिल पाता है। सेवक न तो स्वामी की सेवा कर पाता है। अपने आप में ही सब व्याप्त हैं।

१२—चक्रधर (भरतेश्वर) हाथी पर चढ़ा। उसने अपना प्रचंड भुज-दंड पटक दिया। चारों दिशाओं में चलाचली मच पड़ी। देशाधिप (भरतेश्वर के लिए) दंड धारण करके चले।

१३—युद्धक्षेत्र में दमामे के स्वर होने लगे। निशान से घना निनाद होने लगा। इंद्र स्वर्ग में शंका करने लगे कि इसके सामने मैं क्या हूँ। (अर्थात् भरतेश्वर की सैन्य शक्ति की तुलना में मैं बिल्कुल तुच्छ हूँ।)

१४—आकाश में जब निशान बजा तो उसकी ध्वनि शिव के (प्रलय-कारी) डमरू के समान जान पड़ी। पट खंड में पंडाभिर्पी के चलने से (ऐसा प्रकाश हुआ मानो) सूर्य चमक उठा।

१५—भेरीरव त्रिभुवन में भर गया। भेरीरव से इतनी ध्वनि उठी कि वह त्रिभुवन में किसी प्रकार न समा सकी। पद भार से शेषनाग कंपित हो उठे और (वह ध्वनि) कानों में समा न हो सकी।

१६—पृथ्वी सिर हलाने लगी। पर्वत शृंग भी नीचे से ऊपर तक हिल उठे। सारा सागर झकझोरा उठा और गंगा की तरंग भी (सीमा छोड़ कर) ऊपर आ गई।

१७—घोड़ों के खूँदने से पृथ्वी तल पर इतनी धूल उठी कि मेघ जैसा बन गया और उससे सूर्य ढक गया। आयुधों का उजाला करता हुआ राजा कंधार तक चला जाता है।

[भरतेश्वर चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से देश-विदेश विजय करता जा रहा है।]

१८—कोई मंडलपति सामने युद्ध न कर सका। कोई सामंत ध्वास न के सका राजपुत्रों का राउत्त नहीं रह सका। मतिवंत मन मसोस-कर रह गए।

१९—वह कौन सी सेना है जो भरत की सेना से भिड़ते ही भाग न जाए? (भरत की सेना) रत्नाकर के वेग के समान है जिसके आगे राजा रामी गमन कर जाते हैं।

४०—साठ सहस्र संवत्सर तक भरतेश्वर छहखंड का भग्या (राज्य) करता रहा। समरांगण में जब वह जुट जाता है तो उसकी समस्त आशाएँ मानी जाती हैं।

४१—नमि और विनमि नाम के वीरों से बारह वर्ष युद्ध करके उसने अपनी आज्ञा का पालन कराया। गंगातट के आवास से नव निधियों को उसने प्राप्त किया।

४२—मुकुटबध से छत्तीस सहस्र वर्ष तक युद्ध करके चौदह रत्नों की संपत्ति उसने प्राप्त की। एक सहस्र वर्ष तक गंगातट पर भोग करने के लिए आया।

[वाणी, ठवणी २]

४३—(भरतेश्वर ने) तब आयुधशाला में आकर आयुधराज (चक्र रत्न) के लिए नमस्कार किया। उस क्षण भूपाल मणि भरतेश्वर चिंता-कुल हुआ।

[आयुधशाला में चक्ररत्न को न देखकर राजा को चिंता हुई।]

४४—बाहर अनेक अनाड़ी (मूर्ख) रातदिन शरारत करते हैं। अकाल में ही अत्यंत उत्पात होने लगे। दानवों का दलबल दिखाई पड़ने लगा।

[जब बहुत विनय करने पर भी चक्ररत्न पुरी में प्रविष्ट न हुआ तो]

४५—वह (राजा भरतेश्वर) मन में कहने लगा—हे मतिसागर चक्र, तुम किस कारण पुरी (अयोध्यापुरी) में प्रवेश नहीं कर रहे हो ? तुम्हीं हमारे राजा हो। हम इस पृथ्वी पर तुम्हारे ही आधार से खड़े हैं।

४६—हे देव, आप यह रहस्य बताइए कि किस दानव या मानव ने आपको रोका है। वैरी को मिटाने में मैं देर न लगाऊँ !

४७—मृगांक मंत्री बोले—हे स्वामी, हे चक्रधर, सुनिए। और कोई दूसरा वीर नहीं है जहाँ यह चक्ररत्न रहे।

[चक्ररत्न के लिए आप ही उपयुक्त पात्र हैं।]

४८—हे भरतेश्वर, भुवन में तुझ भूप से (अथवा तुम्हारे भय से) इंद्र

स्वामी शंकित हो रहे हैं। वह भी (तुम्हारा) नाम सुनकर नष्ट हो जाता है। दानव और मानव का तो कहना ही क्या !

४६—तुम्हारा दूसरा भाई बाहुबलि तुम्हारी आज्ञा नहीं मानता। भाई का वैर विनाशकारी है। उसने बड़े बड़े विषम वीरों को खंड खंड कर डाला है।

५०—हे भरतेश इस कारण से चक्ररत्न अपने नगर में नहीं आ रहा है। हे स्वामी, तुम्हारे भाई की सेवा के अतिरिक्त सब कोई तुम्हारी सेवा करते हैं।

[जैन आगम के अनुसार भरत के ६८ भाइयों ने ऋषभदेव के परामर्श से राज्य त्याग दिया और भरत से किसी ने युद्ध नहीं किया। केवल बाहुबलि उसकी अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहता था।]

५१—उसकी बात सुनकर राजा (भरतेश्वर) अति रोष भरकर ताल ठोंककर उठा। उसने भौंहें चढ़ाईं और अपनी मोछों को माथा तक (ले जाकर) मरोड़ा।

[भरतेश्वर बोला]

५२—वह कौन बाहुबली है जो मेरी आज्ञा न माने ? खेल में ही उसका प्राण ले लूँगा। युद्ध में लड़कर मैं उसका प्राणनाश कर दूँगा।

५३—मतिसागर मंत्री वसुधाधिप भरतेश्वर बाहुबली से विनती करता है कि आप अपना मन दुखी मत कीजिए। भाई के साथ क्या लड़ना है।

५४—हे देव, पहले एक दूत भेजिए और सारी बात उन्हें बता दीजिए। यदि वे (यहाँ) न आवें तो हे नरवर, कटक भेजिए।

५५—राजा ने मन में (यह मंत्रणा) मान ली और शीघ्र ही सुवेग को आज्ञा दी कि सुनंदा के पुत्र (बाहुबली) के पास जाओ और मेरी आज्ञा स्वीकार कराओ।

५६—राजा के आदेश से जो रथ जोता जाता है उसके (प्रस्थान के) वाम भाग में बार बार अपशकुन सामने खड़े हो जाते हैं।

[अपशकुन का वर्णन इस प्रकार है]

५७—काजल के समान काली बिल्ली (रथ के वाम भाग में) आडे उतर आई। और (मानो) विकराल यमराज ही खर खर गर्दभ रव करता हुआ उछल रहा हो।

५८—बकुल की डाल पर बैठा श्यामा पक्षी सूत्कार स्वर करता है। सूर्य-प्रकाश के मध्य उछल उछलकर उल्लू दाहिनी ओर पुकार रहा है।

५६—शृगाल घूम घूमकर बोल रहे हैं मानो विषाद ही गमन कर रहा है (अथवा स्पष्ट दिखाई दे रहा है।) भैरव भयकर रव करता है और ऐसा शब्द करके (सबको) डराता है।

६०—कालसार वट वृक्ष पर यक्ष के समान कभी चढता कभी उतरता है। बिना जला अगारा सामने उड़ता हुआ दिखाई पड़ता है।

कालीआर—सं० कालसार=Antelope, Black Buck

६१—काल भुजगम के समान काले हाथी दर्शन दे रहे हैं। वे रह रह कर ऐसा बोल रहे हैं कि आज यमराज लगातार नाश करेगा।

६२—दूत ने यह जान लिया कि जोखिम आ गया। क्योंकि भ्रमते हुए भूत गिरि, गुहा और घने वन को कुछ नहीं समझते।

६३—(दूत ने अयोध्या से तक्षशिला तक की यात्रा की) दूत ने तक्ष-शिला के समीप ही रात्रि में निवास किया। उसने नदी, दह, निर्झर की कुछ परवाह न की। ग्राम, नगर, पुर और पाटण को पार करते हुए सपूर्ण यात्रा उसने समाप्त की।

६४—बाहर बहुत से बाग हैं, वहाँ सरोवरों पर बडे बडे वृक्ष सुगध सहित हैं। धवल घर में मणिनिर्मित तोरण शोभा दे रहे हैं।

रेहइ=शोभा दे रहे हैं।

६५—पोतणपुर देखते ही दूत बडे वेग से उल्लसित हो उठा। वहाँ पर व्यापारी बसते हैं जो धन, कचन-कण और मणिप्रवर के अधिकारी हैं।

६६—पोतणपुर में जो तीन ऊँचे गढ निर्मित हैं वे धरणीरूपी तरुणी के ताटक (कर्णभूषण) हैं। इस नगरी के कँगूरे स्वर्णमय हैं। (दूत ने सोचा) क्या यह अभिनव लका नगरी ही तो नहीं है।

६७—विशाल एव पुष्कल प्राकार एव पाडे (कटरे) का पार नहीं

पाया जाता। सिंहद्वार की कोई संख्या ही नहीं। दसों दिशाओं में देवालय ही दिखाई पड़ते हैं।

पाल > पोक्खल > पुष्कल पोढ़ > प्रौढ़ (सं)

६८—पुर में प्रवेश करने पर दूत राजभवन में पहुँचा। प्रतिहार के सहित उसने प्रवेश किया और नरवर (बाहुबली) के चरणों में नमस्कार किया।

रायहर = राजगृह [राजभवन]

६९—माणिक्यस्तंभ की चौकी पर बाहुबली बैठा था। रंभा जैसी रूप वाली चामरधारिणी चामर ढुला रही थी।

७०—(बाहुबली ने) मणिमय मंडित दंड के सहित सिर पर मयूरछत्र धारण कर रखा था। जैसा प्रचंड उसका भुजदंड था वैसी ही विक्रमवती जयश्री (उसके पास) बसती थी।

७१—जिस प्रकार उदयाचल पर सूर्य शोभा देता है उसी प्रकार उसके सिर पर मणिमुकुट शोभायमान था। कस्तूरी कुसुम कपूर, कर्पूर मह मह महक रहे थे।

७२—उसके कान में कुंडल झलक रहे थे मानो निश्चय ही अन्य सूर्य और चंद्रमा हों। गंगाजल (विद्यमान था) और दान के लिए अनेक गुणी हाथी गड़गड़ा रहे थे।

[गंगाजल दान का संकल्प कैसे ले रखा हुआ था]

७३—उसके (बाहुबली के) उर पर मोती का हार और हाथ में वीरवलय झलमला रहा था। नवल अंग पर शृंगार शोभायमान हो रहा था और बाएँ पैर में तोडर (आभूषण विशेष) झलक रहा था।

७४—बाहर (वस्त्रविशेष) चीर उसने पहन रखा था। हाथ में काली करवाल थी। गुरु गंभीर गुणों के कारण वह द्वितीय चक्रधर ही जान पड़ता था।

७५—राजा के सदृश बाहुबली का वैभव देखकर दूत चित्त में प्रसन्न हुआ। (उसने मन में कहा) हे ऋषभेश्वर के पुत्र बलवंत बाहुबली, आप जग में धन्य हैं।

७६—बाहुबली ने दूत से पूछा कि तुम किस कार्य से यहाँ आए हो? दूत ने कहा कि भरतेश्वर ने अपने कार्य से मुझे भेजा है।

वस्तु

७७—राजा बाहुबली बोला, हे दूत, सुनो! भरतखंड का भूमीश्वर भरतराज हमारा भाई है। सवा कोटि (कोड़ी) कुमारों के सहित वह शूरकुमार नरश्रेष्ठ है। उसके मन्त्री, मंडलीक महाधर, अंतःपुर के परिजन, सीमा के स्वामी सामंत कुशल और विचारपूर्वक हैं न!

७८—दूत बोला—हे राजा बाहुबलि, भरतेश्वर को चक्रवर्ती कहने में क्या आपत्ति करते हो? जिसका लघुबांधव तुम्हारे सदृश है जिसके यहाँ गरजने-वाले भीम हाथी गरज रहे हैं। जिसने बडे बडे वीरभटों को उस प्रकार भग कर डाला है जिस प्रकार अँधेरे को सूर्य की किरण। वह भरतेश्वर विजय के लिए युद्ध (भाव) से परिपूर्ण है। अतः आपका उसे समर्थन मिले तो अच्छा हो।

७६—सुवेग नामक दूत वेग से बोला—हे बाहुबली, सुनो। तुम्हारे तुल्य कोई भी राजा सूर्य के तले नहीं है।

८०—(तुम्हारे ज्येष्ठ) भाई भरतनरेंद्र ऐसे (वीर) हैं जिनसे पृथ्वी काँपती है और स्वर्ग में इंद्र भी काँपता है, जिन्होंने भरत खंड को जीत लिया और म्लेच्छों से अपनी संपूर्ण आज्ञाओं का पालन कराया है।

[भरतेश्वर ने पृथ्वी के प्राय सभी राजाओं को अधीन कर लिया था। एकमात्र बाहुबली आज्ञानुवर्ती नहीं बना था।]

८१—वह बली भूप युद्ध में भिड़ जाने पर भागता नहीं। वह गड़गड़ाता हुआ भयंकर युद्ध में गरजता है। बत्तीस सहस्र मुकुटधारी राजा सभी तुम्हारे बांधव के पैरों की सेवा करते हैं।

८२—उनके घर में चौदहो रत्न और नवो निधियाँ हैं। घोडे हाथी की संख्या कितनी है, कहाँ तक कहा जाय। उनका अभी पट्टाभिषेक हुआ। तुम उसमें नहीं आए। इसमें कौन विवेक की बात थी?

८३—बांधव बिना सभी संपत्ति न्यून है जिस प्रकार नमक के बिना रसोई अलोनी रहती है। राजा (भरतेश्वर) तुम्हारे दर्शन को उत्कंठित है। तुम्हारा भाई नित्य तुम्हारी बाट जोह रहा है।

ठक्करी ७

९९-१० —पूत वाला—ऐसा भाई पुण्य से ही प्राप्त होता है। उसके पग को नमस्कार करिए और मेरा कहना कीजिए। अन्य भ्रातृगण में यदि सबसे पहिले तुम मिलागे तो तुम शोभाशाली बनागे। कहो अब विलंब किस कारण करते हो। वार, मुहूर्त की ममता के लिये विलाप मत करो।

> बलीबद (विलीबद—) विलं=विलपितम्
> मास—ममता
> पाठांतर— मिलिहैं म सयहैं' के स्थान पर 'होसिय सोहिलउँ'

१ १—बीजवपन का उत्तम समय देखकर कृषि करने से फलप्राप्ति होती है, यदि वे सुयोग शीघ्र मिल जायें तो। पर जो मनुष्य मन से बात का विमर्श नहीं करता और विलंब करता है उसकी बात (कार्य) का विनाश होता है।

[टिप्पणी—कृषि का नियम है कि वार, मुहूर्त देखकर खेती की जाती है। यदि मुहूर्त शीघ्र न मिले तो विलंब से बीज बोने पर वह उगेगा ही नहीं क्योंकि खेत की नमी समाप्त हो जायगी।]

> वराप—(१) बीजवपन का सर्वोत्तम समय, (२) बीज से अंकुर निकलना।
> करषण—कृषि (सं)। जोग करयण खाई के—मगद।

१ २—यदि तुम स्वतः उनसे न मिलोगे (अधीनता स्वीकार न करोगे) और कलह मेवोगे तो इससे क्या होगा। राजा नरतेश्वर उस सेना को भगा देगा। इसका ज्ञान होना चाहिए कि जो कोई नरतेश्वर से युद्ध करेगा, उसकी बात को नरतेश्वर हृदय में धारण करेगा, अर्थात् युद्ध करनेवाले शत्रु को क्षमा नहीं करेगा।

१ ३—मीम (के सदृश बड़े वीर) अनेक हाथियों पर गाजते हैं और उन्होंने सीमावर्ती सभी देशों को (अपने राज्य में) ले लिया है। मगर तुम्हारा भाई है और भोला भाला है। तो तुम उससे दाम घात मत करो।

'दाम का अर्थ है offering—पीच पंडव चरित रासु, १५७७१।

अतः यहाँ 'दाम करीवद' का भाव 'युद्ध का अवलंब करना' भी हो सकता है।

१०४—तब बाहुबलि बोला—(हे दूत) अपनी भुजाओं में बल नहीं तो पराए की आशा कौन करे। जो मूर्ख और अज्ञानी होता है वह दूसरे के बल पर गरजता है। मैं अकेला ही घोर युद्ध में भट भरतेश्वर के सामने स्थित हो युद्ध करके अपने भुजबल से उसका भंजन कर दूँगा। बाघ के सामने भेड़ी नहीं ठहर सकती है।

भाह—बाघ

ठवणी ८

१०५—हे दूत, यदि मैं ऋषभेश्वर का पुत्र हूँ और भरतेश्वर का सगा भाई हूँ तो मन में यह जानकर वह मुझे मुक्त क्यों नहीं रहने देता। हे अज्ञानी, फिर तू व्यर्थ इस प्रकार दुःखी मत हो।

म झंपिसि=(तू) दुखी मत हो।
आल—व्यर्थ, झूठमूठ।

१०६—किस कारण पराए की आशा कीजिए। सिद्धि (सफलता) साहसी को स्वयं वर लेती है। मैं अन्याय के कारण हाथ में हथियार धारण करूँगा क्योंकि यह वीरों का परिवार है।

अनह—अन्याय (अणाय)

१०७—अरे दूत, यदि सूअर और सियार सिंह को खा जाएँ तो बाहुबली भी भूपवली भरतेश्वर से भाग जायगा। यदि गाय बाघिन को खा जाए तो भरतेश्वर मुझे जीतेगा।

जीपइ > जिप्पइ > जिच > जित (स०)

ठवणी ९

१०८—दूत बोला—हे बलवान् बाहुबली, यदि तुम आज्ञा न मानोगे तो भूपवली भरतेश्वर तुम्हारा प्राण ले लेगा।

१०९-११०—उसके ९६ करोड़ छविमान् पदाति (पैदल सैनिक) हैं और ७२ करोड़ उड़नेवाले घोड़े हैं। श्रेष्ठ नरवर भी उससे पार नहीं पा सकते और उसकी सेना का भार सह नहीं सकते। यदि कोई देवलोक में भी चढ जाए

८४—हे देव आपका बड़ा सहोदर भरतेश्वर बड़ा वीर है। साहसी (और) वीर जिसको प्रणाम करते हैं। एक तो वह (स्वयं) सिंह है और दूसरे उसका परिवार कवच के समान है।

[टिप्पणी—कतिपय प्रतियों में दूत के वचन और विस्तार के साथ वर्णित हैं। अंत में वह समझाता है कि हे बाहुबली, आप मेरा कहना कीजिए। भाई के चरणों में लगिए और इस प्रकार सुख प्राप्त कीजिए। यदि तुम उसकी आज्ञा नहीं मानोगे तो वह भुजबली भरतेश्वर तुम्हारा प्राण ले लेगा।]

८५—अब बाहुबली कहता है, (हे दूत) कच्चे वचन मत कहो। संसार भरतेश्वर के भय से काँपता है यह सत्य है।

८६—जिसके पीछे मेरे सहश भाई हो उसके साथ समरांगण में कौन युद्ध की तैयारी कर सकता है ? मैं कहता हूँ कि ऐसा कौन प्राणी है जिसको जंबूद्वीप में उसकी (भरतेश्वर की) आज्ञा न (मान्य) हो।

८७—ज्यों ज्यों (भरतेश्वर ने) अनेक उत्तम गढ़ों को हय-गज-रथ से युक्त करके सनाथ किया अर्थात् उत्तम गढ़ों को घोड़े हाथी और रथों से संयुक्त किया और इंद्र अपना अर्धासन उन्हें प्रदान करता रहा त्यों त्यों मेरे मन में परमानंद की प्राप्ति होती रही।

८८—यदि मैं (भरतेश्वर के) अभिषेक के समय नहीं आया तो उन्होंने (भी) हमारी सार सँभार नहीं की। वे बड़े राजा और मेरे बड़े भाई हैं। जहाँ उनकी इच्छा होती वहाँ मैं जाकर उनसे मिलता।

८९—(भरतेश्वर) मेरी सेवा का बाट न देखें। वीर भरतेश्वर व्याकुल न हों मुझमें और भाई में किसी प्रकार का भेद नहीं। इस लोभी संसार में खल इस प्रकार कहा करते हैं। अर्थात् दुष्ट व्यक्ति लोभ के लिए भाइ से पार्थक्य मानते हैं।

ठवणी ४

६ ९१—दूत बोला—(हे बाहुबली) अपने भाइ भरतेश्वर के पास चलने में विलंब न कीजिए। उनसे भेंट कीजिए। अपने चित्त में चिंतन करके विचार कीजिए। मेरी बातें सुन लीजिए। मेरी बातों को तुम मन में

मान लो। भरत नरेश्वर को राजदानी समझो। कंचन राशि देकर उन्हें संतुष्ट करो। गजघटा और तीव्रगामी चंचल घोड़े उन्हें दो।

६२—ग्राम, नगर, पुर और पाटण अर्पित कर दो। वह देशाधिपों को स्थिर, स्तंभित और स्थापित करनेवाला है। तुम उसे देय और अदेय देने में विमर्श न करो। समर्पण करने से किसी प्रकार का विनाश न होगा।

६३—जिसको राजा सेवक नहीं जानता उस मानी को विशेष रोष के साथ मारता है, प्रतिपन्न (शरणागत) का स्पष्ट प्रतिपालन करता है। प्रार्थी को घड़ी भर भी टालता नहीं।

६४—हे देव, उनसे ताड़ना न कीजिए। वे यदि मानते हैं तो उनसे अड़ना नहीं चाहिए। हे सुजान, मैं आपके हित के कारण (यह) कहता हूँ। यदि झूठ कहूँ तो मुझे भरतेश्वर की आन है।

६५—राजा (बाहुबली) बोला—हे दूत! सुनो, विधाता जो कुछ भाल-तल पर लिख देता है वही मनुष्य इस लोक में पाता है। इस भाग्यरेखा का निःसत्व, निर्गुण नर उत्तमाग और नामी जन ब्रह्मा, इंद्र, सुर, असुर कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। भाग्य से अधिक या कम नहीं मिलता। फिर भरतेश्वर कौन होता है?

६६—निज देश, घर, मंदिर, जल, स्थल, जंगल, गिरि, गुहा, कंदरा, दिशा दिशा, देश देश (बाहरी देश), द्वीपांतर, युग और चराचर में जो कुछ निषिद्ध या विहित भाग्य में लिखा है वह अवश्य मिलेगा।

नेसि—नेष्ट (निषिद्ध)

निवेषि—निवेश्य (विहित)

६७—अरे दूत! सुनो, महिमंडल में देवता, दानव वा मानव कोई भी भाग्यलेख का उल्लंघन नहीं कर सकता। भाग्यलेख से अधिक या कम नहीं दे सकता।

६८—धन, अन्न, कंचन, नव निधियाँ, गजघटा, तेजस्वी, तरल (केकाणी) घोड़े, यहाँ तक कि अपना सिर और सर्वस्व भले ही चला जाय, तो भी निसत्तपणे (दीन भाव) से नमन नहीं करना चाहिए।

ठवणी ७

९९-१० —दूत बोला—ऐसा भाई पुण्य से ही प्राप्त होता है। उसके पद को नमस्कार करिए और मेरा कहना कीजिए। अन्य अज्ञानमें भाइयों में यदि सबसे पहिले तुम मिलोगे तो तुम शोभायमान बनोगे। कहो अब विलंब किस कारण करते हो। बार, मुहूर्त की ममता के लिये विलाप मत करो।

> वलीवह (विलीवह—) विप्र—विलापितम्
> माम—ममता
> पाठांतर— मिलिउँ म समउँ' के स्थान पर 'होसिय सोहिलउँ'

१ १—बीजवपन का उत्तम समय देखकर कृषि करने से फलप्राप्ति होती है, यदि ये सुयोग शीघ्र मिल जायँ तो। पर जो मनुष्य मन से बात का विमर्श नहीं करता और विलंब करता है उसकी बात (कार्य) का विनाश होता है।

[टिप्पणी—कृषि का नियम है कि बार, मुहूर्त देखकर खेती की जाती है। यदि मुहूर्त शीघ्र न मिले तो विलंब से बीज बोने पर वह उगेगा ही नहीं क्योंकि खेत की नमी समाप्त हो जायगी।]

वराप—(१) बीजवपन का सर्वोत्तम समय, (२) बीज से अंकुर निकलना।
करणउ—कृषि (सं)। ओरा करणाउ खाई छे—मनद।

१ २—यदि तुम स्वतः उनसे न मिलोगे (अधीनता स्वीकार न करोगे) और कटक भेजोगे तो इससे क्या होगा। राजा नरेश्वर उस सेना को क्षमा देगा। इसका भाव होना चाहिए कि जो कोई नरेश्वर से युद्ध करेगा, उसकी बात को नरेश्वर हृदय में धारण करेगा, अर्थात् युद्ध करनेवाले शत्रु को क्षमा नहीं करेगा।

१ ३—भीम (के सदृश बड़े वीर) अनेक हाथियों पर नाचते हैं और उन्होंने सीमावर्ती सभी देशों को (अपने राज्य में) ले लिया है। भरत तुम्हारा भाई है और मीठा माना है। सो तुम उससे दाव भात मत करो।

'दाव' का अर्थ है offering—पंच पंडव चरित रासु, १८७४१।

अतः यहाँ 'दाव करीसइ' का भाव 'युद्ध का नेतृत्व करना' भी हो सकता है।

१०४—तब बाहुबलि बोला—(हे दूत) अपनी भुजाओं में बल नहीं तो पराए की आशा कौन करे। जो मूर्ख और अज्ञानी होता है वह दूसरे के बल पर गरजता है। मैं अकेला ही घोर युद्ध में भट भरतेश्वर के सामने स्थित हो युद्ध करके अपने भुजबल से उसका भंजन कर दूँगा। बाघ के सामने भेड़ी नहीं ठहर सकती है।

माह—बाघ

ठवणी ८

१०५—हे दूत, यदि मैं ऋषभेश्वर का पुत्र हूँ और भरतेश्वर का सगा भाई हूँ तो मन में यह जानकर वह मुझे मुक्त क्यों नहीं रहने देता। हे अज्ञानी, फिर तू व्यर्थ इस प्रकार दुःखी मत हो।

म झंपिसि=(तू) दुःखी मत हो।
आल—व्यथ, झूठमूठ।

१०६—किस कारण पराए की आशा कीजिए। सिद्धि (सफलता) साहसी को स्वयं वर लेती है। मैं अन्याय के कारण हाथ में हथियार धारण करूँगा क्योंकि यह वीरों का परिवार है।

अनह—अन्याय (अणाय)

१०७—अरे दूत, यदि सूअर और सियार सिंह को खा जाएँ तो बाहुबली भी भूपवली भरतेश्वर से भाग जायगा। यदि गाय बाघिन को खा जाए तो भरतेश्वर मुझे जीतेगा।

जीपइ>जिप्पइ>जित्त>जित (सं०)

ठवणी ६

१०८—दूत बोला—हे बलवान् बाहुबली, यदि तुम आज्ञा न मानोगे तो भूपवली भरतेश्वर तुम्हारा प्राण ले लेगा।

१०६-११०—उसके ६६ करोड़ छविमान् पदाति (पैदल सैनिक) हैं और ७२ करोड़ उड़नेवाले घोड़े हैं। श्रेष्ठ नरवर भी उससे पार नहीं पा सकते और उसकी सेना का भार सह नहीं सकते। यदि कोई देवलोक में भी चढ़ जाए

तो (वह उसे) वहाँ से भी गिरा देता है। शत्रु गिरि-कंदरा में छिपने पर भी नहीं छूटता। हे बाहुबली तुम मरकर मत नष्ट हो!

१११—गज और गदभ में घोड़े और मेढ़ में जो अंतर है, जो तुलना सिंह और शृगाल की है (उसी तुलना के अनुसार) भरतेश्वर और तुम परस्पर विचरण करते हो। (फिर तो) निवेदन करने पर भी किसी प्रकार तुम न छूटोगे।

अण्णइ=अण्णेण्ण > अन्योन्य (परस्पर)
हुड=मेढ़ अथवा कुत्ता

११२—अतः अपना सर्वस्व (भरतेश्वर को) समर्पित करके भाई को प्रसन्न करो। किस धूर्त के कहने से तुम्हारे अंदर ऐसी कुबुद्धि आ गई? हे मूल मूढ़ता न करो। अरे गँवार, मरो मत। (भरतेश्वर के) पद को प्रणाम करके युद्ध न करो।

समार—समर। संहार—युद्ध।
कूड—असत्य, छल। कूडी—छली।

११३—वह तुम्हारे गढ़ को तोड़कर वीरों का प्राण हरण कर तुम्हारे भाग्यों का भी विनाश कर अपना हृदय शांत करेगा।

पाठांतर—तई मारइ राउ माथि-विनाथि।
तो राजा माथा—विश्राम से मारेगा।

११४—बाहुबली बोले—(हे दूत) भरतेश्वर का तो कहना क्या, मेरे साथ युद्ध में सुर और असुर भी नहीं टिक सकते। यदि (भरतेश्वर को) चक्रवर्ती का विचार है तो हमारे नगर में (चक्र चलानेवाले) अनेक कुम्हार रहते हैं।

चक्रवर्ती—(१) चक्रवर्ती राजा (२) चक्र चलानेवाला कुम्हार।

११५—(एक बार) अकेले गंगातीर पर रमते हुए गंगा में (भरतेश्वर) वम से गिर पड़ा। मैंने उसे बचाया। आकाश से गिरने पर भी वह शरारत करता रहा। वह क्रोध करता था तब भी मैं उसपर करुणा करता रहा।

११६ ११७—इतने पर भी वह गँवार शारीरिक घटनाओं को भूल गया। यदि वह युद्ध में मिलेगा तो तारतम्य उसे ज्ञात होगा। यदि उस मुकुटधारी

का मुकुट न उतार लूँ, रुधिर के प्रवाह में घोडे हाथी (की सेना को) न डुबा दूँ, यदि राजा भरतेश्वर को मार न डालूँ तो पिता ऋषभेश्वर की मुझे लाज है। (हे दूत), तुम झट भरतेश्वर के पास जाकर सूचना दे दो कि वह अपने श्रेष्ठ घोडे, हाथी और रथ को शीघ्र (युद्ध क्षेत्र में) चलावें।

आपणि—अकेले।

११८—दूत बोला—हे राजा ! सुनो न। उन दिनों की बात मत करो जिन दिनों वह (भरतेश्वर) गंगातीर पर खेला करता था। (अब वह ऐसा चक्रवर्ती राजा बन गया है कि) उसके दल के चलने के भार से शेषनाग का सिर और उसके फण का मणि सलसला उठता है। यदि तुम उसकी आज्ञा नहीं मानते तो भरतेश्वर तो दूर रहा, कल सूर्य उगते ही मल्ल समुदाय के द्वारा आप ही आप में (सारा राज्य) बलात् अधिकार में कर लूँगा।

आपायूँ—अपने आप
वेढिउँ—वेढ (वेष्ठ) = लपेट लेना, अपने अधिकार में कर लेना।

११९—इस प्रकार कहकर दूत चल पड़ा। मंत्रीश्वर विचार करने लगा (और बोला) हे देव, दूत को प्रसन्न कीजिए। अन्य ९८ कुमारवर, जिन्होंने पृथक् पृथक् रूप से भरतेश्वर को प्रचारा, वे सब उसकी आज्ञा मान गए और बली भरतेश्वर के पास आ गए। हे अक्षय स्वामी, बांधवों के सधिबल का विमर्श न करो। (वे ९८ बांधव आपका साथ न देंगे।)

पाठांतर—ते अणमन्निउ (वे आज्ञा मान गए)।

१२०—[दूत राजा भरतेश्वर के पास जाकर बाहुबलि का वृत्तांत सुना रहा है।] वे (बाहुबलि) क्रुद्ध हुए, किलकिला उठे। (मानो) काल की दूसरी कालाग्नि प्रज्वलित हो उठी हो। महाबल के हाथ में करवाल आने पर उसका स्वरूप ऐसा हुआ मानो कंकोल वृक्ष कोरवित हो उठा हो।

काल ही कलकल करता हुआ मुकुटधारी (बाहुबली) से मिल गया। कलह के कारण विकराल कोप प्रज्वलित हो गया हो।

पाठांतर—ककोली किम रोपीओ ?

१२१—गड़गड़ाहट से कोलाहल हुआ और, गगनांगण गरज उठा। सुभट सामंत पूरी समाधानिका (तैयारी) के साथ चल पडे। कवच से

आच्छादित हाथी गड़गड़ करते हुए क्रीड़ा में पर्वतों के शिर (शिखर) गिरा देते हैं। उत्कंठित होकर गलगलाते हैं और युद्ध (भूमि) को प्राप्त कर देते हैं।

करत—(करट) युद्ध। ऊकालई—उक्र=प्राप्त

१२२—(युद्ध का वर्णन करते हुए कवि कहता है) हाथी जुट जाते हैं, भिड़ जाते हैं और (क्रुद्ध) वीरों को मार डालते हैं तथा (क्रुद्ध को) दूर भगाकर खड़खड़ करते हुए खंड खंड कर देते हैं। वे (हाथी) तेज दौड़ते हैं शत्रु को धुन देते हैं और अपना बलशाली उदातक पैंठा देते हैं। त्वरा मचानेवाले तेजस्वी (घोड़े) खुर से पृथ्वी को खोदकर धूल उड़ाते हैं। बीस कसे पांवे समसहे मुखसे खसमसाते शब्द करके (शत्रुओं में) प्रविष्ट हो जाते हैं।

समसई=एक दूसरे से सट जाते हैं।

१२३—घोड़े कंधे को आगे बढ़ाए हुए उत्साहपूर्ण होकर लगाम (चवा) कुतर रहे हैं। चमत्कार अनेक घुंघरुओं के बजने से युद्धक्षेत्र में रणण रणण की ध्वनि हो रही है। उन घोड़ों पर सवार योद्धा बाज पक्षी के समान कार्य सिद्ध करते फिरते हैं और सेना हथियार का प्रयोग कर रहे हैं। वे उत्साह में भरे मंसूबा करते हुए अंगों की आशा करके (बाज के समान) उड़ रहे हैं।

१२४—अनेक रथी और सारथी (भीड़ में) घुसकर, दौड़कर पृथ्वी को भहरहा (कँपा) देते हैं। प्रत्येक योद्धा अपने अपने जोड़ के साथ युद्ध में जुट रहा है। जटाधारी जटाधारियों के साथ, प्रौढ़ प्रौढ़ों के साथ और सन्नाहधारी (वस्तर धारण करनेवाले) कवचधारियों के साथ जुट रहे हैं। पैदल सेना (चारो ओर) इतनी फैल गई है मानों समुद्र ही उमड़ गया हो। फौज की लहरियों में अपाम (विवश) होकर बड़े बड़े वीर बह रहे हैं।

पाठांतर—'वरढ' के स्थान पर 'बारठ' उत्तम जान पड़ता है।
'बारठ का अर्थ है 'प्रौढ़' (पाइअ सद महण्णव)।

१२५—रणक्षेत्र में हूर हार, टंकार की रणण रणण ध्वनि से त्राहि त्राहि मच गई है। ढाक, ढुक्क और ढोल के डमडम से राजपुत्र (योद्धा)

उत्साह से भर जाते हैं। अनेक निसानों के घोर रव रूपी निर्झर शत्रु की गति को रोक देते हैं। रणभेरी की घोर ध्वनि से पृथ्वीमंडल विजृंभित हो उठा।

१२६—बिजली की गति के समान करवाल (तलवार), कुंत, कोदंड, साबल, सशक्त सेल, हल, प्रचंड मूशल, धनुष पर प्रत्यंचा की टंकार के साथ बाण समूह को ताने हुए, फरसे को हाथ में लेकर भाला चला रहे हैं।

१२७—तीर, तोमर, भिंडमाल, डबतर, कंसनंघ, सांगि, शक्ति, तलवार, छुरी, नागनिबंध (नामक) हथियारों का प्रयोग हो रहा है। घोड़ों की खुरों से उड़ती हुई धूल रविमंडल पर छा गई है। पृथ्वी धूज उठी है, कोल कलमला उठा है और समस्त विश्व कंपित हो उठा है।

१२८—गिरिश्रृंग-समूह डाँवाडोल हो उठा। आकाश में खलबली मच गई। कूर्म की कंध-संधि कड़कड़ाने लगी (कोलाहल के भार से कूर्म की पीठ टुकडे टुकडे होने लगी)। सागर उछलने लगा। संहार के कारण शेष-नाग के सिर चंचल हो उठे (शेषनाग के सिर पर पृथ्वी स्थित मानी जाती है)। वह पृथ्वी को सँभाल नहीं सकता है। कंचनगिरि पर्वत कंधे के भार से थककर कसक उठता है।

कमकमी=क्लम=क्लांति

१२६—किन्नर काँप उठे और हरगण हड़हड़ाकर (महादेव की) गोद में पड़ गए। देवता स्वर्ग में सशंक हो उठे और समस्त दानव दल हड़हड़ा (भयभीत हो) उठा। चारो दिशाओं में ऊँचे ऊँचे नाचते हुए झंडे बहुत दूर तक लहक रहे हैं। सामंत अपने सिर पर केशराशि को कसकर संचरण कर रहे हैं।

चलचिंध—चंचल चिह्न (झंडे)।

१३०—भरतेश्वर अपनी सेना को देखकर (अपनी) मूँछ मरोड़ता है। (वह सोचता है) बाहुबली (मेरे सामने) कौन है जो मुझसे (अपने को) बली समझता है। यदि वह गिरि-कंदरा के विवर में भी प्रविष्ट हो जाए तो भी छूट नहीं सकता। यदि वह जलाशय या जंगल में भी चला जाए तो भी अवश्य नष्ट हो जाएगा।

१११—गज साधन से संपन्न होकर वीर नर पोतनपुर को अधिकार में करने के लिए चले। भरतेश्वर के मंत्रीश्वर ने कहा कि हे (महाराज), बात बनाकर बहुत बढ़िए नहीं। बाहुबली श्रेष्ठ मनुष्य है। आपने यह अविमर्श का काम किया है। आपका काम बिलकुल कच्चा है।

११२—हे नरवीर, भाई से आप इतना विरोध क्यों कर रहे हैं? लघु भ्राता तो अपने प्राण के समान ही होता है। आप क्यों नहीं उसे इस प्रकार समझते हैं? हे राजा, आप अपने मन में विचार कीजिए। क्या बाहुबली कोई परराष्ट्र का है। वह वीर तो वन में चला गया और आप अपने घर में बाबाद कर रहे हैं।

११३—शृंखला में बँधे हाथी गलगला रहे हैं, घोड़ों को घास डाली जा रही है। इस प्रकार भरत राय के आवास पर हलमल (धमधम) हो रहा है। कोई निरंतर जल ला रहा है कोई ईंधन ला रहा है। कोई अपंग (अक्षमी, लँगड़ा लूला) दूसरे के ऊपर (सहारा लेकर) खसकता रहा है। कोई भाई हुई तृण राशि उतार रहा है।

११४—कोई उतारा करके (सामान को नीचे उतारकर) घोड़ों को घलघरा (झाड़ियों) में बाँध रहा है। कोई घोड़ों को खुराक दे रहा है और कोई चारा तैयार कर रहा है। कोई नदी में मिट्टी का पात्र भरकर किनारे पर घोरों को बुला रहा है। कोई सवार हाँ कर रहा है। कोई सार साधन को अदल बदल रहा है।

> घलगार>घलघरा>[घल + घर] एक झाड़ी का नाम
>
> राँधइ—प्रस्तुत कर रहा है
>
> चाव—"हाँ" करना
>
> वेलावई—अदला बदला करते हैं
>
> साहण—साधन

११५—ताप (गर्मी) से आकुल एक सैनिक नदी के तट पर बैठ कर पंखा झल रहा है। एक सुभट सैनिक धर्म धारण करके देवस्थान के चबूतरे पर देवाराधना कर रहा है। (कोई) स्वामी आदिजिन की प्रकाश में ही पूजा (स्नानादि) संपन्न कर देता है। उन्हें कस्तूरी, कुंकुम कपूर चंदन आदि से सुवासित करता है।

१३६—राजा भरतेश्वर ने चक्ररत्न की पूजा की और वह पृथ्वी पर जाकर बैठ गया। इतने में असंख्य तूर्य बज उठे और राजा दौड़ता हुआ आया। जितने मंडलपति, मुकुटधारी, और सुभट थे उन सबको राजा ने झलकते हुए स्वर्ण कंकणयुक्त हाथों से तांबूल दिया।

वस्तु

१३७—बाहुबली के पास दूत पहुँचा। उसने कहा—हे नरवर बाहुबली, बार बार मेरी बात सुन लीजिए। आप राजा भरतेश्वर की पदसेवा कीजिए। कौन ऐसा भारी योद्धा है जिसको वह रणक्षेत्र में भुजभार से भाग न दे। हे मूर्ख, यदि भरत की आज्ञा को सिर पर धारण कर लो तो परिवार के सहित सैकड़ों गुना आनंद प्राप्त करोगे।

१३८—राजा बाहुबली बोला—हे दूत! सुनो, मैं अपने पिता ऋषभदेव के चरणों को प्रणाम करके कहता हूँ, मुझे भाई ने धोखे से बहुत ही लज्जित किया। भरतेश्वर भी तो ऋषभदेव जी का वैसा ही लड़का है (जैसा मैं हूँ)। उसने मुझसे क्यों न कहा कि मेरी सेवा करो। यदि मैं अपने भुजबल से उनसे भिड़ न जाऊँ तो वीर होकर युद्धवाद (क्षत्रियत्व) की निंदा करनेवाला हो जाऊँगा और मेरे पिता त्रिभुवन के धनी ऋषभेश्वर (मेरी करतूत से) लज्जित हो जाएँगे।

ठवणी ११

(बाहुबली के विचार सुनकर) दूत भरतेश्वर के पास पहुँचा और सारी बात उसने सुना दी। (उसने कहा कि) बाहुबली वीर की कोपाग्नि प्रज्वलित हो उठी है। वह साधन एकत्रित कर रहा है कि शत्रु भाग जाएँ। आतुर होकर सवार युद्ध के लिये चल पड़े हैं, इस कारण घोर निनाद उठ गया है। मेरी बात सुनकर उसी समय बाहुबली क्रोध से परिपूर्ण हो गया।

[भरतेश्वर और बाहुबली के युद्ध का वर्णन है]

१४०—युद्ध की खाज उठने से लड़ाई करते हुए (योद्धा) एक दूसरे का सिर फोड़ने लगे। दो योद्धाओं के बीच में जो अज्ञानी आ जाता था उसका अंत निश्चित था। राजपुत्र से राजपुत्र, योद्धा से योद्धा, पदाति से पदाति, रथी से रथी, नायक से नायक युद्ध करने लगे।

द्वारा) मुक्का मार मारकर नरनरी का घायल कर डाला। सुरकुमार को देखते हुए वीर दोनों मुष्टिकों से भिड़ गए। नेत्रों से देखा कि राजा कुपित हो गया तो उसने चक्ररत्न को स्मरण किया। उसके (बाहुबली के) प्राण कपाय भरकर छोड़ना चाहता है। उस समय मनसवेग विचार करने लगा।

सुरकुमार—नाम विशेष
पूठिहिं—पाठांतर—मूठिहिं

१४६—राजा के सुभट इसका चिंतन करने लगे कि यदि आज कार्य समाप्त ही होनी है, यदि मरण निश्चित है, तो कैसे हो, चक्रवर्ती भरतेश्वर को प्रसन्न करना चाहिए। इस प्रकार कहकर चक्रवर्ती के योद्धा मुष्टिक-प्रहार के लिये उल्लसित हो उठे। शूर वीर योद्धाओं की मंडली में प्रविष्ट हुए। चंद्रमंडल को मोहित करनेवाला चंद्रचूड़ का पुत्र युद्ध का उल्लसित हो उठा। भरतेश्वर का युद्ध देखकर चक्रवर्ती पर हुए चक्र रास्ता रोकता गया।

टिप्पणी — मुष्टिक युद्ध : योद्धा बाहों में कुहनी तक लोहे का आवरण धारण करके एक दूसरे से (बाक्सिंग की तरह) युद्ध करते हैं। कटि प्रदेश के नीचे प्रहार करना वर्जित माना जाता है।

१५ —विद्याधरों ने विद्याबल से राजपुत्रों (सुभटों) को पाताल में जाकर रोक लिया। चक्र उनके पृष्ठ भाग में पहुँच गया और ताड़ना करने लगा। सहस बलवीर यह बोले—ठहरो ठहरो। राजा रुठ गया है। तुम जहाँ जाओगे वहाँ अवश्य मारेगा। त्रिभुवन में (बचाने का) कोई उपाय नहीं है जो तुम्हें जोखम से बचा सके।

१५१—जीवन का मोह छोड़ दो मन में मृत्यु का त्रास भर लो। उस स्थान पर एक आदि जिनवर स्वामी का नाम स्मरण कर लो। वज्र बगल में घुस गया है। नरनरी ने पीछे मुड़कर देखा—उसके सिर को चक्र ने उतार लिया। बाहुबली के बल से कलमलाकर भरत भूपति ने (चक्र के) पद कमलों की पूजा की। उसके चक्रपाणि में चक्र चमका किंतु कलह के कारण निश्चित रूप से (सेना का) मथन करने लगा। अप्सरा (कलकलें) विलापरूप ध्वनि होने लगी।

१५२—चक्रधर की सेना संग्राम में कलकलाने लगी। (चक्र ने पूछा)—कौन है बाहुबली है? वह पोतनपुर का स्वामी है जो बल में दस गुना दिखाई

देता है ? कौन तू चक्रधर है ? कौन तू यक्ष है ? कौन तू भरतराज है ?' सेना का विध्वस करके प्रतिष्ठा को नष्ट कर आज ऋषभ वंश को मिटा सकता हूँ।

ठवणी १३

१५३-१५४—विद्याधरराज चद्रचूड को उन बातों से बड़ा विस्मय हुआ। हे कुलमडन, हे कुलवीर, हे समरागण में साहस रखनेवाले धीर, आप चाहे कितनी बातें कह लें (कितनी भी ताड़ना दे लें) किंतु अपने कुल को लज्जित न कीजिए। हे त्रिभुवन के पिता, आप पुनः भरत का कल्याण कीजिए। मगल का वचन दीजिए।

१५५—(वह चक्र) बाहुबली से बोला—हे देव, आप अपने हृदय मे विमर्श करके दुखी मत हो। कहो, मैं किसके ऊपर क्रोध करता हूँ ? यह तो दैव को ही दोष दीजिए।

१५६—हे स्वामी, कर्मविपाक विषम है। इससे रंक राजा कोई बच नहीं सकता। भाग्यलेख से अधिक या कम किसी को नहीं मिलता।

१५७—भुजबली भरत नरेंद्र को नष्ट करूँगा। (और तो क्या) मेरे साथ रण में इद्र भी ठहर नहीं सकता। इतना कहकर उसने बावन वीरों को चुन लिया। वे साहसी और धैर्यवान् योद्धा युद्ध करने लगे।

सेले—(सेल्ल) शर, कुंत, बर्छी। यहाँ इनके द्वारा युद्ध का भाव है।

१५८—घोर (योद्धा) धसमस (भीड़) में धड़धड़ करते हुए धँस गए। कवच (लोहे की झूल) से सुसज्जित हाथियों का दल गड़गड़ करता हुआ गरजने लगा। जिसके भय से योद्धा भड़भड़ करके भड़क उठते हैं वह चद्रचूड़ बड़ी ही शीघ्रता से (जल्दी जल्दी) चमक उठा अथवा प्रहार करने लगा।

चटका = चट् = (१) चमकना, (२) मारना

दडवड—(देशज) शीघ्र, जल्दी } = जल्दी जल्दी
चड— ,, जल्दी

१५६—वह खलदल को खाँड़ा से मारने और दलने लगा। और (पदाति)-समूह को हन हनकर हयदल पर प्रहार करने लगा। इस

तात—तात (पिता)
प्रधावीय—दौड़ते हुए (सं प्रधा)

१७२—सुयशोम युद्ध में हुंकार करता हुआ तोमर हथियार से प्रहार करने लगा। पाँच बरस तक बीरों से लड़ता रहा और राजा (वर्ग) को अपने अपने स्थान पर निर्भाग मरता गया।

सिवारिया—निवारण

१७३—किसी को चूर्ण कर दिया, किसी को पैरों के नीचे दबा दिया। एक को गिरा दिया और एक पर प्रहार किया। मेघास भक्त (काम) से भरकर युद्ध करता रहा। आपमेश्वर के वंश का वस्त्र है।

(मेघास भरत का पुत्र था)
समाद—युद्ध करता है।

१७४—लकमारी नामक भरतेश्वर के पुत्र ने रण में मस्त होकर प्रथम पाँव रोपा। कितने यवनल का उसने संहार किया उसकी कोई गणना नहीं। रण के रस में वह वीरवान् व्यक्ति स्वयं भी आघात सहता है और दूसरों को भी धुनता है।

१७५—बीस करोड़ विद्याधर एकत्रित हुए और उनका नेता सुमुखि कलकल करने लगा। शिवनंदन के साथ युद्ध में मिला। बासठ दिन तक दोनों पक्ष के समान युद्ध करते रहे।

विहुँ=दोनों

१७६—हाथ करके हाथ का चक्र चलाया। (उसने सोचा) वैरी को बाहुबिशाल से मार डालूँ। बाहुबली राव संकित रहा और भरतेश्वर की सेना बोली कि हम उसका नाश कर डालेंगे।

विनाशि—(सं) विनाश
संकी—सुशोभित (संकित)

१७७—दोनों दलों में युद्ध का बाजा (काहली) बजने लगा। चल दल से पृथ्वी और आकाश में खलबली मच गई। धरा (पृथ्वी) धड़क कर कपने लगी। वीर वीर के साथ स्वयंवर करने लगे।

काहली—युद्ध में बजनेवाला बाजा

१७८—इतनी धूल उड़ी कि सूर्य दिखाई नहीं पड़ते। एक सवार दूसरे सवार को नहीं देख पाता। वीर (भीड़ में) धँसते हुए दौड़कर (शत्रु को) पछाड़ देते हैं। हन हनकर शत्रु को मारते हैं और हँसकर उन्हें प्रचारते हैं।

हणोहणि—हन हनकर (तीव्र प्रहार करके)

१७९—गजघटा गड़गड़ाती हुई (शत्रुओं को) नीचे फेंक देती है। शून्य में तुरग तेजी से दौड़ रहे हैं। धनुष की प्रत्यंचा की टंकार सुनाई पड़ रही है। भेरी बजानेवाले युद्ध में नहीं ठहरते, भाग जाते हैं।

धोंकार=धों (अनुरणन) Onomato + कार (सं०) धनुष की टंकार
प्रा० ढलइ>ध्वरति=नीचे गिराना

१८०—(ऐसा घोर संग्राम हुआ कि) रुधिर की नदी बहने लगी और उसमें पर्वतशिखर डूबने लगे। रणक्षेत्र में राक्षस रीरियाट (री री का शब्द) कर रहे थे। नरेंद्र भरत हयदल को (ऐसे) हाँक रहा था और उसके साहस की सुरेंद्र भी श्लाघा कर रहा था।

सग्गि—स्वर्ग में

१८१—भरत का पुत्र शरभ संग्राम में अग्रिम स्वामी (सेनापति) के गजदल को नष्ट करने लगा। तेरह दिन तक योद्धाओं पर आघात कर उन्हें पछाड़ता रहा। राजा बाहुबली (इसे देखकर) सिर धुनता रहा।

१८२—उससे (बाहुबली से) देववर (सुरेंद्र) सार तत्व इस प्रकार कहने लगा—(तुमने) इतने वीरों का संहार देखा! तुम (इतने) जीवों की हत्या क्यों करा रहे हो? (इस कारण) तुम्हें चिल्लाते हुए नरक में पड़ना होगा।

एवड्डु—इतने प्रमाण में
रीव—कष्ट के कारण चीत्कार

१८३—(सुरराज के इस उपदेश वचन को सुनकर) दोनों भाई (भरतेश्वर और बाहुबली हाथी से उतर पडे। उन्होंने इंद्र की बात मान ली। दोनों मल्ल युद्ध के लिये अखाडे में प्रविष्ट हुए। दोनों का सबल शरीर विशाल पर्वत के समान था।

पाहि—प्राय

१८४—वचनयुद्ध में वीर योद्धा भरत बाहुबली को जीत न सका। दृष्टियुद्ध में 'कुसमणा (कपल) करते हुए हार गया। दंडयुद्ध में वह तुरंत छिप जाता अथवा भूम जाता है। बाहुपाश में वह तड़फड़ाने लगता है।

भंभाइ—भंभ=(भ्रम्) घूमना अथवा आच्छादन=ढकना

१८५—भरत बाहुबली के मुष्टिका-प्रहार से गुटिका (गाली) के समान धरती के मध्य गिर पड़ा। सबल भरत के प्राण बाहुबली के तीन (चार) घात से कंठगत हो गए।

समउ > सं समं
गुडा > सं॰ गुटिका

१८६—क्षुः खंड का धनी भरत क्रुद्ध हुआ। उसने सेवकों से कहा कि चक्र भेजो। वह ज्यों ही ज्योंही एक ओर जाकर खड़ा हुआ त्योंही बाहुबली ने उसे पकड़ लिया।

पासलि—पश्चात्—एक ओर खड़ा होना।
भाइ—भागिन्—सेवा करनेवाले।

१८७—बलवंत बाहुबली (भरत से) बोला कि तुम लोह खंड (चक्र) पर गर्वित हो रहे हो। चक्र के सहित तुमको चूर्ण कर डालूँ। तुम्हारे सभी गोत्रवालों का शस्त्र द्वारा संहार कर दूँ।

चूनउ—चूर्ण
सचक—सचक्र
हुँत—हो
वरीसउ—सहार

१८८—भरतेश्वर अपने चित्त में विचार करने लगे। मैंने भाई की रीति का लोप कर दिया। मैं जानता हूँ चक्र परिवार का दमन नहीं करता। (भ्रातृवध के) मेरे विचार को धिक्कार है। हममें अपने हृदय में क्या सोचा था। अथवा मेरी ममता किस गिनती में है ?

माम—१—कोमल आमंत्रण-सूचक अव्यय (पउम १८, ११)
२—ममता

१८६—तब बाहुबलिराज बोले—हे भाई, आप अपने मन में विषाद न कीजिए। आप जीत गए और मैं हार गया। मैं ऋषभेश्वर के चरणों की शरण में हूँ।

१९०—उस समय भरतेश्वर अपने मन में विचार करने लगे कि बाहुबली के (मन में) ऊपर वैराग्य, मुमुक्षुता चढ़ गई है। मैं बड़ा भाई दुखी हूँ जो अविवेकवान् होकर अविमर्श में पड़ गया।

संवेग=वैराग्य, मुमुक्षुता
दूहविउ—दुःखित (वि०) किं केणवि दूहविया

१९१—भरतेश्वर कहने लगे—इस ससार को धिक्कार है, धिक्कार है। रानी और राजऋद्धि को धिक्कार है। इतनी मात्रा में जीवसंहार विरोध के कारण किसके लिये किया।

कुण—कौन

१९२—जिससे भाई पुनः विपत्ति में आ जाय ऐसे कार्य को कौन करे। इस राज्य, घर, पुर, नगर और मदिर (विशाल महल) से काम नहीं। अथवा कहो कौन ऐसा कार्य किया जाय कि भाई बाहुबली पुनः (हमारा) आदर करे।

पाठातर—आदरइ (आवरइ के स्थान पर)
आवरइ=(आ+वृ)=आवृत्त
ईणइ=>(प्राकृत) एएण>(सं०) एनेन, एवेन]

१९३—बाहुबली अपने सिर के बालों का लोच कर रहा है। और काया उत्सर्ग करना चाहता है। आँसुओं से नेत्र भरे हैं। उसके चरण को वीर भरत प्रणाम करने लगा।

काउसगि—कायोत्सर्ग
लोच कराना—केश नोचना
पय—पद

१९४—(भरत बोले)—हे भाई, अब कुछ न कहो। मैंने ही अविमर्श (मूर्खता) का कार्य किया है। मुझ भाई को निश्चित रूप से मत छोड़ो। मुझे छोड़ दोगे तो ससार में मैं अकेला रह जाऊँगा।

मेस्ह—मेलवा (दे० मावन=छोड़ना)
निव्रोल—(दे० निवरां) निश्चित रूप से

१९५—आज मेरे ऊपर कृपा कीजिए। हे विदग्ध मुझे मत छोड़ो, मत छोड़ो। मैंने अपने से आपको धोखा दिया है। अपने हृदय में विषाद मत धारण करो। इससे मुझे पश्चात्ताप होता है।

छुमल (दे०)—विदग्ध, चतुर
विरांशीमा = (विभ्रम) पश्चात्ताप (गुजराती इंगलिश कोश)

१९६—हे नव मुनिराज, मान जाइए। (हमारी प्रार्थना मान लीजिए) यदि मनाने से आप मौन न छोड़ेंगे और आप अपना मान (रूठने का भाव) न छोड़ेंगे तो मैं वर्ष दिन तक निराहार रहूँगा।

मेल्हे, पाठांतर—मुकाल=छोड़ना

१९७—ब्राह्मी और सुंदरी दोनों बहिनें अपने बांधव को समझाने वहाँ आई। (वे समझाने लगीं—हे भ्राता,) यदि आपका मान रूपी गर्वेंद्र उतर जाय तो केवल श्री अनुसरण करे।

बंभीउ—ब्राह्मी (बाहुबली की बहिन)

१९८—केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। तदुपरांत वे भुवनेश्वर के समान विचरण करने लगे। (तब) भरतेश्वर सब भीड़ के साथ अयोध्यापुरी आए।

माणा=ज्ञान
परगहि—परिकर (सभी साथी)

१९९—सुरेंद्र हृदय में प्रसन्न होकर अपने यहाँ उत्सव करते हैं। ताल कंसाल बज रहे हैं। पटह और पखावज गमगम ध्वनि कर रहे हैं।

२००—तब चक्ररत्न प्रसन्न होकर आयुधशाला में आया। घोड़े गजघटा, रथवर और राजमणियों की संख्या अपरिमित थी।

रायमिह—राजमणि

२०१—दसों दिशाओं में (भरतेश्वर की) आज्ञा चलने लगी और भरतेश्वर प्रसन्न हो उठे। रायगच्छ के शृंगार वज्रसेनसूरि के पट्टधर, गुणगण के भंडार शालिभद्र सूरि ने भरतेश्वर का चरित्र रास छंद में लिखा।

रेवंतगिरि रास

[अर्थ]

(इस स्थान पर भापातर देने का प्रयोजन यह है कि प्राचीन भापा से अनभिज्ञ पाठक इसका भाव अर्थात् साराश भली प्रकार अवगत कर सकें।)

छद—प्रथम दो पाद 'मुखवध' छंद में लिखा है।

छदयोजना के सदर्भ को देखते हुए प्रथम दो पाद 'मुखबंध' का दिखाई पड़ता है और इसी छद में प्रत्येक कड़ी के आरभ में दिया हुआ दो पाद सच्ची रीति से अगली कड़ी का अत्य पाद है। इसलिये दूसरी कड़ी के आरभ का दो पाद पहली कड़ी का पाँचवाँ और छठा पाद है। इसी रीति से से ६वीं कड़ी तक है। ६वीं के आठ पाद में से आरंभ का दो पाद आठवीं का अत्य पाद है।

प्रथम कड़वक

परमेश्वर तीर्थेश्वर [तीर्थंकर] के पदपकज को प्रणाम करता हूँ और अबिकादेवी का स्मरण करके मै रेवंतगिरि का रास कहूँगा ॥ १ ॥

पश्चिम दिशा में गाँव, आकर, पुर, वन, गहन जगल, सरिता, तालाब से सुदर प्रदेशवाला, मनोहर देवभूमि के समान सोरठ देश है ॥ २ ॥

वहाँ मडल के मडन रूप, निर्मल, श्यामल शिखरों के गुरुत्व से ऐसा प्रतीत होता है मानों (वह) मरकत-मणि के मुकुट से शोभित है। ऐसा रेवतगिरि (गिरनार) शोभा देता है। ॥३॥ और उसके मस्तक पर श्यामल सौभाग्य और सौंदर्य के सार रूप में निर्मल यादवकुल के तिलक के समान स्वामी नेमिकुमार का निवास है ॥ ४ ॥

उनके मुख का दर्शन करनेवाले, भावनिर्भर मनवाले, और रग तरंग से उड़नेवाले देश देशातर के सघ दसों दिशाओं से आते हैं ॥ ५ ॥

गुर्जर धरा की धुरी रूपी धोलका में, वीर धवलदेव के राज्य में पोरवाड़ कुल के मडन और आसाराज के नदन मत्रिवर वस्तुपाल और तेजपाल दो भाई थे। दोनों बधु वहाँ दुःसमय में सुसमय ला सके ॥ ६–७ ॥

मार्गमगच्छ के मंडन सूरिराज विजयसेन थे। उनका उपदेश पाकर इन दोनों नररत्नों ने धर्म में दृढ़ भाव धारण किया ॥ ८ ॥

तेजपाल ने निज नाम से गिरनार की तलहटी में उत्तम गढ़, मठ एवं प्याऊ पर एवं आराम से सुसज्जित मनोहर तेजलपुर बसाया ॥ ९ ॥

उस नगर के आसाराज विहार में पार्श्वजिन विराजमान थे। वहाँ तेजपाल ने निज जननी के नाम से एक विशाल कुमर सरोवर निर्माण किया ॥ १ ॥

उस नगर में पूर्व दिशा में उग्रसेनगढ़ नाम का दुर्ग था जो आदि जिनेश्वर प्रमुखजिन नामक मंदिर से पावन हो गया था ॥ ११ ॥

गढ़ के बाहर दक्षिण दिशा में चबूतरा और विशाल वेदी संयुक्त रमणीक कमरे के पास पशुस्थान था ॥ १२ ॥

उस नगर की उत्तर दिशा में सकल महिमंडल की मंडित करनेवाले खंभों से युक्त एक मंडप था ॥ १३ ॥

गिरिनार के द्वार पर स्वर्णरेखा नदी के तीर से भव्यजन पाँचवें हरि दामोदर को दर्शनार्थ प्रेमपूर्वक बार बार देखते ॥ १४ ॥

अगुरु, चंदन, आंवली अंबाडी, अंकोल, उमरो अंबर, आमड़ा, अमर, अशोक आहल, करवद, करपट, कल्पतरु, करमदी, करेथ, कुड़ा कमाइ, कदंब कङ्गु, वरव, कदली, कमीर, विवकिल, बंधुल, बकुल, वड़, वैतस वरवा, बिरंग वासंती विरण विरह आंवकाल, भव बंग, शीशम, शीमलो सिरिस, समी सिंसुमार, चंदन सरल, उत्तम सैकड़ों सहकार सागवान सरगवो, सचदंड इत्यादि वृक्षों से पूर्ण पत्रपुष्प-फल से उल्लसित वनराजी वहाँ शोभित है। वहाँ ऊज्जयंत (गिरनार) की तलहटी में धार्मिक लोगों के संग में आनंद समाता नहीं ॥ १९ ॥ वहाँ (घोर वर्षा-काल में) मरुमंत्री वस्तुपाल ने संघ की कठिन (बहुत दृढ़) यात्रा कराकर एकत्र की और मानसहित वापस भेजा ॥ २ ॥

---

१ पोशाला-स्थान विशेष

द्वितीय कड़वक

पृथ्वी में गुर्जर देश के अंदर रिपुराज विखंडन जिन-शासन-मंडन कुमारपाल भूपाल था। उसने भी श्रीमालकुड में उत्पन्न आम्बड को सोरठ का दंडनायक स्थापित किया। उसने गिरनार पर सुविशाल सोपान पंक्ति बनाई और उसके बीच बीच में धवल ने प्याऊ बनवाया। उस धवल की माता धन्य है जिसने १२२० वि० में पाद (सोपानपंक्ति) को प्रकाशित किया और जिसके यश से दिशाएँ सुवासित हुईं ॥ १ ॥

जैसे जैसे भक्त गिरनार के शिखर पर चढने लगता है वैसे वैसे वह संसार की वासना से धीरे धीरे मुक्त होता जाता है। जैसे जैसे ठंढा जल अंग पर बहता जाता है वैसे वैसे कलियुग नाम का मैल घटता जाता है। जैसे जैसे वहाँ निर्झर को स्पर्शकर शीतल वायु चलती है, वैसे वैसे निश्चय तत्काल भवदुःख का दाह नष्ट होता जाता है। वहाँ कोकिला और मयूर का कलरव, मधुकर का मधुर गुंजार सुनने में आता है। सोपान पर चढते-चढते दक्षिण दिशा में लाखाराम दिखाई पड़ता है। मेघजाल के समूह और निर्झर से भी रमणीय तथा अलि एवं कज्जल सम श्यामल (गिरिनार) शिखर शोभित है। वहाँ बहुत धातुओं के विविध रस से सुवर्णमयी मेदिनी प्रकाशित है। वहाँ दिव्यौषधि प्रकाशमान है। वहाँ उत्तम गहिर—गंभीर गिरिकंदरा है जो विकसित चमेली, कुंद, आदि कुसुमों से परिपूर्ण है। इसलिये दसों दिशाओं में दिन को भी तारामंडल जैसा दीख पड़ता है।

प्रफुल्ल लवली कुसुमदल से प्रकाशित सुरमहिला (अप्सरा) समूह के ललित चरण तल से ताड़ित गलित स्थल-कमल के मकरंद-जल से कोमल विपुल श्यामल शिलापट्ट वहाँ शोभित हैं। वहाँ मनोहर गहन वन में किन्नर किलकारी करते हुए हँसते हैं और श्री नेमिजिनेश्वर का मधुर गीत गाते रहते हैं कि जहाँ श्री नेमिजिन विद्यमान हैं वहाँ भक्ति भाव निर्भर और मुकुट मणि की किरणों से पिंजरित (रक्त) गिरिशिखरों पर गान करते हुए अप्सरा (असुर), सुर, उरग, किन्नर, विद्याधर हर्ष से आते हैं। जिस भूमि के ऊपर स्वामी नेमिकुमार जी का पदपंकज पड़ा हुआ है, वहाँ की मिट्टी भी धन्य है, वह मनवांछित विचारों को पूरा करती है ॥ ७ ॥

जो अन्न और स्वर्ण का महान् दान दे और जो कर्म की ग्रंथि का नाश कराए वह इस तेजस्वी गिरनार का शिखर प्राप्त करे, अर्थात् शिखर तक पहुँचे। जो नर तीर्थवर ऊर्जयंत शिखर का दर्शन करता है उसका जन्म, यौवन और जीवन कृतार्थ हो जाता है। गुर्जर धरा में जयसिंह देव एक प्रवर पृथ्वीश्वर थे। उन्होंने सोरठ के राव खेंगार को हराकर वहाँ साजन को उत्तम दंडाधीश (दंडनायक) स्थापित किया। उसने नेमि जिनेंद्र का अभिनव भवन बनवाया। इस रीति से चंद्रबिंब के तुल्य निज निर्मल नाम प्रकाशित किया ॥ ८ ॥

उस नरशेखर साजन ने संवत्सर ११८५ में स्थूल विष्कंभ और स्तंभ से रमणीय ललित कुमारियों के कलशों के समूह से संकुल मंडप, दंड-धातु और उत्तुंग तर तोरण से युक्त उँचेरा हुआ और बाँधा हुआ, स्वाभाविक मधुर किंकिणियोंवाले नेमिभुवन का उद्धार किया। मालव-मंडल के गुरु (?) का मुखमंडल रूप दारिद्र्य का खंडन करनेवाला भावड साधु भावक सा (भावना प्रधान) हो गए। उसने सोने का आमल सार कराया, मानो गगनांगण में सूर्य को अवतरित किया। दूसरे शिखरवर के कलश भी मनोहर रीति से प्रकाश देते हैं। ऐसे नेमिभुवन के दर्शन कर दुःख का निरंतर नाश होता है ॥ ९ ॥

तृतीय कडवक

उत्तर दिशा में कश्मीर देश है, वहाँ से नेमि के दर्शन के लिये उत्कंठित दो बंधु अजित और रत्न बड़े संघाधिप होकर आए। हर्षवश उन्होंने बार बार कलश भरकर नेमिप्रतिमा को स्नान कराया। वहाँ जल धार पड़ते पड़ते लेप्यमय (चंदन के लेप से भरा) नेमि-बिंब (प्रतिमा) गल गया। संघसहित संघाधिप के चित्त मन में संताप उत्पन्न हुआ। हा हा! धिक धिक्! मेरे विमल कुल पर कलंक आया। मैं दूसरे जन्म में श्यामल धीर स्वामी के चरण की शरण में रहूँ।

ऐसे संघ धुरंधर ने आहारत्याग का नियम ग्रहण किया। इक्कीस (इक्कीस) उपवास होने के पश्चात् अंबिकादेवी आईं। 'जय जय' शब्द से बुलाई हुई वह प्रसन्न होती हुई देवी कहने लगी कि तुम तुरत उठकर श्री नेमि-बिंब (प्रतिमा) ला लो। हे वत्स तू भवन में वापस आते समय पीछे मुड़कर न देखना। अंबिकादेवी को प्रणाम करके वहाँ वह कांचनबल ॥

के मणिमय नेमि-बिंब (प्रतिमा) लाता है। प्रथम भवन में देहली में चटपट देवस्थापन करके फिर सघाधिप ने हर्ष से पीछे मुड़कर देखा। इसलिये देहली में श्री नेमिकुमार देव जम गए (निश्चल हो गए)। देवों ने कुसुमवृष्टि करके जयजयकार किया और पुण्यवती वैशाखी पूर्णिमा के दिन वहाँ जिन (देव) को स्थापित किया। पश्चिम दिशा में उसी तरफ के मुखवाले भवन का निर्माण किया और इसी तरह अपने जन्मजन्मातर के दुःख को काटा। भव्य जनों ने स्नान और विलेपन की अपनी वाछा को पूर्ण किया। सघाधिप अजित और रत्न निज देश वापस लौटे। कलिकाल में सकल जन की वृत्ति कुसमय की कलुषता से ढँकी हुई जानकर अंबिका ने बिंब की प्रकाशमान कांति को कम कर दिया ॥ ६ ॥

समुद्रविजय और सिवादेवी के पुत्र यादव कुल-मडन जरासध के सैन्यदल का मर्दन करनेवाले, मदन सुभट के भी मान का खडन करनेवाले, राजिमती के मन को हरनेवाले, शिव-मुक्ति रमणी के मनोहर रमण, सौभाग्य-सुदर नेमिजिन को पुण्यशाली प्रणाम करते हैं। मत्रिवर वस्तुपाल ने ऋषभेश्वर का मदिर बनवाया और अष्टापद तथा समेत शिखर का उत्तम मनोहर मंडप कराया। कपर्दियक्ष और मरुदेवी दोनों का ऐसा तुग प्रासाद बनाया कि धार्मिक लोग सिर हिला देते हैं और घूम-घूमकर देव को देखते और दर्शन करते हैं। तेजपाल ने वहाँ कल्याणक-त्रय का त्रिभुवन-जन-रजन एव गगनागण को पार करनेवाला तुग भवन निर्मित किया। दिशा दिशा में, कुड कुड में निर्झर की मस्ती दिखाई देती है। विशाल इद्रमडप का देपाल मत्री ने उद्धार किया। ऐरावत गज की पादमुद्रा (पदचिह्न) से अकित, विमल निर्झर से समलकृत गयंदम (गजेंद्र-पद) कुड वहाँ दृष्टिगत हुआ। वहाँ वह गगनगगा भी दृष्टिगत हुई जो सकल तीर्थों की अवतारशक्ति मानी जाती है। उसमें अंग भिगोकर दुःख को तिलाजलि दिया जाता है। छत्रशीला के शिखर पर सिंदुवार, मदार, कुरवक और कुद वृक्षों से सुदर सजाया हुआ, जूही, शतपत्री और विज्रिफल से निरतर घिरा और नेमिजिनेश्वर की दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण का अधिष्ठान सहसाराम आम्रवन दृष्टिगत हुआ।

चतुर्थ कड़यक

गरवा (गिरनार) शिखर पर चढकर आम और जामुन से समृद्ध स्वामिनी अंबिकादेवी का रमणीय स्थान है। वहाँ पर ताल और काँसाजोड़

बजते हैं। गंभीर स्वर से मृदंग बजता है। अंबिका के मुखकमल को देखकर बाला रंग में नाचती हैं। शुभ दाहिना कर उत्संग में स्थापित है। बायाँ हाथ समीपवर्ती के लिये आनंदप्रद है। यह सिंह-आसीन स्वामिनी गिरनार के शिखर पर शोभायमान हो रही है। यह सिंह-आसीन स्वामिनी सुख का मंग दिखाती, भव्य जनों की वांछित इच्छा पूर्ण करती और चतुर्विध संघों का रक्षण करती है। गिरनार में नेमिकुमार ने वहाँ आरोहण करके दसों दिशाओं और गगनांगण का अवलोकन किया उस स्थान को "अवलोकन" शिखर नाम दिया गया है ॥ ५ ॥

प्रथम शिखर में स्यामकुमार और द्वितीय में प्रद्युम्न को जो प्रणाम करे वह भवजल भीषण भवभ्रमण को पार करता है। वहाँ स्थान स्थान पर जिनेश्वर के रत्न-सुवर्ण के बिंब (प्रतिमा) स्थापित किए गए हैं। जो भव्य नर कलिकाल के मल से मलिन न होकर उसको (रेवंतगिरि को) नमन करता है वह वही फल पा सकता है जो फल भव्य जन समेतशिखर अष्टापद नंदीश्वर का दर्शन करके पाते हैं। पर्वतों में जैसे प्रभु पर्वत में जैसे मेरुगिरि, वैसे ही त्रिभुवन में तीर्थों के मध्य रेवंतगिरि तीर्थ प्रधान है। जो नर नेमिजिनेश्वर के उत्तम भवन (देहरा) में कलश ध्वज चमर, भृंगार, आरती, मंगल प्रदीप, तिलक, मुकुट, कुंडल, हार मेघाडंबर (छत्र) प्रवर चंदरवा इत्यादि देते हैं वे इस भव के भोग भोगकर दूसरे जन्म में तीर्थंकर भी का पद प्राप्त करते हैं ॥ ११ ॥ जो चतुर्विध संघ करके उज्जयंत गिरि आवे और बहुत दिन वास करे वह चतुर्गति-गमन से मुक्त हो जाता है। जो लोग वहाँ पर अष्टविध पूजा या अठाई करें वे लोग अष्टविध कर्म को हरा करके आठ जन्मों में वर सिद्धि पाते हैं। जो आंबिल उपवास, एकासणू या नीवी करें उनके मन में इस भव और पर भव के वैभव पर आशा रहती है। जो धमवत्सल प्रेम से मुनिजन को अन्न का दान करें उनको कहीं भी अपमान न मिले और प्रमाद में उनका स्मरण हो। जो लोग घर, जमीन के जंजाल से घिरे हुए हैं और उज्जयंत नहीं आवे उनके हृदय में शांति आएगी नहीं और उनका जीवन निष्फल है। लेकिन उसका जीवन धन्य है या इसी रीति से जीवन बिताता है। उसका संसार निष्फल मात्र धन्य है। उसका एक बार भी बलिदान नहीं होता अर्थात् स्वर्ग नहीं जाता ॥ १७ ॥

यहाँ सौभाग्य सुंदर, श्यामल, त्रिभुवन-स्वामी जैन-जलोने नेमिजिन के

दर्शन होते हैं, वहाँ निर्झर चमर ढलता है। मेघाडंबर (छत्र) सिर पर रखा जाता है। रेवत तीर्थ के सिंहासन पर विराजमान ऐसे नेमिजिन जय पाते हैं। श्री विजयसेन सूरि का रचा हुआ यह रास जो रंग से रमे, उसके ऊपर नेमिजिन प्रसन्न होते हैं। उनके मन की इच्छाएँ अंबिका पूर्ण करती है ।। २० ।।

( )

स्थूलिभद्र फाग

अर्थ

पार्श्व जिनेंद्र के पाँव पूजकर और सरस्वती को स्मरण करके फागबंध द्वारा मुनिपति स्थूलिभद्र के कितने ही गुण कहूँगा ॥ १ ॥

एक बार सौभाग्य-सुंदर, रूपवंत गुणमणि-भंडार, कंचन के समान प्रकाशमान कांतिवाले, धनमणी के हार रूप मुनिराज स्थूलिभद्र जब महीतल पर शोभ करते थे, तब विहार करते करते नगरराज पाटलिपुत्र में आ पहुँचे। निज गुण से भरे हुए साधु वर्षाकाल में चातुर्मास में गद्गद होकर गुरु के पास अभिग्रह ग्रहण करते हैं और गुरुवर आर्यसंभूति विजयसूरि की अनुज्ञा लेते हैं। उनके आदेश से मुनिराज स्थूलिभद्र कोशा नामक वेश्या के घर जाते हैं ॥ ३ ॥

द्वार पर मुनिवर को देखकर चित्त में चमक (आश्चर्य) भरे दासी बधाई देने के लिये वेग से जाती है। वेश्या द्वार से लहकती करतल चाहती, उतावली में अत्यंत वेग से मुनिवर के पास आई ॥ ४ ॥

मुनिवर ने कहा, "धर्मलाभ हो।" इतना कहकर ठहरने के लिये स्थान माँगते हुए सिंहशावक की तरह उन्होंने हृदय में धीरज को धारण किया ॥ ५ ॥

झिरमिर झिरमिर मेघ बरसते हैं। खलहल खलहल नदियाँ बहती हैं। झबझब झबझब बिजली चमकती है। थरथर थरथर विरहिणी का मन काँपता है।

मधुर गंभीर स्वर से मेघ जैसे जैसे गरजता है, वैसे वैसे पंचबाण कामदेव निज कुसुमबाण चलाते हैं। जैसे जैसे महमह करती केतकी परिमल पसारती है वैसे वैसे कामीजन निज रमणी के चरण में पाँव पड़कर मनाते हैं। शीतल कोमल सुरभित वायु जैसे जैसे चलती है, वैसे वैसे मानिनी के मान और गर्व का नाश होता है। जैसे जैसे जलभार भरा मेघ गगनांगण में एकत्र होता है वैसे वैसे पथिकों के नैनों से नीर झरता है ॥ ८ ॥

मेघ के रव से जैसे जैसे मयूर उलटियाँ भरकर नाचता है वैसे वैसे मानिनी पकड़े हुए चोर के सदृश क्षुब्ध होती है। अब वेश्या मन की बड़ी लगन से शृंगार सजती है। अंग पर सुंदर बहुरंगे चंदनरस का लेपन करती है। सिर पर चंपक, केतकी और चमेली कुसुम का खुप भरती है। परिधान में अत्यंत सूक्ष्म और मुलायम चीर पहनती है। उर पर मोती का हार लह-लह लहलह लहराता है। पग में उत्तम नूपुर रुमझुम रुमझुम होता है। कान में उत्तम कुंडल जगमग जगमग करता है। इनके आभरणों का मंडल-समूह झलहल झलहल झलकता है॥ ११॥

उनका वेणीदंड मदन के खड्ग की तरह लहलह करता है। उनका रोमावलि-दंड सरल, तरल और श्यामल है। शृंगार-स्तवक से तुंग पयोधर उलसते हैं, मानो कुसुमबाण कामदेव ने अपना अमृत-कुंभ स्थापित किया है।

नयन-युगल को काजलों से आँजकर सीमंत (माँग) बनाती और उरमंडल पर बोरियाबद्ध नामक वस्त्र की बनी कंचुकी पहनती हैं॥ १३॥

जिनके कर्ण-युगल मानो मदनहिंडोला होकर लहलहाते हैं। जिनका नयन कचोला (प्याला) चंचल, चपल तरंग और चंग के समान सुंदर है। जिनका कपोलतल मानो गाल मसूरा के सदृश शोभा देते हैं। जिनका कोमल विमल सुकंठ शंख की ध्वनि के समान मधुर है॥ १४॥

जिनकी नाभि लावण्यरस से परिपूर्ण कूपिका (छोटे कुएँ) के सदृश शोभा देती है। जिनके उरु मानो मदनराज के विजयस्तंभ के समान शोभा देते हैं। जिनके नखपल्लव कामदेव के अंकुश की तरह विराजमान हैं। जिनके पादकमल में घूँघरी रुमझुम रुमझुम बोलती है। नवयौवन से विलसित देह-वाली अभिनव स्नेह से (पागल) गही हुई, परिमल लहरी से मगमगती (महँकती), पहली रतिकेलि के समान प्रवाल-खंड-सम अधरबिंबवाली, उत्तम चंपक के वर्णवाली, हावभाव और बहुत रस से पूर्ण नैनसलोनी शोभा देती है॥ १६॥

इस प्रकार उत्तम शृंगार सजकर मुनिवर के पास आई, तब आकाश में सुर और किन्नर कौतुक से देखने लगे॥ १७॥

फिर वक्र दृष्टि से देखती हावभाव तथा नए नए शृंगारभंगी करती वह मुनि पर नयनकटाक्ष से प्रहार करती है।

तब भी वह मुनिप्रवर उससे भेदे नहीं जाते। इसके उपरांत वेश्या उनको बुलाती है। (वह कहती है) हे नाथ, तुम्हारा विरहरूपन सूर्य के समान मेरे तन का ध्वंस करता है। बारह वर्ष का स्नेह तुमने किस कारण छोड़ दिया। मेरे साथ इतनी कठोरता से क्यों बर्ताव किया। स्थूलिभद्र कहते हैं—वेश्या इतना श्रम (खेद) न कीजिए। छोड़े से क्या हुआ मेरा हृदय तुम्हारे वचन से नहीं भेदा जा सकता। कोशा नाथ नाथ विलाप करती हुई कहती हैं—'मुझपर अनुराग कीजिए। ऐसे पावसकाल में मेरे साथ आनंद मनाइए।

मुनिवर बोले—वेश्या, मेरा मन सिद्धि-रमणी के साथ लग्न करने में और संयम-श्री के साथ भोग करने में लीन हो गया है।

कोशा बोली—मुझे छोड़कर हे मुनिराज, आप संयम-श्री में अनुरक्त क्यों हो रहे हो ? लोग तो नई नई वस्तु पर बहुत प्रसन्न होते हैं। आपने भी लोगों की इस बात को सत्य करके दिखाया है॥ २१॥

उपशम रस के भार से पूर्ण ऋषिराज इस प्रकार बोलते हैं—चिंतामणि छोड़कर पत्थर कौन ग्रहण करे ? इसलिये हे कोशा, अनुपम-समुज्ज्वल-संयम-श्री को तजकर प्रगाढ़ित महान् बलवाला कौन तेरा आलिंगन करे॥ २२॥

कोशा बोली—पहले हमारे यौवन का फल लीजिए। तदनंतर संयम श्री के साथ सुख के साथ रमण कीजिए।

मुनि बोले—मैंने जिसे ग्रहण कर लिया उसे कर लिया। अब जो होना हो वह हो। समग्र भुवन में कौन ऐसा है जो मेरा मन मोहित कर सकता है ? ॥ २३॥

इस प्रकार कोशा की मुनिराज स्थूलिभद्र ने अवगणना की। (किंतु) उसने (कोशा ने) धैर्य के साथ व्रतधारण किया। कोशा के चित्त में विस्मय के साथ सुख उत्पन्न हुआ॥ २४॥

वे अत्यंत बलवंत हैं जिन्होंने मोहराज के बड़े मान को नष्ट किया। समरांगण में मदन सुभट पर ध्यान रूपी तलवार का प्रहार किया। देवताओं ने संतुष्ट होकर कुसुमवृष्टि के साथ इस प्रकार जय जयकार किया— "स्थूलिभद्र तुम धन्य हो, धन्य हो जिसने कामदेव को जीत लिया।"

इस प्रकार अभिग्रहधारि मुनीश्वर सुंदर रीति से कोशा वेश्या का

प्रतिबोध करके चातुर्मास के अनतर गुरु के पास चले। दुष्कर से भी दुष्कर कार्य करनेवाले शूरवीरों ने उनकी प्रशसा की। शख-समुज्वल यश-वाले मुनीश्वर को सुर और नर (सब) ने नमस्कार किया।

जो स्थूलिभद्र युग में प्रधान था, जगत् में जिस मल्ल ने शल्य रूप रतिवल्लभ (कामदेव) का मानमर्दन किया, वह स्थूलिभद्र जयवत हो। खरतरगच्छवाले जिनपद्मसूरिकृत यह फाग रमाया गया। चैत्र महीना में खेल और नाच के साथ रग से गाओ ॥ २७ ॥

गौतम स्वामी रास

अर्थ

ज्ञानरूपी लक्ष्मी ने जहाँ निवास किया है, ऐसे वीर जिनेश्वर के चरण कमल को प्रणाम करके गौतम गुरु का रास कहूँगा। हे भव्य जीवो तुम उस रास को मन, वचन और शरीर को एकाग्र करके सुनो जिससे तुम्हारे देह रूपी घर में गुणसमूह गड़गड़ाहट करते हुए आकर बसें। जंबूद्वीप में भरत नाम क्षेत्र है। उसमें पृथ्वीतल के आभूषण के समान मगध नामक देश है। वहाँ शत्रुदल के बल को खंडन करनेवाला श्रेणिक नामक राजा है। उस मगध देश में गुणवाला (धनधान्यपूर्ण) गुब्बर नामक ग्राम है। वहाँ गुणगण की शय्या के समान वसुभूति नामक ब्राह्मण बसता है। उसकी पृथ्वी नामक स्त्री है। उसका पुत्र इंद्रभूति है जो पृथ्वीवलय में सर्वत्र प्रसिद्ध है और चौदह विद्या रूपी विविध रूपवाली स्त्री के रस से भीगा हुआ है अर्थात् चौदह विद्याओं में प्रवीण है उसपर लुब्ध हुआ है। वह विनय, विवेक के सार विचारादि गुणों के समूह से मनोहर है। उसका शरीर सात हाथ का और रूप में रंभा अप्सरा के स्वामी इंद्र जैसा है। उसके नेत्रकमल, वदनकमल करकमल और पदकमल इस प्रकार सुंदर हैं कि दूसरा कमल जल में फेंक दिया गया है अर्थात् जल में निवास कराया गया है। अपने तेज के कारण, उसने तारा, चंद्र और सूर्य को आकाश में घुमा दिया है। अर्थात् उसके तेज ने तारा चंद्र और सूर्य को आकाश में चक्कर में डाल दिया है। रूप के कारण कामदेव को अनंग अर्थात् अंग बिना करके निकाल दिया है। वह धैर्य में मेरु पर्वत गंभीरता में समुद्र है और मनोहरता के संचय का स्थान। उसके निरुपम रूप को देखकर कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि विधाता ने कलिकाल के भय से सब गुणों को इसमें ही एक स्थान पर संचित कर रखा है। अथवा इसने पूर्व जन्म में अवश्य जिनेश्वर को पूजा है, जिससे उसको रंभा, पद्मा (लक्ष्मी) गौरी गंगा रति और विधि ने वंचित किया है। कोई बुध (पंडित) और गुरु (बृहस्पति), कोई कवि (शुक्र) आगे रह न सका। अर्थात् उन सबको उसने जीत लिया है।

(श्लेष द्वारा बुध बृहस्पति शुक्र को जीतने का उल्लेख है।)

वे पाँच सौ गुणवान् शिष्यों से संघटित सर्वत्र घूमा करते हैं और मिथ्यात्व से मोहित मतिवाले होने से यज्ञ कर्म करते हैं, परन्तु वह तो छले तेज के बहाने उनके चारित्रज्ञान के दर्शन की विशुद्धि प्राप्त होने के लिए है। अर्थात् इस कारण उनको रत्नत्रय का उल्टा लाभ होने वाला है।

अर्थ

जंबूद्वीप के भरत-क्षेत्र में पृथ्वी-तल के मंडन-भूत मगध-देश में श्रेणिक नामक राजा है। वहाँ श्रेष्ठ गुब्बर नामक ग्राम है। उस गाँव में वसुभूति नामक सुंदर ब्राह्मण बसता है। उसकी भार्या सकलगुणगण के निधानभूत पृथ्वी नामवाली थी। उसके विद्या से अलंकृत पुत्र का नाम अति सुजान गौतम है।

अर्थ

अंतिम तीर्थंकर (श्री महावीर स्वामी) केवल ज्ञानी हुए। फिर चतुर्विध (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) संघ की प्रतिष्ठा कराने के अवसर पर ज्ञानी स्वामी पावापुर संप्राप्त हुए अर्थात् पधारे। वे चार प्रकार की (भुवन-पति, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक) देवजाति से युक्त थे। उस पावापुरी के उद्यान में (देवताओं ने) ऐसा समवसरण किया कि जिसके देखने से मिथ्यामति वाला जीव खीजे अथवा खेद पाये। उस समवसरण में त्रिभुवन-गुरु (वीर परमात्मा) सिंहासन पर आकर बैठे। तत्काल मोह तो दिगंत में प्रविष्ट हो गया और क्रोध, मान, माया और मद के समूह, अथवा इन दोषों से युक्त जीव, प्रभु को देख कर उसी प्रकार भागने लगे जिस प्रकार दिन में चोर भग जाता है। आकाश में देव-दुन्दुभि बजने लगी। ऐसा मालूम होने लगा मानो धर्मनरेश्वर के पधारने से ये बाजे गाजने लगे अथवा सबको (उनके आगमन की) खबर देने के लिए यह घोषणा हो रही हो।

देवताओं ने वहाँ फूल की वृष्टि की और चौंसठ इंद्र प्रभु के पास सेवा की प्रार्थना करने लगे। अथवा इस प्रकार कहने लगे कि 'तुम अपनी सेवा (का सौभाग्य) हमको दो।' प्रभु के मस्तक के ऊपर चामर और छत्र शोभा देने लगे और अपने रूप के कारण प्रभु जगत् को मोहित करने लगे। फिर उपशम रूपी रस के समूह को भरभर कर प्रभु बरसाने लगे और योजन पर्यंत (चारों दिशाओं में) सुन सकने के योग्य वाणी से बखान (धर्म-

का) करने लगे । अर्थात् धर्मोपदेश देने लगे । इस प्रकार वर्धमान स्वामी को पधारे हुए जान कर देवता, मनुष्य, किन्नर और राजा आने लगे । उस समय कान्ति के समूह से आकाश में झलमलाट होने लगी और आकाश से उतरते हुए विमानों से रणरणाट शब्द होने लगा । उन्हें देखकर इंद्रभूति (गौतम) ब्राह्मण मन में चिंतन करने लगा कि ये देवता हमारे यज्ञ के निमित्त आते हैं । तदुपरांत तीर के वेग के समान गतिमान देवता एक दम गडगडाट करते समवसरण में पहुँच गए । इसलिये अभिमान से भर कर (इंद्रभूति) कहने लगा और उस अवसर पर क्रोध से उसका शरीर काँपने लगा । वे इस प्रकार कहने लगे कि मूढ जैसे मनुष्य तो बिना जाने सर्वज्ञ को छोड़कर दूसरे स्थान पर भाग जायें और दूसरे की प्रशंसा करें—यह तो हो सकता है, पर ये तो देवता—जैसे कहे जाते हैं फिर भी ये क्यों डांवाडोल हो रहे हैं । इस दुनिया में मुझसे अधिक दूसरा ज्ञानी कौन है ? (इस विषय में) मेरु के अतिरिक्त दूसरी उपमा किससे दी जाये ? अर्थात् ऊँचाई में मेरु की उपमा है । उसके लायक तो मैं हूँ । फिर इस तरह क्यों होता है ?

अर्थ

वीर प्रभु केवल ज्ञान से युक्त हो गए । तदुपरांत देवपूजित, संसार से तारने वाले नाथ पावापुरी को प्राप्त हुए अर्थात् वे पावापुरी आ गए । वहाँ देवों ने बहु सुख के कारण ऐसे समवसरण की रचना की कि जगत् में दिनकर के समान प्रकाश करनेवाले जिनेश्वर स्वामी सिंहासन पर विराजमान हुए और सर्वत्र जयजयकार होने लगा ।

अर्थ

उस समय इंद्रभूति भूदेव (ब्राह्मण) निवडमान रूपी गज के ऊपर चढ़ा अर्थात् अभिमान से भर गया । हुंकार करता हुआ चला कि जिनेश्वर देव कौन है ? ॥ १७ ॥

(आगे चलकर) उसने एक योजन में समवसरण का प्रारंभ देखा । उसने दसों दिशाओं से विविध स्त्रियों और सुररंभा (देवांगना-अप्सरा) को आते हुए देखा ॥ १८ ॥

(इसके अतिरिक्त) समवसरण में मणिमय तोरण हजार योजना के दंडवाला धमध्वज और गढ़ के कांगरा (कोशीसा) के ऊपर नये-नये भाट

(विचित्र रचनापूर्ण) दिखाई पडे। वैर से विवर्जित जतुगण को देखा, आठ प्रतिहार दिखाई दिए ॥ १६ ॥

(इनके अतिरिक्त) देवता, मानव, किन्नर, असुर, इद्र, इद्राणी, राजा को प्रभु के चरणकमल की सेवा करते हुए देखकर, चमत्कृत होकर वह चिंतन करने लगे। सहस्रकिरण के समान तेजस्वी, विशाल, रूपवंत, वीर जिनवर को देखकर विचार करने लगे कि असभव कैसे हुआ! यह तो वास्तव में इद्रजाल है। (इस प्रकार विचार कर रहे थे कि इसी अवसर पर त्रिजगगुरु वीर परमात्मा ने 'इद्रभूति'-इस नाम से पुकारा।) श्रीमुख से वेद के पदों द्वारा उसका सशय मिटा दिया गया। फिर उसने मान को छोड़कर मद को दूर करके भक्ति से मस्तक नवाया और पाँच सौ छात्रों सहित प्रभु के पास व्रत (चरित्र) स्वीकार किया। गौतम (सब में) पहला शिष्य था ॥ २३ ॥

मेरे बाधव इन्द्रभूति ने सयम की बात स्वीकार की यह जानकर अग्नि-भूति प्रभु के पास आया। प्रभु ने नाम लेकर बुलाया। उसके मन में जो सशय था उसका अभ्यास कराया अर्थात् वेदपद का खरा अर्थ समझाकर सशय दूर किया, इस प्रमाण से अनुक्रम से ग्यारह गणधर रूपी रत्नों की प्रभु ने स्थापना की और इस प्रसग से भुवन-गुरु प्रभु ने सयम (पाँच महाव्रत रूप) सहित श्रावकों के बारह व्रत का उपदेश किया। गौतम स्वामी निरतर ही दो-दो उपवास पर पारण करते हुए विचरण करते रहे। गौतम स्वामी के सयम का सारे ससार में जयजयकार होने लगा ॥ २६ ॥

वस्तु

इद्रभूति बहुमान पर चढा हुकार करता काँपता तुरत समवसरण पहुँचा। तदन्तर चरम नाम (वीर प्रभु) स्वामी ने उसका सर्वसशय एकदम नष्ट किया इससे उसके मन के मध्य बोधिबीज (सजात) प्राप्त हुआ। फिर गौतम ससार से विरक्त हुआ, प्रभु के पास दीक्षा ली, शिक्षा अगीकार की और गणधर पद प्राप्त किया ॥ २७ ॥

भाषा

आज सुदर प्रभात हुआ, आज पसली में पुण्य भर गया। गौतम स्वामी को देखा जिनके नेत्रों से अमृत झरता है अथवा अमृत के सरोवर के समान नेत्रवाले गौतम स्वामी को देखा ॥ २८ ॥ वे मुनि-प्रवर गौतम-स्वामी पाँच सौ मुनियों के साथ भूमि पर विहार करते थे और अनेक भव्य जीवों को

प्रतिबोध देते थे। समवसरण में जिन-जिन को संशय उत्पन्न होता था वे परोपकार (परमार्थ) के निमित्त भगवान से पूछते और जिस जिसे वे दीक्षा देते थे उसे केवल ज्ञान प्राप्त होता था। अपने पास केवल ज्ञान नहीं था किंतु गौतम स्वामी इस प्रमाण से केवल ज्ञान देते थे। गुरु (वर्धमान स्वामी) के ऊपर गौतम स्वामी की अत्यंत भक्ति उत्पन्न हुई थी और इस मिष (बहाने से) केवल ज्ञान प्राप्त होने वाला है॥ ११॥ परंतु अभी भगवान् पर अपना राग रोक के रखते हैं अथवा रंग से भर (अत्यधिक स्नेह) प्रभु के ऊपर राग रखते हैं। जो अष्टापद शैल (पर्वत) के ऊपर अपनी आत्मबल के द्वारा चढ़कर चौबीस तीर्थंकरों की वंदना करते हैं वे मुनि चरमशरीरी होते हैं अर्थात् वे संसार के मध्य मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भगवान् का उपदेश सुनकर गौतम गणधर अष्टापद की ओर चले (अर्थात् समीप पहुँचे)। पंद्रह सौ तापस उनको आते दिखाई दिये। तापस सोचने लगे कि "तप से हमारा शरीर शोषित हो गया तो भी इस पर्वत के ऊपर पहुँचने की शक्ति हमें प्राप्त नहीं है। यह तो हृष्ट पुष्ट काया वाला है, हाथी के समान मरता दिखाई पड़ता है। यह किस प्रकार चढ़ सकता है?" इस भारी अभिमान से तपस्वी मन में सोचने लगे। (तब तक) गौतम सूर्य की किरणों का आलम्बन लेकर वेग से चढ़ गये। कंचन-मणि से निष्पन्न दंड, कलश, ध्वज इत्यादि प्रमाण वाली वस्तुएँ जिसके ऊपर थीं। महाराज भरत के द्वारा बनाये गए ऐसे जिन-मंदिर को देखकर उन्हें परम आनंद प्राप्त हुआ॥ १२॥

अपने-अपने शरीर के प्रमाण से चारों दिशाओं में 'जिन' की प्रतिमा संस्थित की। जिन-बिंब के प्रति जिनके मन में उत्साह था उन्होंने प्रमाणित किया। गौतम स्वामी उस रात्रि को वहीं रहे। उस स्थान के रहनेवाले वज्र-स्वामी के जीवतीर्थंक जृंभक जाति के देवता आए। उनको गौतम स्वामी ने पुंडरीक कंडरीक का अध्ययन सुनाकर प्रतिबोध कराया।

तत्पश्चात् वहाँ से लौटते हुए गौतम स्वामी ने सभी तापसों को—
१५ तापसों को—प्रतिबोध किया अर्थात् ज्ञान दिया और (उन्हें दीक्षा देकर) अपने साथ लेकर यूथाधिपति की भाँति चल पड़े। दूध, चीनी और घी एक ही पात्र में मिलाकर लाकर उसमें (निज का) अमृत वर्षीय अंगूठा रखकर गौतम स्वामी ने सभी तापसों को क्षीरान्न का पान करवाया।

उस समय पाँच सौ तापसों के हृदय में, उज्ज्वल क्षीर के कारण

अर्थात् क्षीर को चखकर, शुभ भाव, पवित्र भाव उत्पन्न हुए, एवं सच्चे गुरु के सयोग से वे सभी क्षीर का कौर चखकर केवल-ज्ञान रूप हो गये; अर्थात् पाँच सौ तापसों को क्षीर पान करते ही केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गई। (दूसरे) पाँच सौ को आगे चलते हुए जिननाथ के समवसरण (एवं) उनके तीन गढ आदि देखते ही लोक-परलोक में उद्योत (पवित्र) करनेवाले केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

(शेष) ५ सौ तापस जिनेश्वर की अमृत तुल्य एवं श्याम मेघ सम गरजती हुई वाणी श्रवण कर केवल-ज्ञानी हुए ॥ ४२-४३ ॥

वस्तु

इस अनुक्रम से १५०० केवल-ज्ञानी मुनियों से फारिग होकर गौतम गणधर ने प्रभु के पास जाकर, दुर्भावनाओं को हरकर जिन नाथ की वंदना की। जग-गुरु के वचन सुनकर अपने ज्ञान की निंदा करने लगे। तब चरम जिनेश्वर कहने लगे कि हे गौतम! तू खेद न करना, अत में हम दोनों सच-मुच बराबर बराबर होंगे अर्थात् दोनोंही मोक्ष पद की प्राप्ति करेंगे ॥ ४४ ॥

श्री वीर जिनेंद्र स्वामी पूर्णिमा के चंद्र की भाँति उल्लास से भरत-क्षेत्र में ७२ वर्षों तक बसे रहे। (प्रातःकाल होते ही) उठते ही, कनक-कमल पर चरण धरते हुए, संघ-सहित, देवों द्वारा पूजित, नयनानद स्वामी, पावापुरी आए। (उन्होंने) गौतम स्वामी को देवशर्मा ब्राह्मण के प्रतिबोध के लिए भेजा। त्रिशला देवी के पुत्र को परमपद मोक्ष की प्राप्ति हुई। देवशर्मा को प्रतिबोध करके गौतम स्वामी ने लौटते हुए देवताओं को आकाश में देखकर जिस समय यह बात जानी उस समय मुनि के मन में नाद-भेद (रग में भग होने से) उत्पन्न होने वाले विषाद के सदृश अत्यत विषाद उत्पन्न हुआ। (गौतम स्वामी सोचते हैं कि)—स्वामी जी ने जान-बूझ कर कैसे समय में मुझे अपने से दूर किया। लोक व्यवहार को जानते हुए भी उस त्रिलोकी-नाथ ने उसे पाला नहीं। स्वामिन्! आपने बहुत अच्छा किया! आपने सोचा कि वह मेरे पास केवल-ज्ञान माँगेगा अथवा ऐसा सोचा हुआ लगता है कि बच्चे की भाँति पीछे लगेगा (कि मुझे भी साथ ले जाओ)। मैं भोला-भाला उस वीर जिनेन्द्र की भक्ति में फुसलाकर पृथक् कैसे किया गया? हम दोनों का पारस्परिक प्रेम, हे नाथ, आपने ऐक्यपूर्ण रीति से निभाया नहीं। यही सत्य है। यही बीतराग है जिसको रच मात्र

भी राग नहीं गया। यों सोच विचार कर उस समय गौतम स्वामी ने अपना रागासक्त चित्त विराग में लगा दिया। उमड़ कर आता हुआ उस केवल-ज्ञान को जिसे राग ने पकड़ रखा था। (वा दूर ही दूर रहता था) अब राग के दूर होते ही गौतम स्वामी ने सहज ही में प्राप्त किया। उस समय तीनों भुवन में जयजयकार हुआ। देवताओं ने केवल की महिमा बताई और गौतम गणधर ने व्याख्यान किया जिससे भव्य जीव संसार से मुक्त हों॥ ४९॥

वस्तु

प्रथम गणधर ५ साल तक गृहस्थ बने रहे—अर्थात् ५ साल तक घर में रहे। तीस वर्षों तक संयम से विभूषित रहे। श्री केवल ज्ञान द्वादश वर्षों तक रहा। तीनों भुवनों ने नमस्कार किया। ९२ वर्ष की आयु पूर्ण करके राजगृह नगरी में स्थापित हुए अर्थात् गुणवान् गौतम स्वामी राजगृह में शिवलोक सिधारे॥ ५ ॥

भाषा (ढाल ६)

जैसे आम्र वृक्ष पर कोकिल पंचम स्वर में गाती है, जैसे सुमन-वन में सुरभि महक उठती है, जैसे चंदन सुगंध की निधि है जैसे गंगा के पानी में लहरें लहराती हैं, जैसे कनकाचल (कनक+अचल) सुमेरु पर्वत अपने तेज से जगमगाता है उसी भाँति गौतम स्वामी सौभाग्य के भंडार हैं॥ ५१॥

जैसे मानसरोवर में हंस रहते हैं, जैसे इंद्र के मस्तक पर स्वर्ण मुकुट होते हैं जैसे वन में सुंदर मधुकरों का समूह होता है जैसे रत्नाकर रत्नों से शोभायमान है, जैसे गगन में तारागण विकसित होते रहते हैं, उसी तरह गौतम स्वामी गुणों के लिये क्रीडा स्थल हैं॥ ५२॥

पूर्णिमा की रात्रि को जैसे चंद्र शोभायमान प्रतीत होता है, कल्पवृक्ष की महिमा से जैसे समस्त जगत् मोहाक्रांत हो जाता है प्राची दिशा में जैसे दिनकर प्रकाशित होता है सिंहों से जैसे विशाल पर्वत शोभित होते हैं, नरेशों के भवनों में जैसे हाथी चिंघाड़ते रहते हैं उसी प्रकार इन मुनि-प्रवर से जिन-शासन सुशोभित है॥ ५३॥

जैसे कल्पवृक्ष शाखाओं से शोभायमान है जैसे उत्तम पुरुष के मुख में मधुर भाषा होती है जैसे वन में केतकी पुष्प महक उठते हैं, जैसे नृपति अपने भुजबल से प्रतापी होता है (चमकता है) जैसे जिन मंदिर में घंटारव

होता रहता है—घंटा बजते रहते हैं, उसी भाँति गौतम स्वामी अनेक लब्धियों द्वारा गहगहा रहे हैं ॥ ५४ ॥

आज (गौतम स्वामी के दर्शन किए तो ऐसा समझना चाहिए कि) चिंतामणि रत्न हाथ आया है, कल्पवृक्ष मनोवांछित फल देने लगा, कामकुंभ भी वश में हुआ, कामधेनु मनोकामना पूर्ण करने के लिए तैयार हुई, आठ महा सिद्धियाँ घर पर आ गईं। इसलिए हे महानुभावों! आप गौतम स्वामीका अनुसरण कीजिए ॥ ५५ ॥

गौतम स्वामी को नमस्कार करते हुए सर्वप्रथम प्रणवाक्षर ॐ बोलो, उसके बाद माया बीज (ह्रं कार) सुनिए, पश्चात् श्री मुख की शोभा करो, प्रारंभ में अरिहंत देव का नमस्कार कीजिए, पीछे सविनय उपाध्याय की स्तुति कीजिए। इस मंत्र से गौतम स्वामी को नमस्कार कीजिएगा ॐ ह्रिं श्री, अरिहंत उपाध्याय गौतमाय नमः ॥ ५६ ॥

पराधीनता क्यों अंगीकर करते हो। देशदेशांतर का क्यो चक्कर काटते हो, क्यों अन्य प्रयास करते हो, केवल मुँह-अँधेरे उठकर गौतम स्वामी का स्मरण कीजिए ताकि समस्त कार्य तत्काल सिद्ध हो जाये और नवों निधियाँ आपके घर में विलास करें ॥ ५७ ॥

वि० १४१२ में गौतम स्वामी को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। वह अमावस्या का दिन था। उस दिन खंभात नगर में, पार्श्व प्रभु के प्रसाद से इस परोपकारी कवित्त की रचना की।

(वर्ष, मास, दिवस आदि के) आरंभ में मंगलार्थ यह कवित्त ही बोलिए, पर्वों के महोत्सव में भी इस कवित्त को ही अग्रस्थान दीजिये, क्योंकि यह रास ऋद्धि, वृद्धि और कल्याणकारक है ॥ ५८ ॥

धन्य है वह माता जिसने गौतम स्वामी को अपनी कोख में धारण किया। धन्य हैं वह पिता जिनके गोत्र में वे अवतरित हुए। धन्य है वह सद्गुरु जिन्होंने इन्हें दीक्षा दी।

विनयवंत, विद्या-भंडार और इस धरती पर अनंत गुणवान् ऐसे गौतमस्वामी तुम्हें ऋद्धि, वृद्धि दें और तुम्हारा कल्याण करें। वटवृक्ष की भाँति शाखाओं का विस्तार हो ॥ ५९ ॥

गौतम स्वामी का यह रास पढ़ें, चतुर्विध संघ को आनंद उत्पन्न कराएँ, सकल संघ को आनंद प्राप्त हो। कुंकुम और केशर का भूमि पर छिड़काव

कराओ, माणिक्य और मोतियों के स्वस्तिक बनवाओ उसपर रत्नजड़ित सिंहासन रखवाओ, उसपर बैठकर गुरु गौतम स्वामी व्याख्यान देंगे, उपदेश देंगे जिसे सुनकर अनेक भावुक जीवों के कार्य पूर्ण होंगे। उदयवंत मुनि इस रास के रचयिता कहते हैं कि गौतम स्वामी के इस रास को पढ़कर और सुनकर प्राणी इस भव में विलास की प्राप्ति करता है और परलोक में मोक्ष प्राप्त करता है। इस रास को पढ़ने और पढ़ाने वाले के घर में श्रेष्ठ हाथियों की लक्ष्मी प्राप्त हो और उसकी मनोवांछित आशा फलीभूत हो।

रास एवं रासान्वयी काव्य

शब्द-सूची

शब्द-सूची

अ   सं० च० अपि > प्रा० वि० > अप० अ य इ

अइरि   [अतिरि] धनाढ्य स० आचार्य > प्रा० अइरि

अइहवि   स० अथ वा-इवइ, इवि स० अर्वाक प्रा० इव्व > अप० अइवइ [अभी]

अखर   स० अक्षर

अक्खि   स० अक्षि

अखत्र   स० अक्षेत्र > प्रा० अक्खित्त

अखाडएउ   स० अक्षवाट > प्रा० अक्खायं

अखीऊ   सं० आख्यात > प्रा० अक्खाय > अप० अक्खिउ

अखूटइ   स० क्षुत > प्रा० खुट्टम्मि > अप० खुट्टइ

अगस्ति   स० अगस्त्य

अगास   स० आकाश > प्रा० आगास > अप० आगास

अगि   स० अग्नि > प्रा० अग्गि > प्रा० अग्गि > अप० अग्गि

अग्गा   स० अग्र

अगेवाणु   स० अग्रानीकम् > प्रा० अग्गे+याणाय

अखि   स० अक्षि > प्रा० अक्खि > प्रा० अक्खि

अगार   स० अङ्गार प्रा० अगारो

अगीकरी   स० अङ्गीकरोति

अगु   सं० अङ्ग

अगुल   स० अगुल प्रा० अगुल

अचितु   स० अचिंतित > प्रा० अचिंतिअ > अप० अचिंतिउ

अचींतविऊ   स० अचिंतितम् > प्रा० चिंतेइ > अप० चिंतवइ

अचेत   स० अचेतस्

अचभु   स० अत्यद्भुत > प्रा० अच्चब्भूअ

अच्छइ   पा० अच्छति > प्रा० अच्छइ

अजसु   स० अयशः > प्रा० अजसो > अप० अ+जसु

अजाणु   स० अज्ञान > प्रा० अजाणो > अप० अजाणु

अजी   स० अद्यापि > प्रा० अजइ—अजवि

अनइ	स० अन्यानि>प्रा० अण्णाइ
अनारिज	स० अनार्य>प्रा० अणारिम
अनु	स० अन्यत्>प्रा० अण्ण>अप० अणु
अनेरइ	स० अन्यतर>प्रा० अन्नकेरउ, अणायर
अन्तेउर	सं० अन्त:पुर>प्रा० अन्तेउर
अन्न	स० अन्य>प्रा० अण्ण
अपछर	स० अप्सरस्>प्रा० अच्छरा
अपहरीय	स० अपहृता>प्रा० ओहरिआ, ओहरिया
अपडवु	स० अपाण्डव>प्रा० अपडव
अप्रमाणु	स० अप्रमाण
अबाह	[अ+बाहु] स० बाहु [हिंदी बाँह]
अबाहु	स० अबाधम् [अ+बाध]
अभिमानु	स० अभिमान
अभिमानु	स० अभिमान
अभिरामु	स० अभिराम
अभिरामु	स० अभिराम
अभिवनु	स० अभिमन्यु>प्रा० अहिमण्णु
अमरसाल	स० अमरशाला
अमरु	स० अमर
अमराउरि	स० अमरापुरी>प्रा० अमराउरि
अमरापुरि	स० अमरापुरी
अमारि	स० अमारि>प्रा० [हिंसा निवारण]
अमिय	स० अमृत>प्रा० अमिय
अमीय	स० अमृत
अबि	सं० अबा ·
अविकि	स० अविका
अम्हासिउ	स० अस्मादृश प्रा० अम्हाइस [हम लोगों के समान]
अरति	स० अरति
अरथिइ	सं० अर्थेन
अरघ	सं० अर्घ
अरहटि	प्रा० अरघट्ट>अप० अरहट्ट

असवघ स० अश्व + वध

असउण स० अशकुन > प्रा० असउण

असंख स० असख्य

असथानि स० आस्थान [बैठक]

असघउ स० अश्व + वध > प्रा० आसयघ

असमाधि स० असमाधि

असभम स० असभव

असरणु स० अशरण

असवार सं० अश्वारोहिन् > प्रा० अस्सवार

असाढू सं० आपादिक > प्रा० आसाढिय > अप० आसाढिउ

असिव स० अशिव

असेस स० अशेष

अस्त्रु स० अस्त्र

अह स० अथ > प्रा० अह

अहनिसि स० अहनिश

अहमति स० अहम् + मति

अहर स० अधर > प्रा० अहर

अह [व] स० अथवा > प्रा० अहव

अहिनाण स० अभिज्ञान > प्रा० अहिनाण

अहूठ सं० अर्धचतुर्थ > प्रा० अध्धुट्ठ

अह्म स० अहम्

अहेडइ सं० आखेटक > प्रा० आहेडअ

आकणी स० अकनिका > प्रा० अकणिआ

आणइ [लाना]

आइ सं० अदस् > अप० आअ

आइसु स० आदेश > प्रा० आएस

आउ स० आयु > प्रा० आउ

आउखउ स० आयुष्य

आउज सं० आतोद्य > प्रा० आउज्ज

आएस सं० आदेश

आकपीउ स० आकपितम् > प्रा० आकंपिअ > अप० आकपिउ

आदिजिणेसर	स० आदिजिनेश्वर
आदेसु	सं० आदेश>प्रा० आदेस
आधउ	स० अर्धकम्>प्रा० अद्धअ>अ० अद्धउ [आधा]
आधानु	स० आधान
आधउ	स० अध [अधा]
आप	स० आत्मन्>प्रा० अप्प
आपणाहास	सं० अर्पयति
आपणापउ	स० आत्मत्व
आपणि	सं० आत्मना>अप० आपणइ
आपि	स० अर्पयति>प्रा० अप्पइ, अप्पेइ
आपुण	स० आत्मन प्रा०>अप्पइ
आफरिउ	स० आस्फालयति>प्रा० अप्फालइ
आबूय	स० अर्बुद>प्रा० अब्बुय [आबू पर्वत]
आभइ	सं० अभ्र>प्रा० अब्भ
आभिडइं	स० प्रा० अब्भिडइ हिं० अभिरना
आमली	स० आमृद्नाति>प्रा० आमलइ, आमलेइ
आमिष	स० आमिष
आबिलवर्धमानु	स० आचाम्लवर्धमान>प्रा० आयबिलवढमाण
आयरिष	स० आदर्श>प्रा० आअरिस
आयस	स० आदेश>प्रा० आएस
आरउ	स० आरक
आरडइ	स० आरटति>प्रा० आरडइ
आराधइ	स० आराधयति
आराम	स० आराम
आरामि	सं० आराम
आरिज	स० आर्य>प्रा० आरिय [आर्य जाति]
आरोडइ	स० आरुणद्धि>प्रा० आरोडइ
आलवि	स० आलपति>प्रा० आलवइ
आलस	स० आलस्य>प्रा० आलस्स
आलिंगिउ	स० आलिंगित>प्रा० आलिंगिअ

आली	सं आलात > प्रा आलाअ
आलोकु	सं आलोक
आवइ	सं आवत, आयाति > प्रा अवइ
आवासि	सं आवास
आवाठउ	सं उपरिपतनम् > प्रा उवड्डि मर्द > अप उवड्डिमर्द
आस	सं० आशा > प्रा आसा
आसण	सं आसन
आसनउ	सं आसन्न
आसमुद्द	सं आसमुद्रम् > प्रा आसमुद्द
आसवामता	सं अश्वावामन्
आसातन	सं आशातना
आसारंगि	आसा + रंग
आसासिउ	सं आश्वासित > प्रा आसासिअ
आसंवरीवि	सं आसंवपदे > प्रा आसंवरिवइ
आसि	सं आशा > प्रा आसा
आसीस	सं आशिष्
आंसू	सं अश्रुमि > प्रा० अंसुहि
आह	सं अहत् > अप आअहो या आअई
आहड	एक शहर का नाम
आहण	सं आ + हन् [प्रहार]
आहणइ	सं आ+हन् > प्र आहणइ
आहव	सं आहव
आहेडइ	सं आखेटक प्रा आहेडअ
आहेडी	सं आखेटक + इन्

(इ)

इ	सं अपि > प्रा वि अवि
इक	सं एक
इगु	सं एक > प्रा इक [एक]
इगुणहत्तरि	सं एकोन सप्तति: > प्रा० इगुणहत्तरि
इग्यारह	सं एकादश > प्रा एआरस
इग्यारमइ	सं एकादशतम

इङ्गीय	सं० इङ्गित > प्रा० इङ्गिय
इद	स० इन्द्र > प्रा० इद
इदपत्थु	सं० इंद्रप्रस्थ > प्रा० इद्रपत्थ
इदपुत्तु	स० इद्रपुत्र > प्रा० इदपुत्त
इद फालु	स० इद्रपाल > प्रा० इदफील
इदु	स० इद्र > प्रा० इद
इद्रह	स० इद्र —
इद्रचदु	स० इद्रचद
इद्रसभा	स० इद्र + सभा
इद्राइसि	इद्र + आइसि (इद्र की आज्ञा से)
इद्रिलोफि	इद्रलोफ
इम	स० एवम् > अप० एम्व
इस	स० ईदृशिक > प्रा० एरिस
इह	स० एषः > प्रा० एहो > अप० इहह
इह	स० एतस्मिन् प्रा० एअम्हि
इरा	स० एतेन तथा एनेन > प्रा० एएरा
ईरापरि	[इस प्रकार]
ईम	[इस प्रकार]
ईसर	स० ईश्वर > प्रा० ईसर
ईह	स० एतद > प्रा० एअ
ईहा	[यहाँ]
ईह	स० एतद > प्रा० एअ

(उ)

उअचट	अभिमान (?)
उअहाणउ	सं० उपाख्यान > प्रा० उवक्खाण
उकउच्छी	स० उत्कृष्ट + अर्ची > प्रा० उक्कउ + अच्चि
उच्चरी	सं० उच्चरिता > प्रा० उच्चरिआ
उच्छव	स० उत्सव > प्रा० उच्छव
उच्छाह	स० उत्साह > प्रा० उच्छाह
उछग	स० उत्सव + रंग > प्रा० उच्छअ + रग
उजलो	स० उज्ज्वल > प्रा० उजल

उट्ठिअ — सं उत्थित > प्रा उट्ठिअ
उडवा — सं उटज > प्रा० उडव
उतपति — सं उत्पत्ति
उत्तर — सं उत्तर
उत्तरी — सं उत्तरति > प्रा उत्तरइ
उत्संगि — सं उत्संग
उदर — सं उदधः > प्रा उवहो > अप उदह
उदुठी — सं उद् + स्थित > प्रा उत्थुट्ठिय
उद्धसिया — सं उद्ध्वंसयते > प्रा उद्धंसइ
उधि — सं अवधि > प्रा ओहि
उपगार — सं उपकार > प्रा उवगार
उपदेसि — सं उपदेश
उपराठी — सं उपरिस्थित, उपरिस्थ > प्रा उवरिट्ठ
उपरोधि — सं उपरोध
उपाइ — सं० उपाय
उपाउ — सं उपाय
उमाहि — सं उत्सुक > प्रा उम्मुय
उमी — सं ऊष्मन् > प्रा उम्ह
उमेहि — सं उन्मीलयति
उमाहो — सं उन्मादयति > प्रा उम्माइयइ [उत्साह]
उरउउ — सं आतुरत्वम् > प्रा आउरत्त
उरि — सं उरस्
उलगे — [सं अवलिग = सेवा]
उलोचिहि — सं उल्लोच
उल्लंघिउ — सं उल्लंघते
उलह — सं उद् + हृद् > प्रा उल्हइ
उल्लसइ — सं उल्लसति > प्रा उल्लसइ
उवएसि — सं उपदेश > प्रा उवएस
उवट — सं उद्वर्तम् > प्रा प्रा उवट्ट (उद्वृत्त)
उवला — सं उद्वलिता > प्रा उव्वलिया
उसप्पिणी — सं उत्सर्पिणी > प्रा उस्सप्पिणी

उसर	सं० औत्सरस > प्रा० उस्सरइ
उहिं	[वहाँ]
उहुणा	सं० अधुना > प्रा० अहुणा

ऊ

ऊकलबइ	प्रा० उक्कलबइ
ऊकालइ	स० उत्कलयति > प्रा० उक्कलइ
ऊगमतइ	स० उद् + गम् > प्रा० उग्गमइ
ऊगरए	स० उद्गरति > प्रा० उग्गरइ
ऊगारउं	प्रा० उग्गारइ
ऊगिउ	सं० उद् + गम् > प्रा० उग्गओ
ऊघाडइ	सं० उद्घाटितस्मिन् > प्रा० उग्घाडिअभि अप० उग्घाडिअइ
ऊचउ	सं० उच्चक > प्रा० उच्चअ
ऊचरइ	सं० उच्चरति > प्रा० उच्चरइ
ऊचाट	स० उत् + चट् > प्रा उच्चाउ
ऊछलीय	स० उच्छलिता > प्रा० उच्छलिया
ऊछालइ	सं० उच्छलति-ते > प्रा० उच्छलइ
उजलि	सं० उज्जवल=उज्ञयत
ऊजाली	सं० उज्जवला > प्रा० उज्जला
ऊजाईउ	स० उद्याति > प्रा० उज्जाइ
ऊजेणी	सं० उज्जयिनी > प्रा० उज्जइणी
ऊढण	स० अट्टन > प्रा० अट्टुण
ऊठइ	स० उत् + स्थाति > प्रा० उट्ठइ
ऊठवणी	स० उत्थापना > प्रा० उट्ठावणा
ऊठाडइ	हिं० उठाना
उढिउ	स० उड्डयते > प्रा० उड्डुइ
ऊडाडया	हिं० उड़ाना
ऊणिय	स० ऊनिका, ऊन > प्रा० ऊणिया
ऊतजिइ	स० उत्पज्यते > प्रा० उत्तज्जियइ
ऊतर	सं० उत्तर
ऊतरायणि	सं० उत्तरायण
ऊतारउ	सं० अवतारयति > प्रा० अवतारइ

ऊससइ	स० उच्+श्वसिति>प्रा० उस्ससइ
ऊसासइ	स० उत्+श्वास>प्रा० उस्सास
कपालि	स० कपाल
कपावइ	,, कृत्तति>प्रा० कप्पइ
कपूरि	,, कर्पूर>प्रा० कप्पूर
कबंध	,, कबन्ध
कमलतरि	,, कमलान्तरे
कमीरु	,, किर्मीर>प्रा० किम्मीर
कपाविउ	,, कम्पते
कर	,, कर
करअलि	,, करतल>प्रा० करअल
करइ	,, कुर्वन्ति—करति; अप० करन्ति
करण	,, कर्ण
करणइ	,, कर्णिकार>प्रा० कणइर
करणकतूहलि	,, करण+कतूहलि, स० कौतूहलेन
करतार	,, कर्तृ
करबक	,, कुरबक
करम	,, कर्मन्
करमाइ	,, क्लाम्यति>प्रा० किलम्मइ
करंबक	,, करमक>प्रा० करंब
करंबउ	स० करक>प्रा० करंब
करवल	,, करपत्र>प्रा० करवत्त
करवती	,, करपत्रिका>प्रा० कर वत्तिआ
करवाल	,, करवाल
कराल	,, कराल
करालिउ	,, करालित>प्रा० करालिय
करिअलि	,, [हथेली में]
करुणाए	,, करुणा
करिंदो	सं० करीन्द्र>प्रा० करिन्दो
करोडि	,, कोटि>प्रा० कोडि
कर्णि	,, कर्णं

काणणि	सं० कानन > प्रा० काणण
काणि	,, कथनिका > प्रा० कहाणिश्रा
कान	,, कर्ण > प्रा० कण्ण
कांधि	सं० स्कन्ध > प्रा० कंध
कान्हि	कृष्ण
कापडी	सं० कार्पटिकः > प्रा० कपड
कामु	,, काम
काम	,, कर्मन् > प्रा० कम्म
कामालय	सं० कामालय
कामिणि	,, कामिनी > प्रा० कामिणी
कामिय	,, काम + इन् अप० कामिइ
कामुकि	,, कामुक

(ए)

ए	सं० एतद् > प्रा० एश्र
एश्राव्हर	सं० एश्राव्हर
एउ	अप० एउ
एक	सं० एक
एकतु	सं० एकात
एकमना	,, एकमनसः
एकवार	,, एकवार
एकसरा	,, एकसरक
एकलव्यु	,, एकलव्य
एकलउ	,, एकल > प्रा० एक्कल्ल
एकवीस	,, एक विंशति > प्रा० एकवीस, एकतीसइ
एतइ	,, अयत्यः अप० एत्तिउ
एतलं	,, अयत्य+इल्ल' > प्रा० एत्तिल अप० एत्तुलउ
एता	[मराठी–एति]
एय	सं० एतद् > प्रा० एश्र
एरसउ	,, ईदृश > प्रा० एरिस
एवडउ	,, इर्वत् अप० एवडउ
एवविद	,, एवविध

एस	सं० एष>प्रा एसो
एह	,, एषः>प्रा एसो अप० एहु
ओक्खली	,, उत्कलिका>प्रा उक्कलिआ
ओठविउ	,, आवर्तते>प्रा आउट्टइ
ओढणि	, अवगुंठन अप ऊढण
ओहि	,, अवधि>प्रा अवहि ओहि
ओपणु	,, उपवन>प्रा उववण
ओरडी	,, अपवरका>प्रा अववरआ+ड
ओरस	,, अवघर्षक>प्रा ओहरिओ
ओलखीउ	,, उपलक्षयति-ते उवलक्खइ
ओलग	उलग
ओलवी	सं उद्र=आर्द्रि>प्रा ओल्लइ
ओलंभा	,, उपालंभ>प्रा उवालंभ
ओसप्पिणि	
उस्सप्पिणि	सं अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी

क

कइ	सं कामि अप काइं
कए	,, कापि>प्रा कावि अप कवि
कइच्छरी	,, काऽपि+अप्सरा>प्रा अच्छरा
कइम	, कदा+अपि
कइलि	,, कदली>प्रा कयली
कईं	,, कानि>प्रा काइं
कउ	भी
कउय	प्रा कहिअ>अप कहय
कउतिग	सं कौतुक [आगम] प्रा कोउअ
कउरव	,, कौरव>प्रा कउरव
कउल	,, कमल>प्रा कवल
कंक	,, कङ्क
कचोलां	प्रा कच्चोल
कंचण	सं कांचन>प्रा कंचण
कंचनवर्णि	,, कांचन वर्णिका>प्रा कंचण वण्णिआ

कज्जि	,, कार्ये > प्रा० कज्जि
कटकु	,, कटक
कटीरकि	,, कटीरक
कडाहिं	,, कटाह > प्रा० कडाइ
कडि	,, कटी > प्रा० काडि
कडिचीरु	,, कटीचीर > प्रा० कडिचीर
कटुउ	,, कटक > प्रा० कडुअ
कडक्ख	,, कटाक्ष > प्रा० कडक्ख [प्रेम भरी वाकी दृष्टि]
कड्ढीय	,, कर्षति > प्रा० कड्ढइ
कढावीयउ	प्रा० कड्ढइ
कणगावलि	सं० कनकावील
कणय	,, कनक > प्रा० कणय, कणग
काटि	,, कटक > प्रा० कटअ
कंठि	,, कठ
कथावधु	,, कथा + प्रबध
कनेउर	स० कर्णपूर > प्रा० कएणऊर
कत	,, कान्त > प्रा० कत
कद	,, कद
कधि	,, स्कध > प्रा० कध
कन्न	,, कन्या > प्रा० कएणा
कन्न	,, कर्ण > प्रा० कण्ण
कन्ह	,, कृष्ण > प्रा० कएह
कन्हउ	प्रा० कण्ह + उ
कन्हई	स० कर्णस्मिन् अप० कएणहि
कापइ	हिं० कापना
काम	स० कर्मन् > प्रा० कम्म
कामु	,, काम
काय	,, काचित् > प्रा० काइ
कायर	,, कातर > प्रा० काअर
कारणि	,, कारण
कालउ	,, फल,

काणणि	स० कानन > प्रा० काणण
काणि	,, कथनिका > प्रा० कहाणिआ
कान	,, कर्ण > प्रा० कण्ण
काधि	स० स्कन्ध > प्रा० कध
कान्हि	कृष्ण
कापडी	स० कार्पटिक: > प्रा० कपड
कामु	,, काम
काम	,, कर्मन् > प्रा० कम्म
कामालय	स० कामालय
कामिणि	,, कामिनी > प्रा० कामिणी
कामिय	,, काम + इन् अप० कामिइ
कामुकि	,, कामुक

(ए)

ए	सं० एतद् > प्रा० एअ
एआखर	स० एआखर
एउ	अप० एउ
एक	सं० एक
एकतु	स० एकात
एकमना	,, एकमनस:
एकवार	,, एकवार
एकसरा	,, एकसरक
एकलव्यु	,, एकलव्य
एकलउ	,, एकल > प्रा० एकल्ल
एकवीस	,, एक विंशति > प्रा० एकवीस, एकतीसइ
एतइ	,, अयत्य: अप० एत्तिउ
एतल	,, अयत्य+इल्ल > प्रा० एत्तिल अप० एत्तुलउ
एता	[मराठी–एति]
एय	स० एतद् > प्रा० एअ
एरसउ	,, ईदृश > प्रा० एरिस
एवउउ	,, इर्वंत् अप० एवडउ
एवविह	,, एवविध

कज्जि ,, कार्ये > प्रा० कज्जि
कटकु ,, कटक
कटीरकि ,, कटीरक
कढाहिं ,, कटाह > प्रा० कढाह
कडि ,, कटी > प्रा० काढि
कडिचीरु ,, कटीचीर > प्रा० कडिचीर
कडुउ ,, कटक > प्रा० कडुअ
कडक्ख ,, कटाक्ष > प्रा० कडक्ख [प्रेम भरी वाकी दृष्टि]
कड्ढीय ,, कर्षति > प्रा० कड्ढइ
कढावीयउ प्रा० कड्ढइ
कणगावलि स० कनकावलि
कणय ,, कनक > प्रा० कणय, कणग
काटि ,, कटक > प्रा० कटअ
कंठि ,, कंठ
कथाबंधु ,, कथा + प्रबंध
कनेउर स० कर्णपूर > प्रा० कण्णऊर
कंत ,, कान्त > प्रा० कंत
कंद ,, कंद
कंधि ,, स्कंध > प्रा० कंध
कन्न ,, कन्या > प्रा० कण्णा
कन्न ,, कर्ण > प्रा० कण्ण
कन्ह ,, कृष्ण > प्रा० कण्ह
कन्हउ प्रा० कण्ह + उ
कन्हई स० कर्णस्मिन् अप० कण्णहि
कांपइ हिं० कांपना
काम स० कर्मन् > प्रा० कम्म
कामु ,, काम
काय ,, काचित् > प्रा० काइ
कायर ,, कातर > प्रा० काअर
कारणि ,, कारण
कालउ ,, कल,

काणकुमर — एक राजकुमार का नाम
कालमुहउ — सं० कालः मुखक > प्रा कालमुहओ
काल — सं काल
काष्ठ — ,, काष्ठ
काउसग्गे — ,, कायोत्सर्ग, > प्रा० काउसग्ग
काश्मीर — ,, काश्मीर,
कासीसर — ,, काशीश्वर > प्रा कासीसर
कांत — ,, कांत
काहल — ,, काहल > प्रा काहलिआ
किण — ,, केन
किमइ — ,, किमपि > प्रा किमइ
किमइव — सं किमपि > प्रा० किमवि
किंपि — ,, किमपि > प्रा किंप
किरतार — ,, कर्तृ हिं करतार
किरि — ,, किल > अप किर
किलकिल — [एक प्रकार की चिल्लाहट]
किलकिलाट — सं किलकिलाव > प्रा किलकिलाय
किम — ,, कृम > प्रा किम
किमहरि — ,, कृपगेह > प्रा किमहरि
किवि — , केऽपि > प्रा केवि
किवउं — सं कीदृश > प्रा केरिस
किविउं — ,, कीदृशानि
किहां — ,, कस्मात् > प्रा कम्हा अप कहां
किहइं — ,, कस्मिन् > प्रा कम्हि > अप कहिं
किहाइं — [किहां + इ]
किहि — [किहां + इ]
किम्हां — [किहां + इ]
किही — सं कैः + अपि
की — ,, कृत > प्रा किय
कीम — हिं कैसे
कीवाचार — सं क्लीब + आचार

कीवे सं० क्लीवा

कीसी ,, कीदृशानि > अप० कइसाइ

कीह [किहा] हिं० कहाँ

कु प्रा० को अप० कु हिं० कौन

कुअरि स० कुमारा > प्रा० कुमरी

कुअरु ,, कुमार > प्रा० कुमरा

कुआरि ,, कुमारी

कखिहिं स० कुक्षि > प्रा० कुक्खि,

कुचुकिइ ,, कचुक

कुटब ,, कुटुम्ब > प्रा० कुडब,

कुटीरडइ ,, कुटीरक

कुडु बउ ,, कुटुम्ब > प्रा० कुडुंब

कुण हिं० कौन

कुणबु स० कुटुम्ब > प्रा० कुडुबो

कुतिग स० कौतुक > प्रा० कौउग

कुती ,, कुंता

कुपात्र ,, कुपात्र

कुपीउ ,, कुपित > प्रा० कुपिअ,

कुमर ,, कुमार

कुमीय ,, कुमिन् [हाथी]

कुर ,, कुरु

कुरुखेत्रि ,, कुरुक्षेत्र

कुरुदलि ,, कुरुदल

कुरुनरिंदु ,, कुरुनरेन्द्र

कुरुनाथि ,, कुरुनाथ

कुरव ,, कौरव > प्रा० कुरुव

कुरगू ,, कुरग

कुरमाणि ,, क्लाम्यति > प्रा० किलामइ

कुरुरी ,, कुररी

कुलंछणु ,, कुलाञ्छन

कुलु ,, कुल

कज्जि	,, कार्य > प्रा० कज्जि
कटकु	,, कटक
कटीरकि	,, कटीरक
कडाहिं	,, कटाह > प्रा० कडाह
कडि	,, कटी > प्रा० काढि
कडिचीरु	,, कटीचीर > प्रा० कडिचीर
कटुउं	,, कटक > प्रा० कडग्र
कडक्ख	,, कटाक्ष > प्रा० कडक्ख [प्रेम भरी वाकी दृष्टि]
कड्ढीय	,, कर्षति > प्रा० कड्ढइ
कढावीयउ	प्रा० कड्ढइ
कणगावलि	स० कनकावील
कणय	,, कनक > प्रा० कणय, कणग
काटि	,, कटक > प्रा० कटग्र
कठि	,, कठ
कथाबधु	,, कथा + प्रबध
कनेउर	स० कर्णपूर > प्रा० कणणऊर
कत	,, कान्त > प्रा० कत
कद	,, कद
कधि	,, स्कव > प्रा० कध
कन्न	,, कन्या > प्रा० कणण
कन्न	,, कर्ण > प्रा० कण्ण
कन्ह	,, कृष्ण > प्रा० कण्ह
कन्हउ	प्रा० कण्ह + उ
कन्हई	स० कर्णस्मिन् अप० कणणहि
कापइ	हिं० कापना
काम	स० कर्मन् > प्रा० कम्म
कामु	,, काम
काय	,, काचित् > प्रा० काइ
कायर	,, कातर > प्रा० काग्रर
कारणि	,, कारण
कालउ	,, कल,

कालकुमर — एक राजकुमार का नाम
कालमुहउ — सं० कालः मुखक > प्रा० कालमुहओ
कालु — सं काल
काउ — ,, काउ
काउसर्ग — ,, कायोत्सर्ग, > प्रा० काउस्सग्ग
कासमीर — ,, काश्मीर,
कासीसर — ,, काशीश्वर > प्रा कासीसर
कांत — ,, कांत
काहल — ,, काहल > प्रा काहलिया
किण — ,, केन
किमइ — ,, किमपि > प्रा किमइ
किमइव — सं किमपि > प्रा० किमवि
किंपि — ,, किमपि > प्रा० किंप
किरतार — ,, कर्तृ हिं० करतार
किरि — ,, किल > अप किर
किलकिल — [एक प्रकार की चिल्लाहट]
किलकिलाट — सं० किलकिलारव > प्रा किलकिलारव
किव — ,, कृप > प्रा किव
किवहरि — ,, कृपगेह > प्रा किवहरि
किवि — ,, केऽपि > प्रा केवि
किसउं — सं कीदृश > प्रा केरिस
किसिइं — ,, कीदृशकानि
किहां — ,, कस्मात् > प्रा० कम्हा अप कहां
किहइं — ,, कस्मिन् > प्रा कम्हि > अप कहिं
किहाइं — [किहां + इ]
किहि — [किहां+इ]
किम्हां — [किहां + इ]
किही — सं कैः + अपि
की — ,, कृत > प्रा किय
कीम — हिं कैसे
कीयाचार — सं क्रीत+आचार्य

कीवे	सं० क्लीवा
कीसी	,, कीदृशानि > अप० कइसाइ
कीह	[किहा] हिं० कहाँ
कु	प्रा० को अप० कु हिं० कौन
कुअरि	स० कुमारा > प्रा० कुमरी
कुअरु	,, कुमार > प्रा० कुमरा
कुआरि	,, कुमारी
कखिहिं	सं० कुक्षि > प्रा० कुक्खि,
कुचुकिइ	,, कचुक
कुटब	,, कुटुम्ब > प्रा० कुडब,
कुटीरडइ	,, कुटीरक
कुडु बउ	,, कुटुम्ब > प्रा० कुडुब
कुण	हिं० कौन
कुणबु	स० कुटुम्ब > प्रा० कुडुबो
कुतिग	स० कौतुक > प्रा० कौउग
कुती	,, कुता
कुगात्र	,, कुपात्र
कुपीउ	,, कुपित > प्रा० कुपिअ,
कुमर	,, कुमार
कुभीय	,, कुभिन् [हाथी]
कुर	,, कुरु
कुरुखेत्रि	,, कुरुक्षेत्र
कुरुदलि	,, कुरुदल
कुरुनरिंदु	,, कुरुनरेन्द्र
कुरुनाथि	,, कुरुनाथ
कुरव	,, कौरव > प्रा० कुरुव
कुरगू	,, कुरग
कुरमाणि	,, क्लाम्यति > प्रा० किलामइ
कुररी	,, कुररी
कुलछणु	,, कुलाञ्छन
कुलु	,, कुल

कालकुमर	एक राजकुमार का नाम
कालमुहठ	सं० काल। मुख>प्रा० कालमुहमो
काल्ह	सं काल
काष्ठ	,, काष्ठ
कासग्ग	,, कायोत्सर्ग,>प्रा० काउसग्ग
कासमीर	,, काश्मीर,
कासीसर	,, काशीश्वर>प्रा कासीसर
कांस	,, कंस
काहल	,, काहल>प्रा० काहलिया
किम	,, केन
किमइ	,, किमपि>प्रा किमइ
किमइव	सं० किमपि>प्रा किम्पवि
किंपि	,, किमपि>प्रा० किंपि
किरतार	,, फा हिं करतार
किरि	,, किल>अप० किर
किलकिल	[एक प्रकार की किलकाहट]
किलकिलाट	सं किलकिलत>प्रा किलकिलाउ
किव	,, कृप>प्रा० किव
किवहरि	,, कृपगेह>प्रा० किवहरि
किवि	,, केऽपि>प्रा० केवि
किवउं	सं कीदृश>प्रा० केरिव
किविउं	,, कीदृशमानि
किहां	,, कस्मात्>प्रा कम्हा अप कहां
किहइं	,, कस्मिन्>प्रा कम्हि>अप कहिं
किहाइं	[किहां+इ]
किहि	[किहां+इ]
किह्यां	[किहां+इ]
किही	सं कः+अपि
की	, कृत>प्रा किय
कीम	हिं कैसे
कीमाचार	सं क्लीब+आचार्य

कीवे	स० क्लीवा
कीसी	,, कीदृशानि > अप० कइसाइ
कीह	[किहा] हिं० कहाँ
कु	प्रा० को अप० कु हिं० कौन
कुअरि	स० कुमारी > प्रा० कुमरी
कुअरु	,, कुमार > प्रा० कुमरा
कुआरि	,, कुमारी
कखिहिं	सं० कुक्षि > प्रा० कुक्खि,
कुचुकिइ	,, कचुक
कुटब	,, कुटुम्ब > प्रा० कुडब,
कुटीरडइ	,, कुटीरक
कुडु बउ	,, कुटुम्ब > प्रा० कुडुब
कुण	हिं० कौन
कुणबु	स० कुटुम्ब > प्रा० कुडुबो
कुतिग	सं० कौतुक > प्रा० कौउग
कुती	,, कुंता
कुपात्र	,, कुपात्र
कुपीउ	,, कुपित > प्रा० कुपिअ,
कुमर	,, कुमार
कुभीय	,, कुभिन् [हाथी]
कुर	,, कुरु
कुरुखेत्रि	,, कुरुक्षेत्र
कुरुदलि	,, कुरुदल
कुरुनरिंदु	,, कुरुनरेन्द्र
कुरुनाथि	,, कुरुनाथ
कुरव	,, कौरव > प्रा० कुरुव
कुरगू	,, कुरग
कुरमाथि	,, क्लाम्यति > प्रा० किलामइ
कुररी	,, कुररी
कुलंछणु	,, कुलाञ्छन
कुलु	,, कुल

कुलदेवलि	सं कुलदेव + [लि]
कुलबोह	" कुल + वाह
कुलमंडणु	" कुलमंडन
कुलवट	" कुल + वृत्ति [पारिवारिक प्रथा]
कुलसिंगारी	" कुल शृंगार > प्रा सिंगार
कुली	" कलिका > प्रा कलिआ हिं० कली
कुशल	" कुशल > प्रा कुसल,
कुसुवठ	" कु + सुवट
कुसुमइ	" कुसुम
कूर	" क्रूर > प्रा कूर
कूंकूप	" कुंकुम
कूजइ	, कूजति
कूंपीय	" कुंपिका > प्रा कुंपिआ
कूदइ	" कूर्दति > प्रा कुद्दइ
कूड	" कूट > प्रा कूड,
कूडीठ	" कूटिक > प्रा कूडिअ
कूम्पल	" कुड्मल > प्रा कुम्पल
कूंभार	" कुंभकार > प्रा कुंभार
कूंभी	" कुंभिका > प्रा कुंभिआ
कूंअर	, कुमार
कूंयर	" कुमारी
कूर	" क्रूर
कूरि	, क्रूर > प्रा कूर
कूलीय	कमलिका > प्रा कउलिय
कूवई	" कूप
कृतवर्म	" कृतवर्मन्
कृतारथ	" कृतार्थ
कृपु	" कृप
कृपागुर	" कृप + गुरु
कृपाम्बुपाथि	" कृपाम्बुपाथि
केइ	" के + अपि > प्रा केवि, केइ,

केउर   स० केयूर>प्रा० केअर
केकिय   ,, केकिन,
केडइ   ,, करि>प्रा० कडि>अप० कडिहिं
केतकि   ,, केतकी
केतनि   ,, केतन
केता   ,, कयच्चिय>प्रा० केत्तिअ,
केथउ   ,, कथा>अप० केत्थू
केरउ   ,, कार्यक>प्रा० केरो>अप० केरउ
केलि   ,, केली
केलीहर   ,, कदलीगृह>प्रा० केलीहर, कयलीहर
केवडी   स० केतकी>प्रा० केअई, अप० केवड
केवलनाणु   ,, ज्ञान
केवलनाणी   ,, केवलनाण+ई
केवलज्ञानु   ,, केवल+प्रा० नाणु (= स० ज्ञान)
केवलि   ,, केवलिन
केवि   ,, केऽपि>प्रा० केवि
केसर   ,, केसर
केसरयाला   ,, केसर+इयल्ल
केसरि   ,, केसरिन्
केसवु   स० केशव>प्रा० केसव
केसि   ,, केश>प्रा० केस
केह   ,, खलु
केहइ   ,, कस्मिन्+अपि>प्रा० कम्हि+इ
कोइल   ,, कोकिल>प्रा० कायल
कोट   ,, कोटी
कोडाकोडि   ,, कोटा कोटि
कोडि   ,, कोटि>प्रा० कोडि
कोढि   ,, कौतुक>प्रा० कुड्ड
कोदण्डो   स० कोदण्ड
कोपि   ,, कोप
कोरक   ,, कोरक

कुलदेवति	सं कुलदेव + [ति]
कुलवोइ	,, कुल + बाई
कुलमंडणु	,, कुलमंडन
कुलवट	, कुल + वृत्ति [पारिवारिक प्रथा]
कुलसियागारी	,, कुल शृंगार > प्रा सिंगार
कुळी	,, कलिका > प्रा कलिआ हिं कली
कुशल	,, कुशल > प्रा कुसल,
कुघुघट	,, कु + घट
कुसुमह	,, कुसुम
कूह	,, कूप > प्रा कूअ
कूकूप	,, कुंकुम
कूबह	,, कूबति
कूंचीय	,, कुंचिका > प्रा कुंचिगा
कूटह	, कुट्टयति > प्रा कुट्ट
कूड	,, कूट > प्रा कूड,
कूडीत	,, कुटिल > प्रा कुडिल
कूपल	कुड्मल > प्रा कुप्पल
कूमार	,, कुंभकार > प्रा कुंभार
कूमी	, कुंभिका > प्रा कुंभिआ
कूंवर	,, कुमार
कूंयर	, कुमारी
कूर	, क्रूर
कूरि	,, क्रूर > प्रा क्रूर
कूलीय	,, कवलिका > प्रा कवलिय
कूवई	, कूप
कृतंवम	,, कृतवर्मन्
कृतारथ	,, कृतार्थ
कृपु	, कृप
कृपागुर	,, कृप + गुरु
कृपाण्पाणि	,, कृपाणपाणि
केह	,, के + अपि > प्रा केवि, केइ

खाजा	सं० खाद्यानि>प्रा० खज्जाइ
खाटकी	,, खट्टिक>प्रा० खट्टिक
खाणि	प्रा० खाणी
खाड	सं० खड्ड
खाडासरमु	,, खगश्रम>प्रा० खड्ड
खातिइ	,, क्षान्ति>प्रा० खति
खापण	,, क्षपण>प्रा० खवण
खालि	,, क्षालक>प्रा० खालय
खिण	,, क्षण
खिपइं	,, क्षपयति>प्रा० खवइ, हिं० खपना
खीच	,, कर्षति>प्रा० खंचइ
खीजइ	,, खिद्यते>प्रा० खिज्जइ
खीणइ	,, क्षीण
खीर	,, क्षीर>प्रा० खीर
खीरोदक	खीर+उदक
खुटकइ	अप० खुडुक्कइ, हिं० खटकना
खुढत	सं० खुण्ढते
खुटियइ	प्रा० खुट्टइ
खुभ्या	सं० क्षुभित>प्रा० खुहिय
खुरि	,, खुर
खुसइ	,, कुस्यति>प्रा० खुसइ
खूटवइ	,, क्षुत्त>प्रा० खुट्टइ, हिं० खुटाना
खूटा	,, क्षुत्त>प्रा० खुट्ट=त्रुटितम्
खूणइ	,, कोण>प्रा० कोणण
खूटइ	हिं० तोड़ना
खूतउ	सं० क्षुत्त>प्रा० खुत्त
खूपु	प्रा० खुपा
खूपइ	प्रा० खुप्पइ
खेअ	सं० खेद
खेउ	,, खेद>प्रा० खेओ>अप० खेउ

कोलाहल सं कोलाहल
कोहग्गि ,, क्रोधाग्नि
क्रमु ,, कर्मन
क्रमि ,, क्रम

(ख)

खइ प्रा खय
खज्जोय सं खद्योत
खडखडइ प्रा खडहडइ
खडग सं खड्ग
खडाखडी हिं खटाखट
खणु सं क्षण > प्रा खण
खमीय ,, क्षमति > प्रा खमइ
खंडाखंडि अप खंडदा + खंड
खम अच्छा
खंति सं क्षान्ति > प्रा खंति
खंधि सं स्कंध > प्रा खंध
खंधवालि ,, स्कंध + वाल
खंधागलि ,, स्कंधकेली > प्रा खंधगेली
खपइ ,, क्षप्यते हिं खपना
खप्पर ,, कर्पर > प्रा खप्पर
खमठ ,, क्षमते > प्रा खमइ
खमस्व ,, क्षमस्व > प्रा खमस्व
खमि ,, क्षम > प्रा खम
खंभ प्रा खंभ
खय सं क्षय, क्षत
खरउ ,, प्रखर > प्रा पक्खर
खरहर प्रा खरहर
खलहिउ सं खलायित > प्रा खलाइय
खवे प्रा खवओ
खाइ हिं खाना
खाजसि हिं खंमई

खाजा	स० खाद्यानि > प्रा० खज्जाइ
खाटकी	,, खट्टिक > प्रा० खट्टिक
खाणि	प्रा० खाणी
खाड	स० खढ
खाडासरमु	,, खगश्रम > प्रा० खड्ड
खातिइं	,, क्षान्ति > प्रा० खति
खापणा	,, क्षपणा > प्रा० खवणा
खालि	,, क्षालक > प्रा० खालय
खिण	,, क्षण
खिपइं	,, क्षपयति > प्रा० खवइ, हिं० खपना
खींच	,, कर्षति > प्रा० खंचइ
खीजइ	,, खिद्यते > प्रा० खिज्जइ
खीणइ	,, क्षीण
खीर	,, क्षीर > प्रा० खीर
खीरोदक	खीर + उदक
खुटकइ	अप० खुड्डक्कइ, हिं० खटकना
खुढत	स० खुण्ढते
खुटियइ	प्रा० खुट्टइ
खुभ्या	स० क्षुभित > प्रा० खुब्भि
खुरि	,, खुर
खुसइ	,, कुस्यति > प्रा० [illegible]
खूटवइ	,, क्षुच > प्रा० खुट्टइ [illegible]
खूटा	,, क्षुच > प्रा० [illegible]
खूणइ	,, कोण > प्रा० [illegible]
खूटइ	हिं० तोड़ना
खूतउ	स० क्षुच > प्रा० [illegible]
खूपु	प्रा० खुपा
खूपइ	प्रा० खुप्पइ
खेश्र	स० खेट
खेउ	,, खेट > [illegible]

खेचर	सं खेचर
खेडइ	प्रा खेडइ
खेत्ति	सं क्षेत्र > प्रा॰ खेत्त
खेमु	,, क्षेम > प्रा खेम
खेलइ	,, क्रीडति > प्रा॰ खेलइ
खेह	,, क्षोद > प्रा खेह हिं खेह
खोविइ	,, क्षपयति > प्रा॰ खवइ
खोडि	प्रा खोडि

ग

गइंवर	सं॰ गजवर > प्रा गयवर
गाई	,, गविका > प्रा गइय
गउखि	,, गवाक्ष > प्रा गवक्ख
गउरी	,, गौरी
गगनि	,, गगन
गंगा	,, गङ्गा
गंगवणे	,, गङ्गा + वन
गंगानंदणु	,, गङ्गानन्दन
गांगेउ	सं गांगेय
गज	,, गज
गजगति	,, गज + गति
गजवड	एक प्रकार का रेशमी कपड़ा
गज्जइ	सं गर्जति
गंजणहार	,, गञ्जति > प्रा गंजइ
गड	सं गड
गडइ	,, गच्छति > प्रा॰ गच्छइ
गणहर	सं गणधर > प्रा गणहर
गव्वि	सं गर्विन्
गतिमागु	,, गति + मार्ग
गदाधर	,, गदाधर
गंधमादण	,, गन्धमादन
गंधारि	,, गांधारी

गधारी	स० गन्धहारीन्+ई
गभु	,, गर्भ > प्रा० गब्भ
गमेलउ	,, गर्भिल्ल > प्रा० गब्भिल्ल
गमेई	,, गमयति > प्रा० गमेइ
गम	,, गम्य
गमइ	,, गम् > प्रा० गमइ
गमण	,, गमन > प्रा० गमण
गमार	,, गम + कार, गमयति
गय	,, गज > प्रा० गय
गयवर	,, गजवर > प्रा० गयवर
गयउ	,, गत > प्रा० गय
गयणु	,, गगन > प्रा० गयण
गयणागणि	,, गगन + अङ्गन > प्रा० गयण + अगण
गरभ	,, गर्भ
गरबु	,, गर्व
गरुउ	,, गुरुकः > प्रा० गरुओ
गलगलीया	प्रा० गुलगुलइ
गलु	स० गल हिं० गला
गली	सं० गुलिता > प्रा० गुलिय
गविल	,, गव्य+इल्ल > प्रा० गव्विल्ल
गहगहइ	अप० गहगहइ हिं० गहगहाना
गहिलउ	स० ग्रह + इल्ल > प्रा० गहिल्लउ
गहिल्ली	,, ग्रह + इल्ली
गहीय	,, गृह्णाति > प्रा० गहइ
गाइ	,, गो > प्रा० गावी हिं० गाइ
गाई	,, गायति > प्रा० गायइ
गाऊ	,, गव्यूत > प्रा० गाउ
गागलि	एक सयासी
गागेउ	स० गांगेय
गाजइ	,, गर्जति > प्रा० गज्जइ
गाहर	प्रा० गड्डुरिया

गाढा	सं० गाढ
गानि	,, गान
गामि	,, ग्राम > प्रा० गाम हिं० गाँव
गाव	हिं० गाय
गायण	सं० गायन > प्रा० गायण
गायत्रीय	,, गायत्री
गावंति	हिं० गाना
गाह	सं० ग्राह > प्रा० गाह
गाहिय	,, गाहित > प्रा० गाहिअ
गिउ	,, गत > प्रा० गय
गिर संधि	सं० गिरि + संनिधि
गुझ	,, गुह्य
गुडगुड्या	हिं० गडगडाना
गुडि	सं० गुडा
गुडिया	,, गुडिता
गुण	,, गुण
गुणि	,, गुणिन्
गुणइ	,, गुणयति
गुमाअसी	,, गो + आसन
गुर	,, गुरु
गुरुनंदनु	,, गुरुनंदन
गुरुड	,, गरुड
गुरुडासनि	,, गरुड + आसन
गुरुआ	हिं० बडा
गुहिर	सं० गम्भीर > प्रा० गुहिर
गूझ	,, गुह्य > प्रा० गुज्झ
गूढिय	,, गूढित > प्रा० गूढिअ
गूढ	,, गूढम्
घेणि	,, कर्णी
घेहि	,, गेह
गाआसन	,, पथासन

गोअम	स० गौतम > प्रा० गोअम
गोतम	,, गौतम
गोपिय	,, गोपिका > प्रा० गोपिय
गोरडी	,, गौरी + डी
गोरस	,, गोरस
गोरु	,, गो + वृद > अप० गोवन्द्र
गोवर	,, गोपुर
गोविंदि	,, गोविंद
गोवाल	,, गोपाल > प्रा० गोवाल
ग्या	हिं० गया
ग्रास	स० ग्रास

घ

घट	स० घट
घटइ	,, घटयति
घड	,, घट > प्रा० घड
घडिउ	,, घटयति > प्रा० घडइ
घडीय	,, घटिका > प्रा० घडिआ
घडुउ	,, घटोत्कच
घण	,, घन > प्रा० घण
घणुं	,, घनकम्
घणीवार	हिं० अक्सर
घणीपरि	हिं० अनेक प्रकार
घणेरउ	स० घनतर > प्रा० घणयर
घर	,, गृह
घरनारि	,, गृह + नारी
घरिसूत्तु	,, गृह सूत्र > प्रा० घरसुत्त
घरिसूत्र	,, गृहसूत्र
घरणि	,, गृहिणी > प्रा० घरणी
घल्लइ	,, घात्य > प्रा० घच्च
घाउ	,, घात > प्रा० घाअ
घाई	[वेग से]

चक्काबट्ट सं० चक्रावर्त
चक्कवट्टि ,, चक्रवर्तिन्
चक्रव्यूहु ,, चक्रव्यूह
चक्कि ,, चक्र
चगा ,, चग > प्रा० चग
चंचलि ,, चचल
चट्ट प्रा० चट्ट, हिं० चटसाल
चडइ प्रा० चढइ
चढि हिं० चढना
चतुरपणउ हिं० चतुराई
चत्ति स० चित्त
चद ,, चद्र > प्रा० चद
चंदण ,, चंदन
चदणु ,, चदन > प्रा० चंदण
चदनि ,, चदन
चंदनि ,, चद्रिका > प्रा० चदणी
चंद्रप्रभू ,, चद्रप्रभ
चद्रापीडु ,, चद्रापीड
चपलु ,, चपल
चमर ,, चामर > प्रा० चमर
चरण ,, चरण
चरती ,, चरति
चरितु ,, चरित
चरिय ,, चरित > प्रा० चरिय
चरी ,, चरित
चपेट ,, चपेटा
चमकति ,, चमत्करोति > प्रा० चमक्कइ
चपकवन्नी ,, चपक + वर्णा > प्रा० चपक + वण
चर ,, चर
चरइ ,, चरति > प्रा० चरइ
चरीइ ,, चरित

घांघल	प्रा घग्घल
घाटडी	सं घाट+डी
घाडा	„ गाढ
घाटि	प्रा घट्टो = मही तीर्थम्
घात	सं घाति
घाय	„ घात > प्रा घाअ
घारिय	„ घारित > प्रा घारिअ
घाहु	„ माह
घी	„ घृत > प्रा घिअ
घुग्घुर	„ घर्घर
घुंटीइ	„ घुट > प्रा घुट्ट
घूमिई	„ घूर्णते > प्रा घुम्मइ
घृताची	„ घृताची
घोडइ	„ घोटक > प्रा घोडओ
घोरई	„ घुरति > प्रा घोरइ
घोल	„ घोल
घोलय	„ घूर्णते > प्रा॰ घोलइ

च

चउक	सं चतुष्क, चत्वर > प्रा चउक्क हिं चौक
चउथउ	„ चतुर्थ > प्रा चउत्थ
चउदसि	„ चतुर्दशी > प्रा चउद्दसि
चउदह	„ चतुर्दश > प्रा चउद्दह
चउरासी	„ चतुरशीति > प्रा चउरासी हिं॰ चौरासी
चउरी	„ चत्वरिका > प्रा चउरिआ
चउविह	„ चतुर्विध > प्रा चउव्विहः
चउवीस	„ चतुर्विंशति—चउवीसं हिं चौबीस
चउवीसमउ	„ चतुर्विंशतितम प्रा चउव्वीसइम
चउवइ	„ चतुर्विंश
चऊद	„ चतुर्दश
चऊदहोत्तर	„ चतुर्दश+शत+उत्तर
चऊदसइ	„ चतुर्दशशतम

चितु	स० चिंत
चिंतइ	,, चिंतयति > प्रा० चिंतइ
चिंध	,, चिह्न > प्रा० चिंध
चिय	,, चैव > प्रा० चिअ
चिइ	,, चिता > प्रा० चिआ
चिंहु	,, चतुर्णाम् अप० चउ + हु
चीठी	,, चेष्टिका > प्रा० चिट्ठआ
चींति	स० चित्त
चीनउ	,, चिह्नित
चीर	,, चार
चुक्केवि	,, चुक्न > प्रा० चुक्कइ
चुणिवि	स० चिनोति > प्रा० चुणइ
चुवि	,, चुवति > प्रा० चुवइ
चूरइ	,, चूरयति > प्रा० चूरइ
चूटइ	,, चृतति=कृतति > प्रा० चुटइ
चुडिय	प्रा० चूड
चूनउ	स० चूर्ण + क > प्रा० चुण्ण
चूव	,, चुव
चौदपच्यासीइ	,, चतुर्दश + पञ्चाशीति > प्रा० चउद्दह + पचासीइ
च्यारि	,, चत्वारि > प्रा० चत्तारि

छ

छट्ठउ	स० षष्ठ > प्रा० छट्ठ
छठइ	हिं० छठा
छडउ	अप० छडय
छडइ	स० छर्दयति > प्रा० छड्डइ
छत्राकारि	छत्र + आकार (छाते के आकर में)
छंदिहिं	स० छंदस्
छविउ	प्रा० छवइ
छम्मास	स० षण् + मास
छयलपणइ	प्रा० छइल्ल + अप० प्पण
छलु	स० छल

चरीउ सं चरित
चरीओ ,, चरित
चल ,, चल
चलई ,, चलति > प्रा चलइ
चलण ,, चरण > प्रा चलण
चलचीत अस्थिर चित्त
चलइ सं चलति > प्रा चल्लइ
चवीक्खा च्यवित + इक्ष
चाउरि सं चत्वर > प्रा चच्चर
चाकुला ,, चक्र + उल्ल > प्रा चक्क+उल्ल
चाखी ,, चखिता > प्रा चक्खिआ
चाणूर ,, चाणूर
चांदलु प्रा चंद + उल्ल
चांदुलउ सं चंद्र
चांदुलडइ म चांद + प्रा उल्लडउ
चांपीयइ सं चंपयति
चामर ,, चामर
चार , चतुर् > प्रा चउर
चारण , चारण
चारि , चरति > प्रा चारि
चारितु ,, चारित्र > प्रा चारित्त
चारिसु हिं चराना
चारिहिं सं चार हिं चलना
चालइ हिं चलना
चाष प्रा चाष
चिति सं चित्त
चित्रविचित्र चित्रविचित्र
चित्रामि सं चित्रायन
चित्रसाली , चित्रशाला
चित्रंगदु , चित्रांगद
चित्त , चित्ता > प्रा चित्त

चितु	स० चिंत
चिंतइ	,, चिंतयति > प्रा० चिंतइ
चिंध	,, चिह्न > प्रा० चिंध
चिय	,, चैव > प्रा० चिअ
चिइ	,, चिता > प्रा० चिआ
चिंहु	,, चतुर्णाम् अप० चउ + हु
चीठी	,, चेट्टिका > प्रा० चिट्ठआ
चीति	स० चित्त
चीनउ	,, चिह्नित
चींर	,, चार
चुक्केवि	,, चुक्न > प्रा० चुक्कइ
चुणिणि	स० चिनोति > प्रा० चुणइ
चुवि	,, चुवति > प्रा० चुवइ
चूरइ	,, चूरयति > प्रा० चूरइ
चूटइ	,, चृ तति=कृतति > प्रा० चुटइ
चूढिय	प्रा० चूड
चूनउ	स० चूर्ण + क > प्रा० चुण्ण
चूत्र	,, चुत्र
चौदपच्यासीइ	,, चतुर्दश + पञ्चाशीति > प्रा० चउद्दह + पंचासीइ
च्यारि	,, चत्वारि > प्रा० चत्तारि

छ

छट्ठउ	स० पष्ठ > प्रा० छट्ट
छठइ	हिं० छठा
छडउ	अप० छडय
छडइ	स० छर्दयति > प्रा० छड्डइ
छत्राकारि	छत्र + आकार (छाते के आकर में)
छदिहिं	स० छदस्
छविउ	प्रा० छवइ
छम्मास	स० पण् + मास
छयलपणइ	प्रा० छइल्ल + अप० पण
छलु	स० छल

छाइंठ	सं छादित > प्रा छाइअ
छाजइ	,, सज्जति > प्रा० छज्जइ
छानठ	,, छन्न
छाली	,, छागल > प्रा छाली=छागी, छागल
छार	,, सं क्षार > प्रा छार
छापठ	छाइंती
छाया	सं छाया
छाहडी	,, छाया > प्रा छाह+डी
छिल्लर	,, छिद्र+ल > प्रा छिल्लर
छीपइ	,, स्पृशते > प्रा छिप्पइ
छुरी	,, छुरिका > प्रा छुरिआ
छूटइ	अप छुट्टइ
छेअर	छेक = निपुण
छेदिसु	सं छेदति
छेह	,, छेद > प्रा छेअ
छोडई	,, छुटति छोटयति > प्रा० छोडइ

ज

जइ	सं यदि > प्रा जइ
जइलच्छि	,, जय + लक्ष्मी
जइवंत	,, जयवती
जठ	,, यत्र > प्रा जत्तो, अप जठ
जग	,, जगत्
जगगुरु	जग+सं गुरु
जगावइ	प्रा जगावइ
जगति	सं जगती
जगदीस्वर	,, जगत्+ईश्वर
जगनाह	,, जगत्+नाथ
जगनीक	एक राजा का नाम
जगबंधव	सं जगत्+बांधव
जगबंध	,, जगत्+बंधु
जडइ	,, जटति > प्रा जडइ

जडइ	सं० जड
जण	,, जन>प्रा० जण
जणण	जनक
जणणि	स० जननी>प्रा० जणणि
जणमेलु	,, जन+मेल
जणवइ	,, जनपति>प्रा० जणवइ
जनम	,, जन्मन्
जनोइ	,, यज्ञोपवीति>प्रा० जण्णो वईय
जन्ह	,, जह्नु
जम	,, यम>प्रा० जम
जमण	,, यमुना
जप	,, जल्प
जपइ	,, जल्पति
जपउ	हिं० झपना
जबूदीव	सं० जंबुद्वीप>प्रा० जबुदीव
जंम	,, जन्मन्>प्रा० जम्म
जमण	,, जन्मन्>प्रा० जम्मण
जयमाला	,, जयमाला
जयजयकारु	,, जयजयकार
जयवता	,, जयवत्
जयद्रथु	,, जयद्रथ
जयसायर	,, जयसागर
जयसेहर	,, जयशेखर>प्रा० जयसेहर
जरासिंघ	,, जरासंघ
जलद	हिं० बादल
जलु	स० जल
जलजीवि	,, जल+जीव
जलतु	,, ज्वलति>प्रा० जलइ
जव	,, यव>प्रा० जओ
जसवाउ	,, यशोवाद>प्रा० जसवाअ
जसु	,, यशः>प्रा० जसो>अप जसु

जिणीय	सं० जिनाति
जिम	,, यिव
जिमु	हिं० जिमि
जिमवा	प्रा० जिमइ
जिसउ	स० यादृशक अप० जइसउ
जिसिइ	[हिं जिस प्रकार]
जिहा	स० यस्मात् > प्रा० जम्हा अप० जहा
जीउ	स० जीव
जींण	प्रा० जयण = इयसनाइ
जीतउ	स० जित > प्रा० जित्त
जीपी	,, जित > प्रा० जिप्पइ
जीभ	सं० जिह्वा > प्रा० जिब्भा
जीराउलि	प्रा० जीराउल
जीव	स० जीव
जीवडा	,, जीव + डा
जीवदानु	,, जीव + दान
जीविय	,, जीवित > प्रा० जीविअ
जुअलइ	स० युगल > प्रा० जुअल
जुगतुं	,, युक्त > प्रा० जुत्त
जुगला धरम	प्रा० जुगल + पु० गु० धरम
जुडिया	स० युक्त > प्रा० जुत्तइ
जुव्वणि	,, यौवन > प्रा० जुव्वण
जुहार	जुइ + प्रा० आर
जुजूउ	स० युतयुत > प्रा० जुअ-जुअ
जूठिलु	,, युधिष्ठिर > प्रा० जहुट्ठिलो
जूनु	,, जूर्ण > प्रा० जुण्ण
जूवणु	[हिं० युवक]
जुहिय	स० यूथिका > प्रा० जूहिया
जेउ	,, येव
जेतलइं	,, यत्य + इक > प्रा० जेत्तिअ
जेती	,, यत्य + इक > प्रा० जत्तिअ

छाइंठ — सं छादित > प्रा॰ छाइअ
छाजइ — ,, सज्जति > प्रा॰ छज्जइ
छानउ — ,, छन्न
छाली — ,, छागल > प्रा छाली=छागी, छागल
छार — ,, सं क्षार > प्रा छार
छामउ — छाइंती
छाया — सं छाया
छाइडी — ,, छाया > प्रा छाइ+डी
छिल्लर — ,, छिद्र+ल > प्रा छिल्लर
छीपइ — ,, स्पृश्यते > प्रा छिप्पइ
छुरी — ,, छुरिका > प्रा छुरिया
छूटइ — अप छुट्टइ
छेअर — छेक = निपुण
छेदिसु — सं छेदति
छेह — ,, छेद > प्रा छेअ
छोडउं — ,, त्रुट्यति छोटयति > प्रा छोडइ

ज

जइ — सं यदि > प्रा जइ
जइलच्छि — ,, जय + लक्ष्मी
जइवंत — ,, जयवती
जउ — ,, यतः > प्रा जओ, अप जउ
जग — ,, जगत्
जगगुरु — जग+सं गुरु
जगडइ — प्रा जगडइ
जगति — सं जगती
जगदीसरु — ,, जगत्+ईश्वर
जगनाह — ,, जगत्+नाथ
जयनीक — एक राजा का नाम
जगबंधव — सं जगत्+बांधव
जगवंस — ,, जगत्+वंश
जडइ — ,, जटति > प्रा जडइ

जडइ स० जड
जण ,, जन > प्रा० जण
जणण जनक
जणणि स० जननी > प्रा० जणणि
जणमेलु ,, जन + मेल
जणवइ ,, जनपति > प्रा० जणवइ
जनम ,, जन्मन्
जनोइ ,, यज्ञोपवीति > प्रा० जयणो वईय
जन्हु ,, जह्नु
जम ,, यम > प्रा० जम
जमण ,, यमुना
जप ,, जल्प
जपइ ,, जल्पति
जपउ हिं० झपना
जबूदीव स० जम्बुद्वीप > प्रा० जबुदीव
जंम ,, जन्मन् > प्रा० जम्म
जमण ,, जन्मन् > प्रा० जम्मण
जयमाला ,, जयमाला
जयजयकारु ,, जयजयकार
जयवता ,, जयवत्
जयद्रथु ,, जयद्रथ
जयसायर ,, जयसागर
जयसेहर ,, जयशेखर > प्रा० जयसेहर
जरासिंध ,, जरासंध
जलद हिं० बादल
जलु स० जल
जलजीवि ,, जल + जीव
जलतु ,, ज्वलति > प्रा० जलइ
जव ,, यत > प्रा० जओ
जसवाउ ,, यशोवाद > प्रा० जसवाअ
जसु ,, यशः > प्रा० जसो > अप जसु

जसी — सं यादृश > प्रा जारिस > अप जइसो
जाइ — ,, याति > प्रा जाइ
जाचिम — ,, याच्यते > प्रा जच्चिइ
जाई — ,, जाया > प्रा जाइ
जाउ — ,, जात > प्रा जाअ
जाग — ,, याग
जागिउ — ,, जागर्ति > प्रा जग्गइ
जांभ — ,, जंभा
जाजरी — ,, जर्जर > प्रा जज्जर
जाणइ — ,, जानाति > प्रा जाणइ
जाण — ,, ज्ञान > प्रा जाण
जाणपणु — ,, ज्ञान + त्वन > प्रा जाणत्तण
जाणि — ,, जाने > प्रा जाणे
जाणाउं — हिं जाना
जातइं — सं जात्मा
जातक — ,, जातक
जातमात्र — ,, जातमात्र
जातीस्मर — ,, जातिस्मर
जाम — ,, यामा
जादर — एक प्रकार का रेशमी वस्त्र
जादव — सं यादव
जाम — ,, यावत् > प्रा जाव > अप जाम
जामलि — ,, यमल
जायउ — ,, जात > प्रा जाअ
जालिय — प्रा जालइ
जालिम — सं जालिक > प्रा जालिय
जां — ,, यावत > प्रा जाव > अप जामु
जाई — हिं जाना
जाण — ,, जानना
जिका — सं य + कोऽपि > प्रा जि + कोइ
जिणु — ,, जिनेंद्र > प्रा जिणिंद

जिणीय	सं० जिनाति
जिम	,, यिव
जिमु	हिं० जिमि
जिमवा	प्रा० जिमइ
जिसउ	स० यादृशक अप० जइसउ
जिसिइ	[हिं जिस प्रकार]
जिहा	स० यस्मात्>प्रा० जम्हा अप० जहा
जीउ	स० जीव
जोंण	प्रा० जयण = इयसनाह
जीतउ	स० जित>प्रा० जित्त
जीपी	,, जित>प्रा० जिप्पइ
जीभ	स० जिह्वा>प्रा० जिब्भा
जीराउलि	प्रा० जीराउल
जीव	स० जीव
जीवडा	,, जीव + डा
जीवदानु	,, जीव + दान
जीविय	,, जीवित>प्रा० जीविअ
जुअलइ	स० युगल>प्रा० जुअल
जुगतुं	,, युक्त>प्रा० जुत्त
जुगला धरम	प्रा० जुगल + पु० गु० धरम
जुडिया	स० युक्त>प्रा० जुत्तइ
जुव्वणि	,, यौवन>प्रा० जुव्वण
जुहार	जुइ + प्रा० आर
जुजूउं	स० युतयुत>प्रा० जुअ-जुअ
जूठिल्ल	,, युधिष्ठिर>प्रा० जहुट्ठिलो
जूनु	,, जूर्ण>प्रा० जुरण
जूवणु	[हिं० युवक]
जुहिय	स० यूथिका>प्रा० जूहिया
जेउ	,, येव
जेतलइं	,, यत्य + इक>प्रा० जेत्तिअ
जेती	,, यत्य + इक>प्रा० जत्तिअ

झुवइ — स० प्रालंब > प्रा० झुंबइ
झूरइ — ,, जूरयति > प्रा० झूरइ

ट

टपावइ — प्रा० टप्पइ हिं० टपाना
टलइ — स० टलति > प्रा० टलइ
टलक्कइ — ,, टलत् + कृत
टलटलइ — प्रा० टलटलइ
टेव — स० स्थगयति > प्रा० थक्कइ
टोल — ,, प्रतोली

ठ

ठवइ — स० स्थापयति > प्रा० ठवइ = स्थपयति
ठाउ — स० स्थाम > प्रा० ठाम > अप० ठाउ
ठाकुर — ,, ठक्कुर > प्रा० ठक्कुर
ठाण — ,, स्थान > प्रा० ठाण
ठामु — हिं० ठाम
ठीक — स० स्थितक > प्रा० ठिअक्क
ठेलइ — ,, स्थलयति > प्रा० ठलइ

ड

डज्झ — दह्य, डज्झति
डर — भय
डसन — दंत, दशन् (दांत)
डस्यउ — प्रा० डसइ
डामर — स० डम्बर
डारइ — ,, दरति > प्रा० डरइ
डाल — ,, दार > प्रा० डाली
डाविय — ,, दर्पति > प्रा० दप्पइ
डाहा — (हिं० होशियार)
डुगरि — (एक पहाड़)
डूगर — (एक पहाड़)
डूब — स० श्वपच, स० डोम्ब हिं० डोम
डोकर — ,, डोलत्कर

जिणीय	सं० जिनाति
जिम	,, यिव
जिमु	हिं० जिमि
जिमवा	प्रा० जिमइ
जिसउ	स० यादृशक अप० जइसउ
जिसिइ	[हिं जिस प्रकार]
जिहां	स० यस्मात्>प्रा० जम्हा अप० जहां
जीउ	स० जीव
जींण	प्रा० जयण = हयसनाह
जीतउ	स० जित >प्रा० जित्त
जीपी	,, जित>प्रा० जिप्पइ
जीभ	स० जिह्वा>प्रा० जिब्भा
जीराउलि	प्रा० जीराउल
जीव	स० जीव
जीवडा	,, जीव + डा
जीवदानु	,, जीव + दान
जीविय	,, जीवित>प्रा० जीविअ
जुअलइ	स० युगल>प्रा० जुअल
जुगतु	,, युक्त >प्रा० जुत्त
जुगला धरम	प्रा० जुगल + पु० गु० धरम
जुडिया	स० युक्त>प्रा० जुत्तइ
जुव्वणि	,, यौवन>प्रा० जुव्वण
जुहार	जुह + प्रा० आर
जुजूउ	स० युतयुत>प्रा० जुअ-जुअ
जूठिलु	,, युधिष्ठिर >प्रा० जहुट्ठिलो
जूनु	,, जूर्ण>प्रा० जुण्ण
जूवणु	[हिं० युवक]
जुहिय	स० यूथिका>प्रा० जूहिया
जेउ	,, येव
जेतलई	,, यत्य + इक >प्रा० जेत्तिअ
जेती	,, यत्य + इक >प्रा० जत्तिअ

जोइगदे — सं जयसिंह देव
जोव्वण — ,, यौवन > प्रा० जोव्वण
जोड — हिं जोड़ी
जोडी — सं योतति
जोग्गा — ,, योग्य > प्रा जोग्ग
जोवणु — ,, यौवन
जोवन — ,, यौवन
जोवणभरि — , यौवन+भर
जोसी — ,, ज्योतिषिक
ज्वलंती — ,, ज्वलति

झ

झखइ — प्रा झंखइ
झखझखाय — सं > प्रा झखझखाइ
झमकार — ,, झंकार + कार
झंखावइ — ,, झंखा > प्रा झंखइ = भ्रमति
झरई — ,, झरति > प्रा झरइ
झलइ — सं ज्वाला
झलक — झलकति झलकंत
झलकइ — सं ज्वल् + इत > अप झलक्कइ
झलमलीय — [हिं झलमलाना]
झलहलई — सं झलज्झला
झल्लरी — , झल्लरी
झाटक — ,, झट + इति > प्रा झट + त्ति
झायइ — ,, ध्यायति > प्रा झायइ
झांप — सं झंपा
झाल — ,, ज्वाला
झुंझ — ,, युध > प्रा जुज्झ
झर — झंखा = मृगतृष्णा
झूझइ — सं युध्यते > प्रा जुज्झइ
झूटि — प्रा झंटइ = प्रहरति

झूमइ	स० प्रालंब > प्रा० झुंबइ
झूरइ	,, जूरयति > प्रा० झूरइ

ट

टपावइ	प्रा० टप्पइ हिं० टपाना
टलइ	स० टलति > प्रा० टलइ
टलक्कइ	,, टलत् + कृत
टलटलइ	प्रा० टलटलइ
टेव	स० स्थगयति > प्रा० थक्कइ
टोल	,, प्रतोली

ठ

ठवइ	स० स्थापयति > प्रा० ठवइ=स्थपयति
ठाउ	स० स्थाम > प्रा० ठाम > अप० ठाउ
ठाकुर	,, ठक्कुर > प्रा० ठक्कुर
ठाण	,, स्थान > प्रा० ठाण
ठामु	हिं० ठाम
ठीक	स० स्थितक > प्रा० ठिअक्क
ठेलइ	,, स्थलयति > प्रा० ठलइ

ड

डज्झ	दह्य, डज्झति
डर	भय
डसन	दंत, दशन् (दांत)
डस्यउ	प्रा० डसइ
डामर	स० डम्बर
डारइ	,, दरति > प्रा० डरइ
डाल	,, दार > प्रा० डाली
डाविय	,, दर्पति > प्रा० दप्पइ
डाहा	(हिं० होशियार)
डुगरि	(एक पहाड़)
डूगर	(एक पहाड़)
डूब	स० श्वपच, स० डोम्ब हिं० डोम
डोकर	,, डोलत्कर

णादीयइ स० निद्रीयते
नलचरिय ,, नलचरित
नव ,, नवीन
णव ,, नवन्, नम्
णवजुव्वणी ,, नवयौवना
णह ,, नख
णह ,, नभ
णहवल्लिय ,, नभ + विद्युत्
णाइ प्रा० णाय, णाय
णाय स० नाग = सर्प
णायर ,, नगर
णाडइ ,, नाटकिन
णाम ,, नाम
णारि ,, नारी
णाव ,, नौका
णाविय ण + आविय
णाह स० नाथ
णाहिं ,, नाभि
णिअ ,, निज,
णिअत्तय ,, निवृत्त
णिउइय ,, नियोजित
णियय ,, नियत, निज
णिअ ,, दृश्
णियसण ,, निवसन = शिरोवस्त्र
णिग्गय ,, निर्गत
णिग्गम ,, निर्गम
णिच्च ,, नित्य
णिट्ठुर ,, निष्ठुर
णित्तु ,, नित्य
णित्त ,, नेत्रपटम्
णिद्दय ,, निर्दय

डोकरि (एक बूढ़ी औरत)
डोलइ सं दोलयति, हिं डोलना
डोलिय ,, दोलिका
डोल्लक प्रा डोल्ल

ढ

ढक्क सं ढक्का
ढंखर फल पत्ररहित
ढमढमी [ढोल पीटा जाना]
ढलइ सं ध्वरति > प्रा ढलइ
ढाढ प्रा ढाढ
ढाक हिं ढोल
ढाल हिं ढाल
ढुक्की सं ढौकित > प्रा ढुक्क
ढोल ,, ढोल
ढोलई ,, ध्वरति
ढोर ,, धुर

ण

ण सं न > प्रा ण
णयन्न ,, नयन
णाह ,, नाथ > प्रा णाह
णी ,, निज > प्रा णिय
णयन ,, नयन
णयर ,, नगर
णकंत ,, नक्तं—नाविकांत
णच्च , नृत्य
णमइ , नामते नमति
णइरिषय ,, निर्दय
णट ,, नट
णड ,, नट
णत्थि ,, नास्ति

तउणी	सं० तपनी>प्रा० तवणि
तच्चण	,, तत्क्षणम्
तडा	,, तट>प्रा० तड
तडि	,, तटे>प्रा० तडम्मि
ततकाल	,, तत्+काल
ततखिणि	,, तत्क्षण>प्रा० तक्खण
ततच्चण	,, तत्क्षण
तपइ	,, तपति>प्रा० तपइ
तंदुलवेयालीपसूत्र	,, तन्डुलवैकालिक>प्रा० तंदुलवेयालिय
तपु	,, तप
तबल	हिं० तबला
तमी	सं० तमी
तबोल	,, तावूल>प्रा० तंबोल
तरइं	,, तरति>प्रा० तरइ
तरतर	प्रा० तडतडा
तरुआ	स० तरुकस्य>प्रा० तरुअस्स
तरुणीय	,, तरुणीका
तरुयर	,, तरु+वर
तलाव	,, तडाग>प्रा० तलाअ
तलि	हिं० तल
तलिआ	स० तल>प्रा० तल्ल
ताम	,, तस्मात्>प्रा० तम्हा
ताडऊ	सं० तुरङ्कम्
ताणीउं	,, तानयति, तनोति>प्रा० तानिअ
ताखणि	,, तत्क्षण
ताजिउ	,, त्यजयति>प्रा० ताजइ
ताजइ	,, तर्जयति>प्रा० तज्जइ
ताडइ	,, ताडयति>प्रा० ताडइ
ताय	,, तात>प्रा० ताओ>अप० ताउ
तातउं	,, तप्त, तप्तक>प्रा० तत्त, तत्तअ
तापु	,, ताप

णिद्दयर	सं निर्दयतर
णिद्दोस	,, निर्दोष
णिद्द	,, निद्रा
णिण्णासय	,, निर्णाशक
णिबद्ध	,, निबद्ध
णिब्भय	,, निर्भय
णिब्भर	,, निर्भर
निर्मंथि	,, निर्ग्रान्थ
णिमिस	,, निमेषम्
णिम्मल	,, निर्मल
निम्मविय	,, निर्मापित
णिरक्खर	,, निरक्षर
णिरंतरिय	,, निरन्तर
निरवेक्ख	,, निरपेक्षम
णिवड	,, निविड
णिवडब्भर	,, निविडोद्धुर
णिवेसिय	,, निवेशित निविष्ट
निविड	,, निविड
णिवेसिय	,, निवेशित|
णिसियरिय	,, निशाचरी
णिसायर	,, निशाचर
णिसुय	,, निश्रुतु
णिस्साहार	,, निराधार = निस्साधार
णिहु	,, हन् पतति
णिहि	,, निधि
णिहुय	,, निभृत
णेय	,, नेय
णेह	,, स्नेह
णेवर	,, नूपुर

त

तउं	,, त्वम्>प्रा तुमं

तउणी — स० तपनी>प्रा० तवणि
तच्छण — ,, तत्क्षणम्
तडा — ,, तट>प्रा० तड
तडि — ,, तटे>प्रा० तडम्मि
ततकाल — ,, तत्+काल
ततखिणि — ,, तत्क्षण>प्रा० तक्खण
ततच्छण — ,, तत्क्षण
तपइ — ,, तपति>प्रा० तपइ
तदुलवेयालीपसूत्र — ,, तन्दुलवैकालिक>प्रा० तंदुलवेयालिय
तपु — ,, तप
तबल — हिं० तबला
तमी — स० तमी
तबोल — ,, ताबूल>प्रा० तबोल
तरइं — ,, तरति>प्रा० तरइ
तरतर — प्रा० तडतडा
तरुआ — स० तरुकस्य>प्रा० तरुअस्स
तरुणीय — ,, तरुणीका
तरुयर — ,, तरु+वर
तलाव — ,, तडाग>प्रा० तलाअ
तलि — हिं० तल
तलिआ — स० तल>प्रा० तल्ल
ताम — ,, तस्मात्>प्रा० तम्हा
ताडंक — स० तुण्डकम्
ताणीउं — ,, तानयति, तनोति>प्रा० तानिअ
ताखणि — ,, तत्क्षण
ताजिउ — ,, त्यजयति>प्रा० ताजइ
ताजइ — ,, तर्जयति>प्रा० तज्जइ
ताडइ — ,, ताडयति>प्रा० ताडइ
ताय — ,, तात>प्रा० ताओ>अप० ताउ
तातउ — ,, तप्त, तप्तक>प्रा० तत्त, तत्तअ
तापु — ,, ताप

तारिसिइ	सं तारयति > प्रा तारेइ
तार	,, तारका > प्रा तारआ
तालु	,, ताल
ताव	,, ताप > प्रा ताव
तिवीइ	,, स्वप्यते
तिरप	,, तीप > प्रा तिरप
तिनि	,, त्रीणि > प्रा तिण्णि
तिमिर	,, तिमिर
तिर्यंलोकि	,, तिर्यक् + लोक
तिलउ	,, तिलक > प्रा तिलओ > अप तिलउ
तिलपत्थु	,, तिलप्रस्थ
तिवउ	,, तादृश > प्रा तारिस > अप तइस
तिहुअण	,, त्रिभुवन > प्रा तिहुअण
तीछे	,, तथा
तीथि	,, तीर्थ > प्रा तित्थ
तीर्थंकर	,, तीर्थंकर > प्रा तित्थंयर
तीर	,, तीर
तीरइ	,, तीर
तुंबर	,, तुम्बुरु
तुरक	,, तुरग
तुरगु	,, तुरग
तुरंगम	हिं घोड़ा
तुरिया	सं तुरग > प्रा तुरय
तुरी	, तूर्य > प्रा तूर
तुरंतउ	,, त्वरति—त्वरते > प्रा तुवरंत
तुषार	,, तुषार
तुहिवउ	,, तथापि
तुलइ	तुलयति > प्रा तुलइ तुलेइ
तूठी	, तुष्टा > प्रा तुट्ठा
तूर	[हिं तुरही]
तूठिइ	,, तुष्यति > प्रा तूसइ

तूवु — सं० तुम्ब, तुम्बक
तृणा — ,, तृणस्य > अप० तृणहो
तृशूल — ,, त्रिसूल
तेउ — ,, तेजस् > प्रा० तेअ > अप० तेउ
तेजि — ,, तेजस्
तेजलु — ,, तेज + उल्लउ (?)
तेडइ — ,, तटयति
तेती — प्रा० तिचिअ > अप० तेचिउ
तेत्रीस — सं० त्रयस्त्रिंशत् > प्रा० तेत्तीस
तेर — ,, त्रयोदश > प्रा० तेरस, तेरह
तेरमउ — ,, त्रयोदशत > प्रा० तेरसम, तेरहम
तेल — ,, तैलय, तैल > प्रा० तेल्ल
तोरणि — ,, तोरण
तोलइ — ,, तोल
तोलि — ,, तोलयति
त्रवक — ,, ताम्रक > प्रा० तम्बक
त्राठा — ,, त्रस्त > प्रा० तट्ठ
त्रासिसिइ — ,, त्रास
त्रिगवि — ,, त्रिक
त्रिजच — ,, तिर्यच् > प्रा० तिरिअच
त्रिणि — ,, त्रीणि
त्रिमत्रन — ,, त्रिभुवन
त्रिसिउ — ,, तृषित > प्रा० तिसिय
त्रिसूलि — ,, त्रिसूल > प्रा० तिसूल
त्रीसे — ,, त्रिंशत् > प्रा० तीस
त्रूटइ — ,, त्रुट्यति
त्रेवडी — ,, त्रिवृत्ति > प्रा० ति + वत्ति
त्रोटि — ,, त्रोटिका
त्रोडइ — प्रा० तोडइ
त्रोडए — स० पेड़ से कुछ तोड़ना
तू — ,, त्वम्

तारिसिइ	सं तारयति > प्रा तारेइ
तार	,, तारक > प्रा तारअ
ताल्लु	,, तालु
ताव	,, ताप > प्रा ताव
तिखीइ	,, त्वरते
तित्थ	,, तीर्थ > प्रा तित्थ
तिनि	,, त्रीणि > प्रा तिण्णि
तिमिर	,, तिमिर
तिर्यलोकि	,, तिर्यक् + लोक
तिलउ	,, तिलक > प्रा तिलओ > अप तिलउ
तिलपल्लु	,, तिलप्रस्थ
तिसउ	,, तादृश > प्रा तारिस > अप तइस
तिहुयण	,, त्रिभुवन > प्रा तिहुयण
तीछे	,, तस्या
तीथि	,, तीर्थ > प्रा तित्थ
तीर्थंकर	,, तीर्थंकर > प्रा तित्थंयर
तीर	,, तीर
तीरइ	,, तीर
तुंबर	,, तुम्बुर
तुरक	,, तुरग
तुरगु	,, तुरग
तुरंगम	हिं घोड़ा
तुरिया	सं तुरग > प्रा तुरय
तुरी	,, तूर्य > प्रा तूर
तुरंतउ	,, त्वरति—त्वरते > प्रा तुवरंत
तुसार	,, तुषार
तुहिवइ	,, तथापि
तुलइ	,, तुलयति > प्रा तुलइ तुलेइ
तूठी	,, तुष्टा > प्रा तुट्ठा
तूर	[हिं तुरही]
तूंबिइ	,, तुष्यति > प्रा तूसइ

तूबु	स० तुम्ब, तुम्बक
तृणा	„ तृणस्य > अप० तृणहो
तृशूल	„ त्रिसूल
तेउ	„ तेजस् > प्रा० तेअ > अप० तेउ
तेजि	„ तेजस्
तेजलु	„ तेज + उल्लउ (?)
तेडइ	„ तटयति
तेती	प्रा० तिचिअ > अप० तेचिउ
तेत्रीस	स० त्रयस्त्रिंशत् > प्रा० तेत्तीस
तेर	„ त्रयोदश > प्रा० तेरस, तेरह
तेरमउ	„ त्रयोदशत > प्रा० तेरसम, तेरहम
तेल	„ तैलय, तैल > प्रा० तेल्ल
तोरणि	„ तोरण
तोलइ	„ तोल
तोलि	„ तोलयति
त्रवक	„ ताम्रक > प्रा० तम्बक्क
त्राठा	„ त्रस्त > प्रा० तट्ठ
त्रासिसिइ	„ त्रास
त्रिगवि	„ त्रिक
त्रिजच	„ तिर्यच् > प्रा० तिरिअच्च
त्रिणि	„ त्रीणि
त्रिभवन	„ त्रिभुवन
त्रिसिउ	„ तृषित > प्रा० तिसिय
त्रिसूलि	„ त्रिसूल > प्रा० तिसूल
त्रीसे	„ त्रिंशत् > प्रा० तीस
त्रूटइ	„ त्रुट्यति
त्रेवडी	„ त्रिवृत्ति > प्रा० ति + वट्टि
त्रोटि	„ त्रोटिका
त्रोडइ	प्रा० तोडइ
त्रोडए	स० पेड़ से कुछ तोड़ना
तू	„ त्वम्

तेरा [हिं तुम्हारा]
ताहरउ [हिं० तुम्हारा]

थ

थठ सं स्थित > प्रा थिअ
थण ,, स्तन
थलचर ,, स्थलचर > प्रा० थलयर
थवणी ,, स्थपनिका > प्रा थवणिआ
थप्पिठ ,, स्थापयते > प्रा थप्पइ
थंभ ,, स्तंभ > प्रा थंभ
थंभीय ,, स्तम्भते > प्रा थंभइ
थाइ ,, स्थाति > प्रा थाइ
थाकि ,, स्थकित > अप थक्किअउ
थाट ,, स्थात
थानक ,, स्थानक
थाल ,, स्थाली > प्रा थालि
थांपवि ,, स्थापनिका > प्रा थापणिआ थप्पणिआ
थाहरइ ,, स्थात > प्रा थाइ
थिर ,, स्थिर
थिअ ,, स्थित
थुणीजइ ,, स्तुनोति > प्रा थुणइ
थूकइ ,, थुत्करोति > प्रा थुक्कइ
थोडा ,, स्तोक

द

दखण सं दक्षिण
दक्षिण ,, दक्षिण
दखी प्रा दक्खइ
दखा सं दृशि > प्रा दइ+अओ
दड्ढीय ,, दग्धित
दडी प्रा दड्ढइ, हिं दहना
दंती सं दन्तिन्
दंतूकलि प्रा दंतस्स वस्सं, अप दंतु वस्स

दमनकि स० दमनक
दरसण ,, दर्शन > प्रा० दरिसण
दरिद्र ,, दारिद्रय > प्रा० दारिद्द
दर्या ,, दयते > प्रा० दयइ
दल ,, दल > प्रा० दल
दलि ,, दल
दलउं ,, दलति > प्रा० दलइ
दलवइ ,, दलपति > प्रा० दलवइ
दव ,, दव > प्रा० दव
दस ,, दशन् > प्रा० दस
दसार ,, दशार्ह > प्रा० दसार
दह ,, दशन् > प्रा० दह
दहइ ,, दहति > प्रा० दहइ > अप० दहइ, ददेइ
दाखइ प्रा० दक्खइ
दाघु प्रा० दाघो
दाझइ स० दह्यते > प्रा० दज्झइ
दाणव ,, दानव > प्रा० दाणव
दातार ,, दातृ
दाधा ,, दग्ध > प्रा० दद्ध
दानि ,, दान
दान ,, दान
दानव ,, दानव
दात ,, दत
दारिद्र ,, दारिद्रय > प्रा० दालिद्द
दालि ,, दलति > प्रा० दालि
दासपण ,, दासत्वन=दासत्व > प्रा० दासत्तण
दासि ,, दासी
दाहिणउं ,, दक्षिण > प्रा० दाहिण
दाहु ,, दाह
दिज्जई ,, दीयते, प्रा० दीज्जइ
दिखाडइ ,, दृश्यति

दिगिदिगि	(हिं॰ डुगडुगी ?)
दिट्ठ	सं दृष्ट > प्रा दिट्ठ
दिट्ठंति	,, दृष्टांत > प्रा दिट्ठंत
दिणयर	,, दिनकर > प्रा दिणअरो
दियासेस	भस्म ?
दिणु	,, दिन > प्रा दिन
दिवस	,, दिवस
दिनि	हिं दिन
दिवि	सं देवी > प्रा दिव=देव
दिठि	,, दृष्टि
दिखा	,, दीक्षा > प्रा दिक्खा
दीख	,, दीक्षा > प्रा दिक्खा
दीण	,, दीन > प्रा दीण
दीपति	,, दीप्ति
दीपइ	,, दीप्यते > प्रा दिप्पइ
दीव	,, दीप > प्रा दीव
दीरघि	, दीर्घ > प्रा दीहर
दीवउ	सं दीपक > प्रा दीवअ
दीविय	,, दीपिका > प्रा दीविआ
दीसइ	,, दृश्यते > प्रा दिस्सइ
दीह	,, दीर्घ
दीहु	,, दिवस > प्रा दीह दिअह दिअस
दीहर	,, दीर्घ > प्रा दीहर
दीहाडा	प्रा दीह+आड
दुआरी	सं द्वार > प्रा दुआर
दुक्कर	दुष्कर
दुक्ख	,, दुःख > प्रा दुक्ख
दुग्ग	, दुर्ग
दुग्गयिय	,, दुर्गत
दुग्गम	,, दुर्गम
दुविह	, द्वावपि [द्वौ+चेव]

दुज्जोहण	सं० दुर्योधन>प्रा० दुज्जोहण
दुट्ठ	,, दुष्ट>प्रा० दुट्ठ
दुट्ठत्तणि	,, दुष्टत्वन>प्रा० दुट्ठत्तण
दुट्ठमणु	,, दुष्टमनस् >प्रा० दुट्ठमणो
दुत्तर	,, दुस्तर
दुदुंदी	,, एक प्रकार का ढोल
दुदुहि	,, दुदभि>प्रा० दुदुहि
दुद्धर	,, दुर्धर
दुन्नि	,, द्वीनि
दुम्म	,, द्रुम
दुरग	,, दुर+रग, हिं० खराव
दुराचारि	,, दुराचार
दुरीउ	,, दुरित>प्रा० दुरिअ
दुरीय	,, दुरित>प्रा० दुरिअ
दुर्जनि	,, दुर्जन
दुल्लह	,, दुर्लभ>प्रा०दुल्लह
दुल्लभ	,, दुर्लभ>प्रा० दुल्लभ
दुसह,दुसहउ,दुस्सह	,, दुःसह
दसासणु	,, दुःशासन>प्रा० दुस्सासण
दूअ	,, दूत>प्रा० दूओ>अप दूउ
दूउ	,, दौत्य
दूत	,, दूत
दूतपालक	[एक राज्य अधिकारी]
दूजण	,, दुर्जन>प्रा० दुज्जण
दूझइ	,, दुह्यते>प्रा० दुज्झइ
दूधइ	,, दुग्ध>प्रा० दुद्ध
दूमइ	,, दूयते
दूरि	,, दूर>प्रा० दूर
दसमि	,, दुष्षभ>प्रा० दुस्सभ, दुसम, दूसम
दूहविइ	,, दुःखापयति>प्रा० दूहावियइ
दृष्टद्युमनि	,, धृष्टद्युम्न

दखिई	सं० दखि
देउ	,, देव
देउर	,, देवर>प्रा देअर
देउलि	,, देवकुल>प्रा देउल
देखइ	प्रा देक्खइ>अप देखइ
देवु	सं देव
देवि	,, देवी
देवक	,, देवक [एक राजा का नाम]
देवचन्द्र	,, देवचन्द्र [एक ब्राह्मण का नाम]
देवशर्म	,, देवशर्मन्
देवादेवी	,, देव+देवी
देवलोकह	,, देवलोक
देवरुप	,, देवरुप
देवर	पति का छोटा भाई
देवंग	सं देवाङ्ग
देस	,, देश>प्रा देस
देहरह	,, देव गृहक
देहु	,, देह
दैउ	,, दैव
दैवचिन्त्य	,, दैवचिन्त्या
दैवत	,, दैवत
दो	,, द्वौ>प्रा दुवे
दोरउ	,, दवरक>प्रा दवरो=तन्तु
दोत	,, दोष>प्रा दोस
दोहिली	,, दुर्लभ अप दुल्लह
दोहिलउ	[दुख ?]
द्रउवइ	सं द्रुत>प्रा दवए
द्रुम	,, द्रुम
द्रुमद्रुमीय	,, द्रुमद्रुमति ?
द्रुमिई	,, द्रुम
द्राख	,, द्राक्षा>प्रा दक्खा

द्रूपदह — स० द्रुपद
द्रूवदी — ,, द्रौपदी
द्रोणु — ,, द्रोण
द्रौपदीअ — ,, द्रौपदी
द्वापरि — ,, द्वापर
द्वारावती — ,, द्वारावती
द्वैतवणि — ,, द्वैतवन

ध

धउलउं — स० धवल > प्रा० धवल
धड — ,, धृत (?)
धडहड — हिं० धड़धड़
धडहडिउ — प्रा० धडहडिय, हिं० धड़धड़ाना
धण — स० धन
धणिउ — ,, धन्य + इत > प्रा० धणिअ = धण्ण + इअ
धणिय — ,, धनिक > प्रा० धणिअ
धणुह — ,, धनुष्
धतुरा — ,, धूर्त
धंधइ — अप० धधइ
धंधोलय — अप० धधोलिय
धन — स० धन्य > प्रा० धण्ण
धनदिहिं — ,, धनद
धनु — ,, धन
धन्नय — ,, धन्य
धबके — अप० धबक्कइ
धमधमिउ — स० धमधमायते > प्रा० धमधमइ
धम्मु — ,, धर्म > प्रा० धम्म
धम्मपुत्त — ,, धर्मपुत्र > प्रा० धम्मपुत्र
धयरट्ठ — ,, धृतराष्ट्र
धयरट्ठू — ,, धृतराष्ट्र > प्रा० धयरट्ठ
धयराठ — प्रा० धयरट्ठ
धयवड — स० ध्वजपट > प्रा० धयवड

दिगिदिगि	(हिं डुगडुगी ?)
दिट्ठउ	सं० दृष्ट>प्रा दिट्ठ
दिट्ठंति	,, दृष्टांत>प्रा दिट्ठंत
दियायर	,, दिनकर>प्रा दियायरो
दियउेस	भ्रष्ट ?
दिणु	,, दिन>प्रा दिन
दिवस	,, दिवस
दिनि	हिं दिन
दिवि	सं देवी>प्रा दिव=देव
दिठ्ठि	,, दृष्टि
दिसा	,, दीक्षा>प्रा दिक्खा
दीख	,, दीक्षा>प्रा दिक्खा
दीण	,, दीन>प्रा दीण
दीपति	,, दीप्ति
दीपइ	,, दीप्यते>प्रा दिप्पइ
दीव	,, द्वीप>प्रा दीव
दीरघि	,, दीर्घ>प्रा दीहर
दीवउ	सं दीपक>प्रा दीवअ
दीविय	,, दीपिका>प्रा दीविआ
दीसइ	,, दृश्यते>प्रा दिस्सइ
दीह	,, दीर्घ
दीहु	,, दिवस>प्रा दीह दिवह, दिवस
दीहर	,, दीर्घ>प्रा दीहर
दीहाडा	प्रा दीह+आड
दुआरी	सं द्वार>प्रा दुआर
दुक्कर	,, दुष्कर
दुक्ख	,, दुःख>प्रा दुक्ख
दुग्ग	,, दुर्ग
दुग्गधिप	,, दुर्गेश
दुग्गम	,, दुर्गम
दुचित्त	,, द्वाचति [द्वौ+चैत]

दुज्जोहण	स० दुर्योधन>प्रा० दुज्जोहण
दुट्ठ	,, दुष्ट>प्रा० दुट्ठ
दुट्ठत्तणि	,, दुष्टत्वन>प्रा० दुट्ठत्तण
दुट्ठमणु	,, दुष्टमनस्>प्रा० दुट्ठमणो
दुत्तर	,, दुस्तर
दुडदुंडी	,, एक प्रकार का ढोल
दुदुहि	,, दुदभि>प्रा० दुदुहि
दुद्धर	,, दुर्धर
दुन्नि	,, द्वीनि
दुम्म	,, द्रुम
दुरग	,, दुर+रग, हिं० खराब
दुराचारि	,, दुराचार
दुरीउ	,, दुरित>प्रा० दुरिअ
दुरीय	,, दुरित>प्रा० दुरिअ
दुर्जनि	,, दुर्जन
दुल्लह	,, दुर्लभ>प्रा० दुल्लह
दुल्लभ	,, दुर्लभ>प्रा० दुल्लभ
दुसह,दुसहउ,दुस्सह	,, दुःसह
दसासणु	,, दुःशासन>प्रा० दुस्सासण
दूअ	,, दूत>प्रा० दूओ>अप दूउ
दूउ	,, दौत्य
दूत	,, दूत
दूतपालक	[एक राज्य अधिकारी]
दूजण	,, दुर्जन>प्रा० दुज्जण
दूझइ	,, दुह्यते>प्रा० दुज्झइ
दूधइ	,, दुग्ध>प्रा० दुद्ध
दूमइ	,, दूयते
दूरि	,, दूर>प्रा० दूर
दसमि	,, दुष्षम>प्रा० दुस्सम, दुसम, दूसम
दूहविइ	,, दुःखापयति>प्रा० दूहावियइ
दृष्टद्युमनि	,, धृष्टद्युम्न

द्रिष्टि	सं दृष्टि
देठ	,, देव
देठर	,, देवर > प्रा देअर
देठलि	,, देवकुल > प्रा देउल
देखइ	प्रा देक्खइ > अप देखइ
देउ	सं देव
देवि	,, देवी
देवक	,, देवक [एक राजा का नाम]
देवचन्द्र	,, देवचन्द्र [एक ब्राह्मण का नाम]
देवसर्म	,, देवशर्मन्
देवादेवी	,, देव+देवी
देवलोकइ	,, देवलोक
देवरूप	,, देवरूप
देवर	पति का छोटा भाई
देवंग	सं देवाङ्ग
देस	,, देश > प्रा देस
देसरइ	,, देव पञ्चक
देहु	,, देह
दैउ	,, दैव
दैवचिन्ता	,, दैवचिन्ता
दैवत	,, दैवत
दो	,, द्वौ > प्रा दुवे
दोरउ	,, दवरक > प्रा दवरो=तन्तु
दोस	,, दोष > प्रा दोस
दोहिली	,, दुर्लभ अप दुल्लह
दोहिलउं	[दुःख ?]
द्रउकइ	सं द्रुत > प्रा दवड
द्रम	,, द्रुम
द्रमाद्रमीय	,, द्रमद्रमति ?
द्रमिइं	,, द्रम्म
द्राख	,, द्राक्षा > प्रा दक्खा

द्रूपदह सं० द्रुपद
द्रूपदी ,, द्रौपदी
द्रोणु ,, द्रोण
द्रौपदीअ ,, द्रौपदी
द्वापरि ,, द्वापर
द्वारावती ,, द्वारावती
द्वैतवणि ,, द्वैतवन

ध

धउलउं सं० धवल > प्रा० धवल
धड ,, धृत (?)
धडहड हिं० धड़धड़
धडहडिउ प्रा० धडहडिय, हिं० धड़धड़ाना
धण सं० धन
धणिउ ,, धन्य + इत > प्रा० धणिअ=धरण + इअ
धणिय ,, धनिक > प्रा० धणिअ
धणुह ,, धनुस
धतुरा ,, धूर्त
धंधइ अप० धधइ
धंधोलय अप० धंधोलिय
धन सं० धन्य > प्रा० धण्ण
धनदिहिं ,, धनद
धंनु ,, धन
धन्नय ,, धन्य
धवके अप० धवकइ
धमधमिउ सं० धमधमायते > प्रा० धमधमइ
धम्मु ,, धर्म > प्रा० धम्म
धम्मपुत्त ,, धर्मपुत्र > प्रा० धम्मपुत्र
धयरट्ठ ,, धृतराष्ट्र
धयरट्टू ,, धृतराष्ट्र > प्रा० धयरट्ठ
धयराठ प्रा० धयरट्ठ
धयवड सं० ध्वजपट > प्रा० धयवड

धर	सं धृ, धरती
धर	,, धरा > प्रा धर
धरइ	,, धरति > प्रा धरइ
धरत्ति	,, धरित्री
धरम	,, धर्म
धरमी	,, धर्मिन्
धरमपुत्त	,, धर्म पुत्र
धरहरी	हिं धरहरना
धरानायक	,, धरानायक
धवल	,, धवल > प्रा धवल
धवलहरो	,, धवल गृह
धवलिय	,, धवलित
धसई	, ध्वंसति > प्रा धंसइ
धसक्कइ	,, ध्वंसत् + कृत > प्रा धंसक्क
धसमसंतु	हिं धसमसाना
धाइ	, धावति > प्रा धाइ
धाणुक	,, धानुष्क > प्रा धाणुक्क
धाम	,, धाम्न > प्रा धाम
धानुकी	(हिं धनुष ?)
धामिय	, धार्मिक > प्रा धम्मिय
धारख	,, धारखा
धिय	, धिक > प्रा धिय
धिट्ठ	, धृष्ट
धिधिकट	(अनुकरणात्मक शब्द)
धीय	सं दुहिता > प्रा धीआ
धीर	,, धीर
धीवर	,, धीवर
धुवर	,, धनुष्
धुव	,, ध्रुव
धुरा	, धुर्
धुरि	प्रा धुर

धूअ सं० दुहिता > प्रा० धूआ
धूइण ,, धूमेण
धूनइ ,, धूयते > प्रा० धुन्नइ
धूणइ ,, धुनाति > प्रा० धुणइ
धूमड ,, धूम्रट > प्रा० धुम्म + ड
धूरइ ,, त्वयति > प्रा० झूरइ
धूजंट ,, धूर्जटी
धूलि ,, धूलि > प्रा० धूलि
धृष्टदुमनु ,, धृष्टद्युम्न
धोईयइ ,, धावति > प्रा० धोवइ, धुवइ
धौंकार [धनुष की आवाज]
धोरिड ,, धौरेय > प्रा० धोरेय
धोरणि ,, धोरणि
ध्याइ ,, ध्यायति
ध्यानु ,, ध्यान
ध्रसक्कइ प्रा० धसक्किय
ध्रसूकइ (भय से गिरना)
ध्रासकि हिं० आघात, धक्का

न

नइ सं० नदी > प्रा० नइ
नकुल ,, नकुल
नखे ,, नख
नगरि ,, नगर
नच्चइ ,, नृत्यति > प्रा० नच्चइ
नचावइ ,, नर्तयति=नर्तापयति
नट्टारंभ ,, नाट्य=प्रा० नट्ट + सं० आरभ
नड ,, नट
नढिय ,, नष्ठित > प्रा० णढिअ=खेदितः
नत्थीय ,, नास्ति > प्रा० णत्थि
नद ,, नाद
नदग्रामि ,, नन्दग्राम

नंदणु	सं० नन्दन
नंदणी	,, नन्दिनी > प्रा णंदिणि
नमई	,, नमति > प्रा णमइ
नयण	,, नयन > प्रा णयण
नयणला	प्रा णयण + ल
नयर	सं नगर > प्रा णयर
नयरी	,, नगरी > प्रा णयरी
नरके	,, नरक
नरग	,, नरक > प्रा णरग
नरय	,, नरक > प्रा० णरय
नर	,, नर
नरमरीड	,, नपति > प्रा णवइ
नरनारि	[हिं पुरुष स्त्री]
नर नाह	सं नर + नाथ > प्रा णाह
नरपवर	,, नर + प्रवर > प्रा पवर
नरवइ	,, नरपति > प्रा णरवइ
नरवर	,, नरवर
नराहिउ	,, नराधिप > प्रा० णराहिव
नरिंद	,, नरेन्द्र > प्रा णरिंद
नरेस	,, नरेश > प्रा णरेस
नरेसरो	,, नरेश्वर > प्रा णरेसर
नवउ	,, नवक
नवमइ	,, नवमी
नवमई	,, नवमति > प्रा णवमइ
नवरसि	,, नवरस
नवसउ	,, नवशत
नवसर	,, नव + सर
नवि	,, न + अपि > प्रा णवि
नवकाय	,, नमस्कार > प्रा णवकार, णमोकार
नही	,, नहि
नभराइ	,, नागराजेन > प्रा णागराइण > अप णागराए

नागिणी	सं० नागिनी
नाखइ	,, निक्षिपति > प्रा० णिक्खिवइ
नादउद्रि	,, नादपद्र
नादि	,, नाद
नादु	,, नाद
नानाविह	,, नानाविध > प्रा० णाणाविह
नाच	सं० नृत्य > प्रा० णाच्च
नाठा	,, नष्ट > प्रा० नट्ठ
नाण	,, ज्ञान > प्रा० नाण
नात्र	,, ज्ञात्रक, ज्ञात्र
नामइ	,, नामयति > प्रा० नमेइ
नारगी	,, नारकिन् > प्रा० नारगी
नारग	,, नारग
नारद	,, नारद
नारि	,, नारी > प्रा० नारि
नारि रूपि	नारि + स० रूप
नावइ	सं० ज्ञापयति > प्रा० णावइं
नाशिक	,, नाशिक [एक शहर का नाम]
नासइ	,, नश्यति > प्रा० णवइ
नाह	,, नाथ > प्रा० णाह
नाहिय	,, स्नाति > प्रा० णहाइ
निअ	,, निज > प्रा० निअ
निउत्रीउ	,, निमन्त्रयते > प्रा० निमतेइ
निकदनि	,, निकन्दन
निकामु	,, निकामम्
निकालिवा	,, निष्कालयति
निंकुची	,, निकुञ्चित
निगहिय	,, निगृहीत > प्रा० णिग्गहिय
निगोदि	,, निगोद > प्रा० णिगोअ
निघिणु	,, निर्घृणा > प्रा० णिग्घिणा
निछमाली	,, निमिष + आली

धर	सं धृ, धरती
धर	,, धरा > प्रा धर
धरइ	,, धरति > प्रा धरइ
धरणि	,, धरणी
धरम	,, धर्म
धरमी	,, धर्मिन्
धरमपूत	,, धर्म पुत्र
धरहरी	हिं धरहरना
धरानायक	,, धरानायक
धवल	,, धवल > प्रा धवल
धवलहरो	,, धवल गृह
धवलिय	,, धवलित
धसई	, ध्वंसति > प्रा धंसइ
धसकइ	,, ध्वंसत् + कृत > प्रा धंसक्क
धसमसंतु	हिं धसमसाना
धाइ	,, धावति > प्रा धाइ
धाणुक	,, धानुष्क > प्रा धाणुक्क
धाम	,, धाम्न > प्रा धम्म
धानुकी	(हिं धनुष ?)
धामिय	, धार्मिक > प्रा धम्मिय
धारण	,, धारणा
धिग	,, धिक > प्रा धिग
धिट्ठ	,, धृष्ट
धिधिकट	(अनुकरणात्मक शब्द)
धीय	सं दुहिता > प्रा धीआ
धीर	,, धीर
धीवर	, धीवर
धुणइ	,, धुनु
धुव	,, ध्रुव
धुरा	,, धुर्
धुरि	प्रा धुर

धूत्र	सं० त्रुटितः > प्रा० तुत्रा
धूइण	,, धूनेण
धूनइ	,, धूयते > प्रा० धुनइ
धूणइ	,, धूनाति > प्रा० धुणइ
धूवड	,, धूम्रट > प्रा० धुम्म + ट
धूरइ	,, त्वयति > प्रा० धूरइ
धूर्जट	,, धूर्जटी
धूलि	,, धूलि > प्रा० धूलि
धृष्टद्युमनु	,, धृष्टद्युम्न
धोईयइ	,, धावति > प्रा० धोयइ, धुयइ
धोंकार	[धनुष की आवाज]
धोरिउ	,, धौरेय > प्रा० धोरेय
धोरणि	,, धोरणि
ध्याइ	,, ध्यायति
ध्यानु	,, ध्यान
ध्रसकइ	प्रा० धसक्किय
ध्रसूकइ	(भय से गिरना)
ध्रासकि	हिं० आघात, धक्का

न

नइ	सं० नदी > प्रा० नइ
नकुल	,, नकुल
नखे	,, नख
नगरि	,, नगर
नचइ	,, नृत्यति > प्रा० नचइ
नचावइ	,, नर्तयति=नर्तापयति
नट्टारंभ	,, नाट्य=प्रा० नट्ट + सं० आरंभ
नड	,, नट
नडिय	,, नष्टित > प्रा० णडिअ=खेदितः
नत्थीय	,, नास्ति > प्रा० णत्थि
नद्	,, नाद
नदग्रामि	,, नन्दग्राम

नंदणु	सं नन्दन
नंदणी	,, नन्दिनी>प्रा नंदिणि
नमई	,, नमति>प्रा नमइ
नयण	,, नयन>प्रा नयण
नयणला	प्रा नयण+ल
नयर	सं नगर>प्रा णयर
नयरी	,, नगरी>प्रा नयरी
नरके	,, नरक
नरग	,, नरक>प्रा नरग
नरय	,, नरक>प्रा नरय
नर	,, नर
नरनरीठ	,, नवति>प्रा णवइ
नरनारि	[हिं पुरुष स्त्री]
नर नाह	सं नर+नाथ>प्रा णाह
नरपवर	,, नर+प्रवर>प्रा पवर
नरवइ	,, नरपति>प्रा णरवइ
नरवर	,, नरवर
नराहिव	,, नराधिप>प्रा णराहिव
नरिंद	,, नरेन्द्र>प्रा॰ नरिंद
नरेस	,, नरेश>प्रा नरेस
नरेसरो	,, नरेश्वर>प्रा नरेसर
नवठ	,, नवक
नवमइ	,, नवमी
नवमई	,, नवमति>प्रा नवमइ
नवरसि	,, नवरस
नवलठ	,, नवल
नवसर	,, नव+सर
नवि	,, न+अपि>प्रा णवि
नवकार	,, नमस्कार>प्रा णवकार, णमोकार
नही	,, नहि
नागराइ	,, नागराज>प्रा णागराइय>अप णागराए

नागिणी	सं० नागिनी
नाखइं	,, निक्षिपति > प्रा० णिक्खिवइ
नादउद्रि	,, नादपद्र
नादि	,, नाद
नादु	,, नाद
नानाविह	,, नानाविध > प्रा० णाणाविह
नाच	सं० नृत्य > प्रा० णाच
नाठा	,, नष्ट > प्रा० नट्ठ
नाण	,, ज्ञान > प्रा० नाण
नात्र	,, ज्ञात्रक, ज्ञात्र
नामइ	,, नामयति > प्रा० नमेइ
नारगी	,, नारकिन् > प्रा० नारगी
नारग	,, नारग
नारद	,, नारद
नारि	,, नारी > प्रा० नारि
नारि रूपिं	नारि + सं० रूप
नावइ	सं० ज्ञापयति > प्रा० णावइं
नाशिक	,, नाशिक [एक शहर का नाम]
नासइ	,, नश्यति > प्रा० णवइ
नाह	,, नाथ > प्रा० णाह
नाहिय	,, स्नाति > प्रा० णहाइ
निअ	,, निज > प्रा० निअ
निउत्रीउ	,, निमन्त्रयते > प्रा० निमतेइ
निकदनि	,, निकन्दन
निकामु	,, निकामम्
निकालिवा	,, निष्कालयति
निंकुची	,, निकुञ्चित
निगहिय	,, निगृहीत > प्रा० णिग्गहिय
निगोदि	,, निगोद > प्रा० णिगोअ
निघिणु	,, निर्घृणा > प्रा० णिग्घिण
निछमाली	,, निमिष + आली

मिद्रु	सं निस्यम्
निदलर्ठ	,, निवलमति > प्रा॰ णिद्दलइ
निर्वाग्रु	,, निवाम
निनाद	,, निनाद
निर्मेधु	,, निमय
निर्मवइ	,, निमन्त्रयते
निम्मल	,, निर्मल > प्रा णिम्मल
निम	,, निम > प्रा णिम
नियम	,, निमक
निमाणुं	,, निदान > प्रा णिवाण
निर्युक्त्या	,, नियुनक्ति > प्रा निउंजिय
निरखिय	,, निरीक्ष्य
मरखई	,, निरीक्षते > प्रा णिरिक्खइ
निरगुण	,, निगुण
निरधार	,, निधार > प्रा मिधार
निरदर्ड	,, निदलयति
निरमल	निमल
मिरलोमी	, मिर्लोमिन्
निरवाणु	,, निर्वाण
मिरवाह	, निर्वाह
निरवृ	,, निर्वृत
निराकारी	,, निराकृत > प्रा निराकरिय
निराश	,, निराश > प्रा णिराश
निरीक्षण	,, मीरक्षण
निरुत्त	,, निरुक्त > प्रा णिरुत्त
मिरुपम	,, निरुपम
निरेख्या	,, निरेषण
निरापम	, निरुपम
निवबर	प्रा णिव्विबइ
निवनि	सं निवल
निलउ	,, निलय > प्रा णिलय

निलाडि सं० ललाट>प्रा० णिलाड

निव ,, नृप>प्रा० णिव

निवसइ ,, निवसति>प्रा० णिवसइ

निवारइ ,, निवारयति>प्रा० णिवारेइ

निविरइ ,, निर्वृत>प्रा० णिव्विच्च

निवेस ,, निवेश>प्रा० णिवेस

निवेसइ ,, निवेशयति>प्रा० णिवेसइ

निश्चइ ,, निश्चय

निसबला प्रा० निस्+संबल

निसुणि स० निश्रृणोति>प्रा० णिसुणइ

निसिभरी ,, निशाभरे

निहालि ,, निभालयति>प्रा० णिहालेइ

निहणीय ,, निहन्ति

निहाइ ,, निवात>प्रा० णिहाअ

नीकली ,, निष्कलयति>प्रा० णिक्कलेइ

नीगमइ ,, निर्गमयति>प्रा० णिग्गमेइ

नीझणी ,, निर्ध्वनि>प्रा० निज्झुणि

नीझर ,, निर्झर>प्रा० णिज्झर

नीठर ,, निष्ठुर>प्रा० णिट्ठुर

नीद्र ,, निद्रा>प्रा० णिद्दा

नीद्रभरि ,, निद्रा+भरेण

निपन्न ,, निष्पद्यते>प्रा० णिप्पज्जइ

नीपनउ ,, निष्पन्न>प्रा० णिप्पण्ण

नींमीउ ,, निर्मित>प्रा० णिम्मिअ

नीरु ,, नीर

नीरज ,, नीरज

नारद ,, नीरद

नीलजु ,, निर्लज्ज>प्रा० णिल्लज्ज

नीली ,, नील

नीसक ,, निःशङ्कम्>प्रा० णिस्सक

नंदणु सं नन्दन
नंदणी ,, नन्दिनी > प्रा णंदिणी
नमई ,, नमति > प्रा॰ णमइ
नयण ,, नयन > प्रा णयण
नयणल्ला प्रा॰ णयण + ल्ल
नयर सं नगर > प्रा॰ णयर
नयरी ,, नगरी > प्रा णयरी
नरके ,, नरक
नरग ,, नरक > प्रा णरग
नरय ,, नरक > प्रा णरय
नर ,, नर
नरमरीठ ,, नटति > प्रा णडइ
नरनारि [हिं पुरुष स्त्री]
नर नाह सं नर + नाथ > प्रा णाह
नरपवर ,, नर + प्रवर > प्रा पवर
नरवइ ,, नरपति > प्रा॰ णरवइ
नरवर ,, नरवर
नराहिउ ,, नराधिप > प्रा णराहिव
नरिंद ,, नरेन्द्र > प्रा णरिंद
नरेस ,, नरेश > प्रा णरेस
नरेसरो ,, नरेश्वर > प्रा णरेसर
नवउ ,, नवक
नवमइ ,, नवमी
नवमई ,, नवमति > प्रा णवमइ
नवरसि ,, नवरस
नवलउ ,, नवल
नवसर ,, नव + सर
नवि ,, न + अपि > प्रा णवि
नवकार ,, नमस्कार > प्रा णवक्कार, णमोकार
नही ,, नहि
नागराइ ,, नागराजेन > प्रा णागराइण > अप णागराए

नागिणी   सं० नागिनी
नाखइ   ,, निक्षिपति > प्रा० णिक्खिवइ
नादउद्रि   ,, नादपद्र
नादि   ,, नाद
नादु   ,, नाद
नानाविह   ,, नानाविध > प्रा० णाणाविह
नाच   सं० नृत्य > प्रा० णच्च
नाठा   ,, नष्ट > प्रा० नट्ठ
नाण   ,, ज्ञान > प्रा० नाण
नात्र   ,, ज्ञात्रक, ज्ञात्र
नामइ   ,, नामयति > प्रा० नमेइ
नारगी   ,, नारकिन् > प्रा० नारगी
नारग   ,, नारग
नारद   ,, नारद
नारि   ,, नारी > प्रा० नारि
नारि रूपिं   नारि + सं० रूप
नावइ   सं० ज्ञापयति > प्रा० णावइं
नाशिक   ,, नाशिक [एक शहर का नाम]
नासइ   ,, नश्यति > प्रा० णावइ
नाह   ,, नाथ > प्रा० णाह
नाहिय   ,, स्नाति > प्रा० णाहाइ
निअ   ,, निज > प्रा० निअ
निउत्रीउ   ,, निमन्त्रयते > प्रा० निमतेइ
निकदनि   ,, निकन्दन
निकामु   ,, निकामम्
निकालिवा   ,, निष्कालयति
निकुंची   ,, निकुंचित
निगहिय   ,, निगृहीत > प्रा० णिग्गहिय
निगोदि   ,, निगोद > प्रा० णिगोअ
निघिणु   ,, निर्घृण > प्रा० णिग्घिण
निछमाली   ,, निमिष + आली

निदु सं निद्रम्

निदलई ,, निदलयति > प्रा० णिद्दलइ

निधानु ,, निधान

निनाद ,, निनाद

निबंधु ,, निबंध

निर्भरइ ,, निभज्जयते

निम्मल ,, निर्मल > प्रा णिम्मल

निय ,, निज > प्रा णिय

नियय ,, निजक

नियाणु ,, निदान > प्रा णियाण

निउंज्या ,, नियुनक्ति > प्रा निउंजिय

निरखिय ,, निरीक्ष

नरखई ,, निरीक्षते > प्रा णिरिक्खइ

निरगुण ,, निर्गुण

निरधार ,, निर्धार > प्रा निद्धार

निरदलई ,, निर्दलयति

निरमल ,, निर्मल

निरलोभी ,, निर्लोभिन्

निरवाणु ,, निर्वाण

निरवाहु ,, निर्वाह

निरवू ,, निर्वृत

निराकारी ,, निराकृत > प्रा निराकरिय

निरास ,, निराश > प्रा णिरास

निरीखण ,, नीरक्षण

निरूढ ,, निरूढ > प्रा णिरूढ

निरुपम ,, निरुपम

निरेख्या ,, निरेक्षय

निरोपम ,, निरुपम

निलवड प्रा णिल्लिवडइ

निवगि सं निवग

निवड ,, निवृत > प्रा णिवड

निलाढि	स० ललाट>प्रा० णिलाढ
निव	,, नृप>प्रा० णिव
निवसइ	,, निवसति>प्रा० णिवसइ
निवारइ	,, निवारयति>प्रा० णिवारेइ
निविरइ	,, निर्वृत>प्रा० णिव्वित्त
निवेस	,, निवेश>प्रा० णिवेस
निवेसइं	,, निवेशयति>प्रा० णिवेसइ
निश्चइ	,, निश्चय
निसबला	प्रा० निस्+संबल
निसुणि	स० निश्रृणोति>प्रा० णिसुणइ
निसिभरी	,, निशाभरे
निहालि	,, निभालयति>प्रा० णिहालेइ
निहणीय	,, निहन्ति
निहाइ	,, निघात>प्रा० णिहाअ
नीकली	,, निष्कलयति>प्रा० णिक्कलेइ
नीगमइ	,, निर्गमयति>प्रा० णिग्गमेइ
नीझणी	,, निर्ध्वनि>प्रा० निज्झुणि
नीझर	,, निर्झर>प्रा० णिज्झर
नीठर	,, निष्ठुर>प्रा० णिट्ठुर
नीद्र	,, निद्रा>प्रा० णिद्दा
नीद्रभरि	,, निद्रा+भरेण
निपज	,, निष्पद्यते>प्रा० णिप्पज्जइ
नीपनउ	,, निष्पन्न>प्रा० णिप्पण्ण
नींमीउ	,, निर्मित>प्रा० णिम्मिअ
नीरु	,, नीर
नीरज	,, नीरज
नारद	,, नीरद
नीलजु	,, निर्लज्ज>प्रा० णिल्लज्ज
नीली	,, नील
नीसक	,, निःशङ्कम्>प्रा० णिस्संक

नीसव — सं निःसरण > प्रा निरसण
नीसरइ — ,, निःसरति > प्रा० णिसरइ
नाशाण — ,, निरस्तान > प्रा णिसथाण
नूंपुर — ,, नूपुर > प्रा० णूउर
नृत्यकारी — ,, नृत्यकारिणी
नृपइ — ,, नृप
नृपतई — ,, नृपति
नेउर — ,, नूपुर
नेठाउ — ,, निस्थात > प्रा णिट्ठाइ
नेमि — ,, नेमि, नियम > प्रा णियम
नेसाल — ,, लेखशाला > प्रा लेहसाल
नेहु — ,, स्नेह
नेहिय — ,, स्निह्यति
नेव — ,, न + एव
पइठउ — ,, प्रविष्ट > प्रा पइट्ठ पविट्ठ
पइदिणि — ,, प्रतिदिने > प्रा पइदियम्मि
पइसइ — ,, प्रविशति > प्रा पइसइ
पउलाइउ — ,, प्रौढायते (?)
पउयारि — छ्यपाठ पयोवणि सं प्रयोक्तने
पखांतु — सं पश्चात्
पक्खर — प्रा पक्खर
पक्खाडच — सं पक्षातीय > प्रा पक्खाउअ
पक्खियर — ,, पक्षिकः > प्रा पक्खिअ—
पखीया — ,, पक्षिन्
पख — ,, पक्ष > प्रा पक्ख
पगार — ,, प्राकारः > प्रा पागारो पायारो।
पगि — ,, पदक > प्रा पअग
पंख — पक्ष > प्रा पक्खि
पच्छेवाड — ,, पश्चात् + स्थान
पंच — ,, पंचन्
पंचावनि — ,, पञ्चपञ्चाशत्

पचेंद्री   सं० पञ्चेन्द्रिय
पच्यासीइ   ,, पञ्चाशीति > प्रा० पचासीइ
पडखतउ   ,, प्रतीक्षते > प्रा० पडिक्खइ
पडवडहु   ,, प्रतिपदथ=प्रतिपद्यध्वम् > प्रा० पडिवढहु
पडहु   ,, पटह > प्रा० पडहो
पडिवज्जु   ,, प्रतिपद्यते > प्रा० पडिवज्जइ
पडिहाइ   ,, प्रतिभाति > प्रा० पडिहाइ
पडिहारु   ,, प्रतिहार > प्रा० पडिहारो
पढइ   ,, पठति
पढम   ,, प्रथम > प्रा० पढम
पणमइ   ,, प्रणमति
पणासइ   ,, प्रनश्यते > प्रा० पणस्सइ
पणि   ,, पुनः अपि > प्रा० पुणवि
पडव   ,, पाण्डव > प्रा० पडव
पड्डु   ,, पाण्डु > प्रा० पड्डु
पत्थु   ,, पार्थ > प्रा० पत्थ
पदु   ,, पद
पदमसरि   ,, पद्मश्री
पथ   ,, पथिन्
पमुह   ,, प्रमुख > प्रा० पमुह
पय   ,, पद > प्रा० पय
पयठउ   ,, प्रविष्ट > प्रा० पइट्ठ
पयडउ   ,, प्रकटकः > प्रा० पयडओ > अप० पयडउ
पयड्डु   ,, प्रचण्ड > प्रा० पयड
पयसियइ   ,, प्रवेशयति
पयालि   ,, पाताल > प्रा० पायाल > पयाल
पयासिउ   ,, प्रकाशित > प्रा० पयासिय
पयोद्दु   ,, पयोद
पयोहर   ,, पयोधर > प्रा० पयोहर
परठीउ   ,, प्रतिष्ठापितः > प्रा० पइट्ठविओ
परणउ   ,, परिणयति > प्रा० परिणेइ

निड्ड सं नियम्
निद्दलई „ निद्दलयति > प्रा० णिद्दलइ
निधांनु „ निधान
निनाद „ निनाद
निबंधु „ निबंध
निमंबइ „ निमन्त्रयते
निम्मल „ निमल > प्रा णिम्मल
निंब „ निंब > प्रा णिंब
निबद्ध „ निबद्ध
निवाणुं „ निदान > प्रा णिवाण
निवुंक्या „ निवुनक्ति > प्रा निउंकिय
निरखिय „ निरीक्ष
मरखई „ निरीक्षते > प्रा णिरिक्खइ
निरगुण „ निर्गुण
निरधार „ निधार > प्रा निधार
निरदर्लु „ निदलयति
निरमल „ निमल
निरलोभी „ निर्लोभिन्
निरवाणु „ निर्वाण
निरवाहु „ निर्वाह
निरवृं „ निर्वृत
निराकारी „ निराकृत > प्रा निराकरिय
निराश „ निराश > प्रा णिराश
निरीक्षण „ नीरक्षण
निरुद्ध „ निरुद्धत > प्रा णिरुद्ध
निरुपम निरुपम
निरेक्षणा „ निरेक्षणा
निरोपम „ निरुपम
निवलाइ प्रा णिविलयाइ
निवलि सं निर्बल
निलज „ निलज > प्रा णिलज

निलाढि	सं० ललाट>प्रा० णिलाढ
निव	,, नृप>प्रा० णिव
निवसइ	,, निवसति>प्रा० णिवसइ
निवारइ	,, निवारयति>प्रा० णिवारेइ
निविरइ	,, निर्वृत>प्रा० णिव्वित्त
निवेस	,, निवेश>प्रा० णिवेस
निवेसइ	,, निवेशयति>प्रा० णिवेसइ
निश्चइ	,, निश्चय
निसवला	प्रा० निस्+संबल
निसुणि	सं० निश्रृणोति>प्रा० णिसुणइ
निसिभरी	,, निशाभरे
निहालि	,, निभालयति>प्रा० णिहालेइ
निहणीय	,, निहन्ति
निहाइ	,, निघात>प्रा० णिहाअ
नीकली	,, निष्कलयति>प्रा० णिक्कलेइ
नीगमइ	,, निर्गमयति>प्रा० णिग्गमेइ
नीझणी	,, निर्ध्वनि>प्रा० निज्झणि
नीझर	,, निर्झर>प्रा० णिज्झर
नीठर	,, निष्ठुर>प्रा० णिट्ठुर
नीद्र	,, निद्रा>प्रा० णिद्दा
नीद्रभरि	,, निद्रा+भरेण
निपंज	,, निष्पद्यते>प्रा० णिप्पजइ
नीपनउ	,, निष्पन्न>प्रा० णिप्पण्ण
नींमीउ	,, निर्मित>प्रा० णिम्मिअ
नीरु	,, नीर
नीरज	,, नीरज
नारद	,, नीरद
नीलजु	,, निर्लज्ज>प्रा० णिल्लज्ज
नीली	,, नील
नीसक	,, निःशङ्कम्>प्रा० णिस्सक

नीसत	सं निःसत्त्व > प्रा निस्सत्त
नीसरइ	,, निस्सरति > प्रा णिस्सरइ
नासाण	,, निस्स्वान > प्रा णिस्साण
नूपुर	,, नूपुर > प्रा णूउर
नृत्यकारी	,, नृत्यकारिणी
नृपहो	,, नृप
नृपवई	,, नृपति
नेउर	,, नूपुर
नेठाउ	,, निस्थाव > प्रा णिट्ठाइ
नेमि	,, नेमि, नियम > प्रा णियम
नैसाल	,, कंकशाला > प्रा केइसाल
नेहु	,, स्नेह
नेहिय	,, स्निग्धति
नैव	,, न + एव
पइठउ	,, प्रविष्ट > प्रा पइट्ठ, पविट्ठ
पइदिणि	,, प्रतिदिने > प्रा पइदिणम्मि
पइसइ	,, प्रविशति > प्रा पइसइ
पउढाबउ	,, प्रौढावते (?)
पउमाणि	छंदपाठ पओबणि सं प्रयाणे
पकवांनु	सं पक्वान्न
पक्खर	प्रा पक्खर
पक्ताउल	सं पश्चात्ताप > प्रा पच्छाउल
पखिलखा	,, पक्षिकाः > प्रा पक्खिअ
पखीणा	,, पक्षिन्
पख	,, पक्ष > प्रा पक्ख
पगार	,, प्राकारः > प्रा पागारो पायारो
पगि	,, पदक > प्रा पअग
पंख	,, पक्ष > प्रा पक्खि
पच्छेताख	,, पश्चात्+ताप
पंच	पंचम
पंचावनि	,, पञ्चपञ्चाशत्

परदलि सं० परदल
परदेसवइ ,, परदेश > प्रा परदस
परवाम ,, प्रवान
परमवि ,, परमव
परमवइ ,, परिमव
परम्वी ,, परिम्भवित > प्रा परिहविम
परम्भवइं ,, प्रभव
परमाणंदो ,, परमानन्द > प्रा परमाणन्दो
परमाहामी ,, परमाधार्मिक
परमेठि ,, परमेष्ठिन् > प्रा परमेट्ठि
परमेसर ,, परमेस्वर > प्रा परमेसर
परवधि ,, परवश
परवाली ,, प्रवालिका
परही ,, परस्मिन्
पराए ,, परकस्मिन्
पराय ,, प्राय
परायउ ,, प्राय
पराम्व ,, पराभव
पराम्वी ,, पराभवते
परि ,, उपरि > अप उप्परि
परिक्खइ ,, परीक्षते > प्रा परिक्खइ
परिखा ,, परीक्षा
परिखलइ ,, परिस्खलति > प्रा परिखलइ
परिघउ ,, परिखपति
परिदलि ,, परदले
परिमव ,, परिभव
परिमवी ,, परिभूता
परिवाडी ,, परिपाटी > प्रा परिवाडी
परिवारिहि ,, परिवार
परिवारीय ,, परिवारयति
परिवेषण ,, परिवेषण

नीसत्त सं निःसत्त्व > प्रा निस्सत्त
नीसरइ ,, निःसरति > प्रा णिस्सरइ
नीसाण ,, निस्वान > प्रा णिस्साण
नूपुर ,, नूपुर > प्रा णूउर
नृत्यकारी ,, नृत्यकारिणी
नृपहा ,, नृप
नृपवई ,, नृपति
नेउर ,, नूपुर
नेठाउ ,, निरधात > प्रा णिद्धाइ
नेमि ,, नेमि, नियम > प्रा णियम
नेसाल ,, लेखशाला > प्रा लेहसाल
नेह ,, स्नेह
नेहिय ,, स्निह्यति
नेव ,, न+एव
पइठउ ,, प्रविष्ट > प्रा पइट्ठ पविट्ठ
पइदिणि ,, प्रतिदिने > प्रा पइदियम्मि
पइसइ ,, प्रविशति > प्रा पइसइ
पउढाइउ ,, प्रौढायते (?)
पउपाणि शुद्धपाठ पयाणणि सं प्रयाणे
पकवांनु सं पक्वान्न
पक्खर प्रा पक्खर
पच्छाउत सं पश्चाताप > प्रा पच्छाउत्त
पच्छिया ,, पश्चिमा > प्रा पच्छिमा
पछींमा ,, पश्चिम्
पख ,, पक्ष > प्रा पक्ख
पगार ,, प्राकारः > प्रा पागारो पायारो
पगि ,, पदक > प्रा पयग
पंग ,, पद > प्रा॰ पग्ग
पच्छतात्त ,, पश्चात्+तन
पंच ,, पंचन्
पंचाणनि ,, पंचाननात्

परिहरउ सं० परिहरति>प्रा० परिहरइ
परीठवीउ ,, पर्यवस्थापित>प्रा० पज्जवट्ठिअ
परीसइ ,, परिवेषयति>प्रा० परिवेसइ
परीयणि ,, परिजन>प्रा० परिअण
पलतु ,, पलायमान
पलाणउ ,, पर्याणयति>प्रा० पल्लाणइ
पलाति ,, पलायन
पलासि ,, पल+अशिन्>प्रा० पलासि
पल्लेइ ,, प्रलोकयति>प्रा० पलोअइ
पल्लवि ,, पल्लव
पलाति ,, पलायिति
पलासि ,, पल+अशिन्
पवण ,, पवन >प्रा० पवण
पवनह ,, पवन
पवाचिउ ,, प्रवाचित>प्रा० पवाइअ
पसरि ,, प्रसर
पसरि ,, प्रसरति >प्रा० पसरइ
पसाउ ,, प्रसाद >प्रा० पसाअ
पसारिय ,, प्रसारयति
पसुबधन ,, पशुबधन
पहर ,, प्रहर >प्रा० पहर
पहावरिउ ,, पयावृत
पहारि ,, प्रहार
पहिरीजइ ,, परिदधाति>प्रा० पहिरइ
पहिलउं ,, प्रथिल्ल>प्रा० पहिल्ल
पहुचई ,, प्रभूत>प्रा० पहुचइ
पहीय ,, परस्मिन्
पाउं ,, पाद >प्रा० पाअ
पाउ ,, पाप
पाइ ,, पाययति
पाउधारो ,, पादाधारयत

परवसि — सं० परवश
परदेसडइ — ,, परदेश > प्रा० परदेस
परधान — ,, प्रधान
परमवि — ,, परमव
परमवइ — ,, परिभव
परमवी — ,, परिभवित > प्रा परिहविय
परमावई — ,, प्रभाव
परमाणंदो — ,, परमानन्द > प्रा परमाणंदो
परमाधामी — ,, परमाधार्मिक
परमेठि — ,, परमेष्ठिन् > प्रा परमेट्ठि
परमेसर — ,, परमेश्वर > प्रा परमेसर
परवसि — ,, परवश
परवाली — ,, प्रवालिका
परही — ,, परस्मिन्
पराए — ,, परकस्मिन्
पराप — ,, प्राप्य
परायउ — ,, प्राप्त
परामव — ,, पराभव
परामवी — ,, पराभवते
परि — ,, उपरि > अप उप्परि
परिक्खइ — ,, परीक्षते > प्रा परिक्खइ
परिखा — ,, परीक्षा
परिखलइ — ,, परिस्खलति > प्रा परिखलइ
परिघट — ,, परिघपति
परिहवि — ,, परदृशे
परिमव — ,, परिभव
परिमवी — ,, परिभूता
परिवाडी — , परिपाटी > प्रा परिवाडी
परिवारिहिं — ,, परिवार
परिवारीय — , परिवारयति
परिवेषण — परिवेषण

पारधिवसणु	स० पापर्द्धिव्यसन
पारधीउ	,, पापर्द्धीक
पारा	,, पारद > प्रा० पारअ
पारि	,, पार
पार्थि	,, पार्थ
पालइं	,, पालयति > प्रा० पालइ
पाला	,, पालक > प्रा० पालअ
पालि	,, पालिका > प्रा० पालिआ
पावनि	,, पावन
पाविय	,, प्रापिता > प्रा० पाविअ
पासि	,, पार्श्वे > प्रा० पासम्मि > अप० पासहिं
पासि	,, पाश > प्रा० पासो
पासहरा	,, पाशधरः > प्रा० पासहरो
पाहण	,, पाषाण > प्रा० पाहाण
पाहि	,, पक्षस्मिन् > प्रा० पक्खम्मि
पाहरी	,, प्राहरिक > प्रा० पाहरिअ
पिंडि	,, पिण्ड
पियामहि	,, पितामह > प्रा० पिआमह
पीइ	,, पिबति > प्रा० पिअइ
पीडिउ	,, पीडित > प्रा० पीडिओ
पीठी	,, पिष्टिका > प्रा० पिट्ठिआ
पींडारडे	,, पिण्डहरः
पीत्रीयउ	,, पितृव्य
पीयाणउं	,, प्रयाणक > प्रा० पायाणअ
पीरीयखि	,, परीक्षित > प्रा० परिक्खिय
पीहरि	,, पितृगृह > प्रा० पिइहर
पुछदंड	,, पुच्छदण्ड
पुण्यु	,, पुण्य
पुण्यवति	,, पुण्यवत्
पुत्तु	,, पुत्र > प्रा० पुत्त
पुत्तु	,, पुत्र

पालइ सं॰ पद्यरिमम्
पालती ,, पद्यती
पागि ,, पावक > प्रा पावग
पांख ,, पक्ष > प्रा पक्ख
पाछुग्रीसि ,, पश्चात्त > प्रा पच्छ
पांच ,, पञ्च > प्रा पंच
पांचमउ ,, पञ्चम > प्रा पंचम
पांचसई ,, पञ्च + शतानि > प्रा पंचसयाइं
पाटी ,, पट्टिका > प्रा पट्टिया
पाठविड ,, प्रस्थापित > प्रा पट्ठाविअ
पाड ,, पटह > प्रा पडह
पाडल ,, पाटला > प्रा पाडला
पाहुड ,, प्राभृत > प्रा पाहुड
पाणी ,, पानीय > प्रा पाणीय
पांडु ,, पाण्डु
पावकु ,, पातक
पाप ,, पातक
पापरिउ ,, प्रस्तारित > प्रा पत्थारिअ
पान ,, पर्ण > प्रा पण्ण
पांति ,, पंक्ति > प्रा पंति
पापु ,, पाप
पामइ ,, प्रापयति > प्रापति > प्रा पावेइ
पाय ,, पाद > प्रा पाय
पायक ,, पादिक > प्रा पाइक
पायखी ,, पक्षिन् > प्रा पक्खी
पायडीउ ,, प्रकटित > प्रा पायडिओ
पाया ,, पादित > प्रा पाइय
पायालि ,, पाताल > प्रा पायाल
पारखी ,, पारखीय > प्रा पारख
पारगइ ,, पारगा
पारधी ,, पापर्द्धि > प्रा पारद्धि

पारधिवसणु   स० पापर्द्धिव्यसन
पारधीउ   ,, पापर्द्धीक
पारा   ,, पारद > प्रा० पारअ
पारि   ,, पार
पार्थि   ,, पार्थ
पालइं   ,, पालयति > प्रा० पालइ
पाला   ,, पालक > प्रा० पालअ
पालि   ,, पालिका > प्रा० पालिआ
पावनि   ,, पावन
पाविय   ,, प्रापिता > प्रा० पाविअ
पासि   ,, पार्श्वे > प्रा० पासम्मि > अप० पासहिं
पासि   ,, पाश > प्रा० पासो
पासहरा   ,, पाशधरः > प्रा० पासहरो
पाहण   ,, पाषाण > प्रा० पाहाण
पाहि   ,, पक्षस्मिन् > प्रा० पक्खम्मि
पाहरी   ,, प्राहरिक > प्रा० पाहरिअ
पिंडि   ,, पिण्ड
पियामहि   ,, पितामह > प्रा० पिआमह
पीइ   ,, पिबति > प्रा० पिअइ
पीडिउ   ,, पीडित > प्रा० पीडिओ
पीठी   ,, पिष्टिका > प्रा० पिट्ठिआ
पींडारडे   ,, पिण्डहरः
पीत्रीयउ   ,, पितृव्य
पीयाणउं   ,, प्रयाणक > प्रा० पायाणअ
पीरीयखि   ,, परीक्षित > प्रा० परिक्खिय
पीहरि   ,, पितृगृह > प्रा० पिइहर
पुछदढ   ,, पुच्छदढ
पुण्यु   ,, पुण्य
पुण्यवति   ,, पुण्यवत्
पुच्चु   ,, पुच > प्रा० पुच
पुत्तु   ,, पुत्र

पुदगल	दे पुद्गल
पुफ	,, पुष्प > प्रा० पुप्फ
पुरराउ	,, पुरराज > प्रा पुरराओ > अप० पुरराउ
पुरष	,, पुरुष
पुरिस	,, पुरुष > प्रा पुरिस
पुरषु	,, पुरुष
पुरु	,, पुर
पुरु	,, पूरयति
पुरँध्री	,, पुरन्ध्री
पुरोधन	,, पुरोधन
पुलाइ	,, पलायते > प्रा पलायइ
पुलिंदई	,, पुलिन्द
पुवमवि	,, पूर्वभव > प्रा पुव्वहव
पुहवी	,, पृथिवी, पृथ्वी > प्रा० पुहवि
पुहवीतलि	,, पृथ्वीतल
पूजइ	,, पूर्यते > प्रा पुजइ
पूजउं	,, पूजयामि
पूजइ	,, पृच्छति
पूठए	,, पृष्ठ
पूंठि	,, पृष्ठिका > प्रा पुट्ठी
पूयाइ	,, पूर्वावली > प्रा पुव्वेइ-पुव्वाइ
पूतली	,, पुत्रिका > प्रा पुत्तलिआ
पूत	,, पुत्र > प्रा पुत्त
पूतो	,, पुत्र
पूरइ	,, पूरयति > प्रा पूरइ
पूरो	,, पूर > प्रा पूर
पूरव	,, पूर्व
पूरविकाइ	,, पूर्विका
पूराविका	,, पूराविक
पेखइ	,, प्रेक्षते > प्रा पेक्खइ
पेट	,, पिटक > प्रा पट्ट, पिट्ट

पेलइ	प्रा० पेल्लइ
पेलापेली	सं० प्रेरापेरि
पोकार	,, पुत्कार > प्रा० पुक्कार
पोलि	,, प्रतोली > प्रा० पओलि
प्रकटशरीर	,, प्रकटशरीर
प्रकासि	,, प्रकाश > प्रा० प्रकास
प्रज	,, प्रजा
प्रणमी	,, प्रणमति > प्रा० पणमइ
प्रतपु	,, प्रतपति > प्रा० पतवइ
प्रतिमल्ल	,, प्रतिमल्ल
प्रतीठिउ	,, प्रतिष्ठित > प्रा० पइट्ठिअ
प्रभ	,, प्रभु
प्रभावइ	,, प्रभाव
प्रमाणु	,, प्रमाण
प्रियवदु	,, प्रियवद
प्रयुज्या	,, प्रयुञ्जित
प्रलउ	,, प्रलय
प्रवहण	,, प्रवहण
प्रवाहिउ	,, प्रवाहयति > प्रा० प्रवाहेइ
प्रवेस	,, प्रवेश > प्रा० प्रवेस
प्रससा	,, प्रशसा > प्रा० प्रसंसा
प्रसिद्धउ	,, प्रसिद्ध
प्रसिद्धिइं	,, प्रसिद्धि
प्रस्तावि	,, प्रस्ताव
प्रह	,, प्रभा > प्रा० पहा
प्राणि	,, प्राण
प्रसादु	,, प्रासाद
प्रियदाहि	,, प्रियदाह
प्रियमेलउ	,, प्रियमेलक > प्रा० पिअमेलअ
प्रीमि	,, प्रेमन्
प्रीय	,, प्रिय

फ

फण — सं फणा > प्रा फणा
फणामंडप — ,, फणा + मण्डप
फरी — हि फिर
फलहली — सं फुल्लपोलिका > प्रा फुल्लमोलिम, हि फुलौरी
फलंति — ,, फलति > प्रा फलइ
फलि — ,, फल
फांदइ — ,, स्पन्द > प्रा फंद
फाल — ,, स्फालयति > प्रा॰ फालिम
फारक — ,, स्फारक > प्रा फारक
फणिंद — ,, फणीन्द्र > प्रा फणिंद
फरसराम — ,, परशुराम
फुरई — ,, स्फुरयते > प्रा फुरइ
फुलि — ,, फुल्ल
फेट — ,, स्फेट > प्रा फेड
फेडइ — ,, स्फेटयति
फेरिउ — ,, स्फेरयति > प्रा फेरिअ
फोडइ — ,, स्फोटयति > प्रा फोडेइ

ब

बइठ्ठ — सं उपविष्ट > प्रा उवइट्ठ
बइतालीस — ,, द्वि-चत्वारिंशत्
बइसइ — ,, उपविशति > प्रा उवइसइ > अप॰ बईसई
बक — बक
बडुआ — ,, बटुक > प्रा बडुअ
बंदीयण — ,, बन्दिजन > प्रा बंदियण
बत्तीस — ,, द्वात्रिंशत् > प्रा बत्तीस
बसइ — ,, वस
बंधव — ,, बान्धव
बंधुर — ,, बन्धुर
बंभण — ,, ब्राह्मण > प्रा बंभण
बंभणवेसि — ,, ब्राह्मणवेषेण

भडार	स० भाण्डागार > प्रा० भडाआर
भतारो	प्रा० भत्तु
भद्रिउं	स० भद्रित > प्रा० भद्दिअ
भमइ	,, भ्रमति > प्रा० भमइ
भमाड्या	,, भ्रमाटिता > प्रा० भमाडिआ
भमरडउ	,, भ्रमर > प्रा० भमर+डउ
भयणि	,, भगिनी > प्रा० भइणी
भरई	,, भरति > प्रा० भरइ
भराविया	,, भरापितानि
भरहखड	,, भरतखड > प्रा० भरह + खंड
भरि	,, भर
भलखड	,, भल्ल+खड
भवसउ	,, भव + शत > अप० भव + सउ
भवनि	,, भवन
भविक	,, भव्य > प्रा० भविअ
भविय	,, भव्य > प्रा० भविअ
भाइगु	,, भाग्य
भाउ	,, भाव > अप० भाउ
भाख	,, भाषा
भागि	,, भाग
भाण	,, भानु > प्रा० भाणु
भाथा	,, भस्त्र
भामिणि	,, भामिनी > प्रा० भामिणी
भारमाली	,, भार+मालिन् (?)
भारी	,, भार+इन्
भालई	,, भल्लानि
भालडी	,, भल्ली + ड
भावि	,, भाव
भासइ	,, भाषते > प्रा० भासइ
भिउड	,, भ्रकुटि > प्रा० भिउडि
भिटइ	,, भिटति

बंभट — सं० ब्रह्मट > प्रा० बंभट
बउ — ,, बल
बलबंधु — ,, बल + बन्ध
बलवंतु — ,, बलवत्
बलि — ,, बलिन्
बलिभद्रि — ,, बलभद्र
बलीअ — ,, बलिन् > प्रा० बलिअ
बल्हु — ,, बल्लभ
बहत्तरि — प्रा० बिहत्तरि, बावत्तरि, हि० बहत्तर
बहिनि — सं० भगिनि > प्रा० बहिणी
बहूय — ,, बहु
बाइ — प्रा० बाइआ
बाणु — सं० बाण
बाणावली — ,, बाण+आवली
बाणपजरि — ,, बाण+पञ्जर
बादर — ,, बादर
बाधउ — ,, बद्ध
बाधव — ,, बान्धव
बाबर — ,, बर्बर > प्रा० बब्बर
बार — ,, द्वादश > प्रा० दुवादस
बार — ,, द्वार > प्रा० दुवार, दार
बाल — ,, बाला
बालिय — ,, बालिका > प्रा० बालिआ > अप० बालिअ
बालो — ,, बाल > प्रा० बालो
बाहुश्रृंगार — ,, बाहु + श्रृंगार
बि — two
बिमणी — सं० द्विगुणा > प्रा० बिउणा
बीजउ — ,, द्वितीयकः > प्रा० बिइजओ
बीभउ — ,, बिभ्यामि
बीडा — ,, वीटक > प्रा० बीडग
बीहइ — ,, बिभति > प्रा० बिहेइ

बीहावीयउ   सं० भीतापितेति > प्रा बीहाविओइ
बुद्धि   ,, बुद्धि
बुंद   प्रा० बुंदा
बूझइ   सं बुध्यति > प्रा बुज्झइ
बूझा   प्रा० बुझइ, हिं बूझना
बृहस्पति   सं बृहस्पति
बेइन्द्रिय   बे+सं इन्द्रिय
बेट्ठ   प्रा विट्ठ
बेटी   ,, बिट्टी
बेडी   सं० बेडा > प्रा बेड
बेडीवाहा   ,, बेडावाहक > प्रा बेडीवाहय
बेलि   प्रा बइल्ल
बोकड   ,, बोक्कड
बोधि   सं बोध
बोधिलाभ   ,, बोधिलाभ
बोधीउ   ,, बोधित > प्रा बोधिय

म

महिषि   सं महिषी > प्रा महिषी
मख   ,, मक्ख
मक्ख   ,, मक्ष
मगतामिउ   प्रा मुगतावइ
मथवि   सं मथि
मगरच्छु   ,, मगरच्छ
भंवइ   ,, भ्रमति > प्रा भंवइ
मट्टु   ,, मट्ट
मढ   ,, मठ > प्रा मढ
मढियाउ   ,, मठ+पाट > प्रा मढवाओ
मडप्प   ,, मण्डप > प्रा० मड्ड
मढिय   ,, मढिका > प्रा मढिया
मढी   ,, मठ
मणावइ   ,, मानापयति > प्रा मणावइ

भडार	सं० भाण्डागार > प्रा० भंडाआर
भतारो	प्रा० भत्तु
भद्रिउ	सं० भद्रित > प्रा० भद्दिअ
भमइ	,, भ्रमति > प्रा० भमइ
भमाड्या	,, भ्रमाटिता > प्रा० भमाडिआ
भमरडउ	,, भ्रमर > प्रा० भमर+डउ
भयणि	,, भगिनी > प्रा० भइणी
भरई	,, भरति > प्रा० भरइ
भराविया	,, भरापितानि
भरइखंड	,, भरतखंड > प्रा० भरइ+खंड
भरि	,, भर
भलखड	,, भल्ल+खड
भवसउ	,, भव+शत > अप० भव+
भवनि	,, भवन
भविक	,, भव्य > प्रा० भविअ
भविय	,, भव्य > प्रा० भविअ
भाइगु	,, भाग्य
भाउ	,, भाव > अप० भाउ
भाख	,, भाषा
भागि	,, भाग
भाणु	,, भानु > प्रा० भाणु
भाया	,, भक्त
भामिणि	,, भामिनी > प्रा० भामिणी
भारमाली	,, भार+मालिन् (?)
भारी	,, भार+इन्
भालइं	,, भल्लानि
भालडी	,, भल्ली+ड
भावि	,, भाव
भासइ	,, भाषते > प्रा० भासइ
भिउड	,, भ्रुकुटि > प्रा० भिउडि
भिडइ	,, भिटति

भिंतरि	सं अभ्यन्तरे
भिक्ख	,, भिक्षा
भीजइ	,, भिद्यते > प्रा भिज्जइ
भीतरि	,, हिं भीतर
भीनउ	,, भिन्नक, भिन्नित
भीभी	,, अभ्यञ्जते +
भीमसनु	,, भीमसेन
भीमि	,, भीम
भींभली	,, विह्वला > प्रा भिब्भल
भीखि	,, भिक्षा
भुइ	,, भूमि
भुआवलि	,, भुज + बल
भुय	,, भुज > प्रा भुअ भुय
भुयणि	,, भुवन > प्रा भुवण
भूधर	,, भूधर
भूयइ	,, भूत
भूपालि	,, भूपाल
भूमि	,, भूमि
भूयबलि	,, भुजबल
भूरइ	,, भूरवत् > प्रा भूरम
भूरिश्रवा	,, भूरिश्रवस
भूलइ	प्रा भुल्लिअ
भूवलइ	सं भूवलय
भेउ	,, भेद > प्रा भेअ
भेट	,, भिटति > प्रा भिट्ट भिडइ
भेटिउ	प्रा भिट्टिअ
भेदि	सं भेद
भेया	,, भेदिता > प्रा भेइया
भैरि	,, भेरी
भेली	मिलति > प्रा मिलइ
भोयण नंदन	,, भुवननंदन

भोगल	सं० भूमि + अर्गला > प्रा० अर्गला
भोगवि	हिं० भोगना
भोजनु	स० भोजन
भोज्य	,, भोज्य
भोलवी	प्रा० भोलवइ
भ्रति	स० भ्रान्ति > अप० भति

म

मइण	स० मदन > प्रा० मअण
मउड	,, मुकुट > प्रा० मउड
मउरी	,, मुकुलिता > प्रा० मउलिअ
मओलीआ	,, मौलिकानी > प्रा० मउलिआइ
मग्गइ	,, मार्गति > प्रा० मग्गइ
मग्गि	,, मार्ग > प्रा० मग्ग
मचइ	,, माद्यति > प्रा० मज्जइ
मच्छइ	,, मत्स्य > प्रा० मच्छ
मझ	,, मह्यम् > प्रा० मज्झ > अप० मज्झु
मज्झारि	,, मध्यकार्य
मजावइ	,, मार्ष्टि > प्रा० मज्जइ
मजूस	,, मञ्जूषा > प्रा० मजूसा
मढ	,, मठ > प्रा० मठ
मणसमाधि	मण + सं० समाधि
मणा	स० मनाक् > प्रा० मणा
मणि	,, मनस् > प्रा० मण
मणिमइ	,, मणिमय
मणिचूडु	,, मणिचूड
मणुय	,, मनुज > प्रा० मणुअ
मणूअ	,, मनुजानाम् > अप० मणुयहं
मणोरथ	,, मनोरथ
मणोरहु	,, मनोरथ > प्रा० मणोरह
मणोहर	,, मनोहर > प्रा० मणोहर
मड	प्रा० मड्डा = स० बलात्कार आज्ञा

भडार   स० भाण्डागार > प्रा० भडाआर

भतारो   प्रा० भत्तु

भद्रिउ   सं० भद्रित > प्रा० भद्दिअ

भमइ   ,, भ्रमति > प्रा० भमइ

भमाड्या   ,, भ्रमाटिता > प्रा० भमाडिआ

भमरडउ   ,, भ्रमर > प्रा० भमर+डउ

भयणि   ,, भगिनी > प्रा० भइणी

भरई   ,, भरति > प्रा० भरइ

भराविया   ,, भरापितानि

भरहखड   ,, भरतखड > प्रा० भरह + खड

भरि   ,, भर

भलखड   ,, भल्ल+खड

भवसउ   ,, भव + शत > अप० [illegible]

भवनि   ,, भवन

भविक   ,, भव्य > प्रा० भविअ

भविय   ,, भव्य > प्रा० भविअ

भाइगु   ,, भाग्य

भाउ   ,, भाव > अप० भाउ

भाख   ,, भाषा

भागि   ,, भाग

भाण   ,, भानु > प्रा० भाणु

भाथा   ,, भस्त्र

भामिणि   ,, भामिनी > प्रा० भा[illegible]

भारमाली   ,, भार+मालिन् ([illegible])

भारी   ,, भार+इन्

भालइं   ,, भल्लानि

भालडी   ,, भल्ली + ड

भावि   ,, भाव

भासइ   ,, भाषते > प्रा० भासइ

भिउड   ,, भृकुटि > प्रा० भिउडि

भिडइ   ,, भिटति

भितरि	सं	अभ्यन्तरे
भिल	,,	भिल्ल
भीजइ	,,	भिद्यते > प्रा भिज्जइ
भीतरि	,,	हि भीतर
भीनउ	,,	भिन्नक, भिदित
भीनी	,,	अभ्यञ्जते+
भीमसेनु	,,	भीमसेन
भीमि	,,	भीम
भीमडी	,,	विह्वला > प्रा भिब्भल
भीलि	,,	भिल्ल
भुइ	,,	भूमि
भुजावलि	,,	भुज+बल
भुव	,,	भुज > प्रा भुअ, भुव
भुवणि	,,	भुवन > प्रा भुवण
भूधर	,,	भूधर
भूपइ	,,	भूप
भूपालि	,,	भूपाल
भूमि	,,	भूमि
भूयवलि	,,	भुजबल
भूरइ	,,	भूरयत् > प्रा भूरय
भूरिश्रवा	,,	भूरिश्रवस
भूलई	प्रा	भुल्लिआ
भूवलइ	सं	भूवलय
भेउ	,,	भेद > प्रा भेअ
भेट	,,	भिदति > प्रा भिट्टा भिट्टइ
भेटिउ	प्रा	भिट्टिअइ
भेदि	सं	भेद
भेया	,,	भेदिता > प्रा भेइआ
भेरि	,,	भेरी
भेली	,,	मिलति > प्रा मिलइ
भोयण मंडन	,,	भुवनमंडन

भोगल	सं० भूमि + अर्गला > प्रा० अर्गला
भोगवि	हिं० भोगना
भोजनु	सं० भोजन
भोज्य	,, भोज्य
भोलवी	प्रा० भोलवइ
भ्रति	सं० भ्रान्ति > अप० भति

म

मइण	सं० मदन > प्रा० मअण
मउड	,, मुकुट > प्रा० मउड
मउरी	,, मुकुलिता > प्रा० मउलिअ
मओलीआ	,, मौलिकानी > प्रा० मउलिआइ
मग्गइ	,, मार्गति > प्रा० मग्गइ
मग्गि	,, मार्ग > प्रा० मग्ग
मचइ	,, माद्यति > प्रा० मज्जइ
मच्छइ	,, मत्स्य > प्रा० मच्छ
मझ	,, मह्यम् > प्रा० मज्झ > अप० मज्झु
मज्झारि	,, मध्यकार्ये
मजावइ	,, मार्ष्टि > प्रा० मज्जइ
मजूस	,, मजूषा > प्रा० मजूसा
मढ	,, मठ > प्रा० मठ
मणसमाधि	मण + सं० समाधि
मणा	सं० मनाक् > प्रा० मणा
मणि	,, मनस् > प्रा० मण
मणिमइ	,, मणिमय
मणिचूडु	,, मणिचूड
मणुय	,, मनुज > प्रा० मणुअ
मणूअ	,, मनुजानाम् > अप० मणुयह
मणोरथ	,, मनोरथ
मणोरहु	,, मनोरथ > प्रा० मणोरह
मणोहर	,, मनोहर > प्रा० मणोहर
मड	प्रा० मड्डा = सं० बलात्कार आज्ञा

भिंछरि	सं भ्रम्यस्वरे
भिल्ल	,, भिल्ल
भीवह	,, भिद्यते > प्रा भिज्जइ
भीतरि	,, हिं भीतर
भीनउ	,, भिन्नक, मिश्रित
भीनी	,, भ्रम्बस्यते
भीमसेनु	,, भीमसेन
भीमि	,, भीम
भींभली	,, विह्वला > प्रा भिब्भला
भीलि	,, भिल्ल
भुइ	,, भूमि
भुआवलि	,, भुज + बल
भुव	, भुज > प्रा भुअ भुव
भुवणि	,, भुवन > प्रा भुवण
भूधर	,, भूधर
भूपह	, भूप
भूपालि	, भूपाल
भूमि	,, भूमि
भूबलि	,, भुजबल
भूरह	, भूरवह > प्रा भूरइ
भूरिभवा	, भूरिभवत
भूलई	प्रा भुल्लिआ
भूवलइ	सं भूवलय
भेउ	,, भेद > प्रा भेअ
भेड	,, भिटति > प्रा भिड़इ /भिडइ
भेटिउ	प्रा भिड़िअइ
भेदि	सं भेद
भेवा	,, भेदिता > प्रा भेइआ
भेरि	,, भेरी
भेळी	,, मिलति > प्रा मिळइ
भोयण मंडन	,, भुवनमंडन

भोगल — सं० भूमि + अर्गला > प्रा० अग्गला
भोगवि — हिं० भोगना
भोयनु — सं० भोजन
भोज्य — ,, भोज्य
भोलवी — प्रा० भोलवइ
भ्रति — सं० भ्रान्ति > अप० भति

म

मइण — सं० मदन > प्रा० मअण
मउड — ,, मुकुट > प्रा० मउड
मउरी — ,, मुकुलिता > प्रा० मउलिअ
मओलीआ — ,, मौलिकानी > प्रा० मउलिआइ
मग्गइ — ,, मार्गति > प्रा० मग्गइ
मग्गि — ,, मार्ग > प्रा० मग्ग
मच्चइ — ,, माद्यति > प्रा० मज्जइ
मच्छइ — ,, मत्स्य > प्रा० मच्छ
मझ — ,, मध्यम् > प्रा० मज्झ > अप० मज्झु
मज्झारि — ,, मद्यकार्ये
मजावइ — ,, मार्ष्टि > प्रा० मज्जइ
मजूस — ,, मजूषा > प्रा० मजूसा
मढ — ,, मठ > प्रा० मठ
मणसमाधि — मण + सं० समाधि
मणा — सं० मनाक् > प्रा० मणा
मणि — ,, मनस् > प्रा० मण
मणिमइ — ,, मणिमय
मणिचूड़ — ,, मणिचूढ
मणुय — ,, मनुज > प्रा० मणुअ
मणूअ — ,, मनुजानाम् > अप० 'मणुयह;
मणोरथ — ,, मनोरथ
मणोरहु — ,, मनोरथ > प्रा० मणोरह
मणोहर — ,, मनोहर > प्रा० मणोहर
मड — प्रा० मड्डा = सं० बलात्कार आज्ञा

मंडइ सं मंडयति > प्रा० मंडइ
मंडप्प ,, मण्डप
मंडपि ,, मंडप
मंडव ,, मंडप > प्रा मंडव
मच्छर ,, मत्सर
मच्छदेसि ,, मत्स्यदेश
मद्रभूप ,, मद्र+भूप (= सं दुहिता)
माद्री ,, माद्री
मधुकरि ,, मधुकरी
मन ,, मनस् > प्रा० मणो
मनचींतिउ ,, मनस्+चिन्तित
मनमथ ,, मन्मथ
मनमोर ,, मन+मोर
मनरत्ति ,, मनस्+रक्तेन
मनसाल ,, मनः+शल्य
मनाविसु ,, मानयति > प्रा माणेइ
मनिखउ ,, मनीषा
मनु ,, मनुष > प्रा मणुस > अप मणुसइ
मनुष ,, मनुष्य
मंत्र ,, मंत्र
मंत्रीसर ,, मन्त्रिन्+ईश्वर
मंदिरि ,, मन्दिर
मंदिरवट्ट ,, मन्दिर+वर्त
मम्मई ,, मन्यते > प्रा मन्नए
मम ,, म+म
मयगल ,, मदकल > प्रा मयगल
मयन ,, मदन > प्रा मयण
मयनातुर ,, मदन+आतुरा
मरइ ,, मरते > प्रा मरइ
मरहु ,, मरम्
मरणु , मरण

मरूउ — सं० मुकुल > प्रा० मउर
मलिउ — ,, म्रदति, मृदति > प्रा० मलइ, मलेइ
मसवाडउ — ,, मासवृत्तक > प्रा० मासवट्टुअ
मसा — ,, मशक > प्रा० मसअ
मसाणु — ,, श्मशान > प्रा० मसाण
मसि — ,, मषी > प्रा० मसि
मस्तकु — ,, मस्तक
महतउ — ,, महत् > प्रा० महत > अप० महतउ
महातपि — ,, महातपस्
महारिसि — ,, महा + ऋषि
महाविदे — ,, महाविदेह
महासईय — ,, महासती > प्रा० महासईय
महाहवि — ,, महाहव
महिम — ,, महिमन्
महिया — ,, मथित > प्रा० महिअ
महुर — ,, मधुर > प्रा० महुर
महेलीय — प्रा० महेला
महोच्छव — सं० महा + उत्सव > प्रा० महोच्छव
माइ — ,, माति > प्रा० माइ
माउलउ — ,, मातुल > प्रा० माउल
माखी — ,, मक्षिका > प्रा० मक्खिआ, मच्छिआ
मागइ — ,, मार्गति > प्रा० मग्गइ
मागु — ,, मार्ग > प्रा० मग्ग
मार्ग्गण — ,, मार्गण
माछिली — प्रा० मच्छ + इल्ली
माज्झिले — सं० मध्यमे > प्रा० मज्झिमम्मि
माझिला — ,, मध्य + इल्ल
माटि — ,, मृत्तिका > प्रा० मट्टिआ
माढी — प्रा० माअ + ढी
माणउ — ,, मानयामि

माणुष	प्रा॰ मानुष > प्रा॰ माणुस
माणिक	„ माणिक्य > प्रा माणिक्क
माणु	„ मान > प्रा माण
माणुसइ	„ मानुष, मनुष्य
माणुसहाणि	„ मानुषमाणिक्य > प्रा माणुसमाणिक्का
मांडणी	„ मण्डनिका > प्रा मंडणिआ
मांडी	„ मण्डिका > प्रा मंडिआ
माथठ	„ मस्तक > प्रा मत्थअ
माथई	„ मस्त > प्रा मत्थ, मत्थअ
मादल	„ मर्दल > प्रा मद्दल
मानइ	„ मानयति > प्रा माणेइ
मानती	„ मन्यते > प्रा मण्णइ
मानु	„ मान
मानवी	„ मानवी
मांम	„ माम
माया	„ माया
मायापाशु	„ माया + पाशः
मारइ	„ मारयति > प्रा मारेइ
मारु	„ मार
मारा	„ मार
मारग	„ मार्ग
मालति	„ मालती
मालवदेस	„ मालवदेश
मालव राउ	„ मालवराव
मावीतर	„ मातृ + पितृ
माछे	„ मास
माहि	„ मध्ये ?
माहोमाहि	, मध्यस्य मध्यस्मिन्
मित्तइ	„ मित्र > प्रा मित्त
मिथ्थि	इष्टपाठ मिच्छि (ई) मिथ्या (ई रा १
मित्तु	„ मित्र > प्रा मित्त

मिल्हिय	प्रा० मेल्लइ
मिहर	स० मिहिर
मीठीय	,, मृष्ट > प्रा० मिट्ठ
मुकति	,, मुक्ति
मुकलावइ	,, मुक + ल > प्रा० मुक्कल, मोक्कलइ
मुकुदिइ	,, मुकुन्द
मुखिइ	,, मुख
मुगति	,, मुक्ति
मुचकोढी	,, मुचत् + कृत
मुणिवर	,, मुनिवर > प्रा० मुणिवर
मुणिंद	,, मुनीन्द्र > प्रा० मुणिंद
मुणीइ	,, मनुते > प्रा० मुणइ
मुनि	,, मणि, मुनि
मुद्र	,, समुद्र
मुरकीय	प्रा० मुरुक्कि
मुरारी	स० मुरारि
मुहकाणि	,, मुखविकूणान > प्रा० मुहकहाणिआ
मुहडु	,, मुख + ड > प्रा० मुहड
मुहरा	,, मुख > प्रा० मुह + ल
मुहतानदन	मुहता + स० नदन
मुहरइ	स० मुख + ड > प्रा० मुहड
मुहा	,, मुधा > प्रा० मुहा
मूउ	,, मृत > प्रा० मअ
मूकइ	,, मुक्त
मूझइ	,, मुह्यति > प्रा० मुज्झइ
मूंछ	,, श्मश्रु > प्रा० मसु
मूछीयइ	,, मूर्च्छति > प्रा० मुच्छइ
मूढ	,, मूढ
मूरख	,, मूर्ख
मूरखचट्ट	,, मूरख + चट्ट
मूरति	,, मूर्ति

माणुस प्रा० मानुष>प्रा० माणुस
माणिक „ माणिक्य>प्रा माणिक्क
माणु „ मान>प्रा० माण
माणुसई „ मानुष, मनुष्य
माणुसहारिणि „ मानुषमारिका>प्रा० माणुसमारिआ
मांडणी „ मण्डनिका>प्रा मंडणिआ
मांडी „ मण्डिका>प्रा मंडिआ
माथउ „ मस्तक>प्रा मत्थअ
माथउं „ मस्त>प्रा० मत्थ, मत्थअ
मादल „ मर्दल>प्रा मद्दल
मानइ „ मानयति>प्रा माणेइ
मामती „ मम्मते>प्रा मम्मइ
मानु „ मान
मानवी „ मानवी
मांम „ माम
माया „ माया
मायापाशु „ माया + पाशः
मारइ „ मारयति>प्रा मारेइ
मार „ मार
मारु „ मार
मारग „ मार्ग
मालति „ मालती
मालवदेस „ मालवदेश
मालव राउ „ मालवराज
मावीतर „ मातृ + पितृ
माहे „ माघ
माहि „ मध्ये ?
माहोमाहि „ मध्यस्य, मध्यस्मिन्
मित्तह „ मित्र>प्रा मित्त
मिथ्यि अन्यपाठ मिथ्यि (सं) मिथ्या (सं० रा ९५)
मिथु „ मिथ>प्रा मित्थ

रंगभूमि	सं० रंगभूमि
रचइ	,, रचयति
रज	,, रजस्
रजग	,, रञ्जन>प्रा० रजण
रढइ	,, लुठति
रणरसु	,, रणरस
रणवाइ	,, रणवाद>प्रा० रणवाअ
रणकीआ	,, रणत्+कृतानि>प्रा० रणक्किआइं
रतन	,, रत्न
रतनभरी	,, रत्नभरिता>प्रा० रयण भरिआ
रतिवाउ	,, रात्रिपातं>प्रा० रत्तिवाअ
रथालि	,, रथ+आली
रथु	,, रथ
रमणि	सं० रमणी
रमलि	,, रमणिका>प्रा० रमणिआ, रमलिआ
रमापति	,, रमापति (लक्ष्मीपति)
रभ	,, रभा
रयणाउरु	,, रत्नपुर>प्रा० रयणाउर
रयणमए	,, रत्नमयी>प्रा० रयणमई
रयणसिहरु	,, रत्नशेखर>प्रा० रयणसेहर
रयणाएरु	,, रत्नाकार>प्रा० रयणायर
रयणावली	,, रत्नावली>प्रा० रयणावली
रयणीय	,, रजनी>प्रा० रयणी
रली	,, रति>प्रा० रयलि
रलीउ	हिं० रलना
रविनदन	सं० रविनदन
रसाउलु	,, रसाकुल>प्रा० रसाउल
रसाल	,, रस+आर्द्र>प्रा० रस+अल्ल
रसिका	,, रसिका
रसंत	,, रसति
रहवइ	,, रथपति>प्रा० रहवइ

माणस — प्रा० मानुष>प्रा माणुस
माणिक — ,, माणिक्य>प्रा माणिक्क
माणु — ,, मान>प्रा० माण
माणुसई — ,, मानुष, मनुष्य
माणुसरासि — ,, मानुषराशिका>प्रा माणुसरासिआ
मांडवी — ,, मण्डपिका>प्रा मंडविआ
मांडी — ,, मण्डिका>प्रा मंडिआ
माथउ — ,, मस्तक>प्रा मत्थअ
माथउं — ,, मस्त>प्रा मत्थ, मत्थअ
मादल — ,, मर्दल>प्रा मद्दल
मानइ — ,, मानयति>प्रा माणेइ
मामती — ,, मन्यते>प्रा मन्नइ
मानु — ,, मान
मानवी — ,, मानवी
मांम — ,, माम
माया — ,, माया
मायापाशु — ,, माया + पाशः
मारइ — ,, मारयति>प्रा मारेइ
मारु — ,, मार
मारा — , मार
मारग — ,, मार्ग
मालति — ,, मालती
मालवदेस — ,, मालवदेश
मालव राउ — ,, मालवराज
मावीतर — ,, मातृ + पितृ
माहे — , माह
माहि — ,, मध्ये ?
माहोमाहि — ,, मध्यस्थ, मध्यस्मिन्
मित्तइ — ,, मित्र>प्रा मित्त
मिथ्यि — शुद्धपाठ मिथ्यि (सं) मिथ्या (सं० रा ४५)
मिसु — ,, मिष>प्रा मिस

मिल्हिय — प्रा० मेल्लइ
मिहर — सं० मिहिर
मीठीय — ,, मृष्ट > प्रा० मिट्ठ
मुकति — ,, मुक्ति
मुकलाइइ — ,, मुक्त + ल > प्रा० मुक्कल, मोकल्लइ
मुकुंदिइ — ,, मुकुन्द
मुखिइ — ,, मुख
मुगति — ,, मुक्ति
मुतकोडी — ,, मुघत् + कृत
मुणिवर — ,, मुनिवर > प्रा० मुणिवर
मुणिंद — ,, मुनीन्द्र > प्रा० मुणिंद
मुणीइ — ,, मनुते > प्रा० मुणइ
मुनि — ,, मणि, मुनि
मुद्र — ,, समुद्र
मुरकीय — प्रा० मुरक्कि
मुरारी — स० मुरारि
मुहकाणि — ,, मुखविकूणन > प्रा० मुहकहाणिश्रा
मुहडु — ,, मुख + ड > प्रा० मुहड
मुहरा — ,, मुख > प्रा० मुह + ल
मुहतानदन — मुहता + सं० नदन
मुहरइ — सं० मुख + ड > प्रा० मुहड
मुहा — ,, मुधा > प्रा० मुहा
मूउ — ,, मृत > प्रा० मश्र
मूकइ — ,, मुक्त
मूझइ — ,, मुह्यति > प्रा० मुज्झइ
मूछ — ,, श्मश्रु > प्रा० मसु
मूछीयइ — ,, मूर्च्छति > प्रा० मुच्छइ
मूढ — ,, मूढ
मूरख — ,, मूर्ख
मूरखचट्ट — ,, मूरख + चट्ट
मूरति — ,, मूर्ति

मूरतिवंतउ	,, मूर्तिमत्
मूलगाउ	,, मूलगात > प्रा मूलगाय
मूली	,, उन्मूलिता > प्रा उम्मूलिआ
मृत्त	,, मृत्यु
मृत्तलोक	,, मृत्युलोक
मृगनाभिई	,, मृगनाभि
मृगलोयणि	,, मृगलोचना > प्रा मिअलोअणी
मेघाडंबर	,, मेघ + आडम्बर
मेघु	,, मिघ्य > प्रा मिघ्घ
मेलि	,, मेल
मेलावउ	,, मेलापक
मेली	,, मेलयति
मोटउ	,, महत् > प्रा मुट्ट
मोडइ	,, मोटन > प्रा मोडेइ
मोती	,, मौक्तिक > प्रा मोत्तिअ
मोदिक	,, मोदक
मोहइ	,, मोहयति
मौहनी	,, मौहराज

य

यशोधर	सं यशोधर
यादवराई	,, यादवराजेन
युधिष्ठिर	,, युधिष्ठिर
युद्धलवि	,, युद्धलव
यम	अप इम
यम	मृत्यु के देवता

र

रइहीणु	सं रतिहीन
रखवाल	, रक्षापाल > प्रा रक्खवाल
रखि	,, रक्षति > प्रा रक्खइ
रंकु	, रंक
रंगांगणि	रंग + आंगणि

रगभूमि	स० रगभूमि
रचइ	,, रचयति
रज	,, रजस्
रजग	,, रञ्जन>प्रा० रजण
रढइ	,, लुठति
रणरसु	,, रणरस
रणवाइ	,, रणवाद>प्रा० रणवाअ
रणकीआ	,, रणत्+कृतानि>प्रा० रणकिआइं
रतन	,, रत्न
रतनभरी	,, रत्नभरिता>प्रा० रयण भरिआ
रतिवाउ	,, रात्रिपात>प्रा० रत्तिवाअ
रथालि	,, रथ+आली
रथु	,, रथ
रमणि	स० रमणी
रमलि	,, रमणिका>प्रा० रमणिआ; रमलिआ
रमापति	,, रमापति (लक्ष्मीपति)
रभ	,, रभा
रयणाउरु	,, रत्नपुर>प्रा० रयणाउर
रयणमए	,, रत्नमयी>प्रा० रयणमई
रयणसिहरु	,, रत्नशेखर>प्रा० रयणसेहर
रयणाएरु	,, रत्नाकार>प्रा० रयणायर
रयणावली	,, रत्नावली>प्रा० रयणावली
रयणीय	,, रजनी>प्रा० रयणी
रली	,, रति>प्रा० रयलि
रलीउ	हिं० रलना
रविनदन	स० रविनदन
रसाउलु	,, रसाकुल>प्रा० रसाउल
रसाल	,, रस+आर्द्र>प्रा० रस+अल्ल
रसिका	,, रसिका
रसंत	,, रसति
रहवइ	,, रथपति>प्रा० रहवइ

रामति	स० रम्यति>प्रा० रम्मति
रायकूयर	,, राजकुमार>प्रा० राअकुमर
रायणि	,, राजादनी>प्रा० रायणी
राव	,, राव
राशि	,, राशि
राहवउ	,, रक्षापयति>प्रा० रक्खावइ
राहावेहु	,, राधावेध>प्रा० राहावेह
रिण	,, रण
रितुपति	,, ऋतु+पति
रिद्धि	,, ऋद्धि>प्रा० रिद्धि
रिषि	,, ऋषि>प्रा० रिसि
रिसह	,, ऋषभ>प्रा० रिसह
रिसहेसरो	,, ऋषमेश्वर>प्रा० रिसहेसर
रीझउ	,, ऋध्यति>प्रा० रिज्झइ
रीद्धि	,, ऋद्धि>प्रा० रिज्झि
रीरी	,, रिरी>प्रा० रीरी
रीस	,, रुष्>प्रा० रुसा
रुकमणि	,, रुक्मिणी
रुडेइ	,, लोटयति>प्रा० रोढइ
रुलता	,, लुटति>प्रा० रुलइ
रुख	,, रुच>प्रा० रुक्ख
रुडु	,, रुप>प्रा० रुअ
रूठउ	,, रुष्टक>प्रा० रुट्ठअ
रूधइ	,, रुद्धक, रुधति>प्रा० रुद्धअ, रुधइ>अप० रुद्धउ
रूपरेह	,, रूपरेखा>प्रा० रूपरेह
रूपवति	,, रुपवती
रूय	,, रुप>प्रा० रूअ
रूयवत	,, रूपवती>प्रा० रूयवती
रूसइ	,, रुष्यति>प्रा० रूसइ
रेखा	,, रेखा
रेवति	,, रैवतक

लाछि	सं० लक्ष्मी>प्रा० लच्छी
लाज	,, लज्जा>प्रा० लज्जा
लाजउ	,, लज्जते>प्रा० लज्जइ
लाडण	,, लालन>प्रा० लाडण
लाडण	,, लालनी>प्रा० लाडणी
लाडी	,, लाल्या>प्रा० लड्डिआ
लाध	,, लब्धि>प्रा० लद्धि
लापसी	,, लप्सिका>प्रा० लप्पसिआ
लाभइ	,, लभ्यते>प्रा० लब्भइ
लावर	,, लवितृ>प्रा० लाविर
लिइ	,, लाति>प्रा० लेइ
लाखारामि	,, लक्षाराम>प्रा० लक्खाराम
लिखिउ	,, लिखित>प्रा० लिखिअ
लिंपइ	,, लिम्पति>प्रा० लिंपइ
लिविउ	,, लिपित>प्रा० लिविअ
लिहीजइ	,, लिखति>प्रा० लिहइ
लीउ	,, लातः
लीया	,, लाति>प्रा० लेइ
लीलविलास	,, लीलाविलास,
लुछुणडइ	,, न्युञ्छक
लुणाइ	,, लुनाति>प्रा० लुणाइ
लुहेवा	,, लूपयति>प्रा० लूहइ
लूसइ	,, लूषयति>प्रा० लूसेइ, लूसइ
लूगड	,, रुग्ण>प्रा० लुग्गो
लोकु	,, लोक
लोच	,, लोच
लोटी	,, लोटति>प्रा० लुट्टइ

व

वइरी	स० वैरिन्>प्रा० वइरी
वउल	,, बकुल>प्रा० वउल
वखाण	,, व्याख्यान>प्रा० वक्खाण

वखाणइ ,, व्याख्यान > प्रा वक्खाणइ
बगोरइ ,, विकुर्वति > प्रा० विउव्वइ
बघारिउ ,, व्याघारित > प्रा वग्घारिअ
बचनि ,, वचन
बचाई ,, वाचयति > प्रा वाएइ
बच्छरी ,, वत्सर > प्रा वच्छर
बछूटी ,, विछुट्यति > प्रा विच्छुटइ
बछेदिई ,, विच्छेद
बछोहइ ,, विच्छोटयति > प्रा अप विच्छोडइ
बछोहां ,, विघाम-वियोग > प्रा विछोह
बज्रमओ ,, वज्रमय: > प्रा वज्जमओ
बज्रसरीर ,, वज्रशरीर
बंधइ ,, बध्नाति > प्रा बंधेइ
बंभि ,, ब्रह्मा > प्रा बंभअ
बटेवाहू ,, वामकबाहुक > प्रा वड्अवाहुओ
बढी ,, वर्धते > प्रा वड्ढइ
बणचरि ,, वनचर
बणराइ ,, वनराजि > प्रा वणराइ
बणवासु ,, वनवास
बणस्सइ ,, वनस्पति > प्रा वणस्सइ
बणिजारा ,, वाणिज्य + कार:, प्रा वाणिज्ज + आरो
बदनि ,, वदन
बदीतउ ,, विदित
बधावइ ,, वर्धापयति > प्रा वद्धावेइ
बनु ,, वन
बनी ,, वनी
बनचर ,, वनचर
बनंतरि ,, वनान्तर
बनबाडु ,, वनवाट
बंदरवालि ,, वन्दनमालिका > प्रा वंदणमालिआ > अप वांदर मालिअ

वन्नीयए	सं० वर्ण्यते>प्रा० वण्णियइ
वंदिअ	„ वन्दते>प्रा० वदइ
वरचीठं	„ विरचित>प्रा० विरचिअ
वरतइ	„ वर्त
वरय	„ वरए>प्रा० वरय
वरस	„ वर्षान्ते>प्रा० वरिस
वरसति	„ वर्षान्ते
वरसति	„ वर्षति>प्रा० वरिसइ
वरि	„ उपरि>प्रा० उप्परि
वयण	„ वचन>प्रा० वयण
वयण	„ वदन>प्रा० वयण
वयर	„ वैर>प्रा० वइर
वयराट	„ वैराट [विराट् का राजा]
वयरी	„ वैरिन्
वरइ	„ वृ=वरति>प्रा० वरइ
वरु	„ वर
वरूउ	„ विरूप>प्रा० विरूव
वलइ	„ वलते>प्रा० वलइ
वलि	„ वलति
वल्लभ	„ वल्लव
वल्लहउ	„ वल्लभ>प्रा० वल्लह
वल्लही	„ वल्लभा>प्रा० वल्लहा, वल्लही
वश्य	„ वश्या
वसइ	„ वसति>प्रा० वसइ
वसणु	„ व्यसन>प्रा० वसण
वसिं	„ वशे>प्रा० वसम्मि
वसन	„ वसन
वस्तिग	„ वस्तु+इक
वंस	„ वश>प्रा० वस
वहइ	„ वहति>प्रा० वहइ
वहू	„ वधू>प्रा० वहू

लाछि	सं० लक्ष्मी>प्रा० लच्छी
लाज	,, लज्जा>प्रा० लज्जा
लाजउ	,, लज्जते>प्रा० लज्जइ
लाडण	,, लालन>प्रा० लाडण
लाडण	,, लालनी>प्रा० लाडणी
लाडी	,, लाट्या>प्रा० लट्टिआ
लाध	,, लब्धि>प्रा० लद्धि
लापसी	,, लप्सिका>प्रा० लप्पसिआ
लाभइ	,, लभ्यते>प्रा० लब्भइ
लावर	,, लवितृ>प्रा० लाविर
लिइ	,, लाति>प्रा० लेइ
लाखारामि	,, लक्षाराम>प्रा० लक्खाराम
लिखिउ	,, लिखित>प्रा० लिखिअ
लिंपइ	,, लिम्पति>प्रा० लिंपइ
लिविउ	,, लिपित>प्रा० लिविअ
लिहीनइ	,, लिखति>प्रा० लिहइ
लीउ	,, लातः
लीया	,, लाति>प्रा० लेइ
लीलविलास	,, लीलाविलास,
लुछुणाडइ	,, न्युञ्छकं
लुणाइ	,, लुनाति>प्रा० लुणाइ
लूहेवा	,, लूपयति>प्रा० लूहइ
लूसइ	,, लूपयति>प्रा० लूसेइ, लूसइ
लूगड	,, रुग्ण>प्रा० लुग्गो
लोकु	,, लोक
लोच	,, लोच
लोटी	,, लोटति>प्रा० लुट्टइ

व

वइरी	सं० वैरिन्>प्रा० वइरी
वउल	,, वकुल>प्रा० बउल
वखाण	,, व्याख्यान>प्रा० वक्खाण

वणीयए — सं० वर्ण्यते>प्रा० वणिणयइ
वंदिअ — ,, वन्दते>प्रा० वदइ
वरचीउं — ,, विरचित>प्रा० विरचिअ
वरतइ — ,, वर्त
वरय — ,, वरद>प्रा० वरय
वरस — ,, वर्षान्ते>प्रा० वरिस
वरसति — ,, वर्षान्ते
वरसति — ,, वर्षति>प्रा० वरिसइ
वरि — ,, उपरि>प्रा० उप्परि
वयण — ,, वचन>प्रा० वयण
वयण — ,, वदन>प्रा० वयण
वयर — ,, वैर>प्रा० वइर
वयराट — ,, वैराट [विराट् का राजा]
वयरी — ,, वैरिन्
वरइ — ,, वृ=वरति>प्रा० वरइ
वरु — ,, वर
वरूउ — ,, विरूप>प्रा० विरूव
वलइ — ,, वलते>प्रा० वलइ
वलि — ,, वलति
वल्लभ — ,, वल्लव
वल्लहउ — ,, वल्लभ>प्रा० वल्लह
वल्लही — ,, वल्लभा>प्रा० वल्लहा, वल्लही
वश्य — ,, वश्या
वसइ — ,, वसति>प्रा० वसइ
वसणु — ,, व्यसन>प्रा० वसण
वसि — ,, वशे>प्रा० वसम्मि
वसन — ,, वसन
वस्तिग — ,, वस्तु+इक
वंस — ,, वश>प्रा० वस
वहइ — ,, वहति>प्रा० वहइ
वहू — ,, वधू>प्रा० वहू

बाउ — सं तत् वायु > प्रा बाअ
बाउकाई — ,, वायुकाय > प्रा० बाउकाय
बाउलउ — ,, वातुल > प्रा बाउल
बाग — ,, वल्ग् > प्रा बग्ग
बागुरीय — ,, वागुरिक > प्रा वागुरिय
बाघ — ,, व्याघ्र > प्रा बाघ
बाघिणि — ,, व्याघ्रिणी > प्रा वग्घिणि
बांकउ — ,, वक्र > प्रा वंक
बाच — ,, वाच, वाचा
बाचइ — ,, वाचयति > प्रा वाचइ
बाचइ — ,, वाचयते > प्रा , अप वचइ
बाचउ — ,, वाच > प्रा वच्च
बाजित्र — ,, वादित्र > प्रा वाइत्त
बांझा — ,, वन्ध्या > प्रा वंझा
बाट — ,, वर्त्मन् > प्रा वट्टा
बाडि — ,, वृति > प्रा वाडी
बाडिय — ,, वाटिका > प्रा वाडिआ
बाढी — ,, वर्धयति > प्रा वड्ढेइ
बाणही — ,, उपानह् > प्रा वाणहा
बात — ,, वार्त्ता > प्रा वत्त
बाति — ,, बात
बादु — ,, वाद
बाधइ — , वर्धते > प्रा वड्ढइ
बांदर — ,, वानरः > प्रा वंदरो
बांधा — ,, बन्धित > प्रा बंधिअ
बापरउ — ,, व्यापारयति > प्रा अप + वावरेइ
बापीअ — , वापिका > प्रा वाविआ
बांभु — ,, बामन्
बार — ,, द्वारम् > प्रा बारं
बारउ — ,, बारकः > प्रा बारओ > अप बारउ
बारइ — ,, वारयति > प्रा वारेइ

वारण — स० वारण

वारणु — [एक शहर का नाम]

वारवधू — स० वारवधू

वारणवति — [एक शहर का नाम]

वालइ — स० वालयति > प्रा० वालेइ, वालइ

वालिय — ,, वालिका

वालभ — ,, वल्लभ

वालही — ,, वल्लभा > प्रा० वल्लहा

वासि — ,, वास

वासरि — ,, वासर

वास्या — ,, वासयति

वांसउ — ,, वश + क > प्रा० वस + अ

वाही — ,, वाहयति > प्रा० वाहेइ

वाहु — ,, वाह

वाहइ — ,, वाहयति > प्रा० वाहइ, वाहइ

वाहणि — ,, वाहन

विउड — ,, विकट > प्रा० विअड

विकरालो — ,, विकराल

विकल — ,, विकल

विकसइं — ,, विकसति > प्रा० विअसइ

विकारि — ,, विकार

विखड — ,, विखड

विखडिउ — ,, विखडित > प्रा० विखडिअ

विखासइ — ,, विश्वास > प्रा० वीसास

विगत — ,, व्यक्ति > प्रा० वत्ति

विगूता — ,, विगुप्त > प्रा० विगुत्त

विगोइ — ,, विगोपयति > प्रा० विगोवेइ

विचखण — ,, विचक्षण

विचार — ,, विचार, विचारयति

विचाली — ,, वर्त्मन्

विछाहिउ — ,, विच्छाय

वखाणइ ,, व्याख्यान>प्रा वक्खाणइ
वखारई ,, विकुवति>प्रा विउव्वइ
वपारिउं ,, *व्यापारित >प्रा वप्पारिअ
वचनि ,, वचन
वचाई ,, वाचयति>प्रा वाएइ
वच्छरी ,, वत्सर>प्रा वच्छर
वछूटी ,, विछुम्पति>प्रा विच्छुट्टइ
वछेदिई ,, विच्छेद
वछोडइ ,, विच्छोटयति>प्रा अप विच्छोडइ
वछोहा ,, विक्षोभ=वियोग>प्रा विछोह
वज्जमओ ,, वज्रमयः>प्रा वज्जमओ
वज्रशरीर ,, वज्रशरीर
वंचइ ,, वञ्चयति >प्रा॰ वंचेइ
वंझि ,, वन्ध्या>प्रा वंझा
वटेवाहू ,, वत्मकवाहक>प्रा वट्टअवाहओ
वढी ,, वर्धते>प्रा वड्ढइ
वणचरि ,, वनचर
वणराइ ,, वनराजि>प्रा वणराइ
वणवासु ,, वनवास
वणस्सइ ,, वनस्पति>प्रा वणस्सइ
वणिज्जारा ,, वाणिज्य + कारः, प्रा वाणिज्ज + आरो
वदनि ,, वदन
वदीवढ ,, विविक्त
वधावइ ,, वर्धापयति >प्रा वद्धावेइ
वनु ,, वन
वनी ,, वनी
वनचर ,, वनचर
वनंतरि ,, वनान्तर
वनवासु ,, वनवास
वंदरमालि ,, वन्दनमालिका>प्रा वंदणमालिआ >अप वांदर-
मालिअ

वन्नीयए	सं० वर्ण्यते > प्रा० वण्णियइ
वंदिअ	,, वन्दते > प्रा० वंदइ
वरचीउं	,, विरचित > प्रा० विरचिअ
वरतइ	,, वर्त
वरय	,, वरद > प्रा० वरय
वरस	,, वर्षान्ते > प्रा० वरिस
वरसति	,, वर्षान्ते
वरसति	,, वर्षति > प्रा० वरिसइ
वरि	,, उपरि > प्रा० उप्परि
वयण	,, वचन > प्रा० वयण
वयण	,, वदन > प्रा० वयण
वयर	,, वैर > प्रा० वइर
वयराट	,, वैराट [विराट् का राजा]
वयरी	,, वैरिन्
वरइ	,, वृ=वरति > प्रा० वरइ
वरु	,, वर
वरूउ	,, विरूप > प्रा० विरूव
वलइ	,, वलते > प्रा० वलइ
वलि	,, वलति
वल्लभ	,, वल्लव
वल्लहउ	,, वल्लभ > प्रा० वल्लह
वल्लही	,, वल्लभा > प्रा० वल्लहा, वल्लही
वश्य	,, वश्या
वसइ	,, वसति > प्रा० वसइ
वसणु	,, व्यसन > प्रा० वसण
वसि	,, वशे > प्रा० वसम्मि
वसन	,, वसन
वस्तिग	,, वस्तु + इक
वंस	,, वश > प्रा० वस
वहइ	,, वहति > प्रा० वहइ
वहू	,, वधू > प्रा० वहू

वाउ	सं तत वायु > प्रा वाअ
वाउकाई	,, वायुकाय > प्रा० वाउकाय
वाउसउ	,, वायुस > प्रा वाउस
वाय	,, वाच् > प्रा वाअ
वागुरीय	,, वागुरिक > प्रा वागुरिअ
वाघ	,, व्याघ्र > प्रा वाघ
वाघिणि	,, व्याघ्रिणी > प्रा वग्घिणि
वांकउ	,, वक्र > प्रा वंक
वाच	,, वाच, वाचा
वाचाई	,, वाचयति > प्रा वाचइ
वाचइ	,, वाचते > प्रा , अप वच्चइ
वाचउ	,, वाच > प्रा वच्च
वाजिम	,, वादित्र > प्रा वाइत्त
वांझा	,, वान्ध्या > प्रा वांझा
वाट	,, वर्त्मन् > प्रा वट्टा
वाडि	,, वृति > प्रा वाडी
वाडिम	,, वाटिका > प्रा वाडिआ
वाढी	,, वर्धयति > प्रा वड्ढेइ
वाणही	,, उपानह् > प्रा वाणहा
वात	,, वार्ता > प्रा वत्त
वाति	,, वात
वादु	,, वाद
वाधइ	,, वर्धते > प्रा वड्ढइ
वांतर	,, अन्तरा > प्रा अंतरो
वांधा	,, वन्धित > प्रा बंधिअ
वापरउ	,, व्यापारयति > प्रा अप + वावरेइ
वापीअ	,, वापिका > प्रा वाविआ
वांमु	, वामम्
वार	,, वारम् > प्रा वारं
वारउ	,, वारकः > प्रा वारओ > अप वारउ
वारइ	,, वारयति > प्रा वारेइ

वारण — सं० वारणः
वारणु — [एक शहर का नाम]
वारवधू — सं० वारवधू
वारणवति — [एक शहर का नाम]
वालइ — सं० वालयति > प्रा० वालइ, वालइ
वालिय — ,, बालिका
वालभ — ,, वल्लभ
वालही — ,, वल्लभा > प्रा० वल्लहा
वासि — ,, वास
वासरि — ,, वासर
वास्या — ,, वासयति
वासउ — ,, वश + क > प्रा० वस + अ
वाही — ,, वाहयति > प्रा० वाहेइ
वाहु — ,, वाह
वाहइ — ,, वाहयति > प्रा० वाहइ, वाहइ
वाहणि — ,, वाहन
विउड — ,, विकट > प्रा० विअड
विकरालो — ,, विकराल
विकल — ,, विकल
विकसइ — ,, विकसति > प्रा० विअसइ
विकारि — ,, विकार
विखड — ,, विखड
विखडिउ — ,, विखडित > प्रा० विखडिअ
विखासइ — ,, विश्वास > प्रा० वीसास
विगत — ,, व्यक्ति > प्रा० वत्ति
विगूता — ,, विगुप्त > प्रा० विगुत्त
विगोइ — ,, विगोपयति > प्रा० विगोवेइ
विचखण — ,, विचक्षन
विचार — ,, विचार, विचारयति
विचाली — ,, वर्त्मन्
विछाहिउ — ,, विच्छाय

विछोह सं विक्षोभः>प्रा विच्छोह
विच्छोहीठ „ विक्षोभ>प्रा० विच्छोह
विज्जु „ विद्युत
विज्जुमालि „ विद्युन्मालिन >प्रा० विज्जुमालि
विज्जाहर „ विद्याधर>प्रा विज्जाहर
विडंम्बा „ विडंबयति>प्रा विडंबेइ
विडारइ „ विदारयति
विणु „ विना>प्रा विणु
विणासइ „ विनाशयति>प्रा विणासेइ
विणासु „ विनाश>प्रा विणास
विणोदि „ विनोद>प्रा विणोद
वित्थरी „ विस्तार>प्रा वित्थर
विदाहु „ विदाह
विदुर „ विदुर
विदेसी „ विदेश>प्रा विदेस
विद्य „ विद्या
विद्याधर „ विद्याधर
विद्यासिद्धि „ विद्यासिद्धि
विनडंति „ विनटयति>प्रा विणडेइ>अप विणडइ
विनवं „ विज्ञापयति>प्रा विण्णवेइ
विनाणी „ विज्ञान>प्रा विण्णाण
विनोदिहि „ विनोद
विंद „ वृंद>प्रा विंद
विरचइं „ विरचयति
विरतंत „ वृत्तांत>प्रा विरत्तंत
विरता „ विरक्त>प्रा विरत्त
विरलउ „ विरल+क
विन्नाणी „ विज्ञान>प्रा विन्नाण
विपिनि „ विपिन
विप्रि „ विप्र
विभागु „ विभाग

विक्षोह	स्त्री विक्षोभः > प्रा विक्खोह
विक्खोहीउ	„ विक्षोभ > प्रा॰ विक्खोह
विघ्नु	„ विघ्न
विज्जुमालि	„ विद्युन्मालिन > प्रा विज्जुमालि
विज्जाहर	„ विद्याधर > प्रा विज्जाहर
विडंम्बा	„ विडंबयति > प्रा विडंबेइ
विदारइ	„ विदारयति
विण	„ विना > प्रा विण
विणासइ	„ विनाशयति > प्रा विणासेइ
विणासु	„ विनाश > प्रा विणास
विणोदि	„ विनाद > प्रा विणोद
वित्थरी	„ विस्तार > प्रा वित्थर
विदाहु	„ विदाह
विदुर	„ विदुर
विदेसी	„ विदेश > प्रा विदेस
विद्य	„ विद्या
विद्याधर	„ विद्याधर
विद्यासिद्धि	„ विद्यासिद्धि
विनडंति	„ विनटयति > प्रा विणडेइ > अप विणडइ
विनवं	„ विज्ञापयति > प्रा विण्णवेइ
विनाणी	„ विज्ञान > प्रा विण्णाण
विनाविदि	„ विनोद
विंद	„ वृंद > प्रा विंद
विरचाइं	„ विरचयति
विरतंत	„ वृत्तांत > प्रा विरत्तंत
विरता	„ विरक्त > प्रा विरत्त
विरताउ	„ विरक्त + क
विन्नाणी	„ विज्ञान > प्रा विण्णाण
विशिनि	„ विपिन
विप्रि	„ विप्र
विमाणु	„ विमान

विमासइ — सं० विमृशति > प्रा० विमासइ
विम्हिउ — ,, विस्मित > प्रा० विम्हिअ
विरइवि — ,, विरचय्य
विरहानलि — ,, विरहानलेन
विरगु — ,, विरग
विरागो — ,, विराग
विरागीय — ,, विराग
विराडिउ — प्रा० विराडइ
विराधीउ — सं० वि+राध्
विरूअउ — ,, विरूपक
विरालियइ — हि० बिलोना
विलउ — सं० विलय
विलक्खि — ,, विलक्षिता > प्रा० विलक्खिअ
विलग्गी — सं० विलगति > प्रा० विलग्गइ
विलवइ — ,, विलपति > प्रा० विलवइ
विलेच्छु — ,, म्लेच्छ
विलेपनु — ,, विलेपन
विलोल — ,, विलोल
विलोवतां — प्रा० विलोडइ
विवनउ — सं० विपन्न > प्रा० विवन्न
विवाहरु — ,, व्यवहार > प्रा० ववहार
विवादइ — ,, विवाद
विशेषइ — ,, विशेष
विश्रामु — ,, विश्रामः
विषमी — ,, विषम
विसखप्परा — ,, विषकर्पराः > प्रा० विसखप्परा
विसनिरु — ,, वैश्वानर > प्रा० वेसाणर–वइसाणर
विसमिउ — ,, विश्रमित > प्रा० विसमिअ
विस्तारि — ,, विस्तारिता > प्रा० वित्थारिआ
विहरउ — ,, विहार > प्रा० विहार
विहसी — ,, विकसित > प्रा० विहसिअ

विहूणउं — सं विहीन > प्रा विहीण
वीनती — ,, विज्ञप्ति > प्रा विण्णत्ति
वीनवइ — ,, विज्ञापयति > प्रा विण्णवेइ
वीर — ,, वीर
वीरि — ,, वीर
वीरप्पह — ,, वीरप्रभ > प्रा वीरप्पह
वीवाहु — ,, विवाह
वीसमउ — ,, विश्राम्यति > प्रा वीसमइ
वीसमी — ,, विषम > प्रा विसम
वीसरिउं — ,, विश्वसिति > प्रा वीससइ
वुड्ढेण — ,, वृद्ध > प्रा वुड्ढ
वूना — ,, विषण्ण
वूहमल — ,, बृहन्नला
वेढल — ,, विचकिल > प्रा विअइल्ल
वेगि — ,, वेग
वेडि — ,, वाटिका > प्रा वाडिआ
वेदन — ,, वेदना
वेष — ,, वेष
वेयड्ढ — ,, वैताढ्य > प्रा वेयड्ढ
वेरई — ,, वैर > प्रा वइर
वेला — ,, वेला
वेलि — ,, वल्ली > प्रा वल्ली
वेवाहिय — ,, वैवाहिक > प्रा वेवाहिय
वेस — , वेष > प्रा वेस
वेहीकरी — , विध्यति > प्रा वेहइ
व्रत — ,, व्रत
व्यापए — ,, व्याप्नोति > प्रा वावेइ
व्यापति — ,, व्याप्ति

श

शकुनि — सं शकुनि
शंखु — ,, शङ्ख

विमासइ	स० विमृशति > प्रा० विमरसइ
विम्हिउ	,, विस्मित > प्रा० विम्हिअ
विरहणि	,, विरहिणी
विरहानलि	,, विरहानलेन
विरगु	,, विरंग
विरागो	,, विराग
विरागीय	,, विराग
विराडिउ	प्रा० विराडइ
विराधीउ	सं० वि+राध्
विरूअउ	,, विरूपक
विरोलियइ	हिं० बिलोना
विलउ	स० विलय
विलक्खि	,, विलक्षिता > प्रा० विलक्खिअ
विलगी	स० विलगति > प्रा० विलगइ
विलवइ	,, विलपति > प्रा० विलवइ
विलेच्छु	,, म्लेच्छ
विलेपनु	,, विलेपन
विलोल	,, विलोल
विलोवता	प्रा० विलोडइ
विवनउ	स० विपन्न > प्रा० विवन्न
विवाहरु	,, व्यवहार > प्रा० ववहार
विवादइ	,, विवाद
विशेषइ	,, विशेष
विश्रामु	,, विश्रामः
विषमी	,, विषम
विसखप्परा	,, विषकर्पराः > प्रा० विसखप्परा
विसनिरु	,, वैश्वानर > प्रा० वेसाणर–वइसाणर
विसमिउ	,, विश्रमित > प्रा० विसमिअ
विस्तारि	,, विस्तारिता > प्रा० वित्थारिआ
विहरउ	,, विहार > प्रा० विहार
विहसी	,, विकसित > प्रा० विहसिअ

विछोह — पुं विद्योभः > प्रा विच्छोह
विच्छोहीउ — ,, विद्योभ > प्रा विच्छोह
विजयु — ,, विजय
विज्जमालि — ,, विद्युन्मालिन > प्रा विज्जुमालि
विज्जाहर — ,, विद्याधर > प्रा० विज्जाहर
विडंम्बा — ,, विडंबयति > प्रा विडंबेइ
विडारइ — ,, विदारयति
विण — ,, विना > प्रा विण
विणासइ — ,, विनाशयति > प्रा विणासेइ
विणासु — ,, विनाश > प्रा विणास
विणोदि — ,, विनोद > प्रा विणोद
वित्थरी — ,, विस्तार > प्रा वित्थर
विदाहु — ,, विदाह
विदुर — ,, विदुर
विदेसी — ,, विदेश > प्रा विदेस
विद्य — ,, विद्या
विद्यापर — ,, विद्याधर
विद्यासिद्धि — ,, विद्यासिद्धि
विनडंति — ,, विनटयति > प्रा विणडेइ > अप विणडइ
विनवं — ,, विज्ञापयति > प्रा विण्णवेइ
विनाणी — ,, विज्ञान > प्रा विण्णाण
विनोदिहि — ,, विनोद
विंद — ,, वृंद > प्रा विंद
विरचइ — ,, विरचयति
विरतंत — ,, वृत्तांत > प्रा विरतंत
विरता — ,, विरक्त > प्रा विरत्त
विरलउ — ,, विरल + क
विनाणी — ,, विज्ञान > प्रा विण्णाण
विविनि — ,, विपिन
विप्रि — ,, विप्र
विमाणु — ,, विमान

शतखंड ,, शत + खण्ड
शत्रो ,, शत्रु
शमरसि ,, शमरस
शरद्वतीसूनु ,, शरद्वत्सूनु
शल्यु ,, शल्य
शल्लिहिं ,, शलय > प्रा० शल्ल
शशर्म ,, सुशर्मन
शशि ,, शश
शाखि ,, श्लक्ष्णक
शाल ,, शृगाल > प्रा० सियाल
शिखडी ,, शिखण्डिन
शिर ,, शिरस्
शिर ,, शर
शुधि ,, शुद्धि
शुशर्म ,, सुशर्मन्
शूकर ,, शूकर
शृगु ,, शृग
शृंगारइं ,, शृङ्गार
शोकह ,, शोक
शोण ,, शोण
श्रीपति ,, श्रीपति
श्रीपुर ,, श्रीपुर
श्रोत्रि ,, स्रोतस्

स

सइ सं० सर्वे > प्रा० सव्वि
सइ ,, शतानि > प्रा० सयाइ, सयइ
सइर ,, शरीर > प्रा० सरीर
सइं ,, स्वय > प्रा० सय > अप० सइ
सइवरि ,, स्वयवर > प्रा० सयवर
सकइ ,, शक्नोति > प्रा० सक्कइ

विहूणउं	सं॰ विहीन > प्रा विहीण
बीनती	,, विज्ञप्ति > प्रा विण्णत्ति
वीनवइ	,, विज्ञापयति > प्रा विण्णवेइ
वीर	,, वीर
वीरि	,, वीर
वीरप्पइ	,, वीरप्रभ > प्रा वीरप्पह
वीवाहु	,, विवाह
वीसमइ	,, विश्राम्यति > प्रा वीसमइ
वीसमी	,, विषम > प्रा विसम
वीसिसउं	,, विश्वसिति > प्रा वीससइ
वुड्ढीय	,, वृद्ध > प्रा वुड्ढ
वूना	,, विषण्ण
वृहस्पइ	,, वृहस्पति
वेडला	,, विचकिल > प्रा विअइल्ल
वेगि	,, वेग
वेडि	,, वाटिका > प्रा वाडिआ
वेदन	, वेदना
वेषं	,, वेष
वेयड्ढ	,, वैताढ्य > प्रा वेयड्ढ
वेरइं	,, वैर > प्रा वइर
वेला	,, वेला
वेलि	,, वल्ली > प्रा वल्ली
वेवारिय	,, वैवारिक > प्रा वेवारिय
वेस	,, वेष > प्रा वेस
वेहीकरी	,, विध्यति > प्रा वेहइ
मदु	,, मद
व्यापए	, व्याप्नोति > प्रा वावेइ
व्यापति	, व्याप्ति

श

शकुनि	सं शकुनि
शंख	,, शङ्ख

शतखंड ,, शत + खण्ड
शत्रो ,, शत्रु
शमरवि ,, शमरस
शरद्वतीन्नु ,, शरद्वत्तनु
शल्यु ,, शल्य
शल्लिहि ,, शलय > प्रा० शल्ल
शशर्म ,, सुशर्मन
शशि ,, शश
शाखि ,, श्लक्ष्णफ
शाल ,, शृगाल > प्रा० सियाल
शिखडी ,, शिखण्डिन
शिर ,, शिरस्
शिर ,, शर
शुधि ,, शुद्धि
शुशर्म ,, सुशर्मन्
शूकर ,, शूकर
शृंगु ,, शृंग
शृंगारइं ,, शृङ्गार
शोकह ,, शोक
शोण ,, शोण
श्रीपति ,, श्रीपति
श्रीपुर ,, श्रीपुर
श्रोत्रि ,, स्रोतस्

स

सइ स० सर्व > प्रा० सव्वि
सइ ,, शतानि > प्रा० सयाइ, सयइ
सइर ,, शरीर > प्रा० सरीर
सइं ,, स्वय > प्रा० सय > अप० सइं
सइवरि ,, स्वयवर > प्रा० सयवर
सक्कइ ,, शक्नोति > प्रा० सक्कइ

सकति ,, शक्ति > प्रा० सत्ति
सकालि ,, सुकाल
सकुटंब ,, सकुटुंब
सक्खि ,, सख्य > प्रा सक्ख
सखीय ,, सखी
सघलउ ,, सकल > प्रा सयल > अप० सगल
सघन ,, सुघन
संख प्रधान ,, शंख प्रधान
संगरि ,, संगर
संग्रहीइ ,, संगृह्यते
संघइ ,, संघ
सचराचरि ,, सचराचर
सचेत ,, सचेतस्
सचेतनि ,, सचेतन
सचवई ,, सत्यवती > प्रा सच्चवइ
सजन ,, स्वजन > प्रा सज्जण
सजाती ,, सजाति
संचारि सं संचार
संचिवई ,, संचिनोति > प्रा संचिणइ
संजम ,, संयम > प्रा संजम
सठाणा ,, समस्त > प्रा संठाण
सतकारिय ,, सत्कारित
सतर ,, सप्तदश > प्रा सत्तरह
सतीय ,, सती
सत्त ,, सप्तन् > प्रा सत्त
सतूकार ,, सतूक + अगार
सत्थवाह ,, सार्थवाह > प्रा सत्थवाह
सत्थकु ,, सत्थक
सत्यवती ,, सत्यवती
सदाचारि ,, सदाचार
सममामिउ ,, संमामित

सतु	सं० शान्त > प्रा० संत
सतापु	,, सताप
सतावइ	,, सतापयति > प्रा० सतावेइ
सतावण	,, सतापन > प्रा० सतावण
सति	,, शान्ति > प्रा० सति
सतिकरउ	,, शान्तिकर + क > प्रा० सतिकरअ
सतणु	,, शान्तनु > प्रा० संतणु
सघाणु	,, सधान > प्रा० सधण
सनाहु	,, सनाह
सपराणउ	,, सप्राण + क
सपदि	,, सपदि
सबलु	,, सबल
सभा	,, सभा
सभावि	,, स्वभाव > प्रा० सहाव
समउ	,, सम
समकाल	,, समकाल
समकित	,, सम्यक्त्व > प्रा० सम्मत्त
समदाय	,, समुदाय
समय	,, समय
समरइ	,, स्मरति > प्रा० समुरइ
समरु	,, समर
समरंगणि	,, समराङ्गण
समरथ	,, समर्थ
समसिउ	,, समस्या
समुद्द	,, समुद्र > प्रा० समुद्द
समुद्रविजय	एक राजा का नाम
समृत्यमुद्रा	सं० समृत्युमुद्रा
समोपीउ	,, समर्पित > प्रा० समप्पिअ
समोसरणि	,, समवसरण
संपचूड	,, सर्पचूडा > प्रा० सप्पचूड
सपति	,, सपत्ति

संपइ सं संपद्
संपतउ " संपत्त
संपूरिय " संपूरिता > प्रा संपूरिअ
संप्रति " संप्रति
संबर " शंबर > प्रा संबर
संभरिउ " संस्मरति > प्रा संभरइ
संभावइ " संभावयति > प्रा संभावेइ
सयर " शरीर
सयंतउ " सचिंतक > प्रा सइंतउ
सयंवर " श्वेतांबर > प्रा सियंबर
सयंवरु " स्वयंवर
सर " शिरा > प्रा सिर
सर " स्वर > प्रा सर
सरइ " सरति > प्रा सरइ
सरखी " सदृश > प्रा सारिक्ख
सरगि " स्वर्ग > प्रा सग्ग
सरयलोकि " स्वर्ग+लोक
सरचीउ " संचित > प्रा सरचिय
सरयाई " स्वरनादिका > प्रा सरयाइआ
सरणि " शरण > प्रा सरण
सरणि " शरण्य > प्रा सरण्ण
सरमु " श्रम > प्रा सम
सरलवी " सरापयति > प्रा सरावेइ
सरवर " सरस् + वर > प्रा सरवर
सरसति " सरस्वती > प्रा सरस्सइ
सरसिव " सर्षप > प्रा सरिसव
सरसी " सरसी
सरसीय " सरसिज > प्रा सरसिअ
सरसे " सदृश > प्रा सरिस
सरहा " सुरभि > प्रा सुरहि
सर्वंग " सर्वांग > प्रा सव्वंग

सरापु	सं० शाप > प्रा० साव
सरीखउ	,, सदृक्ष > प्रा० सारिक्ख
सलक्खण	,, सुलक्षण > प्रा० सुलक्खण
सलभ	,, सुलभ > प्रा० सुलभ
सल्ल	,, शल्य > प्रा० सल्ल
सलिंद्री	,, सैरेन्ध्री
सलूणीय	,, सलवणिका > प्रा० सलोणिअ
सयमनी	,, सथमनी
सवणाह	,, श्रवण > प्रा० सवण
सवि	,, सर्व > प्रा० सव्व
सवारथ	,, स्वार्थ
सविवार	,, सर्व + वार
सवा	,, सुवर्ण > प्रा० सुवण्णाह
सवत	,, सवत्सर
सवरगुणि	,, सवरगुण
ससरा	,, श्वसुर > प्रा० ससुर
ससा	,, शश > प्रा० सस
संसारि	,, ससार
सहइ	,, सहते > प्रा० सहइ
सहकारि	,, सहकार
सहचरि	,, सहचर
सहजिह	,, सहज
सहड	,, सुभट > प्रा० सुहड
सहदे	,, सहदेव
सहस	,, सहस्र > प्रा० सहस्स
सहि	,, सहित > प्रा० सहिअ > अप० सहिउ
सहिनाण	,, साभिज्ञान > प्रा० साहिनाण
सही	,, सखी > प्रा० सही
सहु	,, शश्वत् > अप० साहु
संहट	,, सघट > स० संहट
संहरउ	,, सहरति > प्रा० सहरइ

संहार	सं संहार
सहीयर	,, सहचरी > प्रा सहयरि
सुं	,, किमर्थिक > प्रा किसिओ > अप किसिउ
स्वर्ग	,, सांस्वर्ग
स्वामि	,, स्वामिन्
स्वामिनि	,, स्वामिनी
साकर	,, शर्करा > प्रा॰ सक्कर
साखिइ	,, साक्ष्य > प्रा सक्ख
सागर	,, सागरोपम
साचउं	,, सत्यक > प्रा सच्चअ
साचउरि	,, सत्यपुर > प्रा सच्चउर
सांचरइ	,, संचरति > प्रा संचरइ
साजणां	,, स्वजन > प्रा सजण
सांझइं	,, सन्ध्या > प्रा संझा
साटे	प्रा सट्ट
साठि	सं षष्टि > प्रा सट्ठि
साडीय	,, शाटिका > प्रा साडिआ
सात	,, सप्त > प्रा सत्त
सातमी	,, सप्तम > प्रा सत्तम
साथि	,, सत्त्ववति > प्रा सत्तेइ
साथ	,, सार्थ > प्रा सत्थ
साथर	,, स्रस्तर > प्रा सत्थर
साद	,, शब्द > प्रा सद्द
साधइं	,, साधयति > प्रा साधेइ
सान	,, संज्ञा > प्रा सण्णा
सानिधि	,, संनिधि
सानिद्ध	,, सानिध्य > प्रा सानिद्ध
सांधइं	,, सन्धाति > प्रा संधेइ
साबल	,, सर्वला > प्रा सव्वल
सामग्री	,, सामग्री
सामल	,, श्यामल > प्रा सामल

सामहणी — सं० समाधानिका > प्रा० समाहणिअ
सामहो — ,, संमुखक > प्रा० समुहअ
सामही — ,, समाधाति > प्रा० समाहेइ
सामीणी — ,, स्वामिनी > प्रा० सामिणि
साडसे — ,, सदृशक > प्रा० सडासअ
सापडी — ,, सपतित > प्रा० सपडिअ
साबर — ,, शवर > प्रा० सबर
साभलइ — ,, सभालयति > प्रा० सभालेइ > अप० सभलइ
सायक — ,, सायक
सायर — ,, सागर > प्रा० सायर
सारो — ,, सारः
सारग — ,, शार्ङ्ग > प्रा० सारग
सारगपाणि — ,, शार्ङ्गपाणि
सारथि — ,, सारथि
सारददेवि — ,, शारदादेवी
सारदा — ,, शारदा
सारिसु — ,, सारयति > प्रा० सारेइ
सालणा — ,, सारणक > अप० सालणअ
सालिउ — ,, शल्यित > प्रा० सल्लिअ
साल्ल — ,, शल्य > प्रा० सल्ल
सालिभद्र — ,, शालिभद्र
सालिसूरि — ,, शालिसूरि
सावज — ,, श्वापद > प्रा० सावय
सावय — ,, श्रावक > प्रा० सावय
सासणदेवि — ,, शासनदेवी
सासु — ,, श्वश्रु > प्रा० सासू
सासु — ,, श्वास > प्रा० सास
सासही — ,, सशहित > प्रा० ससहिअ
सासहिउं — ,, सशयित
साहण — ,, साधन > प्रा० साहण
साहसि — ,, साहस

साहिउ	सं० साहयति
साहु	,, साधु > प्रा साहु
साहु	,, साधु > प्रा साहु
साहुणि	,, साध्वी > प्रा० साहुणि
सिखवइ	,, शिक्षयति > प्रा सिक्खावइ
सिख्या	,, शिक्षा > प्रा० सिक्खा
सिखंडीण	,, शिखण्डिन् > प्रा० सिखंडी
सिंग	,, शृंग > प्रा सिंग
सिणगार	,, शृंगार > प्रा सिंगार
सिणगारीइ	,, शृंगार्यते
सिर्तुंजय	,, शत्रुंजय
सिथिल	,, शिथिल > प्रा सिढिल
सिखावउ	,, शिक्षापयति > प्रा सिक्खावेइ
सिधु	,, सिद्ध
सिध्धशिला	,, सिद्धशिला
सिद्धि	,, सिद्धि
सिंधुर	,, सिंधुर
सिर	,, शिरस् > प्रा सिर
सिरखी	,, सदृश > प्रा सरिक्ख
सिरखे	,, सदृश > प्रा सरिस
सिरजणहार	,, सृजति > प्रा सज्जइ
सिराणा	,, शाणा (?)
सिरि	,, श्री > प्रा सिरि
सिरि	,, स्वर > प्रा सर
सिरीमणि	,, सिरीमणि
सिला	,, शिला > प्रा सिला
सिलिंद्री	,, शैरेन्ध्री
सिवपंथि	,, शिव + पथिन्
सिवपुरी	,, शिवपुरी
सिंहनिकीडिउ	,, सिंहनिक्रीडित > प्रा सीहनिक्कीलिय
सीकिरि	,, शीकरी (?)

सीख	स० शिक्षा>प्रा० सिक्ख
सीघ्र	,, शीघ्रम्>प्रा० सिग्घ
सींगिणी	,, शृंगिणी>प्रा० सिंगिणि
सींचिइ	,, सिंचति>प्रा० सिंचइ
सीतल	,, शीतल>प्रा० सीयल
सीधउ	,, सिद्ध+क>प्रा० सिद्धअ
सीम	,, सीमन्>प्रा० सीम
सीमति	,, श्रीमती>प्रा० सीमइ
सीमाढा	,, सीमन्>प्रा० सीम+ढ
सील	,, शील>प्रा० सील
सीसु	,, शीर्ष>प्रा० सिस्स-सीस
सीहू	,, सिंह>प्रा० सीह
सीहीअ	,, शिखिन्
सुअर	,, शूकर
सुकुमाल	,, सुकुमार>प्रा० सुउमाल>अप० सोमाल
सुखासनि	,, सुखासन
सुखीया	,, सुखित>प्रा० सुहिअ
सुगुरु	,, सुगुरु
सुचग	,, सुचङ्ग
सुचाम्र	,, सुचर्मन्
सुज्र	,, शुद्ध>प्रा० सुज्झ
सुदष्णा	,, सुदेष्णा
सुद्धि	,, शुद्धि>प्रा० सुद्धि
सुद्रह	,, समुद्र
सुंडादंडि	,, शुंड+दंड
सुपवीत	,, सुपवित्र>प्रा० सुपवित्त
सुपसाउ	,, सुप्रसाद>प्रा० सुपसाअ
सुभद्र	,, सुभद्र
सुमतिक	,, सुमतिक
सुमिणाइ	,, स्वप्न>प्रा० सुविण, सुमिण
सुयणह	,, सुजन>प्रा० सुअण, सुयण

सुयोधनि — सं० सुयोधन
सुर — ,, सुर
सुरगिरि — ,, सुरगिरि
सुरगुर — ,, सुरगुरु
सुरंग — ,, सुरङ्ग
सुरलोकि — ,, सुरलोक
सुरवइ — ,, सुरपति > प्रा सुरवइ
सुरवरि — ,, सुरवर
सुरवर्ग — ,, सुरवर्ग
सुरसाल — ,, सु + रसाल
सुरहीं — ,, सुरभीणि > प्रा सुरहिंइ
सुलक्खण — ,, सुलक्षण > प्रा सुलक्खण
सुलसिवइं — ,, सुलसितेन
सुसिंध्री — ,, सैरन्ध्री
सुवण्णं — ,, सुवर्ण > प्रा सुवण्ण
सुविचारु — ,, सुविचार
सुविवेकु — ,, सुविवेक
सुविलास — ,, सुविलास
सुवेस — ,, सुवेश
सुसवउ — ,, असत् + कृ
सुसरां — ,, सु + सर
सुंसिर — ,, सुषिर > प्रा सुसिर
सुहड — ,, सुभट > प्रा सुहड
सुहावउ — ,, सुखापयय > प्रा सुहावेइ > अप सुहावइ
सुहाग — ,, सौभाग्य > प्रा सोहग्ग
सू — ,, सुप्त > प्रा सुत्त
सूअवउ — ,, सुख > प्रा सुख + अभ > अप सुखवउ
सूअर — ,, शूकर > प्रा सूअर
सूकउं — ,, शुष्क + क > प्रा सुक्कअ
सूकडि — ,, शुष्क > प्रा सुक्क + डी
सूकीक — ,, सु + कृत > प्रा सुकिय

सूझइ सं० शुध्यन्ते > प्रा० सुज्झइ
सूझउं ,, शुध्यते > प्रा० सुज्झइ
सूतउ ,, सुप्त > प्रा० सुत्त
सूधइ ,, शुध्यते > प्रा० सुद्धइ
सूधउं ,, सुबद्धक > प्रा० सुबद्धअ
सूधा ,, शुद्धानि > प्रा० सुद्धाइं
सूनउ ,, शून्यक > प्रा० सुन्नअ
सून्य ,, शून्य
सूयण ,, स्वजन > प्रा० सयण
सूर ,, सूर
सूर ,, शूर > प्रा० सूर
सूरउ ,, सूर + क > प्रा० सूरअ
सूरिहिं ,, सूरि
सूरिज ,, सूर्य > प्रा० सूरिअ
सूसम ,, सूक्ष्म
सूसमसूसम ,, सूषम सूषम
सेजडी ,, शय्या > प्रा० सेज्जा
सेठि ,, श्रेष्ठिन् > प्रा० सेट्ठी
सेअ ,, श्वेत > प्रा० सेअ
सेत्रुंज ,, शत्रुञ्जय
सेनानी ,, सेनानी
सेलि ,, शैली > प्रा० सेलि
सैरंध्रि ,, सैरन्ध्री
सो ,, सः+अपि सोइ > प्रा० सोहु
सोक ,, शोक > प्रा० सोग
सोवन ,, सुवर्ण > प्रा० सुवण्ण
सोवनदेह ,, सुवर्णदेहा
सोवनपाट ,, सुवर्णपट्टिका > प्रा० सुवण्णपट्टिआ
सोवन्नीकाचन ,, सौवर्णिकाञ्चन
सोरीपुर ,, शौरीपुर
सोलह ,, षोडश > प्रा० सोलह

सोसइ	सं शुष्यति>प्रा॰ सुस्सइ
सोहग	,, सौभाग्य>प्रा॰ सोहग्ग
सोहगसुंदरी	,, सौभाग्यसुंदरी>प्रा॰ सोहग्गसुंदरी
सोहामी	,, शोभामयी>प्रा॰ सोहामइ
सोहिल्लउं	,, शोभा>प्रा सोहिल्लअ
सौख्य	,, सौख्य]

ह

हइ	,, भवति>प्रा हवइ
हईइ	,, हृदय>प्रा हिअ हिअय
हठिउं	,, हठित>प्रा हठिअ
हणइ	,, हन्ति>प्रा हणइ
हयउ	,, हतक>प्रा हअअ
हत्था	,, हस्त
हथिआर	,, हस्ते+कार>प्रा हत्थिआर
हथिणाउरि	,, हस्तिनागपुर>प्रा हत्थिणाअउर
हरख	,, हर्ष>प्रा हरिसो
हरिचंदिइं	,, हरिश्चंद्र>प्रा हरिचंद
हरालउ	,, हरति>प्रा हरइ+अप्पअ
हरावउ	,, हरापयति>अप हरावेइ
हरि	,, हरि
हरिकेशि	,, हृषीकेश
हरियाउ	,, हरित+क
हर्ष	,, हर्ष
हवइ	,, भवति>प्रा होइ, हुवइ, हवइ
हसई	,, हसति>प्रा हसइ
हस्तिनागपुर	,, हस्तिनागपुर
हंसगमण	,, हंसगमना
हाक	,, हक्का>प्रा हक्क
हाकीउ	प्रा हक्कइ
हाथिया	,, हस्तिन्+क>प्रा हत्थीअ
हथियीअं	,, हस्तिनी+क>प्रा हत्थिणीअ

हर्षियउं — सं० हर्षित+क>प्रा० हर्षिअअ

हारतां — ,, हारयति>प्रा० हारेइ

हारिइ — ,, हारिका>प्रा० हारि

हावउं — ,, एतादृश अप० एहवउं

हासउ — ,, हास्य+क>प्रा० हासअ

हाहाकार — ,, हाहाकार

हिउ — ,, हृदय>प्रा० हिअ

हियनरखि — ,, हितवणिका > प्रा० हियवविणअ

हिडंबु — ,, हिडिंब

हिडंबा — ,, हिडिम्बा

हींडोलिय — ,, दोला > प्रा० हिंडोलइ

हींडइ — ,, हिण्डते > प्रा० हिंडए

हींडोला — ,, हिन्दोल>प्रा० हिंदोल

हीणु — ,, हीन>प्रा० हीण

हीण — ,, हीन>प्रा० हीण

हीन — ,, हीन

हीरकि — ,, हीरक

हीराणंद — ,, हीरानन्द

हुंस — ,, उष्म > प्रा० उसह

हूतउ — ,, भवत्कः>अप० होन्तउ

हूफइ — ,, उष्मायते > प्रा० उम्हायइ

हेखि — ,, हर्ष

हेठि — ,, अधस्तात् > प्रा० हेट्ठा

हेमंगदु — ,, हेमाङ्गद

हेला — ,, हेला

हेव — ,, एव

रास संकेत सूची

अ० प्र० बो० रा०—अकबर प्रतिबोध रास

आ० रा०—आबूरास

उ० र० रा०—उपदेश रसायन रास

फ० रा०—फछूली रास

गौ० स्वा० रा०—गौतम स्वामी रास

चर्चरिका—चर्चरिका

चर्चरी—चर्चरी

जि० च० सू० फा०—जिनचद्रसूरि फाग

जि० सू० प० रा०—जिनपद्म सूरि पट्टाभिपेक रास

जी० द० रा०—जीवदया रास

न० द० रा०—नल दवदती रास

ने० ना० फा०—नेमिनाथ फाग

ने० ना० रा०—नेमिनाथ रास

प० च० रा०—पचपाडव चरित रास

पृ० रा० रा०—पृथ्वीराज रासो

पृ० रा० रा० (कै० ब०) पृथ्वीराजरासो (कैमासबध)

पृ० रा० रा० (ज० प्र०) पृथ्वीराज रासो (जयचद्र प्रबध)

पृ० रा० रा० (य० वि०) पृथ्वीराज रासो (यज्ञ विध्वस)

बु० रा० —बुद्धि रास

भ० बा० घो० रा०—भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास

भ० बा० रा०—भरतेश्वर बाहुबलि रास

यु० प्र० नि० रा०—युग प्रधान निर्वाण रास

र० म० छ०—रणमल्ल छ द

रा० जै० रा०—राउ जैतसीरो रास

रा० य० रा०—राम-यशोरसायन रास

रा० ली०–(हि० ह०)—रासलीला (हित हरिवश)

रा० स० प०—रास सहस्र पदी

रा० स्फु —रास स्फुटपद
रे गि रा —रेवन्त गिरि रास
व० वि फा०—वसंत विलास फाग
वि ति सू रा०—विजय तिलक सूरि रास
सं रा०—संदेश रासक
स रा —समरा रास
स्थू फा०—स्थूलभद्र फाग

नामानुक्रमणिका

T